जैनेन्द्रकुमार

समय और हम

समय और हम

समय और हम

जैनेन्द्रकुमार

प्रशस्ति

दादा धर्माधिकारी

प्रश्नकर्त्ता

वीरेन्द्र कुमार गुप्त

पूर्वोदय प्रकाशन
दिल्ली

[illegible]

प्रकाशक : पूर्वोदय प्रकाशन
ऋषिभवन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग
दिल्ली – ६
फोटो : कृष्णस्वरूप भारद्वाज, दिल्ली
आवरण : एन० एस० श्रीवास्तव
मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
मूल्य : बीस रुपये मात्र

स्वीकृति

माना जाता है कि आस्तिक दर्शन ही होता है, विज्ञान उससे बरी है। आज का संकट, जिसमें मानव-जाति आ पड़ी है, बहुत-कुछ उसी विच्छेद और विरोध में से बना है। पदार्थ-विज्ञान और समाज-विज्ञान परस्पर तभी पूरक हो सकेंगे, जब दोनों में एक श्रद्धा और श्वास प्रवाहित होगा। अन्यथा विज्ञान यन्त्र-व्यापार को सम्पन्न करेगा और मानव-व्यवहार को विपन्न करता जायगा। अवश्य कुछ है, जो अमोघ और अखंड है। उसी अटल नियम पर चेतन-अचेतन संसार थमा चल रहा है। इस धर्म में द्वैत नहीं है। आइन्स्टाइन ने उसी अद्वितीय नियम को मस्तिष्क में लेने और गणित में देने की कोशिश की जब सापेक्षवाद प्रस्तुत किया। आवश्यकता है कि उस व्याप्त ध्रुव को जगज्जीवन पर समग्र भाव में फलित और प्रतिफलित किया जाय।

इस ग्रन्थ का सब श्रेय वीरेन्द्र को है। उसने बताया है कि कैसे अनहोने भाव से यह होने में आ गया। मेरा कर्तृत्व उसमें नहीं बराबर है। संयोग ही कहिये कि जब वीरेन्द्र ने मुझे लिया, तब ऊपर आयी भावना और विचारणा मुझे त्रास-सा दिये रहती थी। एक तरह अच्छा हुआ है कि वह बाहर पन्नों और अक्षरों में जड़ित हो सकी है। शिकायत इतनी ही है कि

पुस्तक को मेरा नाम उढ़ा दिया गया है और कारण दादा धर्माधिकारी बने हैं। पर अब शिकायत भी नहीं है और होनहार का मैंने स्वेच्छा से वरण कर लिया है।

जैनेन्द्र कुमार
२४.३.६२

पु०
प्रसन्नता की बात है कि अंत में पुस्तक का नाम वही रहा जो आरंभ में सोचा गया था.

जैनेन्द्र कुमार
८.५.६२

अनुक्रम

प्रथम खण्ड : परमात्म

द्वितीय खण्ड : पश्चिम

तृतीय खण्ड : भारत

चतुर्थ खण्ड : अध्यात्म



प्रशस्ति

जैनेन्द्रजी की पुस्तक की प्रशस्ति मैं करूँ? कोई तुक है? कोई जरूरत? कोई अधिकार?

अधिकार है, सिर्फ स्नेह का। जैनेन्द्रजी मुझे अपना सुहृद् और आत्मीय मानते हैं। गौरव और लाभ मेरा है। भला मैत्री में अधिकार के विवेक की गुंजाइश ही कहाँ है? जैनेन्द्रजी जो कुछ लिखते या कहते हैं, मुझे बहुत रुचिकर लगता है। वे अक्सर बिना प्रयोजन के नहीं लिखते, परन्तु प्रयोजन उनके स्वानन्द का सहोदर है। जीविका नीरव भाव से प्रयोजन और स्वानन्द की गैल चलती है। उनकी शैली सुश्लिष्ट है। उनकी वाग्वैजयन्ती के सारे मौक्तिक कौस्तुभ ही हैं, शायद ही कोई अतिरिक्त या व्यर्थ शब्द होता है। उनकी प्रतिभा में उनकी शैली ओप चढ़ाती है। परिणाम बहुत मनोज्ञ होता है। जैनेन्द्रजी कोई तत्त्व-प्रचारक नहीं हैं। अपनी बात का प्रतिपादन करने के लिए वे युक्तियों का व्यूह नहीं रचते, क्योंकि उनका अपना कोई पक्ष नहीं है। इसलिए उनके निरूपण में बुद्धि की प्रगल्भता के साथ-साथ चित्त का प्रसाद और शैली की सहजता होती है।

पुस्तक की पाण्डुलिपि जैनेन्द्रजी ने स्वयं पढ़कर सुनायी। पुस्तक के कई अंश हमने मन्त्रमुग्ध होकर सुने। प्रश्नोत्तरों के रूप में वह लिखी गयी है। इसलिए उसमें प्रफुल्लित सुमनों की सजीवता और सुगन्ध है। विवेचन में गम्भीरता, समग्रता और मौलिकता का संगम है।

मैंने जैनेन्द्रजी की सभी या अधिकांश रचनाएँ नहीं पढ़ी हैं। परन्तु उनके लेख और निबन्ध प्रायः बहुत चाव से पढ़ा करता हूँ। उनके लेखों का एक संग्रह कोई २७-२८ साल पहले निकला, जिसका नाम था—'जैनेन्द्र के विचार'। पूज्य किशोरलालभाई ने उसकी प्रभावना की। वह उचित भी था। पूज्य किशोरलाल-भाई के प्रस्तवन से पुस्तक की प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ा। पुस्तक भी उनके जैसे मनीषी के परिशीलन के योग्य थी। वहाँ सम-समानों का मिलन था। अब मैं इतना आत्म-सम्भावित नहीं हूँ कि उनके साथ अपनी तुलना करूँ। उल्लेख केवल इसलिए कर रहा हूँ कि पाठकों को यह विदित हो कि जैनेन्द्रजी का गांधी-परिवार के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध बहुत पुराना है। सन् १९२० से ही वे गांधी-निष्ठ रहे हैं। उनके साहित्य पर गांधी की विभूति की उज्ज्वल आभा है। फिर भी जैनेन्द्रजी न तो गांधी के अनुयायी हैं और न सर्वोदय के अनुगामी। गांधी और

सर्वोदय को वे सम्यक् रूप से मानते और समझते हैं, परन्तु उनमें खो नहीं जाते। वे केवल पूर्व-सूरियों और मनीषियों के भाष्यकार नहीं हैं; स्वयं अपनी जीवन-निष्ठा सहज रम्य शैली में प्रकट करते हैं। वे कोई संस्कृत के पंडित नहीं हैं, फिर भी उनकी शैली में संस्कृति की भव्यता है।

महात्मा टालस्टाय ने अपना 'कन्फेशन ऑफ फेथ' लिखा है। जार्ज बर्नार्ड शा ने 'बैक टु मेथ्यूसैला' के 'इपिलाग' में, एच० जी० वेल्स ने 'फर्स्ट एण्ड लास्ट थिंग्ज' में और सामरसेट माम ने 'समिंग अप' में अपनी-अपनी जीवन-निष्ठा का निवेदन किया है। मैं तुलना नहीं कर रहा हूँ, सिर्फ मिसालें दे रहा हूँ। यह ग्रन्थ जैनेन्द्र का 'जीवन-दर्शन' है। इसकी अपनी विशेषता यह है कि इसमें प्रश्न-कर्ता के व्यक्तित्व की सुषमा भी है। जीवन के प्रायः सभी अंगोपांगों का ऊहापोह है। जैनेन्द्रजी के तत्त्व-दर्शन की प्रगल्भता, उनके हृदय का सौहार्द और उनकी वस्तु-निष्ठा तथा वैज्ञानिकता का प्रत्यय इसमें प्रकट हुआ है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का मूलगामी विवेचन है। यह जीवन-दर्शन है, परन्तु जैनेन्द्र का अपना भी है।

इसमें जो विचार और मत व्यक्त किये गये हैं और जो निष्कर्ष सूचित किये गये हैं, उनसे पूरी तरह सहमत होना आवश्यक नहीं है। उसमें न तो जैनेन्द्रजी का गौरव है और न हमारी रसिकता। मत-भिन्नता बौद्धिक स्वतन्त्रता का उपलक्षण है। जैनेन्द्रजी के विचारों में और सर्वोदय के तत्त्वज्ञान में कौटुम्बिक साधर्म्य है। फिर भी उनकी रचनाओं में उनकी अपनी बुद्धि के उन्मेष हैं। सर्वोदय के हम ऐसे प्रवक्ता जो कहने की कोशिश करते हैं, उसे वे कंचन बना देते है। सर्वोदय-निष्ठ लोगों की दृष्टि से यह एक सर्वांग सुन्दर उपादेय ग्रन्थ है।

इससे अधिक लिखने में कोई तुक नहीं। अंग्रेजी में कहावत है—'पुडिंग को परखना हो तो खाकर देखो।' पाठकों से यही निवेदन है। इस जीवनामृत का स्वयं रसास्वादन करें।

जबलपुर
११ दिसम्बर, १९६१

दादा धर्माधिकारी

उपोद्‌घात

प्रस्तुत ग्रन्थ को इस रूप और आकार में पाकर मैं सुखद आश्चर्य ही कर सकता हूँ। कारण, १७ जनवरी, १९६१ की प्रातः जब मैं अपनी जिज्ञासा—स्पष्ट प्रश्न नहीं वरन् अन्तर के अस्पष्ट त्रास—को लेकर श्रद्धेय जैनेन्द्रजी के पास पहुँचा था, तब तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि मैं दस नहीं, बीस नहीं, पूरे ४५० प्रश्न पूछ जाऊँगा, जिनके उत्तर इस विस्तृत ग्रन्थ की योग्यता तक फैल जायेंगे।

ग्रन्थारम्भ क्यों-कैसे ?

जिज्ञासा शौकिया और मनोरंजन की इच्छा से प्रेरित भी हो सकती है। पर मेरी जिज्ञासा ऐसी प्रेरणाओं की सृष्टि नहीं थी। कभी-कभी, और विशेषकर जीवन और जगत् की सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध किसी एक अथवा अनेक घटनाओं से कीलित मन हो जाने पर, ऐसा होता है कि जैसे व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व एक घने अश्रुभरे कुहासे से भर उठा हो। तब राह नहीं सूझती। आत्म-विश्वास डिग जाता है। व्यक्ति दीन, मलीन, अवरुद्ध और क्रुद्ध अनुभव करता है। पहले की सभी मान्यताएँ जलहीन जलदों की तरह उपहास-सा करती आती हैं और तैर-कर आगे निकल जाती हैं। तब आवश्यक हो जाता है कि किसी समर्थ आत्मीय के सामने अपने हृदय को उँडेला जाय और उसके सश्रद्ध आश्वासन से अपनी आत्मा को पुनः सचेत और सतेज किया जाय। सन् '६० का अन्तिम भाग मेरे लिए कुछ ऐसा ही विपद् और परीक्षा का काल था। मन बेहद आलोडित था और मुझे ईश्वर, परम्परा, नीति और प्रीति सब पर एक बड़ा, बहुत बड़ा, प्रश्न-चिह्न लगा दीखता था। मेरी आस्तिकता मेरे हाथों से छूटी जाती थी और यह मुझे सह्य नहीं हो रहा था। मैं बहुत उदास और विपन्न था। मेरी सीमित तुच्छ-बुद्धि अन्दर की घुटन और उमस को झेलने और भोगने में स्वयं को एकदम असमर्थ पाती थी। अध्ययन से उन दिनों मुझे अरुचि हो गयी थी। सत्य भी है कि मन की ऐसी अवस्था में बहुधा हजारों रहस्यभरी कविताएँ, सैकड़ों कलात्मक कहानियाँ और दसियों नये उपन्यास भी वह काम नहीं कर पाते, जो सहानुभूतिपूर्ण गुरुजन के दो प्रेम-वाक्य कर जाते हैं। बन्धु डॉ० रणवीरचन्द्र रांग्रा द्वारा आयोजित एक गोष्ठी में अचानक मुझे जैनेन्द्रजी के दर्शन हो गये। वहाँ की चर्चा से मुझे हुआ कि क्यों न मैं जैनेन्द्रजी के समक्ष ही स्वयं को खोलूँ। शायद उन्हींके वचनों से

मन को शान्ति मिले। वहीं गोष्ठी में मैंने उनसे समय माँगा और जाकर उनसे मिला। जो घुटन मात्र बौद्धिक अथवा सांसारिक नहीं होती, जिसकी जड़ें अन्दर कहीं तथाकथित अवचेतन अथवा आत्मा तक फैली होती हैं, उसे परिगणित शब्दों की सीमा में शत-प्रतिशत ज्यों-का-त्यों रखा जा ही नहीं सकता। व्यक्ति साफ-साफ कुछ भी कह नहीं पाता और एक अंग्रेजी मुहावरे के शब्दों में झाड़ी के चारों ओर बस चक्कर काटता है। जैनेन्द्रजी के सामने पहुँचकर मेरी भी कुछ वैसी ही दशा हुई। अपनी व्यक्तिगत बात मैं कुछ भी उनके सामने नहीं रख सका। जो कुछ मैंने उनसे कहा, वह शायद यह था, "जो कुछ भी परम्परागत है, रीति-नीति, विश्वास-मान्यता, आज सबमें से मानवीय आस्था उठ चुकी है। आज का मानव नकार का उपासक है। पुरानी नीतियाँ मिट रही हैं, पर नयी बन नहीं रही हैं। ऐसी स्थिति में आप जैसे आस्तिकों का क्या यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि प्राचीन का पुनर्मूल्यन और नवीन का समालोचन कर श्रद्धा, आस्था और आस्तिकता को टूटने से बचायें? कारण, विज्ञान की विभीषिका की छाया में मानवता को आस्था का ही सहारा हो सकता है।" कहने को मैं ये मोटे-मोटे शब्द कह गया, पर स्वयं नहीं जानता था कि मैं जैनेन्द्रजी से क्या आशा करता हूँ, क्या चाहता हूँ। बातें हुईं। बातों में मुझे रस मिला। जैनेन्द्रजी जो कुछ कह रहे थे, उसमें प्रीति का आस्वाद तो था ही, एक नयी दृष्टि भी थी, जो आकर्षित करती और बाँधती थी। मैंने निर्णय किया कि मैं जैनेन्द्रजी के सामने एक प्रश्न-माला रखूँ, जिसके उत्तर लिपि-बद्ध होते जायँ। यह भी फैसला किया कि प्रश्न पूर्व-निश्चित अथवा पूर्वा-योजित न होकर तात्कालिक सूझ की उपज हों और उनका स्तर बौद्धिक और अकादमीय न होकर सर्वसाधारण एवं हार्दिक हो।

अगले दिन से प्रश्नों का और उनके उत्तरों का ताँता आरम्भ हुआ, जो द्रौपदी के चीर की तरह खिचता और खुलता ही चला गया। कहाँ से प्रश्न आते गये और कैसे उत्तरों का चीर जैनेन्द्र में से अथवा उन 'पर' से उतर-उतरकर ढेरका-ढेर जमा होता गया, पता नहीं। जैनेन्द्र के कृष्ण तो शायद उनके अन्दर ही बैठे थे और नूतन उद्भावनाओं का चीर बढ़ाते जाते थे। मैं स्वयं को दुःशासन कहा जाना पसन्द नहीं करूँगा और श्रद्धेय जैनेन्द्रजी की श्रद्धा को द्रौपदी की संज्ञा देने का दुःसाहस भी मेरे बस का नहीं है। पर मैं यह स्वीकार करूँगा कि पूरा प्रयास करने पर भी चीर को अधूरा ही उतार पाया हूँ। अभी कितना कुछ जैनेन्द्रजी में और छुपा पड़ा है, यह बताना भी मेरी शक्ति से बाहर है। पर जब इस अधूरे प्रयास को आचार्य श्री दादा धर्माधिकारी ने जैनेन्द्र का 'जीवन-दर्शन' बताया, तो मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही और मैंने स्वयं को कृत-कार्य समझा।

जैनेन्द्र का मर्म

आज मैं सोचता हूँ, तो आश्चर्य से भर उठता हूँ कि क्यों और कैसे जनवरी से सितम्बर तक, कुछ खाली गये दिनों को छोड़कर, पूरे छह महीनों तक प्रतिदिन कमलानगर से चलकर दरियागंज तक मैं पहुँचता रहा और तीन-चार घण्टे दैनिक जैनेन्द्रजी पर प्रश्न डालता रहा और उत्तर टाँकता रहा। मैं जो इतना लम्बा टिक सका, उसका श्रेय सच ही मुझे नहीं पहुँचता। महत्त्व प्रश्न का नहीं है। कौन है जिसकी आँखें शाश्वत प्रश्न से शून्य हैं? महत्त्व उस उत्तर का है, जिसको पीकर उत्सुक आँखों में चमक आ जाय, धुंध छँट जाय और रास्ता सूझने लगे। ऐसे ही उत्तरों के प्रकाश में नये गति-चिह्न दीख-दीख जाते हैं, कल्पना और बुद्धि में सक्रियता आती है और व्यक्तित्व में एक भराव, एक उत्तीर्णता अनुभव होती है। मैं कहूँगा कि जैनेन्द्रजी की प्रतिक्रिया मुझ पर ठीक ऊपर जैसी ही हुई। उन दिनों मन जैसे उन विचारों और वचनों से भरा रहता था और एक दिन की चूक भी बुरी लगती थी। श्रद्धेय जैनेन्द्रजी मुझे प्रौढ़ अभिभावक गुरु से बढ़कर एक समवयस्क, पर सर्वज्ञ मित्र के समान लगने लगे थे, जिनका मानसिक-हार्दिक सान्निध्य मानो मेरे लिए अनिवार्य बन गया था। ऐसा क्यों सम्भव हो सका? क्योंकि जैनेन्द्रजी इतने निर्द्वन्द्व हैं कि वे बौद्धिक, साहित्यिक गरिमा और ख्याति से अनभिभूत रहकर सामने बैठे व्यक्ति के समतल तक उतर सकते और उसके हृत्-तारों से अपने हृदय के तारों को मिला सकते हैं। मैंने देखा है कि उन्हें हर आगन्तुक से चुहल और चर्चा करने में और उसके मन और बुद्धि को कुरेदने-टटोलने में बड़ा रस मिलता है। उनकी इस प्रवृत्ति का उद्देश्य मनोरंजन करना अथवा अपनी विद्वत्ता की धाक जमाना कदापि नहीं होता। उनका लक्ष्य व्यक्ति का अध्ययन करना, उसकी सहानुभूति प्राप्त करना और उसे सहानुभूति देना ही होता है। उनके यहाँ हर किसीका स्वागत है। और हर किसीको अवसर है कि वह उनके सामने स्वयं को खोल सके, निरावरण कर सके। मैं समझता हूँ, शुभ ही हुआ कि जैनेन्द्रजी सरकार के अथवा विश्वविद्यालय के किसी पद पर पदासीन न हो सके। ऐसा हो जाता तो वे इतने उदार, खुले, निरहंकारी और निर्द्वन्द्व न रह पाते। न मुझे उनका इतना लम्बा साक्षात्कार लेने की सुविधा मिल पाती और न ही उनके उत्तर मुझे अभिभूत कर पाते। क्योंकि तब कदाचित् वे व्यक्तित्व की उपर्युक्त विशेषताओं से सिक्त और प्रेरित न होते। इन उत्तरों की प्रभाव-शक्ति का दूसरा कारण यह है कि प्रीति-रस से भीगे ये उत्तर निरे बौद्धिक अथवा अकादमीय स्तर से नहीं आये हैं। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, जैनेन्द्रजी का अध्ययन विशाल नहीं है। जो कुछ भी थोड़ा-बहुत वह पढ़ते हैं, उसे भी स्थल रूप में स्मृति-कोष में जमा नहीं रखते, बल्कि उसके तत्त्व अथवा प्रभाव को रस-

रूप में स्वयं में पचाकर सब-कुछ भूल जाते हैं। बरसा हुआ जल उनकी बुद्धि के गढ़े में इकट्ठा होकर चमकता और सड़ता नहीं है, बल्कि उनके अन्तरंग में रिस और उतर जाता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी बौद्धिक, अकादमीय स्तर से बात नहीं कर सकता। उसकी बातें अन्तरतम से निःसृत होती हैं, वे स्वानुभूति और सम्बुद्धि की होती हैं। ऐसे व्यक्ति का स्थूल विवेक और प्रयोजन इतना पार-दर्शी बन जाता है कि वह अन्तर्मन में निहित व्यथा और अनुभूति को ढँक नहीं पाता। स्थूल सांसारिकता और रूढ़ अहंता के दबाव से मुक्त जैनेन्द्रजी का चिन्तनशील अन्तर्मानस मानो अनन्त अस्तित्व को अपने में भर लेने में समर्थ बन गया है। परिणामतः जीवन और जगत् के असंख्य सत्य उनके मानस-पट पर अनायास झलक उठते हैं और उनके निरस्त्र बहिर्मन, बहिर्विवेक को बींधकर ऊपर छलक-छलक जाते हैं। ये सत्य इतने स्पष्ट, मौलिक एवं पैने होते हैं कि चमत्कृत करते हैं। वे हृदय को तृप्त एवं दृष्टि को स्वच्छ बनाते हैं। जैनेन्द्रजी के स्वभाव का अपनत्व-भाव और उनके विचारों की यह सूक्ष्म निगूढ़ मौलिकता ही है, जो श्रोता और पाठक को विमुग्ध-विमोहित करती जाती है। इसीमें उनके विचारों की शक्ति और उनकी अभिव्यक्ति की अनूठी कला का रहस्य निहित है।

दार्शनिक जैनेन्द्र

पूरे हिन्दी-जगत् की तरह मैं भी जैनेन्द्रजी को प्रेमचन्द के शिष्य, एक कहानी-कार एवं उपन्यासकार के रूप में ही जानता था और उनके विचारक रूप को एक 'पोज़' ही समझता था। पर इस एक वर्ष के निकटतम सम्पर्क से मुझे महसूस हुआ कि जैनेन्द्र का विचारक रूप उनके कथाकार रूप से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। वरन् वही उनका सत्य, यथार्थ रूप है। विभिन्न साहित्यकार अलग-अलग प्रेरणाओं से प्रेरित होकर लिखते हैं। कोई किसी घटना से, कोई किसी चरित्र से, कोई एक आदर्श स्वप्न से और कोई हृदय की किसी भावना से। अपने कृतिकार जीवन के आरम्भ से ही जैनेन्द्रजी उन सत्यों की प्रेरणा से लिखते हैं, जिनका साक्षा-त्कार उन्होंने अपनी बुद्धि से नहीं, अपनी सम्बुद्धि से, अन्तर के गहनतम में किया है। जैसे-जैसे यह सत्य-साक्षात्कार स्पष्ट, परिष्कृत, सम्पूर्ण होता गया, उनका विचारक रूप निखरता गया और साथ ही उनका कथाकार उन्हींकी अपनी दृष्टि में गौण बनता गया। प्रस्तुत 'समय और हम' को इसी विकास-क्रम की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी मानना होगा। मुझे विश्वास है, यह ग्रन्थ जैनेन्द्र को प्रत्यक्ष मौलिक दार्शनिक रूप में प्रतिष्ठित कर सकेगा। ऐसा होना मुझे बहुत आवश्यक प्रतीत होता है, जैनेन्द्र-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए भी और इसलिए भी कि जैनेन्द्र की विचारणा में बहुत कुछ ऐसा है, जो आज के—वैज्ञानिक,

वस्तुवादी, आलोचनाप्रवण, पर तितर-बितर सन्त्रस्त—मानव को बौद्धिक आश्वासन प्रदान कर सकता है और उसके सामने जगत् और जीवन के शाश्वत मूल्यों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करके उसे उनके प्रति निष्ठावान् बना सकता है। आज के मानव को ऐसी निष्ठा की सबसे बड़ी आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना वह विज्ञान की भीषणतम प्रलयंकरी शक्तियों को अपने वश में रखने और उनके दुरुपयोग से बचने की क्षमता प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसी निष्ठा अन्ध-श्रद्धा-पूर्ण धर्म-सम्प्रदायों, स्वमत-प्रतिपादन-प्रवण वितण्डावादी दार्शनिक मत-मतान्तरों और साहित्य-कला के तथाकथित सांस्कृतिक कार्यक्रमों में से मिल पानी असम्भव है। वह तो आस्तिकता की उस अन्तर्दृष्टि में से ही प्राप्त हो सकती है, जो ईश्वर, जगत् और जीवन का वैज्ञानिक निरूपण हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। मुझे जैनेन्द्रजी में वह अन्तर्दृष्टि मिली है। हो सकता है, कभी-कभी उनके विचार अटपटे, अव्यावहारिक और असाधारण आदर्श-लोक के से लगें। पर यदि उन पर सचेत एवं उत्तीर्ण मानस से विचार किया जायगा, तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि वे अनुभूति के सत्य पर आधारित हैं और उनमें और हमारे विचारों में कहीं भी तो विरोध नहीं है। बस हुआ यही है कि वे स्थूल सत्य और संस्कारों की परतों को कुछ अधिक अलट-पलट सके हैं और अधिक गहरे उतर सके हैं। हम स्पष्ट समझ लेंगे कि उनके सत्य पूर्णतया व्यावहारिक हैं और वे बहिर्मन की रूढ़, सीमित प्रयोजन-बद्धता और स्थूल लाभ-हानि के गणना-विवेक को अन्तर्मन में भरी अनन्त विद्युच्चेतना से जोड़ सकते और इस प्रकार अन्यथा साधारण मानव में निहित असाधारण सम्भावनाओं को उन्मुक्त कर सकते हैं।

दर्शन की एकांगिता

दर्शन का विषय-विस्तार कहाँ से कहाँ तक है, यह विवादास्पद है। पर यदि दर्शन शब्द का अर्थ सत्य-साक्षात्कार किया जाय, तो ज्ञान-विज्ञान के सभी विभाग दर्शन की शाखा-प्रशाखा बन जाते हैं। प्रकटतः धर्म-साहित्य, कला-शिल्प, इतिहास-अर्थशास्त्र, राजनीति-समाजनीति, रसायन एवं भौतिकशास्त्र ये सभी विषय दर्शन को समृद्ध और परिपुष्ट करते दीख पड़ते हैं। इन सबके चरम-तथ्य (Ultimate truths) दर्शन के अवयव हैं, जो मिलकर विराट सत्य को अन्वित और प्रमाणित करते हैं। पर दर्शन अपने इस अश्वत्थ रूप में कभी भी मान्य न हो सका। क्यों ऐसा हुआ, यह अध्ययन का विषय है। मानव-अस्तित्व को दो मोटे भागों में बाँटकर देखा जाता है, मानसिक और भौतिक। यह दोनों विभाग निरन्तर एक-दूसरे की पूर्ति और पुष्टि करते चलते हैं। दोनों के ऐक्य, सह-अस्तित्व एवं सह-गमन से ही मानव के व्यक्तित्व में परायणता, कर्मण्यता

एवं कृतार्थता आ सकती है। पर लगभग शत-प्रतिशत प्राचीन दार्शनिकों ने इन मनोनीत विभागों के बीच खिंची बौद्धिक लकीर को पत्थर की लकीर ही नहीं बना डाला, बल्कि इस कृत्रिम द्वैत को अधिकाधिक पक्का किया। उन्होंने एक फल के दोनों टुकड़ों का रस सम्मिलित निचोड़ने के बदले एक खण्ड को ग्राह्य और दूसरे को अग्राह्य घोषित कर दिया। उन्होंने सूक्ष्म मानसिकता को इतना आत्यन्तिक महत्त्व दिया कि स्थूल शारीरिकता और भौतिकता अस्पृश्य बन गयी और वे प्रथम को सत् (है)और दूसरे को असत् (नहीं है)कहने पर बाध्य हो गये। इस प्रकार दर्शन अस्तित्व के मानसिक-बौद्धिक अध्ययन तक सीमित हो गया। इस भौतिक-वैज्ञानिक पक्ष की तिलांजलि का परिणाम यह हुआ कि दार्शनिकों के पास सत्य-साक्षात्कार का साधन रह गया—केवल यौगिक सम्बुद्धि, अथवा इलहाम। वे फिर इस तरह उपलब्ध मत को शब्द-प्रमाण, तर्क-वितर्क, वितण्डा द्वारा सिद्ध और पुनस्सिद्ध करने में जुट गये।

सभी दार्शनिकों ने अध्ययन के लिए जिन विषयों को चुना, वे रहे—सृष्टि, ईश्वर, आत्मा, मन, बुद्धि, कर्म, जन्म-पुनर्जन्म, मुक्ति, विलय आदि। ये मौलिक महाप्रश्न हैं। और एतत्-सम्बन्धी मानवीय विश्वास और मान्यताएँ आदिकाल से मानव-जीवन और भविष्य को प्रभावित करती रही हैं और करती रहेंगी। पर यह मानना होगा कि दार्शनिकों के समाधान कितने भी अन्तिम क्यों न सिद्ध हों, वे विश्वास और अन्ध-विश्वास पर आधारित और उनके पोषक रहे, वैज्ञानिक प्रयोगसिद्ध स्थापनाओं का रूप उन्हें कभी नहीं दिया जा सका और वे कभी वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण से पुष्ट नहीं किये गये। यह आश्चर्य का ही विषय है कि विराट् भारतीय दर्शन की विशुद्ध न्याय-पद्धति में प्रयोग-प्रमाण की गणना नहीं है। गणित, भौतिकी, रसायन, शिल्प, यान्त्रिकी, नक्षत्र-विज्ञान, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि का पर्याप्त विकास भारत में हुआ है, पर इनका उपयोग उपर्युक्त महाप्रश्नों के हल में नहीं किया गया। वे मानव-अस्तित्व की रक्षा और विकास में नियुक्त हुए, देवताओं की अर्चा-उपासना में भी उनका उपयोग हुआ; पर मानव-जिज्ञासा के क्षेत्र से उन्हें कोसों दूर ही रखा गया। शाश्वत जिज्ञासाओं की तृप्ति को अनुमान और कल्पना पर छोड़ दिया गया। इस प्रकार दर्शन बौद्धिक विलास और तर्क-वितण्डा का क्षेत्र बन गया और मानव-अस्तित्व की भौतिक समस्याओं से उसका सम्बन्ध एकदम टूट गया। दर्शन का संकुचन हो गया और ठोस धरती उसके पैरों के नीचे से निकल गयी। वह 'रहस्य' और 'शून्य' में डूब गया और भौतिक अस्तित्व सूक्ष्म मानसिकता से दूर पड़कर स्वार्थ और हिंसा की घोरता को अपनी प्रेरणा बनाने के लिए बाध्य हो गया।

धर्म की जिम्मेदारी

दर्शन के इस एकांगीय, अपूर्ण एवं अवैज्ञानिक आचरण के लिए धर्म-पन्थ बहुत दूर तक जिम्मेदार हैं। धर्म का प्रेरणा-स्रोत क्या है? धर्म क्या है? भय अथवा श्रद्धा के वशीभूत होकर सीमित स्व को शेष विराट् में लय करने और विराट् को सीमाओं में बाँधने की आकुलता से प्रेरित मानव ने जिन विश्वास-मान्यताओं, विधि-विधानों, पूजा-अर्चनाओं और कर्मकाण्डों की उद्भावनाएँ कीं, वे ही सब धर्म हैं। अधिकतर ऐसा हुआ कि ऋषियों-पैगम्बरों ने अपने साक्षात्कार को सामाजिक-राजनीतिक साँचे में ढालकर विशेष धर्म का आकार दे डाला और सम्बद्ध दार्शनिकों ने अपनी जिज्ञासा को उस रूढ़ रूपरेखा को लाँघकर असीम में उड़ने देने का साहस नहीं किया। धर्म ने शुद्ध जिज्ञासा को निषिद्ध ठहरा दिया और मिश्रित सीमित जिज्ञासा को भी अन्ध-श्रद्धा का दास बने रहने की शर्त पर ही जीने की इजाजत दी। भारत में, विशेषकर उपनिषत्-काल तक, फिर भी यह गनीमत हुई कि धार्मिक साक्षात्कार एक अकेले पैग़म्बर की देन न रहकर अनेक ऋषियों के योगदान से सम्पन्न हुआ। उपनिषद्-काल तक भारत में सीमित जिज्ञासा और प्रयास को काफी खुला अवसर मिला। पर शीघ्र ही औपनिषदिक उपलब्धियाँ रूढ़ बन गयीं। बहुत कुछ पैगम्बरीय विशेषताओं से युक्त बौद्ध-धर्म के विरोध में वैदिक-औपनिषदिक उपलब्धियों को एक छावनी बनना पड़ा, और स्पष्ट है कि आगे के भारतीय दार्शनिक वैदिक एवं बौद्ध इन दो वृत्तों में चक्कर काटते रहे। अस्तित्व की रक्षा एवं विस्तार के तल पर धर्म-दर्शन, श्रद्धा-जिज्ञासा, भावना-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प का सम्मिश्रण करके एक ठोस समाज-पद्धति, व्यवहार-पद्धति और आर्थिक समृद्धि का विकास हमने भले ही कर लिया हो; पर शुद्ध ज्ञान के स्तर पर श्रद्धा और जिज्ञासा, कल्पना और प्रयोग, आत्मिक और भौतिक को हमने परस्पर घुलने-मिलने नहीं दिया। उनके द्वैत को स्थिर रखा। सामी, अरबी, यहूदी और ईसाई देशों में क्योंकि पैग़म्बरवाद का बोलबाला रहा, इसलिए वहाँ के दार्शनिक तो विश्वास और तर्क की नोक-झोंक में ही उलझे रहे। अपनी मौलिक उपपत्तियों के नाम पर उन्होंने अफ़लातूँ और अरस्तू का अनुवाद भर ही किया। यूनान का यह सौभाग्य ही मानना चाहिए कि वहाँ शुद्ध बौद्धिक जिज्ञासा की सुकरात, अफलातूँ और अरस्तू आदि ने प्राण-प्रतिष्ठा की। शाश्वत प्रश्नों में उलझे रहना वहाँ के सामान्य नागरिकों का शौक बन गया था। यूनान का प्राचीन धर्म शायद अधिकांश भय पर आधारित था और वह यूनानी मेधा को बाँधे रखने में अक्षम सिद्ध हुआ। यूनानी दार्शनिकों ने अपना कार्यक्षेत्र मानसिकता तक सीमित न रहने दिया। वे एक साथ समाजशास्त्री, वैज्ञानिक और कलाविद् भी बने। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान की विविध धाराओं

की उद्भावनाएँ कीं। अरस्तू ने प्रायोगिक विज्ञान को बहुत महत्त्व दिया। उसने और अन्य यूनानी दार्शनिकों ने वैज्ञानिक प्रयोगों को शाश्वत समस्याओं के हल में नियोजित किया। मध्योत्तरकालीन रिनेसाँ के समय के यूरोपीय वैज्ञानिकों ने इन यूनानी दार्शनिकों की परम्परा को ही आंशिक रूप में पुनरुज्जीवित किया। आंशिक रूप में इसलिए कहता हूँ, क्योंकि यूरोपीय विज्ञान विराट के, आत्मिकता के और मानसिकता के सन्दर्भ की उपेक्षा कर सांसारिक प्रयोजन के तल पर चला और बढ़ा। ऐसा धर्म और दर्शन के रहस्यवाद और रूढ़िवाद की प्रतिक्रिया में ही हो पाया। यदि आरम्भ से ही धर्म-दर्शन भौतिकता को असत्य न बताकर उसे समान रूप से साथ लेकर चलते, तो शायद विज्ञान इतना एकांगी और विद्रोही न बन पाता।

पैग़म्बरवाद और दार्शनिक चिन्तन

एकेश्वर-एकपैगम्बर-वाद और बहुदेव-बहुऋषि-वाद के बीच प्रभाव व परिणाम की दृष्टि से क्या अन्तर रहा है, इसका अध्ययन बहुत आवश्यक है। एकेश्वरवाद का खुदा जगत् और सृष्टि से बहुत दूर और ऊपर, उससे एकदम पृथक् एक स्रष्टा, नियामक बादशाह का-सा अस्तित्व रखता है। वह सर्वोच्च सर्वशक्तिमान् पुरुष है और प्रकृति उसका खिलौना है। अरूप, निराकार कहे जाते हुए भी उसका व्यक्तीकृत और दैवीकृत (Personified and Deified) रूप हर मौतक़िद के अन्तर में स्वभावतया स्वीकृत है। प्राकृतिक तत्त्व-भूत इस खुदा के गुलाम हैं। उनसे खुदा का दूर का भी खून का सम्बन्ध नहीं है। ऐसे खुदा को तात्त्विक विवेचन एवं वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय नहीं बनाया जा सकता। उसके अदृश्य अस्तित्व और अमानवीय पौरुष पर ईमान ही लाया जा सकता है। पैग़म्बरवाद और पवित्र ग्रन्थवाद भी मानवीय जिज्ञासा का पनपना और फलित होना सहन नहीं कर सकते। कथित-लिखित वचनों-स्थापनाओं की यह दीवार इतनी पक्की बन जाती है कि उनके बौद्धिक-वैज्ञानिक परीक्षण करने और नवोंपलब्ध ज्ञान के आधार पर उनमें घटा-बढ़ी करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह है कि मान्य पैग़म्बर के अतिरिक्त अन्य कोई भी सम्बुद्धिशील, उच्चात्मा, ऊर्ध्वचेता हो सकता है, यह सम्भावना ही शत-प्रतिशत अस्वीकृत बन जाती है। ज्ञान-विज्ञान का विकास किसी एक के नहीं, अगणित ऋषियों के सम्मिलित प्रयास का फल ही हो सकता है। पैग़म्बरवाद में धर्म और दर्शन अनिवार्यत: रूढ़ उपासना-पद्धति का रूप लेकर अनुदार, हठवादी पुजारियों और पण्डितों की सम्पत्ति बन जाते हैं और ज्ञान-विज्ञान की अनन्तता से उनका सम्पर्क नहीं हो पाता। इतिहास में मध्ययुग को जो अन्धयुग कहा जाता है, वह बहुत-कुछ उपर्युक्त विशेषता के कारण ही।

ऋषियों का उन्मुक्त चिन्तन

भारत में धर्म और दर्शन का आरम्भ बहुदेववाद और बहुऋषिवाद से हुआ। इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि वैदिक देवताओं का मौलिक रूप अभौतिक नहीं, शतांश में भौतिक है। विभिन्न भौतिक तत्त्वों एवं हलचलों को ही वहाँ देवी-देवता के रूप में अंगीकार किया गया है। उनको लेकर जो कहानियाँ गूँथी गयीं, वे उनकी मूल प्रकृति एवं आचरण से निरपेक्ष नहीं हैं। पौराणिक युग में निश्चय ही देवी-देवताओं का भौतिक रूप बहुत अधिक ओझल बन गया। कितने ही साम्प्रदायिक ,सांस्कृतिक, कलात्मक, आर्थिक तत्त्व इनमें आ मिले और सामयिक समस्याओं की दृष्टि से भी इनमें यथासमय उलटफेर किये गये। इस प्रकार औपनिषदिक युग के बाद से वैदिक देवी-देवता विशुद्ध भौतिक न रहकर भाव-कल्पना-निर्मित इष्टसिद्धि के रूप (Deities) बनते चले गये। पर औपनिषदिक युग तक के इन देवी-देवताओं का और उनकी अर्चा में किये जानेवाले यज्ञों का बौद्धिक-वैज्ञानिक महत्त्व स्पष्ट है। उपनिषत्‌कार ऋषियों ने जिस सर्वोच्च देवता परमब्रह्म की स्थापना की, वह भी पैग़म्बरवादियों का पिता या बादशाह ख़ुदा नहीं है; बल्कि वह परमतत्त्व है, जो अन्य सभी भौतिक तत्त्वों से सूक्ष्मतम है; उन सबमें निहित, व्याप्त और उन सबसे शक्तिशाली है। वह शून्यवत् है, अरूप है और रूप अर्थात् भौतिक पिण्ड उसमें से बने हैं, यह नहीं कि उसने बनाये हैं। उपनिषदों का ब्रह्म व्यक्तिमय (Personified) एवं भूत-निरपेक्ष नहीं है और उसे बौद्धिक-वैज्ञानिक प्रयास का विषय बनाया जा सकता है। देवी-देवताओं और परमब्रह्म के उपनिषत्-काल तक के भौतिक-वैज्ञानिक स्वरूप और आगे उनके अर्चनात्मक, सांस्कृतिक एवं पौराणिक स्वरूप का विकास भारत की बहुऋषि-प्रथा के कारण ही संभव हो सका। देवताओं की बहुसंख्या और दर्शन, ज्ञान-विज्ञान की अनन्त शाखाएँ, जिनका विकास भारत में हुआ, भारतीय परम्परा में वर्तमान मुक्त विचारणा और मुक्त प्रयास की प्रमाण हैं।

दर्शन का दिशा-परिवर्तन

पर वैदिक औपनिषदिक काल की सर्वग्रासी उच्छलित जिज्ञासा आगे बढ़कर तथाकथित अध्यात्म में ही निबद्ध क्यों हो गयी और उसने जगत्, शरीर और भौतिकता के प्रति पूर्ण निषेध का रुख क्यों अपना लिया, यह भारतीय धर्म, दर्शन और इतिहास की सबसे बड़ी समस्या है। भारतीय मानस ने किस दिन और किस प्रेरणा के वश होकर जगन्माया, जगन्मिथ्या की ओर पहला कदम बढ़ाया, यह अज्ञात है। पर वैदिक, औपनिषदिक दर्शन-विचारणा से एकदम विपरीत, कर्म, शरीर और जगत् को दुःख का मूल माननेवाली, वेगवती बौद्ध-जैन धारा मात्र प्रतिक्रिया नहीं है, आकस्मिक नहीं है। उसका मूल कहीं सुदूर अतीत में है, इससे इनकार नहीं होना

चाहिए। कुछ भी हुआ हो, वैदिक स्वीकारात्मक उल्लासवाद-कर्मवाद में और नकारात्मक दुःखवाद-मिथ्यावाद में एक स्पष्ट अन्तर्विरोध है। इस दुःखवाद-मिथ्यावाद के प्रभाव ने भारतीय दर्शन के सर्वग्राही उन्मुक्त प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया और उसको तथाकथित अध्यात्म के घेरे में घूमनेवाला कोल्हू का बैल बना दिया। उपनिषत्-काल के बाद भारतीय दर्शन में अध्यात्म, आत्मा, ब्रह्म आदि उक्तियों का अर्थ ही बदलकर शरीर-प्रकृति-जगत् का पूर्ण निषेध हो गया। यह निषेधात्मक दुःखवाद पूरे पूर्व एशिया में व्याप्त हुआ और यूनानी दर्शन की सोफिस्ट शाखा, ईसाइयत और इस्लाम के सूफियों पर उसका प्रभाव पड़ा। वेदान्त का परवर्ती रूप (शांकर अद्वैत) दुःखवाद-निषेधवाद का ही वैदिक संस्करण है। इस दुःखवाद-निषेधवाद के प्रवेश को भारतीय क्या, विश्वभर के धर्म-दर्शन में एक ग्रन्थि (काम्प्लेक्स) का प्रवेश मानना होगा। यह धर्म-दर्शन की एकदेशीयता का सबसे बड़ा कारण बना। मुझे लगता है, बौद्ध-जैन धारा में कुछ पैग़म्बरवादी तत्त्व भी निहित रहे, जो परवर्ती पौराणिक धर्म में भी प्रविष्ट और विकसित हुए। इन्होंने भी दर्शन के विकास को कुण्ठित किया और अन्धश्रद्धात्मक एकांगी मान्यताओं को रूढ़ बनाया। धर्म-दर्शन की एकदेशीयता ही आज के भौतिक विज्ञान की चरम एकांगिता की प्रेरक बनी, यह ऊपर कहा जा चुका है।

वर्गीकरण का नया आधार

शायद दार्शनिक मत-विचारणा का मापदण्ड अब बदलना होगा। दार्शनिक मतों का वर्गीकरण आस्तिक-नास्तिक, आध्यात्मिक-भौतिक आधार पर किये जाने के बदले नितान्त-सापेक्ष (Exclusive-Inclusive) आधार पर किया जाना चाहिए। हर सत्य का मर्म सापेक्ष बनकर ही सुरक्षित रह सकता है। सैद्धान्तिक तल पर यह बात सर्वथा सत्य है कि कर्म बन्धन का और जगत् दुःख का मूल है। पर इस सत्य के विरोधी जैसे दीखनेवाले दूसरे सत्य—कि कर्म से ही मुक्ति मिल सकती है और जगत् चरम सुख का कारण भी बन सकता है—को क्या निराधार और झूठ मानना होगा? यह चरम सत्य है कि शून्य ही तथ्य है। इन स्थूल पिण्डों को परमाणुओं क्या, परमतम अणुओं में टूटकर महाशून्य में लय हो जाना है। इसलिए यह जगत् अस्थायी है, झूठा है, माया है। पर महाशून्य में से फिर नये पिण्ड बनेंगे और नये जगत् प्रकट होंगे, यह सत्य क्या माया सिद्धान्त से कम महत्त्वपूर्ण है? महाशून्य में—सूक्ष्मतम रूप में ही सही—सारे भूत, सारी भौतिकता नित्य वर्तमान रहती है, यह तथ्य क्या उपेक्षणीय है? मानव क्या केवल आत्मा या केवल शरीर को लेकर जी सकता है? यह तथ्य है कि आत्मिकता और भौतिकता दोनों को साथ लिये बिना सत्यानुभूति और सत्य-साक्षात्कार असम्भव है। इसी बात को

दृष्टि में रखकर मैंने एक ओर अध्यात्मवाद, शून्यवाद और मायावाद को और दूसरी ओर निरे वैज्ञानिक भौतिकवाद को एकदेशीय बताया है। उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट करना मेरा उद्देश्य नहीं है। वेदान्तियों के 'अहं ब्रह्मास्मि' और भौतिकवादियों के 'व्यक्तिवाद-समाजवाद' में छुपी अमोघ प्रेरणा निस्सार नहीं है। पर जिस स्तर पर मानव-मेधा पहुँच चुकी है, वहाँ उनकी एकांगिता को समझ लेना भी तो बहुत आवश्यक है। एकांगी शून्यवाद-मायावाद ने भारत के वैयक्तिक-सामूहिक पुरुषार्थ को कितना क्षय किया और उसे बाह्य आक्रमणों के लिए उन्मुक्त कर दिया, इसका ऐतिहासिक अध्ययन उतना ही अनिवार्य है, जितना इस बात का कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध मात्र में दो प्रलयंकर विश्व-युद्ध मानव की किस हीनता के कारण सम्भव हो पाये। एकांगिता की दृष्टि से अध्यात्म-भौतिक दोनों दर्शनों को एक श्रेणी में रखना मुझे उपयोगी लगता है। और दूसरी श्रेणी में उन दर्शनों को रखा जाना चाहिए, जो इन दोनों को सापेक्ष मानकर चलते हैं।

प्रस्तुत प्रश्न

आज का वैज्ञानिक मानव यदि तत्काल ही उपर्युक्त दूसरी श्रेणी के सापेक्षतावादी, अर्थात् अध्यात्म-भौतिकवाद को परस्पर पूरक रूप में लेकर चलनेवाले, एक नये सर्वांगीण दर्शन को न अपना सका, तो वर्तमान सभ्यता का विनाश निश्चित है। चरम सत्य और स्थूल व्यवहार इन दोनों को समान रूप से साधने की क्षमता क्या हमारी वर्तमान सभ्यता रखती है?—यह प्रस्तुत प्रश्न है, जो आज दर्शन को वर्तमान वैज्ञानिक संस्कृति के सामने रखना है। जितनी शक्ति से दर्शन इस प्रश्न को मानव-समाज के सामने रख पायेगा, उतनी ही उसकी महत्ता और कृतार्थता सिद्ध होगी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के कितने ही दार्शनिकों ने उपर्युक्त प्रश्न को छेड़ा है और उस पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। भारत में स्वामी विवेकानंद ने पहली बार इस समस्या की गम्भीरता का अनुभव किया। उनकी प्रचण्ड वाणी में अध्यात्म और भौतिकवाद मानो गल-पिघलकर एक बन गये। पर स्वामीजी के समय में विज्ञान का भय उतना उग्र नहीं बन पाया था, जितना वह आज है। इस प्रश्न को सबसे अधिक ठोस और प्रखर रूप में महात्मा गांधी ने रखा। पर उन्होंने ऐसा वाणी के माध्यम से नहीं, कर्म के माध्यम से किया, जिसके अर्थ उसके सत्त्व से, मालूम पड़ता है, आज बहुत दूर पड़ चले हैं। काव्य-शैली से कवीन्द्र रवीन्द्र ने और दार्शनिक विवेचन की पद्धति अपनाकर श्री अरविन्द ने उपर्युक्त प्रश्न को ही आज की मानवता के सामने उठाया। पर यह प्रश्न अभी भी मानव-जाति के अन्तराल में उतर नहीं पाया है। हम समन्वय या सन्तुलन का महत्व समझ नहीं पाते हैं। उसको अपने रक्त में घोलना हमें अशक्य मालूम पड़ता है। हमारी 'चरम सत्य'

और 'स्थूल व्यवहार' की समझ बारीक, सापेक्ष और व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि अधिकतर दार्शनिकों ने इनका विवेचन बौद्धिक स्तर पर किया है, श्रद्धा के स्तर पर नहीं।

जैनेन्द्र-दर्शन

जैनेन्द्रजी सापेक्षतावादी चिन्तकों की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने समन्वय के महाप्रश्न को उठाया है और उस पर केवल बौद्धिक रूप में नहीं, हार्दिक तल पर विचार किया है। उनका दर्शन इस युग के लिए अनिवार्य दूसरी श्रेणी का है। उनकी विचारणा श्रद्धात्मक सन्तुलन से सन्तुलित है। वह परस्परविरोधी मान्यताओं से टकराती हुई नहीं, बल्कि उन्हें अपने में सहेजती-समेटती चलती है। विभिन्न तत्त्वों का उनका विश्लेषण मात्र परम्परागत अथवा अकादमीय न होकर, मौलिक एवं अकाट्य है। उन्होंने अपनी विचारणा को विशुद्ध आध्यात्मिक अथवा मात्र भौतिक तल पर न टिकाकर ब्रह्म और अहं के उस मूल स्वरूप पर आधारित किया है, जिसमें आत्मा और पिण्ड दोनों सहज समाविष्ट हैं, जहाँ उन दोनों में ग्रन्थियाँ नहीं हैं और वे अद्वैत रूप में प्रकृत अकृत्रिम आचरण करते हैं।

चार मूल तत्त्व

मैंने 'भारती' में प्रकाशित अपने लेख 'जैनेन्द्र-दर्शन के मूल तत्त्व' में जैनेन्द्र-दर्शन को चार मूल तत्त्वों पर आधारित किया है। ये हैं—१. ब्रह्म अथवा आस्तिकता २. अहं ३. स्व-परता की चुनौती अथवा परस्परता ४. अहिंसा। जैनेन्द्रजी जीवन-जगत् के शाश्वत प्रश्नों का क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं और हमारी वैज्ञानिक सभ्यता के सामने उपस्थित अध्यात्म-भौतिकवाद के सन्तुलन की समस्या को उन्होंने कितनी गहराई से अनुभव किया है, इसकी कुछ झाँकी आगे उपर्युक्त चार मूल तत्त्वों का विवेचन करते हुए दे पाने का प्रयास मैं करूँगा।

ब्रह्म की खोज में पहला चरण

'जिसके बारे में हम कुछ बता नहीं सकते, उसके बारे में हमें चुप रहना चाहिए।' वित्गैंस्तीन की यह उक्ति यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप पर पूरी तरह सही उतरती है, तब भी मानव की बुद्धि और उसकी वाणी ईश्वर के विषय में कभी भी निष्क्रिय नहीं रही। ईश्वर मानव-प्रज्ञा के सामने उपस्थित सबसे विकट रहस्य है। मानव ने अपने अस्तित्व के सुदूर आदिकाल से आज तक इस रहस्य के उद्घाटन का अनवरत प्रयास किया है। इस प्रयास के प्रगति-क्रम का कुछ अध्ययन किया जा

सकता है। इस विचित्र विराट सृष्टि में पुरातन मानव की अपरिपक्व बुद्धि ने जन विभिन्न दुर्द्धर्ष शक्तियों को सक्रिय पाया, उनको उसने अपनी कल्पना के द्वारा मानवी, मानवेतर अथवा मिश्रित काया-वस्त्र पहनाकर अपने देवी-देवता बना लिया और उनकी पूजा के लिए बृहद् मन्दिरों, रहस्यमय विधि-विधानों एवं भयानक पर मनोरंजक प्रथाओं की सृष्टि की। मिस्री, यूनानी और रोमन देवी-देवताओं के चित्र देखकर और उनके कार्य-कलापों के विवरण पढ़कर पता चलता है कि आदिम मानव ने ईश्वर को विभक्त भौतिक शक्तियों के रूप में देखा और समझा। उसके अनुसार संसार और मानव का भाग्य इन क्रूर, निरंकुश शक्तियों की मुट्ठी में है और ये उसके साथ मनमानी करने में अमानुषीय रस लेते हैं। पर सभी देवता ऐसे नहीं हैं। कुछ सरल, उदार और सदय भी हैं, जो आसुरी शक्तियों के विरुद्ध मानव की सहायता करते हैं और उसे सौभाग्य प्रदान करते हैं। मानव की कल्पना ने इन सुरासुरों के बीच मजेदार नोक-झोंक और भीषण युद्ध कराये हैं। होमर के इलियड-ओडीसी में इन सबका रोमांचक पर अनुरंजक चित्र प्रस्तुत है। एक विशेष बात यह कि अपनी विभिन्न वृत्तियों, कामनाओं, वासनाओं का आरोप भी मानव ने इन देवी-देवताओं में किया और अपना जातीय इतिहास भी इनकी कथाओं में गूँथ दिया। इस प्रकार विराट भौतिक शक्तियों को उसने अपनी सुविधा के लिए आकारबद्ध बना लिया और अधिकांश भय से प्रेरित होकर वह उनकी पूजा करने लगा। मानव की ईश्वर-सम्बन्धी इस आदिम कल्पना का विशुद्ध नमूना यूनानी देवी-देवताओं में देखा जा सकता है। भारतीय (आर्य) देवी-देवता भी 'ग्रीक गाड्स' के समान ही कल्पित हुए होंगे, पर भारतीय देवी-देवताओं का रूप भारतीय दर्शन और संस्कृति के विकास के साथ बहुत संस्कृत और परिष्कृत हो गया। वे उतने आदिम न रहे। दूसरे वे आरंभ से ही अमूर्त रहे, मूर्त नहीं। भारतीय कल्पना का रुख शुरू से ही सूक्ष्म की ओर रहा। ग्रीक और भारतीय देवताओं का अन्तर भारतीय 'इन्द्र' की उसके समकक्ष ग्रीक 'जियस' से तुलना करने पर स्पष्ट देखा जा सकता है। पर इन सभी आदिम देवी-देवताओं में कुछ समान तत्त्व स्पष्ट हैं। इन सभी में भौतिक दुर्द्धर्ष शक्ति का बोलबाला है। ये अमानवीय, अलौकिक कारनामे करने में सक्षम हैं। मानव की बुद्धि इन शक्तियों के स्थूल दृश्य रूप पर ही अटकी है। वह इनकी अनेकता में एकता खोजने और पाने में प्रवृत्त नहीं हो पायी है। अभी मानव स्थूल-सूक्ष्म, दृश्य-अदृश्य, भौतिक-आत्मिक में स्पष्ट विभेद-विवेक नहीं रखता। वह भौतिक शक्तियों को अपनी अन्तर्वृत्तियों के चश्मे से देखता और समझता है और अवचेत भाव से दोनों का मिश्रण कर उसने अपने लिए उपर्युक्त देवी-देवताओं का निर्माण कर लिया है। यह ईश्वर की खोज में मानव का पहला कदम था।

एकेश्वरवाद

आरम्भ में ही यद्यपि मानव अस्तित्व की समग्रता को लेकर चला, पर उसकी गति सम्बुद्धि और भाव से ही प्रेरित रही, विभेदकरी प्रज्ञा की शक्ति उसे अभी उपलब्ध नहीं हो सकी थी। आगे इन देवताओं की निरंकुशता से तंग, सामाजिक-राजनीतिक-मनोवैज्ञानिक कारणों से विवश, मानव को एक दिन अनुभूति हुई कि देवी-देवताओं की इन स्थूल भौतिक मूर्तियों और इनके विकट चरित्रों में असल सत्त्व और शक्ति का निवास नहीं हो सकता। शक्ति स्थूल तत्त्व नहीं है, वह सूक्ष्म है। वह सगुण नहीं निर्गुण है, दृश्य नहीं अदृश्य है। नित्य की घटित घटना मृत्यु ने भी किसी सूक्ष्म तत्त्व की ओर संकेत किया होगा। इस प्रकार धार्मिक रूढ़ियों के बीच एक नयी चीज ने जन्म लिया, जिसे आज की भाषा में रहस्यवाद कहा जा सकता है। सूक्ष्म और अदृश्य की ओर बढ़ते हुए मानव के चरण दो दिशाओं में बँट गये। प्रथम चरण ने अनगिनत देवी-देवताओं में एक को सर्वोच्च शक्तिशाली और देवाधिप घोषित किया। यूनानियों का जियस, यहूदियों का जहोवा, आर्यों का वरुण या इन्द्र ऐसे ही देवता थे। यह चरण सीधा एकेश्वरवाद—पैग़म्बरवाद तक पहुँच गया। ईसाइयों-मुसलमानों का 'खुदा' यही पुरातन सर्वोच्च देवता है, जिस पर से मन्दिर-मूर्ति और पूजा-अर्चनाओं का आवरण तो उतार लिया गया है, पर जिसकी सर्वशक्तिमान् निरंकुशता को सुरक्षित रख लिया गया है। यह खुदा उपास्य, ज्ञातव्य और विवेच्य नहीं है। यह बहुत ऊँचे सातवें आसमान पर रहता है। इस तक तो विनीत-भयभीत दुआएँ ही मान्य पैग़म्बर के माध्यम से भेजी जा सकती हैं। एकेश्वरवाद की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें दृश्यादृश्य, आत्मिक-भौतिक का विभेद जाने-पहचाने बिना ही भौतिक शक्तियों से एकदम अलग और सृष्टि से बहुत दूर, ऊँचे एक अदृश्य, पर सर्वोच्च स्रष्टा, निरंकुश 'खुदा' को मान्यता दे दी गयी और स्रष्टा-सृष्टि का द्वैत स्थापित कर दिया गया। जीव सृष्टि का अंग बना, स्रष्टा का नहीं। यह द्वैत देवी-देवताओं के युग में उतना निर्दिष्ट और रूढ़ नहीं था। तब जैसे देवता और मानव परस्पर एक विचित्र भीषण क्रीड़ा में संलग्न थे। समान क्रीड़ा का स्थान अब मानव की गुलामी ने ले लिया। मध्य-पूर्व (Middle-East) के देश ईश्वर के सूक्ष्म, अदृश्य ब्रह्मरूप को, उसके उपर्युक्त 'खुदा' रूप से कभी भी पृथक् न कर पाये। इसीलिए वहाँ रहस्य-साधना यद्यपि आरम्भ से ही रही, पर उपनिषद् के ऋषियों की साधना जैसी स्वच्छता और स्पष्टता उसमें कभी न आ पायी। दोनों में अन्तर रहा और वही अन्तर 'खुदा' और 'ब्रह्म' में है।

ब्रह्म

मानव का दूसरा चरण देवी-देवताओं के झाड़-झंखाड़ों को पार कर ब्रह्म की

ओर बढ़ा। ऐसा भारत में ही हो सका, क्योंकि वैदिक देवता भौतिक शक्तियों एवं परिस्थितियों के अमूर्त प्रतीक ही रहे, मूर्त, रूढ़ और जड़ वे नहीं बन गये। ऋषियों का चिन्तन सहज रूप में उस सूक्ष्मतम अदृश्य तत्व की ओर बढ़ सका, जो भौतिक शक्तियों की प्रेरणा है और सभी दृश्य पदार्थों में अदृश्य बनकर व्याप्त है। इसे उन्होंने सभी देवताओं से परम कहा और ब्रह्म नाम दिया। उपनिषदों का यह ब्रह्म व्यक्ति नहीं, बल्कि परम तत्त्व और चरम सत्य है। वही सारी वास्तविकता का स्रोत है। जगत् उसके हाथों में थमी वस्तु नहीं, बल्कि उसका अंग है। सृष्टि उससे बनी है। शायद ब्रह्म उस सर्व-व्यापक विराट ऊर्जा, चेतना का नाम है, जिसमें क्रमशः सूक्ष्मतर कामना (Will) नीति (Law) और विचार (Idea) अन्तर्गर्भित हैं। कोई जड़ पदार्थ सूक्ष्म ऊर्जा (Energy) से शून्य नहीं। ऊर्जा से सूक्ष्म कामना, उससे सूक्ष्म नीति और उससे सूक्ष्म विचार है। और उससे भी सूक्ष्म शायद पीड़ा है। ये सभी तत्त्व ब्रह्म में परतों की तरह निहित और अणुओं की तरह मिश्रित हैं। शायद ऐसी ही कल्पना के आधार पर ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द रूप कहा गया। पर उसकी अदृश्य सूक्ष्मता और अकल्पनीय विराटता को दृष्टि में रखकर ही मिस्री रहस्यवादी इख्नेतन (१३७५-५८ ई० पू०) से लेकर औपनिषदिक ब्रह्मवादी तक और मसीही-मुस्लिम सूफियों से लेकर आधुनिक रहस्यवादियों तक सभी ने उसे बुद्धि, मन और वचन से परे कहा। उपर्युक्त सभी तत्त्व आंशिक-आनुपातिक रूप में जीवन में निबद्ध हैं। उनका सर्वश्रेष्ठ अनुपात मानव में उपलब्ध है। 'अहं ब्रह्मास्मि' 'शिवोऽहं' 'अनलहक' आदि उक्तियाँ इन्हीं अर्थों में शायद सबसे अधिक सार्थक हैं।

जैनेन्द्र का ब्रह्म

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, जैनेन्द्रजी का ब्रह्म यही उपर्युक्त ब्रह्म है, जो प्रकृति जगत्, स्थूल से अद्वैत है और व्यक्तीकृत ईश्वर, 'खुदा' या 'गाड' से भिन्न है। सम्बुद्धि में साक्षात्कृत यह ब्रह्म आधुनिक दर्शन और विज्ञान को अग्राह्य नहीं है। हीगल वस्तु-सत्ता की समग्रता को ब्रह्म मानता है। उसके अनुसार इतिहास का सन्देश ही यह है कि ब्रह्म सतत अग्रसर है। स्पिनोजा कहता है, ईश्वर और प्रकृति मूल रूप में एक थे (Deus Sive Natura)। एक अन्य दार्शनिक ईश्वर और सृष्टि को एक साथ ही अस्तित्व में आया हुआ घोषित करता है। वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार भी सूर्य समेत सब ग्रह एक ही वायव्य बादल से बने थे। भारतीय परम्परा में भी सूक्ष्मतम भौतिक तत्त्व आकाश है, जिसमें शेष सूक्ष्मतर तत्त्व गर्भित हैं। दृश्य विशाल पर्वतों और समुद्रों का पिघलकर गैस बनना और शून्य में अदृश्य हो जाना और फिर शून्य में से दृश्य अस्तित्व में आ जाना अनोखा है, पर अविश्वसनीय नहीं। अन्तरिक्ष के ग्रह-परिवार में ऐसा निरन्तर होता रहता है। इस प्रकार

स्थूलतम पिण्ड से सूक्ष्मतम विचार तक ब्रह्म की अथवा सृष्टि की विभिन्न तहों को खोजा और खोला जा सकता है। भौतिक ऊर्जा और जैविक चेतना के बीच विभाजन-रेखा खींचने के बदले दूसरे को पहले का विकास मानना अधिक वैज्ञानिक और बुद्धि-संगत रहेगा। यदि इनका द्वैत ही सच हो, तब भी दोनों को एक-दूसरे के लिए अनिवार्य और दोनों का एक ब्रह्म में अन्तिम विलय तो मानना ही होगा। परमाणु अविभाज्य नहीं है। इसलिए उसके न्यूट्रन और प्रोटोन के बीच दृश्य अन्तर भी अन्तिम नहीं है। फिर सभी स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वों की तरह अन्तर यानी द्वैत भी तो ब्रह्म में ही मुँह छुपायेगा। इस प्रकार प्रकट है कि ब्रह्म का उपर्युक्त स्वरूप शुद्ध अध्यात्मवादी ब्रह्म और शुद्ध भौतिकवादी प्रकृति के मध्य खिंची सीमा-रेखा को मिटाता हुआ दोनों को अपने में समेट लेता है। यह ब्रह्म केवल भय और अन्धविश्वास का विषय न रहकर सम्बुद्धि और प्रज्ञा का उपादान बन जाता है। इसकी विराटता अंशरूप मानव की जिज्ञासा और श्रद्धा दोनों का विषय है। पर यह ब्रह्म विकासवाद से परे है, क्योंकि विकास अंश का होता है, समग्र का नहीं। वह अविवेच्य है, क्योंकि असीम मानवीय प्रज्ञा की सीमा में नहीं बँध सकता। जैनेन्द्र की चेतना ने ब्रह्म को इसी रूप में पाया और समझा है।

शाश्वतता नहीं विराटता, समग्रता

इस प्रसंग में एक बात और रह गयी है। सूक्ष्मतम की खोज करते-करते मानव स्थूल को हेय और तिरस्कार्य क्यों मानता चला गया ? मुझे लगता है, ऐसा सूक्ष्मतम की खोज के साथ-साथ एक नित्य, शाश्वत तत्व की खोज के कारण हुआ। स्थूल, भौतिक, नश्वर है। तब अनश्वर स्थायी, शाश्वत क्या है ? सूक्ष्मतम ही चिरस्थायी शाश्वत है। स्थायित्व के खोजियों ने सूक्ष्मतम को ही ब्रह्म अथवा परमात्मा की संज्ञा दी और स्तरों को मानने से इनकार कर दिया। सूक्ष्मतम को छोड़ सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और स्थूल सब उपेक्षणीय बन गये, क्योंकि उन्हें असल ब्रह्म की नश्वर प्रकृति माया कहा गया। पर प्रकृति के रूप नश्वर नहीं, मात्र परिवर्तनीय हैं। प्रकृति स्थूल ब्रह्म है। आत्मा या परमात्मा को सूक्ष्मतम, परम, नित्य तत्त्व का पर्याय मान लिया गया। शरीर और प्रकृति आत्मा-परमात्मा से पृथक् दूर पड़ गये और उन्हें अब्रह्म की संज्ञा मिल गयी। यह बहुत कुछ भ्रम के कारण ही हुआ। प्रमाण यह कि ब्रह्मवादी 'पुरुष' ने स्वयं को परम ब्रह्म का प्रतीक और 'स्त्री' को प्रकृति का प्रतीक घोषित किया। यह घोषणा हास्यास्पद और असत् है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा शब्द शरीर से ब्रह्म तक के लिए प्रयुक्त हुआ है। वहाँ प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा, आनन्दमय आत्मा का वर्णन है। भृगु के आख्यान में अन्न को ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार उपनिषदों में आत्मा नाम 'सत्' (अस्तित्व)

की समग्रता को दिया गया है, मात्र गर्भस्थ सूक्ष्मतम को नहीं। 'आत्मिकता', 'आत्मीयता' आदि उक्तियाँ भी किसी सूक्ष्मतम के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होतीं। उनका अर्थ परस्परता होता है और परस्परता एकांगी सूक्ष्म-स्तर पर नहीं, समग्र के तल पर ही सम्भव है। इस प्रकार ब्रह्म को विराट समग्रता के रूप में देखना और मानना सभी दृष्टियों से सार्थक और उपयोगी है। गीता के विराट रूप दर्शन के माध्यम से शायद यही बात कही गयी है। हिन्दू-दर्शन में ब्रह्म का समग्र रूप स्वीकृत है, पर उपनिषद्-काल के बाद उसका एकांगी आध्यात्मिक परमसूक्ष्म रूप मानस में प्रतिष्ठित हो गया। यह प्रतिष्ठा ही मायावाद का प्रेरणा-स्रोत बनी।

आस्तिकता

उपनिषद् के ऋषियों से लेकर आधुनिक विचारकों तक कितनों ने ही ब्रह्म के उपर्युक्त समग्र विराट् रूप का समय-समय पर साक्षात्कार किया है। यही साक्षात्कार जैनेन्द्रजी ने भी किया और उसीमें से उन्हें वे उद्भावनाएँ मिलीं, जो बार-बार छुप जानेवाले सूक्ष्म सत्य को उद्घाटित करती हैं। जैनेन्द्रजी ने इस ब्रह्म को विश्वास और उपासना का विषय मात्र न रहने देकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आचार-विचार के प्रेरक स्रोत के रूप में इसकी अत्यन्त वैज्ञानिक और अकाट्य व्याख्या की है, जो उनकी सबसे बड़ी देन है। उपर्युक्त समग्र ब्रह्म में विश्वास ही उनकी आस्तिकता है और यही आस्तिकता उनके दर्शन का पहला तत्त्व है।

अहं का आरम्भ

फिश्ते ने ब्रह्म का वर्णन उस परम पुरुष के रूप में किया है, जो अपनी एकता से ऊबकर स्वयं को अनेकता में विभाजित कर लेता है, जिससे वह अपने ही एक अंश को दूसरे अंश की आँखों से परखने का मजा ले सके। उपनिषदों में भी वर्णन है कि ब्रह्म ने ईक्षण किया और उसके संकल्प मात्र से सृष्टि उत्पन्न हो गयी। सृष्टि का अर्थ ही है विविधता, अनेकता। बादरायण की मान्यता है, सृष्टि से पहले उसके असद् होने का अर्थ उसका अभाव नहीं है। अर्थात् स्थूल तत्त्व अथवा पिण्ड विशेष सूक्ष्मतम रूप में परिवर्तित होकर भी अपने व्यक्तिगत सत्त्व को सुरक्षित रखते हैं। उनके स्थूल रूप के अनस्तित्व को उनका अभाव न मान लिया जाय। परमाणुओं में परस्पर विभिन्नता है। सांख्य में अनगिनत नित्य पुरुषों अथवा जीवात्माओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार एक पक्ष यह हुआ कि सूक्ष्मता की चरम स्थिति में भी तत्त्वों का वैविध्य सुरक्षित रहता है। दूसरा पक्ष यह कि वहाँ विविधता नहीं रहती; अन्त में बस एकता ही शेष बचती है। शायद सच यह कि

अन्तिम अवस्थामें पहुँचकर अनेकता इतनी अचेत और तद्गत बन जाती है कि मानो असद् ही हो उठती है। ब्रह्म जैसे सागर है और उसके अन्तस्तल में लहरों की अनेकता नहीं है। सूक्ष्मतम विचार (Idea) से स्थूल पिण्ड तक अस्तित्व के विविध स्रोत ब्रह्म सागर में पर्यवसित, विलुप्त हो जाते हैं और ब्रह्म में सृष्टि-संकल्प उत्पन्न होते ही फिर से प्रकट होने में देर नहीं लगाते। विराट ब्रह्म में विलीन भौतिक तत्त्व, चेतन जीव और जड़ वस्तु जिस क्षण अपनी विसर्जित पृथकता को प्राप्त करते और परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया, घात-प्रतिघात का क्रम आरम्भ करते हैं, इसी क्षण से जैनेन्द्र तत्त्व, जीव, पिण्ड के व्यक्तिगत अहं की सत्ता स्वीकार करते हैं।

अहन्ता और आत्मता

मैं समझता हूँ 'अहं' अर्थात् 'मैं' केवल चेतन जीव तक सीमित नहीं है। जड़ वस्तु भी अपना 'मैं-पन' अपनी अहन्ता, रखती है, यद्यपि उसे उसका बोध, उसकी अनुभूति नहीं है और उसमें अपने 'मैं-पन' की दूसरे के 'मैं' पर आरोपित करने की इच्छा अथवा क्षमता भी नहीं होती। जड़ता पूरी तरह प्रवाह पर आश्रित होती है। प्रवाह को चुनौती वह नहीं दे सकती। चेतना वैसा कर सकती है। इसलिए जीव का 'अहं' व्यक्त प्रखर और सक्रिय होता है, जब कि जड़ का 'अहं' अव्यक्त और निष्क्रिय। पर जड़ में भी ऊर्जा है और एक धातु में निहित ऊर्जा दूसरी धातु में निहित ऊर्जा से विविध है। यह विविधता जड़ के भी 'अहं' की स्थापना करती है। जीव की चेतना और जड़ की ऊर्जा में अन्तर है। एक में कामना है, दूसरे में नहीं। पर दोनों एक ही परम प्रेरणा से चालित हैं। तभी चेतना ऊर्जा का उपयोग करती है और ऊर्जा चेतना को जीवन-दान देती है। अस्तु, असंख्य ग्रह, धरती, भूत, जीव, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, फल, फूल, अणु, परमाणु सब अपनी-अपनी अहन्ता रखते हैं। अपनी-अपनी आत्मता रखते हैं। 'अहन्ता' और 'आत्मता' को यहाँ प्रचलित लौकिक अथवा नैतिक अर्थ में न लेकर वैज्ञानिक अर्थ में ही लेना होगा। अहन्ता अर्थात् अंश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व और आत्मता अर्थात् अंश का समग्र व्यक्तित्व। जैनेन्द्र इस व्यक्तिगत अस्तित्व के 'अहं' को सृष्टि और जीवन का केन्द्र मानते हैं, क्योंकि 'अहं' की सत्ता के साथ ही सृष्टि और जीवन का आरम्भ है और उसके क्षय के साथ उनका विलय।

अहं की सजगता और सक्रियता

वैज्ञानिक अर्थों में जीव और पिण्ड दोनों के 'अहं' की सत्ता स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक अर्थों में चेतन प्राणियों के ही 'अहं' को जाना और माना जाता है।

प्राणि-मात्र में भी मानव-प्राणी का 'अहं' सर्वाधिक सचेत और सतेज है और उसमें भगवत्प्रवाह के अनुभव, उसकी अभिव्यक्ति और उसको प्रभावित करने की सर्वाधिक क्षमता है। मानवेतर प्राणी भगवत्प्रवाह का आंशिक अनुभव भले ही कर लें, पर उसकी अभिव्यक्ति करने और उसको प्रभावित कर पाने का विवेक-बल उनको नहीं मिला है। अन्य प्राणियों का 'अहं' रूढ़ और जातिगत है, जब कि मानवीय 'अहं' व्यक्तिगत और विकासशील है। यह विकासशीलता मानव को प्राप्त प्रज्ञा के कारण ही सम्भव हुई है। प्रज्ञा ब्रह्म के संकल्प एवं विचार (Idea) का अंश है, जो मानवेतर जीवों को उपलब्ध नहीं है। उनके मानस का विकास चेतना-स्तर तक ही हुआ है और उनमें (Instincts) की प्रधानता है। मानव में इन्स्टिक्ट्स हैं, पर प्रज्ञा उनके ऊपर स्थापित है। प्रतीत होगा कि यहाँ 'अहं' का अर्थ व्यक्तिगत या जातिगत मानस अथवा चरित्र हो गया है और भौतिक अस्तित्व की उपेक्षा हो गयी है। पर भौतिक अस्तित्व समस्त प्राणियों में इतना अधिक स्थिर और उसका विकास इतना अधिक अदृश्य है कि वह सविशेष नहीं रहता और मानसिक 'अहं' में निहित-स्वीकृत मान लिया जाता है। इस प्रकार अहं अंश के अस्तित्व का ही नहीं, उसकी गति और उसके आचरण-चरित्र का पर्याय भी बन जाता है। वस्तुतः अंशता के अननुभूत अस्तित्व से ही नहीं, अंश द्वारा उसकी सचेत अनुभूति और क्रिया-प्रतिक्रिया से भी अहं का आरम्भ है। अपने अस्तित्व के प्रति इस सजगता और सचेत सक्रियता को ही जैनेन्द्रजी अहं नाम देते हैं। वैसे अहं कोई पृथक् भौतिक तत्त्व नहीं है।

समग्र अहं को समझना

अहं का लौकिक एवं नकारात्मक भाव अहंकार शब्द में निहित है, जिसका अर्थ गर्व या घमण्ड किया जाता है। पर जैनेन्द्र के 'अहं' का यह सीमित अर्थ नहीं है। वह समग्रात्मक है। उसमें सिर्फ अंश के अस्तित्व के, सभी स्तरों (भौतिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक) का ही समावेश नहीं है, उसकी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का भी उसमें ग्रहण है। ये प्रवृत्तियाँ हैं—अंश का शेष के प्रति स्वागत एवं समर्पण का भाव, और उसका शेष के प्रति निषेध और हठ का भाव। इन दोनों प्रवृत्तियों को ही जैनेन्द्रजी क्रमशः अहिंसा एवं हिंसा नाम देते हैं और ये ही द्वन्द्व की आधारशिला हैं। यह है जैनेन्द्रजी का 'अहं', जिसकी सही समझ बहुत आवश्यक है। इस 'अहं' को लौकिक निषेधात्मक अर्थ में ग्रहण करके ही जैनेन्द्रजी के कई आलोचक उनके पात्रों की त्रुटिपूर्ण आलोचना कर गये हैं। वास्तव में किसी भी मानव अथवा धारा को सही रूप में समझने के लिए उसके 'अहं' को उपर्युक्त सर्वांगीण रूप में (अस्तित्व एवं प्रवृत्ति दोनों दृष्टियों से) आत्मगत कर लेना अनिवार्य

है, नहीं तो उसके प्रति दोषपूर्ण एकांगी रुख़ अपनाने का खतरा हमें उठाना होगा और हम घटना अथवा समस्या के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर पायेंगे। सहानुभूति का अर्थ दम्भ दिखाना नहीं है। उसका अर्थ है, विषयी द्वारा विषय के साथ विषय की दृष्टि से सोचना, अनुभव करना। तभी हम समक्ष मानव अथवा धाराविशेष का गूढ़, सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

संगठित सामूहिक अहं

जैनेन्द्रजी की मान्यता है कि 'अहं' केवल व्यक्ति का ही नहीं होता, समूह का भी संगठित 'अहं' होता है। उनका कहना है कि राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और समाजवाद ऐसे ही संश्लिष्ट संगठित 'अहं' हैं। सामूहिक 'अहं' का आचरण ठीक व्यक्तिगत अहं जैसा ही होता है। जैनेन्द्रजी इस विश्वास का खण्डन करते हैं कि समूहों, संगठनों का आचरण अनिवार्य रूप से व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उदार, अहिंसात्मक एवं शुभ होता है। उनका कहना है, दायरा फैल जाने से प्रकृति और प्रवृत्ति में अन्तर नहीं पड़ जाता। व्यक्ति हो या समूह, जब तक उसका 'अहं' शेष के प्रति स्वीकारात्मक, अर्थतः, समर्पणात्मक नहीं होगा, तब तक उससे कल्याण की सम्भाव ना नहीं है। इसीलिए वे राष्ट्रवाद, पूँजीवाद या समाजवाद के प्रशंसक नहीं दीख पाते, क्योंकि ये सभी छोटे-बड़े दायरे हठवादी हिंसात्मक रुख अपनाकर ही खड़े होते और चलते हैं। जितना सीमित हित ये कर पाते हैं, उससे कहीं असीम द्वन्द्व, त्रास एवं ह्रास के प्रेरक ये अनजान में ही बन जाते हैं। जैनेन्द्रजी की मान्यता है कि व्यक्तियों, समूहों और संगठनों के अन्तर्गर्भ में से जब तक अहं की इस निषेधात्मकता और हठवादिता को पहचाना और पकड़ा नहीं जायगा और उसे समर्पणात्मक, समन्वयात्मक नहीं बनाया जायगा, तब तक युद्धों का समूलोन्मूलन असम्भव है। जैनेन्द्रजी आज के आतंक और त्रास का जिम्मेदार विज्ञान को नहीं, 'अहं' के इस पर-निषेधात्मक रुख को ही मानते हैं। उनकी सम्मति में विज्ञान सहायक है। वह जो अवरोधक बना है, वैसा उसके निषेधात्मक अहं के हाथों में पड़ जाने के कारण ही हुआ है। इसलिए समस्या विज्ञान की नहीं, 'अहं' की है। आज बुद्धिवादियों एवं दार्शनिकों का सबसे बड़ा कर्तव्य इस अहं का संस्कार करना ही हो जाता है। और जब अहं संस्कृत अर्थात् शेष के प्रति समर्पणात्मक हो जाता है, तब व्यक्तिवाद और समाजवाद-समूहवाद दोनों ही समान रूप से कल्याणमय बन जाते हैं। ऐसा न होने पर व्यक्ति समाज के हाथों और समाज व्यक्ति के हाथों में खिलौना बनकर रह जाता है। हो सकता है, अहं का ऐसा परिष्कार असम्भव कल्पना ही माना जाय, पर उसे प्रज्ञा के सामने निरन्तर उपस्थित रखे, यह मानवता के बुद्धि-तत्त्व का कर्तव्य बन जाता है। अहं को इस रूप में देखना निश्चय ही जैनेन्द्र-विचारणा की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

व्यक्ति-अहं को गालियाँ देने से हम किसी नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे, क्योंकि जैनेन्द्रजी का कहना है कि हम हर घड़ी व्यक्ति—प्रज्ञा-शक्ति-भावना—के ही सम्पर्क में तो आते हैं। तथाकथित समाज घटक से हमारा सामना कभी नहीं होता।

अंश अहं ब्रह्म से आवृत

अहं के सम्बन्ध में दूसरा सबसे विशेष तथ्य यह है कि अहं अंश और शेष भगवत्ता (पूर्ण अस्तित्व) के बीच एक अनिवार्य द्वार है, जिस प्रकार द्वार के माध्यम से घर शेष सृष्टि के भौतिक तत्त्वों, आकाश, पर्वत, जल, धरती, अन्न तथा अन्य प्राणियों से जुड़ा होता है, उसी प्रकार अंश भी शेष भगवत्ता के भूत, चेतना, कामना, नीति, विचार आदि सभी अंगों से जुड़ा है। ब्रह्म स्वयं को अंश यानी अहं में अभिव्यक्त करता है। अहं शेष का अंश है। स्वयं को अंश मानने की भावना अहं में जितनी विकसित और दृढ़ होती है, उतना ही अहं विस्तृत बन जाता है और पूर्णता उतने ही वेग से व्यक्ति-मानस के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगती है। तब अहं की दीवारें जैसे पारदर्शी बन जाती हैं। सम्पूर्ण ब्रह्म अहं में फूटा पड़ने लगता है। इस प्रकार जैनेन्द्र व्यक्त मानसिकता (Conscious Mind) के नीचे किसी रहस्यमय अन्धकारमय ग्रन्थिमय अवचेतन मानसिकता (Sub-Conscious Mind) की सत्ता को नहीं, ब्रह्म को ही मानते हैं। अवचेतन की सत्ता से एक कुटिल आतंक की-सी ध्वनि निकलती है। उसे हम अशुभ मान लेते हैं। पर व्यक्त, दृश्य, मानव-व्यक्तित्व के नीचे जो अव्यक्त, अदृश्य छुपा है, उसे कुटिल और अशुभ मानने की आवश्यकता जैनेन्द्रजी को नहीं दीख पड़ती। वरन् वे उस तथाकथित अव्यक्त, अदृश्य अवचेतन को ब्रह्म की संज्ञा देते हैं। ब्रह्म में अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। यदि व्यक्ति-अहं शेष भगवत्ता के प्रति उन्मुख रहे, तो व्यक्ति की सम्भावनाएँ गुणानुगुणित होती हैं; यदि अहं सिर्फ स्व में केन्द्रित रहे, तो वे संकुचित-अवरुद्ध होती हैं। जहाँ तक पाश्चात्य मनोविज्ञान के ग्रन्थि-सिद्धान्त का सम्बन्ध है, जैनेन्द्रजी उसे यथावत् स्वीकार नहीं करते। उसकी कार्य-कारण व्यवस्था, विशेषकर फ्रायड की व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या उन्हें मान्य नहीं। वे व्यक्ति-अहं की स्व-केन्द्रिता और पर-निषेधक हठवादिता को ग्रन्थियों के बनने का कारण और उसकी समर्पणात्मकता को उनके खुलने और मानस के स्वच्छ होने का उपाय मानते हैं। पर ग्रन्थि शब्द के प्रयोग में ही जैनेन्द्रजी की विशेष श्रद्धा नहीं है। वे अहं और ब्रह्म (समग्र) की इस परस्परता को और व्यक्ति के ब्रह्म (समग्र) द्वारा आवृत होने की सत्यता को ही मनोविज्ञान का आधार कहते हैं। जुंग ने अवचेतन के दो भेद किये हैं, व्यक्तिगत अवचेतन और सामूहिक अवचेतन और इस प्रकार उसने व्यक्ति-मानस के नीचे समग्र के अस्तित्व को आंशिक रूप में स्वीकार किया। यदि इस परस्परात्मक दृष्टि से

विचार किया जाय, तो मनोविज्ञान पर एक नया प्रकाश पड़ता है और स्वयं मनोविज्ञान की ग्रन्थियाँ खुलती हैं। तब अवचेतन-चेतन बुद्धि-सम्बुद्धि परस्पर विरोधी होने के बदले सहयोगी सिद्ध हो जाते हैं। जुंग ने इस सहयोग की सम्भावना की ओर संकेत किया है। व्यक्ति-मानस को ग्रन्थियों की गुलझट मात्र मान बैठना और उन ग्रन्थियों को मात्र सांसारिक तृप्तियों से खोलने का प्रयास करना रोग का सही वैज्ञानिक निदान नहीं है। मानव के प्रति इतना अविश्वासी होना और उसके रोग को इतने ऊपरी तल से छूने का प्रयत्न करना प्रभावी नहीं हो सकता। उसके रोग का मूल इन्द्रिय, मन और बुद्धि से बहुत गहरे में उसके अहं की दुधारी (पर-स्वीकार, पर-निषेधात्मक) प्रवृत्तियों में निहित है। अहं जीव को ब्रह्म की ओर से मिली एक सत्ता है। जीव की कृतार्थता उस सत्ता को समर्पित करने में है, न कि हठ से उसे जड़ीभूत और ग्रन्थिमय बनाने में।

अहं की कसौटी परस्परता

अहं-तत्त्व का अध्ययन इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। अहं की कसौटी परस्परता है। अहं का पर-स्वीकार और समर्पण-भाव उसका शुक्ल पक्ष, उसकी प्रियता और नैतिकता है। और उसका पर-निषेधात्मक हठवाद उसकी अप्रियता और अनैतिकता। इस नैतिकता-अनैतिकता की जाँच तभी हो सकती है, जब एक अहं अन्य चेतन-अचेतन अहं शक्तियों के सम्पर्क में आता है। ऊपर अहं और ब्रह्म की परस्परता का जिक्र आ चुका है। इस परस्परता पर विस्तृत विचार किये बिना अहं की गति और उसके आचरण का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता और शेष के साथ उसकी सापेक्षता को समझा नहीं जा सकता। हम आगे देखेंगे कि सभ्यताओं-संस्कृतियों की उन्नतावनत अवस्था इसी बात पर निर्भर करती है कि परस्परता को कितना प्रिय, सहज और समग्र वे बना पायीं। परस्परता की इस समस्या के हल की कोशिश में ही सारा ज्ञान-विज्ञान विकसित हुआ। इस समस्या के कई रूप हैं: ब्रह्म और विभिन्न चेतन-अचेतन अहं शक्तियों की परस्परता; प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति की परस्परता; मानव-मानव की परस्परता। यद्यपि मानव के लिए सबसे अधिक तात्कालिक महत्त्व की चीज मानव-मानव के बीच का सम्बन्ध ही है, पर पहले और दूसरे रूप से भी उसका कम सीधा रिश्ता नहीं है। वस्तुतः अहं की हर सक्रियता समस्या के उपर्युक्त तीनों रूपों से घनिष्ट होकर ही क्रियमाण हो सकती है।

ब्रह्म-जीव पारस्पर्य

ब्रह्म का स्वरूप क्या है, यह पहले ही विचार का विषय बन चुका है। अस्तित्व की समग्रता, पूर्णता का नाम ही ब्रह्म है; मानव की सीमित बुद्धि उसकी यही परि-

भाषा कर सकती है। सारे ग्रह-लोक उस समग्र-पूर्ण के तुच्छ अंश हैं। सब अपनी-अपनी सीमित कक्षाओं में घूमते हैं और एक-दूसरे के साथ अटूट आकर्षण और सम्बन्ध में बँधे हैं। सब एक-पर को प्रभावित करते हैं। क्षण-क्षण इन ग्रहों का प्रलय और नूतन निर्माण हो रहा है। मानव-कल्पना के लिए अन्तरिक्ष में सधे इन विराट ग्रह-मण्डलों के और उनकी परस्परता के चित्र को आत्मगत करना असम्भव है, पर अनादिकाल से ये हमारी भाव-कल्पना, जिज्ञासा और खोज के विषय रहे हैं। अन्तरिक्ष-विज्ञान इसी खोज का परिणाम है। हमारी अपनी धरती पर जो नाना विस्फोट, ज्वार-भाटे और भौतिक परिवर्तन होते हैं, वे भी समग्र की प्रेरणा से निरपेक्ष नहीं होते। वर्तमान विभिन्न ऋतुओं, धातुओं, वनस्पतियों, जीवों की यह विषमता-विविधता शेष समग्र में उपस्थित नानात्व से असम्बद्ध नहीं है। ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध पर तो धर्म, दर्शन और विज्ञान सभी ने खुलकर विचार किया है। ज्योतिष और भाग्यवाद इसी विचारणा के अधकचरे फल हैं। असल में जो समग्र भौतिक शक्तियों, अन्तरिक्ष के ग्रहों, उनकी किरणों के रूप में प्राणि-जगत् को प्रभावित करता है, और इस प्रकार उसके भविष्य का निर्माण करता है, उसका सम्पूर्ण ज्ञान न मानव आज तक प्राप्त कर सका है और न ही विज्ञान की सहायता से शायद वह कर सकेगा। जितना हम जान पाते हैं, उतना ही अगाध अंधेरा हमारे सामने लहरा उठता है। इसीलिए प्राणी के क्या हर अस्तित्व के भाग्य को अज्ञेय कहा गया है और जैनेन्द्रजी अज्ञात के अज्ञेय बने रहने में ही आकर्षण और शुभता देखते हैं। शेष-विराट में निहित सम्भावनाओं के व्यक्ति-अहं में आंशिक प्रवेश पा लेने पर ही महान प्रतिभाएँ जन्म लेतीं और विकसित होतीं हैं। ऐसा तभी होता है जब व्यक्ति-अहं का द्वार अवरुद्ध नहीं उन्मुक्त होता है। जैनेन्द्रजी प्रतिभाओं की उत्पत्ति का यही स्पष्टीकरण देते हैं। और जब अहं के दर-दीवार एकदम पारदर्शी वायव्य बन जाते हैं, तब ऋषियों, पैग़म्बरों और समर्पित भक्तों-प्रेमियों की सृष्टि होती है। सर्वग्रासी परस्परता की समुचित साधना के लिए इस ब्रह्म-जीव की परस्परता को जानना-मानना, उपलब्ध करना बहुत आवश्यक है। हर भक्त, दार्शनिक और कवि ने ईश्वर का जो गुणानुवाद किया है, उसका यही रहस्य है। यही आस्तिकता है। इस दृष्टि से नास्तिकता एक अर्थहीन उक्ति बन जाती है और किसीको भी नास्तिक समझना असंगत प्रतीत होने लगता है।

प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति

परस्परता का दूसरा रूप है, प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति की परस्परता। ब्रह्म और विविध अहं-घटकों के बीच के सम्बन्ध लीला-प्रधान हैं, पर जीव और प्रकृति की परस्परता का सार-तत्त्व उपयोगिता है। चेतन प्राणी अपने अस्तित्व

की रक्षा और विकास के लिए प्रकृति का उपयोग करता है। प्रकृति जीवों की प्राण-शक्ति को और उनकी वृत्तियों को पुष्ट बनाती है। जीवों का प्रकृति से जो भावमय सम्बन्ध प्रकट है, वह लीला पर नहीं, उपयोग पर आधारित है। जीव प्रकृति का ही उपयोग नहीं करते, अन्य हीनतर जीवों का भी उपयोग करते हैं। वे उनको खाते हैं। मानव की उपयोग-क्षमता प्रकृति और मानवेतर प्राणियों तक ही सीमित नहीं है। मानव अन्य मानवों का भी विधिवत्, शारीरिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक उपयोग अथवा शोषण करता है। मानवेतर प्राणियों द्वारा उपयोग इंस्टिक्ट-नियमित होता है, जब कि मानवीय उपयोग-प्रणालियाँ बुद्धि-नियमित होती हैं। मानवों, मानवेतर जीवों और प्राकृतिक तत्त्वों की परस्परता में से ही जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, रसायन, चिकित्सा, भौतिकी, भूगर्भ विज्ञान, धातु-विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान और नाना प्रकार के शिल्प आदि उपजे हैं। विद्युत्, गैसीय और अणु-उद्जन शक्तियों का विकास भी इसी परस्परता की देन है। जैनेन्द्रजी इन वैज्ञानिक उपलब्धियों को ब्रह्म-जीव और मानव-मानव की परस्परता के स्वस्थ विकास के लिए उपयोगी मानते हैं। वे धर्म और विज्ञान को विरोधी नहीं, परस्पर पूरक घोषित करते हैं। यह भौतिक उपयोगवाद भावना और लीला तक पहुँचने के लिए सीढ़ी है, उसके मार्ग की बाधा नहीं। जैनेन्द्रजी का मानना है कि विज्ञान ने मानव को जो गति की तीव्रता प्रदान की है, उसने शिक्षा और सहानुभूति का जो अप्रतिम विस्तार किया है, उससे मानव मानव के निकटतर आया है और दूरी नगण्य बन गयी है। उसीके कारण विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति-सभ्यताओं का सम्मिलन-सम्मिश्रण सम्भव हो पाया है, जिसके फलस्वरूप एक विश्व-सभ्यता का विकास धीरे-धीरे हो चला है। अणु-युद्धों द्वारा अन्तिम प्रलय का जो संकट आज मानव के सिर पर मँडरा रहा है, उसके लिए विज्ञान नहीं, सामूहिक तल पर हमारी अपरिष्कृत मानसिकता और विस्तृत अहं-चेतनाओं के संघर्षशील वृत्त (राष्ट्रवाद, पूँजीवाद, समाजवाद आदि) ही उत्तरदायी हैं। जैनेन्द्रजी उपयोगितावाद के पीछे अहं का उदात्त समर्पण देखना चाहते हैं। इस प्रकार कर्मवाद अभिशाप के स्थान पर वरदान बन सकेगा और वह साध्य नहीं साधन की औचित्य-सीमा में बँध जायेगा।

मानव-मानव की परस्परता

मानव-मानव के सम्बन्धों की समस्या मानव के सामने उपस्थित सबसे बड़ी समस्या है। इस वैज्ञानिक युग की गुत्थी ही यह है कि हमने मानव-प्रकृति की परस्परता को मानव-मानव की परस्परता से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया है और हम चेतन मानवों की सम्भावनाओं को भी मानवेतर अथवा जड़ प्रकृति के गणना-प्रक्रियात्मक माप-दण्ड से ही नापने का दुःसाहस करते हैं और उसीको वैज्ञा-

निक कहते हैं। समाजवाद-साम्यवाद में यही हुआ है—व्यक्ति के प्रति अविश्वस्त इन प्रणालियों में मानव को अन्न-वस्त्र-सेक्स और सांस्कृतिक कार्यक्रम मात्र से तृप्त रहनेवाला यन्त्र मान लिया गया है। जैसे उसके अहं की सत्ता ही वहाँ अस्वीकृत है। असाम्यवादी देशों में भी राजनीतिक-आर्थिक स्थितियाँ एवं आवश्यकताएँ कुछ ऐसी हैं कि व्यक्ति को उपयोग का उपादान भर ही मानने को शासन-यन्त्र बाध्य हैं। सभ्यता का अर्थ भौतिक-स्तर का उन्नयन और संस्कृति का अर्थ कलात्मक मनोरंजन बन गया है। अण्वस्त्रों के आतंक की छाया में, सामूहिक अहं-चेतना की वेदी पर व्यक्ति-अहं के समुचित परिष्कार एवं विकास की सम्भावनाओं की बलि दे दी गयी है। उपयोगितावादी योजनाओं के लिए मानव-यन्त्रों के थोक उत्पादन का लक्ष्य ही सरकारों के सामने रहता है। जैनेन्द्र मानते हैं कि यह बहुत स्वस्थ और संस्कृत प्रक्रिया एवं परम्परा नहीं है। इससे व्यक्ति-अहं में ज्वरोत्पीडन की-सी स्थिति पैदा हो जाती है। मानव-मानव के बीच सरकार और पार्टी की लौह-भित्ति खड़ी दीखती है और वह व्यक्ति की परस्परोन्मुखता के मार्ग में सहायक होने के बदले बाधक ही सिद्ध होती है। मानवों के जड़वत् उपयोग को जितने बड़े पैमाने पर आज साधा जा रहा है, उतने बड़े पैमाने पर इतिहास में कभी भी साधा नहीं गया था। और ऐसा राष्ट्रीय-सामूहिक अहं-चेतनाओं की तृप्ति के लिए वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया जा रहा है, प्राचीन शारीरिक गुलामी की प्रणाली से नहीं। जैनेन्द्रजी मानव-मानव की परस्परता के उपर्युक्त पक्ष में सबसे बड़ा दोष यह देखते हैं कि किसी भी समूह-अहं के प्रति निष्ठावान् मानव अन्य मानवों के और समग्र ब्रह्म के प्रति समर्पित रह ही नहीं पाता, अथवा वह इतना यन्त्र बन जाता है कि किसीके प्रति भी निष्ठा रखने की उसमें रुचि और शक्ति ही वर्तमान नहीं रहती। आज सामूहिक महत्त्वाकांक्षाओं का ऐसा भीषण दबाव व्यक्ति-अहं पर पड़ा है कि वह किंकर्तव्यविमूढ़ बन गया है और उसमें वैज्ञानिक प्रगति को समाने और झेलने में समर्थ मानसिकता विकसित नहीं हो पा रही है। जैनेन्द्रजी के अनुसार ऐसी मानसिकता का आधार मानव का मानव के प्रति प्रेम ही हो सकता है, उसका समूह-विवेक में विलीन हो जाना नहीं। संगठन 'एक के स्वीकार—शेष के निषेध' इस स्फूर्ति से ही प्रेरित होते हैं। किन्तु व्यक्ति के अन्य व्यक्ति के प्रति प्रीति-भाव में शेष के प्रति निषेध-भाव अनिवार्य नहीं मिलता। इस प्रकार मानव-मानव की परस्परता मूल व्यक्ति-अहं के परिष्कार एवं विकास का साधन बन जाती है। प्रीतिपगे ऐसे व्यक्ति-अहं, सामाजिक-राष्ट्रीय अहं-चेतनाओं में से हिंसात्मक डंक नोच फेंकने और उन्हें नैतिक स्तर तक उठाने में समर्थ हो जाते हैं। व्यक्ति का व्यक्ति के द्वारा जैसा उदात्त निर्माण सम्भव है, वैसा सामूहिकता के हाथों सम्भव नहीं है। महात्मा गांधी व्यक्तिगत सम्पर्क और प्रीति के माध्यम से ही पंडित नेहरू,

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, सरदार पटेल जैसे व्यक्तित्व भारत को दे पाये। एक संगठनवादी जोश और रोष में से वैसा हो पाना दुःसाध्य था। इस प्रकार जैनेन्द्रजी व्यक्ति-व्यक्ति के सम्पर्क, प्रेम और समर्पण में वह नैतिक विद्युत् देखते हैं जो एक साथ लाखों की मानसिकता को उदात्त और प्रकाशमय बना देने में और उनकी सक्रियता को सर्वभूतहित की ओर मोड़ देने में समर्थ है। व्यक्ति-मेधा ने ही विज्ञान का सृजन किया है। व्यक्ति-हृदय ही उसकी प्रलयंकरता को मुट्ठी में बाँधने में सफल होगा। यह आश्चर्य का ही विषय है कि भौतिक अणु की विराट सम्भावनाओं के प्रति सजग वैज्ञानिक द्वारा मानव-चेतना की घोर उपेक्षा कैसे सम्भव हो पा रही है।

सेक्स, प्रेम, साहचर्य

मानव-मानव की परस्परता का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग नर-नारी संयोग अर्थात् सेक्स है। सेक्स पर जैनेन्द्रजी ने बहुत लिखा है। वे सेक्स को उपेक्षणीय अथवा घृण्य नहीं मानते। वे उसका कार्य-प्रभाव-क्षेत्र मात्र संतति-उत्पादन तक भी सीमित नहीं करते। सेक्स को वे वह मूलभूत शक्ति और स्फूर्ति मानते हैं, जो व्यक्ति-अहं का परिष्कार करने और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में समर्थ है। व्यक्ति-अहं का नग्नतम वस्तुवादी रूप सेक्स क्षेत्र में ही प्रकट होता है और यहाँ जो संस्कार और प्रभाव वह ग्रहण करता है, वे उसके सारे जीवन को और उसके जीवन के माध्यम से सारे विश्व को प्रभावित करते हैं। सेक्स का यह नर-नारी द्वैत कैसे निर्मित हुआ ? इस प्रश्न की जैनेन्द्रजी ने बड़ी अनूठी व्याख्या की है। वे कहते हैं कि समग्र में अहं-चेतनाओं के पृथक् होते ही उनमें पर के सान्निध्य की चाह पैदा हुई। इस चाह के दो रूप हो गये। एक ने चाहा 'वह मुझमें हो।' यह अहं स्त्रीत्व-प्रधान हो गया। दूसरे ने चाहा 'मैं उसमें हूँ' और यह अहं पुरुषत्व-युक्त हो गया। स्त्री-पुरुष एक ही अहं के दो रूप हैं और इस प्रकार अर्द्धनारीश्वर की पौराणिक कल्पना को जैनेन्द्रजी स्वीकार करते हैं। 'वह मुझमें हो' यह चाह समाने की चाह है और स्त्री अवधारण-शक्ति की प्रतीक है। उसकी प्रवृत्तियाँ हैं ग्रहण, वहन और व्याप्त आकर्षण। 'मैं उसमें हूं' यह चाह स्थूल पिण्ड में निहित गति और शक्ति की चाह है। पुरुष उसीका प्रतीक है। और उसकी प्रधान वृत्तियाँ आरोप और प्रगति हैं। जिस प्रकार शून्य पिण्ड को धारण करता है और उसकी गति-प्रगति का क्षेत्र बनता है, उसी प्रकार स्त्री पुरुष को, शरीर, मन, बुद्धि और भावना हर दृष्टि से धारण करती और उसकी प्रगति को गति देती है। जैनेन्द्रजी आज की सभ्यता को पुल्लिंगी सभ्यता कहते हैं, क्योंकि उसमें गति और हिंसा की प्रधानता है। नारी की ग्रहण-वहन-वृत्तियों का समुचित योग उसे नहीं मिल पाया है। तभी इस वैज्ञानिक सभ्यता में इतना उद्वेग और विषम असमन्वय है। स्त्री के संयोग से पुरुष-अहं में एक स्निग्ध

द्रवणशीलता आती है। द्रवित होना, अरूप-शून्य बनना जैसे पुरुष की अन्ततम की वह चाह है जिसे अपनी गति-प्रगति में वह कितना भी ढँके पर जो दब नहीं पाती। इसी प्रकार स्त्री की अन्तस्थ कामना रहती है, पुरुष को स्वयं में लेकर उसे गति देकर ग्रह-पथ (Orbit) में फेंक देना। स्त्री-पुरुष के मध्य उपर्युक्त अन्तस्थ कामनाओं से प्रेरित घात-प्रतिघात निरन्तर चलते रहते हैं और यही मानवीय सक्रियता के मूल गुह्य प्रेरक बन जाते हैं। आज सामूहिक स्वार्थों एवं महत्त्वाकांक्षाओं ने नैसर्गिक व्यक्तिगत आकर्षण-अपकर्षण के उपर्युक्त रूप और क्रम को विचलित कर दिया है। स्त्री और पुरुष के बीच सामूहिकता आ गयी है, जिसने प्रगतिशील नर-नारियों को परस्पर समर्पित होने से रोक दिया है और उनमें एक गहरी घुटन पैदा कर दी है। जैनेन्द्रजी नर-नारी के बीच किसी वायव्य आदर्श अथवा स्थूल रूढ़ि को नहीं शुद्ध प्रेम को प्रवर्तमान देखना चाहते हैं। प्रेम सहनशील और हठशून्य होता है। प्रिय की प्रेमी से अधिक हित-कामना और कोई भी नहीं कर सकता। प्रेमी प्रिय के अहं को सबसे अधिक जानता-पहचानता है और उसका विकास-विस्तार ही उसका लक्ष्य बन जाता है। इससे दोनों को ही समग्र तृप्ति मिलती है और कृतार्थता का अनुभव होता है। इस तृप्ति और कृतार्थता से स्व की सीमाएँ टूटतीं और व्यक्ति परोन्मुख-परमोन्मुख बनता है। इस प्रकार जैनेन्द्रजी द्वारा की गयी सेक्स की व्याख्या नर-नारी के शरीर-सम्भोग को न तिरस्कृत करती है, न ही उसमें बँधती है। शरीर-सम्भोग प्रेम का स्वाभाविक परिणाम भर रह जाता है। प्रधान चीज है प्रेम, जिससे मिली तृप्ति शरीर-सम्भोग से कहीं गहरी, स्थायी और सर्वग्रासी होती है। यह मानव की सम्भावनाओं को विस्तृत करती और उसके कदमों को विराट ब्रह्म की ओर मोड़ती है।

अहंचर्य, ब्रह्मचर्य

जैनेन्द्रजी का 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ भी प्रसिद्ध लौकिक नहीं है। अपनी वृत्तियाँ सब ओर से हटाकर अहं में केन्द्रित कर लेना अहंचर्य है, शेष सबको अपने प्रेम का दान करना ही ब्रह्मचर्य कहला सकता है। जो स्व को शेष सबको दे डालने के लिए आतुर बन चुका है, वह शरीर और उसकी सीमाओं---वासनाओं में बँधा रह ही नहीं सकता। वह ब्रह्ममय बन जाता है। वह 'पर' का निषेध नहीं, उसका स्वागत करता है। ब्रह्मचर्य को इन्द्रिय-निग्रह के अर्थ तक सीमित करना जैनेन्द्रजी हास्यास्पद समझते हैं। इस विषय में गांधीजी का उदाहरण हमारे सामने है। वे महात्मा इन्द्रिय-निग्रह के कारण नहीं, अहं की विराटता के कारण कहलाये। अहं के परिष्कार-विस्तार के मार्ग में इन्द्रिय-निग्रह उन्हें स्वत:सिद्ध हो गया। स्व, अहं अथवा काम कीटता विरा को जैनेन्द्रजी ने और अधिक सूक्ष्मता से समझाया है। वे चंगेज़ख़ाँ

और बुद्ध, हिटलर और गांधी के प्रयासों के नीचे काम की विराटता को ही पाते हैं। उनके अनुसार उपर्युक्त विभूतियों के सामने अनन्त जन-विस्तार जैसे स्त्री के समान ही फैला पड़ा था और उसमें उनको उन्मुक्त गति प्राप्त थी। चंगेज़खाँ और हिटलर की गति को जैनेन्द्रजी भय और हठ-प्रेरित मानते हैं तथा बुद्ध-गांधी की गति को प्रेम-समर्पण-प्रेरित। इन चारों के पीछे असंख्य लोग उसी प्रकार पागल हो उठे थे, जैसे कृष्ण के पीछे गोपियाँ। यदि काम का शरीर-बद्ध अर्थ न लेकर उदात्त सूक्ष्म अर्थ लिया जाय, तो मानव की हर सक्रियता के नीचे 'वह मुझमें हो'—'मैं उसमें हूँ' इन दो मूल कामनाओं में से एक अवश्य मिलेगी। काम को विराटता तब मिलती है, जब 'वह मुझमें हो', 'मैं उसमें हूँ' के स्थान पर क्रमशः 'सब मुझमें हों',–'मैं सबमें हूँ' उक्तियाँ मानव-कामनाएँ बन जाती हैं।

काम और अर्थ (उपयोगितावाद)

मानव की मानसिकता और कार्मिकता का निर्माण दो तत्त्वों से होता है—प्रेम-अप्रेम मूलक काम से और सांसारिक उपयोगितावाद अर्थात् अर्थ से। दम्पति, परिवार, सम्प्रदाय, समाज, राष्ट्र और विश्व ये क्रमशः बड़ी होती संस्थाएँ काम और अर्थ के इस द्वैत से ही मिलकर बनी हैं। आज उपर्युक्त सभी संस्थाओं में अर्थ-पक्ष की प्रधानता और काम अर्थात् प्रेम-पक्ष की क्षीणता हो चली है। जैनेन्द्रजी चाहते हैं कि हमारी सभी संस्थाओं का मूल उत्स प्रेम में हो। अर्थ प्रेम में से रस ग्रहण करके ही अपना विकास-विस्तार करे। काम और अर्थ, प्रेम और उपयोगिता का समन्वय धर्म में होता है, जिसका वैज्ञानिक अर्थ है, नीति। नीति शोषण की नहीं पोषण की; कूट नहीं सरल। हमारा दाम्पत्य, समाज, उत्पादन, वितरण और शासन काम-अर्थ के संयोग से प्रसूत प्रेम-नीति से चले। अनन्त अहं चेतनाओं में उपस्थित घोर विषमताओं के समक्ष प्रेम-नीति का प्रचलन और पालन बहुत कठिन दीखता है। पर यदि प्रेम का अस्तित्व है तो यह फलित होने के लिए ही है, निष्फल होने के लिए नहीं। जैनेन्द्रजी कल्पना के मूल्य को भी खोना नहीं चाहते। कल्पनाएँ ही वास्तविकता में बदला करती हैं। फिर प्रेम कल्पना नहीं है। व्यक्ति-स्तर पर उसका चमत्कार हम नित्य देखते हैं। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर गांधी जैसे महापुरुषों ने उसका चमत्कार हमें दिखाया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारे नेहरूजी उसी सुहृद्-नीति के प्रयोग सफलतापूर्वक कर रहे हैं। इसलिए प्रेम को कल्पना मानना मानव का अपमान करना ही समझा जाना चाहिए। हाँ, प्रेम-नीति की सफल सिद्धि तभी सम्भव है, जब उसके पीछे उदात्त काम की तीव्रता अधिक हो, उपयोगितावाद की जड़ता कम। निरस्त्रीकरण की समस्या का हल प्रेम की, ब्रह्मचर्य की, इस तीव्रता में से ही आ सकता है। मात्र उपयोगितावाद के



[illegible] में से ऐसा होना असम्भव है। और विज्ञान पर अंकुश भी प्रेम-नीति ही लगा सकती है, समूहवादी कूट-नीति नहीं। समूह से—सबसे प्रेम वही कर सकता है, जो एक से प्रेम करने में समर्थ है। एक मूर्त है, समूह अमूर्त, वायव्य। इस विषय में जैनेन्द्रजी के विचार पहले रखे जा चुके हैं।

सत्य-संयुक्त अहिंसा

जैनेन्द्र-दर्शन के तीसरे तत्त्व परस्परता का यत्किंचित् स्पष्टीकरण मैंने ऊपर किया। परस्परता को अलग तत्त्व का रूप देने का उद्देश्य था, अहं की सापेक्षता पर बल देना। अहं की अंशता और सापेक्षता अस्तित्व का सबसे बड़ा सत्य है। किसी भी अहं-चेतना को नितान्त रूप में जाना और समझा नहीं जा सकता। जैनेन्द्र-दर्शन का चौथा तत्त्व अहिंसा इसी तथ्य को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करता है। जैनेन्द्रजी के अनुसार अहं में अपनी सापेक्षता की चेतना ही अहिंसा है और नितान्तता का हठ हिंसा। नितान्तता अव्यवहार्य और अप्रकृत है। इसीलिए उसकी हठ 'पर' की अवमानना और 'स्व' के शेष पर आरोप को प्रेरित करती है। यही हिंसा है। सापेक्षता की अनुभूति 'पर' के स्वीकार और शेष के सम्मुख 'स्व' के समर्पण पर बल देती है। यह अहिंसा है। हिंसा-अहिंसा की यह व्याख्या इन्हींके लौकिक अर्थों—जीव-वध, जीव-रक्षण—से कहीं अधिक व्यापक, वैज्ञानिक और व्यावहारिक है। यह व्याख्या पूर्वोक्त ब्रह्म, अहं और परस्परता में निहित तथ्यवाद का स्वाभाविक विकास है। ऊपर जिस नैतिकता अथवा प्रेम-नीति का जिक्र किया गया था, अहिंसा उसीका अधिक वैज्ञानिक स्पष्टीकरण है। अहिंसा में तथ्य यानी सत्य की शक्ति और प्रेम के रस दोनों का ग्रहण है। मानव का सम्पूर्ण आचार-शास्त्र जैसे इस एक शब्द में समा गया है। महात्मा गांधी ने इस अहिंसा-शास्त्र को जीवन-व्यवहार में सर्वोच्च स्थान दिया था। किसी भी अहिंसात्मक आचरण को तीन अंगों में बाँटा जा सकता है। पहला अंग है—समग्र की अपेक्षा में समस्या के सत्य की अर्थात् 'स्व' और 'पर' की स्थिति की सत्य अवधारणा (Right assessment); दूसरा है—सभी सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रति हृदय के स्नेह का दान और स्व-पर-सर्वके हित का आयास करना, किसीके प्रति भी द्वेष और निन्दा से शून्य होना; तीसरा है—सत्य का निर्भय, सशक्त, पर विनम्र आग्रह। इस प्रकार पालित अहिंसा ही सत्याग्रह है। इस पद्धति में सत्याग्रही की स्थितप्रज्ञता, स्नेह-सिक्तता, कष्ट-सहिष्णुता और सर्वस्व-त्याग की तत्परता आदि शर्तें बहुत कठोर शर्तें हैं। सारी प्रक्रिया में द्वेष, क्रोध आदि के आवेश का पूर्ण अभाव वांछ्य है और जो कुछ भी किया जाना है, वह सर्वग्रासी सत्य की प्रेरणा से ही किया जाना है। सत्य की सर्वग्रासिता समग्र ब्रह्म, अंश, अहं और परस्परता इन तीनों के तथ्य के पूर्ण ग्रहण से ही प्राप्त

की जा सकती है। यह सत्य ही अहिंसा की शक्ति है। इसके बिना अहिंसा एक फटा ढोल है, जिसे गले में डाले फिरना हास्यास्पद बन जाता है। यदि सत्य की सूक्ष्म दृष्टि सतत रहे, तो अहिंसक को मात्र 'सीधा' 'भला' कहने का दुराग्रह कोई भी व्यवहार-निपुण व्यक्ति नहीं कर सकता। गांधीजी की सूक्ष्म सत्यनिष्ठता ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों को आधी शताब्दी तक छकाती रही। सत्य की अग्नि के बिना अहिंसा राख-ढके बुझे कोयले के समान है और वह राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय तो क्या, व्यक्तिगत दायरे में भी शक्ति नहीं रहती। जैनेन्द्रजी अहिंसा के इस सत्य-पक्ष पर सबसे अधिक बल देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार गांधीजी के बाद गांधीवादी विचारकों ने इस अनिवार्य तत्त्व 'सत्य' की उपेक्षा प्रदर्शित की है और केवल अहिंसा पर बल दिया है।

हिंसा-अहिंसा

अहिंसा की अग्नि-परीक्षा तब होती है, जब विरोध में कोई ऐसा हठवादी अहं आ टकराये, जिस पर सविनय आग्रह का कोई भी प्रभाव न हो। जब प्रेम की शक्ति ऐसे अहं को झुकाने में विफल हो जाय, तब क्या अप्रेम और हिंसा का आश्रय लिया जाय ? जैनेन्द्रजी 'झुकाने की चाह' और 'अप्रेम' इन दोनों उक्तियों के विरुद्ध हैं। इनके पीछे 'पर' के अहं का निषेध छुपा है। पर के अहं के पूर्ण स्वीकार के साथ, अर्थात् प्रेम का निषेध न करते हुए, अहिंसक को अधिकार है कि वह उपलब्ध सत्य को कार्यान्वित करे। इस कार्यान्वयन में अपने से ईमानदार रहना बहुत जरूरी है। सत्य और प्रेम के उसके 'दावे' 'डिप्लोमेटिक' न हों। वह बड़े-से-बड़े आत्म-त्याग को दाँव पर लगाने के लिए और घोर-से-घोर कष्ट को सहने के लिए तैयार हो। उसमें पर के हठ के लिए दुःख हो, आत्म-व्यथा हो, क्रोध न हो। इन सब शर्तों को पूरा करते हुए यदि सत्य की रक्षा के लिए अहिंसक से बल-प्रयोग भी यदि हो जाय तो वह, मैं समझता हूँ, जैनेन्द्रजी को अस्वीकार्य नहीं है। फिर भी जैनेन्द्रजी का विश्वास है कि यदि अहिंसक की निष्ठा पूर्ण हो और उसमें सत्य का तेज प्रखर हो तो उसका सविनय आग्रह विफल नहीं हो सकता। सत्याग्रह की विफलता में कारण हो सकता है तो वह अहिंसक की अपूर्णता ही हो सकता है। इस विषय में जैनेन्द्रजी प्रेम-तत्त्व पर विशेष बल देते हैं। नर-नारी प्रेम-रस में जिस प्रकार सब मीठा ही मीठा नहीं रहता, खट्टा, कड़वा और तीखा भी उसमें गर्भस्थ चलता है, उसी प्रकार समस्त सांसारिक व्यवहार में यदि सत्य और प्रेम से प्रेरणा लेकर कुछ नकारात्मक वृत्तियाँ भी सक्रिय रहें तो उनसे हानि नहीं होगी। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध—ये सब विष हैं। जन-मानस इनको आसुरी और तामस ही मानता है। पर अहिंसा की विधि से सत्य की अग्नि में फूँककर इन विषों को भी अमृत बनाया जा सकता है। तब ये भी प्रेम और कल्याण को पुष्ट और सिद्ध ही करते

दीखेंगे। इन विषों को रस बनाना बहुत दुस्साध्य, पर अनिवार्य साधना है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। हिंसा अर्थात् पर का निषेध अन्तर्मन में रहे, तो ऊपरी अहिंसा ढोंग बन जाती है, लेकिन अन्तर में अहिंसा और प्रेम यदि स्थिर रहें, तो उनसे प्रेरित हिंसा अपना डंक और विष खो देती है, यह निर्विवाद है। जैनेन्द्रजी ने हिंसा-अहिंसा को स्पष्ट करने के लिए सम्भोग-प्रक्रिया का उदाहरण प्रस्तुत किया है। हिंसा एवं आघात-प्रत्याघात उसमें निहित हैं। पर वे सब मिलकर युगल को कृतार्थ करते दीखते हैं। विराट ब्रह्म की समग्र दृष्टि से विचार करें, तब भी यही तत्त्व स्थिर होता है। सृष्टि-प्रलय का क्रम ब्रह्म-शरीर में सतत चलता रहता है। जिसकी सृष्टि होती है और जिसका प्रलय होता है, दोनों ही एक समग्र ब्रह्म के अंग हैं, उससे 'पर' नहीं। इसीलिए ब्रह्म को हिंसा-अहिंसा से परे कहा गया है। उसके लिए न सृष्टि अहिंसा है, न प्रलय हिंसा। क्योंकि हिंसा-अहिंसा स्व-पर भाव से होती है, जो उसमें नहीं है। स्व-पर भाव के मिट जाने पर सीमित उद्देश्य विराट में परिवर्तित हो जाता है और ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी करता है, वह हिंसा नहीं हो सकता। वह बस विराट से तद्गत ही हो सकता है। लौकिक हिंसा-अहिंसा दोनों उसमें डूब जाते हैं, खो जाते हैं। जैनेन्द्रजी गांधीजी को उस विराट से तद्गत मानते हैं और हिंसा-अहिंसा की व्याख्या में उन्होंने बार-बार गांधी-जीवन का हवाला दिया है। अमृतसर में जलियाँवाला काण्ड से पीड़ित एक वृद्धा उनके सामने आयी। उसके दो बेटे गोलीकाण्ड में मारे गये थे। वह फूट-फूटकर रो रही थी। बिलख रही थी। उसे देखकर सभी उपस्थित लोगों की आँखों में आँसू भर आये। पर गांधीजी भावहीन रहे। उन्होंने बुढ़िया से पूछा, 'क्या तुम्हारे कोई और बेटा भी है?' बुढ़िया ने 'हाँ' की तो गांधीजी ने तत्काल कहा, 'तो उसे भी तैयार करो, उसे भी काम आना है।' गांधीजी की इस उक्ति को क्यों प्रेम से शून्य और हिंसामय न मान लिया जाय? एक स्थूल-दृष्टि अहिंसाभक्त ऐसी ही गलती करेगा। पर सूक्ष्मता से विचार करें, तो गांधीजी की उपर्युक्त उक्ति के पीछे कोई निर्दयता, पर के कष्ट से अनुरंजित होने की प्रवृत्ति या हिंसा नहीं थी। विराट मानवता के हित से तद्गत होने का सत्य ही उनको प्रेरित कर रहा था। इस वृत्ति से ममतावश सारा पंजाब उनके पीछे पागल हो उठा। सत्यनिष्ठ अहिंसक भावुक नहीं हो सकता। मात्र जन्म-मृत्यु, लौकिक हिंसा-अहिंसा उसे उद्वेलित नहीं कर सकते।

जैनेन्द्र-दर्शन की विशेषताएँ

ऊपर जैनेन्द्र-दर्शन के चारों मूल तत्त्वों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास मैंने किया है। जैनेन्द्र की विचारणा की एक झाँकी ही इस प्रकार मैं दे पाया हूँ। इस विचारणा की जिन विशेषताओं ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, उनका

उल्लेख किये बिना इस प्रसंग को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। यह विचारणा अत्यन्त वैज्ञानिक, तर्कसंगत एवं क्रमबद्ध है और किसी पूर्वाग्रह को अपनी सिद्धि के लिए अनिवार्य नहीं ठहराती। जैनेन्द्र के ब्रह्म को किसी अन्धविश्वास का उपादान बनने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ है, वह हमारे चारों ओर है। यह जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल सब ब्रह्म है और हम उसके अंग हैं। अपनी बुद्धि और कल्पना के अनुसार व्यक्ति इस ब्रह्म का यथाशक्ति आत्मग्रहण और साक्षात्कार कर सकता है। जैनेन्द्र का ब्रह्म मात्र सूक्ष्मतम तत्त्व अथवा केवल अदृश्य परम शक्ति नहीं है, जिसे कल्पना में लाना कवियों या दार्शनिकों के लिए ही सम्भव हो सकता हो, साधारण जनता के लिए नहीं। वह शून्य और पिण्ड का समन्वय है और कोई अस्तित्व ऐसा नहीं, जो उसमें समाविष्ट न हो। पुरुष प्रकृति का द्वैत वहाँ नहीं है। हो सकता है, ब्रह्म की यह समग्र-अद्वैत व्याख्या नयी न हो, पर उसकी समग्रता पर इतना नितान्त जोर बिरले ही दार्शनिकों ने दिया है। अद्वैतता का विवेचन निःसन्देह काफी हुआ है। जैनेन्द्र का अहं तत्त्व भी विचारक मानस को एकदम आकर्षित करता है। अहं पृथक् व्यक्ति होते हुए भी समग्र का अंश है, इस तथ्य को प्रकाशित करता और उभारता है। अहं में व्यक्ति का पूर्ण अस्तित्व सन्निविष्ट है, मात्र सूक्ष्म चेतना नहीं। यह तत्त्व व्यक्ति की नितान्तता पर सापेक्षता (ब्रह्म से भी अन्य अहं-चेतनाओं से भी) का अंकुश लगाता है। सूक्ष्म स्थिर तत्त्व आत्मा में अंकुश गर्भित नहीं है, क्योंकि वह शरीर का निषेध करके चलती है और मूल में ही नितान्ततावादी हैं। इस सापेक्षता में से ही तीसरा तत्त्व निकल आता है—परस्परता; जो ब्रह्म-अहं के वैज्ञानिक सत्य को व्यवहार और कर्म की ओर मोड़ देता है। यदि सापेक्षता और परस्परता सत्य हैं, अनिवार्य हैं, तो वे पर के स्वागत अर्थात् अहिंसा के द्वारा ही सिद्ध और फलित हो सकते हैं। जैनेन्द्रजी की अहिंसा की व्याख्या भी परस्परता पर आश्रित होने के कारण अत्यन्त मौलिक बन पड़ी है। असल में सापेक्षता और परस्परता पर जैसा वैज्ञानिक और क्रमबद्ध बल जैनेन्द्रजी की विचारणा देती है, वैसा अन्य दर्शन नहीं देते। यह सापेक्षता और परस्परता उनकी दृष्टि से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व सबकी नीतियों की कसौटी है। यही धर्म एवं नैतिकता है। यह किसी वायव्य आदर्श से प्रेरित नहीं, बल्कि ब्रह्म और अहं के अंशी-अंशभाव से बाध्य है। फिर ब्रह्म और अहं का जो रिश्ता है, उसमें अहिंसा ही सच्ची नीति ठहरती है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र-दर्शन श्रद्धा और जिज्ञासा, सूक्ष्म सत्य और स्थूल व्यवहार, पुरुष और प्रकृति सबको अपने में समेट और साथ लेकर चलता है। वह नितान्त नहीं, सापेक्ष है। वह किसी विचार या वस्तु का निषेध नहीं करता। सबमें निहित सत्य को खोजता और उपलब्ध करता है।

गांधीवाद और जैनेन्द्र

गांधीजी और गांधीवाद ने जैनेन्द्र की विचारणा के निर्माण में कितना योग दिया है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। जैनेन्द्र गांधी-युग की ही उत्पत्ति हैं। गांधी ही उनकी विचारणा के मूर्त आदर्श हैं। उन्हींका वे हर कदम पर हवाला देते हैं। साथ ही गांधीवाद के व्याख्याताओं में उनका बहुत ऊँचा स्थान है। इससे प्रकट दीखता है कि गांधीवाद ने उनकी विचारणा को मौलिक रूप में प्रभावित किया है। पर जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, जैनेन्द्र को गांधी और गांधीवाद मूल में नहीं, मार्ग में मिले। उनकी विचारणा का स्रोत ब्रह्म की समग्रता के उस साक्षात्कार में है, जिसे जैनेन्द्रजी ने 'आस्तिकता का पाना' कहा है। शेष सब उसमें से निःसृत होता चला गया। सामने ही गांधी थे, जिनका व्यक्तित्व और जिनके कार्य अपनी विचारणा के पुष्ट प्रमाण रूप जैनेन्द्र को दीखे। गांधीजी ने उन्हें सुलझाव दिया और एक कसौटी प्रदान की। इस प्रकार कहानियों, उपन्यासों और लेखों के रूप में जैनेन्द्र की विचारणा व्यक्त हो चली और धीरे-धीरे एक सुनिश्चित रूप ग्रहण कर चली। जैनेन्द्र की अभिव्यक्ति में जो सहजता और अनायासता है, वह अन्तःसाक्षात्कार का ही फल मालूम पड़ती है, बुद्धि द्वारा बाहरी विचारों के ले लेने से वह नहीं आ सकती थी। ब्रह्म, अहं और विशेषकर परस्परता की उनकी व्याख्या एकदम मौलिक है और उससे स्वयं गांधीवाद को एक वैज्ञानिक पुष्टि-क्रम प्राप्त हो सकता है। जैनेन्द्रजी गांधीजी की अन्तःस्थ मूल प्रेरणाओं को शायद सबसे अधिक गहराई से समझ और पकड़ सके हैं, इससे अधिक प्रस्तुत प्रसंग में और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

× × ×

आवश्यक है कि कुछ उन महत्त्वपूर्ण विषयों पर, जिनका स्पष्ट अथवा यथोचित उल्लेख ऊपर के विश्लेषण में नहीं आ पाया, जैनेन्द्रजी के विचार अत्यन्त संक्षेप में यहां दे दिये जायँ। वे इस प्रकार हैं :

आत्मा-पुनर्जन्म-कर्मसिद्धान्त

आत्मा शब्द का प्रयोग मुख्यतः उस सूक्ष्मतम नित्य तत्त्व के अर्थ में किया गया है जो व्यक्ति-प्राण और चेतना का आधार है, जो पुरुष है, शरीरी है और शरीर में 'मैं' करके स्थित है। शास्त्रों में इस आत्मा को ब्रह्म का अंश कहा गया है। शास्त्रानुसार यही वह है जो नाना जन्म और शरीर पाता और कर्मफल भोगता है। जैनेन्द्रजी ब्रह्म को ही अन्तिम स्थिर तत्त्व मानते हैं। इसलिए आत्मा को इतनी नितान्त क्षमता वे नहीं दे पाते कि वह ब्रह्म से निरपेक्ष होकर कर्मफल के अनुसार एक शरीर से दूसरा शरीर प्राप्त करता चला जाय। उनका विश्वास है कि हमारी आत्मा शरीर की समाप्ति के साथ ही ब्रह्म में विलीन हो जाती है। जिसका पुनर्जन्म माना

जा रहा है, उसमें वही विलुप्त आत्मा वर्तमान है अथवा कोई अन्य अथवा कई अन्यों के अंश, यह कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। कौन कह सकता है कि पेड़ का यह पत्ता वही है, जो पिछली पतझड़ में वृक्ष की शाखा की इसी टहनी पर से टूटा था। चेतना के अजस्र प्रवाह में असंख्य जीव बुलबुलों के समान उठते और खो जाते हैं। जैनेन्द्रजी पुनर्जन्म को इसी रूप में समझ पाते हैं। आत्मा को वे समग्र अहं से भिन्न नहीं मान पाते। यह आत्मा अथवा अहं जब बिखरता है, तो उसके विभिन्न तत्त्व (पंचभूत, चेतना, कामना, विचार आदि) ब्रह्म के समानान्तर तत्त्वों में उसी प्रकार घुल जाते हैं, जैसे बूंद सागर में एकरूप हो रहती है। साथ ही नये अहं भी निरन्तर उठते रहते हैं। इस प्रकार विलय और प्रकट होने का यह क्रम अबाध चलता रहता है। आत्मा उसी रूप में अजर, अमर, अनादि, अनन्त है जिसमें कि ब्रह्म वैसा है। आत्मा के नित्य व्यक्तित्व को, इस व्यक्तित्व के कर्माधीन पुनर्जन्म को जैनेन्द्रजी व्यवहार और धर्म के लिए उपयोगी मान लें, पर वैज्ञानिक नहीं कह पाते; क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसीको भी नित्य वे स्वीकार नहीं कर सकते। प्रश्न उठता है कि तब उन कर्मों का क्या होता है, जो व्यक्ति जीवनभर करता है? जैनेन्द्रजी कहते हैं कि जीवनभर के कर्म भी सूक्ष्म रस (Idea), व्यथा रूप ग्रहण कर वाणी की तरह अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाते हैं। नये अहं को अन्य तत्त्वों के साथ-साथ कर्म-रस में से भी एक भाग मिलता है। इस प्रकार व्यक्ति का कर्म, मात्र व्यक्ति का न रहकर सारे ब्रह्म का बन जाता है और व्यक्ति की जिम्मेदारी घटने के बजाय और बढ़ जाती है।

काम-प्रेम-परिवार

इस विषय पर जैनेन्द्र की उक्तियों एवं मान्यताओं की बड़ी कटु आलोचना हुई है और उन्हें अश्लील एवं अनैतिक घोषित किया गया है। अश्लील और अनैतिक ये दोनों समाज-सापेक्ष शब्द हैं। पर समाज क्या है? क्या वह आर्थिक-राजनैतिक-धार्मिक संगठन मात्र है। जब समाज का अर्थ संगठन किया जाता है, तब उसके नीचे अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न प्रधान बन जाता है, परस्परता का तत्त्व गौण। तब श्लील और नैतिक का अर्थ समाज-संगठन की अनुकूलता और अश्लील-अनैतिक का अर्थ उसकी अननुकूलता बन जाता है। ये अनुकूलताएँ-अननुकूलताएँ देश-काल-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनीय हैं और उन्हें समाज का व्यावहारिक स्थूल अस्थायी आधार ही माना जा सकता है। सूक्ष्म आधार परस्परता है और उसे ही जैनेन्द्रजी स्थायी तत्त्व मानते हैं। अक्सर समाज की नीतियाँ-रूढ़ियाँ परस्परता को अर्थात् प्रेम को अपनी टक्कर में देखती-मानती हैं। इसलिए परम्परावादी नीति परस्परतावाद अर्थात् प्रेम को अश्लील और अनैतिक घोषित कर बैठती है।

परस्परता की दृष्टि से सच्ची श्लीलता और नैतिकता अहं की मानव-मात्र की ओर उन्मुखता है, जब कि संगठनवाद यह दर्जा व्यक्ति अथवा संगठन की स्वनिष्ठता को देता है। परिवार सबसे छोटा संगठन है। प्रश्न उठता है कि परिवार चहार-दीवारी में ही बन्द रहे या शेष समाज से अपना खुला सम्बन्ध रखे। परम्परावादी भी मानते हैं कि शेष से परस्परता स्थापित किये बिना जिया नहीं जा सकता। पर वे परस्परता का अधिकार केवल पुरुष को देना चाहते हैं। स्त्री की परस्परता उन्हें अनैतिक, अश्लील, अधार्मिक मालूम पड़ती है। प्रश्न है कि जब पुरुष का परस्परता-विस्तार उसे और उसके परिवार को समृद्ध करता दीखता है, तब स्त्री का आत्म-विस्तार उसे विपन्न क्यों करेगा ? जैनेन्द्रजी के अनुसार हम भूल करते हैं, जब विपरीत-लिंगियों में परस्परता, आत्मीयता का अर्थ हम अनिवार्य रूप से कामुकता लगा लेते हैं। स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को काम कहा जाता है। समाज-संगठन के उद्देश्य से, काम के नियमन के लिए, विवाह-संस्था की स्थापना हुई, जिसका नैसर्गिक परिणाम हुआ–परिवार। परिवार के दम्पति और अन्य वयस्क कितनी सीमा तक विपरीत लिंगियों के सम्पर्क में आये ? देखना होगा कि दाम्पत्य विशेष, परिवार विशेष किस पर टिका है, स्थूल मर्यादा पर अथवा हृदय के समर्पण अर्थात् प्रेम पर ? प्रेम पर टिके दम्पति को एक-दूसरे पर पहरा लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। उनमें परस्पर विश्वास होगा। वे शेष संसार को अपने विरोध में नहीं पायेंगे और यथाशक्ति अपनी आत्मीयता के विस्तार में नहीं हिचकेंगे। यदि कभी स्खलन होगा भी, तो प्रेम समाधान ढूँढ़ लेगा। स्खलन का अनुताप उनके प्रेम को और सुदृढ़ ही करेगा। जहाँ मर्यादा को महत्त्व मिलता है, वहाँ कामुकता और शरीर-सम्भोग का मूल्य और उनके प्रति आकर्षण बढ़ जाता है। बन्दिशें बढ़ती हैं और ग्रन्थियाँ गुणानुगुणित होती हैं। जिस भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से विवाह-संस्था बनायी गयी थी, वही भूगर्भ में पनपता और फैलता है। जैनेन्द्र समाज और परिवार को मर्यादा अथवा समान हित पर आधारित न करके व्यक्ति-व्यक्ति के हार्दिक प्रेम और समर्पण पर स्थिर करना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि प्रेम ही कामुकता, आर्थिक स्वार्थ तथा हिंसक महत्त्वाकांक्षा पर विजय पा सकता है। नीति-नियम, आदेश, मर्यादा वैसा करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। असल में अस्तित्व-रक्षा भी प्रेम और परस्परता के माध्यम से जैसी हो सकती है, शुद्ध मर्यादा से नहीं। इसलिए परस्परता ही नीति है, नैतिकता और श्लीलता है। परस्परता के विपरीत जो है, सब अनैतिकता और हिंसा है।

पूंजीवाद-समाजवाद

पूँजी का वाद बनना कब आरम्भ हुआ ? एक समय था, जब एक ओर श्रम

और दूसरी ओर आभिजात्य ही समाज-मूल्य थे। उस समय जो व्यापार-वाणिज्य द्वारा लाखों-करोड़ों बटोरते थे, उनका समाज-मूल्य नगण्य था। पूँजी का वाद बनना उस दिन आरम्भ हुआ, जिस दिन पूँजी को समाज-मूल्य मिला और पूँजी पैदा करने की स्पर्द्धा जन-साधारण में पैदा हुई। पूँजीपतियों ने विकासशील यन्त्र-विज्ञान का सहारा लिया। उद्योगों का सूत्रपात हुआ। राज्य-सरकारों ने उद्योगों पर कृपा का रुख त्यागकर उनमें सजीव रुचि लेनी आरम्भ की और व्यक्तिगत पूँजी के रक्षण और विकास के लिए कानून बनाये। उद्योग, उत्पादन और वाणिज्य मानव-मानसिकता पर छा गये और धर्म, मर्यादा, नैतिकता के भाव ढँक गये। समय आया कि पूँजीपति सरकार में पहुँचा और सामन्त के स्थान पर स्वयं विधायक बना। सत्ता पूँजीपति के हाथ आ गयी। समाज की सुविधाएँ पूँजी के आधार पर मिलने और छिनने लगीं। पूँजी ही व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक पारस्परिकता का नियमन करने लगी और हर समस्या के आर्थिक पहलू को हम सर्वाधिक महत्त्व देने लगे। इस अर्थ-मानसिकता को ही जैनेन्द्रजी पूँजीवाद का नाम देते हैं। उनका मत है कि पूँजीवाद से समाजवाद तक पहुँच जाना इस अर्थ-मानसिकता से छुट्टी पा जाना नहीं है। खतरनाक चीज यह अर्थ-मानसिकता है, जो उपर्युक्त दोनों ही वादों का समान आधार है। पूँजी से प्रेरित व्यक्ति हो या राष्ट्र, दोनों की विचारणा एक ही पटरी की होगी और दोनों ही नैतिकता और पारस्परिकता को लाँघकर चलेंगे। जैनेन्द्र समाजवाद को राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) कहते हैं, जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा और ईर्ष्या-द्वेष का वातावरण पैदा करने की क्षमता आ जाती है। जैनेन्द्र बणिक् के हाथ में शस्त्र और कानून का देना शुभ नहीं मानते। राज्य का वणिक् और पूँजीपति बन जाना उनकी दृष्टि में कल्याण का वाहक नहीं बन सकता। आज पूँजीवाद और समाजवाद में जो अन्तर माना जाता है—अर्थात् व्यक्तिगत आर्थिक प्रयास की स्वच्छन्दता और उसका सरकारी प्रयास में विलुप्त हो जाना—उसे जैनेन्द्र बहुत महत्त्व नहीं दे पाते। वे सत्ता के केन्द्री-करण से भी सहमत नहीं हैं। विकेन्द्रित और अनुशासनात्मक शासन को ही वे नैतिक मान पाते हैं। उनका सिद्धान्त है कि परस्परता से विमुख स्व-निष्ठ अहं चाहे व्यक्ति का हो या संगठन का, समस्याएँ ही पैदा करता है। विज्ञान की शक्ति ने राष्ट्रीय अहं-वादिता को जो दुर्द्धर्ष बना दिया है, यही हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या है।

अर्थ का परमार्थीकरण

आज विशालकाय उद्योगों और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य पर टिकी हमारी अर्थ-व्यवस्था इतनी जटिल हो गयी है कि वह साधन न रहकर साध्य का स्थान ले चुकी

है। अर्थ-मानसिकता इतिहास के प्रवाह में हमें मिली है और विश्व की राजनीतिक-कूटनीतिक अवस्था ऐसी है कि सुदृढ़, केन्द्रित समाजवाद सबको अल्प पाप (Lesser Evil) के समान अनिवार्य लग उठा है। अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न आज सबसे विकट है और विज्ञान ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में, केन्द्रित सामूहिक प्रयास के बिना गुजारा नहीं रहा है। इतिहास के वेग को लौटाया नहीं जा सकता। पर एक बात की जा सकती है। वह यह कि नैतिकता को अर्थ-मानसिकता के प्रतिपक्ष में से हटाकर उसे अर्थवाद का शक्ति-स्रोत बना दिया जाय। हमारी आर्थिक योजनाएँ मात्र 'स्व-अर्थ' से प्रेरित न होकर 'पर और परम अर्थ' से प्रेरणा प्राप्त करें। राष्ट्र मात्र राष्ट्रीय हित के आधार पर मोल-भाव, क्रय-विक्रय और दाँव-पेंच न करके समस्त विश्व का हित सोचें। यह तभी होगा, जब व्यक्ति 'परम अर्थ' की शिक्षा लेंगे और उसका राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में अन्वय करेंगे। अर्थ-नीति और राजनीति को परस्परता की प्रेम-नीति पर चलाये बिना स्पर्द्धा, द्वेष, घृणा के वातावरण को बदला नहीं जा सकता। जैनेन्द्रजी का विश्वास है कि अर्थ का परमार्थीकरण राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी असंभव नहीं है। जो भी देश ऐसी पहल करने के लिए आगे बढ़ेगा, यदि उसमें सिर्फ एक जोश ही न होकर समग्र और अहं की सही अवधारणा (Right Assessment) की क्षमता और कुछ कर गुजरने का साहस होगा तो उसे घाटे में नहीं रहना पड़ेगा। विज्ञान इस दिशा में मानव की पूरी सहायता कर सकता है। उससे सहायता लेना—न ले पाना यह मानव की अपनी नैतिकता पर निर्भर करता है।

वैज्ञानिक अध्यात्म

जैनेन्द्रजी ने 'वैज्ञानिक अध्यात्म' नाम का प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ जैनेन्द्र-दर्शन पर यह नाम ठीक बैठता है। आत्मिकता अर्थात् पारस्परिकता को लक्ष्य मानकर चलना और वैज्ञानिक सत्यों का आत्मिकता के विकास-क्रम में पूरा उपयोग करना ही वैज्ञानिक अध्यात्म कहला सकता है। ब्रह्म की समग्रता, अहं की अंशता, दोनों की सापेक्षता—ये तीन अस्तित्व के सबसे अधिक वैज्ञानिक सत्य हैं। इन तीनों का परस्परता और अहिंसा के लिए उपयोग हो, यही व्यावहारिक अध्यात्म और उसका लक्ष्य हो सकता है। जैनेन्द्रजी का यह प्रेमवादी अध्यात्म सर्वग्रासी है और शून्यवादी अध्यात्म की तरह चेतना को रुद्ध, निष्क्रिय और जड़ित नहीं करता, वरन् उसे एक स्वस्थ स्फूर्ति प्रदान करता है और मानसिक ग्रन्थियों को खोलता है। वह मानव के सामने व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सक्रियता की योजना प्रस्तुत करता है। मानवता के साथ वह एक उच्च नैतिक लक्ष्य स्थापित करता है और उसकी प्राणवत्ता को असीम-अबाध बनाकर

भौतिकवाद और विज्ञानवाद पर आरूढ़ होने की प्रेरणा देता है। जैनेन्द्र की विचारणा गांधीवाद का वैज्ञानिक अध्ययन करती है और उसकी मूल गहन प्रेरणाओं को बौद्धिक और व्यावहारिक तल पर ले आती है। भौतिकवाद और विज्ञान को 'परे-परे' करना आस्तिकता से इनकार करना है। क्योंकि ये दोनों भी भगवान् की ही देन हैं। जैनेन्द्रजी का मत है कि इन दोनों से भय खाना व्यक्ति-चेतना के नीचे ब्रह्म की सत्ता को अमान्य ठहराना है। विज्ञान और अध्यात्म जब परस्पर सापेक्ष बनकर घुले-मिलेंगे, तो उसका सुफल यही हो सकता है कि राष्ट्रों के बीच परस्परता और प्रीति बढ़े, युद्धों की सम्भावना कम हो और एक विश्व-संस्कृति का विकास हो।

निवेदन

जैनेन्द्र के विचारों और उनकी अहिंसा में कोई नवीनता खोजना शायद संगत नहीं होगा। मुझे सन्देह है कि कोई भी विचार ऐसा है, जो पहले किसी न किसी रूप और प्रसंग में प्रकट न हो चुका हो। मौलिकता इसी बात में समझी जानी चाहिए कि विचारक ने विचार के किस पहलू पर, कितना और किस उद्देश्य से बल दिया है। जैनेन्द्र ने अहिंसा का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिससे आज के बौद्धिक मानस में उसका सापेक्षतावादी और परस्परतावादी पहलू उभर सके। उनके विश्लेषण के इसी तथ्य ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है। जैनेन्द्र की विचारणा के इसी पक्ष को मैंने प्रस्तुत उपोद्घात में पाठकों के सामने रखने का तुच्छ प्रयास किया है। जहाँ तक हो सका है, जैनेन्द्र-विचारणा का सार संक्षिप्त, पर स्वच्छ, अमिश्रित रूप में रख पाना ही यद्यपि मेरा उद्देश्य रहा है, पर मुझे अपनी सफलता में गहरा संशय है, क्योंकि जैनेन्द्रजी की विचारणा इतनी गहन और संश्लिष्ट है कि उस पर कलम मुझ बालक को शायद नहीं उठानी चाहिए थी। फिर भी जो यह साहस मुझसे बन पड़ा, उसमें श्रद्धेय बाबूजी का प्रोत्साहन और उनका मुझमें प्रेम ही कारण है। जो भी त्रुटियाँ अथवा अनधिकार-चेष्टाएँ इस प्रयास में मुझसे बन पड़ी हों, उन्हें क्या मैं आशा करूँ कि मान्य विद्वज्जन एवं पाठक क्षमा करेंगे।

यहाँ एक अन्तिम निवेदन यह करना चाहूँगा कि इस 'समय और हम' ग्रंथ में जो भी प्रश्न मैंने किये हैं, वे विशुद्ध जिज्ञासा-वश ही किये गये हैं और उनका उद्देश्य जैनेन्द्र के अन्तरंग से उनकी विचारणा को निकाल पाना ही रहा है। प्रश्न में निहित कोई भी विचार अनिवार्य रूप से मेरा नहीं समझा जाना चाहिए। मुझे याद आ रहा है, पहला ही प्रश्न मैंने किया था 'मैं ईश्वर को नहीं मानता। क्या आप मानते हैं?' पर स्वयं को ईश्वर की मर्जी पर छोड़ सकूँ, यही मेरे हृदय की चरम कामना है। अस्तु।

दिल्ली
मकर-संक्रान्ति, २०१८

—वीरेन्द्रकुमार गुप्त

प्रथम खण्ड

परमात्म

१. ईश्वर
२. आत्मा, व्यक्ति, कर्म, भाग्य
३. प्रतिभा, भविष्य
४. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-भेद
५. व्यक्ति चित् : तन्त्र यन्त्र
६. प्रजातन्त्र, मार्क्सवाद, साम्यवाद
७. वैज्ञानिक अध्यात्म

१
ईश्वर

ईश्वर और प्रकृति

१. मैं ईश्वर को नहीं मानता। क्या आप मानते हैं?

—मैं उसके सिवा और कुछ भी नहीं मान पाता हूँ।

२. तब क्या आप प्रकृति को अथवा 'मैटर' को नहीं मानते हैं?

—मान सकता हूँ, पर उन्हें अनीश्वर मानने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है।

३. ईश्वर प्रकृति से पैदा हुआ या प्रकृति ईश्वर से?

—ईश्वर शब्द की ध्वनि में ही है कि वह पैदा नहीं होता। फिर किसीमें से पैदा होने का सवाल ही नहीं है। वह केवल है। इस तरह वह अनादि अथवा आदिकारण है। पर कारण ऐसा कि कार्य उससे बाहर नहीं हो सकता।

४. इस बात को तनिक और स्पष्ट कीजिये।

—सब होने के अखण्ड-स्वरूप को ईश्वर मानना होगा।

५. तब क्या मैटर भी ईश्वर है?

—अनीश्वर नहीं है।

६. ईश्वर और प्रकृति में, आपके मतानुसार, अद्वैत मानना होगा या द्वैत?

—अद्वैत-द्वैत, सूक्ष्म-स्थूल शब्द में दो हैं, जैसे रस और फल दो हैं। भाषा अद्वैत को द्वैत का रूप पहना देती है।

७. क्या प्रकृति और ईश्वर में किसी प्रकार का विरोध है?

—नहीं। विरोध पूर्ण में कैसे हो सकता है?

८. किसी बन्धु ने मुझसे कहा था, जिस प्रकार जल से बिजली पैदा हो सकती है, पर बिजली से जल पैदा नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्थूल प्रकृति से ईश्वर अथवा चेतना उत्पन्न होती है, पर सूक्ष्म ईश्वर से प्रकृति पैदा नहीं होती। इस विषय में आपका क्या विचार है?

—उन बन्धु ने विज्ञान की प्रक्रिया को देखकर कहा होगा। चित्-सृष्टि की प्रक्रिया सूक्ष्म से स्थूल की ओर है।

९. तब क्या सृष्टि और विज्ञान की प्रक्रियाओं में भेद है?

—काफी। विज्ञान के आविष्कार जितने हों, उतने ही रहते हैं। जैसे शिशु युवा होता और अन्त में वृद्ध होकर मृत्यु में मिल जाता है, वैसे सब विकास या ह्रास की व्यवस्था विज्ञान के उपकरणों में नहीं मिलती।

श्रद्धा जिसमें, ईश्वर उसमें

१०. विज्ञान को ही सब माननेवाले और ईश्वर का निषेध करनेवाले को आप कैसे विश्वास दिलायेंगे कि ईश्वर है?

—विश्वास दिलाने की आवश्यकता नहीं है। नदियाँ सब समुद्र में गिरती हैं। इसी तरह विश्वास सब ईश्वर में पहुँचता है। विश्वास में हम अपने को छोड़ दें, तो ईश्वर के सिवा पहुँचने के लिए हमारे पास कोई गति नहीं रह जाती है। किनारे पर रमकर ही हम अपनी मान्यता को इस या उस, तत्त्व, देव या तीर्थ, का नाम दिया करते हैं। अर्थात् मेरी दृष्टि में पूरेपन से मानना, जिसे श्रद्धा कहते हैं, काफी है। श्रद्धा किसमें, यह प्रश्न ही नहीं रह जाता। जिसमें भी है, वही पर्याप्त है। वहीं ईश्वर है। ईश्वर का एक नाम तो है नहीं। जितने नाम, सब उसीके हैं। उन नामों में अटक रहने से ही दिक्कत होती है। अन्यथा असंख्य विधाओं में भी दुविधा होने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

निषेध में या नकार में कठिनाई इतनी ही है कि विश्वास पूरी तरह वहाँ जम नहीं पाता। निषेध के प्रति भक्ति नहीं हो सकती। लेकिन यदि कोई ऐसा प्रतिभाशाली हो कि नकार की भाषा में उसका विश्वास पूरा प्राणवन्त हो उठे, तो वह विश्वास मुक्ति-दाता हो सकता है। 'नेति' क्या ईश्वर की ही परिभाषा नहीं है? फिर नेति के मार्ग से ईश्वर की साधना क्यों नहीं हो सकती?

जिसमें हर दो एक हैं

११. तब ईश्वर का स्वरूप क्या है?

—स्वरूप किसी दूसरे को छोड़ कोई एक निश्चित हो नहीं सकता, इसीसे ईश्वर ईश्वर है। सुविधा हम सबको है कि अपने मन का स्वरूप उसको पहना लें। यह अनन्त सुविधा ईश्वर के सिवा कहीं अन्यत्र मिल नहीं सकती। उसे रूप में बाँधना हमारी ही आवश्यकता है। ईश्वर ने वह क्षमता भी हमें दे दी है। लेकिन सब रूप जहाँ से प्रगटे हों, उसका अपना क्या रूप कहा जा सकता है? या तो अरूप कहो या अनन्त रूप कहो।

मैं अपने लिए यह समझ में ले लेता और मान लेता हूँ कि जिसमें हर दो एक हैं, वह ईश्वर है।

अद्वैत-द्वैत

१२. इस अद्वैत की स्थिति क्या है?

—स्थिति की कल्पना परिस्थिति के बीच हुआ करती है। वैसा वहाँ कुछ सम्भव नहीं है। इसलिए अद्वैत को धारणा से अगम मानना चाहिए। धारणा में उतरते ही उसे द्वित्व मिल जाता है। अद्वैत में बात हमारी जा नहीं सकती, जाते ही खो जायगी। बात द्वैत में टिकती और चलती है। अतः मैं अनुभव करता हूँ कि अद्वैत के लिए जब भक्ति ही हममें हो सकती है तब दर्शन और विवेचन का क्षेत्र द्वैत तक है। पार जाने के प्रयत्न में तत्त्वज्ञान अपने साथ अन्याय और व्यभिचार का आचरण करता है। तत्त्व-जिज्ञासा अनेक में से चलने को बाध्य है। यह बुद्धि की मर्यादा है। वहाँ ज्ञाता ज्ञेय में खोता नहीं। जहाँ ज्ञाता रह नहीं जाय, ज्ञेय जैसा उसके लिए बचे ही नहीं, ऐसी जो शुद्ध सत् की स्थिति है उसमें तत्त्वज्ञता ठहर नहीं सकती।

हर दो-पन का इनकार

१३. आत्मा और परमात्मा के बीच अद्वैत के विषय में आपका क्या मत है?

—अद्वैत हर दो के सर्वथा दो-पन का अनवकाश है। कुछ खास के आपसी दो-पन का नहीं। जैसे जड़ और चेतन, उसी तरह जीवात्मा-परमात्मा, उसी तरह सत्य और असत्य, रूप-अरूप, साकार-निराकार—आशय, जितनी द्वैत की कल्पनीय अवस्थाएँ हैं, अद्वैत में सबका समाहार है। आपके प्रश्न को देखते हुए कहा जा सकता है कि परम अद्वैत (परमेश्वर) जीव के साथ जिस तरह एक है, वैसे ही एक है जड़ के भी साथ। ईश्वर की परमता में द्वैत को अवकाश नहीं। द्वैत का स्थान हमसे है। लेकिन वह सब चर्चा से अगम जो है सो उस तट से इधर ही हमें बात को रखना चाहिए। आगे जाना डूब जाना है। वह बात द्वारा सम्भव नहीं है।

द्वैत में अद्वैत

१४. जीवन के व्यवहार में कदम-कदम पर हमें द्वैत का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आपके अद्वैत का इस संसार में क्या स्थान है?

—समझ के संसार में तो सचमुच कोई स्थान नहीं है। अद्वैत के सम्बन्ध में जिसको 'समझना' कहो, वह तो सम्भव ही नहीं है। पर अनुभूति और प्रतीति में, द्वैत से जूझते हुए भी, अद्वैत अवश्य हमारे भीतर रह सकता है। क्या यह सच नहीं है कि

दुश्मन मानकर हम किसीसे लड़ भी तभी तक सकते हैं, जब दोनों एक धरती पर हों। गाली तभी दी जा सकती और लगती है, जब भाषा बीच में एक हो। लड़ते वक्त दुश्मनी से हम इतने भर जाते हैं कि एक ज़मीन पर खड़े हैं, एक स्वार्थ पर अड़े हैं, यह याद नहीं रहता। अगर याद रहे, तो दुश्मनी में भी अर्थ मिल जाय और बिल्कुल सम्भव है कि दुश्मनी रहते भी उसका दोस्ती से मेल हो जाय। अद्वैत की श्रद्धा से यदि हम द्वैतात्मक जगत् से निबटना सीखेंगे, तो इसी संस्कारिता का उदय होगा। केवल द्वैत को ही मानकर उससे उलझेंगे, तो मूर्खता से पार नहीं जा सकेंगे। न संस्कारों का उदय अपने बीच कर पायेंगे। कुत्ते को क्या इसीलिए कुत्ता नहीं कहा जाता कि वह देखते ही जाति भाई को गैर व दुश्मन समझता है? यह दो-पन और परायापन देही को अनायास अनुभव होता है। किन्तु मनुष्य को यह प्राप्त है कि वह भिन्न में अभिन्नता भी मान सके। इसी दर्शन और साधना को विकास का मूल और मन्त्र मानना चाहिए। इस तरह अद्वैत से द्वित्वपूर्ण जगत् के प्रति शक्ति ही कुछ प्राप्त होती है, बाधा नहीं।

आस्तिकता का प्रचार क्यों?

१५. क्या आस्तिकता का प्रचार करने की आवश्यकता है?

—नहीं। क्योंकि प्रचार द्वारा हम अपनी मान्यता का प्रचार कर रहे होते हैं, जो दूसरों की मान्यता से टक्कर में आती है। लेकिन आस्तिक्य चरितार्थ प्रेम में होता है। प्रेम में व्यक्ति अनायास विस्तार पाता है। यह विस्तार उसमें अपने को खोने की तैयारी में से मिलता है। मैं अपने स्वत्व को पर में खो देने को आतुर होता हूँ तभी प्रेम की अनुभूति पाता हूँ। अर्थात् प्रेम के माध्यम से ही आस्तिक्य का प्रचार जिस मात्रा में हो, उतना इष्ट है। प्रेम से अन्यत्र एवं अन्यथा उपाय से प्रचार आस्तिक्य का नहीं, आग्रह का होता है, मतवाद का होता है, और उसमें से प्रतिवाद, विवाद व वितण्डा फलित होता है।

आस्तिक का दायित्व

१६. एक आस्तिक के ऊपर, आपकी दृष्टि में, क्या और कितनी जिम्मेदारी आती है?

—प्रेम उस परम दायित्वशीलता का ही नाम है। प्रेम को सेवा बिना तृप्ति नहीं। प्रेम के नाते में एक अपने को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं मान पाता। जब जान-बूझ कर दूसरे को ज्ञान देने, उसका सुधार करने, कल्याण करने का दायित्व ओढ़ते हैं, तो इससे हमारे अहंकार को स्वाद और आधार मिलता है। दुनिया को प्रकाश और सद्ज्ञान

देने के दावे में अपने अहंकार का मद यत्किंचित् समाया ही रहता है। ऐसे उपकारी जन आततायी बन गये देखे जाते हैं। जान-मानकर जब दूसरों के प्रति हम कोई दायित्व उठाते हैं, तो जैसे उस दूसरे के अहं का सही सम्मान नहीं करते हैं। प्रेम में यह पर-मान पूरी तरह भरा रहता है। प्रेम से चलकर व्यक्ति अपने को नेता, गुरु अथवा उद्धारक मान नहीं पाता। वह सेवक बनता है। इससे अनायास दूसरे के अहं को संस्कार मिलता है, धार नहीं मिलती। इसलिए मेरा मानना है कि जिसने सचमुच आस्तिक्य पाया हो, वह विनम्र और आदरशील ही हो सकता है, प्रचार और उद्धार का दावा उसमें नहीं दीख सकता। इस आदरशीलता में दायित्वशीलता सहज ही देखी जा सकती है। अर्थात् ऐसा व्यक्ति अपने में लीन व मग्न नहीं रह पाता, उसे अपनी मग्नता सब ओर लुटानी और बाँटनी होती है। आनन्द है ही वह जो अपने में घिरा-सिमटा नहीं रह सकता, सब ओर मानो बांहे पसार कर फैलना चाहता है। आनन्द और दायित्व में मैं कोई विरोध नहीं देखता हूँ।

हिंसक में आस्तिक्य नहीं

१७. इतिहास साक्षी है कि आततायियों ने सदा शस्त्र और हिंसा के बल से अपने धर्म का प्रचार किया। इसे आप क्या कहेंगे, आस्तिकता की अधिकता या न्यूनता ?

—न्यूनता, बल्कि अभाव। मैं समझता हूँ कि आदमी अत्याचार जिस पर करता है वह सदा उपलक्ष्य होता है, लक्ष्य स्वयं उसका निज होता है। क्रोध में माँ बच्चे को मारती है, तो वह असल में अपने को मार रही होती है। ऐसे वे आस्तिक जन, जो सत्ता और शस्त्र लेकर उसकी प्रतिष्ठा में लगे, असल में कहीं अपने भीतर की शंका से ही लड़ना चाह रहे थे। अतः मैं मानता हूँ कि आततायी मूलतः दयनीय होता है। आतंक के द्वारा वह अपने अहं की तुष्टि चाहता है। अस्त्र-शस्त्र के योग से वह जिस आतंक की सृष्टि करता है उससे उसे कुछ अपने महत्त्व का आभास मिलता है। आतंक यदि वह न डाल सके, तो उसे ही गहरी विफलता का बोध हो आता है। आतंक यदि लोग स्वीकार न करें, तो अत्याचारी और आततायी देख आये कि वह भीतर से रुग्ण पुरुष है, महापुरुष नहीं है। इतिहास के जिन कतिपय उदाहरणों को आप याद करके पूछते हैं कि क्या जोर के साथ हित का और सत् का प्रचार नहीं किया जा सकता, तो हाँ, मुझे कहना होता है कि जोर का प्रेमके साथ मेल नहीं है। हित और सत्य के साथ भी उसका मेल नहीं है। अच्छाई और सचाई के लिए हिंसक बल का जिन्होंने उपयोग किया, उनमें कहीं आस्तिक्य की न्यूनता अवश्य रही, यह मेरे लिए स्पष्ट है। सत्य के साथ बल के रूप में अहिंसा का ही मेल हो सकता है। संक्षेप में अहिंसक बल ही सच्चा बल है। उसमें किसी का सत्त्व संकु-

चित नहीं होता, परस्परता में मिलकर गुणानुगुणित ही होता जाता है। अहिंसा के युद्ध में भी सर्वोदय है।

सृष्टि ईश्वर में से

१८. यह सृष्टि कैसे सृष्टि में आयी और इसका फैलाव किस प्रकार हुआ ?

—विज्ञान इसकी खोज में है। उसने कुछ कल्पनाएँ भी इस बारे में हमें दी हैं। मैं समझता हूँ कि विज्ञान की बात को हमें स्वीकार करना चाहिए। ब्रह्माण्ड के और सृष्टि के बारे में विज्ञान क्या व्याख्या देता है, वह शायद आप मुझसे सुनना नहीं चाहते। मेरा उधर बहुत अधिक ध्यान भी नहीं है। पर विज्ञान की अन्तिम-से-अन्तिम खोज इस मेरे विश्वास से उल्टी न होगी कि सृष्टि सब ईश्वर में से है। मेरा काम उस श्रद्धा से चल जाता है और उसे मैं अटूट भी मानता हूँ।

इसी को दूसरे शब्दों में कहें, तो अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक ज्ञान रखकर भी रहस्य जैसा कुछ रह ही जायगा। इस तरह श्रद्धा और भक्ति विज्ञान की पूरक ही हैं, विरोधी नहीं हैं।

सृष्टि समक्ष है। जिस गर्भ में से उसका उद्‌भव हुआ, उसके तल को पाना हमारे लिए असम्भव है। असम्भव इसलिए कि हम सृष्टि के अंग हैं, यानी जन्म पा गये हैं, और गर्भ के बारे में अनुमान ही रख सकते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं पा सकते। जो फिर भी प्रत्यक्ष और निस्संशय है, वह यह कि सृष्टि स्रष्टा की लीला है। वैसा न होता, तो हममें जीवन के आनन्द की अनुभूति न होती।

उसने बनायी—उससे बनी

१९. सृष्टि ईश्वर से उत्पन्न हुई या उसे ईश्वर ने बनाया या वह स्वयंभूत है ?

—'उसने बनायी', 'उससे बनी', ये दोनों बातें हमारे मन में दो अलग चित्र पैदा करती हैं। यह हम पर है कि चित्र हमें कौन-सा भाता है। लेकिन उस चित्र की सचाई हम तक है, स्रष्टा तक वह नहीं पहुँचती। आशय कि लीलामय और लीलासे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। लीला में कर्तृत्व का भाव है भी और नहीं भी। 'उसने बनायी' इसमें कर्तृत्व है और हेतु की अपेक्षा है। 'उससे बनी' यह स्वभावज है, इसमें जैसे अपेक्षा की आवश्यकता नहीं। स्वयम्भूत का भाव भी इसमें समा सकता है। सृष्टि और स्रष्टा में हम इतना अभेद क्यों न मानें कि बीच में 'क्यों', 'कैसे' आदि प्रश्न सम्भव न रह जायँ। सृष्टि समक्ष है, क्यों न मानें कि स्रष्टा ही उस रूप में समक्ष है। कठिनाई इतनी होती है कि सृष्टि दीखती अनन्त है, अनन्त उसकी विचित्रता और विविधता है। असंख्य रूप-रसमय इस नानात्व में स्रष्टा की एकता और

अखण्डता दीख नहीं पाती। तो यह कि एक अनेक कैसे हुआ, और अनेक एक क्योंकर है, इसको हम विस्मय-प्रश्न के रूप में ही क्यों न अपने में धारें और सहें कि उसके रहस्य-पुलक का सदा स्पन्दन पाते रहें। जीवन ऐसे प्रसन्न और प्राणवन्त रहेगा। उसमें जिज्ञासा जगी रहेगी और अभीप्सा चिरन्तन होकर हमें सदा उन्मुख बनाये रखेगी।

सगुण-निर्गुण

२०. 'ईश्वर ने बनायी' को न मानकर क्या हम आस्तिकता को क्षुब्ध, कुण्ठित नहीं करते ?

—नहीं, बिल्कुल कुण्ठित नहीं करते। बल्कि भगवन्निष्ठा को, उसकी आस्तिकता को, ज्वलन्त और अखण्ड करने के प्रयास में हम देखेंगे कि वह 'ने' की भाषा, कर्तृत्व की धारणा, सहज पार होती जाती है।

अभी हाल के इतिहास के महात्मा गांधी को लें। उनसे बड़ा आस्तिक कौन होगा ? लेकिन अन्त में 'ईश्वर सत्य है' की जगह 'सत्य ईश्वर है' कहना उन्हें अधिक मान्य और प्रिय हुआ। जवाहरलाल नेहरू जैसे उनके साथी इसका आशय नहीं समझ पाये। कैसे समझते ? फिर भी वक्तव्य में गहरा सार है। वह यही कि सत्य में 'कर्तृत्व' का आरोप नहीं रहता, 'ईश्वर' शब्द में जाने-अनजाने कर्ता का भाव आ जाता है। लेकिन ईश्वर की जगह सत्य को रखने से गांधीजी में क्या तनिक भी शिथिलता आयी ? आस्तिकता क्या ढीली होती मालूम हुई ? नहीं, वैसा नहीं हुआ। बल्कि सत्येश्वर के प्रति उनका समर्पण अमोघ और अनन्य होता ही चला गया।

सत्य निर्वैयक्तिक है। इसलिए खतरा यह रहता है कि उसके साथ सघन सम्बन्ध, रागात्मक सम्बन्ध, भावात्मक सम्बन्ध नहीं बन पाता। सम्भव यह भी रह जाता है कि सत्य के नाम पर हममें स्वार्पण-भाव, भक्ति-भाव न हो, बल्कि एक स्वत्व और अहं-भाव हो। यानी वह माना हुआ सत्य हमारे ही अहं का प्रक्षिप्त रूप हो। यह खतरा ईश्वर कहने से एकदम बच जाता है। उसमें अनिवार्य एक दास्य-भाव प्राप्त होता है। अहं की सीमा उसमें गल जाती है और सिर झुक आता है। यह आर्जव और नम्र-भाव जीवन को सम्पन्न व स्वस्थ करता देखा गया है। इसलिए सत्यत्व में ईश्वरत्व को मिटा देने का मैं हामी नहीं हूँ। काम-काज में लगे सामान्य मनुष्य के लिए ईश्वर बहुत उपयोगी और आवश्यक होता है, उस संज्ञा के सहारे परम से उसका निजी व रागात्मक सम्बन्ध बना रहता है। वे दर्शन-पूजा द्वारा अनन्तानन्त समष्टि से अपना नाता जोड़ पाते हैं और इस तरह अपनी निजता से ऊँचे उठने और पार जाने

की राह पा जाते हैं। कारण, अनन्तानन्त को एक में, अखण्ड को खण्ड में मूर्त और व्यक्त देख पाते हैं।

जैसे-जैसे उस व्यक्त, मूर्त और सगुण से एकात्मता पाने की कोशिश होगी वैसे ही वैसे व्यक्त अव्यक्त, मूर्त अमूर्त और सगुण निर्गुण बनता जायगा। साधना साधक को आकार का सहारा देकर पार निराकार में उठाती ही जायगी। इस प्रकार साधनाशील आस्तिक अनायास वैज्ञानिक होता जाता है। पूजा-प्रार्थना से आगे अपने प्रत्येक आचरण में वह जो परमेश्वर का दर्शन और अवधारण चाहता है, सो जान पड़ता है कि उसके दर्शन-ज्ञान में अनायास सत्य का स्वरूप उत्तरोत्तर व्याप्ति में उद्घाटित और आविष्कृत होता जाता है। सत्य की उस भाँति आरती नहीं उतारी जा सकती, जैसे मूर्ति की उतारी जा सकती है। सत्य अमूर्त रहता है, इसलिए मन्दिर में मूर्ति-पूजा से जो सहज सन्तोष सम्भव है वह सत्य-पूजा में अनुपलब्ध रह जाता है। यहाँ गहरी तितिक्षा की आवश्यकता होती है। कारण, अमुक मन्दिर या मूर्तिवाला ईश्वर उपस्थिति से उठ जाता है, सारे विश्व में फैल जाता है, तब उसको पाना व पकड़ना मुश्किल होता है। उसकी आराधना भी मुश्किल होती है। यह ध्यानियों-ज्ञानियों का काम है। गृहस्थ उस राह अपनी दिशा भी भूल जा सकता है। इतना कि श्रद्धा उससे खो जाय और मार्ग तक उसकी दृष्टि से लुप्त हो जाय। मुझे लगता है कि आज यही हो रहा है। सगुण रूप में हम उसे मान्य कर नहीं पाते। इस तरह अभ्यन्तर की वेदी पर से जब कि ईश्वर खण्डित होता है, तब सत्य उसकी जगह प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। कारण, सत्य के प्रति सर्वस्वार्पण का भाव पाना अत्यन्त दुस्साध्य है। इसीसे एक प्रकार की नास्तिकता फैली दीखती है और बौद्धिकता जैसे बौखलायी हुई है।

इसलिए संस्था तक के रूप में धर्म को मैं अनुचित नहीं मानता। विशुद्ध अथवा सघन होकर संस्था, संगठन, सम्प्रदाय से धर्म अनायास उत्तीर्ण होता है। व्यवहार में उसके संस्थागत रूप को बाहर से तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। वह स्पर्धा अहंजन्य और प्रतिक्रियात्मक है।

विज्ञान और ईश्वर

२१. विज्ञान यन्त्र अथवा ज्ञान को ही जो अन्तिम मानकर चलते हैं; उसीकी उपासना में दत्तचित्त रहते और ईश्वर का निषेध करते हैं, उन्हें आप क्या कहेंगे—आस्तिक या नास्तिक?

—उपासना में स्व-सेवन की जगह स्वार्पण की वृत्ति हो, तो आस्तिक। लेकिन अधिकांश ऐसा हो नहीं पाता। सिर नहीं झुकता, प्रार्थना नहीं होती, भक्ति नहीं

फूटती। इस नमन से भावनाओं को जो एक ऋजुता, आर्द्रता प्राप्त होती है, हृदय को जो संस्कारिता प्राप्त होती है, निरे बौद्धिक अनुसन्धान में व्यक्ति को उससे वंचित रह जाना पड़ता है। यों कहिये कि उस उपासना से दिमाग को खुराक मिलती है, मस्तिष्क पुष्ट प्रखर होता है, दिल सूखा रह जाता है। अर्थात् मूल अहं को संस्कार नहीं मिलता। व्यक्तित्व को दाक्षिण्य नहीं प्राप्त होता। प्रेम मुरझाता है और ज्ञान-विज्ञान का सहारा लेकर भीतर ही भीतर अहं और कस जाता है। मस्तिष्क की तीक्ष्णता के साथ तब व्यक्तित्व को धार मिलती है और सामाजिक सम्बन्धों में स्पर्धा अधिक काम करने लग जाती है। उन्नति बढ़ती है, संस्कृति घटती है। आज की मानव-सभ्यता का दृश्य कुछ यही है। विज्ञान के जोर से हम ग्रहों-उपग्रहों के पास पहुँच गये हो सकते हैं, पर पड़ोसी से दूर हो गये हैं। विज्ञान के विस्तार ने पड़ोसी को उड़ा दिया है, उसकी आवश्यकता को जैसे खत्म कर दिया है। परिणाम क्या है? परिणाम यह है कि मानसिक रोग और विकार बढ़ती पर हैं। एक सूना-पन और अकेलापन सभ्य व्यक्ति को घेरे रहने लगा है, जिससे छूटने के लिए वह नशे, रोमांच और अपराध (Thrill) में शरण लेता है। सभ्यता ने तीखा नशा देने के नाना आविष्कार किये हैं। रोज़-रोज़ नयी विधियाँ सामने आती जाती हैं। मानो सभ्य आदमी अपने को जैसे भी हो, कुछ देर के लिए भुला डालना चाहता है। उधर पैसे की दुनिया है, जिससे हर क्षण वह अपने को याद रखने को मजबूर है, होश ज़रा भी खो नहीं सकता। तो फिर दूसरी तरफ उसे क्षण चाहिए, जब वह अपने को खो डाले, होश से बेहोश हो जाय। अपने को एकदम छोड़ दे और कहीं तनिक सँभाले न रखे। यह जो आदमी तरेड़ खाकर दो बन गया है—दिमाग से तेज, दिल से सूना, ऊपर से मर्यादित, भीतर से निरंकुश, व्यवहार से सभ्य, आकांक्षा से जंगली—यह आज के उत्कर्ष का विद्रूप क्या इसी वजह से नहीं है कि मन के भुलावों में उड़कर हमने अपने को ऊँचा मान लिया है और उस मन को कहीं समर्पित करने की जरूरत से हम बेखबर हो रहे हैं। ईश्वर से आत्मार्पण की उसी गहरी आवश्यकता की पूर्ति होती है। मानव की वह आवश्यकता आज अधूरी है, अतृप्त है और उन्नति के मद में उसको सहसा और हठात् भुलाया जाता है। यन्त्र धुआँधार पैदा कर रहा है और इस तरह उत्पन्न धन की बहुतायत हमारे सम्पन्न वर्ग को बहाये लिये जा रही है, फुरसत नहीं है कि अपने भीतर के गहरे अभाव पर निगाह डाल सकें, शायद वह करते डर भी लगता है। इस बाढ़ में उन्नति अपने को उन्नत करती हुई अन्त में युद्ध में आ फूटी है और लोग चकरा गये हैं। संशय शायद मन में उठ गया है, लेकिन उन्नति का वेग अब भी है और शस्त्रास्त्र की धड़ाधड़ तैयारियाँ हो रही हैं। किन्तु विज्ञान के उत्कर्ष के सहारे हम वहाँ आ गये हैं, जहाँ आगे राह बन्द दिखाई देती है।

उस वेग में एक क़दम और वढ़ा कि सर्वनाश स्पष्ट है। इससे सोचने विचारनेवालों के मन डिग गये हैं और वहाँ गम्भीर मंथन मचा है। सिर्फ 'करने-धरने' वाले व्यस्त हैं और उन्हें लौटने की सोचने की ताब नहीं है। अन्यथा सिद्ध है कि उन्नति का रूप एकांगी रहा है और व्यक्ति के आधे अंश को छूछा छोड़ गया है। मस्तिष्क प्रखर बना है, हृदय सूखने को अलग रह गया है। धर्म हृदय का विषय है और ईश्वर उस हृदय की माँग को भरता है।

आस्तिक का आवश्यक लक्षण नम्रता और निरहंकारता है। विज्ञान अथवा यन्त्र-ज्ञान की उपासना ने जिनको यह ऋजुता दी, स्वार्पण-भाव दिया, उन्हें तो आस्तिक ही कहना चाहिए। क्योंकि उपासना की वेदी वहाँ शून्य नहीं है, उस पर कुछ अवश्य विराजमान है, जिसके समक्ष वे नत मस्तक हैं। नतमस्तकता का यह प्रसाद उस क्षेत्र में बिरले ही पाते हैं। जो उस प्रसाद से वंचित हैं, और अधिकांश वंचित हैं, उन्हें आस्तिक कहने से शब्द पर जोर पड़ता है। ईश्वर का एक रूप नहीं है, सब रूप उसीके हैं। वृक्ष में, पत्थर में जब उसे पूजा जाता है, तो ज्ञान-विज्ञान के निमित्त से क्यों नहीं पूजा जा सकता? प्रश्न नमन का, प्रत्यर्पण का है। बौद्धिक उपासना में से वह आवश्यकता पूरी नहीं होती, ऐसा देखने में आता है। ●

२

आत्मा, व्यक्ति, कर्म, भाग्य

विकासवाद

२२. क्या वास्तव में कीटों से क्रमशः मानव का विकास हुआ? क्या आप विकासवाद के अनुसार जीव-सृष्टि को और सभ्यता को निरन्तर विकासोन्मुखी मानते हैं?

—हाँ, अन्यथा समय व्यर्थ ठहरेगा। सब अर्थ ही नष्ट हो जायगा।

विज्ञान के सृष्टि-क्रम के बारे में यह मान्यता कि जल से कीट-पतंग आदि हुए और वहाँ से क्रमशः पशु-पक्षी-मनुष्य, अस्वाभाविक नहीं है।

चेतना विकासशील

२३. तब तो संस्कृति के विकास के लिए शरीर का विकास अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ और आत्मा अथवा चेतना नगण्य सिद्ध हुई।

—क्यों, यह अर्थ क्यों हुआ? विकासवाद, जहाँ तक मैं समझता हूँ, चेतना को नगण्य नहीं मानता। पुरुष का शरीर-यन्त्र अधिक जटिल व निपुण है, तो क्या चेतना भी उतनी ही उन्नत नहीं है?

आत्मा और देह को दो मानकर चलने से भाषा व बुद्धि को सुविधा होती हो, पर वे उस तरह अलग हैं नहीं। जैसे दो किनारों से एक नदी को हम निर्दिष्ट करते हैं, वैसी ही बात यहाँ माननी चाहिए।

२४. यदि आप आत्मा को भी विकासवाद के अधीन स्वीकार करते हैं, तो गीता में जो उसका रूप वर्णित है, उसको क्या ठेस नहीं पहुँचती?

—आत्मा अपने परम रूप में परमात्मा है। आम भाषा में आत्म संज्ञा को व्यक्तिगत सन्दर्भ में भी उपयुक्त किया जाता है। व्यक्तिगत चेतना या आत्मा 'विकासवाद के अधीन' है, यह कहने की बजाय यों क्यों न कहिए कि वह 'विकासशील' है। तब अधीनता मिट जाती है, सहजता आ जाती है। हाँ, चेतन विकासशील है।

आत्मा असीम

२५. इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि क्या उस चेतना अथवा आत्मा की सीमाएँ निर्धारित नहीं करतीं? उनकी अपनी भी क्या सीमाएँ नहीं हैं?

—मैं सीमा बनाने नहीं, मिटाने की तरफ चलना चाहता हूँ। इन्द्रियों का अपना-अपना विषय तो स्पष्ट ही है। आँख की सीमा है कि वह सुन नहीं सकती, कान की यह कि वह देख नहीं सकता। लेकिन आगे मन और बुद्धि के व्यापारों के सीमा-निर्धारण के विषय में कुछ कठिनाई होती है। उनका क्षेत्र व्यापक है। उन संज्ञाओं की सीमा अवश्य होगी, अन्यथा वे संज्ञाएँ टिक नहीं सकेंगी। वह सीमा आप किसी पाठ्य-ग्रन्थ में से शायद पा सकें। पर मुझे जो कहना रहता है वह यह कि सीमाएँ काम-चलाऊ होती हैं। व्यवहार से आगे के सत्य में उनकी स्थिति डिग जाती है, यहाँ तक कि खत्म ही हो जाती है। हृदय-मस्तिष्क का व्यापार तो भी कुछ अलग-अलग देखा जा सकता है, शरीर में स्थान भी उन्हें अलग-अलग मिला है। पर आत्मा को उस तरह कहीं एक जगह खोजा-देखा नहीं जा सकता है। व्यक्ति में है तो अमुक स्थल पर नहीं, सब कहीं है; विश्व में है, तो भी सब कहीं है; उसे इनकार तो किया जा सकता है, लेकिन किसी एक अंग या स्थान में स्थित नहीं बताया जा सकता। मेरा मानना है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियों का, जो अपेक्षाकृत स्थिति-प्राप्त हैं, व्यापार यदि चल रहा है, तो मूल में उस सच्चिदानन्द के कारण जो स्थिति से अतीत है, या कहो कि सर्वस्थ और सर्वत्र है।

हर मान्यता ईश्वर का एक रूप

२६. बुद्धि को ही जो अन्तिम सर्वशक्तिमान् तत्त्व मानते हैं, उनके विषय में आपको क्या कहना है?

—वे भी गलत क्यों हैं? लेकिन फिर उन्हें 'जीवन' को ही एक व्यापक तत्त्व बनाकर मानना होता है। हम कुछ भी मानें, लेकिन उस मान्यता को कुछ-न-कुछ आधार देना होता है। वैसे हर मानने के साथ, मालूम होता है, कुछ अवशिष्ट बचा ही रह गया है। अन्त में श्रद्धा की आवश्यकता होती है। परमेश्वर को थामकर मानो इसी कठिनाई से एक तरह आदमी पार पाता है। जिसको उस कठिनाई का अनुभव न हो, उसे ईश्वर तक जाने की सचमुच कोई आवश्यकता नहीं है।

अन्त में जिसको मानना पड़ता है, वही तो ईश्वर है। इस तरह हरएक की अन्तिम मान्यता को हम ईश्वर का ही एक रूप क्यों न कह दें। ऐसे बुद्धि और श्रद्धा की अनबन हमेशा के लिए कट जाती है।

अनादि चित्प्रवाह

२७. कुछ विशेष तत्त्वों का संश्लेष जीवन और विश्लेष मरण है। इस मान्यता से क्या आप सहमत हैं?

—जन्म और मरण को क्रमशः कुछ तत्त्वों के एकत्र होने और बिखर रहने का परिणाम ठहराकर जो आत्मा को मानने से छुट्टी पा जाते हैं, वे भी क्या गलत करते हैं? मुझे उस तरह की मान्यता आस्तिकता से आवश्यक रूप से विरोधी नहीं जान पड़ती। धर्म हैं जो पूर्व एवं पुनर्जन्म नहीं मानते हैं। इससे उनकी आस्तिकता में त्रुटि नहीं आती।

व्यक्ति-चेतना का एक दिन उदय है और दूसरे अमुक दिन अस्त, यह अत्यन्त स्पष्ट है। आत्मता को व्यक्तिमत्ता के रूप में नित्य और सनातन मानना अनिवार्य क्यों हो? चलिये यही मानिये कि चित्तत्त्व अनादि नहीं है, बल्कि फलित है, अमुक संघटना का परिणाम है। लेकिन यदि फलित में प्रकट है, तो भी क्या यह मानने में आपत्ति की जा सकती है कि वह चित् बीजवत् विद्यमान ही था?

व्यक्तिगत-सन्दर्भ का, अहं-गत चेतना का, ठीक ही है कि आदि है और अन्त है। लेकिन उस चित्-प्रवाह को अनादि मानने में क्या दोष है, जो फलित और विकसित होता हुआ सामने ही प्रत्यक्ष है?

जन्म-मरण-जन्म

२८. तब ऐसी स्थिति में पुनर्जन्म की मान्यता का क्या भविष्य रहेगा?

—मैं भविष्य क्या जानता हूँ? चिंता भी उसकी क्यों? आदमी नित्य जीता-मरता दीख रहा है। पुनः-पुनः जीता व पुनः-पुनः मरता है। यह सामने का नीम का पेड़ लीजिये। पतझड़ में हर साल इसके पत्ते झड़ जाते हैं। लेकिन हर साल नये पत्ते फिर आ जाते हैं। अब कुछ भी कहिये, चाहे कहिये कि यह वृक्ष ही हर साल नया जीवन पाता है, चाहे कहिये कि पत्ते फिर-फिर कर नये पत्तों के रूप में उसी वृक्ष के शरीर के जन्म पर जन्म लेते जाते हैं। भाषा इस तथ्य को जैसे चाहे कह सकती है और मन जैसे चाहे मान सकता है। पर जान पड़ता है कि दूसरी कल्पना कुछ बेढंगी लगेगी। हर पत्ता मरकर फिर-फिर वृक्ष पर नयी कोपल के रूप में जन्म लेता है, इस रूप में पुनर्जन्म मानना अनावश्यक लग आयगा। प्रत्यक्ष और सत्य यह प्रतीत होगा कि वृक्ष ही प्रतिवर्ष नव जन्म लेता है और नये पात खिला आता है। उसी भाँति मानव-क्षेत्र में भी दृष्टि कुछ हमारी सामाजिक और समग्र बनती जा रही है। समाज और जगत् हम व्यक्तियों के जीने-मरने के द्वारा अपने को सिद्ध और सम्पन्न कर रहा है, यह मानना क्रमशः अधिक सुन्दर और सार्थक लगता जाता

है। जन्म-मरण व्यक्ति भोगता हो, लेकिन इस भोग के द्वारा मानो वह समष्टि लीला को ही व्यक्त और समृद्ध कर रहा होता है। व्यक्ति अपनी स्वयं-सिद्धि में ही साध्य का साधन है, यह मान सकें तो दृष्टि हमारी बदल जायगी और शायद विचार के लिए सम्यक् सन्दर्भ मिल जायगा।

व्यक्ति-कर्म और समष्टि

२९. आपकी इस विवेचना से कर्म-फल और व्यक्ति की महत्ता का सिद्धान्त क्या कुण्ठित होता नहीं दीखता?

—कुण्ठित होता हो, पर साथ ही महत्त्व भी पा जाता है। मेरा कर्म मुझसे पार जब समग्र से जुड़ जाता है, तो उसका महत्त्व कम होता है या बढ़ता है? पाप मेरा ही हो, तो मुझे छोटा लग सकता है। लेकिन यदि मुझे लगे कि वह जगत् भर से जुड़ा है, सबको कष्ट पहुँचा रहा है, तो वह पाप मेरे ही लिए बहुत बड़ा हो आयेगा। इस ढंग से देखें तो कर्म का फल और व्यक्ति का महत्त्व घटता नहीं है, बल्कि गुणानुगुणित हो जाता है, जब कि समष्टि का सन्दर्भ उसे प्राप्त होता है।

जो चीज इस विधि कटती और घटती है, वह व्यक्ति और व्यक्ति-कर्म की अहम्मन्यता है। मुझे लगता है कि व्यक्ति और उसका कर्म ह्रस्व और क्षुद्र फलवाला होता है, तो इसी कारण कि वह अहं की तुच्छता में जुड़ा होता है। अहं से छूटने पर व्यक्ति के और उसके कर्म के फल और महत्त्व के कम होने के बजाय उनके बृहत् और विराट् होते जाने की ही सम्भावना अधिक है।

क्या यह नित्य का अनुभव नहीं है कि प्रार्थना में अपने को प्रणत मानकर परमेश्वर की महिमा याद में लेने से व्यक्ति छोटा नहीं, उल्टे महत्ता में उठता हुआ अपने को अनुभव कर आता है।

समग्र और समष्टि में अपने को लीन करने के द्वारा व्यक्ति विस्तार और व्याप्ति ही पाता है। यदि इस तरह एक ही साथ अपना वह अन्त भी होता हुआ पा रहा हो, तो उसीमें उसे अपनी परिपूर्ति का आनन्द भी अनुभव होता है। वह 'मैं' का अन्त ही इस 'मैं' की मुक्ति है।

जैसा करेगा, वैसा भरेगा

३०. आम आदमी की जो आम धारणा है कि 'जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा' उसका आपकी विचारणा में क्या मूल्य है?

—यह धारणा मामूली तौर पर हमें बुराई से बचा सकती है। हम जो भर रहे हैं, वह हमारे ही किये का फल है—ऐसा सोचकर हम दूसरों पर दोष डालने और रोष

लाने से बच जाते हैं। लेकिन ऐसा कहकर जब हम दूसरे के दुःख के प्रति विमुख होते हैं, तो अपने साथ घात करते हैं। यह सम्भव नहीं है कि दूसरे का दुःख-सुख हमें न छुए। बाहर की सर्दी-गर्मी हमें जब छुए बिना नहीं रह सकती, तब आसपास के सुख-दुःख से हम अपने को बन्द करके कैसे रख सकते हैं? यानी उस सिद्धान्त की उपयोगिता यह है कि हम अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर न डालें, खुद ही उठायें। लेकिन यह जिम्मेदारी उठाने की क्षमता हममें बढ़ती ही जानी चाहिए और हमें अनुभव मिलना चाहिए कि दोष जहाँ है, मेरा है, बुराई की जड़ अन्त में मुझ स्वयं में है। ऊपर का सूत्र शायद वहाँ तक जाने में हमारी मदद नहीं कर सकता। इसलिए उसे अर्द्धसत्य ही मानना चाहिए।

कर्म-सिद्धान्त : एक सापेक्ष सत्य

३१. कर्म-विशेष कितनी दूर तक हमारी भावी को, हमारे भावी भोगों को प्रभावित करता है, इस विषय पर किञ्चित् प्रकाश डालें और हमारे दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का जो इतना महत्त्व वर्णित है, उसका भी कुछ मूल्यांकन करें।

—कर्म-सिद्धान्त शुभ है, इसलिए सत्य भी है। किन्तु सत्यता वहीं तक है, जहाँ तक शुभता है।

हाल का उदाहरण लें। सामाजिक विचार ने यह अब स्पष्ट कर दिया है कि अपनी गरीबी के लिए गरीब ही जिम्मेदार नहीं हैं, बल्कि अधिक जिम्मेदार माना जानेवाला अमीर है। यह विचार लोगों की मन-बुद्धि में उतर चुका है। मैं मानता हूँ कि कर्म-सिद्धान्त के तत्त्ववाद को शुभ की मर्यादा से आगे खींचकर उसे असामाजिक भाव और कृत्य का आश्रय बना लिया गया है। इससे उसकी सत्यता भी वहीं समाप्त हो गयी। दुनिया को ऐसा मालूम हुआ कि मार्क्स तथा दूसरे सामाजिक विचारकों ने कुछ अगला सत्य उन्हें दिया है, इस कारण उसकी प्रतिष्ठा भी हुई।

याद रखना चाहिए कि सापेक्ष सत्य तक ही मनुष्य का वश है। यही नहीं कि वह मानव-सापेक्ष होता है, बल्कि यह भी कि वह देश-काल-सापेक्ष होता है।

तत्त्व-सिद्धान्त की यह सापेक्षता और अनेकान्तता भूल जाते हैं, तो वह हमें खोलने के बजाय बाँधने लग जाता है। परम सत्य परमेश्वर है, जो सर्वथा अगम होकर भी प्रत्येक क्षण और कण में सुगम है। जिस रूप में चाहे उसे माना जा सकता है। यहाँ तक कि नकार के द्वारा भी उसे भजा जा सकता है। अतः परमेश्वर की चर्चा व्यर्थ है, क्योंकि जाने-अनजाने हर चर्चा अन्ततः उसीके प्रति न्याय के लिए होती है। अब तनिक कर्म को समझें। कोई कर्म बिना अन्तस्सम्बन्ध के सम्भव ही नहीं होता। जिसके लिए अपने से दूसरा कुछ है ही नहीं, ऐसे परम अद्वैत में कर्म की स्थिति नहीं

अकामकामी और परिपूर्ण है। अतः समस्त कर्म स्व-परता या परस्परता
पन्न होता है। अब इन दो ओर-छोर के बिन्दुओं में किसकी अपेक्षा से कर्म
ान और अनुसन्धान करें ?

र्वसम्बद्ध, सामष्टिक

ो बात लीजिये। मुझे सबेरे पत्नी पर क्रोध आया। क्रोध क्यों आया ? ी से वह सर्वथा असम्बद्ध था ? नहीं, असम्बद्ध नहीं था। क्रोध के दाह प का भोग मुझे मिलेगा, यह ठीक। लेकिन पत्नी तक वह दाह और ताप ीं पहुँचेगा ? मेरा क्रोध मुझे ही सताये, यह हो नहीं सकता। इस त्रास में ो भी शामिल होना होता है।

द्धान्त व्यक्ति को अपने में पूरी इकाई और घटक मानकर अपना रूप निर्माण है। किन्तु क्या व्यक्ति अपने में पूरा घटक है ? सत्यता में ऐसा सिद्ध हो नहीं । सम्बन्धों से शून्य कोई नहीं है। वैसी सर्वथा निस्संग स्थिति की कल्पना ही की जा सकती। कोई या कुछ है, तो शेष के साथ और बीच है। केवल स्वतः हो नहीं सकता, जी नहीं सकता, सिर्फ मर सकता है। ऐसी अवस्था में कर्म-ान्त के वाद को बहुत अधिक जोर से कसकर पकड़ने और बाँधने से हम अशुभ, असत्य पर उतर आ सकते हैं।

यह कि मेरा पाप, मेरा मैल सारी दुनिया को मैला करनेवाला है। वह मेरा नहीं है। मुझे ही कष्ट नहीं देता, सारे जगत् के कष्ट का कारण होता है। अपना नकर मैं शायद अपने को क्षमा भी कर जाऊँ, पर यह क्षमा इसलिए झूठी जाती है कि पाप मुझ तक सीमित नहीं रहता, वह अपना त्रास चहुँ ओर लाता है।

ुझे जान पड़ता है कि दृष्टि और विचार के उत्तरोत्तर सामाजिक और सामष्टिक ााने का समय आया है। स्वयं अध्यात्म का यह तकाजा है। अन्यथा माने हुए नेक धर्म और दर्शन समय का साथ देने में असमर्थ बनकर टूट जायँगे।

पनी निजता के सन्दर्भ में जीवन-व्यापार को अब पूरी तरह समझा और खोला हीं जा सकता। वह आग्रह टिकेगा नहीं। सन्दर्भ अब परस्परता का लेना होगा ौर विचार को उसी अनुक्रम से आगे बढ़ना होगा। अन्यथा विचार प्रतिगामी नेगा और मुक्ति में खोलने के बजाय बन्धन में डालेगा।

व्यक्तिमत्ता का स्वीकार-अस्वीकार

३२. समाजवाद ने जो व्यक्ति को पूरी तरह समष्टि-लीन कर दिया और व्यक्ति-

गत उद्यम की सत्ता अस्वीकार कर दी, यह उसने ठीक ही किया। फिर पूँजीवादी और स्वातन्त्र्यवादी लोग उन्हें गलत क्यों बताते हैं?

—आप देखेंगे कि 'समाजवाद' के साथ व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता घट नहीं रही, बढ़ रही है। यह 'करने' का प्रश्न नहीं, 'होने' का प्रश्न है। लीन 'करने' की कोशिश से व्यक्ति की अस्मिता कसेगी और मजबूत होगी। समर्पण में से जो लीन भाव होगा, वही स्थायी और प्रतिक्रियाहीन होगा। वह समाजवाद, जो राज्य और कानून के जोर से व्यक्ति-उद्यम को लीलकर पचा लेना चाहेगा, अपने बीच और बाहर नाना प्रकार की राजनीतिक समस्याओं को जन्म दिये बिना नहीं रहेगा। व्यक्ति को समाज में उत्तरोत्तर लीन पाने की पद्धति हिंसा नहीं, अहिंसा है। मजबूत राज्य के रूप में राष्ट्र को हम एकत्रित और गठित करते हैं, तो मालूम होता है कि एक ओर जब कि जीवन की प्रफुल्लता और मौलिकता कम होती है, तब दूसरी ओर राष्ट्र की सीमा पर सुरक्षा-पंक्ति को शस्त्र-सज्जित करने की आवश्यकता उत्कट हो जाती है। साथ ही अन्तरंग एकता भी वैधानिक और यान्त्रिक होने से नाम-रूप की होती है, भावापन्न नहीं हो पाती। भारत की एकता क्यों आज संकट में है? क्योंकि आश्रय उसे विधान का है, वह राजनीतिक है; इसीसे ऊपरी है, सहज और भीतरी नहीं है। फिर साम्यवादी सिस्टम दो-एक जगह चल रहा है, वहाँ दीखने में क्या आता है? यही कि तन्त्र जब कि प्रबल बना है, तब आन्तरिक और बाहरी तनाव उससे शान्त नहीं हुआ है। उत्पादन के क्षेत्र में जो सफलता मिली है, आपसी सम्बन्धों के अथवा लोक-नीति के क्षेत्र में वही विफलता बन गयी है।

पूँजीवाद की ओर से उठायी गयीं आपत्ति तो आत्मरक्षा की वासना से बनी हो सकती है। यह सच है कि विज्ञान की तरक्की के साथ समाज का आज का रंग-ढंग नहीं चल सकता। पूँजी में जितना बल बढ़ता है, पूंजीवाद का खतरा उतना ही बड़ा होता जाता है। मुझे नहीं लगता कि समाजवाद उसका इलाज है। बल्कि समाजवाद और साम्यवाद पूँजीवाद के परिणाम और प्रतिफलन हो सकते हैं। इलाज यदि है, तो यह कि बल धन में से हटे और जन में आये। समाज और साम्य के नाम पर चलनेवाले दोनों वाद इससे बेखबर, बल्कि विमुख हैं। वे बल के मूल्यांतरण की सोचते ही नहीं। अधिक-से-अधिक इस अर्थ में बल के स्थानान्तरण की सोचते हैं कि बुर्जुवा को गिराना और प्रोलितेरियत को उठाना है। इससे राजनीतिक अदल-बदल होती है, समाज के सम्बन्ध-सूत्रों में गहरा अन्तर नहीं आता, मूल्य नहीं बदलता। समाज और साम्य दोनों वादों में पूँजी का, सिक्के का और राज्य का बल बढ़ता है। अर्थात् मानव-इकाई की ओर से देखें, तो पूँजी को प्रधान मानने के द्वारा समस्याएँ पूँजीवाद से जो पैदा हुईं वे दूसरे वादों से हल नहीं हुईं, बल्कि शक्ल बदल-

कर और व्यापक और विकट ही हो गयी हैं। साम्य और समाज के वाद में लोक-नायक लोक-नियन्त्रण के काम से इतने भर जाते हैं और वहाँ इतने चुक जाते हैं कि जान पड़ता है, ध्यान उनका हार्दिकता के लिए शेष नहीं रहता, सिस्टम के लिए ही संगत रह जाता है। उससे सामाजिकता समाज में नहीं बढ़ती, न समता बढ़ती है, बल्कि तन्त्र और यन्त्र का मानव पर दबाव ही बढ़ता है। दबाव के नीचे मानवता खिलती नहीं, मानो मुरझाती चली जाती है। उस समय प्रतीत होता है कि मूल्य नीति से जैसे उल्टे पड़कर शक्ति में केन्द्रित हुए जा रहे हैं।

मानव-समाज के इस विकास पर बधाई मेरे मन में से नहीं आती। बल्कि अनुभव होता है कि उसकी एकांगिता खतरा पैदा कर रही है। आवश्यकता अनुभव होती है कि शक्ति-बल के समक्ष नैतिक बल का उदय हो और वह पतवार को हाथ में लेकर सभ्यता की नैया को सँभाले।

एक लक्ष्य : आत्मोपलब्धि

३३. ईश्वर का इस सृष्टि में क्या प्रयोजन रहा? समस्त जीवों के जीवन का, विशेषकर मनुष्य का क्या लक्ष्य है?

—प्रयोजन को अपने से बाहर देखना उचित नहीं। बीज का प्रयोजन फलित होना और फल का प्रयोजन बीज छोड़ जाना कहा जा सकता है। इस तरह प्रयोजन सबका आत्मोपलब्धि हो जाता है। मनुष्य में तो अपूर्णता और अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट ही है, आत्मोपलब्धि की भाषा अतः वहाँ स्वयं संगत हो जाती है। ईश्वर में किसी न्यूनता, अभाव या द्वन्द्व की सम्भावना है नहीं। इसलिए वहाँ प्रयोजन को आत्मोपलब्धि से अधिक आत्म-लीला कहना सही जान पड़ेगा।

मानव-जीवन का लक्ष्य इस तरह मानव में अन्तःस्थ है। उस अन्तःस्थता की व्याप्ति और विस्तार ही असल लक्ष्य ठहरता है। यह भाषा यों भी उतनी अस्पष्ट नहीं लगेगी। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण अपने में अभाव और आकांक्षा का अनुभव करता है, उनसे मुक्ति आत्मोपलब्धि में ही सिद्ध होती है।

आत्मोपलब्धि व्यक्तिगत आदर्श नहीं

सच यह है कि सृष्टि के विषय में भी लक्ष्य को आत्मोपलब्धि की भाषा में ठहराना ठीक होगा। आत्मोपलब्धि क्या? इसको समझने के लिए हमें अपने से बहुत दूर जाना नहीं है। स्वत्व को परत्व में यदि और जितनी मात्रा में उतार पाते हैं, उसी रीति से पर को स्व में देख पाते हैं, तो उतनी ही उपलब्धि और समाधान का अनुभव पाते हैं। यह शेष के साथ एकता की अनुभूति आत्मोपलब्धि का स्वरूप है। अपने

को पाना, सबको पा जाना है। कारण, अपने को हम शेष में ही पा सकते हैं, अन्यथा किसी विधि पा नहीं सकते। स्वाभिमान में हम बन्द होते हैं, मुक्त होते हैं प्रेम में। इसलिए आत्मोपलब्धि कोई वैयक्तिक आदर्शमात्र नहीं है, वह एक ही साथ सामाजिक और समष्टिपरक है।

भाग्य, ईश्वरेच्छा

३४. क्या कोई ऐसी शक्ति है, जो भाग्य अथवा ईश्वरेच्छा बनकर हमारे मन, हमारी बुद्धि, हमारे कर्म और हमारे युग-युग के विचार-प्रवाह के साथ खिलवाड़ करती है अथवा उन्हें पूरी तरह नियन्त्रित एवं अपने वश में रखती है?

—यह तो साफ है कि हम ब्रह्माण्ड में कण से भी कम हैं। जिससे ब्रह्माण्ड चलता है, वह शक्ति अवश्य मेरे 'मैं' की नहीं हो सकती। ऐसी निर्वैयक्तिक शक्ति को स्वीकार करने से बचना अहंकार में रुकना ही माना जायगा। संज्ञा अब हम उसको जो चाहे दें—काल कहें, अकाल कहें, इतिहास कहें, भाग्य कहें, विधाता या विधान कहें या सीधे चाहें तो परमेश्वर कह दें। उसके अंगीकार में अभिमान से मुक्ति मिलती है, बुद्धि को एक स्थिति प्राप्त होती है। उसके बिना बुद्धि जैसे विभ्रान्त हो जाती है।

भाग्य-विधान और मनुष्य

लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि भाग्य-विधान और मनुष्य का सम्बन्ध क्या है? मेरा मानना है कि जैसे मनुष्य विधान से स्वतन्त्र नहीं है, वैसे विधाता भी मनुष्य से स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य सहयोगी है, उसमें अन्तश्चेतना होने का अर्थ ही यह है। राम वह, जो सब कहीं रमा हुआ हो। परमेश्वर के लिए भारत में राम-नाम ही चलता है। सच्चिदानन्द ही उस व्याप्त सत्ता का स्वरूप हो सकता है। उस सत्-चित्-आनन्द की अनुभूति हमें हर क्षण प्राप्त होती है। हम सचेतन हैं, इसका आशय ही यह है कि जो चित्-शक्ति ब्रह्माण्ड में संचरण कर रही है, उसका संचालन कर रही है, हमसे तद्गत है। हमारी चेतना उसकी सहभागिनी सह-योगिनी है। ब्रह्माण्ड में जो रम रहा है, हमारे हृत्पिण्ड में भी रम्यमाण है। हमारे 'मैं' के मान के नीचे कुछ भले निष्क्रिय हो, पर 'मैं' का बोझ हटने पर वही तत्त्व सक्रिय हो आयेगा। तब जान पड़ेगा कि व्यक्ति स्वयं भी विधाता है, विधान के साथ वह सम-स्वर है। तब उसकी सीमा असीम में मिट जायगी और उसका संकल्प अमोघ हो चलेगा।

मनुष्य क्रीड़ा-कन्दुक नहीं

विधाता या भाग्य के हाथों मनुष्य क्रीड़ा-कन्दुक के समान है, यह उपमा भेद-भाव की है। अभेद देखें, तो मालूम होगा कि भाग्य स्वयं हमारे द्वारा अपने को सम्पन्न करने को बाध्य है। अन्यथा वह है तक नहीं।

भाग्य हमारे वश में

सृष्टि के प्राणियों में यदि अपनी-अपनी चेष्टा न हो, तो क्या कल्पना की जा सकती है कि इतिहास या विकास अपने को अपने में से निष्पन्न कर लेगा? इस प्रकार की कल्पना नितान्त असम्भव है। अर्थात् यदि कोई नियम काम कर रहा हो, तो वह प्राणियों के भीतर से ही काम कर पाता है, दूसरा उपाय उसके पास नहीं है। और यदि हम प्राणी चेतन हैं, तो विधान के हाथ में निश्चेतन उपकरण बनकर नहीं रह जाते, बल्कि अखण्ड चित्-प्रक्रिया में सहकर्मी होते हैं। चेतना उनकी जड़ है, सचेत ही नहीं हो पायी है, जो भाग्य का रोना रोते हैं। भाग्य जब और जहाँ तक हमारा है, हम उसके विधाता भी क्यों नहीं हैं? रोना जब रोते हैं तो हमीं रोते हैं, भाग्य कैसे रुला सकता है? इस तरह अपनी चेतना का अपमान करना है यह मानना कि भाग्य हमारे प्रति प्रतिकूल है, क्रूर है। सब 'होना' हमारे वश में है, भाग्य के वश में बिलकुल नहीं। वह तो जो है सो है, प्रतिकूल-अनुकूल हमारे लिए ही बनना शेष रह जाता है। और आत्म-प्रतिकूल होकर हम परमात्म-प्रतिकूल होते हैं, एवं आत्मानुकूल होना ही विधातृ-सत्ता से समरस होना है।

व्यक्ति की सीमा

३५. जब आप मानते हैं कि सब समान रूप से सचेत हैं और सबमें ईश्वर वर्तमान है, तब व्यक्ति का व्यक्तित्व अनेक सीमाओं से बँधा क्यों है? क्या ये सीमाएँ ही मनुष्य का भाग्य नहीं हैं?

—दूसरे शब्दों में प्रश्न हुआ कि सबमें अपना-अपना 'अहं' क्यों है? सीमा बिना 'अहं' हो नहीं सकता। सीमा वह एक ही साथ स्व और पर की होती है। उस सीमा से स्व-पर-भिन्नता की अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि इस भेद के कारण ही हममें राग अथवा द्वेष का तारतम्य अनिवार्य होता है। उसका अनुभव हम अहं के द्वारा ही पाते हैं। अर्थात् सीमा होना हमें स्थिति देता है और उसी सीमा का दुःख हममें गति और चेष्टा उत्पन्न करता है। सीमा की, मर्यादा की, इस तरह यह बड़ी गहरी सार्थकता है। उस सीमा को हम हठात् अस्वीकार करते हैं, तो आशय है कि हम उसे बाहर की ओर ठेलते हैं और 'स्व' के द्वारा हठात् 'पर' पर दबाव डालते हैं।

यही हिंसा कहलाती है और मानना चाहिए कि यह वस्तु, हिंसा, सृष्टि-विधान के अनुकूल नहीं है। सीमा को स्वीकार करके जब हम उस भिन्नता की व्यथानुभूति में से अन्य के प्रति प्रेम की प्रेरणा पाते और उस ओर उन्मुख होते हैं, तब सीमा अनायास खुलती और फैलती है। तब अनुभव होता है कि व्यक्तित्व हमारा प्रशस्त हो रहा है। मैं आपकी भाषा मान लेता हूँ कि सीमा हमारा भाग्य है, लेकिन इसके आगे यह भी समझ लेना है कि स्वीकृति के आधार पर प्रीति-प्रेरणा में उस सीमा का अन्यान्य में लोप-विस्तार करते जाना उस भाग्य की सम्पन्नता है।

अहं, द्वन्द्व, विवेक

३६. अहं का आपका स्वरूप क्या है? बुद्धि और हृदय से विशेष समय विशेष हितकर काम लेना क्या व्यक्ति के बस का है? कुछ गिने-चुने अवतार शायद ऐसा कर सकते हों, पर आम आदमी अपनी इस विवशता को लेकर क्या करें?

—'अहं' वह, जो सुख-दुःख को अपना करके मानता है। वह शरीर में स्थित किसी अवयव या अंग से तद्गत नहीं है। अनुभूति देनेवाले अवयव-यन्त्र हृदय और मस्तिष्क माने जाते हैं। उन दोनों के अपने व्यापारों का भी पृथक्करण किया गया है। लेकिन यहाँ उसमें हमें नहीं जाना है।

व्यक्ति के भीतर जितने अङ्गोपाङ्ग हैं, वे सब मिलकर एक तनाव की स्थिति प्राणों में बनाये रखते हैं। इसीको चैतन्य या जीवन कहा जाता है। एक द्वैत और द्वन्द्व सदा हमारे भीतर कार्य करता रहता है। सोते समय भी वह नहीं सोता। साँस रुक भी जाय और हृदय की धड़कन को भी थोड़ी देर के लिए रोक लिया जाय, लेकिन यह प्राण-गति क्षणांश के लिए भी रुक नहीं सकती। उसके रुक जाने का नाम मृत्यु है।

इस द्वन्द्व के भीतर विवेक काम करता है। विवेक से शून्य मनुष्य हो नहीं सकता। इधर आदिम और बर्बर मानव को लीजिये, उधर अवतारी पुरुषों को लीजिये, विवेक सबमें ही अनिवार्य है।

इस विवेक के कारण ही यह भाषा सम्भव बनती है कि क्या हम सर्वथा सवश हैं या विवश भी हैं? इस भाषा में यह स्वीकार कर लिया जाता है कि हमारे व्यक्तित्व में स्तर हैं और एक स्तर दूसरे के अधीन होकर काम करता व कर सकता है। यह मानने में कोई बाधा नहीं कि हाथ जो लिखता है, स्वयं नहीं, दिमाग के अधीन होकर लिखता है। दिमाग कहता हो, तब भी हाथ विवश बना रहे और न लिखे, तो यह स्थिति रोग की कहलायेगी। हाथ काँपता है, उठता तक नहीं, तो मानते

हैं कि रोग है, जिसका आशय यह है कि दिमाग और हाथ के बीच का सम्बन्ध-सूत्र (स्नायु) कहीं बिगड़ गया है। व्यक्तित्व के अङ्गोपाङ्गों में ही जो परस्पर विवाद और विग्रह देखा जाता है, अक्सर जो यह देखा जाता है कि हम चाहते कुछ और कर जाते कुछ हैं, तो यह द्वन्द्व की स्थिति ही है, जिसमें से यत्न-प्रयत्न को जन्म मिलता है। विवेक भी इसी स्थिति में सम्भव और सङ्गत होता है। विवेक फिर वहाँ संवाद लाता है।

मानव वशपूर्वक विधि से संयुक्त

मैं मानता हूँ कि होता वह है, जो होनहार है। यह भी स्वीकार करना मेरे लिए अशक्य नहीं कि विधि का लेख लिखा रखा है। लेकिन विधि का प्रयोग केवल मानव-प्राणियों पर होता है, मानवों का उसमें केवल उपयोग होता है, यह मैं नहीं मानता । विधि-विधान में, मेरा मानना है कि, विधि का मानव के साथ संयोग व सहयोग है। विवश अथवा वशवर्ती नहीं है, बल्कि मानव अपने पूरे वश के साथ विधि से संयुक्त है। उस वश का अमुक अंश स्खलित-मूर्च्छित होकर अपने को अलग डालकर विवश मान ले, तो दूसरी बात है; अन्यथा यह सम्भव है कि मृत्यु में भी मानव अपनी सार्थकता देखे और उसे स्वेच्छा से अपनाये। ऐसी मृत्यु मुक्ति बनती है। कारण, विधि और व्यक्ति का वहाँ योग, पूर्ण तादात्म्य, स्थापित होता है।

सत् में उत्पत्ति-व्यय निरन्तर

३७. अभी यह बात स्पष्ट होने से रह गयी कि व्यक्तित्व की यानी मन, बुद्धि आदि शक्तियों की अर्थात् भाग्य की विषमताओं का और जीवन में नयी-नयी उथल-पुथल होने का आप क्या कारण मानते हैं?

—कारण के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। 'है' की कोई निष्क्रिय स्थिति नहीं है। 'है' ही 'होता रहता' है। एक सूत्र है **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'**। सत् में उत्पत्ति और व्यय प्रतिपल होता रहता है। गतिशून्य स्थिति कोई होती ही नहीं। चित् में उसी स्पन्दनशीलता का भाव है। चित् विद्युत् की भाँति लहराता रहता है, मानव का चित्त भी तद्रूप लहराया करता है ।

मानव सृष्टि-क्रम से निरपेक्ष नहीं

यह तो सृष्टि के क्रम में जो हलन-चलन गर्भित है, उसकी बात हुई। इसको मानव-निरपेक्ष भी देखा जा सकता है। किन्तु मानव उससे निरपेक्ष रह नहीं पाता। उसके

अन्तरङ्ग में जो हलन-चलन होता रहता है, वह शेष से सर्वथा बिछड़ा नहीं होता। ऋतु गर्मी-सर्दी की अपने नियम से होती हैं और मनुष्य पर तदनुकूल प्रभाव-परिणाम डाले बिना नहीं रहतीं। यह स्थिति व्यक्ति और विधि के तारतम्य की अपेक्षा से है। मनुष्य की कठिनाई वहाँ से नहीं बनती। बल्कि वहाँ से तो प्रेरणा ही आती है।

अन्तर्विग्रह और कलह शुभ के लिए

जो वस्तु मनुष्य के लिए समस्या बनती है, वह है अपने भीतर अनुभव में आनेवाला अन्तर्विग्रह और कलह। इसी जगह यत्न और साधन की आवश्यकता होती है। पुरुषार्थ और चेष्टा का यहीं पर उपयोग है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय नाम से जो व्यक्तित्व के तीन स्तर हम मानते हैं, उनमें समरसता और एकाग्रता आ सके, तो समाधान जान पड़ता है, अन्यथा क्लेश मालूम होता है। इन विविध स्तरों से अलग, और इन सबमें व्याप्त, आत्मा की भी एक संज्ञा है। कहा जाता है कि मन, बुद्धि, इन्द्रिय आत्मा के अनुगत होकर काम करें, तो सब व्यापार मुक्ति का साधक हो जाता है, अन्यथा बाधक होता है। मूल भाषा से लगता है कि जैसे ये तीन अथवा विविध स्तर कुछ अपने में स्वायत्त भी हों और आत्मा से स्वतन्त्र हों। मनुष्य की यह बनावट, जिससे वह संयुक्त और समग्र नहीं, बल्कि विभक्त और विविध अनुभव करता है, अन्त में शुभ के लिए ही है। ह्रास का नहीं, वह विकास का साधन है। पशु में वैसी विभक्तता व समस्या नहीं है। वह उलझन नहीं है जिसमें से विवेक को काम करना पड़ता है और जिसके कारण स्वकर्तृत्व का बोध प्राप्त होता है। यह स्व-बोध ऊँचे जाकर बाधा भी बन जाता हो, लेकिन यही व्यक्ति को स्रष्टा की महिमा व गरिमा भी देता है। मनुष्य के द्वारा जो स्थायी सृष्टि का काम हो जाता है, वह इसी तीव्र आत्मव्यथा और आत्मयुद्ध की घोरता पर सन्तुलित क्षणों में होता है। उन क्षणों में कि जब विवेक मानो द्वन्द्वावस्था से पार आकर प्राण-वेग में व्याप्त और लुप्त हो जाता है।

जीवन में जो गम्भीर संकट अनुभव होते हैं वे बाहरी आघातों के नहीं होते, बल्कि घोर गहन अन्तर्विग्रह में से उठे हुए होते हैं। देव-दानव-युद्ध हर घड़ी हममें छिड़ा रहता है। विषमता और व्यग्रता के अनुभव इसी युद्ध-स्थिति के तत्कालीन परिणाम हुआ करते हैं, ऐसी मेरी प्रतीति है। ●

३

प्रतिभा, भविष्य

पूर्वजन्म के संस्कार

३८. क्या आप नहीं मानते कि व्यक्ति जो कुछ भी बनता है, रूप ग्रहण करता है, वह जन्मोपरान्त ही। जन्म के पहले से वह कोई संस्कार अथवा प्रभाव लेकर नहीं आता।

—नहीं। जैसे समय में मैं किसी एक क्षण, प्रहर, दिवस, मास, वर्ष आदि की कोई कटी हुई अलग स्थिति नहीं मान सकता, वैसे ही समग्र के सन्दर्भ से सर्वथा विच्छिन्न किसी सपाट कटे एक व्यक्तित्व की स्थिति नहीं मान सकता हूँ। जन्म में आया प्राणी जीवन-संस्कार साथ नहीं लाया, तो साथ लाया क्या? जो तत्त्व मिले, क्या वे निर्गुण थे? उनमें अपना कुछ न था यह मानना सम्भव नहीं। माता-पिता का और तो और, सन्तति की शक्ल-सूरत पर प्रभाव मिलता है। माता-पिता उसी तरह स्वयं आनुवंशिक प्रभावों से सर्वथा मुक्त नहीं होते। इस तरह आज जन्म में आया व्यक्ति इन कड़ियों के द्वारा समष्टि-इतिहास से, पूरे भाग्य से ही, जुड़ा रहता है। ऐसा न होता, तो जैविक-विज्ञान, नृतत्त्व-शास्त्र आदि सम्भव नहीं हो पाते। यह किसी तरह नहीं माना जा सकता कि रज-वीर्य अपने में कुछ गुण नहीं रखते। अतः चेतना का आरम्भ जन्म पानेवाले जीव से मानना वैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। आरम्भ वहाँ से व्यक्तिमत्ता का है, चिद्गुणता का नहीं। यह स्वीकार करें, तो जनमे हुए जीवन के साथ व्यवहार करने की एक नयी सूझ प्राप्त होगी और उसको अमुक मत के ही साँचे में ढालने का स्वत्व-पूर्ण आग्रह मन्द होगा। हम जानते हैं कि ऐसा आग्रह होता है और प्रतिभा लगभग उस आग्रह का द्रोह ठानती हुई प्रगट हुआ करती है।

प्रतिभा चेतना का उत्कर्षण

३९. असाधारण प्रतिभाशालियों के बारे में, जो आनुवंशिक परम्पराओं से मुक्त दीखते हैं, आप क्या कहते हैं? ये प्रतिभाएँ वर्तमान वातावरण की प्रतिक्रिया में से फूटती हैं या किसी Cosmic Power **(अलौकिक सत्ता) की देन होती हैं या पूर्वजन्मों की साधना का परिणाम होती हैं?**

—जिसको प्रतिभा माना जाता है, उसका नियम स्थिर करना कठिन है। सच यह कि नियम में बंधती नहीं, इसीसे तो उसे प्रतिभा कहते हैं। फिर भी एक बात निस्संशय कही जा सकती है। वह यह कि अमुक वेग और विस्फोट उतने ही दबाव का फल होता है। अलक्ष्य में कहाँ क्या कुछ घटित होता रहा कि जिसके परिणाम-स्वरूप वह प्रभा चमकी, जिसे प्रतिभा मानना पड़ा, कहना मुश्किल है। अच्छा यह है कि हम प्रतिभा के जन्म को अलौकिक शक्तियों से जोड़ें ही नहीं, व्यक्तिगत गुण और साधना के सन्दर्भ में ही उसे समझने का प्रयास करें। ऐसे वह तत्त्व ईश्वरीय से मानवीय तल पर कुछ समझने योग्य बन सकेगा। यदि जगत् को हम दो शक्तियों से सधा हुआ मानें, एक उत्कर्ष और दूसरी अपकर्ष शक्ति, तो प्रतिभा को उस स्थिति का फल मानना होगा, जहाँ उत्कर्षण अपकर्षण पर प्रबल होता है। इस क्षेत्र में खोज होने की आवश्यकता है, भौतिक के समक्ष इसको चिदात्मक और आध्यात्मिक क्षेत्र कहा जा सकता है। राम-कृष्ण प्रागैतिहासिक और बुद्ध-यीशु-मोहम्मद ऐतिहासिक हो गये, लेकिन गांधी तो समकालीन माने जा सकते हैं। उनके हृदय और चरित्र को लौकिक हेतुओं की भाषा में समझा या रखा नहीं जा सकता है। फिर भी पदार्थ-क्षेत्र में उनका प्रभाव युगान्तरकारी हुआ, सो क्यों? आशय, स्वयं भौतिक क्षेत्र के अध्ययन और उपलब्धि के लिए अध्यात्म क्षेत्र की विभूति और प्रक्रिया को खोजना-समझना हितकारी होगा। जीवन के अध्ययन को वह समग्र बनायेगा। नहीं तो पदार्थ का विज्ञान हमें सम्पन्न करके भी चेतना के क्षेत्र में उल्टे विपन्न करता चला जायगा। मानो मालूम होता रहेगा कि उन्नति विपत्ति है और सभ्यता सङ्कट है। तब उस सभ्यता को उलटकर आदिमता में लौट जाने की वृत्ति भी पनपेगी और बहुत से लेखकों और लोगों में आज वह रुझान दिखाई दे रहा है। निश्चय ही यह भ्रान्त और प्रतिक्रियात्मक वृत्ति है। लेकिन वस्तु-क्षेत्र की एकाङ्गी उन्नति प्रश्न की अतिता और विवेक की दीनता सिरजे तो और नहीं तो क्या होने-वाला है!

प्रतिभा और पूर्वजन्म

४०. तब क्या आप प्रतिभाओं की उत्पत्ति को पूर्वजन्म के संस्कारों से जोड़ना पसन्द नहीं करेंगे?

—पूर्वजन्म को जब हम लाते हैं, तो भावना से लाते हैं। उससे कुछ प्रकाश नहीं मिलता है, विश्वासी को एक समाधान-सा भले मिल जाता हो। यह तो स्पष्ट ही है कि जीवन का और चेतना का आरम्भ मेरे अपने जन्म की घड़ी से नहीं है, विश्व में और समय में वह सदा से प्रवाही है। इसलिए आज जो घटना में बीतता

है उसका अतीत व अकाल से सम्बन्ध नहीं है, ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता। जीव-विज्ञान, प्राण-विज्ञान इस अजस्रता के अभाव में असम्भव हो जायँगे। लेकिन पूर्वजन्म एक ऐसी धारणा है जो वर्तमान को अतीत से नहीं मिलाती, बल्कि मेरे 'मैं' को मेरे ही अपने जन्म के काल से पार और परे ले जाती है। वैसी धारणा को बीच में लाना अधिकांश फिसलन के मार्ग को खोल देना हो जायगा।

मैं फिर चाहूँगा कि ईश्वर के चमत्कार के रूप में प्रतिभा को देखने से यदि हमें सन्तोष न होता हो तो उसे व्यक्तिगत गुणों से, अध्यवसाय से, साधना-परायणता आदि से जोड़कर ही समझें। पूर्वजन्म आदि पर टालने से हम अपनी जिम्मेदारी से एक तरह से बच जाते हैं, जो शुभ नहीं है।

क्षति-पूर्ति का सिद्धान्त

एक और रूप में भी इस तरह की विशेषताओं को समझा जा सकता है। मैंने एक अन्धे आदमी को देखा, जो गाँव में घर-घर पानी पहुँचाया करता और इसी पर अपना गुजारा चलाता था। दूर-दूर अलग-अलग सब घरों को जानना, वहाँ से अपने आप ठीक जगह से घड़ा उठा लाना, फिर एकदम कुएँ की जगत पर खड़े होकर, झुककर, रस्सी डालकर पानी खींचना और फिर सब घड़े यथास्थान पहुँचा आना—यह सब काम बिना आँख के कैसे किया जा सकता है, मैं अब तक समझ नहीं सकता हूँ। सिवा इसके क्या कहा जाय कि आँख न होने से उसमें यह प्रतिभा पैदा हो गयी! अक्सर देखा जायगा कि जो 'इधर' से कम है, वही 'उधर' से बढ़ गये हैं। नाटे और छोटे कद के लोग विलक्षण बन गये हैं, शरीर से हीन हैं, वे बुद्धि से प्रवीण बन उठे हैं, बुद्धि में मन्द हैं, वे शरीर से मल्ल दिखाई देते हैं। अर्थात् चेतना के क्षेत्र में यह 'क्षति-पूर्ति' का सिद्धान्त जैसे काम करता दिखाई देता है। प्रतिभा के उदय के स्रोत में यह सम्भव हो सकता है कि सब ओर से प्रकाशन के मार्ग बन्द होने के कारण किसी एक दिशा में से चेतना फूटी और अद्भुत चमत्कार दिखा उठी। चेतना को बिखरने न दिया जाय, वह संग्रहीत होती रहे और फिर मानो सूच्यग्र जितना मार्ग उसके वहिर्गमन को मिले, तो क्या वहाँ उत्कट गति और वेग नहीं आ जायगा?

मैं मानता हूँ कि कुछ इस रूप में प्रतिभा को समझें, तो संयम की सीख का लाभ भी हमें हो सकता है।

स्रष्टा प्रतिभाओं का विकास-क्रम

४१. आपके इस उत्तर से मेरी तृप्ति नहीं हुई। अन्धे का उदाहरण साधारण

भौतिक प्रतिभाओं को नियमित कर सकता है। पर महान् स्रष्टा प्रतिभाओं का विश्लेषण उसके बस की बात नहीं।

—परम पुरुष जो हो गये हैं, जिन्हें हम प्रतिभाशाली मानते हैं, जिनसे युग और इतिहास प्रकाशमान हो उठे हैं, तो उस प्रकार की सम्भावनाएँ भरकर उन्हें खास-तौर से भेजा गया होगा, यह मानना परमेश्वर पर पक्षपात का दोष डालना हो जायगा। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि नर से वे ही लोग नारायण बने, हम जैसे तो इधर नर-पशु बने बैठे हैं। क्या यह माना जाय कि भगवान् ने हमें नर से पशु बनाया है? यह किसी तरह से भी नहीं माना जा सकता है। इसी तरह नर से यदि कोई नारायण बनता दीखे, तो उस सबका भी भार भगवान् पर डालना स्वयं अचेत रह जाने का बहाना कहलायेगा।

परमेश्वर सर्वव्याप्त सत्य एवं सत्ता है। सम्भावनाएँ सब कहीं हैं और अनन्त हैं। भगवान् घट-घट में व्याप्त और विराजमान है। अर्थात् परम पुरुषों में जो विभूति और चेतना का वैभव प्रज्वलन्त दीखने में आया, वह उसीका व्यक्त रूप है, जो हम सबके भीतर अव्यक्त और सुप्त हो सकता है। अर्थात् हमारे भीतर भी सम्भावनाएँ अनन्त हैं। कहना यही होगा कि उन्होंने उन सम्भावनाओं को प्रकट होने दिया, हमने उन्हें दबा रखा है।

अहं : निजता और विश्वता के बीच द्वार

मेरे मन में यही चित्र उठता है। हम सबके पास अहं है। वह द्वार है, जिसमें से हम अपने से बाहर आते हैं, बाहर से फिर अपने में लौटते हैं। जिसने उस द्वार को केवल द्वार रहने दिया है, वह निमित्त भर रह गया है और उसके 'द्वारा' मानो अनन्त सम्भावनाएँ बाहर मुक्त होकर खिल उठने को विवश हो आई हैं। ऐसे ही पुरुष पुरुषोत्तम बने हैं। अर्थात् उन्होंने अपने को सर्वथा शून्य बना दिया है और परम चेतना ही उनके माध्यम से मूर्त और प्रत्यक्ष हो उठी है। वे स्वयं भक्त से मानो भगवान् हो चले हैं। उनके व्यक्तित्व में से ऐश्वर्य-दर्शन प्राप्त हुआ है। लेकिन हम प्रायः अपने 'मैं' को शून्य बनाने से उल्टी ओर चला करते हैं, मानो मैं को फुलाते और फुसलाते रहते हैं। स्वयं कल्पना कीजिये कि इसका परिणाम क्या होगा? मानिये कि जो 'द्वार' होने के लिए है उसी दहलीज को हम मकान में गहराई तक ले जाते हैं—तब क्या वह मकान रहेगा या कि अन्धी गुफा बन जायगा? यही हुआ करता है। अहं-भाव को हम अपने में गहरे उतारते हैं, अवचेतन और अचेतन पर भी उसे थोपते हैं। ऐसे हमारे ही भीतर की सम्भावनाएँ जकड़ी और जड़ बनी रहती हैं, खुल नहीं पातीं। उसका फल हम भुगतते हैं कि जैसे साँस

भीतर घुट रहा हो, बाहर न आ पाता हो। इस रुँधे और घुटे जीवन को लेकर छटपटाते रहते हैं और पहचान नहीं पाते कि हमी हैं, जो अवरोध और रोक बने हुए हैं। अन्यथा चित्प्राण जो भीतर है परमोन्मुख है और अनायास मुक्ति में उठने को आतुर है। हमारी अधिकांश प्रवृत्तियाँ अपनी ही अन्तश्चेतना पर अत्याचार करनेवाली होती हैं। मानो हमीं स्वयं अपनी दुश्मनी ठान रहे हों। जिसको हमने अपना चेतन माना, बुद्धि-विवेक माना, उसीके द्वारा अपने अन्त:स्थ को हम दाबते और डाँटते हैं। समझते हैं, यही पराक्रम है, कर्मशूरता है, परायणता है। लेकिन फल यह होता है कि हमारी निजता से हमारे भीतर की विश्वता ढक और कट जाती है। नरता नारायणता को दाब बैठती है। ऐसे नर दर्पी, दम्भी, अभिमानी बनता है और नहीं जानता कि यों वह केवल मानव से दानव बन रहा है। मानता है वह फैल रहा है और फूल रहा है, पर असल में वह कसता, गँठता और सँकराता जाता है। कहाँ तो उसे मुक्त और व्याप्त बनना था, कहाँ वह निरी गाँठ बना भीतर कसमसाता है। मैं इसीलिए बाहरी कर्म का कायल नहीं हो पाता हूँ। उसी मात्रा में कर्म सही और शुभ होना चाहिए, जिसमें वह अन्तरंग से अनुकूल और प्रेरित हो। शेष में शायद वह जाल और जंजाल है।

मेरे मन में मानसिकता और उसकी प्रक्रिया का यही चित्र उठता है और इसी भाषा में मैं अवतारी और अधम पुरुषों का भेदाभेद समझ पाता हूँ।

प्रतिभा और देश-काल

४२. तब तो आपके कथनानुसार प्रतिभाओं का जन्म और उनके द्वारा संसार में होनेवाला वाञ्छ्य-अवाञ्छ्य उद्वेलन-आन्दोलन मात्र chance (संयोग) का परिणाम हुआ, काल-विशेष की परिस्थितियों का प्रतिभाओं की उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और तदनुसार हिन्दू-दर्शन की 'धरती पर पाप बढ़ने पर भगवान् द्वारा अपने गुणों सहित अवतार लिये जाने का सिद्धान्त' एकदम झूठा पड़ गया और आपकी उपपत्ति ने इस ऐतिहासिक तथ्य से भी मेल नहीं खाया कि प्रतिभाएँ अकेली नहीं चलतीं, अपने साथ अपने सहयोगी लेकर चलती हैं।

—तुम्हारे प्रश्न को मैं इस रूप में लेता हूँ: एक, कि प्रतिभा का क्या समय या युग की माँग से सम्बन्ध नहीं होता? दूसरे, कि प्रतिभा क्या एकाकी है, सामूहिकता के साथ नहीं है? इतिहास के तमाम आन्दोलन जो प्रतिभा में से निकले हैं, क्या समूह के योग से विशाल से विशालतर नहीं बनते गये हैं!

घटक कुल से स्वतंत्र नहीं

इन प्रश्नों के मूल में एक भ्रान्ति है। वह यह बद्धमूल मत कि कहीं भी कोई एक इकाई अपने में अलग हो सकती है। वास्तव में ऐसा है नहीं। सत्य कुल है, एक है, अखण्ड है। इससे यह हो नहीं सकता कि कुछ हो और सब तक उसका प्रभाव न जाय, या वह सब उसके कारण में ही न हो। यानी घटनामात्र से काल और देश जुड़ा हुआ है। काल, जिसके विस्तार को हम अनुभव में पाते हैं। देश, जिसके विस्तार को हम आँखों से देखते हैं। इन दोनों से अलग किसीकी भी कल्पना नहीं की जा सकती।

लेकिन कुल और अखण्ड को हम पा नहीं सकते। उसे समझ में पाने के लिए अभिन्न को हम भिन्नता देते और असंख्य को संख्या में लेते हैं। ऐसे घटकों—खण्डों की सृष्टि होती है।

शेष कुल

हम-तुम जैसे कुछ अरब आदमी आज इस दुनिया में हैं। सब अपने में अलग-अलग और व्यक्ति हैं। मनुष्य की ही तरह फिर दूसरे असंख्य पशु-पक्षी और जीव-जन्तु हैं। फिर वनस्पतियाँ हैं। अन्य भी अनन्त तत्त्व हैं। इन सबको लेकर धरती एक है। वह फिर अपने में एक ग्रह है और सौर-मण्डल की सदस्य है। सूरज इसके केन्द्र में है। लेकिन ऐसे-ऐसे असंख्य सूरज अपने मण्डलों को लेकर तारों की तरह ब्रह्माण्ड-परिभ्रमण कर रहे हैं।

अब यह जो हमने अपने बीच अलगपन माना है, तुम सुन रहे हो, मैं कह रहा हूँ और हम दो हैं—यह सब इसलिए कि हम परस्परता को समझें, पायें और उस परस्परता की ही राह से समग्रता में मुक्त हों।

'मैं' आरम्भ का बिन्दु

यानी 'मैं' वह बिन्दु है जहाँ से हम चलते हैं, चल सकते हैं। बिन्दु माना हुआ है, पर वहीं से अर्थ का आरम्भ होता है। 'मैं' सच नहीं है, यह तो शुरू में ही हमने स्वीकार कर लिया है। पर वही सापेक्षता में, व्यवहार में, सच बन जाता है, अगर 'मैं' में से हम-तुम, 'इस'-'उस' की ओर बढ़ते हुए कुल में जा मिलने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

प्रतिभा एकाकी, निरपेक्ष नहीं

ऊपर जो विचार किया, वह इस 'मैं' के तट से किया गया विचार है। देश-काल

से वह छूटा हुआ हो नहीं सकता है। प्रतिभा एकाकी व अलग-थलग हो नहीं सकती है। क्या आग कोई हो सकती है, जो आसपास गर्मी न दे? या वह यों भी हो सकती है, जब जलने को कुछ सामग्री न हो? कोयला है, ईंधन है, तो आग प्रकट होती है। इसी तरह इतिहास और युग जो सामग्री प्रस्तुत करता है, उसमें ही आवश्यकता के दबाव में से हो, तो प्रतिभा प्रकट होगी। अर्थात् युग-निरपेक्ष उसे मानने की आवश्यकता नहीं है। न वह देश के विस्तार में परस्परता से निरपेक्ष रह सकती है। अर्थात् प्रतिभा हो ही नहीं सकती, जिसमें से मानव-सम्बन्धों में एक क्रान्ति जैसी चमकती-फूटती हुई न दीखे। किन्तु घटना के, इतिहास और समय के सन्दर्भ में प्रतिभा को देखने की कोशिश से उसकी ऊर्जा और ऊष्मा अपने से दूर चली जाती है, हम जैसे उसकी पुकार और माँग से छूटकर हलके हो जाते हैं। मैं उस रिआयत का अवसर अपने को या किसीको नहीं देना चाहता। हम क्यों न समय का दायित्व स्वीकार करें और काल में गर्भित चुनौती का उत्तर देने आगे बढ़ें? इसी उत्तर बनने के उत्साह के लिए प्रतिभा को व्यक्ति-घटक के सन्दर्भ में समझने का प्रयास ऊपर किया गया था। अपने में अन्तर्भूत चेतना के स्तरों के द्वन्द्व और ऐक्य की भाषा में हम उसे समझेंगे और रखेंगे, तो प्रतिभा हमसे दूर की चीज नहीं बनेगी, बल्कि अधिक जानी-पहचानी मालूम पड़ेगी। अतिशय, चमत्कार, संयोग आदि शब्द बुरे नहीं हैं। विस्मय का भाव उनमें है और वह भाव हमें ताजा रखता है, नम्र और ग्रहणशील बनाता है, ज्ञान के दम्भ और दर्प के लिए हमारे पास अवकाश नहीं छोड़ता। इसलिए प्रतिभा को ईश्वर की देन और उसीका चमत्कार कहें, तो बाधा नहीं है। पर उसमें से हम आस्तिक्य ही प्राप्त करें, अपना बचाव कहीं न खोजने लग जायँ।

भविष्य-वाणियाँ

४३. वर्तमान से भविष्य एकदम कटा हुआ अलग नहीं माना जा सकता है। उस भविष्य की ओर पहुंचने और उसे पहले से जानने के अनेकानेक प्रयास हुए हैं। इसमें नाना विधाएँ भी खड़ी हो गयी हैं। यह भी देखा जाता है कि भावी वर्तमान पर कुछ आभास और छाया डाल गया है। दूर से आनेवाली आँधी का पक्षी सहज भान पा जाता है। हमारा यन्त्र रडार दूर का पता हमें यहाँ तक पहुँचा देता है। ग्रह-विज्ञान, ज्योतिष शास्त्र हैं, सामुद्रिक शास्त्र भी माना जाता है। उनके आधार पर या कभी स्वतन्त्र भी भविष्य-वाणियाँ होती हैं और सही भी निकलती हैं। इन सबके सम्बन्ध में आपका क्या खुलासा है?

—हमारी इन्द्रियाँ यन्त्र के समान ही हैं। करोड़ों-करोड़ मील दूर का सूरज,

आँख हमारे पास है, इसलिए दीख जाता है। इसी तरह अनुमान और अनुभव के द्वारा हम अपने सम्बन्ध की व्याप्ति काल में भी अतीत और भविष्य की ओर बना और बढ़ा पाते हैं। यानी हम काल-देश में हैं, पर काल-देश की कैद में नहीं हैं, बल्कि उनके प्रति खुले हैं। इसलिए काल में और देश में हमारा उत्तरोत्तर विस्तार और गति हो, यह तो अवश्यम्भावी है। हमारा ज्ञान-विज्ञान उस दिशा में हमें बढ़ाये बिना रह नहीं सकता।

लेकिन मैं ईमानदारी जरूरी समझता हूँ। उसमें अपनी मर्यादाओं को पहचाना जाता है। रात में सपने में हममें से हर कोई आसानी से आसमान में उड़ जाता है। लेकिन आसमान में सचमुच में उड़ा ले जानेवाला वायुयान हमें सपने में से नहीं मिल गया। जिस कठोर विज्ञान में से वायुयान प्राप्त हुआ, वह सपने की मौज से मानो ठीक उल्टी चीज है।

भविष्य से निर्माण का सम्बन्ध

हम वर्तमान में हैं। भविष्य में हमें पहुँचना है। अपनी सम्पूर्णता के साथ वहाँ यदि पहुँचना है, तो इसका आशय यह कि भविष्य के प्रति हमारा सच्चा और पूरा सम्बन्ध प्रयाण और निर्माण का है, अनुमान और अवधान का नहीं है। मुझे उन सब विद्याओं में दिलचस्पी नहीं है, जो भविष्य को जान लेना और बता देना चाहती हैं। उनमें मुझे विज्ञान की साधना नहीं, कुछ व्यसन की फिसलन जान पड़ती है। भविष्य के प्रति स्वस्थ सम्बन्ध निर्माण का होना चाहिए। दिवा-स्वप्नों में जिस भविष्य की रचना होती है, वह अस्वस्थ निकलता है। आदमी चाहता है और अक्सर उसके लिए मेहनत करना नहीं चाहता। इस मनोभाव में वह भाग्य के बारे में उत्सुक होता है। उस प्रकार की उत्सुकता व आतुरता को समाधान देने या उसका लाभ उठाने के लिए बहुत सारी अर्ध-विद्याएँ हमारे बीच में पैदा हो जातीं और चल पड़ती हैं। उनसे जी-बहलाव और मन-भरमाव होता है। उनका खासा धन्धा भी चलाया जा सकता है। लेकिन मुझे उनमें रस नहीं है।

भविष्य अज्ञात-अज्ञेय रहे

भविष्य आने को है या कहिये कि हम उसमें जाने को हैं। इसकी सुविधा और समर्थता के लिए ही भविष्य को अज्ञात और अज्ञेय रहने दिया गया है। इसमें से पुरुषार्थ को जन्म मिलता है। अज्ञात और अज्ञेय को न सह सकने की अवस्था को जड़ता की अवस्था कहना चाहिए। आस्तिकता में उसे प्रसन्नता व विनम्रता के साथ सहना ही पड़ता है। वे जो सम्पूर्ण भविष्य को सर्वथा ज्ञात बनाने पर तुलते हैं, उनकी

अनुमान-विद्या व गणना-विद्या के प्रति मेरे मन में तनिक भी स्पृहा नहीं है। मुझे वह नास्तिक-व्यापार जान पड़ता है। जिसे प्रत्येक क्षण अपने पुरुषार्थ से हमें बनाते जाना है, उसको पहले से ही पूरी तौर पर जान बैठना मानो उसे बनाने की चुनौती से मुँह चुराना है। भाग्य ऐसे वह है, जो हम बनाते हैं। जो बना नहीं सकते हैं, वे ही उसे जानने के चक्कर में रहते हैं। भविष्य का हमें एक-एक पट खोलते और उघाड़ते जाना है। इसीमें प्रयत्न का सौन्दर्य और साफल्य है। भविष्य और हमारे बीच में जो व्यवधान है, वह अनिवार्य है और मंगलमय है। उसका आदर न करना सौन्दर्य का घात करना है।

सितारों का भाग्य हमारे पास

इतिहास के महापुरुष वे हुए हैं, जिन्होंने भाग्य का सामना किया है और परम एवं निर्भीक विश्वास के साथ उसकी अज्ञेयता में बढ़ते चले गये हैं। शौर्य का यही लक्षण हैं। उन्होंने भाग्य और भविष्य से पहले से कोई वायदा और वचन नहीं भराया है। बल्कि जो भी हो, खुली बाँहों से उसे आलिंगन में लेने की तैयारी में चल पड़े हैं।

जो सितारों में है, क्या हममें भी नहीं है? इसलिए यह क्यों न कहें कि खुद नक्षत्रों का भविष्य और भाग्य हमारे पास है। ●

४

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-भेद

४४. डार्विन के विकासवाद से आप बहुत दूर तक सहमत दीखे थे। मार्क्स की समाजमूलक वैज्ञानिक ऐतिहासिकता के विषय में आपका क्या मत है ?

—डार्विन क्या आस्तिक थे ? क्या उन्हें यह प्रिय होगा कि कोई उनकी खोज का आदर करे और आस्तिक भी बना रहे ?

काल-गति को समझने का तर्क-शुद्ध प्रयास

मार्क्स के ऐतिहासिक विकासवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में मेरे लिए कोई चौंकने या आपत्ति करने की बात नहीं। इतिहास और काल-गति को समझने का यह तर्क-शुद्ध प्रयास है। उस रूप में मुझे उसमें कोई खोट नहीं दिखाई देती। विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का चित्र और विचार मार्क्स ने हेगेल से लिया कहते हैं। अन्तर यह कि हेगेल के विचार की भूमिका आन्तरिक थी और मार्क्स की भौतिक। विकास की इस द्वन्द्वात्मक धारणा में मुझे तो काफी समाधान प्राप्त होता है। उसमें एक कैसे फटकर दो होता और फिर बढ़कर एक होता है—यह अद्वैत और द्वैताद्वैत की समस्या कुछ बुद्धिगत होती-सी मालूम होती है। उसमें मानो तथ्य पड़ता है और अगम से समस्या सुगम बनती है।

मार्क्स-दर्शन सत्य से नहीं, समाज से जुड़ा

काल के इतिवृत्त की यह समझ अपेक्षाकृत तटस्थ वृत्ति में से मार्क्स को प्राप्त हुई। लेकिन तटस्थता वहाँ समाप्त हो गयी, जहाँ उन्होंने उसे वर्तमान से जोड़ा। तब उसमें इच्छाभाव डाल दिया गया। वर्तमान के प्रति हम लोग सर्वथा निस्संग नहीं होते, इसीलिए सामने सदा कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न रहा करता है। इतिहास में से समस्त घटना-प्रक्रिया का एक सूत्र निकाल लें, फिर उस सूत्र के सहारे कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न को टाल या लाँघ जायँ, ऐसा बन नहीं सकता। ऐसा जब हम करते हैं, तो मानो अपने साथ कुछ जोर-जबरदस्ती कर जाते हैं। नैतिक प्रश्न किसीके अन्दर सर्वथा समाप्त नहीं पाया जाता। इसलिए वह तत्त्वदर्शन जो मानो उसे अनावश्यक और व्यर्थ

ठहरा देता है, मानव-सत्य से अनमिल बनता है। मानो वह मनुष्य का उपयोग करता है, उसको स्वत्वशाली और पूर्ण करने की नहीं सोचता। मार्क्स के साथ यही हुआ। दर्शन उनका सत्य से अधिक समाज से जुड़ गया और प्रस्तुत वर्ग-विरोध और वर्ग-विग्रह में आ टिका। वर्ग-विभेद बढ़ाना, उसमें सहायक होना, मानो एक ऐसा कर्तव्य हो गया, जो इतिहास की ओर से नियुक्त है। अर्थात् विकास-वाद और द्वन्द्ववाद के पाठ के जोर से व्यक्ति-मानव में अन्तर्निहित नीति-चेतना को उलट डाला गया। द्वेष और घृणा के प्रति मामूली तौर पर हममें द्वेष और घृणा ही रहती है। मानो मार्क्स के सिद्धान्त और विश्वास ने आवश्यक बनाया कि उन्हें हम किसी सन्दर्भ में उचित भी समझें। इसमें जन-मानस और व्यक्ति-मानस पर जोर पड़ा और आवश्यक हुआ कि मार्क्स का एक पन्थ बने और वह कट्टर होता जाय। इस प्रकार की कट्टरता में मनुष्य अपनी अन्तःप्रकृति के साथ बलात्कार करता और उस बल-प्रयोग में एक गौरव अनुभव कर आता है। समझिये कि नशा चढ़ाना होता है और नशा मतवाद का होता है। इसमें हिंसा-हत्या अनिवार्य, आवश्यक और उपादेय-उचित मालूम होने लग जाती है।

मार्क्स प्रसन्न से अधिक विपन्न

मेरा अनुमान है कि मार्क्स की विचारकता में अन्दर कहीं किरक थी, गाँठ थी, और वह बराबर उस विचार को अपनी गन्ध देती रही। मार्क्स प्रसन्न से अधिक विपन्न अनुभव किया करते थे कि जब वे अपने मत-सिद्धान्त का निर्माण कर रहे थे। उस विपन्नता की सम्भावना के बीज इसलिए सिद्धान्त में मौजूद हैं।

नैतिक द्वन्द्व

जो द्वन्द्व नित्यप्रति हममें से प्रत्येक अपने भीतर अनुभव करता है, वह नैतिक है। इतिहास पर अथवा ईश्वर पर डालकर उससे मुक्त व उत्तीर्ण होने का उपाय कभी ख़तरे से खाली नहीं है। खतरे से खाली इसलिए नहीं है कि इधर वह उपाय आत्म-छल से खाली नहीं होता है। मूल में वह मतावेश होता है और कोरे आदर्श-वाद को जन्म देता है।

इस मनोभाव या तत्त्ववाद में से निकलनेवाली क्रान्ति अथवा आन्दोलन लहू-लुहान हो जाते हैं। वे प्रतिक्रान्ति उत्पन्न करते और प्रत्याक्रमण जगाते हैं।

भौतिकवाद को नैतिकता असान्य

४५. नीति अथवा नैतिकता के आधार पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं ऐतिहासिक

विकासवाद की कमियाँ आपने दिखायीं। पर भौतिकवाद तो नैतिकता के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता। इस स्थिति पर आपका क्या कहना है?

हर मतवाद द्वारा अन्तःकरण तिरस्कृत

—भौतिकवाद ही नहीं, कोई भी वाद, स्वयं ईश्वरवाद, हमें नैतिक द्वन्द्व से सहसा ऊँचे उठा ले जा सकता है। कारण, अपने मत और विश्वास को हम उस अवस्था में इतना अधिक प्रक्षिप्त करते हैं कि उसमें स्वयं को खोने की सुविधा पा जाते हैं। तब अपने भीतर की उस यथार्थता की तरफ अचेत हो जाते हैं, जिसे अन्तःकरण कहा जाता है। इस प्रकार नैतिक कुरेद को लाँघना सम्भव ही नहीं, वरन् प्रिय लगने लगता है और अपकर्म में कृतार्थ कर्म की बुद्धि हो जाती है।

किसी नीतिवाद की बात मैं नहीं करता हूँ। वाद के रूप में उसे पकड़ने चलेंगे, तो वह सापेक्ष और सामाजिक चीज ही निकलेगी। मार्क्सवाद तो हाँ, साफ कहता ही है कि नैतिकता समाज-मान्यों द्वारा बनायी और अपनायी गयी चीज है, कृत्रिम है, प्रकृत नहीं है। दूसरे वादासक्त भी कुछ-न-कुछ कहकर उससे छुट्टी पा जाते हैं। मुझे लगता है कि अपने प्रति पूरे तौर पर ईमानदार होकर चलें, तो व्यक्ति यह नहीं कर सकता।

अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य

एक अनुभव अनिवार्य है। वह यह कि हम जो होना चाहते हैं, वह अभी नहीं हैं। इसीमें से प्रयत्न व पुरुषार्थ निकलता है। इसी गति में पग-पग पर कर्तव्याकर्तव्य का प्रश्न खड़ा मिलता है और विवेक जरूरी होता है। हेगेल और मार्क्स जिन द्वन्द्वों की भी चर्चा करें, पर यह अन्तर्द्वन्द्व सबको अनुभूत और प्रत्यक्ष है। सब यह भी अनुभव करते हैं कि इसी द्वन्द्व में से उनके विकास की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसको हम चाहे आत्मा की भाषा में रखें, चाहे वस्तु की भाषा में रखें। यह द्वन्द्वात्मकता है, जो सबको प्राप्त है। आत्मिक यही है, भौतिक यही है। भीतर स्वरूप उसका मानसिक है। व्यक्त होने को बाहर आता है, तो रूप वास्तविक हो जाता है। कोई इतिहासवाद और ईश्वरवाद इस चीज को मेरे या आपके पास से कैसे असिद्ध या ओझल कर दे सकता है, मैं जानता नहीं हूँ।

मार्क्स न कि हिंसा

मार्क्स से लगभग मैं सर्वथा ही सहमत हो सकता हूँ, लेकिन हिंसा को गलत और अहिंसा को ठीक समझने से छुट्टी नहीं पा सकता। मार्क्स ने यह छुट्टी पायी हो

या और कोई पा ले, तो उसका अभिनन्दन मुझमें से नहीं निकलता। इस मूलभूत द्वन्द्व का दुःख ही जीवन का सार है और सुख उसे फेंक देने में नहीं, प्यार से अपना लेने में है।

मार्क्स-लेनिन और नैतिकता

४६. कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न की उपस्थिति को आपने ऊपर अनिवार्य बताया है। जब हम एक मत अथवा धर्म को पूरी तरह ग्रहण कर लेते हैं, तब शंका और प्रश्न की स्थिति समाप्त हो जाती है। जब रहती है, तब या तो हम बेईमान हैं या वह मत, धर्म, सिद्धान्त झूठा है। शंका ही जब अनिवार्य नहीं रही, तो आपकी नैतिकता को भी स्थान न रहा। यही मार्क्स व लेनिन ने किया। शोषण को समाप्त करने का उन्होंने एक मार्ग खोजा और उस पर श्रद्धा-विश्वास व लगन के साथ चले। तब नैतिकता उनका मार्ग क्यों रोके और उन्हें पथ-भ्रष्ट क्यों करे ?

दो मोटरें

—मार्ग पर चलने की दो विधियाँ हैं। मान लो, दो मोटर-गाड़ियाँ हैं, जिनमें एक पर ड्राइवर है, दूसरे पर नहीं है। पहली गाड़ी एक ढंग से चलेगी, क्योंकि ड्राइवर के सामने यह प्रश्न होगा कि क्या दायें-बायें मोड़े, वेग को अधिक करे इत्यादि। दूसरी गाड़ी के लिए कोई प्रश्न होगा ही नहीं। तो क्या हम यह मानें कि दूसरी गाड़ी ज्यादा और अच्छा सफर तय करेगी ?

विवेक-शून्य श्रद्धा

तो यह ड्राइवर मनुष्य के अन्दर का विवेक है। श्रद्धा-विश्वास में उस विवेक को भस्म कर दिया जाय, यह सम्भव नहीं है। जब यह किया जाता है, तो एक ऐसी कट्टरता को जन्म मिलता है, जो स्वयं अपने को हराती है।

हराती इसलिए है कि उसमें लोच व लचक नहीं रह जाती है, जो जीवन का लक्षण है। पत्थर इसीलिए टूट जाता है कि वह कठोर है। हवा को किसी तरह नहीं तोड़ा जा सकता है।

प्रश्न : श्रद्धा की खुराक

सच्ची श्रद्धा मताग्रह का रूप कभी नहीं लेती। वह श्रद्धा, जो प्रश्न को बन्द कर दे, सच्ची नहीं। बल्कि प्रश्न तो श्रद्धा की सही खुराक है। उसे बराबर प्रश्न का

भोजन देकर पुष्ट करते रहें, तभी वह श्रद्धा स्वस्थ व समर्थ रहती है, अन्यथा सूखकर कड़ी पड़ जाती है और जड़ हो जाती है।

मतावेश टकराकर टूटेगा

जो नाक की सीध सीधा चलेगा, वह टकराकर जरूर टूटे और गिरेगा। वह विवेक से शून्य हो जायगा, जैसे दूसरी मोटर-गाड़ी ड्राइवर से शून्य थी। मत जब हमको भर देता है, तो हम अपने में इतने बेसुध हो जाते हैं कि दूसरे में टकराये बिना नहीं रहते। दूसरा भी अपने मत में बेसुध हो, तब तो बात ही क्या है। तब टक्कर ही टक्कर रह जायगी, गति कोई न कर पायेगा। इसका आशय यह कि हममें और हमारे मत में दूसरे के लिए अवकाश हो, तभी हम बढ़ सकते और गति कर सकते हैं। गति अन्धी हो नहीं सकती। अन्धा इंजन चल सकता है, जब कि नीचे पटरी बिछी हो। यहाँ तक तो चलो विश्वास से दिशा का निर्देश हो जाता है, जैसे रेल की पटरी से इंजन का मार्ग बन जाता है। लेकिन ड्राइवर की अर्थात् विवेक की तब भी जरूरत रहती ही है।

मार्क्स-लेनिन विवेकशून्य न थे

मार्क्स और लेनिन के मार्ग में कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न नहीं खड़े हुए और विवेक की आवश्यकता नहीं हुई, यह समझना सही नहीं है। बल्कि कहा जा सकता है कि जिस अंश में श्रद्धा ने उनके विवेक को जाग्रत, स्नेहशील और कर्तव्यशील बनाये रखा, वहीं तक उनको सफलता मिली। ऐसे अहम्मन्यों को आप-हममें से कौन नहीं जानता है, जो अपने से ही डटे-भरे रहते हैं, किसीसे भी वे बना नहीं पाते और अन्ततः विफल होते हैं। उनके अहंकार को विश्वास कहना कठिन है।

मूढ़ात्मा

प्रश्न ही प्रश्न लेकर संशयशील बने रहने का समर्थन यहाँ आप न मानें। संशयात्मा तो विनाश पाता है। लेकिन मूढ़ात्मा की गति उससे भिन्न नहीं होती और मूढ़ात्मा वह है, जो अहं में बन्द होता है।

नैतिक द्वन्द्व गति-उन्नति के लिए अनिवार्य

नैतिक द्वन्द्व क्यों आवश्यक है, यह आपने पूछा है। उत्तर है कि गति और उन्नति के लिए आवश्यक है। गति की प्रक्रिया ही द्वन्द्वात्मक है, अन्यथा सचेत गति सम्भव नहीं है।

गति पशु में देखते हैं, मशीन में देखते हैं। दोनों का वेग दर्शनीय होता है। पीछे दौड़ते बाघ और आगे-आगे दौड़ते हिरन को तटस्थ होकर देखें, तो चित्र मनोरम लगेगा। लेकिन जब मन में उदित होता है कि बाघ हरिण 'पर' दौड़ रहा है, हिरण बाघ 'से' दौड़ रहा है, तो उस गति का सौन्दर्य सहसा लुप्त हो जाता है और आनन्द समाप्त हो जाता है। कारण, गति वह अन्धी है, गुणहीन है, बिवेक का प्रकाश वहाँ नहीं है।

कमान से छूटे तीर को लीजिये, बन्दूक की गोली को लीजिये, आज के प्रक्षेपणास्त्रों को लीजिये। इस गति के वेग का भला आदमी क्या मुकाबला कर सकता है? पर इस गति में सच ही स्वयं में क्या किसी उन्नति को भी देखा जा सकता है?

नहीं। क्योंकि उनके पीछे नैतिक द्वन्द्व की व्यथा नहीं है। आदमी सदियों की चेष्टा और साधना से मानव-चेतना को बाल-भर भी ऊँचा उठा जाता है, तो इसको हम संस्कृति की उन्नति कहते हैं। वेग यद्यपि वहाँ नहीं है, और मनुष्य इस जगह पशु से कितना पिछड़ा है, फिर भी जो उसे उन्नति मानना पड़ता है, **सो** इसलिए कि वह घोर नैतिक संघर्ष में से निष्पन्न हुई होती है।

मानवोत्कर्ष है ही वह, जो नैतिक द्वन्द्व की प्रक्रिया में से फलित होता है। वही उपलब्धि कालक्रम में ठहरती है। नहीं तो आवेगजन्य झंझावात मानव-इतिहास में आया ही करते हैं।

नीति-विमुख चेतना प्रबुद्ध नहीं

अपनी ही गली में घटी कल की घटना को लीजिये। मालूम नहीं झगड़ा शुरू कैसे हुआ था। पर इधर मुँह से गाली निकली, उधर आदमी जो आठ-दस कदम आगे बढ़ चुका था, पलटकर आया और पटापट गालीवाले को उसने पीटना शुरू कर दिया। अब यह भी हो सकता था कि व्यक्ति दूसरा होता, वह गाली सुनता, ठहरता, धीमे चलकर आता और मुसकराकर परस्पर में आयी सलवटों को निकालकर मैत्री का वातावरण बना देता। इन दोनों में पहले स्थान पर तेज़ी देखी जा सकती है, दूसरे में मन्थरता। लेकिन मनुष्यता की सार्थकता दूसरी जगह है।

नैतिक को डुबा देनेवाली चेतना को प्रबुद्ध चेतना न कहकर आविष्ट चेतना कहना होगा। असल में वह विवेक-विमुख होने से दमित दशा होती है। मुक्तता का सहज भाव वहाँ होता ही नहीं। या तो क्रोध होता है या उपेक्षा होती है।

मानव का खण्डन न हो

असल में भयंकर संकट यही है। आदर्श और सिद्धान्त के नाम पर हम अपने मानस

को ऐसी जगह पहुँचा लेते हैं कि मानव का उल्लंघन हमें खलता नहीं। नैतिक आवश्यक इसलिए है कि मानव का खण्डन और उल्लंघन न हो। जिस गति में हम मानवोल्लंघन कर जाते हों, वह किसी भी मत-सिद्धान्त अथवा आदर्श के अनुसरण में हो, मानवोन्नति नहीं है, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए।

मार्क्स का वाद निश्चित रूप से अपने वादियों को उस बारे में असावधान, बल्कि उदासीन और उद्दण्ड बनाने का काम करता है। यह खतरा जहाँ से भी हो, उससे बचना होगा।

शोषक-शोषित

४७. आर्थिक, बौद्धिक, मानसिक एवं आत्मिक जीवन के सभी स्तरों पर मानव मुझे दो वर्गों में बँटा दीखता है—शोषक एवं शोषित। क्या आप इसे तथ्य नहीं मानते? इन वर्गों के उन्मूलन के लिए और वर्गहीनता की स्थापना के लिए आप क्या उपाय प्रस्तावित करते हैं?

शोषण की जड़

—असल में मूलतः मानव-समाज स्त्री और पुरुष नाम के दो वर्गों में बँटा हुआ है। कहते हैं, हर व्यक्ति में दोनों तत्त्व मौजूद हैं। उनके अनुपात की अधिकता से स्त्री अथवा पुरुष हुआ करते हैं। अब मनोविज्ञान में दो शब्द चलते हैं—Sadism और Masochism। इन दोनों शक्तियों के बीज भी हर व्यक्ति में हैं। हमारे काम के लिए, अर्थात् विचार के अवगाहन के लिए, इस मौलिक वर्ग-भेद से चलना अधिक विश्वसनीय होगा।

मान लीजिये, शोषक माने गये वर्ग का एक व्यक्ति है, समझिये पूँजीपति। उसका परिवार पूरा-का-पूरा शोषक-वर्ग का ठहरता है। लेकिन हमें क्या मालूम कि उस घर की हालत क्या है? वहाँ पति द्वारा पत्नी का शोषण बड़े मजे से चल रहा हो सकता है, बल्कि होता ही है। तथ्य यह है कि जब इस 'शोषण' को सामाजिक वर्गों में बिठाकर हम देखते हैं, तो परिणाम राजनीतिक कर्म होता है, अर्थात् वर्ग-विद्वेष की बुनियाद पड़ती है। उस तरह शोषण की जड़ हाथ आ जाती है, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ।

दमित भी शोषक

सच यह कि आदमी अनुभव में उतरे, तो वह ठीक तरह अपने को किसी वर्ग में रख नहीं सकेगा। लखपति करोड़पति का बोझ अपने ऊपर अनुभव करता है और अपने

को अपने से दीन-हीन के ऊपर बैठा हुआ पाता है। किसी स्तर पर भी कोई उन नीचे और ऊपर के दोनों दबावों से मुक्त नहीं है। नेता चोटी पर दीखता है, लेकिन अनुयायियों का कितना दबाव उस पर है, यह वही जानता है। वर्गों के बीच में ही इस हिंसा-तत्त्व को विराजमान बनाकर देखना मानो उसे अपने से दूर डालकर देखना है। इस दर्शन से सम्भव हो सकता है कि शोषण मिटाने की चेष्टावाला दल या व्यक्ति स्वयं शोषण का कारण बन निकले। अधिकांश ऐसा ही हुआ है। अमुक दमित वर्ग क्रान्ति के जोर से जब शास्ता-वर्ग बन बैठा है, तब मालूम हुआ है कि वही शोषक बन गया है।

शोषण अधिक व्यापक

वर्गों में और उन स्तरों में ही शोषण नहीं है, बल्कि उससे अधिक व्यापक है। यानी परस्पर सम्बन्धों की प्रणालियों में, समाज के सारे ताने-बाने में वह रचा हुआ है। इकाई वर्ग या श्रेणी को मानना राजनीति के प्रयोजन के लिए काफी हो, विचार और विज्ञान के लिए काफी नहीं है। वह इकाई सर्वथा ठहरायी और मानी हुई है और नित्यप्रति के व्यवहार में उसका सामना लगभग नहीं होता है। जो प्रत्यक्ष और अनुभूत है, वह वैयक्तिक धरातल पर है और व्यक्तिगत सम्बन्धों के द्वारा प्रकट होता है। उनके ऊपर होकर जिन इकाइयों की धारणा हम जमाते और जिन पर फिर अपने सामुदायिक व्यवहार को चलाते हैं, वे सापेक्ष धारणाएँ होती हैं। उनमें सत्यता को पकड़ और बाँध रखने की चेष्टा से हित के बजाय अहित होने लगता है। सत्यता उनकी सापेक्ष है और उस अपेक्षता और मर्यादा को कभी भूलना नहीं चाहिए।

शोषण हिंसा है

अहिंसा को परम धर्म अंगीकार कर लेने से लोक-जीवन की यह आवश्यकता अनायास सिद्ध हो जाती है। तब श्रेणी और वर्ग की धारणा भी मदद कर जाती है, नुकसान नहीं कर पाती। शोषण के लिए शुद्ध शब्द हिंसा है। वह इतना सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व है कि अमुक राजनीतिक क्रान्ति या दूसरे तरह के प्रोग्राम से उसका निदान व समाधान हो जायगा, यह मानना अपने को सिर्फ बहका व भरमा लेना है। बड़ी कठिन और दुर्द्धर्ष और जीवनव्यापी साधना है यह हिंसा से लड़ना और अहिंसा की मानव-सम्बन्धों में प्रतिष्ठा करना। जब उस पर चलेंगे, तो मालूम होगा कि शोषण को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है; बल्कि उसके अंग रूप में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि भी अनिवार्य होते हैं।

मिटाना हिंसा को है

अमुक वर्ग या श्रेणी का उन्मूलन ऊपर की बात के बाद आपको आवश्यक नहीं दीखेगा। उन्मूलन जब हिंसा का होता है, तो वह किसी का नाश नहीं करता है, सिर्फ उनके सम्बन्ध में पड़े हुए जहर को ही समाप्त करता है। जहर मिटने पर अन्तर और भेद भी प्यारा हो जाता है। अन्तर ही बीच में अगर न हो, तो स्नेह और प्रेम के सञ्चार के लिए भी अवकाश नहीं बचता है। प्रेम के नाते बड़ा-छोटा और ऊँच-नीच भी यदि हो तो अखरेगा नहीं, बल्कि जीवन को समृद्ध और सम्पन्न करता जान पड़ेगा। माँ को कैसे इससे रोका जा सकता है कि वह बेटे की अपने से ज्यादा चिन्ता करे और उसके सुख के लिए अपने को निछावर करती रहे। प्रेम की अन्यथा गति नहीं है, तृप्ति नहीं है। प्रेम में हम अपने को नीचे और प्रेम-पात्र को ऊँचे पर ही रखकर सन्तोष पाते हैं। इस तरह किसीका भी उन्मूलन आवश्यक नहीं ठहरता है। बल्कि एक भी विविधता व विचित्रता को कम करना जगत् की शोभा को कम करने जैसा हो जाता है। अहिंसा का आधार यही है। अनिष्ट हिंसा है, मिटाना उसको है। दुश्मनी मिटाने के लिए जब-जब दुश्मन को मिटाया गया है, तो पता चला है कि दुश्मनी बढ़ी है, मिटी जरा भी नहीं है। मिटाने की उस इच्छा में ही भ्रान्ति है, दोष है। अधूरापन है उस दृष्टि में जो रोग के मूल तक नहीं जाती, सिर्फ ऊपरी चिह्नों को मिटाने में से गौरव ले लेती है। इतिहास में आप देखियेगा कि एसी अधूरी इच्छा को लेकर चलनेवाले क्रान्तिकारी कुछ ही दूर चलने पर फिर पीछे भोगवादी, अवसरवादी, शासनवादी, दुनियाबाज़ हो गये हैं। तुलना में जिसकी क्रान्ति की आग मृत्यु के क्षण तक उसी तरह जलती रही है, उसको देखिये और समझियेगा, तो यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

वर्गहीनता क्या है ?

वर्गहीनता से आपका क्या आशय है ? क्या यह कि कभी सब लोग एक ही काम करेंगे, एक-से मकानों में रहेंगे, एक-सा खाना खायेंगे ? तो यह चित्र मनोरमता के लिए हो सकता है, सम्भवता के लिए नहीं। स्पष्ट है कि जीवन के विविध व्यापार रहेंगे। सच्ची वर्गहीनता में किसी व्यक्तित्व की सम्भावनाएँ नष्ट न होंगी और सभी अपनी विलक्षणता में खिलने का अवसर पायेंगी। वहाँ जो होगा वह यह कि पैसा रहा भी तो उसमें व्यवहार को सुगम करने की ही शक्ति होगी, उससे अधिक किसी दबाव या अभाव को सृष्ट करने की शक्ति नहीं रहेगी। इसी प्रकार राज्य या शासन यदि होगा, तो व्यवस्था की सुविधा जितना ही होगा, दमन वह नहीं लायेगा। हिंसोपकरण, जैसे अस्त्र-शस्त्र-सैन्य इत्यादि, के सहारे की जरूरत उसे न होगी।

हिंसा की शक्ति और उसके साधन उतनी ही मात्रा में जरूरी होते हैं, जितना समाज के पास अहिंसक शक्ति का अभाव होता है। वर्गहीन समाज वह समाज होगा जो प्रेम की शक्ति से चलेगा और किसीको मानने का अवकाश न होगा कि वह शोषित या शोषक है। सब परस्पर पूरक अनुभव करेंगे और परस्पर की पूर्णता में सहायक होंगे। इस समाज को वर्गहीन संज्ञा देकर यह मानना कि कोई विविधता वहाँ कम होगी, वर्गहीनता को न समझना है। आज का शासक या शोषक-वर्ग क्या चैन से रहता माना जा सकता है? चैन से यदि वह रह सकता है तो तभी जब शेष सारा समाज उसके प्रति प्रीति या विश्वास रखे। और यदि यह प्रीति या विश्वास हो, तो क्या शासक अफसर जैसा रह जायगा? वह पूरी तरह सज्जन बना हुआ दीखेगा।

कहने का आशय यह कि वर्गहीनता के लिए वर्गों को मिटाना नहीं है, बल्कि सम्बन्धों में उस सहयोगिता और स्वस्थता को लाना है जिसमें वर्ग-चेतना ही अनावश्यक हो जाय। वर्ग-चेतना जैसी चीज़ जहाँ अकारण और असम्भव होगी उसी समाज को वर्गहीन कहा जायगा।

मानव-प्रकृति और वर्ग-भेद

४८. आपके उत्तर से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आप सामाजिक वर्गों एवं विभेदों को मानव-प्रकृति में निहित परस्पर विरोधी वृत्तियों का व्यक्त परिणाम मानते हैं। पर जो मानव-स्वभाव की वृत्तियों को ही सामाजिक वर्ग-भेदों का परिणाम देखते हैं, उनके लिए हिंसात्मक क्रान्ति का पोषण अनुचित क्यों ठहराया जाय?

—अन्दर और बाहर के बीच कौन पहले है कौन पीछे, कौन कारण है कौन फल, इसके विवाद में पड़ना अनावश्यक है। वह ऐसी तात्त्विक चर्चा है, जिसे जीवन में सहज अनावश्यक किया जा सकता है। जिसकी जैसी श्रद्धा हो ठीक है। आवश्यक यह है कि श्रद्धा से गति निकले और वे गतियाँ परस्पर को विफल न करें।

परिस्थिति और मानव-मन

हिंसक क्रान्ति करनेवालों का अधिकार कोई चाहे तो भी कम नहीं कर सकता है। कम इसलिए नहीं कर सकता कि उन्हें एक अन्दर की विवशता चलाती है। लेकिन हिंसक क्रान्ति हिंसा को दूर नहीं कर सकती, इसको बताने के लिए बड़े तर्क की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परिस्थिति से चेतना बनती और उपजती है, यह मान भी लो, तो परिस्थिति क्या सिर्फ स्थान-भेद का नाम है? 'अ' ऊपर है, 'ब' नीचे है, क्या 'अ' को नीचे लाने से और 'ब' को ऊपर कर देने से मान लिया जाय कि परि-

स्थिति बदल जाती है ? मैं मानता हूँ कि परिस्थिति का सार-सत्य यह नहीं है कि कौन कहाँ है; उसकी वास्तविकता तो इसमें है कि जो-जो जहाँ हैं, उनके बीच क्या प्रवहमान है। उस समूची परिस्थिति का परिवर्तन स्थानान्तरण मात्र से नहीं हो जाता है। राजनीतिक क्रान्ति उसको महत्त्व देती हैं और जहाँ-जहाँ जब-जब क्रान्ति राजनीतिक ही रह गयी है, वहाँ वह होने के साथ ही बिगड़ भी गयी है। टिकी है तो तब, जब वह राजनीतिक से आगे सामाजिक-आर्थिक होने की ओर बढ़ी है। अर्थात् केवल स्थानान्तरण से आगे उसने मानव-सम्बन्धों पर ध्यान दिया और उनके जहर को काटा है। मानव-सम्बन्धों की भूमिका पर जब भी आप उतरेंगे, तो देखेंगे कि स्थान का विचार ही पर्याप्त नहीं है, मनोभावों का भी विचार आवश्यक है। मानो मन में पड़ा हुआ हेतु तब उतना निरर्थक नहीं रह जाता, कर्म के द्वारा मन की प्रेरणा का बाहर की स्थिति के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कर्म कोई ऐसा हो ही नहीं सकता, जो केवल स्थिति-परिस्थिति से बन जाय और दूसरे सिरे पर मानव-मन से उसका सम्बन्ध आये नहीं। हर इतिहास, हर सिद्धान्त, हर भाग्य मानवों के माध्यम से सम्पन्न होता है और इसलिए मानव-मन के साथ उसका सम्बन्ध आता ही है। परिस्थिति से चलाकर किसी तर्क को नीति से विमुक्त मान लेना चल नहीं सकता, और चलाते हैं तो खतरे से खाली नहीं हो सकता।

हिंसा और अहिंसा व्यवहार में

हिंसा और अहिंसा के विचार को तात्त्विक भूमिका पर हम न लें। वहाँ तो उसे टाला जा सकता है। उस टालने से नुकसान भी कुछ नहीं होता। लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में गर्भित हिंसा और अहिंसा की बात को तात्त्विकता में उलझाकर उस सम्बन्ध में उदासीन व निरपेक्ष हो जाते और हिंसा को उचित और अनिवार्य ठहरा लेते हैं, तो एक तरह हम नशे का सहारा लेते और पूरी तरह सचेत और जाग्रत होने से बचते हैं। अपने प्रति और इसलिए दूसरों के भी प्रति अन्याय किये बिना हिंसक कार्यक्रम को अपनाया और उठाया नहीं जा सकता। बहुतेरे ग्रन्थ हैं, जिनमें पूरी सहानुभूति से ऐसी कार्य-योजनाओं को चित्रित किया गया है; उनमें, हरएक में, यह दीखे बिना नहीं रहता कि किस प्रकार क्रान्तिकारियों को अपने प्रति अन्याय करते हुए चलना पड़ता है। नैतिक से व्यक्ति मुक्त नहीं है; हिंसक कार्यक्रमों में जब वह चलता है, तब मानो उसे हठात् मुक्त होकर ही चलना पड़ता है। परिणामतः विभक्तता का शिकार होकर अन्त में उनके व्यक्तित्वों को टूटना और बिखरना पड़ जाता है। ऐसा नहीं भी होता, तो वे बेहद कस आते हैं और भीतर कसमसाते रहते हैं।

नहीं, हिंसा के उपाय से होनेवाली क्रान्ति को मुक्ति और शान्ति का द्वार मैं नहीं मान सकता हूँ।

आक्रान्ता-आक्रान्त

४९. यदि शोषक और शोषित की जगह आक्रान्ता व आक्रान्त को रख दिया जाय, तो मैं समझता हूँ समस्या में ऐसी तात्कालिकता का प्रवेश हो जाता है, जिसका समाधान अहिंसा के पास नहीं रहता और मनुष्य के लिए शस्त्र उठाने के सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जाता। गांधीजी ने शोषक का सामना तो किया, आक्रान्ता का सामना करने का मौका उनको नहीं मिला। इस स्थिति पर आपका क्या कहना है?

—शोषण हिंसा का व्यापक व सूक्ष्म स्वरूप है। उसकी चर्चा तो ऊपर आ ही गयी है। आक्रमण में स्थूल रूप में ही हिंसा दीखती है। क्या आपके प्रश्न का आशय यह पूछना है कि आक्रमण का जवाब अहिंसा से कैसे दिया जाय?

गांधी पर आक्रमण

गांधीजी को चर्चा से बाहर भी रख सकते हैं। यों आक्रमण तो उन पर सीधे भी हुए, वचन से हुए, लाठी से हुए, गोली से हुए। उस सबके उत्तर में गांधीजी ने जो किया, वह उनकी जीवनी से जाना जा सकता है। कहा जाता है कि अन्त में गोली खाने पर उन्होंने हाथ जोड़कर 'हे राम' कहा। ईसा के बारे में भी कुछ वैसा ही सुना-पढ़ा जाता है। लेकिन इन विशिष्ट व्यक्तियों को लेने से प्रश्न को विशेषता के नाम पर कुछ अपने से दूर कर दिया जाता है। ऐसे वह खुलता नहीं, सिर्फ हट जाता है।

आक्रान्त की मनःस्थिति

आक्रान्ता से सिर्फ आक्रमण करते हुए व्यक्ति का चित्र मन में उठता है। मानो आक्रान्त और आक्रान्ता ये दोनों परस्पर सम्मुख और संयुक्त आते हैं तो केवल आक्रमण की क्रिया और क्रम से। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता है। आक्रान्त व आक्रान्ता के सम्बन्धों का सदा कुछ इतिहास हुआ करता है। पहले से उनमें सम्बन्ध चले आते हैं। इन सम्बन्धों में नाना प्रकार की उलझनें हो सकती हैं। अक्सर तो यही होता है, कभी कभी यह भी हो सकता है कि सम्बन्ध का इतिहास कोई नहीं है, अकस्मात् आक्रमण हुआ है। मान लीजिये कि रेल के डिब्बे में आप अकेले हैं और सिर्फ लूट की इच्छा से कोई एकदम अपरिचित आप पर हमला करता है। इन अनेक उदाहरणों में आपकी

प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। यह निर्भर करती है पहले तो इस बात पर कि आप क्या हैं, यानी आक्रान्त जिसको कहा गया है, वह क्या है? फिर वह निर्भर करती है आक्रान्ता के साथ के उसके सम्बन्ध पर।

मनुष्य में विचारशीलता है

अहिंसा के पास हिंसक आक्रमण का कोई जवाब नहीं है, यह मान लेना शक्ति को हिंसा में बन्द कर देना होगा। लेकिन हम देखते हैं कि प्रकृति में मनुष्य जीता है, सिंह हारा है। आक्रमण सिंह करता है और वह उसी एक विधि को जानता है। मनुष्य यदि शेर पर विजय पाता है, तो इसीलिए कि वह आक्रान्ता नहीं है, उससे कुछ अधिक है। शेर को खत्म करने के अलावा भी शेर के बारे में मनुष्य कुछ सोच सकता है। यह अतिरिक्तता ही मनुष्य का बल है और यह निश्चय ही हिंसा का बल नहीं है। मनुष्य के पास केवल हिंसा का बल रह जाता, अगर वह शेर से सिर्फ डर ही सकता। हिंसा वही है और उतनी ही है, जितना डर है। मनुष्य शेर के सम्बन्ध में डर को जीत भी पाता है। परिणाम यह है कि वह शेर को लेकर सरकस में खेल भी दिखा सकता है। सरकस के खेल से आगे की भी कहानियाँ हैं। वास्तव घट-नाएँ हैं, जब मनुष्य ने शेर को मारने की भाषा में सोचा ही नहीं है, बल्कि साधकर उसे अपना साथी बना लिया है।

प्रेम की निर्भयता

प्रश्न में हम यह मान लेते हैं कि बचना जरूरी है, मृत्यु से डरना जरूरी है। इस डर के नीचे होकर प्रश्न का विचार करने से जान पड़ता है कि मुकाबले के लिए हिंसा का बल, अर्थात् प्रत्याक्रमण ही उपाय रह जाता है। डर के रहते सचमुच उपाय वही है और उसे अपनाने में झिझक नहीं होनी चाहिए। वह डर और भी नपुंसक और निकम्मा है, जिसमें से हिंसा की हिम्मत तक नहीं निकलती। निडरता तो बढ़कर है ही, लेकिन निडरता की श्रेणियाँ हैं। सबसे पक्की निडरता प्रेम में से आती है। गांधी-ईसा की कहानियों में निडरता का वही रूप है। वह कोमल रूप है, उद्धतता का उसमें रंच अंश नहीं है। उससे उतरकर जो निडरता दीखती है, वह कड़ी पड़ती जाती है। कहा जा सकता है कि उसमें उसी सूक्ष्म मात्रा में प्रेम की जगह अप्रेम है, अथवा दूसरे शब्दों में भय, मिलता जाता है। इस सिरे पर प्रेम की निर्भयता और दूसरे सिरे पर भय की कातर कायरता के बीच में नाना प्रकार के व्यवहार हैं, जो आक्रमण के उत्तर में सम्भव बन सकते हैं।

निडरता का मूल अहिंसा में

आक्रमण डर में से होता और डर पैदा करने के लिए होता है। यह स्पष्ट है कि डर ही है जो उसे जीत या हरा नहीं सकता। निडरता से ही कुछ जवाब दिया जा सकता है, जो आक्रमण को जवाब जैसा मालूम हो। हिंसक प्रत्याक्रमण में भी कुछ अंश में निडरता का समावेश होता है। बारीकी से देखेंगे, तो मालूम होगा कि यह निडरता अहिंसा में से आती है। डर घोर होता है, तो कायर बनता है। नीचे हममें कुछ जान होती है, तो वह डर को छूकर फिर उसे हिम्मत के रूप में आगे ठेलती है। यह जान मूल में प्रेम है।

स्त्री यों कायर होती है, लेकिन बच्चे की ममता को लेकर वार का जवाब देने की दिलेरी उसमें आ जाती है। बच्चे की जगह व्यक्ति में कोई दूसरा प्रेम भी काम कर रहा हो सकता है, अर्थात् कुछ ऐसी वस्तु, जिसमें व्यक्ति को अपनी जान की परवाह तुच्छ बन जाती और मौत की बाजी आसान हो आती है।

लोभ-प्रेरित आक्रमण

आक्रमण लोभ में भी होते हैं। छोटे-मोटे नहीं, बड़े-से-बड़े इतिहास के आक्रमण तक लोभ में हुए हैं। विजेता जिन्हें कहा जाता है वे छोटी प्रेरणाओं से नहीं चलते, महत्त्वाकांक्षाएँ उन्हें चलाती हैं। यहाँ तक कि यही नहीं कि भय और लोभ उनमें नहीं दीखता, बल्कि निर्भयता और निर्लोभ दीख आता है। अलेक्जेंडर के पास, चंगेजखाँ के पास क्या कमी थी? किसका भय या किसका लोभ था कि वे दूर-दूर तक धावा बोलते चले गये? उनकी जय-यात्राओं को भय-लोभ से जोड़ना मुश्किल हो जाता है। ओज और तेज है, शौर्य और वीर्य है, जो उन्हें आक्रान्ता बनाता है। महाहिंसा की बाढ़ पर मानो वे ऐसे चढ़े हुए चलते हैं कि हिंसा उन्हें छूती ही न हो! वे जैसे इतिहास से ही प्रेरे हुए हों और पराशक्ति से चल रहे हों!

भय और हीनभाव

मैं उन बड़े उदाहरणों के विश्लेषण में नहीं जाऊँगा। उनको अनुभूति द्वारा मैं पकड़ नहीं पाता हूँ। लेकिन लोभ में भय का अंश रहता है और महत्त्वाकांक्षा के नीचे अहं का हीनभाव शायद दुबका हुआ देखा जा सकता है। आवश्यक नहीं है कि यह हीनभाव व्यक्तियों को लेकर हो, समष्टि को लेकर भी हो सकता है। महान् चेतनाएँ इसी दबाव के नीचे काम करती हैं, उद्दीप्त पौरुष यहीं से जन्म लेता है और यहीं से महिम्न दिव्यभाव सृष्टि पाता है।

पहले के प्रतीक हैं रावण, तो दूसरे भाव की प्रतिमा हैं राम। समष्टि के प्रति व्यक्ति में यह जो अगाध व्यवधान है, उसको प्रेम और भक्ति से भर पाता वह भय से उबर जाता है। परिपूर्ण भक्ति में भक्त स्वयं में भगवद्-रूप होता जाता है। इस अन्तराल को भरने के लिए प्रेम का प्रसाद जिसके चित्त को प्राप्त नहीं होता, वह मानो दमित और भयभीत, अपने अहंकार को लेकर इधर से उधर दहाड़ता और पछाड़ता हुआ दौड़ता फिरता है। जाने वह क्यों लड़ रहा है और किससे लड़ रहा है? मानो समय की और विस्तार की अनन्तता उससे झेली नहीं जाती। डर होता है और वह उस डर में ही ये सारे उत्पात करने को विवश हो जाता है।

सूक्ष्म लोभ और सूक्ष्म भय होता ही है उसमें जो अकारण आक्रमण करता दीखता है। इस हिंसा में उसे कोई हिंसा दीखती ही नहीं, जैसे वह स्वप्न में चलता है और व्यवहार की विवशताओं से कहीं उत्तीर्ण ही बना रहता है।

अहिंसा यहाँ विफल

इतिहास की ऐसी निर्वैयक्तिक शक्तियों के आक्रमण से बचने का उपाय कोई अहिंसक प्रत्याक्रमण या बचाव न हो सकता है, न हुआ है। ऐसा लगता है कि नैतिक शक्तियाँ ऐतिहासिक के आगे बेकार हो गयी हैं और यह अतर्क्य नहीं है।

हिंसक महाशक्तियों की पराजय

इन ऐतिहासिक महाशक्तियों को प्रकट करनेवाले व्यक्तियों के तल में जो अपनी ही अनन्तता का डर, और अपने अहं की अनन्तता का लोभ, विद्यमान होता है, उस कारण उन्हें अन्त में हारना भी पड़ता है। लोग कहते हैं, भाग्य से वे हारते हैं। पर शायद वे स्वयं अनुभव करते होंगे कि वे अपने से ही हारते हैं। जय उनके लिए जय जैसी रह नहीं जाती। अहं की सीमितता उन्हें काटती और खाती रह जाती है और चारों ओर का यह अगाध विस्तार उन्हें लीलता-सा मालूम होता है। यह हार उनके अन्दर बैठी रहती है और उसीसे वे लड़ा करते हैं। लेकिन अलेक्जेंडर के सामने अगर आ जाता है डायोजिनिस, जिसमें चाहे स्नेह न हो पर भय या लोभ तो और भी नहीं होता, तो अपनी ही हार क्षण के लिए उसे रस और समाधान-सा दे आती है।

अलेक्जेंडर कहता है : "मैं यह सम्राट् सामने हूँ। बोलो, क्या चाहते हो?"

डायोजिनिस कहता है : "यह कि बस, एक तरफ खड़े हो, धूप छोड़ दो।"

अलेक्जेंडर स्तब्ध रह जाता है। जैसे एक अनुभूति भीतर तक उसे कौंध जाती है।

लगता है उसे और कुछ नहीं करना है, बस एक ओर हट जाना है। धूप को दुनिया के लिए छोड़ देना है।

डायोजिनिस का यह निर्लोभ क्या अलेक्जेंडर को परास्त नहीं कर गया? अगर डायोजिनिस में दार्शनिक तटस्थता ही न होती, बल्कि बुद्ध की अनुकम्पामय ममता भी होती, तो अलक्षेन्द्र विजेता से विनत बन गया होता कि नहीं यह अनुमान की बात है। लेकिन परिपूर्ण प्रेम की निर्भीकता और निर्लोभता के समक्ष दुर्दान्त-से-दुर्दान्त आक्रान्ता परास्त हो सकता और परास्त होकर धन्य भी हो सकता है, ऐसा मैं मानता हूँ। ●

५

व्यक्ति चित् : तन्त्र यन्त्र

५०. पूँजीवादी और साम्यवादी इन दो विरोधी समाज-संगठनों को ध्यान में रखते हुए बताइये कि समाज में व्यक्ति का क्या स्थान निश्चित है और समाज के भविष्य में उसका क्या योगदान होना चाहिए ?

दोनों व्यवस्थाएँ मूलतः अभिन्न

—भाई, ये दो छावनियाँ हैं। छावनी होने की आवश्यकता ने दोनों ओर के समाज-संस्थानों को राज्य-प्रधान बना रखा है। एक में तो खुलकर अधिकार राज्य के पास माना जाता है। दूसरे में वह बात उस तरह स्वीकृत नहीं है, लेकिन अधिकांश यह अन्तर विधान के सूत्र और भाषा का है। पूँजीवादी संस्थान जिसको कहते हैं, उसमें माना जाता है कि व्यक्ति को अवसर है, अपनी सूझ-बूझ से वह काम कर सकता और उसका लाभ रख सकता है। दूसरे साम्यवादी संस्थान में माना जाता है कि काम और लाभ का वह व्यक्तिगत अवसर नहीं है। हाँ, मात्रा का थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है, लेकिन सत्ताधारी व्यवस्था में अवसर पर सत्ता का नियमन और नियन्त्रण है, तो दूसरी जगह वह नियन्त्रण पूँजी का काम कर रहा होता है। सत्ता की कृपा से इधर जो अवसर मिलता जान पड़ता है, उधर कुछ वैसा अवसर पूँजी के योग से मिल जाता है। सर्वथा स्वतन्त्र अवसर और समान अवकाश जैसी चीज दोनों समाज-व्यवस्थाओं में शायद है नहीं।

समाज के मूल्य आर्थिक

व्यक्ति का स्थान उन दोनों में ठीक कहाँ और कितना है, इस निश्चय के लिए कसौटी यह मान लेनी चाहिए कि सिक्के का और उत्पादन का मूल्य दोनों में कितना है? अर्थात् धन का यदि मूल्य हो और इसलिए कार्य के क्रम और चिन्तन की दिशा वस्तु-प्रमुख और उत्पादन-प्रधान हो, तो मुझे प्रतीत होता है कि व्यक्ति का मूल्य धन-परक, वस्तु-परक हो जायगा। अर्थात् व्यक्ति उपयोगिता और साधन का स्थान रखेगा, साध्य नहीं बनेगा। सामाजिक मूल्य आर्थिक रहेंगे, तब तक व्यक्ति केन्द्र में

नहीं आ पायेगा, किनारे रहेगा। व्यक्ति वहाँ सिक्के में तुल और बिक सकेगा। केन्द्र में तन्त्र होगा और व्यक्ति उसमें नन्हा यन्त्र होगा। सामाजिक मूल्य यदि उत्तरोत्तर नैतिक होने की दिशा में बढ़ेगा, तो व्यक्ति केन्द्र का स्थान प्राप्त करता जायगा। तब उस आधार पर संस्थान और व्यवस्था में भी मौलिक परिवर्तन होगा।

व्यवस्था विज्ञान से बहुत पीछे

आज की व्यवस्था का रूप विज्ञान की प्रगति के साथ मेल नहीं खाता। ऐसा मालूम होता है कि विज्ञान आगे बढ़ गया है। व्यवस्था का तन्त्र उसके योग्य नहीं बना, वह पिछड़ा और ओछा रह गया है। विज्ञान ने सम्भव यह किया है कि कुछ घण्टों में धरती के इस छोर से उस छोर तक पहुँच जाइये; बात बैठे-बैठे कर लीजिये; हाल-चाल, वृत्त-समाचार सब यहीं का यहीं प्राप्त कर लीजिये, इत्यादि। दुनिया को विज्ञान ने हमारे अनुभव तक में सचमुच एक उपग्रह बना दिया है। श्रद्धा और शास्त्र में ही माना करते थे कि धरती ब्रह्माण्ड का एक कण है। अब यह नित्य अनुभव और नैमित्तिक जानकारी की बात हो गयी है। लेकिन व्यवस्था मानव-जाति की राष्ट्र-राज्य की सर्वसत्तात्मक इकाई की धारणा पर ही खड़ी है। हर राष्ट्र-राज्य के पास अपनी विदेश नीति है, अपना स्वदेश-प्रेम है, अपनी फौज और अपना सिक्का है। विज्ञान ने दुनिया को एक किया है, व्यवस्था ने दुनिया को अनेक में बाँट रखा है।

राष्ट्र-राज्य में व्यक्ति शून्य

पूँजीवादी कहिये या साम्यवादी, राष्ट्र-राज्य की धारणा कहीं भी मन्द नहीं है। राजनीति, कूटनीति और उनके अधीन अर्थ-नीति उसी आधार पर चलायी जाती है। मनुष्य उस व्यवस्था में वहीं तक स्वतन्त्र है, जहाँ तक राष्ट्र और राज्य की आवश्यकता उसे स्वतन्त्र रखना सह सकती है। लेकिन राष्ट्र-राज्य स्वयं में एक ऐसी धारणा है कि यदि वह आवश्यक बनी रही, तो वह राजकारणीय आवश्यकता फैलती हुई मनुष्य-मात्र को अपने भीतर खींच लेगी। कारण, मिथ्या की आवश्यकता की कोई सीमा नहीं होती, तृष्णा अनन्त होती है। छोटे-से-छोटे देश अपने निर्यात को अधिकतम मात्रा तक बढ़ाना चाहता है, कहीं भी रुकना नहीं चाहता। सम्पन्न और धनाढ्य होना राष्ट्र की भाषा में उसे अपना हक और कर्तव्य जान पड़ता है। उसीमें से फिर आत्मविस्तार आदि की बातें सूझती हैं। सम्भव नहीं है कि राष्ट्रवादी सम्पन्नता और समृद्धि का आदर्श हमें उधर न ले जाय। उपनिवेशवाद और

विस्तारवाद उस सभ्यता में से फलित होने ही वाले हैं, जिसमें वस्तु प्रमुख और धन मूल्य है।

परमार्थ अर्थ का आधार बने

जान पड़ता है कि अपनी अर्थ-दृष्टि मानव-जाति को अब परमार्थ-दृष्टि में से प्राप्त करनी होगी, यदि उसको विज्ञान की गति के साथ रहना है। नहीं तो विज्ञान के सहारे मानव-जाति अपना आत्मघात ही सुगम बनायेगी, आत्म-निष्पन्नता उसमें से नहीं निकलेगी।

व्यक्ति ब्रह्माण्ड का केन्द्र

मैं व्यक्ति को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मान सकता हूँ। कारण, व्यक्ति चित्-खण्ड है। केन्द्र को चित् में मान लेने से सारा ब्रह्माण्ड सजीव और चिन्मय हो उठता है। वह दिव्य और ईश्वरमय बन जाता है। नर नारायण का प्रतीक हो जाता है। प्रत्येक की सम्भावनाएँ पवित्र बनती हैं और उनके बीच ऋण का सम्बन्ध अत्यावश्यक हो जाता है। व्यक्ति और व्यक्ति में घात की बजाय योग का सम्बन्ध होता है और स्पर्धा के स्थान पर सहकार का भाव उपजता है। व्यक्ति को केन्द्र, और व्यक्ति में भी उसके अन्तःकरण को केन्द्र, दिखा आनेवाला समाज-दर्शन ही अन्ततः सम्यक् दर्शन सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं समझता हूँ, इसी को चित्-दर्शन और भगवत्-दर्शन कहना चाहिए।

व्यक्ति की दुर्दान्तता

५१. व्यक्ति-चित् को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानने की बात विशुद्ध आदर्श-स्तर पर तो सही हो सकती है, पर व्यवहार-स्तर पर यह युक्ति-युक्त नहीं दीखती। कारण कि मौका मिलते ही अपने लोभ, मोह, भय अथवा महत्त्वाकांक्षा का आश्रय लेकर व्यक्ति दुर्दान्त हो उठता है और अपनी सत्ता को स्थायी बनाने के लिए वह पूरी चालाकी से नीति-धर्म, रीति-रिवाज सबका पूरा उपयोग करता है और सदियों तक अपने चंगुल को मजबूत बनाये रखता है। उसकी यह असत् वृत्ति उसके व्यक्तित्व का उतना ही वास्तविक अंश है, जितना कि दया, त्याग, निर्मोह आदि वृत्तियाँ। फिर समाज और तन्त्र के पीछे भी तो व्यक्ति ही दूसरे व्यक्तियों को कुचलता और काटता दीख पड़ता है। और ऐसा साफ दीखता है कि समाज या तन्त्र के सिर्फ नाम हैं, कर तो व्यक्ति रहा है। ऐसी स्थिति में आप क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं ?

—प्रश्न में क्या आप पूर्वापर विरोध नहीं देखते ? व्यक्ति को केन्द्र ठहराया जाय, तो इससे आपको लगता है कि उसमें समायी असत्-वृत्तियों को भी समर्थन मिल जाता है। दूसरी तरफ आप ही मानते हैं कि समाज या समूह को जहाँ सीधा मान्य किया जाता है, वहाँ भी भीतर असल में किसी एक व्यक्ति की ही निष्ठा-प्रतिष्ठा होती है। इस तरह आप दोनों ओर संकट बतला जाते हैं।

आदर्श बाहर नहीं, व्यक्ति-चित् में निहित

मुझे लगता है कि व्यक्ति को आदर्श में नहीं, व्यवहार में ही केन्द्र मानना अधिक आवश्यक होता है। आदर्श-लोक में केन्द्र तो क्या, व्यक्ति को मिथ्या तक मानें, तो चल सकता है। परम और चरम आदर्श का ही नाम तो भगवान् है। वह अखण्ड है। अब यह व्यक्ति नाम का देशकालाबद्ध जो खण्डातिखण्ड दीखता है, तो वह सचमुच अपने-आप में सत् कैसे हो सकता है ? इसीलिए सबसे बड़ा असत्य अहंकार है। ऊपर जो कहा गया, उसमें आप पायेंगे कि जब मानव-व्यक्ति को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानना बताया है, तब उसका भी केन्द्र अन्तःकरण बताया था। वहीं परमेश्वर का निवास माना जाता है। वह अखिल और अखण्ड है, घट-घट में व्याप्त और प्राप्त है। विश्व की चिन्मयता ही जैसे चित्त में प्रतिबिम्बित, प्रतिध्वनित और प्रतिकृत होती है। व्यक्ति-चित् के बिना नहीं तो निखिल की चिन्मयता अनर्थक और अननुभूत रह जाती, उसका अर्थ और अनुभव हमें अपने चित्-केन्द्र में ही प्राप्त होता है। उससे अलग कहीं किसी दूसरे माने हुए आदर्श में सत्य को बिठाने के मोह और आग्रह में से सदा अनिष्ट फलित हुआ है। जिसको आदर्शवाद कहा जाता है, वह यही प्रवृत्ति है। आदर्श को बाहर कहीं देखने से मरीचिका की सृष्टि होती और फिर सारी गति मृग-तृष्णा में भागते हरिण की तरह बौखलायी और भरमायी बन जाती है।

क्रान्तियों के मूल में यही मरीचिका

इतिहास में यही अधिकतर देखा जाता है। आदर्शवाद की झोंक में सामूहिक भाव से जाति और देश चल पड़ते हैं और राह में मानव व्यक्तियों को मौत के घाट उतारते जाते हैं। ऐसे युद्धों के समय, क्रान्तियों के समय, उन्हें निश्चय रहता है कि वे गौरव का काम कर रहे हैं। पर पीछे प्रतिक्रिया आती है और होश आता है। ये जो मानव-इतिहास में रह-रह कर तीव्र ज्वर के दृश्य घटित हो पड़ते हैं, वे आखिर किस आधार पर सम्भव होते हैं ? आधार उनके नीचे उस आदर्श का रहता है, जिसको मानव-चित् से स्वतन्त्र और निरपेक्ष प्रतिष्ठा देकर स्थापित कर लिया गया था।

साम्यवाद का आधार भी यही

आज का साम्यवादी और समाजवादी विचार क्या है? वह ऐसे ही आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयास है, जो मानव-चित् से स्वतन्त्र है। वहाँ सत्य की उपस्थिति इतिहास में मान ली जाती है, अन्तःकरण में नहीं। व्यक्ति का समर्थन मानो समूह में पड़ जाता है, अपने-आप में व्यक्ति असमर्थित और अनुचित हो जाता है। तब बहुमतवाद (Conformism) जैसे धर्म हो जाता, सत्याग्रह अधर्म। तब सत्य का स्वत्व मताधिक्य के पास आ जाता है और इक्यावन के पास इतना अधिकार पहुँच जाता है कि शेष उनचास व्यर्थ और अनर्थ ठहर आये। इस पद्धति से वाद-वादी विचार गुट की और संख्या की शक्ति को इतना बढ़ा डालते हैं कि गुण का तिरस्कार होता है, पुरस्कार और सत्कार के लिए बड़ी सदस्य-संख्या का संगठन रह जाता है।

बौद्धिक विचारवाद का संकट

मनुष्य को केन्द्र न मानने से यह सब संकट सम्भव बन रहता है। सच यह है कि बौद्धिक आदर्श-विचार में ही यह खतरा समाया है, वह विचारवाद की सृष्टि करता है। वाद गिरोह को उपजाता है और तब दलबन्दी आदमी को उन्नति का सीधा सूत्र मालूम होने लगता है। वह सत्पुरुष बनने की जगह 'सदस्य' बनता है और उसीमें कृतकार्यता मानता है। बौद्धिक विचार हमको हमसे दूर किसी आदर्श की भटक में छोड़ देता है जो फिर कहीं नहीं मिलता और जिससे असल प्यास भी नहीं बुझती। चित् को और चित्तवान् प्राणी को केन्द्र मानने का आशय यही कि व्यक्ति अपने को उल्लंघित न करे, उपलब्ध करे। मेरा सचमुच मानना है कि समष्टि की प्राप्ति 'राकेटरी' से नहीं होगी। यों भी राकेट चाँद तक जाता है, सूर्य तक भी जाय, लेकिन उसके द्वारा चन्द्र और सूर्य का ज्ञान आखिर प्राप्त किसको होता है? उसीको न, जो धरती पर है, स्वस्थ है और जिसने राकेट आसमान में भेजा होता है। वह गति, जो केवल बाहर की ओर होती है, असल में फेंकी हुई है। गति प्रगति वह है, जो चित् से जुड़ी रहती है और अन्तःप्रेरणा से ओत-प्रोत होती है। आदर्श के बाद में रागात्मक सूत्र मानो टूट जाता है और चित् विभक्त बन जाता है। चित् को अप्रधान और उस कारण मानव-व्यक्ति को केवल साधन मानने की भूल से वे सब तूफान पैदा हुए हैं, जिन्होंने मानव-चेतना को झकझोरा और विचलित ही किया, संस्कार नहीं दिया।

मनुष्य टिकता है, नारे बदलते हैं

आपने ठीक कहा है कि संस्था अथवा सामुदायिकता के केन्द्र में होता व्यक्ति ही है।

इसीलिए कहा गया, केन्द्र व्यक्ति है। कारण, वास्तव और सम्भव यही है। दूसरी संज्ञाएँ धारणात्मक ठहरती हैं और भावावेश के साथ उनकी सत्यता चमकती-बुझती है। मनुष्य टिकता है, नारे बदलते हैं। वाद नये-पुराने बनते हैं, मनुष्य सनातन रहता है। मनुष्य कसौटी है और सब वाद उस पर कसे, परखे और फेंके जायँगे। वाद के लिए जब मनुष्य बनता है, तो समझिये हालत वह होती है, जहाँ गाड़ी घोड़े को खींचती है। पर असल में गाड़ी खिंचने को है, घोड़ा खींचता है, फिर भाषा चाहे कुछ हो । बाद की पंक्ति में ही धर्म और पन्थ आ जाते हैं। वे यदि जीर्ण होते और टूटते हैं तो तभी, जब मनुष्य उनके बीच से गायब हो जाता है।

मानव-चेतना विभक्त

अब आपकी पहली बात, कि मनुष्य का सर्वथा समर्थन कैसे हो सकता है। उसमें क्या कुछ असत् है ही नहीं? कितना तो असत् और अनिष्ट उसमें भरा पड़ा है। कहाँ उसके प्रमाण और उदाहरण नहीं हैं? नृशंस कौन होता है? दानव-राक्षस कौन बन जाता है? यह सब होते हुए वह आपका मानव-व्यक्ति क्या है, जो कसौटी और केन्द्र बन सकता है? यही प्रश्न है न?

मानना होगा कि मनुष्य में स्तर है। उसकी चेतना बँटी हुई है। वह एकीकृत और एकत्रित नहीं है। इसी कारण हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य मनुष्य नहीं है। उसकी चेतना बिखर जाती है, चित् एकदम विघटित हो जाता है, तो उसी मनुष्य को ताला डालकर हम सींखचे में बन्द करते हैं; कहते हैं, वह पागल है। मनुष्य अमनुष्य हो जाता है, जब कि अपने ही चित् से वह विक्षिप्त, वियुक्त बनता है।

पर मनुष्य है अन्तःकरण

किन्तु मनुष्य का मूल्य इसमें है कि उसमें चित् है, अन्तःकरण है। मनुष्य का उस चित् से सम्बन्ध ढीला हुआ, बिगड़ा-बिखरा, तो उसी मात्रा में मूल्य खण्डित और नष्ट हो जाता है। उससे उल्टे मनुष्य अपनी अन्तश्चेतना से जितना युक्त, संयुक्त, अभिन्न बनता है, मूल्य उतना बढ़ जाता है। पूर्ण आत्मनिष्ठ और आत्मवान् पुरुष में सबको मानो आत्मदर्शन होता है। उससे सद्-दर्शन प्राप्त होता है। मानो वह एक न हो सब हो, व्यक्ति न हो समष्टि हो। उस नर में सहसा नारायण भाव हो आता है।

कारण, प्रत्येक के परम अभ्यन्तर में वही तो है, जो सब और सब कहीं है। उस अभ्यन्तर के साथ व्यक्ति-चेतना का पूर्ण योग हो, तो व्यक्तित्व उसकी सीमा नहीं, उल्टे उसका प्रकाश बनता है।

मनुष्य को केन्द्र में लो

पूँजीवाद-साम्यवाद आदि शब्दों के समक्ष यही कहना आवश्यक और अर्थकारी जान पड़ता है कि मनुष्य को केन्द्र में लो। उसको अपनी धर्म-धारणा और कर्म-विचार का मध्य-बिन्दु बनाओ। फिर जो कार्यक्रम निकलेगा, लाभ देगा। अन्यथा शब्द-वाद बढ़ेगा और चक्कर ही कटता रहेगा। अनुभव में सुख न आयेगा, न चेतना को चैन प्राप्त होगा। हमारी रीति-नीतियाँ, अर्थ-नीतियाँ, समाज-नीतियाँ, राज-नीतियाँ बहुत बौद्धिक बनी जा रही हैं। वे आदमी को लाँघ जाती हैं। अतिक्रमण के आधार पर उसका कल्याण किया चाहती हैं। ऐसे एक बड़ा विभ्रम खड़ा हो जाता है। आदमी के भले के लिए उसे ईंधन बनाकर युद्ध की भट्ठी में झोंका जाता है। यह प्रक्रिया अब तक चली आयी, यह तो खैर है। लेकिन विज्ञान के अगले चरण के साथ भी हमारी व्यवस्था की प्रक्रिया यही रही, तो बिल्कुल भी खैर नहीं है, यह पहचान लेने की जरूरत है।

५२. क्योंकि लाखों मनुष्यों में से कोई एक ही चैतन्य मिलता है और उनमें से कर्मठ व्यक्तियों की संख्या तो और भी कम होती है, इसलिए आन्तरिक नियन्त्रण के अभाव में नीति अथवा शासन-तन्त्र का बाह्य-नियन्त्रण क्या अनिवार्य नहीं है? यदि है, तो आप विभिन्न तन्त्रों में से किसको अपना समर्थन प्रदान करते हैं?

शासन और अनुशासन

—आत्मानुशासन की कमी उसी मात्रा में प्रशासन प्रधान शासन को आवश्यक बनाती है। समाज में आत्मानुशासन उत्तरोत्तर इतना वर्तमान और वर्द्धमान हो सकता है कि केन्द्रित राजतन्त्र की जरूरत न रह जाय। उसी स्वप्न और आशा में मानव-समाज बढ़ता आ रहा है। इसका आशय यह है कि शासन को अधिकाधिक अनुशासन का रूप लेते जाना चाहिए। शासन वह जो तन्त्र द्वारा केन्द्रित होता और सेना और शस्त्रास्त्र का पृष्ठ-बल जरूरी पाता है; अनुशासन का अर्थ यह कि शासन विकेन्द्रित और व्यवस्थात्मक होता जाय और इस तरह शक्ति-परक से नीति-परक होने की ओर चले। राजकारण और राजतन्त्र वे सच्चे हैं, जो प्रशासनात्मक शक्ति के उपकरणों से कम और अनुशासनात्मक नीति के साधनों से अधिक चलते हैं।

महत्त्व तन्त्र के रूप का नहीं

भाषा से वास्तविकता व्यक्त होने के साथ ढँकती भी है। इसी कारण भाषा में किसी तन्त्र को अच्छा-बुरा ठहरा देने से काम कुछ ऊपर से आसान होता हो, पर असल में कठिनाई कटती नहीं है। प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र, अधिनायक-तन्त्र, राजतन्त्र आदि-आदि

शब्द प्रचलित हैं। भारत अपने तन्त्र को गणतन्त्र कहता है। इंग्लैण्ड के तन्त्र का कुछ विशेषण के साथ राजतन्त्र माना जाता है। लेकिन चर्चा चली है कि यहाँ राष्ट्रपति का स्थान और अधिकार ब्रिटिश ताज से भिन्न है, कि अभिन्न है? बहुत अंश में शब्द और विधि का ही फेर है, नहीं तो दोनों की ही स्थिति एक है।

राजनीति के साथ व्यवहार चलाने और वहाँ प्रभावशाली होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उस भाषा में ही रहा जाय और उसके पार और पीछे न देखा जाय। अराजकीय व्यक्ति राजनेता से भी आगे राज-स्रष्टा व द्रष्टा बन सकता है। राजनीतिक शब्दावली की सत्यता बहुत सीमित है, असल में वह प्रयोजन-परिमित है। उससे आगे उसमें असलियत है नहीं। गांधीजी ने आधी सदी तक एकच्छत्र भारत के राजकारण को चलाया और वाणी में रामराज्य शब्द रखा। तन्त्र बनाया, उसे सँवारा और संभाला, लेकिन शब्द सम्मुख सदा राम-राज्य ही किया। राम-राज्य से किसी तन्त्र-विशेष का चित्र मन में नहीं बनता है। जैसे तन्त्र वहाँ कोई भी हो सकता है, आवश्यक इतना भर है कि एक भी अपने को उस राज्य में दमित, दीन और दुःखी अनुभव न करे, हर कोई अपनी बात कह सके और वह बात सीधी शीर्ष के कान तक पहुँच सके। तो जहाँ राजा और प्रजा के बीच आत्मीयता का सम्बन्ध है, उसी राज्य-व्यवस्था को बेहतर मानना चाहिए। कमिसार या कमिश्नर या अधीक्षक वगैरह नामों से कुछ अन्तर नहीं पड़ता है। चुनाव की पद्धति से माना जाता है कि प्रजा ही राजा बनती है; जो ठीक काम नहीं करता है, उसे कुछ साल बाद हम फिर चुनने से इनकार कर सकते हैं। इस तरह समझा जाता है कि गति मुक्त होती है, ऊपर का दबाव उस पर नहीं आता है। इंग्लैण्ड में राजकुल मौजूद है और अनुभव होता है कि गति उससे बँध होती है, बहुत अस्थिर नहीं हो पाती; ताज की संस्था के कारण एक स्थिरता बनी रहती है। जिसको कम्युनिस्ट तन्त्र कहते हैं, चुनाव वहाँ भी है, लेकिन दल अनेक नहीं हो पाते, एक ही बना रहता है और लगभग शत-प्रतिशत राय से शासन में चुना जाता और बागडोर थामे रखता है। वहाँ व्यक्ति-पूजा (Personality Cult) को गिराकर समिति-राज्य की पद्धति बनी है, फिर भी उसको अधिनायकवाद कहने तक की दूसरों को सुविधा है। रूप में डिक्टेटर को स्थान नहीं दीखता, फिर भी डिक्टेटरशिप चलती तो दीखती है।

तन्त्र और नीति-बल

सच तो यह है कि शक्ति जहाँ किसी भी पद्धति से, चुनाव से या रूढ़ि से, असंख्य जनों के पास से, अर्थात् जनता से, उठकर कुछ गिनती के लोगों के पास पहुँचती और वहाँ से किसी एक के पास मान ली जाती है, तो ऐसे दण्ड-शक्ति के संस्थान का निर्माण

होता है। ऐसा राज्यतन्त्र संस्कृति का यन्त्र नहीं रहता। शक्ति की जगह यदि केवल वहाँ नीति केन्द्रित हो, तो तन्त्र नैतिक और सांस्कृतिक बन जा सकता है। यों कहिये कि तन्त्र की नाम से नहीं, काम से परख होती है। परख इसमें है कि कितने अंश तक वह दण्ड-बल से काम करता और किस अंश तक नीति-बल से चलता है। जहाँ नीति ही बल है, वह राज्य शस्त्र-निर्भर नहीं होगा, क्योंकि वह विश्वास-निर्भर हो सकेगा। इस पद्धति का राज्य नैतिक और मनोव्यापी होता है, पहली विधिवाला शक्तिनिष्ठ बनता और कानून के दण्ड से प्रशासन चलाने को बाध्य होता है। गांधीजी के पास यही कसौटी थी और इसी दिशा में वह समाज और राज्य को उठाना चाहते थे। पद शासन का न रहकर सेवा का हो जाय, उसके आस-पास गर्व और गौरव के चिह्न न रहें, नम्रता और अकिंचनता के गुण दीखें, तो मानना चाहिए कि रावण-राज्य से हम राम-राज्य पर आये हैं। शक्ति-प्रधान और नीति-प्रधान राज्य की व्याख्या में जाने से अन्य सूत्र हाथ लग सकते हैं, जो तन्त्र की विधि के सम्बन्ध में भी प्रकाश दें। लेकिन वह अभी प्रश्न से दूर की बात हो जायगी।

आधुनिक तन्त्र रजोगुण प्रधान

आज जिस सभ्यता के अधीन विश्व का राजनीतिक मानस चल रहा है, वहाँ सब तन्त्र दण्डाधिकार और हिंसा-बल को अपनाकर खड़े हुए हैं। हिंसा को कितना कम-ज्यादा उन्हें उपयोग में लाना पड़ता है, अन्तर इतना ही है। बुनियाद और विश्वास सबका एक है और वह शक्ति-परक है। सब जगह आप देखेंगे कि राजसिक वृत्ति (Kinetic Energy) से प्रेरित व्यक्ति ऊपर पहुँचते हैं, सात्त्विक को पीछे और नीचे रहना पड़ता है। आज का राजा और राज-कारण रजोगुणप्रधान है। गांधीजी उसे सत्त्वगुण-प्रधान बनाना चाहते थे। विकास अन्ततः उसी दिशा में है और पूँजीवादी तन्त्र हो या साम्यवादी तन्त्र, सबको क्रमशः उस दिशा में उठते जाना है। दृष्टि जब उस सारांश पर होगी, तब तन्त्रवाद उतना प्रमुख नहीं दीखेगा, प्रमुखता स्वयं मनुष्य को मिलती जायगी।

विज्ञान और राजतन्त्र

५३. विज्ञान और यन्त्र ने नवीन राजतन्त्रों को जन्म देने में कहाँ तक योगदान दिया है? क्या सत्ता के केन्द्रीकरण में इसका पूरा हाथ नहीं है? उत्पादन एवं संहार की शक्तियों को सुरसा के मुख का-सा रूप देकर क्या विज्ञान ही आज के मनुष्य को अभिभूत और किंकर्तव्यविमूढ़ करता नहीं जा रहा है?

दोनों का विकास अन्योन्याश्रित

——समय में हम सब साथ चलते हैं। यानी राज और विज्ञान दोनों एक विकास के अंग हैं। विज्ञान और उसकी गति से उत्पन्न नये-नये यन्त्र और उनसे सम्भूत उत्पादन-विधि ने आज की राज्य-व्यवस्था को केन्द्रित रूप दिया, यह कहना गलत नहीं है। लेकिन यह कहना भी उतना ही सही ठहरेगा कि विज्ञान-सृष्ट यन्त्रोत्पादन ने जो रूप लिया, उस निर्धारण में राज्य-व्यवस्था भी कारणीभूत रही। अन्योन्याश्रित भाव के बीच में से मानव-समाज बढ़ रहा है। मैं स्वयं समग्र दृष्टि के पक्ष में हूँ, जो केवल राज्य-शास्त्र की परिधि में ही राज्य-तन्त्र का विचार नहीं करती। अब समय है कि समग्र जीवन की अपेक्षा में इन चीज़ों को देखा जाय और दृष्टि को सम्यक् बनाया जाय।

विज्ञान संकीर्ण मन के हाथ पड़ा

विज्ञान से यन्त्र मिले। यन्त्र से प्रचुर उत्पादन की सुविधा मिली। अपने-आपमें यह मानव-जाति के लिए वरदान बन सकता था। लेकिन यदि अभिशाप भी बन गया, तो इस कारण कि हमने विज्ञान की विभूति को मानवीय मानस से नहीं, जातीय और राष्ट्रीय वासना से अपनाया। विज्ञान ने तो सिर्फ फैलाव की सुविधा हमें दी थी। उसमें उपनिवेशवाद का प्रयोजन हमने अपने मानस से डाला। मूल में परम-भाव होता, तो द्रुत साधनों से हम दुनिया में दूर दूर पहुँचते, लेकिन परस्पर देशी-विदेशी नहीं बन रहते। हमारा स्वदेश-भाव ही वहाँ तक फैल जाता, यानी विश्व हमारा देश बन जाता। लेकिन वह नहीं हुआ। विज्ञान ने जो फैलाव दिया, वह सँकरे और सिकुड़े मन के हाथ पड़ गया।

अणु-शक्ति आज प्रकट हुई है, लेकिन यह बाध्यता कहाँ से आयी है कि उससे बम बनें, वही बनते जायँ, बचे-खुचे में ही हो तो दूसरा उपयोग हो। मेरा मानना है कि विज्ञान की ओर से कोई ऐसी बाध्यता और विवशता नहीं आ सकती है, जो हमारे प्रयोजन और हेतु को छोटा करे। युद्ध की आवश्यकता विज्ञान नहीं पैदा करता है। शायद हो सकता है कि युद्ध की आवश्यकता हमारे मानस में पहले पैदा होती हो और उस तेजी में से स्वयं विज्ञान गति पाता हो। एक हिटलर शासन के शीर्ष पर पहुँचकर अनेक वैज्ञानिकों को साधन सौंपकर कह सकता है कि अमुक दिशा में शोध करो और अमुक फल निकालकर दो। वैज्ञानिक राज्य नहीं बनाते, बल्कि राज्य की आवश्यकताओं के काम आते हैं।

हमें विज्ञान का बिन्दु बनना है

यहाँ वही अपनी पहली उपपत्ति को ध्यान में रखना होगा। परिस्थितियों

में से अपने मानस का अमुक निर्माण हम आवश्यक मान लेते हैं, तो काल-गति के हाथ निश्चेतन साधन बन जाते हैं। लेकिन मनुष्य रहते हम पूरी तरह यन्त्र बन नहीं सकते हैं। हम अनुभव करते हैं हम कर्ता हैं, स्रष्टा हैं। हममें स्वप्न है, कल्पना है, विधायकता है। हम भाग्याधीन क्यों, भाग्य-विधाता हैं। ऐसा गौरव मनुष्य के पास न हो, तो वह अपने को मनुष्य नहीं मान सकता, पशु बन जाता है। इसलिए कहना होगा कि विज्ञान के भी हमें प्रभु और विभु रहना है। विज्ञान यन्त्र का केवल मन्त्र देगा, लेकिन यन्त्र से काम हम वह लेंगे, जो हमें लेना है। यन्त्र के काम हम स्वयं आने लग जायँ, यह कैसे सम्भव है? और यदि यही असम्भव सम्भव बनता है, मशीन मनुष्य का उपयोग तय करने चलती है, तो इसमें मनुष्यता की भयंकर हानि होती है।

मानव-चेतना अदम्य

आपके प्रश्न के उत्तर में यही कहना होगा कि आज उस मानवास्था की आवश्यकता है, जो यान्त्रिक विवशताओं के पार देखे और यान्त्रिक उद्योगों एवं राजनीतिक आदेशों को अपनी ओर से संस्कार व दिशा दे। मानव-चेतना अदम्य है, अविजेय है। मुझे निश्चय है कि वह चेतना अपने अन्तरतम पटल को छेद और छूकर आयेगी तो वह तान्त्रिक राजनीति और अर्थनीति के पाश में घिरेगी नहीं, स्वयं उनको मुक्त करती हुई उठेगी। ●

६

प्रजातन्त्र, मार्क्सवाद, साम्यवाद

प्रजातन्त्र की योग्यता

५४. यह सोचना कि मानव नीति पर चलता तो तन्त्र को ऐसा रूप मिल जाता और कि मानव को यन्त्र का दास नहीं, स्वामी होना चाहिए था, क्या मनमाना विचार ही नहीं है? मेरा प्रश्न है कि मानव की, यन्त्र एवं तन्त्र की वर्तमान परिस्थिति में क्या प्रजातन्त्र को ही आप सर्वोत्तम एवं सर्वसफल तन्त्र नहीं मानते और क्या उसीमें आप मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता नहीं पाते?

—सभी विचार आकांक्षा और असन्तोष में से जन्म पाते हैं। लेकिन उस कारण वह व्यर्थ नहीं बन जाते। हम व्यतीत का विश्लेषण करते और विद्यमान में कुछ सत् और असत् तत्त्वों का अनुभव करते हैं। इसी विवेक में से भावी का विचार और निर्माण करते आगे बढ़ते हैं।

प्रजातन्त्र के भीतर का यह भाव सही और स्थायी है कि प्रजा से अलग और ऊपर बैठनेवाला राजा नहीं होना चाहिए। पर यह स्थिति उत्तरोत्तर प्राप्त करनी है, प्राप्त है नहीं।

प्रजातन्त्र स्पर्धात्मक उन्नति के अयोग्य

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अच्छाई इतनी है कि मूल आदर्श मुखर रहता है। लेकिन तन्त्र सिर्फ ओट बन जाय और अन्दर की असलियत यह हो कि भीतर-ही-भीतर राजकीय और शासकीय मानस पनपे, तो केवल प्रजात्मक नाम होने से उसको बढ़िया नहीं ठहराया जा सकता। तन्त्र के रूप में अधिक सम्भव है कि प्रजातन्त्र उतना सुगठित और सक्षम न हो, उसमें कई तरफ की खींचें रहें और कुल मिलाकर एकाग्रता और एकचित्तता न आ पाये—तो उन्नति की होड़ में यह प्रजासत्ताक तन्त्र ही उस राष्ट्र को आगे निकलने से रोकनेवाला हो जायगा। हमारे देखते-देखते कई लोकतन्त्र सैनिक अधिनायक-तन्त्र बन गये हैं, सो इसी कारण। आज राष्ट्र को समग्र और प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) मानकर हम स्पर्धात्मक उन्नति करना

चाहते हैं, तो तन्त्र का प्रजासत्तात्मक रूप अक्षम सिद्ध होगा। केन्द्रित और एकजुट रूप सक्षम निकलेगा।

आज की उन्नति स्पर्धात्मक है। हर राष्ट्र अपनी उन्नति चाहता है। सबकी अर्थ-रचना तथानुरूप है। सबकी कोशिश है कि निर्यात बढ़े, आयात की जरूरत घटे। सब मशीन-प्रधान और उद्योग-प्रधान होना चाहते हैं। सबमें मंडियों को पाने और पकड़ने की होड़ है। सबकी अलग मुद्रा है और सबकी व्यापार-नीति स्वार्थ-हित की धुरी पर घूमती है। इस प्रवृत्ति और आवश्यकता के अधीन राजसत्ता को एक बड़े व्यापार-तन्त्र के रूप में उठना होता है। यदि मानव-सभ्यता का रुख यही रहा, तो प्रजातन्त्र का कोई भविष्य नहीं है। वह प्रणाली शास्त्र में रहे, शायद मुँह पर भी रहे, लेकिन वास्तविकता में उसे झुठलाया जायगा। वर्तमान सभ्यता में दूसरी गति नहीं है।

मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता नामधारी प्रजातन्त्र में नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, बल्कि उल्टे उससे विनाश को निमन्त्रण मिल सकता है, यदि अनिश्चयता और मन्दता उसका लक्षण बना रहे।

अहिंसा-धर्मी प्रजातन्त्र से ही आशा

विनाश को वह प्रजातन्त्र रोक सकेगा जो अहिंसा को अपनी निश्चित नीति मानेगा। तदनुरूप अपनी अर्थ-रचना बनायेगा, शस्त्रास्त्र-निर्भरता से तत्परिणाम-स्वरूप मुक्त होगा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बेशर्त (Unilateral) निःशस्त्रता का संकल्प लेकर आगे आयेगा।

हम देखेंगे कि वह प्रजातन्त्र राष्ट्रराज्य से भी अधिक जगत् के समक्ष स्वयं मानव-राज्य के तन्त्र का नमूना पेश कर आता है। शासन का रूप वहाँ अनुशासन है। वह केन्द्रित कर्म-एवं-व्यापार-तन्त्र नहीं है, जन-विश्वास के आधार पर स्थित सर्वथा नीतितन्त्र है। राज्य मानो वहाँ केवल अन्तःकरण है, लवाजमा नहीं है। ठोस रूप उसका धीरे-धीरे कम होता जाता है; व्याप्त महत्त्व उसका बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि शासन-मुक्त समाज का रूप उससे क्रमशः प्रकट हो चलता है।

प्रजातन्त्र इस दिशा में विकास पा सके, तब विनाश ही न बचेगा; बल्कि स्वयं मानवता को परिष्कार प्राप्त होगा। अन्यथा अश्रद्धा बढ़ेगी, श्रद्धा संज्ञा ही टूटेगी और विश्वास फिर शस्त्र-शक्ति के आधार को ढूँढ़ेगा। आधुनिक स्थिति यही दिखा रही है। हिंसा और प्रजातन्त्र दोनों साथ चलते हैं, तो झूठ चलता है। और झूठ चल नहीं सकता। इसलिए एकदम निश्चित है कि अहिंसा को खुली आँखों अप-

नाने की हिम्मत से और तत्पर आचरण से ही प्रजातन्त्र भावी का तन्त्र हो सकता है। नहीं, तो नहीं।

अहिंसात्मक राष्ट्र की सफलता

५५. क्या आपकी राय में वर्तमान परिस्थितियों में कोई राष्ट्र स्पर्धात्मक राष्ट्र-नीति को त्यागकर और तथाकथित अहिंसात्मक नीति एवं निःशस्त्रीकरण को अपनाकर अपना अस्तित्व बचाये रख सकता है? अकेला चूहा बिल्ली के गले में घण्टी बांधने चलेगा, तो मृत्यु के मुख में ही जायगा।

वही सबको बचायेगा

—अपने को ही नहीं, साथ सबको भी ऐसा ही राष्ट्र बचा सकेगा! लेकिन राष्ट्र को अपने पूरेपन में वैसा होना होगा। सिर्फ राजनीतिक आशावाद में से वह घोषणा नहीं आ सकती। उसको अपना अर्थतन्त्र नीचे से उसी प्रकार उठाना और बनाना होगा। आज के अर्थ-जाल में राष्ट्र परस्पर ऐसे अनुबद्ध हैं कि सच पूछिये तो विश्व-युद्ध में तटस्थ तक कोई नहीं रह सकता।

एक नहीं, तो आपकी कल्पना में सब चूहे मिलकर बिल्ली को जरूर जेर कर सकते मालूम होते हैं। लेकिन सब कभी नहीं मिलेंगे, अगर मिलेंगे और बिल्ली को कभी काबू कर पायेंगे तो तभी, जब सचमुच कोई एक अकेला चूहा बिल्ली के गले में घण्टी बाँधने बढ़ने का साहस दिखायेगा! भय से भी अधिक साहस संक्रामक होता है।

साहस भी संक्रामक होता है

भय संक्रामक होता है, यह आप जानते हैं, मैं जानता हूँ। लेकिन विश्वास और साहस उससे भी संक्रामक होते हैं, यह भी आप-हमको जानना चाहिए। तीली एक और नन्हीं-सी होती है, जलकर भस्म होनेवाला जंगल बियाबान और भयानक होता है। तीली की आग क्या अपने पर शरमाकर जंगल के भयानकपन से डरी रह जाय? वह नहीं हो पाता और तीली जंगल को जला डालती है। बिल्ली के सामने चूहा तो भी है, भयानक अग्निकाण्ड की घोरता के सामने तो बीड़ी की सुलग उतनी भी नहीं है। अरे, अणु के जमाने में एक की और अल्प की सम्भावनाओं से हम अनजान बने रहेंगे? उससे मुँह मोड़ेंगे? अब तक शायद यही होता आया है। 'बहुत' का भरोसा किया है, कण को कम समझा है। आइन्स्टीन के सूत्र ने आँखें खोल दी हैं और समष्टि को अणु में ला दिया है। ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड में भी

है। यह सत्य आध्यात्मिक से भौतिक हो गया है। उस अणु के जमाने में आप यह क्या कहने बैठे हैं कि एक राष्ट्र अपनी ओर से पहल नहीं कर सकता। पहल एक की ओर से ही होगी। फिर दूसरों को एक-एक कर उस पाँत में आना ज़रूरी बनता जा सकता है।

मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि

आज रूस और अमरीका की दो छावनियाँ हैं। शिखर-सम्मेलन हुए हैं और हो रहे हैं। निःशस्त्रीकरण की चर्चा निरन्तर है। शान्ति दोनों महादेश चाहते हैं। अणु-शस्त्रों का निष्प्रयोग चाहते हैं, विसर्जन चाहते हैं। राष्ट्र-नेता दोनों तरफ अच्छे, सच्चे और बहादुर हैं। लेकिन चलते एक-दूसरे की तरफ शर्त के साथ हैं। 'हम करते हैं, अगर तुम भी करो', 'हम जितना करें, उतना करोगे?' 'तुम करके दिखाओ, तो फिर देखना, हम क्या कर दिखाते हैं' इत्यादि। मगर यह शर्त के साथ मानना सच्चा मानना नहीं है। क्यों वे बहादुर लोग पूरे और खुले तौर पर नहीं मान पाते हैं? इस अधूरेपन का क्या कारण है? कारण है कि वे राष्ट्र-नेता हैं। राष्ट्र का प्रतिनिधि ऐसा हो सके, जो मानवता का प्रतिनिधि और मानव-नेता भी हो, तो क्या वह भी शर्त रखेगा? शर्त किसके साथ रखेगा? शस्त्र किसके खिलाफ रखेगा? आज का हमारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र राष्ट्र-प्रतिनिधियों, राष्ट्र-नीतियों और कूटनीतियों का क्षेत्र है। मानव-नीति और मानव-प्रतिनिधि किसी राष्ट्र में, और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्र में, प्रमुखता पायेगा, तो दृश्य दूसरा दिखाई देगा। पर शायद उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

५६. वर्तमान परिस्थितियों में अहिंसात्मक अर्थ-नीति और राज्य-नीति को अपनाने के लिए एक राष्ट्र को क्या करना होगा, यह किंचित् स्पष्ट व स्थूल रूप में समझाइये।

मनोभाव और जनोत्साह की पूँजी

—यह काम मुश्किल है। मेरे हाथ में राष्ट्र कोई नहीं। राष्ट्र की कल्पना को लेकर ही यह काम करने लग जायँ, तो नक्शा बनेगा, काम नहीं बनेगा। दोनों में अन्तर होता है। नक्शे में गणित से और विज्ञान से काम चल जाता है। काम के वक्त एक नया और अनिश्चित तत्त्व सामने आता है और वह तत्त्व होता है, मनुष्य। उसके अभाव में नक्शा भरपूर सही होकर भी झूठा पड़ सकता है। और यह भी देखा गया है कि नक्शा नहीं है और, केवल और नितान्त पुरुष ने आकर चमत्कार कर दिखाया है। चेतन का क्षेत्र ऐसा ही है। इसलिए आपके प्रश्न के कार्यक्रम से

भी पहले मैं मनोभाव और जनोत्साह की पूँजी माँगता हूँ। तब आपके प्रश्न का रूप बन जाता है कि वह जनोत्साह कैसे उदय में आये, कैसे प्रकट हो?

समिधा की आकृति ?

यों आकाश में सूरज है। वह मूर्तिमान् अग्नि है। लेकिन सूरज से हमारे काम-काज नहीं होते। उसके लिए अपने पास से चिनगारी प्रकट करनी होती है। उस चिनगारी को पाने के नाना उपाय निकले हैं। कल एक जापानी बन्धु यह अपना सिगरेट-लाइटर मेरे यहाँ भूल गये। सदा यह उनकी जेब में चलता होगा। वक्त पर चिनगारी दे आता है, बाकी समय जेब में सोया पड़ा रहता है। तो मैं उस चिनगारी की बात ही कर सकता हूँ। अपने दर्प को, अहं को, कामना-आकांक्षा को समिधा की तरह हाथ में लेकर ध्येय की आस्था और उसके प्रेम में स्वाहा करते हैं, तो चिनगारी पैदा होती है। मूलतः वह चाहिए। फिर उस जड़ से वृक्ष फूटेगा, जो समूचे राष्ट्रीय और आर्थिक कार्यक्रम को पुष्पित और फलित करता हुआ उठेगा। शेष उसकी विधि और स्वरूप के चित्र के लिए हमारे पास गाँधीजी का उदाहरण और साहित्य है।

५७. समस्त यन्त्र-विज्ञान मुझे शृंखला की तरह अन्योन्याश्रित प्रतीत होता है। कोई भी दुर्घटना सारे क्रम को विचलित एवं भ्रष्ट कर सकती है। क्या आप किसी भी ऐसी दुर्घटना की कल्पना कर सकते हैं—यदि ऐसा कभी हुआ, तो इन नवीन राज्य-तन्त्रों की क्या स्थिति होगी? क्या दुनिया फिर पूर्व मध्यम युग (Pre-medieval Period) में नहीं लौट जायगी?

——यन्त्र विज्ञान के फल हैं। यन्त्रों का प्रयोजन बदल सकता है और बदलेगा। उस अर्थ में अमुक चीज का कारखाना खुद अनावश्यक होकर खतम हो सकता या दूसरी चीज तैयार करने लग सकता है। लेकिन विज्ञान स्वयं खतम हो, ऐसी किसी परिस्थिति की मैं कल्पना नहीं कर सकता, सिवा इसके कि आदमी ही खत्म हो जाय।

विज्ञान नष्ट नहीं होगा

विज्ञान ने यन्त्रों की प्रक्रिया दी। लेकिन उन यन्त्रों को हम किस काम में लायें, यह निर्णय विज्ञान में से नहीं, बल्कि हमारी मानसिकता और सभ्यता में से आया। वह मानसिकता और सभ्यता टूटेगी, यह तो साफ दीखता है। कारण, यन्त्र को वह नकारात्मक और संहारात्मक वासनाओं की पूर्ति में बढ़ाती और लगाती है। लेकिन सभ्यता के गिरने से स्वयं विज्ञान क्यों गिरेगा? अरब सभ्यता, मिस्री

सभ्यता, ग्रीक सभ्यता, रोमन सभ्यता आदि उठीं और गिरीं। लेकिन उनके साथ अमुक जातियों का उत्कर्ष और गौरव भले लुप्त होता चला गया हो, ज्ञान नष्ट नहीं हुआ। वह हाथों-हाथ उत्तराधिकार के रूप में केवल स्थानान्तरित होता गया। मानव-जाति के पास केवल वह सुरक्षित ही नहीं रहा, बल्कि संवर्द्धित भी हुआ।

चेतना पीछे नहीं लौटेगी

वस्तु-विज्ञानों को मानवताओं (Humanities) के साथ चलना होगा। उनमें जब परस्पर सन्तुलन बिगड़ेगा कि संकट बना दीखेगा। लेकिन संकट का परिणाम और अन्त सिवा इसके दूसरा नहीं होगा कि उसको पार करके मानव-जाति फिर नये सन्तुलन और समन्वय की ओर उठे।

भविष्य यों अज्ञेय है। यही उचित भी है। इसी कारण उसके प्रति हमारा दायित्व पुरुषार्थ और निर्माण का बना रहता है। लेकिन अब तक के अतीत की प्रक्रिया को समझने से भविष्य के सम्बन्ध में विश्वासी बना जा सकता और भय से मुक्त रहा जा सकता है। तूफान इससे पहले भी मानव-जाति के भाग्य ने कम नहीं भोगे हैं, लेकिन मानव-चेतना टूटी नहीं हैं, निरन्तर वर्द्धमान रही है। मुझे विश्वास है, वर्तमान सभ्यता के विकट संकट का काल भी पार होगा और विज्ञान का योग अनिष्ट से टूटकर आगे इष्ट के साथ हो चलेगा। चेतना को पीछे नहीं लौटना है, आगे ही बढ़ना है। दूसरा कुछ सम्भव नहीं है।

५८. मेरा प्रश्न यह था कि सत्ता का जो निगूढ़ केन्द्रीकरण और उसके प्रयोजन में जो उलझाँव दृष्टिगत होता है, क्या वह यन्त्र द्वारा ही प्रेरित नहीं है? विज्ञान तो नष्ट नहीं हो सकता। पर क्या इन यन्त्रों से भी मानवता का पीछा कभी नहीं छूटेगा? साम्यवाद का जो स्वरूप आज सामने है, वह यन्त्रों की ही देन है, इससे आपको इनकार क्यों है?

चेतना प्रधान, यन्त्र गौण

—आपके प्रश्न से मेरे मन में यह प्रश्न उठता है कि यन्त्र किसकी देन है? जिस मानसिकता की वह देन है और जो उनका उपयोग लेती है, उसको मैं परिणाम भर मानकर यन्त्राधीनता को अनिवार्य स्वीकार नहीं करना चाहता। अब भी मैं मानता हूँ कि मानव यन्त्राधीन से अधिक यन्त्रारूढ़ है। ऐसा न हो तो रेल में हम बैठें नहीं, बल्कि उसके नीचे पिसा करें। यन्त्र की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, यह मैं स्पष्ट देखता हूँ। इसलिए चेतना को पहले और यन्त्र को बाद में रखना चाहता हूँ।

कारण, यह क्रम यथार्थता का, स्वस्थता का है। अस्वस्थता तब आती है, जब मशीन मानव पर सवार होती और मानस में ज्वर भरती है। कुछ उस अस्वास्थ्य के लक्षण हैं, तभी यह चर्चा आवश्यक हुई है। लेकिन अगर यह मान लें कि यन्त्रों की बेबसी में से सब कुछ हुआ है, होता है और हो सकता है, तो फिर दुष्ट-चक्र में से निस्तार पाने की कोई राह ही नहीं बचती। राह है तो यही कि मनुष्य की अन्तश्चेतना उद्दीप्त हो और वह मशीन को अपने नियोजन में रखे।

साम्यवाद के नीचे मार्क्स-दर्शन, यन्त्रवाद नहीं

साम्यवाद के स्वरूप के नीचे मैं पूछूँ कि यन्त्र अधिक है या मार्क्स-दर्शन अधिक है? उसके शरीर में और कर्म-व्यापार में यन्त्रोद्यम जितना भी हो, लेकिन उसकी समग्रता को स्वरूप-निर्देश क्या मार्क्स-दर्शन में से ही नहीं मिलता? ख्रुश्चेव क्या यान्त्रिक और वैज्ञानिक है? स्टालिन या लेनिन क्या यन्त्राचार्य थे? मैं उसी मानस-दर्शन की बात कहता हूँ, जो दिशा और प्रयोजन से जन-मन को भर देता और तदनुसार यन्त्र-नियोजन करता है। जरूर नवीन दर्शन उसका स्थान ले सकता है और तब यही मानव-यन्त्र और लौह-यन्त्र कुछ और कर दिखाने लग जायँगे। मार्क्स-दर्शन ने अपने समय का काम दिया। अगले समय के लिए कोई समग्रतर दर्शन आ सकता है। अगर भावी के प्रति हममें निष्ठा हो, तो हम मान लें कि वह दर्शन आयेगा और शायद स्थिति के गर्भ में इस समय भी वह आकार पा रहा हो।

मार्क्सिज़्म और वर्गवाद

५९. तब क्या आपकी मान्यता है कि मार्क्सवाद अपना काम कर चुका और वह मानव का भविष्य बनने की क्षमता अब नहीं रखता?

—हाँ! वर्गवाद की बात अब उतनी जन-मानस को पकड़ती नहीं है। स्वयं साम्यवादी विचारक मार्क्स को आगम-शास्त्र की भाँति अब नहीं ले पाते हैं।

मार्क्सिज़्म और साम्यवाद

६०. आपकी दृष्टि में क्या मार्क्सवाद और साम्यवाद में काफी अन्तर है और वह अन्तर बढ़ रहा है?

—हाँ, मार्क्सिज़्म सिद्धान्त और वाद है, कम्यूनिज्म कर्म-प्रक्रिया और वास्तविकता है। इसलिए मार्क्सिज्म दर्शन है, कम्यूनिज्म राज-कारण है। संगठन और तन्त्र-व्यवस्थापन से अलग करके कम्यूनिज्म का अस्तित्व नहीं रह जाता है।

वह किताब में नहीं है, क्रिया में है। मार्क्सिज्म का घर किताब है, कम्यूनिज्म व्यवहार में बसता है।

दोनों के बीच फासला बढ़ा है

हर सिद्धान्त की कसौटी जीवन-व्यवहार में होती है। जीवन विकासशील है। इसलिए अनिवार्य होता है कि प्रत्येक मत-वाद और सिद्धान्त समय के साथ अपनी ही कर्म-प्रक्रिया और परिणति से पिछड़कर दूर हटता और किनारे छूटता चला जाय। मूल मार्क्सिज्म और अद्यतन कम्यूनिज्म के बीच काफी फासला हो गया है और राष्ट्र-जीवनों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे पीठ की ओर चलकर वापस मार्क्स-सिद्धान्त में जा बैठें। विश्व-विस्तार में जैसे-जैसे कम्यूनिज्म को आगे बढ़ना होगा, वैसे-वैसे मालूम होगा कि मूल मत-वाद दूर पड़ गया है।

६१. तब कम्यूनिज्म की प्रगति की दिशा क्या प्रतीत होती है? क्या कम्यूनिज्म सहिष्णुता एवं विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ेगा और मानव-चेतना को आवश्यक मान्यता प्रदान करने का प्रयासी होगा?

कम्यूनिज्म हिंसा को त्यागेगा?

—हाँ, वर्गवाद, वर्ग-विरोध, वर्ग-विद्वेष, वर्ग-संहनन की भूमिका से उसे मुक्त होना होगा। ऐसा करने से लगभग वह हिंसा के विश्वास से मुक्त हो जायगा। तब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कुछ एकात्मवाद की भावना के निकट पहुँचेगा। लेकिन तब वह कम्यूनिज्म के रूप में ही बना और बचा रहना चाहेगा, यही क्यों आवश्यक है?

उसके नाना संस्करण होंगे

आज भी सुनते हैं, रूस और चीन में अन्तर है। दोनों देश कम्यूनिस्ट हैं, पर दोनों के लिए उसका चरितार्थ भिन्न है। कारण, दोनों की राष्ट्रीय स्थिति और परिस्थिति भिन्न हैं। कम्यूनिज्म कोरा सिद्धान्त तो नहीं है। वह तो सजीव और सक्रिय राजनीति है। इसलिए देशों की अपनी-अपनी राजकीय स्थितियों का प्रभाव क्यों न होगा और कम्यूनिज्म के ही नाना रूप और संस्करण क्यों न बन जायँगे?

उसमें भावना का प्रवेश होगा

कम्यूनिज्म वैज्ञानिक समाजवाद की बुनियाद पर खड़ा मानो वैज्ञानिक कर्मवाद है। भावुकता के लिए वहाँ जगह नहीं। लेकिन राजनीतिक नेता को

मानव-सामग्री से काम लेना होता है और मनुष्य चलता भावना की बारूद से है। इसलिए भावना का पहलू लोक-नेता के लिए उतना नगण्य नहीं रहता।

धर्म को जगह मिलेगी, छावनियाँ टूटेंगी

भावना-पक्ष कम्यूनिज़्म की वैज्ञानिकता में प्रवेश पायेगा। तो क्या रासायनिक प्रक्रिया होगी, कहना मुश्किल है। मार्क्सिज्म ईश्वर के और धर्म के लिए जगह नहीं छोड़ता। कम्मूनिज्म में उनके लिए जगह रखनी पड़ जाती है। राज्य के रूप में बिलकुल सम्भव है कि धर्म को प्रश्रय और सहायता भी देनी पड़ जाय। राज्य को कब भावनात्मकता के सहारे की ज़रूरत नहीं होती ? धर्म इसमें बड़े काम आ सकता है। धर्म का मेल होने पर साम्यवाद क्या चीज बनेगा, यह सोचने की बात है। एक तरह वह धर्महीनता का धर्म है। दो धर्मों का मेल आसान नहीं होता। लेकिन जरूरी हो जाय तो क्या होगा, यह भविष्य ही जाने। मुझे लगता है, मेल तो अनिवार्य है। एक ही किनारा कभी होता नहीं है, दूसरा हो तभी प्रवाह वीच में सम्भव है। जीवन को भी दो तट चाहिए ही। वाद और प्रतिवाद एकान्तिक किनारे खड़े कर लें, पर जीवन उन्हें किनारे ही रखता है। जब वाद की कट्टरता ओछी और अधूरी पड़कर हमसे छूटेगी, जीवन की स्वीकारता हममें आयेगी, तो सह-अस्तित्व से आगे सहकार-सहयोग के रास्ते ऐकात्म्य की ओर हम बढ़ेंगे। पर तब छावनियाँ टूट जायँगी, समाज मानव-समाज होगा और विज्ञान बड़ी-से-बड़ी दूरी को नष्ट कर चुका होगा।

पूंजीवाद और साम्यवाद

६२. छावनियों का जिक्र आपने ऊपर किया। छावनियाँ विश्व में इस समय दो ही हैं, साम्यवादी और पूँजीवादी। इन दोनों भौतिकवादी अर्थ-प्रणालियों के बीच जो विरोध है, वह क्या केवल सैद्धांतिक ही हैं ? उससे अधिक कुछ नहीं ?

दोनों में बुनियादी अन्तर नहीं

—"सैद्धान्तिक" और "सैद्धान्तिक से अधिक", प्रश्न के इन शब्दों का आशय मैं ठीक नहीं समझा। सैद्धान्तिक मूलगत और बुनियादी को भी कह सकते हैं। लेकिन उन दोनों प्रणालियों में जो विरोध अथवा विग्रह है, उसे उतना बुनियादी मैं नहीं मानता। इसलिए सैद्धान्तिक भी मैं नहीं कहना चाहूँगा। बल्कि उसे शाब्दिक अधिक कहना चाहिए। पूँजी नियामक तत्त्व के रूप में दोनों जगह व्याप्त है। राज्यवाद को अतिरिक्त केन्द्रित-पूँजीवाद क्यों नहीं कहा जा सकता ? साम्य-

वादी जिन्हें कहा जाता है, वहाँ भी समाज-व्यवस्था का नियमन सिक्के से होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में शायद पूँजीपति एक से अधिक हो सकते हैं। साम्यवादी व्यवस्था में समस्त पूँजी का पति एक है और वह राज्य है। सच यह कि पूँजीवादी अथवा स्वतन्त्र व्यवस्थावाले देशों में भी पूँजी अपने ही ज़ोर से कम हाथों में और अन्त में एक हाथ में संग्रहीत होने की ओर बढ़ रही है। कहना चाहिए कि इसी प्रवृत्ति का तर्कान्ति रूप साम्यवाद है। पार्लियामेंटरी डिमोक्रेसी में अनेक दल होते हैं, क्योंकि अनेक स्वार्थ होते हैं। ये दल क्रमशः घटकर मुख्यता से दो रह जाते हैं, अर्थात् प्रमुख स्वार्थ दो पंक्तियों में संगठित हो जाते हैं। यदि एक दल बहुत प्रबल हो जाय, तो विरोधी स्वार्थ को वह मिटा सकता और सर्वाधिपति के रूप में ऊपर जा सकता है। यदि राज्य को ही जीवन का केन्द्र बनना है, जिसका आशय है सिक्के का केन्द्र बनना, तो एक दल और एकच्छत्रवाली व्यवस्था अधिक निरापद समझी जायगी।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का नारा

यों एक ओर नारा है व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का भी। दूसरी ओर का उद्घोष व्यक्ति को अभाव के भय से मुक्ति देने का है। 'बेकाम और भूखे रहने के लिए व्यक्ति यदि स्वतन्त्र है, तो वह स्वतन्त्रता की विडम्बना ही है। अमीर बनने की स्वतन्त्रता दूसरे सिरे पर गरीब बनने की स्वतन्त्रता रह जाती है।' इस नाम और तर्क पर साम्यवाद अपने सम्बन्ध में निर्भ्रम हो जाता और राज्य को पूरी तौर पर नियामक संस्था बनाने का समर्थन पा जाता है। दूसरी ओर स्वतन्त्रता को आदर्श-स्थिति माननेवाला कहता है कि 'राज्यसत्ता ही यदि अभाव भरने और भोजन-वसन देने-वाली हो, तो स्वाधीन-चेता पुरुष का क्या होगा? राज्य मालिक होगा, तो शेष को उसके अनुगत बन कर रहना होगा। स्वाधीन-चिन्तन और स्वाधीन-साधना की प्रेरणा व प्रोत्साहन की सामग्री उस राज-नियन्त्रित समाज में से मिल नहीं पायेगी। मनुष्य इसलिए वहाँ मनुष्यता के वैभव की दृष्टि से दीन-हीन और सम-सामान्य रह जायगा।'

दोनों शरीर-प्रधान, तन्त्र-प्रधान

इत्यादि तर्क दोनों ओर से एक-दूसरे के लिए दिये जाते हैं। मुझे नहीं प्रतीत होता कि दोनों में किसी ओर व्यवस्था-संगठन गौण और मनुष्य प्रधान है। जान पड़ता है कि दोनों धारणाएँ तन्त्र-प्रधान हैं और दोनों ही उस सभ्यता की अंग रूप हैं, जो शरीर-रचना को प्रथम और मनोभाव को द्वितीय स्थान देती है। इस मूल के

बिन्दु और कोण से देखें, तो पूँजीवादी अथवा साम्यवादी व्यवस्थाओं में जो अन्तर दिख रहा है, वह संस्कृति की दृष्टि से उतने महत्त्व का नहीं रह जाता।

मानव-चेतना के लिए जो मूल प्रश्न है, वह यह कि आन्तरिक स्नेह-स्फूर्ति को जीवन के बाह्य परिवेश से कितना अवकाश और सहारा प्राप्त होता है। अगर समाज परस्पर स्पर्धा के सम्बन्धों से चलता है, तो मानवीय गुणों पर जोर पड़ता है, बौद्धिक अस्मिता जागती है। मन में परार्थभाव मन्द होता और स्वार्थभाव तीखा पड़ता है। यह परिस्थिति हर दो को परस्पर में ऋण करती है, संयुक्त नहीं करती। एक की सम्भावनाएँ मानो दूसरे को अस्त करने की शर्त पर ही उदय में आ सकती हैं। अर्थात् आर्थिक विचार समाज के परस्पर संयोजन को परिपूर्ण कर नहीं सकता। वह यदि किसी समुदाय को सम्पन्न करता भी है, तो इस शर्त पर कि समक्ष प्रति-स्पर्द्धा के लिए कोई दूसरा समुदाय हो, जिसको परास्त करना हो।

साम्यवाद : एक आर्थिक विचार

पूँजीवादी विचार प्रकट में ही आर्थिक है। साम्यवादी विचार भी सर्वथा आर्थिक है। उसकी मूल प्रेरणा आर्थिक खुशहाली है। कुछ की आर्थिक सम्पन्नता के प्रति आकांक्षा और सम्पन्नता के वर्तमान भोक्ताओं के प्रति विद्वेष जगाने से उसका काम सधता है। साम्यवादी राज्य के सामने पूँजीवादी देश अगर न हों, तो मालूम होता है कि उत्साह का आधार वहाँ नहीं रह जाता। इस प्रेरणा को प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा ही माना जायगा। अर्थात् आर्थिक सम्पन्नता व समृद्धि के लिए जो मनुष्य के अन्दर स्वगत-वासना छिपी रहती है, आर्थिक सभ्यता उसी नींव पर उसीको लहकाती हुई बढ़ती है। इसमें मनुष्य की स्निग्धता सूखती और जलन जागती है।

आर्थिक की जगह पारमार्थिक यदि मूल्य हों, तो व्यक्ति अपने पड़ोसी की कीमत पर बड़े बनने का विचार नहीं अपनायेगा। बल्कि पड़ोसी को बड़ा बनाने में तृप्ति का अनुभव करेगा। वर्तमान सभ्यता में उस वृत्ति को चेताने की सामग्री नहीं है।

७

वैज्ञानिक अध्यात्म

सह-अस्तित्व

६३. वर्तमान सभ्यता के इस अभाव की पूर्ति क्या पंचशील के सिद्धान्त से हो सकती है? क्या दोनों छावनियों का सह-अस्तित्व व्यावहारिक है?

कागजी व्यावहारिकता

—व्यावहारिक तो सह-अस्तित्व ही है। अन्यथा युद्ध और उसकी तैयारी को ही व्यावहारिक मानना होगा, इस अर्थ में कि युद्ध के प्रयोग के लिए सब देश चौकन्ने हैं और तैयारी कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि सह-अस्तित्व कागजी व्यावहारिकता है, मन के गहरे में वह नहीं है।

सह-अस्तित्व परस्पर के बीच रेखा को पक्की करता और उस मर्यादा को सबसे कायम और अन्तिम ठहराता है। वह राज्य की सार्वभौम (Sovereign) सत्ता को स्वीकार करता है। इस आशय में तो यह सिद्धान्त सत्य है कि वह हिंसा और आक्रमण के अधिकार को सीमित करता है। लेकिन अहिंसा के अधिकार को भी सीमित करने की ओर बढ़ता है, तो वह एकदम असत्य बन जाता है। तब मानव-गत आपसी स्नेह और सहानुभूति का उससे अपमान होता है।

आज के पंचशील का सह-अस्तित्व केवल राजनीतिक है। दक्ष जन कहते हैं कि संप्रति तो वह है तक नहीं। 'बांडुंग' बीती बात बन गया है। इसलिए उसको बहुत ज्यादा महत्त्व देने में वैधानिक दृष्टि से भी कुछ अर्थ नहीं रह गया है।

वह अधिकार की सीमा बाँधे

आज के ही 'कांगो' के सवाल को लीजिये। यह कैसे हो सकता है कि वहाँ जो हो रहा है, दुनिया के अन्य देश भी उसके साथ वास्ता अनुभव न करें। कल जो तिब्बत में हुआ था, उसके प्रति यदि मानव-समाज की संवेदना और सहानुभूति सम्भव एवं समर्थ नहीं हुई, तो इसको अप्राकृतिक ही मानना चाहिए, प्रकृत वह नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से भारत का चुप रहना धर्म हो सकता है और चीन के तत्सम्बन्धी

अधिकार के बारे में सन्धि आदि का हवाला देकर मुँह खोलने से वह बाज रह सकता है। पर नैतिक दृष्टि से क्या पीड़ा प्रकृत नहीं है? मौन अधर्म नहीं है? पंचशील मानव-धर्म के अधिकार को एवं मानव-सहानुभूति को बाँधनेवाला हो, तो वह गलत है। अनधिकार की सीमा बाँध, वहीं तक ठीक है।

शक्ति-सन्तुलन

६४. किसी अंग्रेज ने शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) के सिद्धांत को जन्म दिया था। वर्तमान परिस्थितियों में इस सिद्धान्त की उपयोगिता पर आपके क्या विचार हैं?

वह प्रकृत हो सकता है

शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को आप प्रकृत कह सकते हैं। उससे स्थिति को समझ लेने में सहायता मिलती है। तराजू के एक पलड़े में हम सरकारी मोहरवाले एक सेर के बाट को रखते हैं, तो उस तराजू की डंडी बराबर तब होगी, जब दूसरे पलड़े में उसी तौल की दूसरी चीज हो। उस सिद्धान्त पर तराजू हमारे काम आती और रोज साग-भाजी वगैरह के तौल-हिसाब में बड़ी सहायक होती है। इस शक्ति-सन्तुलन की नीति के उपयोग से बुद्धि प्राप्त हो सकती है कि बाट को हम हलका-भारी भी कर दिया करें, खरीदते वक्त भारी और बेचते वक्त हलका। यानी, सिद्धान्त जब कि प्रकृत होता है, उपयोग मनोवृत्ति पर निर्भर करता है।

उसमें से शस्त्र-सन्नद्धता निकली है

शक्ति-सन्तुलन के तत्त्व से यह सूझ प्राप्त हो सकती है कि दुश्मन के पास इतनी सेना है, उसके बराबर जितनी शक्ति जब तक हमारे पास रहेगी, शान्ति बनी रहेगी; मात्रा से कम होते ही आक्रमण की परिस्थिति उत्पन्न होगी, तब युद्ध और अन्त में पराभव अनिवार्य होगा। शान्ति के लिए शस्त्र-सन्नद्धता की नीति Balance of Power के सिद्धान्त में से निकली ही रखी समझिये। उसके प्रमाण भी आज उजागर हैं।

इसमें नैतिकता, आध्यात्मिकता का अभाव

लेकिन इस सिद्धान्त में से जिस सत्यता की ध्वनि नहीं प्राप्त होती है, वह यह कि शक्ति बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक भी होती है। हिसाब से बाहर के इस मानवीय तत्त्व के चमत्कार से इतिहास भरा पड़ा है। शक्ति-सन्तुलन के नियम से

जैसे यह महत्त्व का विचार छूट जाता है। इसलिए शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को अर्द्ध-सत्य मानना चाहिए।

वह आत्मिक विभुता को नहीं गिनता

ऊपर के कथन का आशय केवल इतना ही है कि शस्त्र की, अथवा दूसरी भौतिक, शक्ति के समक्ष प्रति-शक्ति का अभाव उसके प्रदर्शन और प्रयोग के आमंत्रण के समान होगा। तब उत्पात अनिवार्य होगा और फिर चाहे शक्ति कितनी भी नंगी व बर्बर हो, उसकी प्रतिष्ठा होगी। किन्तु संख्या और शस्त्र के सामने संकल्प और साहस का बल ठहर ही नहीं सकता, बल्कि भारी और विजयी भी हो सकता है। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। यहीं से अहिंसक शक्ति की श्रद्धा प्राप्त की जा सकती है। अकेले ईसा ने अपनी आस्था में अडिग रहकर स्वेच्छापूर्वक मृत्यु स्वीकार की और प्रीतिपूर्ण यही बलिदान इतिहास की वह अमोघ शक्ति बना कि रोम-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा और क्रिस्टेंडम का ऐश्वर्य उदय में आया। शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त इस मानवीय और आत्मिक विभुता को गणना में नहीं ले पाता।

धर्म

६५. बौद्धिक तर्कवाद और वैज्ञानिक यन्त्रवाद ने धर्म को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहा है। फिर भी क्या धर्म आज की सभ्यता के कुछ काम आ सकता है? क्या वह यन्त्रों पर अंकुश रख पाने में मानव की सहायता कर सकता है?

व्यवहार भाव से अभिन्न

धर्म आज संगठित मतवाद और पूँजीवाद का नाम बन गया है। लेकिन अनिवार्य है कि कुछ हो, जहाँ से हमारे हृदय को और भावनाओं को पोषण मिले। इस दृष्टि से धर्म सदा उपयोगी रहा है और रहेगा। अपने जैसे अस्तित्ववाले व्यक्ति या पदार्थ के साथ हम समझ या बुद्धि का सम्बन्ध बिठाकर व्यवहार चला लेते हैं। पर अन्दर कुछ अधिक की भी भूख रहती है। वह है, और अतर्क्य है। व्यवहार जिस बुद्धि-शक्ति से चलता है, उसका उत्स मूल की इस भावात्मक (Emotional) भूमिका से अभिन्न है। धर्म उसी तल की अभिव्यक्ति है। मुझे प्रतीत होता है कि आज की उन्नति से अघा जायँगे, जिसके लक्षण प्रकट हैं और जो अनिवार्य है, तो धर्म की सम्भावनाओं की ओर ही हम मुड़ेंगे।

समाज का अन्तर्विरोध

समाज के सभ्य स्तर के नीचे आज भी एक पूरी-की-पूरी दुनिया जीती है।

इस नरक के नियम मानो बिल्कुल उलटे होते हैं। जो 'सभ्य' और 'उन्नत' विचार इस गर्भस्थ नरक (under world) को कानून और जेल-फाँसी के ज़ोर से ही जीतने की कल्पना करता है, वह कभी समग्र व मुक्त नहीं बन सकता, न मुक्ति दे सकता है। यह अधोगत जगत् वासना के तल से चिपटा हुआ रहता है और उसे अधम बनने की सुविधा इसीसे हमारे समाज में उसके लिए हो आती है। यों देखा जाय, तो यह अपराधी वर्ग रागात्मक दृष्टि से अधिक सम्पन्न एवं विश्वसनीय होता है। एक-दूसरे के लिए जान तक देने की तैयारी जितनी इस वर्ग के लोगों में मिलेगी, उतनी सभ्य लोगों में नहीं। बौद्धिक युग और सभ्यता में यह भावापन्न वर्ग अनुपयोगी और निकृष्ट बने रहने को बाध्य है, सो ही वह उस सभ्यता के अस्तित्व को बराबर नीचे की ओर खींचता रहता है। सभ्यता के शरीर में इससे एक गहरा तनाव अनुभव हुआ करता है। अन्त में जाकर अपने ही इस अन्तर्विरोध की तीव्रता में उसकी सभ्यता को फटकर नष्ट होना पड़ता है।

स्वर्ग-नरक परस्पर सटे

धर्म में आप एक विचित्र बात देखेंगे। उसमें पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक, संयम और सेक्स सिमटकर जैसे एक-दूसरे से सटे हुए पास आ जाते हैं। पवित्रता को जैसे आस-पास चारों ओर से अपवित्रता घेर लेती है। उसके इस विलक्षण चुम्बकाकर्षण से अरुचि और भय भी हो सकता है। बौद्धिक विवेक को ही सब कुछ माननेवाला सज्जन-वर्ग इस कारण उससे किनारा ही किये रहता है। उधर दृश्य देखने में आता है कि भयंकर डाकू और घोरतम वेश्या भी मूल में धार्मिक हैं। इस दृश्य से घबराने की जरूरत नहीं है। बल्कि यह घटना हमारे लिए चुनौती होनी चाहिए कि हम उसमें की सत्यता को देखें और पहचानें।

धर्म विचार-विवेक को लाँघ जाता है

दास्तोवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास "ब्रदर्स कैरेमेजोव" में बड़े भाई और मँझले भाई के अन्तर के द्वारा जैसे लेखक ने यही स्पष्ट किया है। बड़ा एकदम पापमय दीखता है, मँझला विद्वान् है और तत्व-विचार की ऊँचाइयों में रहता है। पहला हर तरह लफंगा है, दूसरा गौरवशाली है। लेकिन बड़े भाई की सम्भावनाएँ कहीं उज्ज्वल हैं, मँझले के अन्तरंग में जैसे काला अँधेरा घुमड़ता हुआ भरा रहता है। दास्तोवस्की की रचनाएँ जिस बल से आज के वैचारिक को खींचती हैं, वह यहीं से उत्पन्न होता है। शिष्ट विचार नीचे उस गह्वर में जाता नहीं है, झाँकता नहीं है, जहाँ आग-सी धधकी रहती है। इसलिए उस विचार के आधार पर खड़ा

व्यक्तित्व जीवन की आँच में समूचा साबित नहीं होता और टूट जाता है। हृदय की रागात्मकता को दबाकर जो सभ्यता खड़ी होगी, एकांगी रह जायगी। धर्म का इसी जगह उपयोग है। वह वैचारिकता को लाँघ जाता है। विवेक से भी अधिक वहाँ श्रद्धा की माँग होती है।

वैचारिकता का दुष्परिणाम

कहना चाहिए कि भावना से मुक्त होकर जब विचार की प्रतिष्ठा होती है, तो संस्कारिता से सभ्यता छूट जाती और केवल एक शिष्टाचार बन जाती है। सभ्यता इसलिए उठते-उठते अन्त में इतनी खोखली हो जाती है कि वहाँ संस्कृति के तत्त्व ही नहीं रहते। संस्कारी व्यक्ति माने जानेवाले उस सभ्य तथा उन्नत समाज में नीचे रहते और असंस्कारी ऊपर उठ आते हैं। मूल्य नैतिक और संग्राहक से उत्तरोत्तर आर्थिक और विग्राहक होते जाते हैं और जंगल की नीति समाज में मान्यता पाती है।

सभ्यता की इस एकांगिता और बाह्यता के लक्षण बहुत प्रकट हो चले हैं। इसलिए धर्म की सम्भावनाओं के खिलने और खुलने का अवसर भी मुझे बहुत दूर नहीं मालूम होता है।

६६. जो धर्म आज के ज्ञानिक मानस को आकृष्ट कर सकेगा, वह केवल विश्वास व श्रद्धा की चीज तो नहीं हो सकता। फिर उसका रूप क्या होगा? क्योंकि केवल मतवाद और पूजावाद आज हमारे मन को सन्तुष्ट व तृप्त नहीं कर पाते।

विश्वास बुद्धि का पूरक

निश्चय है कि अगर वैज्ञानिक मानव धर्म की ओर खिंचेगा, तो वहाँ वह न होगा जिसे आप केवल विश्वास व केवल श्रद्धा कहते हैं, कुछ उससे अधिक होगा। लेकिन 'केवल' जोड़कर विश्वास और श्रद्धा से आप क्या प्रकट करना चाहते हैं, मैं समझ नहीं पाता हूँ। विश्वास निश्चित रूप से वह है, जो सौ-फी-सदी तर्काश्रित नहीं है। तर्क-विचार जहाँ तक जाता है और फिर असमर्थता के कारण रुक जाता है, वहीं से विश्वास का आरम्भ है। यह विश्वास बल देता पाया जाता है। आखिर वैज्ञानिक अपनी शोध में बढ़ पाता है, तो किस आधार पर? आप देखेंगे कि वह अन्त में केवल विश्वास है।

बुद्धि जिसको विश्वास का सहारा नहीं, बन्ध्या होती है। यह विश्वास बुद्धि का पूरक होता है। वह बुद्धि को नहीं, केवल उसके दंभ को नष्ट करता है और इस तरह केवल उसे नम्रता, ऋजुता, ग्रहणशीलता देता है।

हर सृजनशील वैज्ञानिक आस्तिक

क्या परम वैज्ञानिकों के उदाहरण आज कम हैं, जो आस्तिक हैं। सच यह कि सृजनशील वैज्ञानिक आस्तिक ही हो सकता है। फिर प्रचलित धर्म से उसका सम्बन्ध हो या न हो।

तत्त्ववाद केवल पात्र है

धर्म भावनात्मक वृत्ति है। सामूहिक भाव में उसे धारण रखने के लिए एक मत-वादात्मक पात्र आवश्यक होता है। तत्त्ववाद या अमुक धर्म-दर्शन पात्र से अधिक नहीं है। पात्र न हो, तो रस किसमें टिके? पर रस स्वयं पात्र नहीं है, पात्र-निर्भर नहीं है, यह स्पष्ट होना चाहिए। विज्ञान-शुद्ध मानस रस के नाते पात्र को भी स्वीकार करता हो, तो इसमें कुछ भी अनहोनी बात नहीं है। रस पर ध्यान हो, तो पात्र आपस में खटकेंगे नहीं, न उनमें परस्पर गर्व या बिगाड़ होगा।

पूजा का इष्ट

पूजावाद का भी रूप सब जगह कुछ अलग-सा बन गया है। क्रिया-काण्ड अलग-अलग हैं। लेकिन पूजा का तत्त्व, जो सब धर्मों में अनिवार्य है, सो तो मनुष्य के अभिमान को संस्कार देने के लिए इष्ट ही है। मनुष्य उद्धत और धृष्ट होकर अपने और सब के लिए त्रास का कारण ही हो पाता है, सुख-साफल्य का नहीं। स्वयं मस्तक झुकाने की यह विशेषता सब प्राणियों को छोड़कर केवल मनुष्य में ही मिलेगी। प्रार्थना में शीश झुका आने की प्रक्रिया को मनुष्य ने अपने लिए तृप्तिदायक और परिपूरक ही पाया है।

प्रार्थना से कभी किसी ने खोया नहीं है। जैसे इस पद्धति से उसके अपने स्वयं में कुछ परिवर्द्धन ही हुआ है, विघटन नहीं हुआ है।

पात्रता का महत्त्व

मान लेना चाहिए कि आगामी काल में जब धर्म की गहरी सम्भावनाएँ प्रस्फुटित होंगी, तब पात्र का महत्त्व पात्रता से तनिक भी आगे नहीं हो पायेगा। महत्त्व रसानुभूति का ही होगा, जिससे व्यक्ति व्यष्टिरूप में व्यस्त न रहकर समग्रता में खुलेगा और उत्तरोत्तर मुक्त व विस्तृत होता जायगा।

वैज्ञानिक अध्यात्म

६७. आपने एक दिन 'वैज्ञानिक अध्यात्म' शब्द का प्रयोग किया था और उसे

वैज्ञानिक भौतिकवाद से निकटतम अथवा एकात्म बताया था। वैज्ञानिक अध्यात्म का क्या स्वरूप आपकी कल्पना में है, यह स्पष्ट करें।

अभेद श्रद्धा

यह जो ब्रह्मांड है, जिसका आर-पार नहीं, अन्त नहीं, ओर-छोर नहीं—इसको हम अपनी चेतना पर कैसे सहारें? कैसे झेलें? उस समग्रता को लेकर जो एक गहरा विदग्ध और घनिष्ठ भाव हममें होता है, वही मानना चाहिए अध्यात्म का बीज है। समग्रता को हम किसी भी तरह समा नहीं पाते, अपनी व्यग्रता से ही उसे स्पर्श दे पाते हैं। तब सहसा एक गहन विवशता में से आविष्कृत होता है कि उसे नहीं, तो अपने को तो उसमें हम समूचा समा दे सकते हैं। इस चेष्टा में से जो क्षणभर भी टिकनेवाला एक सर्वथा निःस्वभाव प्राप्त हो आता है, वही हमें धन्य कर जाता है। जैसे घाम से झुलसी अवस्था में शीतल जल का स्नान मिल गया हो। डूबकर जब नहाये हुए हम बाहर अपनेपन में लौटते हैं, तो विलक्षण स्वस्थता और स्वच्छता का अनुभव होता है। स्व को खोकर स्वास्थ्य की अनुभूति पाने की प्रक्रिया मनुष्य के लिए अनोखी नहीं है। वह तो सनातन है।

उस समग्र को किसी भाषा या परिभाषा में लाकर अपने समक्ष अवतरित करते और स्तोत्रादि से स्तवन करते हैं, तो मानो कुछ बाह्य धर्म की सृष्टि हो जाती है। यह अपने को होमने की सुविधा का निर्माण करना है।

भेद-विज्ञान

लेकिन समग्र को जहाँ हम अपनी व्यग्रता से लेते हैं, उस व्यग्रता को होमते नहीं, क्रमशः झेलते हैं, तो शायद उसको जन्म मिलता है जिसे वैज्ञानिक अध्यात्म कहा जाय। विरह और व्यथा को वहाँ स्तुति-स्तवन में उतना बहलाया और पुचकारा नहीं जाता, जितना कठोर बौद्धिक साधनों से अनुभव में गहरे उतारा व भोगा जाता है। इस साधना में ही ज्ञान-विज्ञान को जन्म मिलता है। गणित की सृष्टि होती है, जिससे ब्रह्माण्ड अणु में आ जाता है। नारायण नर में अवतीर्ण होता है और समष्टि का अध्ययन हम व्यक्ति में कर पाते हैं। पहली प्रक्रिया अभेद श्रद्धा की थी, तो दूसरी भेद-विज्ञान की हो जाती है। दोनों ही व्यक्ति में उत्कर्षण लाती और उसे उत्कृष्ट बनाती हैं।

अध्यात्म भेद-विज्ञान से भागे नहीं

जिस अध्यात्म को मैं वैज्ञानिक कहना चाहूँगा, वह वह है जो भेद से मुँह नहीं

मोड़ता है, बल्कि जो प्रत्येक भेद के विज्ञान में जाकर पुष्टता पाता है। ऐसा अध्यात्मवाद साथ ही प्रखर बौद्धिक एवं वैज्ञानिक भी होगा और उसकी धार कभी जड़ता व विमुखता स्वीकार नहीं करेगी। बुद्धि आदमी के अभेद से भेद की ओर उतरने और फैलने की क्षमता का नाम है। उसमें से स्वत्व-रक्षण और स्वार्थ-पोषण की कुशलता प्राप्त होती है। वैज्ञानिक होने पर अध्यात्म इस बौद्धिक और ऐन्द्रिक अनुभूति की अवज्ञा नहीं करेगा, बल्कि उसका भी आदर और मान कर सकेगा। भिन्नीकरण से कतरायेगा नहीं, बल्कि अणु और परमाणु के भी पृथक्करण में उतरेगा और डूबेगा। कारण, वह विश्लेषण संश्लेषण का सहायक ही होगा। भेद-विज्ञान अभेदोपलब्धि को सम्भव और निकट बनानेवाला होगा। इस भक्ति में ज्ञान अंतराय नहीं होगा, बल्कि सार्थक होगा। वह वैज्ञानिक अध्यात्म कर्म को ऐसे सम्पन्न करेगा कि कर्म अन्त में बन्धन की जगह मुक्ति देनेवाला हो जायगा।

भौतिकवाद

भौतिकवाद ईश्वर की आवश्यकता में नहीं रहता। वह अनादि-भूत को मान-कर उस आधार पर समस्त सृष्टि और इतिहास की रचना को हृदयंगम करने की विधि सुगम करता है। ईश्वर में किसी समग्र अहं को प्रतिष्ठित करने में उसे अपनी ही अस्मिता की अप्रतिष्ठा जान पड़ती है। इसलिए ईश्वर को वह कुछ अहंवादियों की रचना कहता और उसे सबसे बड़ी प्रवंचना मानता है। चेतना सर्वथा निजीय है, इसलिए सापेक्ष सत्य है, संप्राप्त और स्थित्युत्पन्न वस्तु है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया अनादि से काम करती आ रही है और काल भौतिक विकासवाद के नियम को ही चरितार्थ करता है। मेरी-तुम्हारी चेतना आनुषंगिक वस्तु है, वैयक्तिक आसक्ति इसलिए इतिहास की निरन्तरता में बाधक और असंगत है। जो चेतना संगत हो, वह स्वयं भौतिक विकास-प्रक्रिया की अंगभूत होने से सच्ची ठहरती है। चेतना फल है, मूल नहीं है। काल-क्रम की गति से अभिन्न हो, यही उसकी सार्थकता है। नैतिक चेतना युग और परिस्थितियों से बनती है, उस पर अटकने की बात वही करता और कर सकता है, जो उस परिस्थिति का लाभ और भोग पा रहा है। धर्म, ईश्वर, नीति इत्यादि सब बातें प्रभुता का भोग करनेवाले उस सुविधाप्राप्त वर्ग की दी हुई बातें हैं, उनमें उससे अधिक अर्थ और सार नहीं है।

संक्षेप में भौतिकवाद चेतन और अविकल पर न टिक कर वस्तु और बिन्दु से आरम्भ करता है। यह भौतिकवाद अनिष्ट नहीं बनता, अगर हम उसको सत्य के साधन की एक पद्धति के रूप में देखते हैं। तब वह बड़ी आसानी से संस्कृति का उपकरण बन सकता है।

समन्वय

भारत के हिन्दू-धर्म को लीजिए। किस प्रकार का दर्शन इसमें समा नहीं गया? अद्वैत है, द्वैत है, द्वैताद्वैत है, आत्मवादी, अनात्मवादी सभी कुछ है। ये सब विभिन्न, यहाँ तक कि विरोधी दर्शन भी भारतीय धर्म की एकता को सम्पन्न करने के काम आ गये। चार्वाक को भी हिन्दी या हिन्दू-संस्कृति में ऋषि के रूप में आदर-मान दिया गया है।

भौतिकवादी दर्शन को लेकर चलनेवाले कम्युनिस्ट-वर्ग में ईश्वर को सिर झुकानेवाले आस्तिकों की कमी नहीं है। अर्थात् दोनों का सह-अस्तित्व ही नहीं, समन्वय भी सम्भव है।

अध्यात्म भौतिकवाद को समा लेगा

वैज्ञानिक अध्यात्मवाद मेरे विचार में भौतिकवाद को अपने में आसानी से खपा और समा ले सकता है। असहिष्णुता की आवश्यकता उसको तो अनिवार्य बनी रह भी सकती है, जो अन्तिम रूप से भेद में श्रद्धा रखता हो। जो भेद द्वारा भी अभेद साधन कर सकता है, वह असहिष्णुता के प्रति ही असहिष्णु होगा—अर्थात् हिंसा की चुनौती के प्रति तत्पर, प्रखर और प्रबुद्ध; अन्यथा वह सर्वथा स्निग्ध और नम्र होगा। यह अध्यात्म किसीके लिए प्रतिपक्ष न बनेगा, यद्यपि उस द्वारा हर उस पक्ष का स्खलन और विगलन होगा, जो अपनी पक्षता का गर्व रखता और इस तरह मानव की और मानवता की समग्रता को खंडित करता है।

धर्म से आज असन्तोष यह भी है कि वह भावना में रहता और क्रिया से विमुख होता है। वह निष्क्रिय, इसलिए निर्वीर्य है। वह स्थिति को ले बैठता है और गति से विपरीत है। स्थिति-पोषक होने से क्रान्तिकारी वह रह नहीं जाता।

भेद-विज्ञान द्वारा पुष्ट अध्यात्म

मैं मानता हूँ कि अध्यात्म जो अभेद में मुँह गाड़ता है, जो भेद पर आश्रित राजनीतिक आदि प्रवृत्तियों का आकलन और संवर्जन नहीं कर सकता, भविष्य के निर्माण के काम का नहीं है। पर भेद में जो आदरपूर्वक जा सकता और इस तरह उस पर प्रभुता पा सकता है, उस समाज-विज्ञान व राज-विज्ञान से पुष्ट अध्यात्म के हाथ में मुझे भविष्य की बागडोर दीखती है। धर्महीन राजनीति विग्रह के बीच संग्रह कर पाने में असमर्थ होती है। प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त करना उसके लिए जरूरी हो जाता है। इस तरह स्वयं लोक-संग्रह के दायित्व में वह निष्फल और अकृतार्थ होती है। धर्म-श्रद्धा से प्रेरित राजकीय और सामाजिक प्रवृत्तियों में

लोक-संग्रह की क्षमता कहीं अधिक होगी, क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी को निर्भय रखने और उसे सहयोगी के रूप में जीत सकने की कला उसे सिद्ध होगी। विरोध में से भी वह हृदय तक पहुँच सकेगी और अनेकता में से एकता की भूमिका को ऊपर उठाकर ला सकेगी।

अध्यात्म और जग-द्वन्द्व में अविरोध

गांधीजी की घटना हाल की है। वे महात्मा कहे जाते हैं। महात्मा इसलिए कि अपने अलग अहं का उनके पास अस्तित्व नहीं रह गया था। लेकिन वे बैरिस्टर थे। बैरिस्टर को विग्रहों के बीच से न्याय को खोजना पड़ता है। यह काम विग्रहों और उनके कारणों की आदरपूर्वक मीमांसा प्रस्तुत करने के आधार पर ही हो सकता है। जग-द्वन्द्व को सहानुभूतिपूर्वक समझने और उसका पृथक्करण करने की शक्ति यदि न होती, तो सिर्फ महात्मापन उन्हें भारत का एकच्छत्र राजनीतिक नेतृत्व नहीं दे सकता था। जग-द्वन्द्व को प्रपंच और माया कहकर टाल देने और उससे किनारा लेकर अपनी शान्ति और भजन-मनन को अक्षुण्ण कर रखनेवाले किसी सन्त के वश का वह लोक-संग्रह नहीं हो सकता था। गांधी महात्मा यदि बने, तो युद्धों में से और बार-बार की जेल-यात्राओं में से बने और अन्त में गोलियों से प्राण देकर उनके माहात्म्य की पूर्णाहुति और पूर्णसिद्धि हुई। लोकनेता और युग-निर्माता का उनका यह रूप सम्भव हुआ तो तब, जब भेद में से अभेद को उन्होंने साधा और जीवन-विज्ञान से अध्यात्म-साधना को क्षण के लिए भी विलग और विमुख नहीं होने दिया। तभी हुआ कि गांधी आत्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रों में एक समान विभु और विजेता बन सके।

भौतिक-आत्मिक दो नहीं

भौतिक और आत्मिक दो हैं, उसी अर्थ में जिसमें नदी के तट दो होते हैं। पानी है, नदी सूख नहीं गयी है तो दो किनारे होंगे ही। किन्तु दोनों नदी के प्रवाह-स्पर्श से शीतल और एकत्रित बने रहेंगे। किनारों का नाश वहीं है और उतना ही है, जितनी नदी सूखती है। परम विश्वासी के लिए भूत पदार्थ रहता ही नहीं, सब चिन्मय बन जाता है। या कहो कि स्वयं अपना आत्म अर्घ्य-सामग्री की भाँति उसके पास सर्वथा यन्त्रवत्, वस्तुवत् हो आता है। इस चेतना की अविकल 'इन्टीग्रेटेड' अवस्था में से ही मैं मानव-जाति की सम्भावनाओं का प्रस्फुटन देखता हूँ।

६८. क्या आप नहीं मानते कि अध्यात्म व भौतिकवाद दोनों अलग-अलग कोनों

से एक ही ईश्वर की खोज व उपलब्धि के अर्थ चलते हैं? तब क्या कहीं भी उन दोनों का मिलन सम्भव नहीं है?

दोनों दो तट

ऊपर कहा था न कि वे दो तट हैं। स्नान नदी में होता है और दोनों में से किसी तट से उतर कर स्नान किया जा सकता है। इस तरह नदी में वे दोनों तट सहज मिले ही हुए हैं। इसीको दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जब तक प्रवाह है, प्रवाह में पानी है, तट दो रहने ही वाले हैं। प्रवाह के स्पर्श के माध्यम के अतिरिक्त वे कभी आपस में मिलनेवाले भी नहीं हैं।

वाद अनुभूति में खोता है

अर्थात् वाद की समाप्ति विवाद अथवा प्रतिवाद से कभी सम्भव हो नहीं सकती। प्राणों में और जीवन में पहुँचकर वाद टिकता नहीं, स्वतः ही किनारा बना किनारे रह जाता है। शब्दों द्वारा हम जिसे अभिव्यक्त करते हैं, उस अनुभूति में अभेद है तो अभिव्यक्ति में भेद है। गुड़ खाकर अगर एक 'मीठा' और दूसरा 'बढ़िया' कहे तो बात के सार में अन्तर नहीं है, ध्वनि में अन्तर अवश्य रहता है। इसलिए जो अधिकांश जानी-मानी चीजों को लेकर चलता है, व्यवहार से आगे बढ़ने पर शब्दार्थ और भावार्थ के बारे में हमेशा ही उसे मतभेद की उलझन सामने मिलती है। जो सचमुच पाना चाहता है, 'अहँभाव' को टिकाना-जिताना नहीं चाहता, वह शब्दों पर अटकता नहीं है, विवाद में समय और समझ नहीं खोता है, बल्कि भावावगाहन द्वारा परस्परोपलब्धि की चेष्टा करता है। शब्दों के पीछे के भाव में उतरने के यत्न से सहानुभूति उसे सहज होती है।

इस प्रकार मतवाद, यदि उन पर आग्रह डाला जाय तो, केवल अहंकार को व्यक्त करते हैं। विग्रह वादों में है, तो अहंवाद के कारण। अन्यथा सब वाद उसीको पाने और देने की कोशिश में बने हैं, जो परम सत्य है। इसीसे वह अगम और अरूप है। अतः सब रूप स्वरूपवान् होकर जब कि विविध पड़ते हैं, तब प्रेम के नाते वे फिर उसी एक में समाहित होते हैं।

भेद अभेद परस्पर पूरक

यह एकता और अभिन्नता श्रद्धा में से ही दीख सकती है। तब बुद्धि को यह अनिवार्य नहीं मानना चाहिए कि भाषा के प्रकट अन्तर को न पहचाने अथवा उस अन्तर का उल्लंघन करे। अर्थात् मतवादों के सूक्ष्म अन्तर को पहचानना और उनका

पृथक्करण कर सकना बुद्धि व व्यवहार के लिए उपयोगी होता है। बुद्धि की यह क्षमता कम या नष्ट होने से श्रद्धा बलवती होगी, यह समझना भ्रम है। भेद-विज्ञान की सूक्ष्मता प्रतिभा में जितनी अधिक होगी, अभेद-श्रद्धा उसकी उतनी ही स्थिर और सतेज हो सकेगी। बुद्धि द्वारा जाना जानेवाला भेद और श्रद्धा के द्वारा अनुभव में आनेवाला अभेद परस्पर पूरक और अभिन्न हैं। इन दोनों में विमुखता पैदा होने देना जीवन का ह्रास करना है।

६९. तब इन दोनों में से कौन मार्ग व्यक्ति को सच्ची व स्थायी शक्ति प्रदान कर सकेगा?

शक्ति मानसिक संघटन में

शक्ति मार्ग में नहीं हैं, चलनेवाले के भीतर उसका स्रोत है। असल में शक्ति हमारे भीतर और बाहर की एकता का प्रतिफलन है। हम अन्दर कटे-बँटे रहते हैं, व्यक्तित्व में स्तर रहते हैं और चेतना उन विविध स्तरों पर द्वन्द्वों में घिर और गुँथकर क्षय एवं क्षीण होती रहती है। यदि चेतना में उलझन और ग्रन्थियाँ न पड़ें, तो जीवन का ऐश्वर्य प्रकट हो उठता है। दीनता और हीनता मानसिक विघटन का फल होता है। यह विघटन आगे बढ़कर विक्षिप्तता को जन्म देता है। दूसरी दिशा में यदि संघटन या सुगठन होता जाय, तो अमित क्षमता और शक्ति का उदय होता है।

अन्त:प्रवृत्तियों का एकीकरण

प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में यह एकत्रितता और एकाग्रता लाना चाहता है। दृढ़ व्यक्तित्व हमें दिखायी देते हैं, वे वही हैं जिन्होंने किसी न किसी प्रकार यह योग और ऐक्य अमुक मात्रा में साधा है। अमुक विचार, मत, आदर्श या आसक्ति के पीछे जिन्होंने अपने को होम दिया है, एक उसी लगन में बाँध लिया है, ऐसे लोग बहुत कुछ कर जाते हैं। दृढ़ता व क्षमता अन्त:प्रवृतियों के इसी एकीकरण का नाम है।

नि:स्वता, स्व-भावता

दो शब्द चला करते हैं, अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। ये दोनों वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ अन्त में एकता साधन के लिए ही हैं। जो अन्दर से एक बनता है, बाहर के साथ भी उसका सामञ्जस्य बढ़ता है। या बाहर के प्रति अपना सम्बन्ध सही बनाता है, वह अपने अन्दर में शान्त और तप्त बनता है। अर्थात् एकता किसी

घिरे वृत्त में, बन्दपन में, सिद्ध नहीं हो सकती है। न वह व्यवहार से निरपेक्ष है। व्यवहार परस्पर के सम्बन्धों के आधार पर बनता है और व्यक्तित्व की आन्तरिक एकता इन सम्बन्ध-सूत्रों के द्वारा बाहर प्रभाव और सद्भाव उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती। व्यक्ति जो विराट् बनता है, वह इसी प्रक्रिया से। कोई अपने में बड़ा हो, इसका अर्थ ही कुछ नहीं। ऐसा बड़प्पन एकता का नहीं, अहं का द्योतक है। अहं के रोग में गहरे फँसे हुए प्राणी ही विक्षिप्त माने जाते हैं। आप किसी पागलखाने में जाकर देखिये, सब अपने को परमात्मा मानते हैं; नहीं तो बादशाह, नवाब, राजा वगैरह। यह शक्ति-क्षय की सीमा है। इसके विरोध में एक वह निःस्व-भाव सिद्ध किया जा सकता है, जिसमें न स्व के भीतर काट हो, न स्व-पर में काट की अनुभूति हो। यह अवस्था शक्ति-सम्पन्नता की पराकाष्ठा होगी।

स्वप्न-गत, विचार-गत अहं

इस पर से यह प्रकट होना चाहिए कि शक्ति विनम्रता और निरहंकारता के साथ है। लेकिन कहीं ऐसा दीखेगा कि अहंकार नष्ट नहीं हुआ है, उल्टे पुष्ट, विस्तृत हुआ है और वहाँ शक्ति के दर्शन प्राप्त हुए हैं। इतिहास के प्रसिद्ध और प्रचंड विजेता लोग क्या निरहंकारी थे? अलेक्जेन्डर, चंगेज खाँ, नेपोलियन, हिटलर, स्टालिन अहंकार से मुक्त थे? किसीके लिए भी उन्हें नम्र और निरीह मानना कठिन होगा। अहंकार की भाषा में उन्हें मुक्त, और इस तरह इतिहास को फिर उनके साथ एकीकृत, मानना सचमुच सम्भव नहीं है। इसलिए जो 'शक्ति' उनमें से प्रकट हुई, वह उस अर्थ में अशक्ति भी थी। फिर भी अशक्ति यदि शक्ति-रूप हुई और दीखी, तो क्यों? मैं यह कहूँगा कि एक अमुक विचार या स्वप्न या कल्पना को प्राणपण से अपना रहने के कारण उनके व्यक्तित्व को एक अन्तर्गठन प्राप्त हो गया था और वही उनकी प्रभुता व विभुता का कारण बना था। अहंकार मानो उनका स्वगत न रहकर विचारगत और आदर्शगत हो गया था। उस अर्थ में उसने दूसरों को भी अपने भीतर समा लिया था। लाखों लोग जो उनको शीर्ष पर लेकर इकट्ठे हो आये और उनके आदेश पर जान-माल देने को तैयार हो गये, तो यह चमत्कार एक स्वप्न-निष्ठा में से ही सम्भव बन आया होगा।

पूर्ण संयुक्त व्यक्तित्व में हिंसा नहीं मिलेगी

लेकिन मेरे मन में प्रश्न है कि परिपूर्ण संयुक्तता यदि हो, तो व्यक्तित्व का क्या स्वरूप होगा? मुझे यह अनिवार्य जान पड़ता है कि तब हिंसा के भाव या कर्म

के लिए वहाँ अवकाश नहीं रह जायगा। दुश्मन के रहने की जब तक सम्भावना है, तब तक मुक्तता में कुछ त्रुटि ही माननी चाहिए। जो प्रेम में समा और रम गया है, उसमें वैर-भाव या पर-भाव कहाँ रह जायगा? अतः एक दूसरे प्रकार के पुरुष भी मिलते हैं और इतिहास उनके प्रभाव का साक्षी बनता है। पहले प्रकार के शूर-वीर लोग बढ़ते चले गये, बाधाओं को काटते-गिराते चले गये और उन्हें यह लगा ही नहीं कि वे हत्या कर रहे हैं। मानो वे हिंसा-अहिंसा से ऊँचे थे और किसी अपर शक्ति के प्रभावाधीन आचरण कर रहे थे। 'मारना' इस शब्द की संगति ही जैसे उनके पास न थी और किसी प्रकार की दुविधा-जुगुप्सा उन्हें इस कृत्य में नहीं प्रतीत होती थी। उन दुर्दान्त नर-सिंहों की तुलना में ईसा और गांधी जैसे पुरुषों को लीजिए। मारने के शब्द और विचार से ही मानो ये लोग काँप जाते हैं। जैसे मारने के भय से ही उन्हें भय हो। मरने से अवश्य उन्हें डर न था। जान पड़ता है कि पहले प्रकार के पराक्रमी पुरुष मारने के सम्बन्ध में निडर रहे, तो इस आधार पर कि सारा डर उन्हें मरने से लगता रहा। इस सत्यता की साक्षी उन सभीके जीवन में अवश्य मिल जायगी। चंगेज खाँ के उन बौखलाये प्रयत्नों की कथा तो सुविदित ही है, जो मौत से बचने के लिए उसने किये। दूसरी ओर ईसा-गांधी को अपनी मृत्यु के बारे में अखण्ड निर्भयता यदि प्राप्त हुई, तो शायद इस आधार पर कि भय की सारी क्षमता उन्होंने ईश्वर, पाप, हिंसा के प्रति समर्पित कर दी थी। सब चिन्ता दूसरे के कष्ट की, इससे अपने मृत्यु-कष्ट के प्रति भी सानन्द निश्चिन्तता!

हिंसा का मूल भय में

मुझे प्रतीत होता है कि हिंसक पराक्रम बुनियाद में अपने डर में से निकलता है। अपना डर मूल में संयुक्तता नहीं, विभक्तता का परिचायक है। अर्थात् सम्पूर्ण संयुक्तता ईश्वर और प्रेम में से ही प्राप्त हो सकती है। वह जो कभी टूटे नहीं, डिगे नहीं, ऐसी दृढ़ता हिंसक नहीं हो सकती। हिंसक दृढ़ता कट्टर होती है, लोच उसमें नहीं होता। इससे दृढ़ता भी वह सच्ची नहीं होती। ऐसा बल सदा अपने से अधिक बल से डर आता है। इस बल से प्रबल माने जानेवाले व्यक्तियों के समक्ष मानो उनके पुत्र-कलत्र की हत्या का दृश्य आये, तो क्या होगा? क्या वे अविचल रह सकेंगे? सबके मन से उत्तर निकलेगा कि मारने में जितने निःस्पृह वे लोग हो सके, स्वयं और स्वकीय की मौत पर निश्चय ही वे उतने ही उद्विग्न हो जाते। दूसरी ओर गांधीजी के बारे में यह सोचा भी नहीं जा सकता कि स्वयं उनके पुत्रों को उनके सामने फाँसी दी जाती, तो गांधी तनिक डिगते!

कठोर ही टूटेगा

इससे यह मान लिया जाय, मैं तो मानता ही हूँ, कि मानव-व्यक्तित्व की अखण्ड युक्तता कठोरता में नहीं, कोमलता में ही सम्पन्न हो सकती है। कठोरता में से जिन्होंने एकाग्रता को साधना चाहा, ऐसे उग्र तपस्वी और उद्‌भट पुरुष अन्त में टूटे ही हैं, क्योंकि गहरे में उनमें कहीं दरार और तरेड पड़ गयी हुई रहती है।

मुक्त मानव

जिनको इतिहास ने और मानवता ने मुक्त माना है, जिन्हें अवतार तक कह-कर मनुष्य की आतुर श्रद्धा तृप्ति नहीं पाती है, जिन पर कष्ट पर कष्ट आते गये हैं और जिनसे उत्तर में मिठास पर मिठास मिलती गयी है, जिन्होंने बलिदान लिया नहीं है, तिल-तिल अपना ही बलिदान दिया है, वे पुरुष ही उस सिद्धि के परम दृष्टान्त बने हैं, जिसे पूर्ण-योग (Complete integration of personality) कहा जा सकता है।

•

द्वितीय खण्ड

पश्चिम

१. पराजित नारीत्व
२. वर्ग-विचार राष्ट्रवाद
३. यह हिंसावादी संस्कृति
४. प्रेम-परिवार
५. सिक्का, उन्नति और नीति
६. अर्थ-क्षेत्र में मूल्यों का संकट
७. अर्थ का परमार्थीकरण
८. अर्थ और काम
९. साहित्य और कला

१

पराजित नारीत्व

विदेश-यात्रा

७०. विदेश जाने से पूर्व क्या कुछ नया पाने का उत्साह आपके मन में रहता रहा? क्या आपकी जिज्ञासा की तृप्ति इन यात्राओं से हुई?

—एक उत्सुकता थी, जिसे जिज्ञासु से अधिक यात्री की माननी चाहिए। ज्ञान की खोज में मैं गया, ऐसी बात नहीं है। असल में तो हरबार कुछ-न-कुछ उपलक्ष्य थे। उन उपलक्ष्यों की बात छोड़ दें, तो मेरे मनोभावों में कोई गहरी खोज या जिज्ञासा का भाव नहीं था, यह मुझे स्वीकार करना चाहिए। यात्राओं में आँखों को और दूसरी वृत्तियों को बहुत खूराक मिलती है। इस सब ऊपरी बोध और परिचय को कोई उपलब्धि नहीं माना जा सकता। मुझे लगता है कि यात्रा वह अधिक गुणकारी और हितकारी होगी, जिसमें शरीर चाहे चल रहा हो, पर मन न चलता रहा हो। तब सुविधा होगी इस बात की कि सम्बन्ध व्यक्तियों से हार्दिक हों, आस-पास आत्मीयता पनपे और सब जगह सहजता हो। मेरे साथ किसी भी यात्रा में अब तक ऐसा नहीं हो पाया है। दर्शक और दृश्य का ही सम्बन्ध बना रहा है, जो हलका होता है। कोई गाढ़ स्वकीयता उसमें से नहीं फलित हुई है, जो उपलब्धि मानी जा सकती और मानस को दोनों ओर सम्पन्न करती है।

राष्ट्रीय अभिनिवेश और कर्म-ज्वर

७१. मानव सब जगह एक है। पर उसकी संस्कृति और सभ्यता में भारी विभिन्नताएँ दृष्टिगत होती हैं। इस तथ्य के प्रकाश में जिन देशों में आप गये, उन देशों से क्या भावनाएँ आप लेकर आये।

—मेरी श्रद्धा तो बिखरी नहीं, बल्कि पुष्ट ही हुई, कि इन्सान सब जगह एक है। लेकिन विभिन्नता इतनी सामने आती गयी कि श्रद्धा से अपनाया गया अभेदात्मक मन्तव्य विभेदों के बारे में मुझे मन्द नहीं कर सकता है। लोग सब जगह एक जैसे

हैं, लेकिन सभी जगह उनमें अपना-अपना राष्ट्रीय अभिनिवेश भी है। वही कुछ बढ़कर विद्वेष और संशय बन जाता है। उनके अधीन होकर चलने से विभिन्नता कुछ ऐसी भी हो जाती है कि परस्पर को सम्पन्न करने की जगह उल्टे विपन्न कर डाले। योरप के देशों में, और वह हवा सब कहीं बह रही है, मुझे अनुभव हुआ कि सभ्यता का जो दौर चल रहा है, उसमें पुरुषत्व ऊपर और प्रधान है, स्त्रीत्व का योग मन्द और यथामात्रा से कम है। भारत की धर्म-प्रधानता में मैंने ऐसा अनुभव नहीं किया था। पश्चिम की, या कहो जमाने की, वास्तविक सभ्यता कर्म-प्रधान इतनी जान पड़ी कि धार्मिक भावना का समय पर समुचित संयोग उसे नहीं मिला, तो वह अपने को खा जायगी और सबको भी व्यस्त-ध्वस्त कर डालेगी। कर्म का ज्वर मालूम हुआ और धर्म का डर। डर का ही यह फल मानना चाहिए कि कुछ वर्ग वहाँ अब भी बुरी तरह धर्म में चिपटे और शरण लेते दीखते हैं।

पूर्व भी उसके चक्कर में

७२. जो ऊपर आपने कहा, वह क्या पूर्वीय देशों के बारे में भी उतना ही सच है, जितना कि पश्चिम के यूरोपीय देशों के बारे में। अर्थात् चीन अथवा जापान में भी क्या आपने कर्म-ज्वर को ही प्रधान पाया ?

—हवा, मैंने कहा, पश्चिम से उठकर वही दुनिया में बह रही है। पूरब के देश अपने अधिष्ठान से सभी उखड़ गये हैं, ऐसा तो नहीं है। पर खतरा है और एक-एक कर उनके पाँव लड़खड़ाते-से दीखते हैं। अर्थवाद उसी कर्मवाद का रूप है और हमारा भारत भी राज्य-स्तर पर उस चक्कर में दीखता है।

७३. इस कर्मवाद अथवा अर्थवाद के मूल में नये राजकीय वाद हैं अथवा यंत्र हैं अथवा इस ज्वर का कोई विशेष मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक कारण है ?

—जो भी होता है, सच ही अकारण नहीं होता। एक अनिवार्यता उसके पीछे होती है।

विज्ञान निहित स्वार्थों के हाथ पड़ा

मानव-बुद्धि को निरन्तर विकास पाते जाना था। हो नहीं सकता था कि समय पर उसमें से विज्ञान की निष्पत्ति न हो। उस समय धर्म-भावना में इतनी सूझ-बूझ न पायी गयी कि वह विज्ञान को संभाल ले और उसका उपयोग और नियोजन करे। यन्त्र की बुद्धि और कुशलता जनमी, तो वह समूह अथवा राष्ट्रवादी निहित स्वार्थों के हाथ आ गयीं। उन्होंने यन्त्रों का विनियोग साधा। औद्योगिक स्पर्द्धा पैदा हुई। उपनिवेश जनमे। आयात-निर्यात का क्रम सहज आवश्यकता से टूटकर

लाभ और शोषण से जुड़ गया। परमार्थ बीच में से ओझल हो चला। सामूहिक स्वार्थ फूल और फैलकर लोक-मानस पर आ छाये। विज्ञान ने जो और जितनी सुविधा पैदा की, वह मानों इस समूह-स्वार्थ के अधीन होकर रह गयी। परमार्थ के प्रतिनिधि-जनों में सूझ-बूझ नहीं देखी गयी कि वे विज्ञान की इस विशाल उपलब्धि को सही उपयोग में लगा सकें। पदार्थ के इस बृहत् बल के समक्ष मानो उन पारमार्थिकों को आत्मरक्षा और आत्मशास्त्र की सूझी। वे तत्त्ववाद और दर्शन-वाद में बिखरते-खोते चले गये। स्वार्थ के हाथ संगठन और प्रगति आयी।

ऊपर जो कहा, वह भाषा ही है। उसमें से किसी निश्चित कारण-कार्य को बिठाकर दिखाने का मेरा आशय नहीं है। इतिहास की व्याख्या एक नहीं, अनेक हो सकती हैं। वह व्याख्या भौतिक हो सकती है, चाहो तो आत्मिक भी की जा सकती है। लेकिन उस सबकी यहाँ संगति नहीं है। जिस भाँति चाहें हम इति-हास से अपनी दृष्टि और रुचि का सम्बन्ध बना-बिठा सकते हैं। उस इतिहास के पट की बनावट को स्पष्ट करने से अधिक मुझे रुचि है वर्तमान के आगामी भविष्य में कदम बढ़ाते जाने की प्रक्रिया में। तत्काल से स्वतन्त्र और निरपेक्ष भूतकाल में मुझे रस नहीं है, न भावी की कल्पनाओं में जा बैठने का मेरा वश है। ऐसा भी लगता है कि भूत और भावी में शरण लेने की आवश्यकता वर्तमान के प्रश्नों की परेशानी से बचने की खातिर होती है। बचाव उन प्रश्नों से वर्तमान से बाहर कहीं है नहीं। बचाव-सा जो मालूम होता है, वह सिर्फ बहलाव है। इसलिए उन प्रश्नों का सामना ही पुरुषार्थ कहलाता है। दूसरा सब का-पुरुषता है। इसी कारण धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है और कुरुक्षेत्र युद्ध-क्षेत्र है। युद्ध से विमुख जो धर्म है, वही दर्शन बनता है। दार्शनिक बनकर शायद योद्धा होने से छुट्टी हो जाती है। यही दार्शनिकता का खतरा है।

आपका प्रश्न एक तरह दर्शन और तर्क के वाद के लिए निमन्त्रण है। मैं उसमें नहीं जाना चाहता।

वस्तुवादी तृष्णा : प्रतिक्रिया

प्रवाह-पतित वस्तुवादी तृष्णा मुझे प्रतिक्रिया जान पड़ती है। चुनौती का सामना उसमें नहीं, जितना पलायन है। गाँधीजी ने अंग्रेज को यही कहा कि तुम क्यों नहीं पहचानते कि हिन्दुस्तान को गुलाम रखने के बहाने तुम अपने को गुलाम बना रहे हो। उसको आजाद करना तुम्हारा इसलिए भी पहला फर्ज है कि तुम खुद आजाद बनो। भारत के प्रति पीछे होगा, पहले अपने प्रति फर्ज है। इसलिए भारत की दुर्दशा का नाम लेकर अपने को प्रवंचना में न डालो। अर्थात् यह भाग-

दौड़ और विस्तार-फैलाव की प्रवृत्तिवाली सभ्यता प्रतिक्रियात्मक है। मनुष्य की आत्म व परमार्थ-सिद्धि उसमें नहीं है। अपने लिए आदमी जब दूसरे को कीमत में लेता है, तब वह बढ़ता नहीं है, सिर्फ परिग्रह बटोरता है। इसमें जो जोर है, वह बुखार का है। स्वास्थ्य की क्रिया नहीं है, विकार की प्रतिक्रिया है। मूल में उसके हिंसा है। और इस प्रतिक्रिया को अहिंसा की मौलिक सक्रियता से झेलना और शान्त करना होगा, दूसरी गति नहीं है।

उल्लंग भोग आलोड़न-विलोड़न

७४. यूरोप के आम आदमी के जीवन पर आप वहाँ की इस होड़मय सभ्यता का क्या प्रभाव पाते हैं?

—वह लगकर कमाता है और फिर कमाई के पैसे के जोर से जहाँ जैसे हो, सुख खींच लेना चाहता है। इसमें वह एक-दूसरे पर लपटता-झपटता है, नोंचता-खरोंचता है और इस उद्दाम सुखोपभोग में अपने को जो थोड़ा-बहुत भूल पाता है, सो उसको सुख मानता है। इसमें मदिरा सहायता देती है और पाप-बोध रस में तीव्रता लाता है। थ्रिल' सामान्य में मिलना बन्द हो जाता है, इसलिए असाधारण और अपसाधारण में से उस थ्रिल का नित-नया आविष्कार करना होता है। व्यवस्था अत्यन्त सभ्य है, लेकिन वह अन्त में इसलिए जान पड़ती है कि भीतर आत्यन्तिक स्वच्छन्दता के अवकाश को सुलभ, सुरक्षित और सुसज्ज रखे। हृदय में उसके उल्लंग भोग है, कलेवर में व्यवस्थित संयम है। यह बाहर का नियन्त्रण और शासन-अनुशासन, जिसकी प्रतीक राजनीतिक सत्ता है—उस स्तर पर जो बराबर हलन-चलन आन्दोलन-आलोड़न मचा रहता है, सो इसी कारण है। अन्दर की बेचैनी का दबाव बाहर की सत्ता को शान्त कैसे रहने दे सकता है? सत्ता यदि इस या उस देश की कुछ काल स्थिर रह भी पाती है तो तब, जब बड़े पैमाने पर युद्ध की आशंका को जन-मानस में विराजमान कर दिया जाता है। युद्ध की संभावना के तले एक देश मिला भी रहता है, नहीं तो उसके विविध तत्त्व व वर्ग स्पर्धा और विग्रह में आपस की घात में व्यस्त बने रहते हैं। एक युद्ध के मित्र दूसरे में आपस में ही जो शत्रु बन रहते हैं, सो भी इसी कारण।

स्त्री मात्र प्रेयसी

स्त्री का पत्नी और माता का रूप इस जीवन-विधान में मुझे पीछे पड़ गया दिखाई दिया। प्रेयसी और विनोदिनी का रूप ऊपर आ गया है।

मुझे माफ किया जाय, लेकिन ऐसा लगा कि स्त्री का उस सभ्यता में

सहयोग नहीं रहता है, केवल उपयोग रह जाता है। वह केवल काम में है, गिनती में नहीं है। शायद वह गिनती बढ़ भी इसी कारण रही है। प्रचुर सामग्री यन्त्रों से उत्पन्न की जा रही है। तब स्त्री के रूप में भोग्य सामग्री भी प्रचुर हो, तो मानो वह अनुकूल ही है।

७५. क्या यूरोप की स्त्री पर भी आप केवल भोग्या होने का आरोप लगाते हैं? वर्तमान सभ्यता ने वहाँ स्त्री की संभावनाओं को उन्मुक्त कर उसे पुरुष के बराबर पद व गौरव दिया है। तब उसके विषय में आपकी ऐसी धारणा क्यों और कैसे बनी?

नारीत्व वहाँ गौण

—यों तो स्त्री स्वतन्त्र है और कानूनन बराबर है। सामाजिक परम्परा की दृष्टि से भी उतनी सीमाबद्ध नहीं है। लेकिन योरोपीय जीवन का मूल्य और मान पैसा है। आर्थिक दृष्टि राजनीतिक से जुड़ जाती है और यह मानना होगा कि जहाँ विग्रह और स्पर्द्धा उन्नति के मूल्य बन जायँ, वहाँ पुरुष को कुछ सुविधा हो जाती है। योरोपीय सभ्यताधीन समाज-जीवन में कुछ यही घटित हुआ है। नारीत्व के गुण उन्नति और कमाई की भागाभाग में मानों गौण रह गये हैं। मानो कोमल गुणों से सम्पन्न नारी का उपयोग यह हो कि वह आर्थिक और सामाजिक बदाबदी में लगे हुए पुरुषों को उत्साहित व प्रसन्न रखे। उनके अहंभाव को चेताये और चहकाये रखे।

कर्मवाद में पुरुषत्व प्रधान

ऊपर मैंने एक शब्द का उपयोग किया था 'कर्मवाद'। यह कर्म-परता और संघर्ष-परायणता पुरुष में अहंभाव को दृप्त और सक्रिय रखती है। परिवार की संस्था में पुरुष का अहंभाव जगह-जगह पर लचक खाता और परिष्कार पाता रहता है। परिवार की संस्था और उस तरह की नैतिकता पश्चिम में ह्रस्व होती जा रही है। पारिवारिक मनोवृत्ति स्थिरता लाती है। माँग वहाँ के जीवन में है चालना की, गति की, स्थिरता से अधिक अस्थिरता की, जिसके दबाव से लोक-जीवन कर्मोन्मुख रहे और जूझता हुआ बराबर उन्नति करता जाय। इस आन्तरिक दबाव में से ही बड़े युद्धों की आवश्यकता का निर्माण होता है। जान पड़ता है कि व्यक्ति कर्मठ और योद्धा हो, तो अधिक उपयोगी है। सामान्य शान्त पारिवारिक हो, तो उपयोगिता अपेक्षाकृत कम हो जाती है। इन कारणों से उस प्रकार की जीवन-विधि में पौरुष प्रधान स्थान पा जाता है और स्त्रीत्व के लिए तदनुकूल गौण स्थान रह जाता है।

अर्जन-क्षमता में स्त्री दोयम

देखने में स्त्री स्वाधीन दीखेगी। पर अर्थ की अधीनता उसे दबा ही देती है, जब वह व्यक्ति बनती है। वहाँ हर स्त्री या पुरुष व्यक्ति बनने को लगभग मजबूर है और इस तरह आर्थिक नियमन के अधीन हो जाता है। पारिवारिक होकर स्त्री को एक अधिष्ठान मिलता है और अलग निज की भाषा में उसे नहीं सोचना होता। आर्थिक चिन्ता में उसे नहीं पड़ना पड़ता। तब उसका मान वैयक्तिक गुणों की अपेक्षा से होता है, अर्जन की क्षमता के हिसाब से नहीं। व्यक्तिपरक जीवन होते ही अर्जन-क्षमता की अपेक्षा में हर व्यक्तित्व का मूल्य निश्चित हो जाता है। स्पष्ट है कि इस दौड़ में स्त्री को पुरुष से समकक्ष नहीं, बल्कि दोयम स्थान स्वीकार करना होगा। दोयम ही नहीं, बल्कि कुछ अधीन स्थान भी। अधीन न कहकर जब उसे स्वतन्त्र कहा जाता है, तो उसमें केवल भाषा और भाव का सौन्दर्य देखना चाहिए, अधिक नहीं।

७६. अर्थ एवं बदाबदी पर आश्रित इस व्यवस्था में तब आपकी राय में क्या दाम्पत्य-प्रेम को वहाँ कोई भी स्थान नहीं रहा है? स्त्री का रूप प्राचीन वेश्या के बहुत निकट पहुँच गया है?

नारी-मांस का विक्रय

—प्राचीन वेश्या को मैं नहीं जानता, लेकिन हैम्बर्ग की बात है। वहाँ शहर के एक विशेष भाग में जाने कितने नाइट क्लब हैं। एक खास बन्द गली है, जहाँ जाना हुआ, तो बेहद खीझ मालूम हुई। नारी-मांस के विक्रय की दूकानें वैसी मैंने पहले नहीं देखी थीं। दूसरे समलिंगी अड्डे भी थे। नाइट क्लब के कुछ मालिकों को इकट्ठे बुलाकर बात की, तो उन्होंने जताया कि यह सब व्यवसाय समाज की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए जरूरी है। इस ढंग से अनिष्ट को कुछ सीमित और स्थानीय रखने का उपाय हो जाता है; नहीं तो वह समाज की रगों में प्रवेश कर जाय। यह भी बताया कि हैम्बर्ग बहुत समय से जहाज़रानी का औद्योगिक केन्द्र है। इसलिए काफी जनसंख्या यहाँ रहती है, जिसको तैरती हुई कहना चाहिए। मनोरंजन की इसे अनिवार्य आवश्यकता है। नगर की उस मुक्त आबादी के हित में हम यह व्यापार चलाते हैं। बाहरी लोग इतनी संख्या में यहाँ बराबर मौजूद रहते हैं कि मनोविनोद का साधन न हो, तो उत्पात का डर बना रहे। नगर की समृद्धि के लिए यह भी जरूरी है कि सारी दुनिया से वह लोगों को आकृष्ट करे और व्यापार बढ़ाये। व्यापार की उन्नति के नाते धर्म हो जाता है कि अतिथियों का जी बहलाये रखा जाय।

आपका नाक-भौं सिकोड़ना कोरी भावुकता है। जीवन को उससे कठोर पदार्थ होना पड़ता है।

पत्नियाँ वेश्याएँ भी

उन लोगों ने यह भी बताया कि ऐसे जरूरतमन्द लड़कियों की सहायता भी हो जाती है। कालेज में पढ़नेवाली लड़कियों को फीस के लिए पैसा मिल जाता है। आप विस्मय न मानियेगा कि पत्नियाँ आती हैं और सवेरे-सवेरे पति आकर उन्हें ले जाते हैं। कुछ इससे उन्हें सहारा ही होता है।

कोरम-कोर कमाईबाज़ी

यह हालत भारत में बड़े शहरों में भी हो सकती है। लेकिन कारण लगभग वही हैं।

प्राचीन भारत की वरवधू, मैं समझता हूँ, भिन्न थी। उस संस्था में सौन्दर्य, कला संस्कृति के तत्त्व भी शायद कुछ रहे हो सकते हैं। पर अर्थ के तल पर यह कोरम-कोर कमाईबाजी की बाध्यता आज की सभ्यता का फल है। उस दबाव के नीचे पारिवारिक नैतिकता कैसे टिकेगी, मैं देख नहीं पाता।

उद्योगवाद और परिवार

७७. ऐसी स्थिति में दाम्पत्य वहाँ कैसा चल पाता है? इस पर आपने ऊपर प्रकाश नहीं डाला। कुछ भी हो, इस स्थिति को स्वतंत्र प्रेम के नाम पर संगत ठहराया नहीं जा सकता।

—स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण का फल है सन्तति। उसके लिए विवाह और परिवार की व्यवस्था है। पशु की-सी सुविधा मनुष्य-जाति को नहीं है। मानव-शिशु जन्म पर बहुत असमर्थ होता और उसे पालन-पोषण की आवश्यकता होती है। इसके लिए नाना प्रयोगों के बाद मानव-जाति ने अधिकांश आज एक विवाह-आश्रित परिवार-व्यवस्था स्वीकार की है। जहाँ कृषिप्रधान समाज है, वहाँ तो यह परिवार-संस्था फैलती और घनी होती गयी। संयुक्त परिवार खास तौर से भारत में बहुत ही पल्लवित और फलित हुआ है। उद्योगवाद की परिस्थितियों में इस संस्था पर दबाव पड़ता है। परिवार की संयुक्तता फटती है, वह उस भार के तले छोटा होता जाता और अन्त में पति-पत्नी तक सिमिट आता है। कल्पना की जा सकती है उन परिस्थितियों की, जब हर युद्धक्षम पुरुष से माँग हो कि वह सैनिक बने। तब रहन-सहन का ढंग छावनियों और बैरकों का रूप ले सकता

है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों से जो सन्तति हो, उसके लिए अलग बैरक या नर्सरी आदि हो सकती है। वह विकट अवस्था आज अभी आयी नहीं है। लेकिन कर्म-वाद और अर्थवाद इसी तरह हम पर सवार रहा, तो शायद आ भी सकती है।

प्रेम विश्वास विलुप्त नहीं

ऊपर से आप यह न मान लीजियेगा कि प्रेम, विश्वास और वफादारी का भाव वहाँ दाम्पत्य में रह नहीं गया है। नहीं, मानव-स्वभाव के वे गुण नष्ट कैसे हो सकते हैं? तब तो मनुष्य का ही नाश आ जायगा। लेकिन जिस प्रकार का अर्थतन्त्र, राज्यतन्त्र और समाज-तन्त्र वहाँ अपने बीच उपजा लिया गया है, उसके दबावों में से क्या विकार फलित हो रहे और हो सकते हैं, यही देखने की बात है।

मैं भारत या भारतीय की दृष्टि से ही विचार नहीं करता हूँ जब कहता हूँ कि वह गली अंधी है, आगे रुक जाती है।

अपारिवारिक सेक्स-जीवन

७८. (अ) इस विकृत एवं अपारिवारिक सेक्स-जीवन से क्या मानव के मन पर दबाव कम हो पाते हैं? (ब) उससे क्या व्यक्ति वास्तविक मनोरंजन एवं तृप्ति पाता है? (स) क्या आर्थिक दबाव के नीचे कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी नहीं रहते, जो मानव को इन आकर्षणों की तरफ़ खींचते हैं? (द) ऐसे उपभोगों का मानव-चेतना पर क्या प्रभाव पड़ता है?

—(अ) लैंगिक सम्बन्ध अपने को बाँटने और इस प्रकार भरने की आवश्यकता में से पैदा होता है। पत्नी से यह प्रयोजन साधा जाता है, तब पुरुष के अहं-भाव को उतनी खुराक नहीं मिलती है। जय-विजय की वासना और चेष्टा का अवकाश विवाहित अवस्था में कम है। हाँ, चाह से राह जो निकाली जाती है, उसमें अधिक सार्थकता जान पड़ती है।

—(ब) तृप्ति तीखी उन सम्बन्धों में प्रतीत होती हो, लेकिन भरी नहीं होती। कारण, समर्पण की अनुभूति नहीं होती।

पैसे से मिला आह्लाद-विषाद

—(स-द) आर्थिक और मनोवैज्ञानिक ये एक ही वास्तविकता के आत्मिक और सामाजिक दो सिरे हैं। इसलिए इनमें आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया चलती ही रहती है। आर्थिक में मानसिक कारण होता है और मानसिक में आर्थिक भी

कारणीभूत होता है। इसीसे दो प्रकार के कार्यकर्ता भी नजर आते हैं। जो परिस्थिति की ओर से सुधार का उद्यम करते हैं, वे राजनीतिक; मानव-चेतना की ओर सचेष्ट रहनेवाले सांस्कृतिक। मन खाली रहता और दौड़ता है। सम्बद्धता (सेंस ऑफ बिलौंगिंग) जैसे भीतर से स्थगित हो जाती है, जेब में पैसा रहने पर तब व्यक्ति बाहर की ओर बढ़ता और सम्बन्ध खरीद लेना चाहता है। पैसा न रहने पर वह विषाद की गहराई में उतरता अनुभव करता है, विषाद में से ही यदि कल्पना और भावना के माध्यम से कोई सम्बद्धता पैदा की जा सके, तो सृजन-शक्ति फूटती है। धर्म, दर्शन, कला आदि की सृष्टि अधिकांश इसी मनोदशा में से हुई है। पैसा पास होने पर यह कम सम्भव बनता है और पैसे के जोर पर जो सम्बद्धता तत्काल के लिए खरीदकर पैदा की जाती है, वह सम्बन्धहीनता सिद्ध होती है और आदमी पीछे ठगा-सा रह जाता है। कुल मिलाकर अहं का समर्पण नहीं हो पाता है। वैसे उपभोग में से अहंभाव लौटकर तीखा और कसा ही बनता है। यह वृत्ति फिर वैयक्तिक संघर्ष और उन्नति को प्रेरित करती और स्त्रीत्व के प्रति पौरुष में प्रभुता की वासना लाती है।

सेक्स और समग्र जीवन

७९. मैं यह जानना चाहता हूँ कि सेक्स मानव-मन, बुद्धि, हृदय एवं सभ्यता-संस्कृति से संम्बद्ध माना जाय या नहीं? यदि हाँ, तो उसकी समग्र संस्कृति पर क्रिया-प्रतिक्रिया होगी। योरप में जो सेक्ससम्बन्धी अनैतिकता जोर पकड़ गयी है, उसका वहाँ की समग्र संस्कृति पर और मानव के समग्र व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ा है?

काम जीवन-मूल

—काम (सेक्स) जीवन-मूल में ही है। आपके गिनाये शेष तत्त्वों को बल्कि पल्लवन की अवस्था के कहिए। मूल पत्र, पुष्प, फल आदि से असम्बद्ध कैसे हो सकता है?

नैतिक-अनैतिक

अनैतिकता शब्द प्राथमिक नहीं है, सामाजिक है। अर्थात् वैज्ञानिक विचार में हम उसे बाहर भी रख सकते हैं। समाज की अपेक्षा से ही नैतिक-अनैतिक की सृष्टि होती है। मानव-जाति के विविध समूह-समाजों की भिन्न-भिन्न रीति-नीति होने के कारण नैतिक-अनैतिक की रेखा व धारणा भी वहाँ भिन्न होती है।

पश्चिम के समाज को अनैतिक ठहराने का अधिकार मेरा नहीं है। ऊपर यदि अनैतिक शब्द आया है, तो पारिवारिक नैतिकता को केन्द्र में लेकर। हो सकता है, प्रयोगपूर्वक मानव-समाज ऐसी जगह पहुँचे, जहाँ उसकी नैतिकता की धारणा परिवार-केन्द्रित न रह जाय। तब उस ढंग से विचार करना होगा। लेकिन आज पश्चिम के जिन देशों की चर्चा है, वे अपने तन्त्र में विवाह और परिवार को मान्य ठहराते हैं, इसलिए विवाह से बाहर के लैंगिक सम्बन्ध अनैतिक ठहरते हैं।

पश्चिम का अन्तर्द्वन्द्व

इस प्रकार के विवाहेतर सम्बन्ध यदि अनिवार्य बनते हैं, यदि यह भी अनिवार्य होता है कि ऐसे सम्बन्धों की संख्या गुणानुगुणित होती जाय, तो दो दिशाओं में विचार करना होगा। एक तो यह कि समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, जगत्-व्यवस्था में क्या परिवर्तन व सुधार किया जाय, जो हमारी नैतिक धारणाओं के अनुकूल पड़े और मूल्यों को सुरक्षित रखे। या फिर यह सोचना होगा कि नैतिक धारणाओं और मूल्यों को क्या मोड़ दें कि वे आज की सब उन्नति और विविधता को अपने में समा सके। पश्चिम के आज के साहित्य में यह द्वन्द्व पूरे तौर पर प्रतिबिम्बित दीखता है। वहाँ का राजकारण भी जो अस्थिर है, सो इसी कारण। पूर्वी योरप, जहाँ साम्यवाद कुछ जम चुका है, अब उतना अस्थिर नहीं है। वहाँ फिर लौटकर विवाह और परिवार की पवित्रता की प्रतिष्ठा की जा रही है। तदनुकूल समाज-व्यवस्था और राजतन्त्र का निर्माण किया जा रहा है। पर कुल मिलाकर पश्चिम की सभ्यता इस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त नहीं है और मेरा विचार है कि बड़े द्रुत वेग से होनेवाली वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के नीचे या तो नैतिक विचारणा टूटेगी या व्यवस्था हटेगी। तनाव इतना विकट है कि वहाँ के साहित्य में से इसकी पूरी चेतावनी मिल जाती है।

पति-पत्नी में तनाव

यह तनाव सिद्ध होता है मानसिक रोगों की बढ़ती जाती हुई गणना से। जीवन के वेग में और सामाजिक नीति-मानों की स्थिरता में घोर अनबन बन आयी है। व्यक्ति-मानस अशान्त रहता है, उसे समाधान की स्थिति नहीं प्राप्त होती। इस स्थिति का प्रभाव व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्ध के सूत्रों पर बड़ा बोझ डालता है। उस क्षेत्र में बड़ी उद्भ्रान्तावस्था दीखती है। आपका साथी साथी नहीं रह सकता, सभ्यता के वेग और आवर्त में आपको अलग और साथी को अलग चक्र में घूमना

पड़ता है। घर की एक ही छत के नीचे कुछ देर को आप मिल पाते हैं, तो मालूम होता है कि व्यवधान है, जिसमें नाना प्रश्न, संशय और सह्यताएँ पड़ी हुई हैं। आप विश्वास से चलते हैं, पर विश्वास पर दबाव बना रहता है। अन्त में क्योंकि आप दोनों उदारता और स्वतन्त्रता के आदर्श में विश्वास करते हैं, आप दोनों के बीच ठंडक जम जाती है और शिष्टाचार का उपचार रह जाता है। यह तो समझ में नहीं आता कि घर कैसे तोड़ा जाय, इसलिए वह घर ऐसे पति-पत्नी को लेकर चलता जाता है, जो अजनबी हैं, इसलिए मित्र हैं। असल में पति-पत्नी रह चुकने के कारण न मित्र की भाँति रहना सम्भव होता है, न अजनबी की भाँति, और जीवन पर एक अजब कृत्रिमता छायी रहती है। यह घर तो उत्तम नमूने का है, इससे घटिया प्रकार के घरों की तो आप बात ही न कीजिये।

बन्धन से सुरक्षा की नीति में स्त्री को घाटा

स्वतन्त्रता सबको प्यारी है, लेकिन सभीको भारी है। भारी है, इसलिए एक-दूसरे के पास खिचते और आपसी लिपट में बन्धन खोजते हैं। लेकिन प्यारी है, इससे फिर एक-दूसरे से आजाद हो जाते हैं और परिणाम का दायित्व नहीं उठाना चाहते। ऐसे हृदय का सम्बन्ध आमोद-विनोद और पैसे का अनुबन्ध रह जाता है। सम्बन्ध के बीच में पैसे का हिसाब आने पर जैसे बन्धन समाप्त हो जाता है और दोनों ओर आजादी बनी रहती है। विवाह की स्थिति 'सोशल कांट्रेक्ट' की होती और फिर आगे बढ़कर 'म्युचुअल एग्रीमेंट' की हो जाती है। इस विकास में हम यह देख सकते हैं कि बन्धन (इन्वोल्वमेंट) से सुरक्षा खोजी गयी और व्यक्तिगत सुरक्षा अपनायी गयी है। इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर उन्नति को बहुत अवकाश और आयाम मिला है और निस्सन्देह सभ्यता की सफलताएँ इस बुनियाद पर खड़ी होकर इतनी ऊँची उठ सकी हैं। लेकिन ठीक उसी कारण सम्बन्ध-तन्तुओं में क्षीणता और अस्थिरता आती गयी है। कर्तव्य-भावना ने स्वतन्त्रता के विचार से अपना सम्बन्ध जोड़ा है, प्रेमार्पण और तद्‌जनित त्याग और यज्ञ की आवश्यकता से सम्बन्ध तोड़ लिया है। कर्तव्य-बुद्धि में से सभ्य जनोचित शिष्टाचार का अपरिसीम विकास हुआ है; लेकिन प्रतिष्ठा परस्पर भोग की हुई है, परस्पर उत्सर्ग को नहीं। इसमें मैं मानता हूँ कि स्त्री को वेहद घाटे में रहना हुआ है, क्योंकि प्रकृति की ओर से ही उसे मातृ-धर्म मिला है, अर्थात् व्यसन से अधिक वहन और सहन का धर्म।

८०. स्त्री के घाटे में रह जाने की बात को आपने पहले भी एक जगह कहा था और उसका सम्बन्ध उसकी उत्पादन-क्षमता की हीनता से जोड़ा था। इस वैज्ञा-

निक युग में स्त्रियाँ बड़े-से-बड़े पदों पर सुशोभित हैं और तंत्र में नितान्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं। जहाँ तक सेक्स का सम्बन्ध है, भूख दोनों तरफ बराबर है और उसको बराबरी के स्तर पर लिया और समझा गया है। फिर स्त्री को पहले की अपेक्षा आज नफे में क्यों नहीं आप मान सके हैं?

सिक्का और सहृदयता

—सम्बन्ध पैसे पर बनेंगे और चलेंगे, तो मैं नहीं समझ सकता कि स्त्री घाटे में रहने से कैसे बच सकती है। एकआध महिला यहाँ-वहाँ म्युनिसिपल बोर्ड पर हो गयी या राज्य के परामर्श में, तो कृपया आप भ्रम में न पड़िये। खोजेंगे, तो शायद आप पायेंगे कि इतना भी रू-रियायत के या पुरुष के कारण हुआ है। पैसा हिसाब पर चलता है, हृदय हिसाब नहीं जानता। स्त्री के पास निश्चय ही हृदय का धन अधिक है। इसलिए जब धन सिक्का होगा, तब सहृदयता का मूल्य बढ़ेगा, यह असम्भव मानना चाहिए; हृदयमूल्य का घटना तो अनिवार्य ही है।

सहृदय पुरुष भी घाटे में

८१. सहृदय तो पुरुष भी कम नहीं होते। तो क्या वे भी घाटे में रहते हैं?

—अवश्य रहते ही हैं। हृदय की कोमल भावनाओं को मूल्य देनेवाले कवि, कलाकार, साहित्यकार का क्या भाग्य होता है? वह अर्थ और स्वार्थ के बारे में आग्रही नहीं हो सकता है, तो उसे नीचे रहना ही होगा। यह आग्रह उसकी प्रकृति में नहीं है, उसके वश का नहीं है। भाव में वह बिछ और बह जाय, हिसाब में अटका न रहे, यह बिलकुल सहज है। ऐसे व्यक्ति को व्यवसायी सभ्यता में जो भी भुगतना पड़े, उसे थोड़ा समझना चाहिए।

लेकिन कलाकार हैं, जिन्हें अकूत पैसा मिलता है, ख्याति भी मिलती है। कृपया ध्यान दीजिये कि उसकी प्रक्रिया क्या है। व्यवसायियों को और दुनियादारों के जगत् को इन भावुक व्यक्तियों से जब ऐसा कुछ प्राप्त होता है, जो उनका जी बहलाये, तभी उन लोगों के पास से पैसा निकलकर सहृदयों की सेवा और सिंचन में लगता है। अर्थात् वे इस कृपा के बल पर जीते और उठते हैं।

इतना होकर भी आप देखेंगे कि उनकी नस हिसाबदाँ के हाथ से बाहर नहीं हो पाती है। हिसाबदाँ है वह व्यक्ति, जो कवि को या कलाविद् को रायल्टी या वेतन देता है। अक्सर देनेवाला 'फर्म' होता है। फर्म का अर्थ मज़बूत भी है। हिसाब की मज़बूती से ही फ़र्म को फ़र्म कहते हैं।

स्त्री की उन्नति का मार्ग कुछ खुलता है, अगर वह पुरुषोचित बने। पुरुष का मार्ग कुछ बन्द होता है, अगर वह स्त्रियोचित गुण अपनाता है। व्यावसायिक सभ्यता में यही हो सकता है। उस सभ्यता का उद्भव पश्चिम से है और वह मैस्कुलिन है।

सैक्स में मनोरंजन

८२. सेक्स में जो मनोरंजन मात्र देखा जाता है और उसको अपने दबाव को हल्का करने का साधनमात्र मानकर चला जाता है, यह स्थिति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक उचित मानी जानी चाहिए?

—उचित-अनुचित विशेषणों द्वारा मैं विचार नहीं करना चाहता। ऐसा विचार वैज्ञानिक होता भी नहीं।

मनोरंजन को क्या हर कोई गहरा और घना नहीं बनाना चाहता। क्या हर कोई नहीं चाहेगा गम्भीर तृप्ति और उपलब्धि को? अगर मनोरंजन गम्भीर तृप्ति और उपलब्धि तक नहीं जा पाता है, तो यह कहने में क्या अर्थ है कि यह उचित या अनुचित है? जिसके हाथ जो पात्र है, उसी हिसाब से यदि वह जीवन में से रस लेता है, तो उसमें दोष या श्रेय का क्या प्रश्न है? इससे मैं नहीं चाहता कि कोई भी दूसरे का जज बनकर विचार करने बैठे। ऐसे जो हुआ करता है, वह विचार नहीं है, केवल बचाव है।

'मैं' भी स्वतन्त्रता का आदर्श

एक बात समझ लेनी चाहिए। वह यह कि हम एकान्त नहीं हैं। मैं की भाषा में बोलते हैं, उसके द्वारा व्यवहार-वर्तन करते और काम-काज चलाते हैं। लेकिन वह 'मैं' माध्यम है, द्वारा है, भाषा है, सचाई नहीं है। तथ्य भर है, सत्य बिलकुल नहीं है।

अब क्या होता है कि 'मैं' को लेकर हम स्वतन्त्रता के आदर्श को बढ़ाते हैं। इसमें भूल जाते हैं कि इस आदर्श का सार नकारात्मक है। अर्थात् स्वतन्त्रता के आदर्श का मूल्य इस अर्थ में है कि हम उसका हरण न करें। हर एक स्वतन्त्र है, केवल मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ कि किसीकी स्वतन्त्रता को दबाऊँ। उसके इस सच्चे आशय को लाँघकर जब स्वतन्त्रता को मैं निरपेक्ष आदर्श मानकर पकड़ता हूँ, तो स्वरूप यह बनता है 'मैं हूँ, रहूँगा। औरों की ऐसी तैसी।' स्वतन्त्रता का यह स्वरूप कर्त्तव्यों से मुक्त हो जाता है और यदि आदमी उसमें ही अपने को उठाता जाय, तो अनुभव करेगा कि वह एकान्त है, वीरान है, व्यर्थ है।

निक युग में स्त्रियाँ बड़े-से-बड़े पदों पर सुशोभित हैं और तंत्र में नितान्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं। जहाँ तक सेक्स का सम्बन्ध है, भूख दोनों तरफ़ बराबर है और उसको बराबरी के स्तर पर लिया और समझा गया है। फिर स्त्री को पहले की अपेक्षा आज नफ़े में क्यों नहीं आप मान सके हैं?

सिक्का और सहृदयता

—सम्बन्ध पैसे पर बनेंगे और चलेंगे, तो मैं नहीं समझ सकता कि स्त्री घाटे में रहने से कैसे बच सकती है। एकआध महिला यहाँ-वहाँ म्युनिसिपल बोर्ड पर हो गयी या राज्य के परामर्श में, तो कृपया आप भ्रम में न पड़िये। खोजेंगे, तो शायद आप पायेंगे कि इतना भी रू-रियायत के या पुरुष के कारण हुआ है। पैसा हिसाब पर चलता है, हृदय हिसाब नहीं जानता। स्त्री के पास निश्चय ही हृदय का धन अधिक है। इसलिए जब धन सिक्का होगा, तब सहृदयता का मूल्य बढ़ेगा, यह असम्भव मानना चाहिए; हृदयमूल्य का घटना तो अनिवार्य ही है।

सहृदय पुरुष भी घाटे में

८१. सहृदय तो पुरुष भी कम नहीं होते। तो क्या वे भी घाटे में रहते हैं?

—अवश्य रहते ही हैं। हृदय की कोमल भावनाओं को मूल्य देनेवाले कवि, कलाकार, साहित्यकार का क्या भाग्य होता है? वह अर्थ और स्वार्थ के बारे में आग्रही नहीं हो सकता है, तो उसे नीचे रहना ही होगा। यह आग्रह उसकी प्रकृति में नहीं है, उसके वश का नहीं है। भाव में वह बिछ और बह जाय, हिसाब में अटका न रहे, यह बिलकुल सहज है। ऐसे व्यक्ति को व्यवसायी सभ्यता में जो भी भुगतना पड़े, उसे थोड़ा समझना चाहिए।

लेकिन कलाकार हैं, जिन्हें अकूत पैसा मिलता है, ख्याति भी मिलती है। कृपया ध्यान दीजिये कि उसकी प्रक्रिया क्या है। व्यवसायियों को और दुनियादारों के जगत् को इन भावुक व्यक्तियों से जब ऐसा कुछ प्राप्त होता है, जो उनका जी बहलाये, तभी उन लोगों के पास से पैसा निकलकर सहृदयों की सेवा और सिंचन में लगता है। अर्थात् वे इस कृपा के बल पर जीते और उठते हैं।

इतना होकर भी आप देखेंगे कि उनकी नस हिसाबदाँ के हाथ से बाहर नहीं हो पाती है। हिसाबदाँ है वह व्यक्ति, जो कवि को या कलाविद् को रायल्टी या वेतन देता है। अक्सर देनेवाला 'फर्म' होता है। फर्म का अर्थ मज़बूत भी है। हिसाब की मज़बूती से ही फ़र्म को फ़र्म कहते हैं।

स्त्री की उन्नति का मार्ग कुछ खुलता है, अगर वह पुरुषोचित बने। पुरुष का मार्ग कुछ बन्द होता है, अगर वह स्त्रियोचित गुण अपनाता है। व्यावसायिक सभ्यता में यही हो सकता है। उस सभ्यता का उद्भव पश्चिम से है और वह मैस्कुलिन है।

सैक्स में मनोरंजन

८२. सेक्स में जो मनोरंजन मात्र देखा जाता है और उसको अपने दबाव को हल्का करने का साधनमात्र मानकर चला जाता है, यह स्थिति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक उचित मानी जानी चाहिए?

—उचित-अनुचित विशेषणों द्वारा मैं विचार नहीं करना चाहता। ऐसा विचार वैज्ञानिक होता भी नहीं।

मनोरंजन को क्या हर कोई गहरा और घना नहीं बनाना चाहता। क्या हर कोई नहीं चाहेगा गम्भीर तृप्ति और उपलब्धि को? अगर मनोरंजन गम्भीर तृप्ति और उपलब्धि तक नहीं जा पाता है, तो यह कहने में क्या अर्थ है कि यह उचित या अनुचित है? जिसके हाथ जो पात्र है, उसी हिसाब से यदि वह जीवन में से रस लेता है, तो उसमें दोष या श्रेय का क्या प्रश्न है? इससे मैं नहीं चाहता कि कोई भी दूसरे का जज बनकर विचार करने बैठे। ऐसे जो हुआ करता है, वह विचार नहीं है, केवल बचाव है।

'मैं' भी स्वतन्त्रता का आदर्श

एक बात समझ लेनी चाहिए। वह यह कि हम एकान्त नहीं हैं। मैं की भाषा में बोलते हैं, उसके द्वारा व्यवहार-वर्तन करते और काम-काज चलाते हैं। लेकिन वह 'मैं' माध्यम है, द्वारा है, भाषा है, सचाई नहीं है। तथ्य भर है, सत्य बिलकुल नहीं है।

अब क्या होता है कि 'मैं' को लेकर हम स्वतन्त्रता के आदर्श को बढ़ाते हैं। इसमें भूल जाते हैं कि इस आदर्श का सार नकारात्मक है। अर्थात् स्वतन्त्रता के आदर्श का मूल्य इस अर्थ में है कि हम उसका हरण न करें। हर एक स्वतन्त्र है, केवल मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ कि किसीकी स्वतन्त्रता को दबाऊँ। उसके इस सच्चे आशय को लाँघकर जब स्वतन्त्रता को मैं निरपेक्ष आदर्श मानकर पकड़ता हूँ, तो स्वरूप यह बनता है 'मैं हूँ, रहूँगा। औरों की ऐसी तैसी।' स्वतन्त्रता का यह स्वरूप कर्त्तव्यों से मुक्त हो जाता है और यदि आदमी उसमें ही अपने को उठाता जाय, तो अनुभव करेगा कि वह एकान्त है, वीरान है, व्यर्थ है।

सार्थकता देने में

इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि स्वतन्त्रता देने में सार्थक होती है, लेने में वह निरर्थक पड़ जाती है।

प्रकृति ने यद्यपि हमें मैं के साथ पैदा किया है, पर एकान्त और एकाकी नहीं बनाया है। सम्बन्धों के बीच हमें सिरजा गया है। मैं की अनुभूति उन सम्बन्धों की स्वीकृति की सुविधा देती है। इससे अधिक मैं का काम नहीं है। अधिक जो होता है, वह इसलिए बेकाम और दुष्काम हो जाता है। उसे अहंकार कहते हैं।

स्वरति और प्रेम

लेकिन मैं का प्यार लेकर हम चलते हैं। इसको स्वरति कहिये। इसमें से देखी गयी स्वतन्त्रता मानो लेने की ही चीज रह जाती है, देने से उसका सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाता है। उन्नति वह बनती है, जो स्व की निजता और पृथक्ता के आधार पर होती है, व्यक्ति के मैं को पुष्ट करती है। उसके चित्त में से कर्तव्य के बन्धन को शिथिल करती और अधिकार के दावे को तेज करती है। इस मनो-भाव से जब स्त्री-पुरुष परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तो मानो दोनों अपनी आजादी एक ही साथ खोना और रखना चाहते हैं। खोना तो विधाता के विधान के वश होकर चाहते हैं, रखे रहना अपने अहंकृत आदर्श के वशीभूत होकर चाहते हैं।

अनुबन्धन नहीं, अनुरंजन

कोई सम्बन्ध या दुनिया में कोई घटना ऐसी नहीं है, जिसकी परिणति या परि-णाम न हो। प्रत्येक सम्बन्ध एक प्रकार का अनुबन्ध भी होता है। अनुबन्ध को हम, बीच में पैसे को लाकर, सम्बन्ध होने से थोड़ा बचा लेते हैं। मानो उस प्रकार उसे समय में सीमित कर देते और परिणाम के दायित्व से बचा लेते हैं। मनोरंजन इसीको कहा जाता है। दोनों ओर मनों का अनुबन्धन नहीं होता, सिर्फ अनुरंजन होता है। दोनों अनुरंजन के नाते मिलते हैं तो मिलते हैं, शेष अलग, आजाद और अजनबी बने रहते हैं। यह सुविधा किसीको कम नहीं करती, मानो अनुरंजन देकर दोनों को बढ़ा जाती है।

पर एक उलझन

साधारणतया यह आपसी मनोरंजन का रिश्ता परस्पर स्वातन्त्र्य देनेवाला होता है। लेकिन गहरे में कहीं थोड़ी उलझन भी पड़ जाती है। वह उलझन इस कारण

कि क्षण कोई स्वतन्त्र कटा-छँटा नहीं होता और पूर्व और पर में एक तारतम्य का सूत्र रहता ही है। मन इस सूत्र की सृष्टि करता है, या उससे विद्रोह करता है। लेकिन यह पूर्वापरता, यह परम्परा, यह कर्मफलता का तत्त्व किसी तरह भी निष्क्रिय नहीं हो पाता।

नैतिक की सृष्टि

ठीक इसी जगह नैतिक की सृष्टि होती है। मान लीजिये, दो मिले और गर्भाधान हो गया; या नहीं भी हुआ, तो याद और कसक बनी रही। बीच में पैसा ले आकर क्षण को मानो उस पैसे के जोर से दूसरे क्षण से काटकर हमने अलग कर दिया। दायित्व जैसी वस्तु अब किसी ओर रह नहीं जाती है। लेकिन परिणाम और अवशिष्ट बचा ही रहता है। इस तरह समस्या उत्पन्न होती है।

नैतिक की समाप्ति असम्भव

मैं नहीं मान सकता कि आर्थिक के जोर से नैतिक को समाप्त किया जा सकता है। अर्थाधार लेकर यह तो हो सकता है कि अनुबन्ध को तात्कालिकता दे रहें और सम्बन्ध की स्थायिता और पवित्रता देने से उसे बचा लें। लेकिन व्यवहार के तल पर ही यह हो सकता है, चेतना के तल पर सर्वथा अशक्य है। लाख शराब की सहायता हो, या दूसरे आदर्शों व तत्त्वों का सहारा हो, चेतना में से नैतिकता को और विवेक के काँटे को खतम नहीं किया जा सकता है। उन्नति का हो या स्वतन्त्रता का हो, कोई नशा यह काम नहीं कर सकता।

मानसिक रोगों की बढ़ती के नीचे इसी अशक्य साधन की चेष्टा को मानना चाहिए।

साम्यवादी देशों में पारिवारिकता

८३. जिन देशों में साम्यवाद है, उन देशों में भी पारिवारिक नैतिकता एवं सेक्स की उच्छृंखलता क्या उसी स्तर पर है, जिसका स्वरूप आपने ऊपर वर्णित किया है? वहाँ पारिवारिक स्नेह, जिम्मेदारी और संग्रह-विग्रह आदि की क्या स्थिति है?

—साम्यवादी देशों के बारे में अधिकारपूर्वक मैं विशेष नहीं कह सकता। वहाँ भी भिन्न देशों की भिन्न स्थिति हो सकती है। रूस और चीना की अवश्यकताएँ अलग हैं। साम्यवादी व्यवस्था के आरम्भ की दृष्टि से दोनों देशों में अनेक दशक-वर्षों का अन्तर है। अपेक्षाकृत साम्यवादी व्यवस्था में पारिवारिकता को बल और प्रश्रय दिया जा रहा है। लेकिन रूस को जब कि जनसंख्या में वृद्धि की आवश्यकता

है, चीन के लिए वह वृद्धि समस्या बन गयी है। इन कारणों से पारिवारिकता के सम्बन्ध में भी दोनों के रुखों में कुछ अन्तर हो, तो कुछ अचरज की बात नहीं है।

मैंने जो ऊपर कहा, उसका सम्बन्ध जीवन-विधि और जीवन-दर्शन से विशेष है। मेरा मानना है कि साम्यवाद पाश्चात्य-सभ्यता में से निकला है, उसका अंग है, उसीका तर्कान्त है। राज्य को जब हम केन्द्र में लेते और अधिकाधिक महत्त्व का बना देते हैं, तब जन दोयम पड़ जाता है; नियम और धन पहला हो जाता है। इस दर्शन के नीचे हमेशा सम्भव है कि लोगों के आपसी सम्बन्ध प्रयोजन को लेकर जुड़ें और उससे गहरे बने बिना भी चल सकें। वह व्यवस्था जहाँ पारिवारिक सम्बन्धों में स्थिरता और घनता बढ़े कुछ वह होनी चाहिए, जहाँ श्रम का मूल्य धन से प्रथम और स्वप्रतिष्ठ हो। साम्यवादी व्यवस्था उस आदर्श का नाम लेती है सही, पर वैसी है नहीं।

अपराध-वृत्ति

८४. इन साम्यवादी देशों में भरपेट भोजन व स्वच्छन्द विहार के द्वारा अपराध-वृत्ति को क्या एकदम समाप्त नहीं कर डाला गया है? यदि नहीं, तो वहाँ अपराध की क्या स्थिति है?

—अपराध के लिए उत्तेजना और अवसर वहाँ कम है। भरपेट भोजन तो है, लेकिन काम के आधार पर है। इसलिए फालतू चीजों के लिए समय और सुविधा उतनी नहीं है।

२

वर्ग-विचार और राष्ट्रवाद

जाति और धर्म

८५. योरप के समाज में जो विभिन्न वर्ग हैं, उनका आधार जातीय व धार्मिक अधिक है अथवा आर्थिक ?

—आर्थिक ही कहना चाहिए। वैसे प्रादेशिक भावना भी सब जगह मौजूद है।

८६. तब वहाँ जातीयता एवं धर्मों की क्या स्थिति है ?

—धर्म की प्रधानता नहीं है और जातीयता को राष्ट्रीयता और प्रादेशिकता का आधार मिल गया है। नात्सी जर्मनी जातीय गौरव और परम्परा के नाम पर उठा था। लेकिन उस जातीयता को राष्ट्रीयता का आधार बना लिया गया था।

८७. क्या वहाँ जातीयता और धर्म का राजनीति पर कुछ भी प्रभाव बाकी बचा है ?

राष्ट्रवाद प्रधान

—हाँ, प्रभाव तो है। लेकिन राष्ट्रवाद सब जगह प्रधान है। राज्यप्रधान व्यवस्था में राष्ट्रवाद पनपे बिना रह नहीं सकता। सोशलिज्म और कम्युनिज्म राष्ट्राधारित धारणाएँ नहीं हैं। लेकिन सोशलिज्म नेशनल बना और कम्युनिज्म का भी नेशनल रूप देखा जा सकता है। किसी-न-किसी प्रकार धार्मिक और जातीय धाराएँ इन राष्ट्रवादों को अपना बल दे जाती हैं।

आर्थिक वर्ग

८८. विभिन्न आर्थिक वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों का वहाँ क्या स्वरूप है ?

—साम्यवादी देशों में तो विधान से, दूसरों में वस्तुता से, राज्य की शक्ति ही प्रधान है। आर्थिक स्तरों व वर्गों में सन्तुलन उसी जोर से साधे रखा जाता है। वे वर्गीय स्वार्थ इस तरह गठित नहीं हो पाते कि सीधे विग्रह में आ सकें। इस

प्रकार के व्यक्ति-संघर्षों और समूह-संघर्षों को बचाने का काम करने के लिए सब देशों ने अपनी-अपनी व्यवस्थाओं का निर्माण किया है और वे कुछ विभिन्न भी हैं। वर्ग एवं हित-सन्तुलन का प्रश्न फिर भी सरकारों के लिए एक जीवित प्रश्न बना रहता है। फ्रांस में दिगाल से पहले कितनी जल्दी-जल्दी सरकारें बन-गिर रही थीं। कुल मिलाकर पश्चिम के देशों की समाज-व्यवस्था में स्थिरता के तत्त्व कम और अस्थिरता के ही अधिक हैं। इसी कारण राष्ट्रीय स्तर पर विग्रह का डर बना रहता और शस्त्रास्त्र की तैयारी करते ही रहना पड़ता है। यह मूलतः उस जीवन-दर्शन के कारण है, जो वहाँ लोक-मानस को संचालित करता है और जिसमें स्वत्व प्रधान है, परत्व प्रयोजनार्थ है। इस आधार पर बनी उन्नति चैन नहीं ले सकती, स्पर्द्धा और विग्रह की उत्पत्ति जरूरी होती है।

मजदूर-आन्दोलन

८९. पश्चिमी देशों में मजदूर-आंदोलनों को किस प्रकार नियन्त्रित रखा गया है? वहाँ ट्रेड यूनियन आन्दोलन राजनीति को कितनी दूर तक प्रभावित करती है?

—ट्रेड-यूनियन आन्दोलन में वामपक्षीय विचार का आधार है। समाज और साम्य दोनों ही शब्दों के हामी और वादी दल इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं। समाजवादी ट्रेड-यूनियनिस्ट राष्ट्रीय सरकारों से मेल रखकर चलते हैं और साम्यवादी असुविधा उत्पन्न करने में विश्वास रखते हैं। यह विग्रह राजनीतिक है और विविध देशों की राजनीति के हिसाब से उसका स्वरूप भी भिन्न है। श्रम और श्रमिक की समस्या तक सीमित रखने का उद्योग समाजवादी विचार की ओर से होता है; साम्यवादी श्रम-हित में ही उसे राजनीति से अलग करके नहीं देखना चाहते हैं। स्पष्ट है कि साम्यवादी देशों में ट्रेड-यूनियनवाली चीज अगर है, तो शासन की ओर से है। शासन पर उसके दबाव या प्रभाव आदि का प्रश्न नहीं उठता है।

सफल व्यवस्था

९०. परस्पर अविश्वस्त योरप की पश्चिमीय व्यवस्था क्या उसकी पूर्वीय व्यवस्था का मुकाबला कर पा रही है? क्या धीरे-धीरे पूर्वीय व्यवस्था पश्चिमी के ऊपर हावी होती नहीं जा रही है?

—पूर्वीय व्यवस्था साम्यवादी है। उसका आशय कि वहाँ सत्ता बिखरी हुई नहीं है और साधन भी बिखरे हुए नहीं हैं। एक संकल्प और आदेश के नीचे सब शक्ति एक मुट्ठी में आकर जुट सकी है।

ठीक यही हाल पश्चिमी योरप का नहीं है। वहाँ उस प्रकार का केन्द्रीकरण न होने से सत्ता की मशीन उतनी द्रुतता और एकता से काम नहीं कर सकती और कुछ समय लेती है।

इसलिए आज की होड़ में और दौड़ में पूरब की व्यवस्था कुछ आगे निकली और अधिक सन्नद्ध और व्युत्पन्न दिखाई देती है।

साम्यवादी गुट और राष्ट्रवाद

९१. पश्चिमी देशों में तो राष्ट्रवाद प्रखर है ही और वे एक बाड़े में घिरे पशुओं की तरह परस्पर सींग मारते ही रहते हैं। पर क्या साम्यवादी गुट में भी राष्ट्रवाद को समाप्त किया जा सका है?

वर्ग-विचार

—राष्ट्रवाद वह आधार है, जिस पर दुनिया की व्यवस्था चल रही है। मार्क्स ने एक विचार दिया, जिसने बताया कि समाज खड़ी रेखाओं से प्रादेशिकताओं में बँटा नहीं है, बल्कि पड़ी रेखाओं से वर्गों-स्तरों में बँटा है। उसने वह दृष्टि दी, जिसमें पड़ोसी जरूरी तौर पर हमारा भाई और मित्र नहीं रहता, बल्कि वह अगर पूँजीपति हो, तो दुश्मन और शोषक बना दीखता है। 'दुनिया के मजदूर एक हो जाओ'—इस आवाज में यह मान लिया गया है कि देश-विदेश की रेखाओं से मजदूरों की जमात बँटी नहीं है। यह एकता की आवाज थी और उसमें असर था, लेकिन एकता जमात की थी और जमातपन मजूर होने के नाते। इससे जो मजदूर न थे उनसे गैर हो गये, और एक होने के माने उन सब गैर-मजदूर जमातों से लड़ने के लिए एक होना बन गया। इस विचार ने देश-विभाजन को मिटाया, तो वर्ग-विभाजन दे दिया। यानी लड़ाई नहीं मिटी, वह कायम रही।

वर्ग-विचार राष्ट्र-सीमित बना

इस नये वर्ग-विचार के आधार पर पहले अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद और फिर अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद चला और देश उसमें एक जगह आते और परस्पर अपना भेद खोते हुए जान भी पड़े। लेकिन उस क्रान्ति के एक राष्ट्र रूस में सफल होते और राज्य का रूप लेते ही जान पड़ा कि व्यवस्था के तल पर राष्ट्र को पहचानना और मानना ही जरूरी होता है। समाजवाद राष्ट्रीय हुआ, साम्यवाद राष्ट्रीय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौम क्रान्ति को प्राथमिक माननेवाला ट्राटस्की

क्रान्ति के शीर्ष से गिरकर लुप्त हो गया, राष्ट्रीय रूप में इस क्रान्ति को बाँधने और जमानेवाला स्टालिन शीर्षस्थ हो गया। यानी नये वर्ग-विचार ने परम्परा-गत राष्ट्र-विचार की बुनियाद को अपने अनुकूल पाना और बनाना शुरू कर दिया।

राष्ट्र-राज्य सर्वोपरि

साम्यवाद कर्म के क्षेत्र में विचारात्मक (आइडियोलॉजिकल) दृष्टिकोण और संकल्प को ऊपर लाता है। वह नयी वफादारी, पार्टी की वफादारी, पैदा करता है। भारतीय साम्यवादी भारत से भी ऊपर अमुक दलगत वफादारी को महत्त्व दे सकता है। लेकिन साथ ही प्रत्येक देश का साम्यवादी, यदि वह निरा आदर्श-वादी नहीं बना रहना चाहता, राजनीति में सक्रिय प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है, तो राष्ट्रीयता को उसे स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस तरह राष्ट्र सब कहीं उस इकाई के रूप में मौजूद है, जिसको लेकर विश्व-व्यवस्था चल रही है। व्यवस्था ही नहीं, विश्व की मानसिकता भी उसी आधार पर चलती है। राष्ट्र सर्वोपरि (सावरेन) है, राष्ट्र-राज्य सावरेन (सर्वोपरि) है। पंचशील, सह-अस्तित्व (को-एक्सिज़्टेंस) यूनो इसी तथ्य को दर्शाते हैं।

आधार अन्तर्राष्ट्रीयता, मानवता नहीं

इन सब राष्ट्र-राज्यों की 'सावरेंटी' को लेकर मानव-जाति झमेलों में पड़ती आयी है। युद्ध हुए हैं और पहले विश्व-युद्ध के बाद 'लीग आफ नेशन्स' बनी है। वह युद्ध नहीं रोक सकी, तो दूसरे युद्ध के बाद यू०-एन० का निर्माण हुआ और अब यू० एन० के रहते-रहते युद्ध की तैयारियाँ जोर-शोर से हो रही हैं और कभी उसकी गड़गड़ाहट तक सुनाई दे आती है। कारण, जैसे लीग-आफ-नेशन्स, वैसे ही यू० एन० मूल में राष्ट्र-राज्यों की सावरेंटी की ही स्वीकारता पर खड़ी हैं।

यदि सावरेन राष्ट्र-राज्य हैं, तो सुविधा होने या असुविधा होने पर पड़ोसी पर हमला करने से उन्हें कौन रोके और कैसे रोके? अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्वयं शक्ति-संतुलन के तत्व पर निर्भर खड़ी है और नीति की निष्ठा पर चल नहीं सकती। उसका निर्माण ही शक्ति की भूमिका और स्वीकारता पर हुआ है। नीति को ध्येय में लिया गया है, बुनियाद में नहीं। राष्ट्र-राज्य के प्रतिनिधि मिलकर अन्त-र्राष्ट्रीयता को बनाते हैं, मानवता के प्रतिनिधि असंगत और निरुपाय होते हैं। इस-लिए मानवता का प्रतिनिधि राजनीतिक व्यवहार में कोई रह नहीं जाता। मानवता किसी संस्थागत रूप में हमें प्राप्त नहीं है, न मानव-नीति सावरेन रूप में कहीं

प्रतिष्ठित है। इसलिए विश्व के स्तर पर जो पद्धति चलती है, वह राजनीति और शक्तिनीति ही रह जाती है। ये परिणाम राष्ट्र-राज्य-सावरेंटी व एतत् सम्बन्धी राजनीतिक धारणाओं के कारण प्राप्त होते हैं और उनमें से निकलना नहीं हो पाता।

ऋषि राज्य से श्रेष्ठ

सच यह है कि समूचा वह जीवन-दर्शन भ्रान्त है, जो जीवन-मूल्य को इस तरह प्रस्तुत करता है कि धन जन से बढ़ जाता है, राज्य ऋषि के ऊपर आ जाता है, शक्ति नीति पर हावी हो जाती है। वहाँ औंधापन है, दृष्टि की चूक है और उस राह कभी निस्तार आनेवाला नहीं है। कारण, यदि मूल्य शक्तिमूलक ही रहे होते, तो पशु से कभी मनुष्य बनने की आवश्यकता न होती। पर मनुष्य बना है, तो स्पष्ट है कि उन मूल्यों का विकास राज्य की दिशा में नहीं, नीति की दिशा में है, और अन्त में राज्य को श्रेष्ठतम नहीं, ऋषि को श्रेष्ठतर माना जाना है।

मानवीय राष्ट्र

राष्ट्र का वाद हमें उस दिशा में बढ़ने से रोकता है, वह वाद नीति को राज्यगत कर देता है। इसलिए वह राष्ट्र विश्व-व्यवस्था के सही विकास में साधक होगा, जो अपने सत्त्व और स्वत्व को सांस्कृतिक और मानवीय स्वरूप देकर उस आधार पर सर्वथा निःशस्त्र बनेगा; जो अपने भीतर सर्वथा समभावमूलक अर्थ-रचना और समाज-रचना उठाकर विश्व की राजनीति के आँगन में आयेगा। वह राष्ट्र होगा, जो अपने लिए बोलते समय सारी मानव-जाति के लिए बोल रहा होगा और उसका स्वार्थ केवल परमार्थ में अपनी आहुति दे जाना होगा।

गांधी की राष्ट्रीयता

मेरी प्रतीति है कि गांधी भारत की राष्ट्रीयता को वही संस्कार दे रहे थे और उस राष्ट्र-सत्ता से फिर वे मानवता की एकता के अभिक्रम की आशा रखते थे। उनको निश्चय था कि निःशस्त्रता का आरंभ यहाँ से होगा और भय-संशय का चक्र इस आत्म-निर्भीकता से टूटेगा।

ज़ाहिर है कि इस दृष्टि में राष्ट्र की एक अविरोधी और पूरक भावना हमको प्राप्त होती है। उसको लेकर रक्षा की पाँत जरूरी नहीं रह जाती और सीमा-रेखा नक्शे की ही सुविधा देती है, मनों को फाड़ने की शक्ति खो देती है।

९२. राष्ट्रवाद को व्यवहार में आपने अनिवार्य-सा माना है। तब उसके कुपरि-

णाम भी अनिवार्य हैं और आज स्पष्ट दृष्टि पड़ते हैं ऐसी अवस्था में विश्व-शांति का भविष्य क्या है? क्या भय और स्वार्थों के सन्तुलन पर वह टिकी रह सकती है?

राष्ट्र स्वार्पण करें

—नहीं, व्यक्ति को मानकर भी व्यक्तिवाद को बचाया जा सकता है। आखिर प्रेम सम्भव तभी होता है, जब हममें स्व का भाव है। वह भाव ही जब अभाव बन जाता है, कष्ट दे आता है, थोड़ा सूना और एकाकी-सा मालूम होता है, तब स्व का अभिमान ही भार हो जाता है, स्व के अर्पण की इच्छा होती है और पर के प्रति आत्म-निवेदन में तृप्ति और पूर्ति प्रतीत होती है। व्यक्ति के होने का अन्त में यही समर्थन है कि इसी प्रकार वह प्रेम की अनुभूति को पाता और व्याप्त होता है। राष्ट्र का राष्ट्रत्व, जैसे कि व्यक्ति का व्यक्तित्व, आत्मार्पण में से और समृद्ध और सम्पन्न बनेगा। स्व को लेकर, अभिमान और अहंकार को लेकर, जो हम चेष्टाएँ करते हैं, वे आखिर अल्हड़पन की समझी जाती हैं। राष्ट्र को लेकर राष्ट्रवादी अभिमान उसी तरह का अल्हड़पन है। राष्ट्र-भावना यदि सचमुच परिपक्व होगी, तो दर्प की जगह वहाँ दायित्व दिखाई देगा और शेखी का स्थान नम्रता लेगी।

भारत की एकता का रहस्य

ऊपर इसी अवास्तविक और अव्यावहारिक अवस्था की बात कही है। आप अपने इस भारत को ही लीजिये। आज तो एक विधान है और एक शासन है, लेकिन क्या कभी यह सुविधा इतिहास में भारतवर्ष के पास हो सकी है? राजनीतिक दृष्टि से शायद ही कभी भारत एक और अखण्ड रहा है। लेकिन इतिहासकार बतलाते हैं कि आज दुनिया में कोई संस्कृति जीवित है और अपनी परम्परा से अविच्छिन्न है, तो वह भारतीय है। वह कौन भारत है, जो हज़ारों-हज़ार वर्षों से अटूट और एक बना चला आया है? जिसके अन्दर निरन्तर टूट-फूट, युद्ध-विग्रह होते रहे हैं, फिर भी जो समूचेपन में अडिग और अचल बना रहा है, जो सतत है, सनातन है, वह भारत क्या है? भारत का वह धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में किसी पुस्तक, विधान या व्यक्ति का उल्लेख नहीं किया जा सकता है। किसीने उसे बाहर से या ऊपर से एक बनाकर नहीं रखा है। वैसा होता, तो एकता छिन्न-भिन्न हो गयी होती, अजस्र नहीं रह पाती। निरन्तर जो वह प्राण-वान् और प्रवहमान रही, तो इस कारण कि वह भीतर से आत्मिक गुण की तरह मानव-नीति के रूप में, सहज धर्म के रूप में, स्वीकृत और अंगीकृत होती चली

गयी। भारत का भाव आदिकाल से, लगभग अनादि-काल से, लोगोंको मनो में अनुभूत और प्राप्त बना रहा, राज्य के रूप में मूर्त देखने की निर्भरता कोई नहीं रही। राज्यों की नीति यहाँ भी और देशों की तरह खुलकर आपस में लड़ती-झगड़ती रही, मारकाट मचाती और खून-खराबा करती रही। लेकिन अपनी सनातन धर्म-नीति की निर्भरता के कारण भारतीयता का कुछ नहीं बिगड़ा। वह अक्षुण्ण बनी चली गयी।

राष्ट्र आलिंगन में बँधेंगे

इसलिए आपकी यह बात कि राष्ट्र होंगे तो राष्ट्रवाद होंगे, और वे सब वाद होंगे तो विग्रह अवश्य होगा—मुझे मान्य नहीं है। वादों की स्पृहा और स्पर्धा होने पर विग्रह और युद्ध को टाला नहीं जा सकेगा, यह तो समझ में आता है। पर राष्ट्र अपना एक अलग दम्भ और दर्प पैदा करके उस सहारे ही जीने का उपाय देखते रहेंगे, यह अनिवार्य नहीं जान पड़ता। अल्हड़पन की उमर बीतेगी, तब उत्पात से मन भर जायगा। आँखों में नमी आयेगी और मन में प्रेम फूटेगा, तब उच्छृंखलता की जगह चलन में मर्यादा और शील का प्रवेश होगा। स्वत्व की सार्थकता तब हमें प्रणय और परिणय में जान पड़ेगी। स्पर्द्धा जिनमें है, उन्हींमें परस्परता फूटेगी और जागेगी। यह मैं संभव ही नहीं, अनिवार्य मानता हूँ। अनिवार्य अपने और सबके इस अनुभव के आधार पर मानता हूँ कि स्वत्व को हम सब ही बढ़ाते हैं, बढ़ाते जाते हैं, उस हद तक कि जब वह स्वयं व्यर्थ दीख आये और उस सबको किसीके चरणों में निछावर करने का अर्थ ही एक अर्थ रह जाय। वही स्वार्थ जान पड़े, वही परमार्थ जान पड़े, शेष अर्थ सब कहींसे सर्वथा लुप्त हो जायँ। यह क्षण सबके जीवन में आता है। राष्ट्रों के जीवनों में भी आये बिना न रहेगा। हो नहीं सकता कि विधाता व्यर्थ हो, विधान व्यर्थ हो और जीवन चलते-चलते प्रेम की गंगा के कूल तक न पहुँच जाय। यही राष्ट्रवाद की वह वयस्क अवस्था होगी, जब सिर तानने की जगह वह सिर झुकायेगा। और अपने और दूसरे के बीच के अन्तर पर सुरक्षा की फौज नहीं रखेगा, बल्कि आलिंगन में दोनों ओर की बढ़ी हुई बाँहों के बीच फौज लाज में गलकर एकदम शून्य हो जायगी।

गांधी-नीति व्यावहारिक

सपना नहीं है यह, बल्कि अनिवार्यता है। ठीक आज के दिन कांगो की समस्या है और भारत के प्रधानमंत्री नेहरू ने समर्थन दिया है कि एक भी बेल्जियन कांगो में न रहने दिया जाय। लेकिन इन्हीं नेहरू ने अंग्रेज़ों को, राज्य और साम्राज्य

के हटने के बाद अंग्रेजी लार्ड माउंटबेटन को भारत के पहले गवर्नर जनरल के तौर पर रखना प्रिय माना था। कारण थे इसमें गांधी और गांधी-नीति। गांधी-नीति आसमान में नहीं, ठेठ राजकारण में चली थी, क्योंकि व्यावहारिक थी। आगे की दुनिया की राजनीति जैसे-जैसे कच्ची से अवस्था में पकती और समझ अपनाती जायगी, गांधी-नीति की व्यावहारिकता देख सकेगी और उसको अमल में लेना और उतारना चाहेगी।

उस नीति और उस दृष्टि में व्यक्ति अपने को परिवार के हित में, परिवार समाज के हित में, समाज देश के हित में, देश विश्व के हित में आहुति देने में अपनी उन्नति देखेगा। तब एक की उन्नति दूसरे की अवनति पर खड़ी होकर मुस्कराना भूल जायगी; बल्कि इस कृत्य पर शर्म खायेगी और दूसरे की उन्नति में ही अपनी उन्नति देखेगी। ऐसा राष्ट्रवाद हो सकता है, आगे होगा। अगर नहीं हो सकेगा, तो मान लेना होगा कि मानव पशु से अलग और विशिष्ट नहीं है और भविष्य जैसा भी कुछ नहीं है। सब ईमान से तब हाथ धो लेना पड़ेगा। ●

३
यह हिंसावादी संस्कृति

हिंसा-अहिंसा

९३. इतिहास इस बात का साक्षी है कि अहिंसा हिंसा के अन्धकार में ज्योति की तरह चमकी तो जरूर, पर चमकी कुछ ही देर के लिए, और उसका सन्देह मानव-मन में स्थिर न रह सका। ऐसी अवस्था में क्या अहिंसा और प्रेम का आपका उपर्युक्त सपना पूरा हो सकेगा और संसार वर्तमान की भीषण सम्भावनाओं से सुरक्षित बच सकेगा?

—सपना पूरा कभी न होगा। लेकिन सपना संकेत ज़रूर देता रहेगा। सपना कहकर जब उस संकेत को भी हम टालते हैं, तो संकट को ही निमन्त्रण देते हैं।

अहिंसा का अभाव हिंसा का समर्थन नहीं

हिंसा-अहिंसा किसी निश्चित रूप और कृत्य के नाम नहीं हैं। यदि हम मानव की गति और उसके विकास को हिंसा से अहिंसा की दिशा में न मानें, तो इसी क्षण सब कुछ व्यर्थ और अहेतुक हो जाता है। सम्पूर्ण अहिंसा का व्यवहार कल्पना तक में यदि स्पष्ट नहीं हो पाता है, तो इसका अर्थ हिंसा का समर्थन नहीं बना लेना चाहिए। मनुष्य में से पशुता घटते रहने के लिए सदा शेष रहती चली जायगी। इसमें से पशुता को समर्थन नहीं मिल जाता है। बल्कि पशुता से निवृत्ति उतनी ही मानवता का लक्षण बनी चली जाती है।

इतिहास में हिंसा का अन्धकार मिलेगा। लेकिन अगर वह अंधेरा थोड़ी देर के लिए भी कटा, तो उस ज्योति को इतिहास फिर भूल नहीं सका है। उसे ज्योति के रूप में मानता रहा, इसीमें इतिहास के लिए सान्त्वना और आशा के तत्त्व मिल जाते हैं। अंधकार को ज्योति का अभाव ही हम मान सकते हैं। अभाव नियम नहीं हो सकता। अभाव भरता है, नियम यह है।

युद्धों के पीछे अनिवार्य मिलन

स्वयं युद्धों के रूप को ही लीजिये। उनका रूप विशाल से विशालतर और विकट से विकटतर होता गया है। लेकिन सूक्ष्मता से देखें कि इस विशालता और विकटता के नीचे कुछ उसके नियम और नियंत्रण भी अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति में विकास पाते चले गये हैं। युद्ध में ही सही, दुनिया के देश ऐसे एक दूसरे के परिचय में आये हैं। विश्व-व्यवस्था जैसी चीज़ प्रकट हुई है और यह दर्शन सबको सुलभ हो गया है कि सब परस्पर अन्त:प्रभावित और अनन्य निर्भर हैं। सारे विश्व का शरीर अब अपने को एकत्रित और एकात्म अनुभव करता है। एक स्थल पर क्षति प्रकट होने पर जैसे समस्त शरीर में से रक्त उस ओर दौड़ पड़ता है। हिंसा के रक्त-रंजित दृश्यों के पीछे जो हठात् यह एकता और एकत्रितता घटित और सम्पन्न होती चली जा रही है, उसे हम सहसा देखा-अनदेखा कर देते हैं। हिंसा फटती और फूटती है, तब दीखती है। अहिंसा अलक्ष्य भाव से जो हमारी परस्परता को घनिष्ठ, व्याप्त और ठोस बनाती जा रही है, सो उसका लेखा हमारी बाह्य इन्द्रियाँ सहसा ले नहीं पातीं। उसको प्रज्ञा की आँखों से देखना होता है। यह प्रक्रिया अनिवार्य यद्यपि अदृश्य रूप से मानव-जीवन के इतिहास में से घटित होती चली आयी है। ऐसा न होता, तो इतिहास कभी का बन्द हो गया होता।

अणु-बम से अहिंसा का पाठ

आज अणु-शक्ति प्रकट हुई है और उसकी पहली सार्थकता अणु-बम के रूप में हमने पहचानी है। जाहिर है कि भीषण संहार-शक्ति उसमें है और वह हिंसा का दारुण उपकरण है। लेकिन इस आविष्कार से दुनियां खुली आँखों देख आयी है कि मन की तनिक विकृति किस तरह सारे संसार को ध्वस्त कर सकती है। अर्थात् हिंसा का भाव कितना घातक और अहिंसा का विचार कितना आवश्यक है। जो धर्मशास्त्र और साहित्य-दर्शन इतने काल से मानव-मन के निकट प्रत्यक्ष नहीं कर पाये थे, हिंसक कहे जानेवाले इस आयुध के आविष्कार ने वह पाठ विश्व-मानस के मर्म में एक ही साथ उतार दिया है। अर्थात् इतिहास में से हिंसा नहीं निकलती है, बल्कि अहिंसा के विचार की अनिवार्यता निकलती है, यह देखना कठिन नहीं होना चाहिए। बाह्य-दर्शन की हिंसा जैसे अन्तर्दर्शन की अहिंसा को पाठ के रूप में प्रस्तुत करने को ही बनी हो।

हिंसा का अगौरव बढ़ा है

बुद्ध, ईसा, गांधी हमें इतिहास में ज्योति की भाँति चमककर लुप्त हुए जान पड़ते

हैं। पर ज्योति उन अवतारी पुरुषों की काया के साथ चली ही गयी होती, तो उनके नाम आज शेष बचे कैसे रह जाते? वह ज्योति मानवता के हृदयों में अपनी किरणें छोड़े बिना अस्त हो गयी होती, तो स्मृति किस सहारे उस ज्योतिर्मयता को सँजो सकती? अतीत और व्यतीत मानकर इतिहास में से उनकी वर्तमानता को मिटाया नहीं ज़ा सकता है। यह कि मनुष्य अपनी हिंसा की घोरता से संत्रस्त और भयभीत है, उसकी अहिंसक चेतना को ही दरसाता है। हिंसा का गौरव क्रमशः घटता जा रहा है। उस पर बल्कि अगौरव इतना चढ़ गया है कि हिंसा पर उतरनेवाली सत्ता और शक्ति को विश्व-मत के आगे अपनी कैफ़ियत और सफ़ाई देनी होती है। जैसे यह ग्रहीत हो कि वह जुर्म है, इससे सफ़ाई देना शुरू से ही जरूरी है। इसको मानव-चेतना में अहिंसा के भाव की व्याप्ति से अतिरिक्त दूसरा और क्या कहेंगे।

९४. विज्ञान ने मानव-मनों को फाड़ा और युद्धों का सृजन किया, आपकी ही यह बात आपके उपर्युक्त कथन से उलटी पड़ जाती है कि विज्ञान के उपकरणों ने विश्व-मानव में प्रेम और अहिंसा की अनुभूति को दृढ़ एवं प्रशस्त किया। इस विरोध का क्या कारण है?

विज्ञान विश्लेषण है

—विज्ञान बुद्धि की वह तटस्थ प्रक्रिया है, जो सागर से बूंद की तरफ चलती है। अन्वय और पृथक्करण उसकी पद्धति है। इसमें एक को दूसरे से भिन्न पहचाना जाता है। विज्ञान इस तरह सदा भेद-विज्ञान है। इसलिए विज्ञान स्वतः अभेद से वास्ता नहीं रखता है। जितना जो चमत्कार विज्ञान दिखाता है, पृथक्करण द्वारा पायें गये मर्म को फिर लौटाकर जीवन के संश्लिष्ट उपयोग में उतारने के द्वारा ही दिखा पाता है। अर्थात् विज्ञान विश्लेषण है, जीवन की आवश्यकता उसमें से संश्लेषण साध लेती है।

जीवन संश्लेषण है

विज्ञान के उपकरण और आयुध जैसे-जैसे आविष्कृत होते चले गये, वे पहले वासनात्मक वृत्ति के हाथ पड़े। यह भी कहा जा सकता है कि वासना के वेग और दबाव में से बुद्धि की प्रेरणा सचेष्ट हुई और नया-नया आविष्कार करती चली गयी। 'निसेसिटी वाज़ दी मदर आफ इन्वैन्शन' यानी आवश्यकता जीवन सम्बन्धी थी और बुद्धि के विश्लेषण से प्राप्त तथ्यों को संश्लेषण जीवन की परिस्थितियों से मिलता गया। विज्ञान युद्ध की आवश्यकता के दबाव के नीचे चेतता रहा और

पीछे जाकर ही रचनात्मक और विधायक कामों में आया। बुराई में से अक्सर हम भलाई फलित होते देखते हैं, पर वह भलाई बुराई को भला नहीं बना देती। फिर भी उस भले फल को अपना कर हम बुराई के कृतज्ञ भी हो लेते हैं। विज्ञान को अपने-आपमें भला या बुरा ठहराने का कुछ अर्थ नहीं है। हवा को गोरा या काला क्या कहा जाय ? लेकिन एक को दूसरे से भिन्न समझने की विधि तभी सही काम देगी, जब साथ ही अभिन्नता की भूमि और श्रद्धा प्राप्त बनेगी ? यह भूमि जीवन की ही भूमिका है और उस श्रद्धा से मानव-मन कभी खाली नहीं हो पाता है। यही जीवन का सनातन धर्म है । वैज्ञानिक संहार में से भी जो जीवन का निर्माण निकाल लेता और हिंसा में से अहिंसा की ओर गति साध लेता है वह जीवन-धर्म मानब-धर्म एक क्षण के लिए भी सोता नहीं है। और मानव उसीकी चौकसी में अपने सब उत्पातों के बावजूद मानवता में उठता और बढ़ता आया है। मनुष्य की ओर से जो अधर्म हुआ है, उसके प्रति कोई समर्थन या समझ का भाव यहाँ नहीं देखना चाहिये। केवल मानवोत्तर ऐतिहासिक विकास नियम को ही पहचान लेना चाहिए।

९५. योरप ही वर्तमान संस्कृति का जनक है और उसकी समस्याएँ आज तक विश्व-जीवन को प्रभावित करती आयी हैं। आप क्या मानते हैं यह संस्कृति केन्द्र अब बदलकर अमरीका चला गया है ?

यूरोपीय सभ्यता की धुरी स्थानान्तरित

— शक्ति की धुरी अवश्य स्थानान्तरित हुई है। संस्कृति वह बहिर्मुख थी, शक्ति-प्रधान थी। इसलिये यह मानने में बाधा नहीं है कि उसका प्राण केन्द्र भी हट गया है। अमरीका और रूस आज सबसे प्रमुख देश हैं। दोनों ही जगह उस सभ्य, शिष्ट, पाबंद और कुलीनोचित सभ्यता का महत्व गिरा हुआ दीखता है। दोनों ही जगह सामान्यता का आदर बढ़ा है और व्यवहार का खुलापन पसन्द किया जाने लगा है। श्रेणियों के बीच रहनेवाली मर्यादा अपनी महिमा खो रही है। स्थिति से गति की गरिमा बढ़ती जाती है। स्थानबद्ध 'लैण्डलार्ड' की कल्पना पुरातन और जीर्ण पड़ गयी है, इधर-उधर नाना सम्पर्क रखनेवाला 'इंटर प्रेन्युअर' अधिक महिमान्वित हो उठा है। आगे और अन्तर इस स्थानान्तरण के साथ घटित हुए देखे जा सकते हैं। लेकिन उस सभ्यता का मूलाकार बदला नहीं है। वह अर्थाश्रित और राज्य केन्द्रोन्मुख है, जिसकी चर्चा पहले आ ही गयी है।

उसका अन्तर्द्वन्द्व चरम सीमा पर

अमरीका और रूस में भविष्य का झुकाव किधर अधिक है, इसका उत्तर साफ हो

जाय, तो शायद संकट ही टल जाय। दौड़ का अन्त नहीं आया है और बाजी किसके हाथ रही है, यह निर्णय देने का अवसर नहीं है। यह कह सकते हैं कि रूस में वैचारिक दृष्टि से यदि पाश्चात्य सभ्यता की व्यवस्थितता का रूप उभरा है, तो अमरीका में उसी के मुक्त प्राण-पक्ष का स्वरूप देखने में आता है। जैसे वह सभ्यता अब द्वन्द्व में आतनी है और फँटाव के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। मुझे लगता है कि वह सभ्यता लगभग अपना दैय दे चुकी और खेल खल चुकी है। यह उसके अपने आन्तरिक अर्न्तद्वन्द्व का चरम है और यह रोग दीखता है, उसे ले ही बैठेगा।

९६. 'सभ्यता को ले बैठेगा' इससे आपका क्या तात्पर्य है? क्या इस पाश्चात्य सभ्यता का ध्वंस हो जायगा। यदि हाँ, तो किस रूप में?

सभ्यता फट जायगी

—सभ्यता बैठ, यानी फट, जायगी। उसमें से नये निर्माण की सामग्री प्राप्त होगी। उसके 'प्रकार' के बारे में कुछ भी कहना असम्भव है। लेकिन दृढ़तर और उच्च-तर समन्वय का सूत्र नये निर्माण को धारण करनेवाला होगा।

पश्चिम के कई मनीषियों ने यह विचार प्रकट किया है। स्पेंगलर का 'डिक्लाइन आफ दि वेस्ट' संस्कृतियों के इतिहास का एक गहन अध्ययन है। पश्चिम की सभ्यता अस्त ध्वस्त होने के निकट है, इस निश्चय का वहाँ प्रतिपादन है। टायन बी के नये ग्रंथ में भी कुछ ऐसी ही धारणा प्रकट की गयी है।

९७. इस सभ्यता के स्तम्भ इंग्लैण्ड फ्रांस और जर्मनी कुछ नया देकर इस सभ्यता को बचाने की क्षमता क्या अब नहीं रखते?

—ऐसा मालूम होता है कि नया कुछ यदि आयगा, जो फटने की प्रवृत्ति को रोक सके, तो शायद फटाव के बाद आयगा। वह तत्व, जो इस सभ्यता को उठाये और मिलकर थामे रख रहा है, जब स्वयं अपर्याप्त होकर समय से पीछे पड़ा जा रहा है, तो नया कुछ उसके विघटन पर ही कार्यकारी हो सकेगा।

इंग्लैण्ड और फ्रांस के दो तट

ऐसा जान पड़ता है कि हर स्थिति के दो तट होते हैं। एक जिसे मर्यादा कहते हैं और जिसमें से सभ्यता की रेखा और परिधि का निर्माण होता है। दूसरा, जिसे उसका अन्तः पक्ष चित्-पक्ष कहा जा सकता है। वहाँ नियमितता से अधिक व्यथा होती है और खोज और प्रस्फुटन की प्रेरणा वहाँ फूटती रहती है। पहले को यदि सुरक्षात्मक, तो दूसरे को उद्वेगात्मक कहा जा सकता है। दूसरा प्रकाश-

नोन्मुख होता है। इसमें से आवरणों को तोड़ने और मुक्त करने की वृत्ति निकलती है। सुरक्षात्मक आवरणों की सृष्टि करता है। इन दोनों को लेकर अमुक संस्कृति सभ्यता के रूप में उत्तरोत्तर प्रकाशन पाती है। इंग्लैण्ड और फ्रांस के स्वभावों में जैसे ये दो तट मूर्त हो जाते हैं। इंगलिश स्वभाव नियम-प्रधान है तो फ्रेंच आनन्द-प्रधान हो कर प्रकटा। अब रूस मर्यादितता और अमेरिका भोगोन्मुखता के तटों को व्यक्त करते हैं। जर्मनी कुछ बीच में पड़ने के कारण गंभीर और मननशील रहा और कहा जा सकता है कि सभ्यता को वहाँ से वह तत्व प्राप्त होता रहा, जो टिकाव देता है। लेकिन कुल मिलाकर यह उन्नति बौद्धिक और पुल्लिगी थी और मानवता के लिए आवश्यक मन-मस्तिष्क दिल-दिमाग के संयोग को नहीं साध सकती थी। आज यह प्रकट है कि विज्ञान से जब बाहर के चन्द्र और मंगल निकट आ गये हैं, तब अन्दर से पड़ोसी दूर पड़ गया है। विवाह में मिलने पर भी पति-पत्नी के वृत्त मिलते नहीं हैं, दो बने रहते हैं। बाहर को मिलाने की क्षमता ही जैसे अन्दर को बाँटे रखती है। यह अन्तर्विरोध सतह पर आ गया है और इसीसे कहना पड़ता है कि शायद अब उसकी आयु आ गयी है। जीर्ण होकर उसके फटने का समय है और नवीन के अभ्युदय का।

एशिया और अफ्रीका

९८. एशिया और अफ्रीका का पुनर्जागरण इस सभ्यता के संस्कार में क्या सहयोग देता आपको दीख पड़ता है?

—एशिया, अफ्रीका और इस तरह के दूसरे नामों का सहारा कुछ दूर तक ही सहायक हो सकता है, आगे वह खरतनाक है। कारण, ये संज्ञाएँ और धारणाएँ अन्त में राजनीतिक हैं। जब वह एक मानव-समूह की एकता को प्रकट करती हैं सही हैं; लेकिन जब उनके विग्रह को दर्शाने लगती हैं, तब उनमें एक तात्कालिकता रह जाती और इसलिए एक भ्रान्ति पड़ जाती है।

अभी तक तो एशिया और खासकर अफ्रीका के देश विदेशी प्रभाव के इतने अधीन थे कि तन्त्र में भी परतन्त्र थे। अब राजनीतिक रूप से ही सही, स्वतंत्र होते आ रहे हैं। लेकिन स्वतन्त्रता लगभग सभी जगह जन-मानस में उस रूप में उतर रही है, जो पाश्चात्य विचार में से आया है। वह स्पर्द्धात्मक और सुरक्षात्मक रूप है। वह अविरोधी नहीं विरोधी है, पूरक नहीं भाजक है। स्वतंत्रता की इस धारणा के अधीन निर्माण पाकर मैं नहीं समझता कि एशिया और अफ्रीका के देश मानवता की कुछ अधिक सेवा कर सकेंगे।

स्वतन्त्रता का अहंकृत रूप

भावी नवीन युग का निर्माण तब से मानना चाहिए जब स्वतंत्रता की यह धारणा बेहद अधूरी और ओछी साबित हो आयी होगी और स्वतंत्रता की नयी कल्पना का उदय जन-मानस में हुआ होगा। इस कल्पना के अधीन अलग बाँट रखनेवाली फौज की पंक्ति किसी भी नैष्ठिक देश को व्यर्थ के खिलवाड़-सी लग आयेगी और पड़ौसी की ओर वह अविभक्त मानव के श्रद्धाभाव से बढ़ेगा। आज तो वह बात कुछ अर्थ और व्यवहार से बाहर गयी हुई-सी लग सकती है, क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ ही अहंकृत है, सार्वजनीन नहीं। यों तो आज भी अनुभव में आ गया है कि स्वाधीन जैसी अलग कहीं कोई स्थिति ही नहीं है, सब परस्पराधीन हैं। फिर भी हमारी व्यावहारिक समझी जानेवाली राजनीति अभी उस अतथ्य धारणा पर, जिसे राष्ट्र-राज्य की सावरेंटी कहते हैं, चल रही है। उस अतथ्य पर जगत् का समूचा अर्थ-व्यापार चल रहा है। आयात-निर्यात, सन्धि-सहायता, सहयोग-विनियोग सब उसी बुनियाद पर चलाये जा रहे हैं; ऋणदाता और ऋणकर्ता, सम्पन्न और विपन्न, उन्नत और विनत देशों की सृष्टि होती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध वे बनते हैं जो हार्दिक नहीं हैं, केवल महाजनी हैं। वे मानवीय सम्बन्धों को विषम और विषमय बनाते हैं। इस कारण जहाँ हार्दिकता हो सकती थी, वहाँ कूटनीति का प्रवेश होता है और सिंचन की जगह शोषण होने लगता है। ये पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र शोषण की प्रणालियों के तौर पर जो काम आते हैं, सो उसी राष्ट्र, स्वतंत्रता, अधिकार आदि संज्ञा-धारणाओं के कारण जिन पर सभ्य विचार की इमारत खड़ी है। अधिक समय नहीं कि पता चल जायगा, वह विचार ही सभ्य नहीं, असभ्य है। कम-से-कम आगामी मानव-सभ्यता की दृष्टि से तो अवश्य ही वह पिछड़ा रह गया है।

भावी संस्कृति पूर्व से उदय होगी

कम-से-कम भारत के पास उस राष्ट्रीयता का आधार था, जो उन अर्थों में 'सभ्य' न था, बल्कि मानवीय था। भारत की भी आज की राजनीति में वह विशदभाव मृतप्राय मालूम होता है। गांधीजी के स्मरण और अनुसरण में वह चीज़ फिर जागी और भारत के राजकारण को हाथ में ले सकी, तो एशिया के इस देश से अवश्य कुछ आशा हो सकती है। लेकिन भारत पर ही सब मौकूफ नहीं है। न गांधी पर नेहरू आदि का स्वत्वाधिकार ही है। मेरा मानना है कि पिछड़े माने गये देशों में वह मानवता वर्तमान थी और है कि उस आधार पर उसका राष्ट्रीय राजकारण और अर्थ-कारण निर्माण पाकर खड़ा हो सके, तो भविष्य का पथ-प्रदर्शन हो

सकता है। लेकिन एशिया और अफ्रीका के सब देशों के इतिहास और स्थिति का मुझे पता नहीं। फिर भी श्रद्धा मेरी है कि जहाँ धन का अभी नहीं बल्कि जन का ही बोलबाला है, ऐसे पूर्व की ओर से जनाधारित भावी संस्कृति का उदय हो सकेगा।

९९. पूर्व की परम्परागत चेतना को ठुकराकर चीन में जो नव निर्माण हो रहा है, उसको विश्व-संस्कृति के लिए आप कितनी दूर तक शुभ मानते हैं?

राज्य प्रधानता अविश्वसनीय

—मैं ऊपर शक्ति के अधिष्ठान से चलने और बननेवाले संगठन में फटाव के बीज देखे बिना नहीं रह पाता। बहुतेरी अच्छी बातें साम्यवादी तंत्र में मुझे दीखती हैं। वहाँ जन के लिए अधिक स्थान है और तन्त्र धन का नहीं सत्ता का होने से जीवन-निर्वाह की स्थिति अधिक सुगम और सुरक्षित हो सकती है। लेकिन राज्य-प्रधानता से चलकर समाज को शासनमुक्ति की अवस्था कैसे प्राप्त होगी, यह मेरी समझ में नहीं बैठता है। इस सम्बन्ध में शायद दो मत नहीं हैं कि राज-मुक्त समाज अधिक उपयुक्त होता है और सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रगति की वही दिशा होनी चाहिए। मेरी आशा है कि साम्यवाद से पूर्णतर कोई दूसरी प्रक्रिया हो सकती है, जो इष्ट दिशा में ले जा सके और जहाँ साध्य के समान साधन भी मुक्त प्रीति के हों, शस्त्र-सेना के न हों। इस प्रकार का प्रयोग राष्ट्रीय पैमाने पर अभी कहीं हुआ नहीं है। लेकिन तत्सम्बन्धी प्रकाश अवश्य गांधी से प्राप्त हो गया है। लेकिन उसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती है। चीन में जिस महा-शक्ति के ज़ोर से देश का काया-पलट किया जा रहा है, उसमें केन्द्रित राज्य और सैन्यशक्ति का योग है। इसीसे पूरा आश्वासन मुझे वहाँसे नहीं प्राप्त होता है।

साम्यवाद हार्दिक नहीं

चीन उसी साम्यवाद में से प्रेरणा लेकर काम कर रहा है, जिसमें से रूस ने अपनी क्रांति का और फिर राज्य-व्यवस्था का निर्माण किया। ऊपर से समझा जा सकता है कि प्रेरणा का स्रोत अभिन्न होने से दोनों देशों में भी अभिन्नता ही होगी। कुछ दूर तक वैसी अभिन्नता देखी भी गयी, लेकिन अब शनैः शनैः भिन्नता नज़र आने लगी है। चीन और रूस में बहुत बड़ा अन्तर यह है कि चीन की समस्या आबादी की अधिकता है, रूस की समस्या उसकी कमी है। प्राकृतिक और मानवीय नियमों से दोनों देश एक दूसरे के परिपूरक हो सकते थे और सूखा पड़ा साइबेरिया का इतना बड़ा भूभाग चीन के योग से हरा-भरा और बसा-पुसा हो सकता था। पर

साम्यवाद की एकता से यह बात संभव बनेगी, ऐसा नहीं दीख पड़ता। रूस-चीन-मैत्री राजनीतिक से आगे हार्दिक और आत्मिक दिशा में बढ़ने में असमर्थ जान पड़ती है। जो मैत्री को इस तरह अधबीच तक पहुँचाकर उसे वहीं रोक देता है, वह वाद मानवता के स्वर्णिम भविष्य को कैसे ला पायेगा, यह सोचने की बात हो जाती है।

चीनी जीवन की अटल माँग

आज तो सीमान्त को लेकर हिन्द-चीन समस्या आ बनी है। मेरा मानना है कि साम्यवाद के ही कारण यह समस्या नहीं बन गयी। शासक दूसरा भी कोई होता, तो भी बढ़ती हुई साठ करोड़ तक आ गयी, और आगे भी बढ़ती जानेवाली, जनसंख्या को लेकर क्या करता? उत्तर में साइबेरिया की तरफ तो कूटनीतिक दीवार खड़ी है, दक्षिण-पूर्वी दिशा में अगर कोई गुंजाइश हो तो साम्यवादी चीन उधर बढ़ ही रहा है। फिर भारत-भाल हिमालय रह जाता है। जनसंख्या का दबाव आखिर उधर न जाय, तो किधर जाय? जीवन की इन अनिवार्य और अटल माँगों के बीच चीन को चलना पड़ रहा है।

साम्यवादी विश्वास पर बोझ

चीन के साम्यवादी होने से यदि यह सुविधा नहीं होती है कि रूस अपने निर्जन प्रदेश में उसकी अतिरिक्त जनसंख्या का स्वागत करे, तो इससे अवश्य ही साम्य-वादी विश्वास पर बोझ पड़ना शुरू हो जायगा।

क्रान्ति अन्ततः जिम्मेदारी

मैं यह मानता हूँ कि विश्वास कुछ भी रखा जा सकता है और उसके वेग में चुनौती देते हुए कुछ दूर तक आगे भी बढ़ा जा सकता है। क्रान्ति की नकारात्मक आवश्य-कता को इस जोश में पूरा तक कर डाला जा सकता है। मुसोलिनी-हिटलर और लेनिन-स्टालिन अलग-अलग राजनीतिक मतवादों को लेकर शासन को उलट सकते और उसकी जगह अपना शासन बना-बिठा सकते हैं। यहां तक तो जोश, फिर चाहे किसी नाम या वाद पर हो, मजे में काम दे जाता है। फिर कुछ दूर तक बाहरी आक्रमण की आशंका, विरोधियों के भय और द्वेष आदि की चाबुक-मार आदि कर्म-प्रेरणा को चेताये रख सकती है। लेकिन आखिर तो जीवन की ही समस्याएँ निपटाने को सामने होती हैं और हर क्रान्ति अन्त में जिम्मेदारी बन जाती है। शासन को गिराकर खुद शासन बन बैठने में आज रस आता है, तो कल उसकी पीड़ा भी ओढ़नी पड़ती है।

४

प्रेम-परिवार

१००. परिवार की संस्था का समाज-व्यवस्था तथा मानव-सभ्यता के विकास में क्या मूल्य है? योरप ने इस मूल्य को कितनी दूर तक मान्यता दी है?

परिवार की उत्पत्ति

—परिवार इतिहास में ठीक किस जगह हमें प्राप्त हो गया, मेरे लिए कहना कठिन है। लेकिन काफी प्रागैतिहासिक समय से मनुष्य ने परिवार के रूप का आविष्कार कर लिया और उसे अपना लिया होगा। पहले यूथ के रूप में रहा जाता था। एक नेता होता था और उसके नीचे समूचा समूह इकट्ठा रहता था। उसमें सबके सम्बन्ध शीर्ष की बनते और चलते थे, वे उतने अपेक्षा परस्पर के प्रति नहीं होते थे। यह अवस्था खानाबदोशी की रही होगी और खेती जमते ही विवाह-परिवार आ गया होगा।

परिवार वह प्रयोग है जिससे मानव-जाति टिकी है और सभ्यता को विकास का आधार मिला है। इसने हमें यूथ की जगह व्यक्ति को दिया और परस्परता की धारणा उत्पन्न हुई। मैं मानता हूँ कि जिसे हम समाज कहते हैं, उसका भी आरम्भ यहींसे हुआ। झुण्ड से निकलकर जब हम व्यक्ति की पहचान तक आये, तभी समाज की धारणा की सृष्टि हुई। तभी धर्म-नीति, कर्तव्य-कर्म आदि की सृष्टि हुई।

स्पर्धामूलक विज्ञान का उदय

पश्चिम के देशों में सर्दी अधिक है और खेती की अनुकूलता भारत जैसे देशों की अपेक्षा कुछ कम है। स्वास्थ्य और बलिष्ठता आदि की सुविधा कम नहीं, बल्कि वहाँ कुछ अधिक ही मानी जा सकती है। ऐसा तो कैसे हो सकता था कि व्यक्ति-भाव का और फिर परस्परता की धारणा का उदय वहाँ न होता। लेकिन सभ्यता का योग कृषि और कृषिमूलक रहन-सहन के साथ अधिक घनिष्ठ होता है। पश्चिम में व्यक्ति-मानस पर अपेक्षाकृत अधिक दबाव पड़ा और होते-होते विज्ञान का उदय

वहींके मानस में से प्राप्त हुआ। प्राकृतिक परिस्थितियाँ वहाँकी इतनी अनुकूल न थीं और यही स्थिति पीछे आकर बौद्धिक और कार्मिक विकास में सहायक हो गयी। आत्मिक चिन्तन-मनन कृषिमूलक पारिवारिकता के बीच फलता-फूलता रहा, लेकिन स्पर्धामूलक विज्ञान-शास्त्र कठिन परिस्थितियों के दवाव के तले उद्‌भूत हुआ।

व्यक्तिमत्ता पश्चिम की देन

मशीन और मशीन में से आये बृहत् उद्योग ने सारे पश्चिमी समाज को बौद्धिकता में ऊँचा उठाया तो उससे व्यक्तिमत्ता को सहारा हुआ और पारस्परिकता हृदय से अधिक व्यवस्था और व्यवसाय के नियमों से सधनेवाली चीज़ बनती चली गयी। जिसको प्रशासन की कहें, वह क्षमता बढ़ी, लेकिन मूल में वैयक्तिकता ही प्रतिष्ठित होती गयी।

कुछ पहले तक भारत में बड़े-बड़े आलीशान मकानों में भी स्नानघर नहीं होते थे। निजता (प्राइवेसी) की कल्पना ही कम थी। कमरे के साथ ही बाथरूम-वाली धारणा ठेठ पश्चिम से आयी है। अर्थात् मूल में व्यक्ति-मानस स्वयं स्वतंत्र होकर रहना और बढ़ना सीखा है, जिसमें से जीवन की साहसिकता और प्रयोगशीलता को प्रेरणा मिली है। इस दशा में धर्म, जो स्थिति में पनपता है, उतना पल्लवित नहीं हुआ, जितना कि कर्म विस्तृत हुआ, जिसका गति से सम्बन्ध रहता है। गमनशीलता, गत्यात्मकता पश्चिम में विकास पाती गयी। प्राणों में एक बेचैनी अनुभव होती और उसको लेकर व्यक्ति दूर-दूर के लिए निकल पड़ता। उस वृत्ति के साथ परिवार की भावना उतनी शाखा-प्रशाखाएँ नहीं फैला सकती थीं। समाज जो चलनशील रहने को बाध्य था, धरती में इतनी गहरी जड़ें नहीं डाल सकता था।

भारत की पारिवारिकता

भारत को देखिये। परिवार सुविधापूर्वक अनन्त शाखा-प्रशाखाएँ यहाँ फैलाता रहा। उसकी संस्कृति हजारों वर्षों तक अडिग और अटूट बनी चली आयी। उसे किसी विजय या प्रयोग की आकांक्षा में बाहर बहुत दौड़ना नहीं पड़ा और बाहर से आक्रांता बनकर जो आये, उन्हें अपनी विस्तृत कृषिमूलक पारिवारिक स्थिरता में वह समाता चला गया।

थोड़ा कुछ भेद इस रूप में पश्चिम और पूर्व में देखा जा सकता है। लेकिन इस भेद के नीचे मानवीय अभेद को पहचाने रखने से ही उसका वास्तव मूल्य समझ आयेगा।

१०१. वहाँ की अर्थ-व्यवस्था ने, वहाँके परिवारों के संगठन को कितनी दूर तक प्रभावित किया है?

मुद्रा के महत्त्व से जीवन में फटाव

—परिवार के भीतर जितना अर्थ-विचार नहीं आता, उतना ही ऐक्य रहता है। आज भी ऐसे घर हिन्दुस्तान में हैं जिनकी सदस्य-संख्या सौ तक होगी। लेकिन धन उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बीच फिर भी कहीं देखने में आता ही नहीं है। सब व्यवस्था केन्द्र से होती है और धन वहीं एकत्र होता है। यह तक सम्भव है कि इस परिवार में कमानेवाले केवल दो हों; लेकिन खर्चने के मामले में वे दो शेष से अलग या विशेष नहीं होते हैं, एकदम परिवार में खोये-से रहते हैं। यह हालत यहाँ भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है और संयुक्त परिवार टूट रहा है। कारण है, मुद्रा का जीवन के विभागों में अधिकाधिक प्रवेश और प्रसार। जीवन इस तरह चलित और चंचल होता और व्यक्ति-मानस नीतिनिष्ठ से अधिक स्वनिष्ठ होने की ओर बढ़ता है।

वैवाहिक सम्बन्ध प्रवाही

पश्चिम का अर्थ-जीवन उद्यम और उद्योग की बहुतायत से अधिक चलनशील है। सिक्के की चाल वहां अधिक द्रुत है और गति के वेग का भी छन्द तत्सम है। वैवाहिक और पारिवारिक सम्बन्ध उसी हिसाब से वहाँ अधिक प्रवाही हैं और उतने एक-दूसरे को रोकते-बाँधते नहीं हैं। हिसाब की वहाँ अधिक प्रतिष्ठा है और पति-पत्नी के बैंक में अलग-अलग खाते होते हैं। आय अलग और कुछ खर्च भी अलग होते रह सकते हैं। वहाँ की संस्थाएँ—उदाहरण के लिए क्लब, होटल, रेस्तराँ आदि इसी प्रवहनशीलता के प्रमाण हैं।

मुसाफिर और गृहस्थी

मैं अभी जो योरप गया, तो कुल पंद्रह सेर सामान मेरे पास था। हिन्दुस्तान में कुछ दूर सफर के लिए भी अधिक सामान साथ लेना होता है। कारण, योरप में यह चलनशीलता इतनी स्वीकृत है कि व्यवस्था तदनुरूप रखनी पड़ी है। जहाँ जाइये, बिस्तर पाइयेगा, तौलिया-साबुन भी मिलेगा, इत्यादि। यहाँ सब सामान साथ रखिये तो ही गुजारा है। वहाँ आदमी मुसाफिर है, यहाँ गृहस्थी है। वहाँ मालूम होता है कि जहाँ जाइये, वहीं घर आपको मिलेगा। ट्रैवल एजेंट आपको निमंत्रित करते हैं, आश्वस्त करते हैं, दायित्व लेते हैं कि सब जगह आपको सब

सुभीता देंगे। जेब में चेक-बुक रखिये और बेधड़क निकल पड़िये। अपनी पहचान के कुछ कागज-पत्र जरूर पास रखियेगा, बाकी आवश्यकताओं के बारे में आप साथ चेक-बुक रखकर निश्चिन्त हो सकते हैं। पैसे के त्वरित चलन ने आदमी को एक-दूसरे के साथ बँधे रहने से बहुत आजाद कर दिया है। सिक्का जितनी तेजी से चलता है, पारिवारिक सम्बन्ध को उसी हिसाब से दृढ़ बने रहने की आवश्यकता से छुटकारा होता जाता है। धर्म और नीति तात्कालिक और व्यावसायिक स्तर पर आ जाते हैं, और अर्थ-प्रयोजन से उनका नियमन होने लगता है।

नैतिकता का भिन्न मान

औद्योगिक क्रान्ति और औद्योगिक उद्यमवाद का सम्बन्ध पारिवारिक नैतिकता से कुछ उलटा है। ऐसा जान पड़ता है कि उस प्रकार के जीवन के लिए नैतिकता का मान कुछ बदला हुआ होना चाहिए। पारिवारिक से अधिक उसे वैयक्तिक होना चाहिए। यह अन्तर आर्थिक उन्नति और विकास के साथ प्राप्त हुआ माना जा सकता है।

१०२. यह भी तो सत्य है कि परिवार की संस्था ने भारत के व्यक्ति-मानस में जो घुटन, संकीर्णता और रूढ़ता पैदा की है, पश्चिम का व्यक्ति उनसे उत्तीर्ण है, इसलिए पश्चिम के परिवार का ढाँचा अर्थपरक भले ही हो, पूर्व की बनिस्बत अधिक व्यावहारिक, प्राकृतिक एवं सहज है। आप इस विषय में क्या कहते हैं?

भारतीय परिवार बिखर रहा है

—व्यावहारिक है, पर प्राकृतिक और सहज है, यह माना जा सकता तो ठंडे और गर्म युद्ध की परिस्थितियाँ वहाँ नहीं होनी चाहिए थी।

निश्चय ही कुल मिलाकर भारत का समाज-तन्त्र मुकाबले में अधिक समर्थ और बलिष्ठ साबित नहीं हुआ है। यहाँ के शहरों को देखिए, किस तेजी से परिवर्तन हो रहा है। देखते-देखते आलीशान होटल यहाँ अनगिनती बने जा रहे हैं। रेस्तरां आदि की बात न कीजिये। चार बड़े-बड़े होस्टल हैं, और इतने ही और की आवश्यकता है, कि जहाँ काम करनेवाली वयस्क लड़कियाँ रहती हैं और रहें। इस अन्तर को देखा-अनदेखा नहीं किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि भारतीय विधि की श्रेष्ठता के विचार पर गड़े और खड़े रह जाना भी सम्भव नहीं है। मानना होगा कि जीवन घुट गया था, रुँध गया था, रुक गया था कि मार्ग खुलते ही वह वेग से स्वतन्त्रता की ओर दौड़ पड़ा।

उन्नति जिसको कहा जाता है, उसे असत्य, मिथ्या और माया कहकर उधर से आँख मोड़ने की सलाह मैं नहीं दे सकता। अवश्य कुछ सत्यांश ही होना चाहिए जिसके बल पर यह उन्नति जीत और जाग रही है। अपनी किसी मानी हुई श्रेष्ठता पर मूढ़ भाव से अड़े रहने का कोई समर्थन नहीं हो सकता है। अड़ने का वह हठ वेग में टिकनेवाला भी नहीं है।

पश्चिमी व्यवस्था सहज प्राकृतिक नहीं

लेकिन उन्नति को स्वयं यदि एक दिन अवनति और अधोगति नहीं बन रहना है, तो उसको भी सावधान होना होगा। अभी तो वह उन्नति उस ओर से असावधान है। लेकिन यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि व्यावहारिक व्युत्पन्नता, जो राजनीतिक-कूटनीतिक दक्षता तक उठती चली गयी है, अब स्वयं अपने से परास्त है। वह जिच में पड़ गयी है। इसलिए स्वयं उस व्यावहारिकता के पुनर्निरीक्षण और पुन-र्मूल्यन की आवश्यकता है। वह उन्नति निश्चय ही सहज नहीं है, प्राकृतिक नहीं है और एक कृत्रिम और अप्राकृतिक तनाव की द्योतक है। हमारा अर्थ-मूलक विकास अनर्थ के तट तक आ पहुँचा है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। इसीसे नये अर्थ-विचार की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। सावधानी के अभाव में अर्थ स्वार्थ से जुड़े बिना नहीं रहेगा। स्वार्थ के बृहद् और राष्ट्रव्यापी होनेमात्र से स्वार्थता से मुक्ति नहीं मिलती है। किसी अन्तर्राष्ट्रीय संधि से दुनिया में एक अधिसत्ता-प्राप्त सार्वभौम राज्य भी हो जाय, तो भी स्वार्थता की भूमिका से एक राष्ट्र को छुटकारा नहीं मिलनेवाला है। सोचना होगा कि क्या यह सम्भव है कि अर्थ में ही परमार्थ की प्रतिष्ठा हो। परमार्थ पारिवारिक स्वार्थ का नाम नहीं है। भारत की पारिवारिकता पारिवारिक स्वार्थों का विग्रहमूलक जमघट बन गयी होगी, परमार्थ के सन्दर्भ से वह च्युत हो गयी होगी, तभी उस पारिवारिकता को टूटना पड़ा। परिवार यदि एक स्थापित स्वार्थ का नाम बन जाता है, तो समाजवादी नारा, अर्थात् सामाजिक स्वार्थ, उसे ढा देगा। तात्कालिक उन्नति सामाजिक श्रेय, समाजवादी व्यवस्था सोशलिस्टिक पैटर्न आदि नाम लेकर आती है। परिवार समाज-भवन की ईंट न हो, बल्कि बाधा हो, तो वह कैसे टिकेगा? लेकिन रूस के प्रयोग ने यह भी दिखा दिया है कि इकाई के रूप में सीधे व्यक्ति को लेकर कलेक्टिव के निर्माण से साम्य समाज बनेगा, यह भ्रान्त कल्पना है। परिवार की पवित्रता और अभंगता का स्वीकार फिर नये सिरे से रूसी क्रान्ति को करना पड़ा। अब अगर कहीं परिवार पर बल है, उस पर अवलम्बन रखने की बात है, तो उस रूस देश में ही सबसे अधिक है।

अर्थ परमार्थ से जुड़े

परमार्थ कोई हवाई आदर्श-लोक की चीज नहीं है। उसमें स्वार्थ का क्षय या नाश नहीं है। उसमें एक ही साथ व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता और परिवार की पारिवारिकता को अवकाश है। परमार्थ पड़ोसपन से शुरू हो जाता है। बस, वह इस पड़ोसपन को लाँघने का अवकाश कभी नहीं देता है। अर्थ इस परमार्थ से जुड़े, वह देशार्थ और राज्यार्थ होकर ही न रह जाय, तो यह प्रतिस्पर्धा का अस्त्र न रहकर सहयोग का साधन बन जायगा।

यह उन्नति चिन्तनीय

आज की उन्नति में बहुत निपुणता है, बहुत विचक्षणता है। लेकिन इस मौलिक मूल्य की अनवधानता है। यदि वह उन्नति समग्र के ध्यान से, प्रीति के मूल्य की अनिवार्यता से, च्युत और विच्छिन्न बनी रहती है तो संकट लाये बिना नहीं रह सकती। और कहना होगा कि शहरों में उठनेवाले पंद्रह-पंद्रह मंजिलों के ये होटल, लाखोंलाख की संख्या में कर्मचारिणी कुमारियों को बसानेवाले ये होस्टल और जगमगाते अनगिनत ये रेस्तरां श्री-शोभा के नहीं, बल्कि व्याधि-उपाधि के चिह्न हैं। हर्ष के बजाय उन पर चिन्ता की आवश्यकता ही हो सकती है। अगर ग्राम्य जीवन से, उससे जिससे हमें हमारा भोजन प्राप्त होता है, यह शहरी शृंगार वियुक्त और विद्रूप है, तो सचमुच यह नहीं टिकनेवाला है। और उन्नति, वह जो उन्हें ऊँचा उठाते जाने में बेसुध है, जल्दी मिट्टी में गिरकर मुँह की खानेवाली है। कारण, शहरी सिक्का ग्रामीण श्रम के आधार से छूट जाता है। सत्त्व उसका नष्ट हो जाता है, सिर्फ शोषण में उसकी क्षमता रह जाती है। ऐसे सिक्के का खेल बाजीगर के खेल की तरह बहलानेवाला हो सकता है, टिकनेवाला नहीं।

१०३. परिवार की संस्था ने प्रेम की वृत्ति के विकास परिष्कार में कितनी दूर तक सहयोग दिया? क्या उसने परिवार के नाम पर मानसिक गुत्थियाँ अधिक पैदा नहीं कीं?

संपत्तिमूलक विवाह

—परिवार सामाजिकता के सहज विकास में हमें प्राप्त हुआ। उसका प्रयोजन था कि व्यक्तियों की परस्पर पूर्ति में वह सहायक हो। लेकिन विवाह जिस मात्रा में स्वत्व और सम्पत्तिमूलक बनता गया, उसी अंश में वह गाँठ भी बनता गया, जो व्यापक समाज में घुलकर एकरस नहीं हो पाती थी।

विवाह और प्रेम में अनबन

प्रेम मूल जीवन-शक्ति को कह सकते हैं। पर उपयोगी बनाने के लिए आग को

अपने चूल्हे में और दीये में सीमित करके रखना पड़ता है। वैसे ही विवाह आदि सम्बन्धों में प्रेम को नियोजित करके फलप्रद बनाया जाता है। नियोजन के प्रयोजन को लाँघकर जब विवाह स्वयं प्रेम से अनबन बना बैठता है, तब जीवन-शक्ति का ह्रास होता है। कुंठाएँ जन्म लेती हैं, रोग-शोक उपजते हैं और हत्या-युद्ध आदि की आवश्यकता बन आती है।

आज यह बड़ी समस्या है कि विवाह द्वारा बनी हुई परिवार नामक संस्था को कैसे साधा और सुधारा जाय कि जीवन की द्रुत गति के साथ उसका मेल बना रहे। मेरे मन में सन्देह नहीं कि विवाह प्रेम से टकरायेगा, तो उसकी कुशल नहीं है, फिर उसका भविष्य नहीं है। प्रकट में ही इस कारण सम्पत्ति-मूलक से उसका अधिष्ठान सहयोग-मूलक होता जा रहा है। जुए के दाँव पर अब भी कहीं-कहीं पत्नी को चढ़ा दिया जा सकता है और वह हार-जीत में जा सकती है। लेकिन यह बहुत असामान्य घटना है और समाज के चलन से बाहर हो गयी है। जीवन जैसे-जैसे द्रुतता पकड़ता जाता है, वैसे ही वैसे आवश्यक होता है कि साथवाला हर व्यक्ति बोझ न हो, साथी हो। यह सहानुभूति और सद्भाव से ही हो सकता है, आईनकानून से नहीं। नियम-कानून के बल से चलनेवाला संगठन टिक तो सकता है, गति-वेग नहीं पकड़ सकता है।

परिवार का योगदान

परिवार का सभ्यता में बहुत योगदान है। इस अर्थ में कि उसने व्यक्ति को सहनशीलता, सन्तोष, धैर्य और परस्परावलम्बन का पाठ दिया है। आदमी के पास जो तीखी निजता है, उसके जहर को बहुत कुछ चूसकर कम किया है। लेकिन उस निजता में ही जो आगे और दूर तक जाने की सम्भावनाएँ हैं, उनको भी अनजाने मन्द किया है। पूर्व और पश्चिम की उन्नति में जो हम अन्तर देखते हैं, उसमें बहुत कुछ यह पारिवारिकता भी कारण है। दोनों जगह उन्नति के अन्तर को शायद कुटुम्ब-संस्था की स्थिरता के अन्तर से समतोल देखा जा सके। लेकिन वह दूसरा प्रश्न है।

१०४. आज की अर्थमूलक स्पर्धात्मक समाज-रचना में परिवार का क्या स्वरूप हो कि उसका पूरा उपयोग मानव-मानस करता रह सके?

परिवार द्वार है

—अर्थमूलक और स्पर्धात्मक समाज का रूप धीरे-धीरे नीतिमूलक और सहयोगात्मक होता जायगा। इस विकास में वह परिवार सहायक होगा, जो प्रेम को अपने

में बन्द करनेवाला न होकर खोलनेवाला हो। परिवार-संस्था का यही समर्थन हो सकता है। परिवार वह अधिष्ठान है जिसके द्वारा व्यक्ति आदान-प्रदान में समर्थ होता और इस तरह समाज के प्रति जाग्रत और उपयोगी होता है। परिवार के कारण वह नागरिक बनता है। परिवार द्वार है, जहाँ से वह बाहर समाज में प्रवेश पाये और जहाँ से फिर समाज का प्रवेश उसके अन्दर हो। एकाकी व्यक्ति सामाजिक और नागरिक बनने की आवश्यकता से मुक्त रहता है। वह चाहे तो सन्त-संन्यासी अनागरिक बन जाय, नागरिकता के उदय का अवकाश उसके पास नहीं है।

चर्च और क्लब में विरोध

परिवार का यह महत्त्व और प्रयोजन नष्ट हो जाता है, यदि उसका द्वार स्वागत-भाव से बाहर समाज के प्रति न खुला रहे। इसीलिए सद्‌गृहस्थ का आवश्यक लक्षण आतिथ्य है। 'अतिथिदेवो भव' यह सूत्र सामाजिक की प्रतिष्ठा में ही बन सकता है। आज अखबारों में छपनेवाली कहानियाँ मेहमान को ही सबसे बड़ा दुश्मन बतलाती है। हृदय से चलनेवाली गृहस्थी हो, तो अतिथि देवता होगा। वही गृहस्थी पैसे के हिसाब से चलेगी, तो मेहमान मुसीबत होगा, या नहीं तो शिकार होगा। सफलता की ओर बढ़नेवाले घरानों में मेहमान जाने-अनजाने शिकार होता है। कारण, मेहमान में से निकलनेवाले लाभ पर ही वहाँ ध्यान रहता है। अतिथि देवता का स्थान रखे, यह कल्पना जिस गृहस्थी में साकार होती है, वही है जो उन्नति की गति के साथ न केवल निभती जा सकती है, बल्कि उसकी दिशा को भी सही रख सकती है। अर्थमूलक और स्वत्वमूलक गृहस्थी पश्चिम में बिखर चुकी है। वह समय का साथ नहीं दे पायी और टूट गयी। विवाह से 'अतिथिदेवो भव' वाला गृहस्थाश्रम भी प्राप्त हो सकता है, यह कल्पना पश्चिम के पास थी नहीं। परिणाम यह है कि वहाँ के जीवन में बड़ी संकरता है, स्वयं उनके अपने मानों के मुताबिक बड़ा व्यभिचार है। कारण, क्रिश्चियन विवाह की परम्परा और प्रतिष्ठा मौजूद है; साथ ही चलन में प्रेम के मुक्त भाव की भी स्वीकारता है। इस तरह चर्च और क्लब में विरोध दीखता है। इस विरोध के बीच खुली ईमानदारी न होकर एक तरह की लुका-छिपी है और स्वयं वहाँ के समाज के नीति-मानों के अनुसार इसे व्यभिचार कहना पड़ता है।

विवाह की वेदी पर प्रेम हो

गृहस्थी ऐसी हो सकती है, जो व्यक्ति को परस्पर पूरक बनाये रखे, जकड़ न

बनने दे। परिवार की सार्थकता ही इसमें है। यह तभी हो सकता है, जब विवाह की वदी पर स्वयं प्रेम हो। वेदी पर विवाह को बिठाते और आशा करते हैं कि प्रेम पुजारी बनेगा, तब उलझन खड़ी होती और संकट पैदा होता है। प्रेम परमेश्वर से मिला है और वह मनुष्यता की मूल पूँजी है। विवाह अपनी व्यवस्था में मनुष्य ने सिरजा है और वह मूलधन के सदुपयोग की विधि का रूप है। विवाह प्रेम को प्रतिष्ठित करने के बजाय जब खण्डित करता है, तो वह अपने पाँव पर स्वयं कुल्हाड़ी मारता है।

परिवार विश्वासमूलक है

फ्रांसों मौरियाक बड़े माने हुए लेखक हैं। गहरे धार्मिक भाववाले हैं। पारिवारिक सम्बन्धों का बड़ा सूक्ष्म और ग्राह्य चित्रण उनके साहित्य में है। लेकिन मैं दंग रह गया---उनके लेखन में यह देखकर कि मानो कुटुम्ब वह है, जहाँ सदस्य एक-दूसरे पर जीते हैं, मानो एक-दूसरे को खाते हुए जीते हैं। जैसे मूल में वह सम्बन्ध हिंसा का हो, प्रेम का न हो। लेकिन उनके चित्रण में असत्यता और अयथार्थता भी नहीं है। मेरी उनसे साक्षात् बातें भी हुईं। मेरे इस विस्मित प्रश्न को उन्होंने अमान्य भी नहीं किया।

तो मेरा कहना है कि परिवार हो सकता है, जहाँ सम्बन्धों में हिंसा की जगह अहिंसा हो। वह परिवार टिकेगा; कारण विवाह और प्रेम के बीच वहाँ टकराव न होगा, बल्कि सामंजस्य होगा। विवाह और परिवार की यह धारणा सम्पत्तिमूलक से भिन्न विश्वासमूलक होगी और दोनों मुक्तिदायक होंगी। ऐसा गृहस्थआश्रम होगा, जिसमें सामाजिक मोक्ष की ओर बढ़ना अनिवार्य और सहज होता चला जायगा। भारतीय गृहस्थ का आधार वही था। आज तो उसका अपलाप हुआ है। विडम्बना और प्रवंचना खड़ी हो गयी है। मूल में अधिकार की वासना न थी, कर्तव्य-धर्म की धारणा थी। इस नींव पर फिर हम खड़े हो सकें, तो परिवार सच्चे समाजवाद से आगे समाज-धर्म का, मुक्त समाज का, आधार-स्तम्भ बन सकेगा।

५

सिक्का, उन्नति और नीति

सिक्का

१०५. वर्तमान अर्थ-व्यवस्था की नींव उस दिन पड़ी, जिस दिन वस्तु-विनिमय के स्थान पर मनुष्य ने सिक्के को अपनाया। सिक्के ने औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व की कृषि और सामन्ती व्यवस्थाओं को, तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन को क्या योग-दान दिया ?

उत्पादन उपभोग से नहीं, राजनीति से जुड़ा

—सिक्का शुरू में अपने मूल्य का द्योतक था। कागजी वह बहुत पीछे जाकर बना। रुपये के सिक्के में पहले चाँदी सही सोलह आने की होती थी। उस अवस्था तक सिक्का पदार्थ-विनिमय का साधन था। और मानवीय आवश्यकता से उतनी दूर नहीं चला गया था। औद्योगिक विकास ने एक नयी चीज पैदा की और उत्पादन मानवीय आवश्यकतार्थ से छूट कर द्रव्यार्थलाभ के विचार से जुड़ गया। इसमें से एक विचित्र चक्र का प्रवर्तन हुआ। उत्पादन की नीति उपभोग से जैसे स्वतन्त्र हो गयी और वह राजनीति से जुड़ गयी। परिणाम यह कि अन्न की आवश्यकता का विचार बम-बारूद की आवश्यकता से पीछे पड़ गया। इसका सारी जीवन-विधि और मानसिकता पर प्रभाव पड़ा। आज का अर्थ-चक्र मानव-नीति से कुछ इतना स्वतन्त्र और विपरीत होकर चल सकता है कि अंकुश लाने का उपाय नहीं है। मुझे जान पड़ता है कि नीति-विचार वही सफल हो सकता है जो राज्य की नीति तक प्रभाव रखे, अन्यथा अर्थ-चक्र निर्द्वन्द्व रहेगा और नैतिकता आर्थिक परिस्थिति को छू या बदल नहीं पायेगी।

वैश्यत्व और विभुत्व दोनों भिन्न

उद्योग-युग आरम्भ होने से पहले सिक्के की शक्ति समाज में उतना अनर्थ नहीं कर पाती थी। वैश्य उसका विनियोग करता था। लेकिन वह समाज का एक अवयव

था, केन्द्र न था। मनुष्य के गुण-अवगुण परस्पर खुले खेल सकते थे, एक व्याप्त हिसाबी शक्ति जीवन को ग्रसे हुए नहीं थी। महाजन ही बैंक था और उसके स्वयं अच्छे-बुरे होने का प्रभाव आस-पास पड़ता था। निर्वैयक्तिकता धन में नहीं पड़ी थी और सामन्त और विद्वान् आदि अर्थोपार्जन में सतृष्ण नहीं होते थे। उनमें वणिज-व्यापार के प्रति बल्कि एक अगौरव का भाव रहता था। सामन्त बहादुरी को ऊँचा मानता था, विद्वान् विद्या को सर्वोपरि समझता था। वैश्यत्व और विभुता ये दो अलग वस्तुएँ थीं, और पैसे से एक बड़ी शक्ति समाज को चला पाती थी। पैसा उसका माध्यम और वाहन होता था और जीवन की सेवा अधिक करता था, संचालन उतना नहीं करता था।

तब सिक्के ने जीवन को सम्पन्न किया

कहा जा सकता है कि सिक्के ने उस काल में जीवन को व्यक्त और सम्पन्न करने का काम किया। कुंठाएँ और तृष्णाएँ पैदा करके इतना विपन्न नहीं किया। उस समय वह मानो साक्षी था, हावी नहीं हो पाया था।

अब श्रम का सत्य पूँजी में निहित

औद्योगिक उन्नति ने पैसे के चलन को बहुत तीव्र कर दिया है। गणित में इससे बेहद शक्ति आ गयी है। श्रम में से सत्यता उठकर जैसे पूँजी में विराजमान हो गयी है और अर्थनीति राजनीति बन आयी है। राज्य से अर्थ जुड़ गया है और इस कारण पुरुषार्थ, जो कि परमार्थ का ही दूसरा नाम था, राजकीय और राजनीतिक बन उठा है। इसमें मानवता और पारमार्थिकता की परम हानि हुई है और परमेश्वर का आसन राष्ट्र और राज्य ने लिया है। पर यह प्रसंगान्तर हो जायगा और उस चर्चा को यहाँ छोड़ा जा सकता है।

करेन्सी सुविधा की चीज थी

१०६. सिक्के का स्थान कागजी करेन्सी जब ले बैठी, तो उसने मानवीय और सामाजिक जीवन में क्या उलझनें पैदा कीं?

—यों तो विकास के साथ परस्पर विश्वास और साख का मूल्य बढ़ते जाना चाहिए। सिक्का ठोस धातु से जब नोट-हुण्डी तक आया, तो हम मानो उस विकास की दिशा में उठते गये। क्रेडिट और साख ही मानो आज धन हैं। इससे जीवन सुगम और वेगवान् हुआ है। मूल्य स्थूलता से सूक्ष्मता तक बढ़ा है। और ये सब विकास के प्रमाण होने चाहिए।

वह स्वार्थी वासनाओं के हाथों पड़ी

अर्थात् अपने-आप में कागजी सिक्के का चलन सुभीते की चीज है। लेकिन सामाजिक मूल्य जो हमारे नहीं उठे हैं, मानसिकता नहीं उन्नत हुई है, सो यह कागजी हुण्डी परचे की सुविधा उन वासनाओं के हाथ पड़ गयी है, जो परमार्थ का नहीं, स्वार्थ का ध्यान रखती हैं। हिसाब शोषण का अस्त्र यदि बन जाता है, तो दोष गणित-विज्ञान का न होकर लोकमानस की असंस्कारिता का मानना चाहिए। विज्ञान ने अमित सम्भावनाएँ हमारे हाथों दे दी हैं। ऋणात्मक और धनात्मक दोनों ही दिशाओं में उनका उपयोग हो सकता है। हमारे लोक-जीवन में से पारमार्थिक मूल्यों की जो हानि हो चली और मूल्य स्वयं जो आर्थिक और स्वार्थिक बन गये, इसमें दोष गणित और विज्ञान का नहीं देखा जा सकता। कहना चाहिए कि बौद्धिक विकास मानव के हार्दिक विकास के साथ-साथ नहीं चला, वरन् कुछ स्वतन्त्र और निरपेक्ष हो गया। बौद्धिक सम्पदा उन हाथों में आ पड़ी, जिनके हृदय अपेक्षया सुसंस्कृत नहीं थे। शायद ऐसा ही होता है। दायित्व धीरे-धीरे पनपता है। आरम्भ में हर नवीनता वासना के हाथ आकर पड़ती और संहारक होकर प्रकट होती है। विधायकता बाद में उसमें पड़ती है। फल प्रकट होने के साथ कच्चा और खट्टा होता है। पककर मीठा होने में समय लगता है। अणु-शक्ति का आविष्कार रचनात्मक समय पाकर होगा। शुरू में तो संहार करता हुआ ही प्रकट हुआ है।

बड़ी-बड़ी संस्थाएँ जनमीं

कागजी चलन से बड़ी-बड़ी संस्थाएँ सम्भव हुई हैं। सबसे प्रमुख तो उनमें स्वयं राज्य है। राज्य विशाल से विशालतर बन रहे हैं और अरब-खरब से आगे नील-पद्म की गणनाओं में बजट बन रहे हैं। जल्दी शंख, दस शंख और असंख्य तक गति पहुँच जायगी। उस महा-गणित के विज्ञान के सहारे विश्व का जन-व्यापार आज चल रहा है, जिसमें तत्क्षण इस ओर की बात उस छोर तक पहुँच जाती और आदमी धुर इस कोने से कुछ घण्टों में उस कोने तक पहुँच जाता है। हवाई-यात्राएँ चल रही हैं। हर घड़ी असंख्य प्रकार के सन्देश-प्रति-सन्देश इस शून्य में से यहाँ-वहाँ चले जा रहे हैं। सन्धियां और सौदे हो रहे हैं। आधे घण्टे में आपकी यात्रा के लिए दुनिया भर में सब आवश्यक रिज़र्वेशन्स हो जाते हैं, सूचनाएँ पहुँच जाती हैं। यह सब महा-व्यापार उस सिक्के से नहीं चल सकता है जो धातु की जिद में भारी भरकम बना रहता है; बल्कि तभी सम्भव हो पाया है, जब वह साख जितना सूक्ष्म हो गया है और हिसाब की विद्या भी जहाँ उतनी ही त्वरित और उन्नत हो आयी है। गिल्ड्स,

कारपोरेशन, बैंक, कम्बाइन्स, फर्म्स इत्यादि संघटनाएँ अन्यथा विकास पा नहीं सकती थीं।

पर यह उन्नति ऋणात्मक है

यह सब उन्नति मानव-जाति के जमा खाते दर्ज की जा सकती, तो कितनी प्रसन्नता की बात थी। पर अवस्था वह नहीं है। अधिकांश उसका ऋण खाते लिखना पड़ता है। हर सभ्य देश की राजधानी का नगर आज मानो विश्व का प्रतिबिम्ब हो उठा है। सब वर्ण और देश के नमूने वहाँ आपको मिल जायँगे। ये नगर सब सार्वभौम हैं, विश्व-नगर हैं। मानव-जाति का यह संगम कितना आनन्ददायक हो सकता था। लेकिन ज़रा अन्दर जायँ, तो मालूम होता है कि भीतर दाँव-घात चल रहे हैं। कूटनीतिक चक्र हैं, षड़यन्त्र हैं, गुप्तचर हैं और इन बड़े नगरों की अधिकांश रौनक इन कूटनीतिकों से बनी हुई है। तब मन को धक्का लगता है। अगर यह सब विश्व-नागरिकता हार्दिक और मुक्त हो सकती! सरकारी के बजाय वह विकसित लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब होती, तो क्या ही बात थी!

अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास बढ़ेगा

मैं यह मानता हूँ कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के क्षेत्र में परस्पर विश्वास और बढ़ेगा। अन्तर्राष्ट्रीय संशय के बजाय सहानुभूति और स्नेह होगा, तो जगत् की अर्थ-रचना कुछ भिन्न होगी। मुद्रा-विनियोग की प्रणालियाँ बहती हुई होंगी और आज जो परस्पर व्यवहार द्रुत होकर भी जगह-जगह रुद्ध और विभक्त दीख पड़ता हैं, वह रोध और विभाजन बीच में से अनावश्यक हो जायगा। विज्ञान और गणित अवश्य इतना समर्थ हो गया है कि वह विश्व की एकता और विश्व-मानवता को संभाल सके। वह उस सबकी परस्परता को सुनियोजित और व्यवस्थित रख सकता है। वे प्रणालियाँ बड़ी आसानी से उदय में आ सकती और स्वरूप पा सकती हैं, जिनसे जागतिक व्यवहार सुगम और सरल हो आये। मुद्रा इतनी प्रवहमान बन सकती है कि सीधे हर व्यक्ति से उसका सम्बन्ध जुड़ जाय और किसीको राज्य-प्रार्थी होने की आवश्यकता न पड़े, पुरुष परस्पर की प्रीति और पुरुषार्थ ज्ञापन के साथ ही मानो मुद्रा से सम्पन्न हो जाय। आज की राजकीय मुद्रा में यह सामर्थ्य नहीं है। उसकी सामर्थ्य केन्द्र से चलती और वहीं विभुता-प्रभुता का भाव दिये रहती है, यहाँ तक कि परिधि पर रहनेवाला जनसामान्य अपने को सर्वथा असमर्थ और असहाय अनुभव कर आता है। मुद्रा के श्रम और पुरुषार्थ से हटकर राजकीय-अर्थ में आ टिकने से उसकी सार्वभौम क्षमता में यह त्रुटि रह गयी है। यह क्षमता उसमें

आ सकती है, अगर हमारा समाज-विज्ञान और नीति-ज्ञान उस आविष्कार तक हमें ले आये, जहाँ सिक्का श्रम से और इस तरह जन से जुड़ जाता है।

सिक्का जन से जुड़े

हो सकता है कि सिक्के के जन से जुड़ने की प्रक्रिया इतनी मौलिक हो कि वर्तमान सभ्यता का आधार ही उससे डिग आये और इस सभ्यता के सौध को ही गिरना पड़ जाय। लेकिन आशा करनी चाहिए कि यह आमूल उन्मूलन जरूरी न होगा और सहज विकास के द्वारा हम अपनी अन्तर्राष्ट्रीयता को, उसकी राज्य-रचना और अर्थ-रचना को, मानवीय सन्दर्भ में परिणत कर सकेंगे। तब राष्ट्र परस्पर से सुरक्षा के बजाय परस्पर में पूरकता खोजेंगे और हमारी करेंसी तदनुरूप एकीकृत, सुगम और सहायक होगी। आज की मुद्रा-प्रणाली देशों की परस्पर सुरक्षा की सुविधा के लिए है। जब वह आवश्यकता निःशेष हो जायगी, तो मुद्रा-प्रणाली को ही नया संस्कार मिलेगा और वह अर्थ-रचना शनैः शनैः प्रकट होगी, जो परमार्थ से युक्त होगी और मानवता को अखण्ड मानेगी और बनायेगी।

बेकारी, निर्धनता

१०७. उत्पादन, व्यापार और विनिमय के सर्वोत्कृष्ट साधनों के वर्तमान रहते भी बेकारी, निर्धनता और अविकास की समस्या क्यों संसार के सामने निरन्तर उपस्थित है? जितना भी विकास होता है, मानो समस्या बढ़ती ही जाती है। इसका आप क्या कारण मानते हैं?

सूखा काठ का ज्ञान

—एक बात कहूँ, बुरा तो न मानोगे? प्रश्न तुम्हारे कुछ ऐसे हो रहे हैं कि मुझसे ज्ञान माँगते हों। वह मेरे पास है नहीं, जो दूँ। ज्ञान भी सामान है जो बटोरा जाता है, जैसे कपड़ा हो जो ओढ़ा जाता है। वह परिग्रह है। कम-से-कम मुझे उसकी नहीं, उससे छुट्टी की चाह रहती है। मुझे लगता है, सब चीज को तुम कारण-कार्य की कड़ी में बैठा देखना चाहते हो। चाहते हो, मैं काल की प्रक्रिया को सुश्रृंखलित तुम्हारे सामने पेश कर दूँ। एक शब्द में मैं उस काम से इनकार करना चाहता हूँ। कारण यह नहीं कि मैं मानता हूँ कि कोई दो घटना आपस में सघन सम्बन्ध में आबद्ध नहीं हैं, बल्कि इसलिए कि तिनकों को अलग करना रज्जु को तोड़ना हो जाता है। मेरेलिए प्राथमिक श्रद्धा है, अर्थात् उस रस्सी को रहने देना, थामे रहना, जो वापस तिनकों के रूप में बिखरने को राजी नहीं है। विश्लेषण से सावधान

रहना चाहिए। उसकी सीमा वहीं आ जाती है, जहाँ उससे संश्लिष्ट दर्शन बुझने-बिखरने लगता है। ज्ञान व्यथा से नाता तोड़ लेता है कि सूखा काठ हो जाता है। ज्ञान के लिए वैसी अनुमति नहीं है। विज्ञान की बात दूसरी है।

मेरा ड्राइंग-रूम भव्य बने

अब तुम्हारी बात लें। ड्राइंग रूम जैसा तो यह कमरा नहीं है, जहाँ तुम बैठे हो। लेकिन कल्पना करो, मैं हैसियत का आदमी हूँ और यह ड्राइंग-रूम ही है। अब उत्पादन, वितरण और विनिमय की अत्याधुनिक सुविधा से यही तो होगा कि इस मेरे ड्राइंग-रूम में जर्मनी, अमरीका, रूस आदि से बढ़िया-से-बढ़िया और खूबसूरत से खूबसूरत चीज आसानी से आ जायगी और सज जायगी। उस सबसे यह जरूरी कैसे बनता है कि मेरा पड़ोसी भूखा और बेकार न रहे। ड्राइंग-रूम भव्य से भव्यतर बनता जा सकता है और सभ्यता के विकास का शोभा-सिंगार हो सकता है। लेकिन ड्राइंग-रूम की शोभा दीन को और दरिद्र बनते जाने से कैसे रोक सकती है? अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि वह ड्राइंग-रूम अपनी श्री-शोभा की सम्पन्नता लेकर दैन्य और दारिद्र्य का उपालम्भ और व्यंग्य बने, और इस राह स्वयं में विडम्बना और अभिशाप बन जाय।

एक विवशता

परिस्थिति ऐसी है कि मेरे पास दस-बीस लाख रुपया बड़ी आसानी से फालतू पड़ा हो सकता है तो कोई वजह नहीं कि मैं उस रुपये से अपने आस-पास बढ़िया-से-बढ़िया माल न जुटाऊँ, या प्रेयसी के लिए बेशकीमती भेंट न खरीदूँ। यह विवशता कि मैं वैसा न करूँ, अपने आस-पास अभावग्रस्तों में उस धन को पहुँचा दूँ, आखिर कहाँ से आ सकती है? क्या वह राज्य से अथवा कानून से आ सकती है? कानून रुपये की चौकसी कर सकता है और उसे शायद छीन भी सकता है। लेकिन मुझमें पड़ोसी के साथ अपने को बाँटने की प्रेरणा कैसे डाल सकता है?

मन की वृत्ति

अर्थात् आर्थिक किसी कार्यक्रम और विकास का, उत्पादन-वितरण-विनिमय-उपकरण की किसी प्रकार की उन्नति का, सम्बन्ध सीधा उन मुसीबतों से नहीं है, जिनमें दीन-दरिद्र फँसे हुए हैं। मन की वृत्ति मेरी अपनी ही ओर है, तो वस्तु-गत सुविधाओं के साथ मैं यही कर सकता हूँ कि उन्हें अपनी ओर खींचूँ और अपने पास जुटाऊँ। दूसरा इसमें मुझसे होशियार और प्रवीण निकलता है, तो झकमारा

देखता रहूँ कि हाय, सब सुविधा उधर चली गयी है, मैं ठगा रह गया हूँ। हाय, मैं भूखा हूँ और बेहाल हूँ!

स्पर्धात्मक सम्बन्ध

स्पर्धात्मक सम्बन्धों पर जब तक हम खड़े हैं, तब तक मेरी उन्नति वही रहेगी जिसमें दूसरे की अवनति है। मेरा उठना इसी शर्त पर होगा कि दूसरे को गिरना हो। सम्पन्न देश सम्पन्न नहीं हो सकते, जब तक मण्डी बनने के लिए वे विपन्न देशों को न पायें। उत्पादन मान लीजिये कि खूब ही बढ़ता जाता है। एक मिनट में दुनिया में जितनें बच्चे बढ़ते हैं, उससे ज़्यादा मोटरें बढ़ जाती हैं। तो हिसाब बतलायेगा कि जीवनमान भी मानव-जाति का बस खूब उठ जानेवाला है। कारण, जनसंख्या से मोटर संख्या बढ़ गयी है! लेकिन आज भी दुनिया में जितनी मोटरें बन रही हैं, उसके आँकड़े लें, तो विस्मय होगा। लेकिन मोटर से आनेवाली द्रुतता, चपलता, वेग कितनों के जीवन को प्राप्त हो रहा है? और भी मोटरें गुणानुगुणित होती जायँ, तो उससे अपने-आप में भूख और अभाव मिट जायँगे, यह मानना बड़ी भारी भ्रांति है।

पदार्थ और मन

अन्त में प्रश्न पदार्थ और मन के सही सम्बन्ध पर आकर टिकनेवाला है। इस सम्बन्ध से ध्यान को हटाकर पदार्थ के परिमाण पर ही उसे केन्द्रित कर देने से, मालूम होता है, प्रश्न वहींका वहीं रह जाता है। सम्पन्नता बढ़ती अवश्य है, लेकिन उसी मात्रा में दूसरी और विपन्नता को बढ़ा जाती है।

मानव-नीति

वह दृष्टि जो कहती है कि पहले सबकी जरूरत लायक माल बना लो, बस फिर सबमें बराबर बाँटने का काम ही रह जायगा, कोरी हिसाबी साबित होती है। घर में हम क्या करते हैं? मेहमान आता है, तो जितना है, साथ बाँट लेते हैं। घर के दरवाजे पर नोटिस नहीं लगाते कि अतिरिक्त की तैयारी की जा रही है, आवश्यकता से अधिक हो जाय, तब तक मेहमान कृपया सन्तोष रखें। ऐसा करना गृहस्थ-नीति नहीं है, मानव-नीति नहीं है, कोई भी नीति नहीं है। बल्कि आदर्श गृहस्थ वह है, जो मेहमान को सुख देने में स्वयं कष्ट पाकर कृतार्थता का अनुभव करता है!

उत्पादन आदि की योजनाओं में इस मानव-नीति और प्रीति का प्रवेश न होगा,

तो आँकड़ों बेहद आकर्षक और सही होने पर भी मानव-समस्याओं का निपटारा न होगा, न होगा।

कम में सुख पाने की वृत्ति

कम में भी सुख पाया जा सकता है, इस अनुभव को स्वीकृत और सुलभ बनाना होगा। अर्थात् वह मनोवृत्ति पैदा करनी होगी, जहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से सामान कम करने में आनन्द पाये। आज तो वह वृत्ति दुर्लभ बन गयी है। मालूम होता है, सुख का सामान के साथ सीधा सम्बन्ध हो गया है। तब क्या कारण रहता है कि हर कोई धन को अपनी ओर न खींचना चाहे? और अगर प्रवाह यही हुआ, तो सबसे सुभीते की जगह बैठा हुआ शासक-वर्ग फिर क्यों न अपने स्थान का लाभ उठायेगा? इस तरह सारे समाज में एक तनाव पैदा होता है, आपाधापी बढ़ती है। और माल कितना भी अधिक हो, मानो लूट-खसोट के लिए वह उतना ही कम होता है। मन और माल के सम्बन्ध को जब तक स्वच्छ और स्वस्थ नहीं बनाया जायगा, तब तक माल की बढ़वारी मन के मैल को बढ़ानेवाली भी हो सकती है। यही उस अन्तर्विरोध के मूल में है, जिस पर आपका प्रश्न आकर टकराता है।

साम्यवादी देशों में गरीबी, बेकारी

१०८. साम्यवाद ने जो स्पर्धात्मक मानसिकता को समाप्त कर परिग्रह का समवितरण किया, उससे क्या साम्यवादी देशों में गरीबी और बेकारी का समूलोन्मूलन हो पाया? क्या आप इस साम्यवादी अर्थ-प्रक्रिया से सन्तुष्ट हैं?

असन-बसन की सुविधा

—समूलोन्मूलन उन देशों में विषमता की जड़ों का हो सका है, ऐसा वहाँ के अधिकारियों का भी कथन मैंने नहीं देखा है। स्थिति पहले से सँभली अवश्य है। असन-वसन की प्राथमिक आवश्यकताओं के बारे में सचमुच अधिक सुरक्षा प्राप्त हो गयी है और अभाव मिटा है। साम्यवाद की इस क्षमता में से ही उसकी सफलता निकली है और वह आज का सबसे व्यापक वाद बन गया दीखता है।

श्रम की प्रचुरता मिले

वह इस प्रण से चला कि जिसके पास अधिक और अतिरिक्त है, वह अनुचित ही नहीं, बल्कि अनधिकृत है और कानूनन छिन जाना चाहिए। छिनकर वह उनमें बँट जायगा, जिनके पास श्रम है और अभाव है। श्रम के पास अभाव रहे और श्रमहीन के पास

प्रचुरता हो जाय, यह अन्याय जिस हथकंडे और षड़्यन्त्र के बल पर सदियों से होता चला आया, वह ईश्वरवाद, धर्मवाद, नीतिवाद था जो सत्ताभोगियों ने अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त चलन में रखा हुआ था।

शोषक श्रेणियाँ गिरें

उन शोषक श्रेणियों को गिराकर बहुसंख्यक शोषित समाज अपने को मुक्त करे और अपने कामकाज स्वयं हाथ में लेकर सँभाल ले, तो यही इतिहास का इष्ट है। आरम्भ में राज्य जैसे एक नियन्त्रक केन्द्र की आवश्यकता होगी, फिर धीरे-धीरे मनुष्य का मानस इतना सामाजिक बन जायगा कि नियन्त्रक संस्था बीच से स्वयं ही मुरझाकर समाप्त हो जायगी।

आत्म-रक्षा की समस्या

यह वाद सुश्रृंखलित था। तर्क की त्रुटि न थी। लेकिन साम्यवादी क्रान्ति के रूस में घटते ही प्रश्न बन आया कि वह राष्ट्रीय रूप में रहे और रखी जाय, या सार्वभौम हुए बिना क्रान्ति का राष्ट्रीय रूप भी टिक नहीं सकेगा। चारों ओर की पूँजीवादी व्यवस्था की परिस्थिति के दबाव के नीचे साम्यवादी अर्थ-रचना बड़ी व्यग्रता से अपने पैरों खड़े होने की चेष्टा में लगी है। इसमें उसे बड़ा जूझना पड़ रहा है और लगातार सुरक्षा के प्रश्न को सबसे प्राथमिक और जीवन-मरण का प्रश्न मानकर उसी पर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ रहा है। इस अर्थ-व्यवस्था में नागरिक और नागरिक सुविधाएँ सैन्य और सैनिक आवश्यकताओं से प्रथम बनने का अवसर नहीं पा सकतीं। यह दबाव साम्यवादी देशों में स्पष्ट देखा जा सकता है। उसके नीचे वहाँ की जनता को उद्यत, सन्नद्ध और एक आवेश में सदा सतर्क बने रहना आवश्यक होता है। इन परिस्थितियों में प्राथमिक अभावों से जो सुरक्षा जन-सामान्य को मिलती भी है, उसका मूल्य काफी कम हो जाता है।

छीननेवालों का अंकुश

लेकिन मेरे मन में एक दूसरा सवाल भी उठता है। अतिरिक्त और अनुपार्जित धन को कानूनन छीनकर जनसामान्य में बाँट देने की बात तो प्रिय और न्याय्य लगती है। लेकिन कानून के जोर से वह छीनने का काम करनेवाली जमात के लिए भी क्या कुछ अंकुश है? राज्य अधिपति है, तो राजन्य-वर्ग में यदि मद और प्रमाद हो, तो क्या हो? ईश्वर-धर्म-नीति का सहारा तो मूल से गिर चुका होता है, उस शक्ति को मूर्त करनेवाली संस्था समाज में रह नहीं जाती। चर्च, पत्र, साहित्य

और मंच सब राज्याधीन और अनुगामी बन जाते हैं। तो वह क्या है, जो छीनने-वालों (डिसपोसेस्सर्ज़) को सीमा में (डिसपोज़ेस्ड) रखे?
स्टालिन का जो रूप पीछे प्रकट किया गया, उससे जान पड़ता है कि डिसपोजेशन का यह कार्यक्रम सत्ता के सत्त्व को मजबूती से एक हाथ में केन्द्रित किये रहने के आधार पर ही चल सका था। ये, अर्थात् नियन्त्रण लानेवाले राजकीय तत्त्व, मुरझाने और समाज में उत्तरोत्तर अन्तर्भूत होने में तो नहीं आये। बल्कि उनके स्वयं में पीन-पुष्ट और समाज पर भारी बनते जाने की बीमारी बढ़ती ही चली गयी!

नयी समस्याओं को जन्म मिला

दूसरे शब्दों में भूख और बेकारी के सवाल को एक हद तक हल करने के राज्योपाय में से साम्यवाद ने नयी तरह की समस्याओं को जन्म दे दिया है। वे समस्याएँ कम विषम नहीं दीखतीं। साम्राज्यवाद की आवश्यकता तो पहले के राष्ट्रवाद को रही हो, लेकिन साम्यवाद को भी मालूम होता है कि एक नये प्रकार के विस्तार-वाद की आवश्यकता रहती ही है। मानव-जाति के लिए यह विस्तारवादी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद कुछ अधिक आश्वासन का निमित्त नहीं बन रहा है!

उन्मूलन समूल नहीं

इसलिए मुझे इसमें सन्देह है कि वहाँ दीखनेवाला उन्मूलन समूल है, या वह सामाजिक सन्दर्भ में उन्मूलन भी है। साम्यवादी क्रान्ति राजनीतिक और तान्त्रिक क्रान्ति से आगे और गहरी कोई मानसिक क्रान्ति, मूल्य-क्रान्ति, भी है, यह देखने की बात रह जाती है। आगामी इतिहास में से यह सिद्ध या असिद्ध होता जायगा। ●

६

अर्थ-क्षेत्र में मूल्यों का संकट

देशों में सहयोग

१०९. आज विश्व के सामने आर्थिक दृष्टि से दो ही प्रश्न हैं: १. विकसित देशों के सामने विकास को कायम रखने का प्रश्न, २. अविकसित देशों के सामने विकास को पकड़ने का प्रश्न। इन समस्याओं के समाधान के लिए विकसित-अविकसित देशों के पारस्परिक सहयोग एवं सहायता का जो वर्तमान स्वरूप है, क्या आप उससे सन्तुष्ट हैं?

देश से दो तात्पर्य : सरकार और जनता

—प्रश्न में एक भ्रान्ति है। उसको स्पष्ट किये विना बढ़ना नहीं होगा। प्रश्न का 'देश' क्या है? देश का मतलब सरकार हुआ करता है। सरकार एक दल है, गुट है और उसका अपना स्वार्थ भी है। इस तरह दो देशों के स्वार्थों में पृथक्ता ही नहीं होती, विग्रह और विरोध भी हुआ करता है।

देश का दूसरा आशय वह जन-सामान्य है जो अमुक भू-सीमा में रहता है। सारी दुनिया पर यह जनता छितरी हुई फैली हुई है। मैं मानता हूँ कि इस तमाम मानव-जाति का स्वार्थ अखण्ड है। वह अखण्ड स्वार्थ ही परमार्थ है। इस तरह मूल स्वार्थ सब देशों का एक और अविरोधी हो जाता है। सरकारी स्वार्थ इन देशों का परस्पर विरोधी हो, तो इसमें अनहोनी क्या बात है?

राजनीतिक दृष्टि देशों को, लोगों को, मानव-जाति और मानव-जनता को सरकारों के द्वारा समझती-बूझती है। वही हमारे व्यापक व्यवहार की पद्धति है। उसी पैटर्न पर कहा जानेवाला अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार चलता है।

मूल मानवीय दृष्टि

यह मानकर भी कि कोई और परिपाटी जगत्-व्यापी व्यवहार-व्यापार के लिए हमारे पास सुलभ नहीं है, दृष्टि एक अवश्य मूल-मानवीय हो सकती है और राज-नीतिक व्यवहार को भी उसके अनुसार और अधीन चलाने का आग्रह रखा जा सकता

है। वह दृष्टि सरकारी तन्त्र को अमुक भू-खण्डवासियों के हित और स्वार्थ के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करेगी, लेकिन उन-उन देशों की अर्थ और विदेश-नीति को वह जनता के मूल-हित से अविरोधी रखेगी।

विकसित, अर्धविकसित, अविकसित

अब कुछ देश विकसित पाये जाते हैं, कुछ अर्ध-विकसित, कुछ अविकसित। ठीक यही हाल मेरे कुटुम्ब में देखा जा सकता है। तीन बरस की नातिन है, जिसे अविकसित कहिये, सत्रह वर्ष की कन्या अर्ध-विकसित, तीस वर्ष का पुत्र विकसित और मैं पचपन से ऊपर और पार आने पर विश्रान्त। इस कुटुम्ब में परस्पर यह तरतमता मिलती है, तो क्या आपस में कुछ अमीरी-गरीबी भी पैदा होती है? कर्जदार और साहूकार बनता है? शायद अलग-अलग जगह और अलग-अलग घरों में भी रहते होंगे, रहन-सहन की विधि और स्तर में भी अन्तर होता होगा। लेकिन पुत्र के पास सूट हो, तो क्या मुझे अपने धोती-कुर्ते में आपत्ति होती है, या सूट में उसे गर्व होता है? या हमारे बीच विषमता होती है?

अर्थ-रचना का मानवीय आरम्भ

मुझे लगता है कि अर्थ-रचना का मानवीय आरम्भ हो सकता है। उस आरम्भ के साथ हम देखेंगे कि हमारी मूल आवश्यकताओं की उत्पादन-विधि में विकेन्द्रित या स्वावलम्बी भाव आ गया है। आज पैसे के बल पर अगर मैं सात समन्दर पार के मक्खन-रोटी, बिस्कुट, जैम, कैण्ड फ्रूट्स वगैरह पर बड़े आराम और ठाट से रह लेता हूँ, तो सम्भव हो सकता है कि अर्थ-विचार के मानवीय आरम्भ के बाद वह तरीका मुझे व्यर्थ और आडम्बर-भरा जान पड़े। सम्भव है, तब पास-पड़ोस के साथ मिल-जुल कर मेरे खाने, पीने, पहनने आदि का काम चले और वही अधिक प्रिय भी मालूम पड़े।

हमारे यहाँ सोने का भाव एक सौ चालीस है, वही सोना हांगकांग में पचास में मिल रहा है। अभी फ्रांस में नकद पाँच हज़ार में मोटर-गाड़ी मिल रही थी, जो दिल्ली में तेरह हज़ार से कम में हाथ नहीं आती। जिन दिनों भारत में अकाल से लाखों टपाटप मर रहे थे, सुना गया कि अमरीका में नाज समुद्र में फेंका गया था। यह सब इस कारण नहीं कि आपस में दूरी है, यातायात के साधन नहीं हैं, आदि। नहीं, विज्ञान ने दूरी दूर कर दी है और सब साधन सहज कर दिये हैं। लेकिन फिर जो यह तमाशा चलता है, सो इस कारण कि हम लोग सरकारों से चलते हैं, अर्थ-नीति, उत्पादन-नीति, व्यापार-नीति सरकार-नीति से चला करती है!

अर्थनीति की पाशविकता

हर देश के लिए निर्यात को आयात से बढ़ाये रखना जरूरी है, अन्यथा विकास नहीं माना जायगा। इस नीति पर चलने से युद्ध की परिस्थिति सदा बनी और बनती रहनेवाली है, कभी कट नहीं सकती। अभाव होगा, तो सब वहाँ अपनी मण्डी बनाने के प्रयत्न में दौड़ेंगे और मरें-मारेंगे। निर्यात सबको बढ़ाना है, माल सबको खपाना है। खपत के लिहाज से तो कारखानों की उपज की नहीं जाती है, लाभ के लिहाज से उपज ज़रूरी होती और अपने-आप बढ़ती है। उस माल को कहीं तो ले जाकर बेच डालना है, नहीं तो उद्यम का यन्त्र ही इधर फालतू और बेकार हो जायगा। अर्थात् यन्त्रोद्योग अभाव क्षेत्र के मानव के विकास में दिलचस्पी नहीं रख सकता है, उसकी दिलचस्पी मण्डी में है। इस नाते विकसित, अर्ध-विकसित और अविकसित देशों का आपसी सम्बन्ध खासा पाशविक यानी राजनीतिक, कूटनीतिक और ऋण-शोषण-नीतिक बना रहता है। शक्ति का आवर्त इस परिस्थिति में से उत्पन्न होता है और किसी स्थल पर तनिक स्थिति-भंग हुआ कि वहीं अन्तर्राष्ट्रीय संकट की घटाएँ उमड़ कर घिर आती हैं।

जीवन-स्तर का मद-मोह

अविकसित देश अपने पर लज्जित होते, ग्लानि मानते और हीन भावापन्न बनते हैं, तो शायद इसलिए कि सभ्यता के सम्पर्क ने उन्हें यह बताया है! जीवन-स्तर को उठाने का एक मद-मोह सभ्यता ने पैदा कर दिया है। खूब चलन है इस फैशन का... पहली आवश्यकता है कि यह माया-जाल टूटे। क्यों साहब, महल में रहने से मैं मैं न रहूँगा, कुछ ऊँचा हो जाऊँगा? या सिर्फ झोपड़ी में रहने से नीचा हो जाऊँगा? आदमी को आदमियत से तोड़कर हैसियत से जोड़ा कि आदमियत घटी और हैसियत के नाम पर बाकी सब फिज़ूलियात की कीमत बढ़ी। इस बढ़ती हुई व्यर्थता की कीमत के बल पर सभ्यता का व्यापार फैल रहा और मुसीबत फैला रहा है। सभ्य है वह देश, जो विकसित माने जाते हैं। लेकिन जब प्रकट होगा कि यह व्यर्थवादी सभ्यता थी ही नहीं, बल्कि शायद असभ्यता थी, तो आज का दृष्टिमान अर्थात् महत्त्वमान ही बदल जायगा। तब क्या अचरज कि पिछड़ा ही बढ़ा दीख आये!

जन के गुणों से प्रेरित नीति

क्या देखा जाता है अब भी? छोटे और अविकसित देश आपस में मिलकर हठात् संयुक्त राष्ट्र में बल पकड़ते जा रहे हैं। अजब नहीं है कि विश्व-स्थिति का भार-केन्द्र अफ्रीका-एशिया की ओर सरकता हुआ दिखाई दे। यह सब इस कारण कि

सब कार्यवाहियों के बावजूद जन को धन से ऊपर आना ही है, सत्ता के भी ऊपर आना है। अर्थात् केवल जन की संख्या के, जन-ता के, परिमाण (क्वाण्टिटी) से चलनेवाली नीति सरकारी बना करती है। नहीं, जन के गुण (क्वालिटी) से चलनेवाली नीति होगी, जिससे प्रतिष्ठा जन-मन को और मानव-मानों को मिलेगी। तभी शान्ति-सुख-सहयोग जुबान से आगे देशों के आपसी सम्बन्धों में स्थान पायेंगे।

धर्म-नैतिक अर्थ-रचना

अर्थ की धारणा भी हमारी बेढब बनी हुई है। अर्थशास्त्र की बुनियाद में यह मान्यता है कि इन्सान स्वार्थी है। परमार्थ के जैसी कोई कल्पना ही उस शास्त्र के पास नहीं है। मुझे लगता है उस नींव पर खड़ा अर्थशास्त्र अपना खेल खेल चुका। समय शायद आया है कि वह तमाशा समेटे और अपनी दूकान उठा ले जाय। उठाकर कहाँ ले जाय? नहीं, माल को कहीं ले जाना नहीं है, उसकी तो माँग है। लेकिन दूकानदारी को दिमाग में से उठा ले। तब विकास एक दायित्व हो जायगा और अविकसित समझे जानेवाले देशों के प्रति विकास-प्राप्तों में जो होगा, वह लोभ नहीं, कर्तव्य का भाव होगा। मेरा मानना है कि मनुष्य की गहराई में पड़े इस धर्मनैतिक भाव की बुनियाद पर नयी अर्थ-रचना का आरम्भ हो सकता है और गांधीजी का प्रयत्न उसीका सूत्रपात था।

सरकारी मनोवृत्ति से मुक्त सहायता

११०–तब क्या आपका कहना है कि रूस, अमरीका जो अरबों की सहायता अविकसित, अर्धविकसित देशों को दे रहे हैं, वह विदआउट स्ट्रिंग्ज् नही हैं?

——यह हो नहीं सकता कि जगह खाली हो और वायु भरने उसे न दौड़े। इसलिए यह अरबों-खरबों की मानी जानेवाली सहायता प्राकृतिक नियमों से ही अनिवार्य है। उस दृष्टि से वह आवश्यक और उचित भी है। लेकिन जो निवारणीय है, और इसलिए जो अनुचित भी है, वह है स्ट्रिंग्स पीछे हाथ में रखने की वृत्ति। अमरीका और रूस की ओर से मैं कुछ नहीं कह सकता। लेकिन उनके मनोभाव चाहने पर भी शुद्ध नहीं हो सकते। शुद्ध नहीं हो सकते इसलिए कि सहायता सीधी जनता से नहीं आ रही है, सरकार से आ रही है। देश की सीमाओं को पार करती हुई जनता से जानेवाली सहायता के उदाहरण हाल के इतिहास में भी कम नहीं हैं। भूचाल ने आकर कहीं प्रलय उपस्थित कर दिया है, भयंकर बाढ़ आ गयी है, या महाविध्वंसक अग्निकांड हो गये हैं, या कोई दूसरा प्राकृतिक कोप उपस्थित हुआ

है, तो सब ओर से सहायता बह निकली है। इसमें स्ट्रिंग्स कहीं कोई नहीं रहे। प्रीति, सहानुभूति का संवेग ही काम करता रहा है। लेकिन ठीक यही है, जो सरकार के लिए सम्भव नहीं है। रूस की आधिपतिक सरकार हो सकती है, अमरीका की सभापतिक हो सकती है, पर सरकारी मनोवृत्ति से दोनों स्वतन्त्र न पायी जायँ, तो दोष किसे दिया जाय? दोष सिस्टम में, सभ्यता के शरीर में ही है, ऐसा मैं मानता हूँ।

दोनों को प्रभाव-क्षेत्र चाहिए

१११. जहाँ तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है, क्या रूस और अमरीका की मनोवृत्तियों में कुछ अन्तर आप पाते हैं? इनमें किसकी दृष्टि कम कूटनीतिक और अधिक मानवीय है?

—अन्तर पाना और उसमें जाना मेरे वश और क्षेत्र का नहीं है। सरकार की दृष्टि से रूस अधिक केन्द्रित और नियन्त्रित है। सरकारीपन के साथ चलनेवाला भाव-दोष यदि इस कारण वहाँ कुछ विशेष हो, तो मुझे विस्मय न होगा। लेकिन रूस के पक्ष में एक विशेषता मैं अवश्य देखता हूँ। वह ब्रिटिश परिपाटी की कूटनीति और राजनीति की लीक पर नहीं है। उसने क्रान्ति की है और कूटनीतिक क्षेत्र में नयी परम्पराएँ भी डाली हैं। स्टालिन मौन थे, ख़ुश्चेव मुखर हैं। ख़ुश्चेव के व्यवहार से मानो कूटनीति आसमान से धरती पर और दरबार से घर-बार में आ गयी है। रूस के व्यवहार का रंग-ढंग खुला है और अपनत्व से भरपूर है। वहाँ की सहायता ऐसी कम मालूम होती है कि ऊपर से आ रही है, मानो वह बराबर से आती है। लेकिन यह अन्तर तौर-तरीके का है। मूल में मुझे लगता है कि दोनों को अपने-अपने लिए प्रभाव-क्षेत्र की आवश्यकता है। दोनों को संयुक्त-राष्ट्र-क्षेत्र में केवल राय ही नहीं चाहिए, बल्कि जन-साधन का बल भी चाहिए। उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, विस्तारवाद, प्रभाव-क्षेत्रवाद इत्यादि शब्द जिसकी आवश्यकता है उसके द्योतक नहीं हैं; आवश्यकता यदि धर्म-भाव की है, तो वे सभी शब्द अधर्म भाव के द्योतक हैं।

क्या परमार्थ-नीति अ-व्यावहारिक है?

११२. आपने अपनी अर्थनीति को जिस धर्म पर आधृत किया है, क्या वह अव्यावहारिक नहीं है? घरेलू क्षेत्र में भले ही सम्भव हो, पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वार्थ के गणित को कैसे परिवर्तित किया जा सकता है? मेरी समझ में वैसा होना असंभव है।

नहीं, वह व्यावहारिक

—नहीं, अव्यावहारिक मैं नहीं मान सकता। तुम स्वयं घर में उसे व्यावहारिक देखते हो। सिर्फ इतना है कि घर से बाहर व्यावहारिक वह कैसे बने ? अगर हम यह मानते होते कि जो नीति घर में चलती है, वह घर तक ही बन्द रहने के लिए है, तो हमारा विकास रुक गया होता। विकास का अर्थ ही यह है कि हमारा स्व-भाव बढ़े और इतना हो कि संसार हमारे लिए घर हो जाय। जाने-अनजाने हम उस तरफ गति करते ही जा रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान इसमें हमारी मदद कर रहे हैं। विश्व-मानव और विश्व-कुटुम्ब आज काव्य का शब्द नहीं है, बल्कि व्यावहारिक बन गया है। विश्व-नगर तो इस समय भी कई माने जा सकते हैं; क्योंकि वहाँ विश्वभर के देशों के लोग रहते-सहते देखे जा सकते हैं।

शोषण : एक ठोस वास्तविकता

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अर्थनीति में जो आज स्वार्थ और शोषण का भाव देखा जाता है, वह मेरी भावना या किसीकी कविता या तीसरे के उपदेश से छूमंतर हो जायगा। द्रव्य और मुद्रा द्वारा होनेवाला शोषण एक ठोस वास्तविकता है और उसका मुकाबला केवल भावना से नहीं किया जा सकता। इसीसे कवि, आदर्शवादी, उपदेशक आदि लोगों की जमात होती रही और अपना धन्धा चलाती रही; उतने से विशेष अन्तर नहीं आया।

अर्थ समूह-राजनीति से जुड़ा

ऊपर जो कहा, उसका आशय अर्थ-शोषण की बुराई को कम दिखाकर बताने का बिलकुल नहीं था। लेकिन यह स्वीकार कर लेना होगा कि अर्थ-नीति अगर धर्म-नीति से मिलकर नहीं चलेगी, तो सच्चा अर्थ सिद्ध नहीं होगा, अनर्थ ही होता रहेगा। इसका तात्पर्य यह कि वह अर्थ-दृष्टि बहुत जल्दी अपर्याप्त और अयथार्थ बन जायगी। आज़ भी उस वृत्ति की अयथार्थता प्रकट हो चली है, जो अर्थ से विनिमय का ही काम नहीं लेती, बल्कि विभुता और प्रभाव-विस्तार का काम लेती है। आज अर्थ-दृष्टि जुड़ी हुई है राजदृष्टि से। इससे अर्थ अनर्थकारी बन रहा है। यह बिल्कुल आव-श्यक, बल्कि अनिवार्य हैं कि वह अर्थनीति राजनीति के बजाय धर्मनीति से जुड़े। आज का व्यापारी राज-सत्ता की ओर देखता है और वहाँ से कृपा-लाभ लेता है। पहले का व्यापारी लोक-सत्ता में रहता और उसका प्रार्थी होता था। वह लोकनीति के साथ रहने को बाध्य था। उसे अपने व्यवहार में धार्मिक होना ही पड़ता था। महाजन और साख यह दोनों एक थे। प्रामाणिकता से हटना या गिरना उसके

अपने मन की बात न थी, क्योंकि उसका अधिष्ठान लोकनीति में होता था। लेकिन जब अर्थ का योग राजनीति से हो चला, स्टेट ट्रेडिंग में दिलचस्पी लेने लगी, सरकार ने अपना कारोबार बढ़ाना और फैलाना शुरू किया, तो राजनीति धर्म-नीति से छूटकर स्वयं-प्रतिष्ठ मूल्य बन गयी। राजसत्ता सर्वोपरि सत्ता हो गयी। तो लोक-मूल्य भी गुणों से हटकर द्रव्य पर आ गये और अर्थ परमार्थ से हटकर समूह-स्वार्थ से आ लगा।

द्वेष और द्रोह मूल्य न माने जायँ

आत्मीयता और पारिवारिकता की सदा ही एक परिधि होती है। हरएक की पहचान और परख उस परिधि पर ही है। परिधि से केन्द्र की ओर स्नेह का सम्बन्ध होता है और वहाँ दूसरे में से कमाने और खींचने के बजाय उसको देने और उसके काम आने की भावना हम रखते हैं। परिधि के पार हममें परायेपन और गैरियत का ही नहीं, बल्कि उससे आगे बढ़कर द्वेष और द्रोह का भाव तक होता है। यह भाव सिर्फ हो, यहाँ तक तो सम्भवता और यथार्थता है, लेकिन वह द्वेष और द्रोह मूल्य ही बन जाय, उचित और समर्थित मान लिया जाय, तो संकट का कारण होता है। परम परमार्थ आज ही हमारा स्वार्थ नहीं बन जायगा। लेकिन इसीके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जीवन की साधना में निश्चय ही वह उपलब्धि श्रम-साध्य और समय-साध्य है। लेकिन जो बात आज और अभी हो सकती है, और निश्चित रूप से अवश्य हो जानी चाहिए, वह यह कि परिधि से बाहर भी द्वेष और द्रोह के सम्बन्ध को उचित न ठहराया जाय, उसे मूल्य न मान लिया जाय।

मूल्य का संकट

ऐसा होने से फिर व्यवहार की त्रुटि के लिए तो आधार रह जाता है; लेकिन मूल्य निश्चित हो जाता है, तो इतने भर से संकट में कुछ समाधान के तत्त्व हो आते हैं। स्वदेश-विदेश, स्वजाति-विजाति, स्वगत-विगत में किसी भी हालत में परस्पर संहार और विनाश की नीयत और वैसा आचरण उचित नहीं है, यह विश्वास धर्म-नीतिक है। हमारा व्यवहार इस विश्वास से क्यों जुड़ नहीं सकता है ? विश्वास और व्यवहार में अन्तर तो रहेगा ही, त्रुटियाँ व्यवहार में अनन्तकाल तक न रहती चली जायँ, यह असंभव है। लेकिन वे विश्वास की त्रुटि क्यों बने ? ऐसा होता है, मूल्य की श्रद्धा उठ जाती है, विश्वास शिथिल हो जाता है, तब का संकट मूल्य-संकट हो जाता और वह बड़ा ही विकट होता है। अर्वाचीन अर्थशास्त्र ही उस बुनियाद पर खड़ा है, जो अर्थ को सीधे राजनीति से जोड़ती और धर्मनीति से तोड़ती है। समस्त विचार उसी पर बल देता और उसी ओर बढ़ा जा रहा है। इसके विरोध में दूसरा सन्त-दर्शन

आता है, जो पैसेको छूना हराम ठहराता है। यानी अर्थकी वह दृष्टि समाज में दो प्रतिकूल क्रिया-प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। एक और नितान्त दिगम्बर मुनि, दूसरी ओर खरबपति बनने के प्रयास में लगा अरबपति।

पैसा स्नेह का माध्यम

मैं नहीं मानता कि पैसे में यह अनिष्टता रहना अनिवार्य है। वह शोषण का शस्त्र ही नहीं, स्नेह का भी माध्यम हो सकता है, और अर्थ-प्रणालियों में प्रवहमान क्या तत्त्व है, स्नेह है कि स्वार्थ है, यह हमारी मानसिकता और मूलनिष्ठा पर निर्भर करता है।

मूल्य मुद्रा में नहीं, श्रम में

आज खेत में यदि नाज पैदा होता है, तो खेतीहर के पास ही खाने के लिए वह जुट नहीं पाता है। अर्थात् वस्तु मुद्रा के जोर से खिची हुई वहाँ पहुँच जाती है जहाँ श्रम नहीं, सिक्के की शक्ति है। महलों के अन्तःपुर से लगाकर मीलोमील तक संगमरमर और इसी तरह के पत्थरों का फर्श मिलेगा। पर अपार धान्य और नाना व्यंजन वहाँ मौजूद हैं। पर जिस धरती ने धान्य दिया है, उससे लगकर रहनेवाले श्रमी के पास ही उसका दाना नहीं है। क्यों ऐसा होता है? कारण है क्रय-शक्ति, जिसकी पीठ पर है न्याय-व्यवस्था की सत्ता-शक्ति। यदि मनों में धर्म-प्रवाह हो, तो यह हो सकता है कि महल में रहनेवाली रानी छप्पन की जगह अपने भोग की संख्या पचपन कर दे और शेष एक भोग को अपने प्रयत्न से वहाँ पहुँचाना चाहे, जहाँ भोग है नहीं, नितान्त अभाव है। लेकिन यह भावना का प्रश्न है। पर यदि मूल्य ही मुद्रा से हटकर श्रम की ओर बढ़ चलें, तो श्रमिक को अन्न स्वतः मिलेगा और राज्य उसकी कृपा पर होगा।

अर्थशास्त्र, अर्थदृष्टि और अर्थनीति में वह क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता और लाया जा सकता है, जिसमें मूल्य श्रमनिष्ठ हो और तदुपरान्त, एवं तन्निमित्त, मुद्रा का मूल्य हो। मार्क्स ने कुछ वह दृष्टि दी, लेकिन उस भले आदमी ने उपकार-वृत्ति के वशीभूत होकर उसे राज और राजनीति से ऐसा जोड़ा कि परिणाम उसका अधूरा और ओछा ही रह गया। शासनमुक्त समाज की जगह शासनबद्ध समाज का दृश्य उपस्थित हो आया।

गणित की अकृतार्थता

अन्तर्जातीय, अन्तर्प्रान्तीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि किसी भी व्यवहार में होनेवाला स्वार्थ-मूलक गणित तब बदलेगा, जब स्पष्ट हो चलेगा कि वे सब स्वार्थ परस्पर अनुबद्ध

हैं और परमार्थ को ध्यान में नहीं लेते, तो स्वयं अपनी ही हानि करते हैं। यह दर्शन धर्म से प्राप्त होता रहा है, वर्तमान संकट और आगामी युद्ध के निदान में स्वयं राजनीति द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। आज का अर्थ-गणित कूटनीति की भूमिका पर उलटा फल लाता दिखाई देता है। अमरीकी डालर सहायता में आता है, और सहायता नहीं कर पाता। संशय के द्वारा कूटनीतिक तल पर उसीको बाधा में बदल दिया जाता है। यह उस गणित की अकृतार्थता का ही प्रमाण है। कूटनीति जैसे स्वीकार कर रही है कि अंक-गणना से ऊपर किसी लोक-भावना की भी आवश्यकता है।

जागतिक भाव, स्वप्न नहीं

मुझे प्रतीत होता है कि अर्थ स्वयं अपने विकास में स्वार्थ-भाव से इतने ऊँचे उठ आयेगा कि परमार्थ की धारणा आदर्श और धर्म के क्षेत्र की कल्पना न रहकर जागतिक व्यवहार की संज्ञा बन जायगी। तब राष्ट्रों की उत्पादन और व्यापार की नीति कुछ भिन्न स्वरूप ले चलेगी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा के पार जाकर जागतिक उत्पादन और आवश्यकता के सन्दर्भ में नये सहयोग-युग का सूत्रपात होगा। राजकीय और राष्ट्रीय आदर्श कुछ दिनों की चीज मालूम होते हैं। जल्दी ही वे क्षीण हो जायँगे और अन्तर्राष्ट्रीय की जगह जागतिक भाषा में सोचना-करना सम्भव होगा। यह स्वप्न नहीं है, विज्ञान से बननेवाली परिस्थितियाँ हमें उधर ही ले जा रही हैं।

११३. आपने ठीक कहा कि विज्ञान हमें जागतिक दृष्टि से सोचने की प्रेरणा दे रहा है। पर साथ ही देशों में एक मुकाबले की कूटनीति, अर्थनीति और शस्त्रनीति भी तो पनप चुकी है, जो जब चाहे किये-कराये पर पानी फेर देने को तैयार है। राजकारण को दोष देते रहने से इसलिए नहीं बनेगा, क्योंकि राजकारण अनिवार्यता है। ऐसी परिस्थिति में वर्तमान से वाञ्छित भविष्य तक पहुँचने के लिए कुछ ठोस प्रस्ताव प्रस्तावित करें।

राजकारण द्वारा संस्कृति सम्पन्न

—राजकारण को दोष नहीं देता हूँ। बल्कि उलटे मैं यह मान सकता हूँ कि राजकारण के द्वारा संस्कृति अपने को सम्पन्न करती है। वर्तमान के प्रति असन्तोष का मतलब वर्तमान का काट नहीं, बल्कि भविष्य का आवाहन है। राजनीतिक चेतना में हम विदेशी या विजातीय कहकर किसीके प्रति रोष लाते हैं, तो भी यह एक सजीव सम्बन्ध की निशानी है। वह जो अपने ही चक्कर में है, विदेश जैसे किसी देश के अस्तित्व से भी बेखबर है, वह उस रोष के भाव से अपने-आप बचा रहता

है। इसलिए उसे उन्नत नागरिक तो हम नहीं कह सकते। राजकारण आगे बढ़ता है और, चाहे नकारात्मक सही, अपने से या अपनेपन की परिधि से बाहर आकर कुछ सम्बन्ध तो स्थापित करता है। इस दृष्टि से उन माने गये सज्जन पुरुषों के लिए मेरे मन में प्रशंसा का भाव उदय नहीं होता, जो अच्छे तो हैं, पर अपनी अच्छाई में इतने तुष्ट और बन्द हैं कि बाकी दुनिया से बेखबर हैं। राजकारण की यह चेतना ही है जो उसे अपने में मुँह नहीं गाड़ने देती है, बल्कि उसे सक्रिय रखती और युद्ध तक में उतार लाती है। यह सचेष्टता और पराक्रम ही हैं, जो राजकारण के प्रभाव के पीछे हैं।

बहादुरी को बढ़ाया जाय

वह सात्त्विकता, सज्जनता, चारित्र्यशीलता यदि राजनीतिक प्रभाव के आगे मन्द दीखती है, तो इसी कारण कि उसमें विक्रम-पराक्रम के दर्शन नहीं होते हैं। बल्कि राजनीति में कुछ आत्मत्रुटि देखने का अवसर है, क्योंकि आत्मतुष्टि का अवसर नहीं है। अतः राजकारण को बुरा मैं नहीं कहता हूँ, दोष उसमें नहीं ढूँढ़ता हूँ। पर यह तो कहना ही पड़ता है कि राजकारण जितना है, उससे अधिक लगनशील, पराक्रमशील और समग्र क्यों नहीं हुआ। मुझे जान पड़ता है कि राजकारण यदि अपने ही प्रति अधिक न्याय करेगा, अधिक दायित्वशील होगा, तो उसकी नकारात्मकता कम होती जायगी। पर इस कारण तेजस्विता घटेगी नहीं, बढ़ेगी। मैं मानता हूँ कि राजकारण के शीर्ष पर बहादुर ही पहुँच सकता है। साथ ही उसे कुशल होना पड़ता है। जो कुशल है, पर बहादुर नहीं है, वह चोटी पर नहीं पहुँचता। कुशलता बुद्धि का गुण हो सकता है, पर बहादुरी आत्मा का गुण है। मैं जो कहता आ रहा हूँ, वह यही कि इस बहादुरी को और बढ़ाया जायगा, तो वह स्वयं अहिंसक हो आयेगी। अहिंसक होने के साथ कुशलता भी बढ़ेगी, क्योंकि बुद्धि तब आवेश से मुक्त रहकर काम कर सकेगी।

राजकारण धर्म-नीति में से क्षमता ले

राजकारण का दिशा-परिवर्तन यदि घटित होगा, तो वह स्वयं उसके भीतर से आयेगा, किसी बाहरी आध्यात्मिक या नैतिक आदि कहे जानेवाले स्तर से नहीं। इसलिए मेरे शब्दों में किसी प्रकार का आदेश-उपदेश देखना बेहद गलत होगा। सच्चाई और अच्छाई कोई भी अलग से राजकारण को संस्कार नहीं दे सकती। राजकारण की अवगणना और दोष-दर्शन की प्रवृत्ति में से ही अध्यात्म निवीर्य और निष्प्राण हो गया है। विरोध में राजकारण का प्रभाव उतना ही प्रबल होता चला गया है। राज-

कारण जिन समस्याओं से जूझता है, जिन जिम्मेदारियों को उठाता है, उनको सँभालने और झेलने की क्षमता यदि धर्मनीति में से ही नहीं आती, तो कोई कारण नहीं कि राजनीति धर्मनीति से क्यों न निरपेक्ष और उपेक्षापूर्ण बन जाय। धर्मनीति अपनी जगह पर अपने को ऊँचा माने, तो कारण हो जाता है कि राजनीति मुकाबले में अपने को ऊँचा रखे। सच यह कि वह धर्म नहीं, वह परिपूर्ण धर्म-नीति नहीं, जो रहन-सहन की भौतिक समस्याओं और उनसे उत्पन्न विग्रह-वैमनस्य की घटनाओं से मुँह मोड़कर किनारा लेती है। धर्म का क्षेत्र समाज है, जंगल नहीं। आप खुले वन में से स्वच्छ हवा लीजिये, स्वास्थ्य और स्फूर्ति वहाँ से लीजिये। लेकिन उस उपार्जन को उपयुक्त करने का क्षेत्र समाज है। वह आय नहीं है, है तो उसका उपार्जन अनिष्ट है, जो फिर सबके काम नहीं आती। वह धर्म नहीं है, है तो अधर्म है जो व्यक्ति को इसलिए उठाता है कि वह औरों के लिए बेकाम हो जाय!

पारमार्थिक श्रद्धा संसार में उतरे

आपने पूछा है कि ठोस उपाय बताया जाय। यही ठोस उपाय है कि पारमार्थिक श्रद्धा को आर्थिक कार्यक्रम में उतारा जाय। अर्थात् पारमार्थिक रुचि और वृत्ति के लोग आर्थिक एवं सांसारिक समास्याओं में उतरें और वहाँ अपनी पारमार्थिकता को कसें और उसका तेज प्रकट करें। इस प्रत्यक्ष सृष्टि में स्रष्टा को ढूँढ़े और पायें। संसार में स्वर्ग सिरजें। एक साथ निश्चय कर लें कि संसार से अलग किसी स्वर्ग को नहीं बनाना है और अपनी सृष्टि से विलग स्रष्टा को नहीं खोजना-पाना है। इस प्रकार धर्म कर्म से किनारा नहीं लेगा और तब वह धर्म बन्धन रचने के बजाय बन्धन काटता हुआ दिखाई देने लगेगा।

प्रेम आक्रमणशील हो सकता है

स्थिति की विडम्बना यह है कि विक्रम-पराक्रम बुराई की विशेषता समझी जाती है। अच्छाई निश्चेष्ट, उदासीन और तुष्ट बनी रह सकती है। जैसे आगे बढ़ना द्वेष और वैर को ही है; प्रीति और स्नेह तो सिमटे रहने के लिए ही हैं। नहीं, प्रेम आक्रमणशील हो सकता है और स्नेह की व्यथा में लोग अपने में से निकलकर दूर-दूर जा सकते हैं। यह विरह की व्यथा, प्रेम की वेदना, महत्त्वाकांक्षा से कहीं तेजोमय और वेगवान हो सकती है। इस प्रस्ताव से ठोस मुझे कुछ और नहीं सूझता है। ●

७

अर्थ का परमार्थीकरण

११४. आपने पहले कहा कि पारमार्थिकता के आधार पर सांसारिक समस्याओं को सुलझाया जाय। आप पारमार्थिकता के आधार पर वर्तमान अर्थनीति की गणित-प्रणाली को किस दिशा में और किस प्रकार मोड़ देना चाहेंगे ?

पूँजी की विशाल संस्था

—आज व्यापार माँग और पूर्ति के सिद्धान्त पर चलता है। अगर सौ आदमी बेरोजगार हैं और किसी रोजगार को सिर्फ दो आदमियों की जरूरत है, तो श्रम की दर नीचे चली जायगी। काम कम है, आदमी ज़्यादा हैं, तो काम मँहगा होता जायगा, आदमी सस्ता होता जायगा। पूँजीवाद जिसे कहते हैं, उसके नीचे यही पूँजी का गणित है। पूँजी को केन्द्र मानकर हमारी संस्थाओं का निर्माण होता है और पूँजी के आँकड़ों से सारे हिसाब को बिठाया जाता है। ज्वाइंट-स्टाक कम्पनी का मतलब है पूँजी को शामिल होकर इकट्ठा करनेवाले लोगों का समुदाय। एक कम्पनी के अन्तर्गत हो सकता है कि मजदूर दो लाख काम करते हों और पूँजी में कुल पचीस-तीस साझीदार हों। तो दो लाख मजदूर, और उनके ऊपर समझिये दो हजार बाबू, केवल नियुक्त वेतन पायेंगे, लेकिन बाकी इन पचीस-तीस पूँजी के साझीदारों में करोड़ों का नफा बहा चला आयेगा। आज के हिसाब की प्रणालियों से रूप पानेवाली व्यवस्था यह है। इसमें कहीं अवैधता और हिंसा नहीं देखी जा सकती, बल्कि मालिक को मजदूरों का उपकर्ता समझा जा सकता है। जिस देश में और भी बहुतेरे बेरोजगार हों, वहाँ कुछ को रोजगार देने का काम कौन करता है ? कम्पनी करती है। उस कम्पनी की ओर से उपकार के लिए दान-खाते में अलग धन भी निकाला जा सकता है। यह सब मैनेजिंग एजेण्ट या डाइरेक्टर की देख-रेख में होता है। यह एजेण्ट या डाइरेक्टर शेयर में लगायी गयी पूँजी के आधार पर बनते हैं। इस व्यवस्था से सुविधा हुई है कि उद्योग बड़े-बड़े बनें और फैलें। धन-दौलत दुनिया की बढ़ी है और तरह-तरह के माल-असबाब से जो आज सभ्य-सुशिक्षित परिवारों के घर भरे-पूरे मिलते हैं, सो उसी औद्योगिक उन्नति के कारण सम्भव

हुआ है। लेकिन उन्नति के साथ इस व्यवस्था में से समस्या भी बन खड़ी हुई है। उस मानवीय समस्या को श्रम और पूँजी की समस्या कहा जाता है। बड़े कारखानों में एक लेबर फैक्टर, लेबर ट्रबल, लेबर आफिसर जैसी चीजें हुआ करती हैं। हड़तालों और झगड़ों का इतिहास श्रम-पूँजी के तनाव को सामने लाता है। हित और स्वार्थ बन खड़े होते हैं, जो संगठित होकर वर्गों का निर्माण करते हैं। पश्चिम के कार्ल मार्क्स ने इस पूँजी की विशाल व्यापक संस्था का बड़ा अच्छा और वैज्ञानिक विश्लेषण दिया है। उसका ग्रंथ 'कैपिटल' शास्त्र ही बन गया है। पूँजी के हिसाब की प्रणालियों की बहुत खोलकर उसने छानबीन की है। अन्त में उस वैज्ञानिक शोध-प्रबन्ध ने यह सार निकाला है कि पूँजी की संस्था शोषण का साधन है। अर्थात् कुछ को अमीर और अधिक को गरीब बनाने की यह युक्ति है।

मार्क्स की राज्यार्थ-प्रमुखता

मार्क्स की इस शोध पर पहले बौद्धिक और फिर एक राजनीतिक आन्दोलन खड़ा हुआ। उस शक्ति से दुनिया के काफी हिस्से की व्यवस्था में आज जबर्दस्त अदल-बदल हो गयी है। पूँजी का स्थान पहलेवाला नहीं रहा है। लेकिन उस कारण उद्योगों में कमी नहीं आयी, बल्कि बढ़वारी हुई है। रूस देश में मार्क्स के सिद्धान्त को आदर्श बनाकर जो राज्यक्रान्ति हुई, उसने पचीस-तीस साल में उद्योग की दृष्टि से बेहद पिछड़े देश रूस को दुनिया का सबसे शक्तिशाली देश बना दिया है। इस विकास में हिसाब की जो प्रणाली काम में लायी गयी, उसमें ज्वाइंट स्टाक कम्पनी के लिए अवकाश नहीं था। उसमें पूँजी लगाने वाले अलग-अलग लोग साथी बनने के लिए नहीं थे। बल्कि एक केन्द्रीय शासन था और वही सत्ताधिकारी था। इस शासन के अधीन विकास-योजनाएँ चलीं और तदनुकूल संस्थाएँ पनपीं। मुझे लगता है कि उस हिसाब में राज्यार्थ जो प्रमुख हो बैठा, सो राजनीतिक शक्ति के क्षत्र में जैसे एक महा-समस्या का उदय हो गया। शक्ति-सन्तुलन का नकशा नया बना और यह नये प्रकार की अर्थ-व्यवस्था दुनिया के लिए चुनौती का विषय बन गयी। राज्यार्थ यदि प्रमुख बनता है, तो शान्ति तभी हो सकती, जब या तो दुनिया एक राज्य हो, या राज्यार्थ पुरुषार्थ और परमार्थ का ही नाम हो। मैं समझता हूँ कि राष्ट्र और राज्य एकाएक समाप्त नहीं हो सकते, लेकिन समर्पित अवश्य हो सकते हैं। विश्व के हित में समर्पित राष्ट्र और राज्य का रूप क्या होगा, इसकी कल्पना को उत्तरोत्तर जनमानस में आना है।

पारमार्थिक राज्य का स्वरूप

भारत देश के महात्मा गांधी की राजनीति और अर्थनीति मानो उसी लक्ष्य की ओर

चल रही थी। मार्क्स में से सर्व सत्ताधिकारी राज्य को जन्म मिला। गांधीजी ऐसे राज्य की कल्पना कर सकते थे, शायद अपने ढंग से उसका निर्माण भी कर रहे थे, जिसकी सत्ता नैतिक हो, साम्पत्तिक हो ही नहीं। उसका उदाहरण अभी इतिहास में कोई मिलता नहीं है। इस्लाम के पैगम्बर हजरत मुहम्मद की खिलाफत शायद वैसी ही संस्था थी और उसकी अर्थनीति का अध्ययन होना चाहिए। वैसे राज्य और राष्ट्र का कोई अलग अपना अर्थ या स्वार्थ नहीं होगा; परमार्थ में ही उसे अपने लिए पुरुषार्थ का अवकाश दीखेगा। तब अर्थ-प्रणालियों का किस प्रकार का क्या रूप होगा, यह अभी स्पष्ट नहीं है। लेकिन इतना निश्चित है कि श्रम की कीमत पर पुष्ट होनेवाला धन और प्रजा की कीमत पर शक्ति पानेवाला राज्य वहाँ नहीं होगा। सिक्का श्रम से जुड़ा होगा और राज्य उसी तरह प्रजा से जुड़ा होगा। इनके बीच गणित और व्यवस्था की जो प्रणालियाँ होंगी, उनमें प्रवाह श्रम की ओर से सिक्के की ओर और प्रजा की ओर से राजा की ओर बहेगा। आज ऊँचाई पर धन है और राजा है। श्रम और प्रजा की ओर जैसे वहाँ से कृपा-पूर्वक जीवन बहकर आता है। तब जीवन का स्रोत श्रमिक जन या प्रजाजन में होगा और उसकी भूमिका ऊँची होगी। उस भूमिका से, व्यवस्था और गणित की प्रणालियों द्वारा, वह जीवन धनिक-जन और राजन्य-जन को जीवित रखेगा। स्पष्ट है कि तब यह प्रभु-वर्ग न होगा, सेवक-वर्ग होगा। लेकिन समाज अहिंसक होने के कारण वह स्वेच्छा से सेवक-वर्ग होगा, आत्मिक दृष्टि से उन्नत होने के कारण कम में सुखी और सन्तुष्ट रहना जानेगा। तृष्णा-वासना उसमें कम होगी, इससे सेवाभाव में ही उसे आत्मतुष्टि जान पड़ेगी। यह कुछ स्वप्न जैसा आज तो लग सकता है, लेकिन स्वप्न में भी यदि उस समाज के आदर्श को हम साथ रखना चाहते हैं, जो शासनमुक्त और श्रेणी-मुक्त (स्टेटलेस एण्ड क्लासलेस) होगा, तो उसका उपाय पूँजीवादी अर्थ और राज्यवादी राज्य के पारमार्थीकरण के सिवा दूसरा नहीं है।

पारमार्थीकरण

उस पारमार्थीकरण के हिसाब का आरम्भ यह होगा कि मनुष्य की प्राथमिक भोग-भरण-पोषण की आवश्यकताएँ बाजार-निर्भर नहीं होंगी। वे बेंच-खरीद के सिद्धान्त से स्वतन्त्र होंगी। वह प्राथमिक आपसीपन, अर्थात् ग्राम-श्रम, में से अनायास पूरी होंगी। अर्थात् भूखा रखने न रखने, कामिन्दा रखने न रखने की शक्ति आदमी से कहीं भी दूर न रहेगी, वह हर एक के पास आ जायगी। फिर इस मूल इकाई, अर्थात् सृजनशील मानव की उदारता से जीवन-साधन उन लोगों के पास भी पहुँचेंगे, जो शारीरिक दृष्टि से किंचित् असमर्थ हैं। जैसे शिशु, वृद्ध, माताएँ, कवि,

कलाकार, नेता, दार्शनिक, बौद्धिक, विद्वान् आदि। व्यवस्था का गणित अवश्य ऐसा बन सकता है जो स्वार्थ-प्रेरित से अधिक परार्थ-प्रेरित हो। आज भी लोकमत से नहीं तो आईन-कानून के जोर से स्वार्थ को घटाकर आवश्यक परार्थ का प्रवेश गणित की प्रणालियों में कराया जाता है। अर्थात् माँग-पूर्ति के प्रकृत सिद्धान्त को संशोधित और सुसंस्कृत करना आवश्यक होता है। सांस्कृतिक चेतना समाज-व्याप्त होगी, तो हिसाब शुद्ध होगा और सिक्का श्रमफल को छीन कर नहीं उठा ले जा सकेगा। बल्कि श्रमिक की उदारता और स्नेह के माध्यम के रूप में उस फल को दूर-दूर तक पहुँचाने में सहायक होगा। महात्मा गांधी ने अपने रचनात्मक कार्यों में इसी मानवीय हिसाब को दाखिल किया था और खादी के क्षेत्र में करोड़ों का व्यापार भी चलाकर दिखाया था। व्यवस्था और पूँजी-लाभ के मद्धे कम-से-कम खर्च लागत पर चढ़े और श्रमिक कत्तिन को जीवन-निर्वाह के लिए यथावश्यक मिलता रहे, यह उनकी कोशिश थी।

इसी आधार पर आगे बैंक आदि की आर्थिक प्रणालियों का विकास होता जा सकता है, जिससे राष्ट्र-राज्य परस्पर परिपूरक बनें, प्रतिस्पर्धी होने से बच जायँ।

गणित का रूपान्तर

११५. आपके उत्तर में अर्थनीति के आधार गणित को किस दिशा में और कैसे आप परिवर्तित कर देना चाहेंगे, यह बात नहीं आ पायी। इस समस्या पर तनिक प्रकाश डालें।

स्वकेन्द्रित गणित

—आज के विनिमय-सिद्धान्त के नीचे जो गणित काम करता है, पहले तो वह अर्थ-मूलक और धन-केन्द्रित है और दूसरे स्वार्थमूलक और स्वकेन्द्रित। देने के ऊपर उसमें लेने का भाव रहता है, जिसके हाथ में हिसाब है, वह अपने लाभ में ही सदा गणित को जमाता और फैलाता है।

चार प्रकार के पुरुष

इस लाभवादी विनिमय-वृत्ति के व्यक्ति को वैश्य कहते हैं। कुछ दूसरी वृत्तियों के भी पुरुष होते हैं, जिन्हें वैश्य नहीं कहा जा सकता। उनको क्षत्रिय, ब्राह्मण कहना होता है। क्षत्रिय का मूल्य नफा नहीं होता, न उस प्रकार के गणित में उसकी गति होती है। वह बेहिसाब चलता है और आन-बान का आदमी होता है। लाभ से वह मान को अधिक महत्त्व देता है। फिर ब्राह्मण प्रकृति का पुरुष अपने प्रति लाभ

तो क्या, मान भी लेने की चिन्ता नहीं करता। वह देने की भाषा में सोचता और जीता है। अर्थात् वह अपनी कम आवश्यकता रखता और दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति की बात अधिक सोचा करता है। हिसाब के लिए उसके मन में बिलकुल स्थान नहीं रहता और वह औघड़-दानी होता है। तीसरे प्रकार के भी व्यक्ति होते हैं, जिनकी हिसाब में बुद्धि नहीं चलती; वे श्रम और सेवा करना जानते हैं और एवज में केवल इतनी अपेक्षा रखते हैं कि उनका जीवन-यापन होता रहे। यह शूद्रश्रेणी हिसाब से ऊँची नहीं होती, सिर्फ उससे अनवगत होती है।

असावधानता लाभ का अवसर

समाज इन सभी तरह के पुरुषों से बनता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय-वृत्ति के पुरुष इस समाज की श्रेष्ठता के माप होते हैं। वे समाज के भूषण और शीर्षस्थ हुआ करते हैं। इसी तरह चौथी श्रेणी के लोग बहुत उपयोगी और सहानुभूति के अधिकारी होते हैं। अब एक हिसाब हो सकता है, जो आज की सभ्यता का है, कि हिसाब-सम्बन्धी असावधानता को अवसर मानो और उसका पूरा-पूरा लाभ उठा लो। इस हिसाब में ब्राह्मण और क्षत्रिय-वृत्ति का पुरुष ठगा जाता है, वह घाटे और पछतावे में रहता है। यदि लोक-मानस में यह ठगी का हिसाब बैठ जाय, तो उस समाज में मानवोचित वृत्तियों का अवमूल्यन होता है। इस हिसाब में श्रम का भी शोषण होने लगता है और श्रमी अपने श्रम-कर्म में हीनता और विवशता का अनुभव करता है। हिसाब की दक्षता इस प्रकार के सभ्य-समाज में सबसे ऊँची चीज बन जाती है और उस समाज को सदा तान और संकट की अवस्था में रखती है। संकट असल में मूल्यों का संकट होता है और एक विभ्रम और नास्तिकता को जन्म मिलता है जब देखा जाता है कि सज्जन दरिद्र है, दुर्जन पदस्थ है। हिसाब की वह प्रणाली, जो लाभ को प्रथम और अन्तिम मूल्य मानकर चलती है, शेष को लाभ का आखेट बनाती है। इस तरह परस्पर सम्बन्धों में गहरा अविश्वास और संशय पैदा हो चलता है और समाज जर्जर होता है।

हिसाब की स्वच्छता

मेरे मन में स्पष्ट है कि लेने से अधिक देने की भावना रखनेवाला व्यक्ति समाज के लिए अधिक मूल्यवान् है। यदि वह हिसाब से उत्तीर्ण है, तो यह उसका सद्गुण अभिनन्दनीय है। मैं मानता हूँ कि सही हिसाब वह होगा, जहाँ विनिमय में, अर्थात् बाज़ार में रहनेवाला हिसाबी व्यक्ति उस असावधान पुरुष की भी चिन्ता ओढ़ेगा और उचित हिसाब के बारे में दुगना सावधान बनेगा। हिसाब-विषयक असावधानता

का हक जब सबका होगा और वैश्य अपने हिसाब में उन सबके हक का पूरा ध्यान रखेगा, तब वैश्य का बही-खाता सही समझा जायगा। सुनते हैं, पहले भारत में महाजन की यही खूबी थी। दूसरे के हक की पाई-पाई वहाँ बही-खाते में जमा मिलती थी और महाजन उसको चुकाकर ही चैन पाता था। हिसाब की यह स्वच्छता समाज के लिए बड़ी सहायक होती थी और महाजन के भरोसे इतर सब वर्ग के लोग अपना-अपना काम निश्चिन्ततापूर्वक करते चले जाते थे। हिसाब में पड़ने और खपने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती थी। मानो वैश्य उनके आर्थिक हित की सुरक्षा का स्वयं दायी होता था। तब निश्चय ही लोगों में स्वत्व-भाव इतना चहका हुआ नहीं रहता था और समत्व-भाव की हानि नहीं कर पाता था।

स्वार्थी गणित : समाज का राजरोग

हिसाब में दूकानदार ग्राहक के हित का ध्यान रखे, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। आज की व्यापार-नीति इस सिद्धान्त को पहचानती जाती है। इसी पहचान को यदि गहरी सचाई में उतारेंगे, तो जान पड़ेगा कि हिसाब की वे प्रणालियाँ जूठी और अदूरदर्शी हैं, स्वयं हिसाबी का उनमें लाभ नहीं है, जो दूसरे की हानि पर लाभ करने का लालच देती है। इस प्रकार देखें, तो अर्थनीति धर्म-नीति से दूर नहीं पड़ती है और अर्थ-व्यापार जीवन-व्यापार को सम्पन्न और समृद्ध कर सकता है। हिसाब की तो आवश्यकता होगी ही। उसके बिना व्यक्तित्व की स्वाधीनता और स्वावलम्बिता ही खतरे में पड़ जायगी। तब केवल राग-द्वेष बीच में रहेंगे और समता, बन्धुता, न्यायोचितता आदि के लिए अवकाश नहीं रहेगा। हिसाब से व्यवस्था आती है और सबकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है। लेकिन हिसाबी बुद्धि स्वार्थ से चले, तो वही हिसाब की प्रणालियाँ शोषण की नालियाँ बन जाती हैं और हिसाब के सूत्रों से जैसे एक वर्ग दूसरे के खून से मोटा होता जा सकता है। अन्यथा ये ही हिसाब के सूत्र हैं, जिनसे सारे समाज के शरीर में समान और सन्तुलित रक्त-संचार होता रह सकता और शरीर के सब अंगोंपांगों को स्वस्थ और सक्षम बनाये रख सकता है। शरीर के उस रक्त-प्रवाह को आप क्या कहियेगा, जिससे अंगो-पांग तो फूले रहते हैं और स्वयं हृदय को काफी रक्त पहुँच नहीं पाता है। वह हिसाब जो यह करता है औंधा है और मानना होगा कि आज का अर्थगणित उस राजरोग से ग्रस्त है।

११६. क्या आप कुछ प्रकाश डाल सकते हैं कि आपकी इस पारमार्थिक अर्थनीति में वर्तमान आर्थिक संस्थाओं की, उदाहरणार्थ बैंक, स्टाक-एक्सचेंज, बीमा, मर्यादित कम्पनियों और आयात-निर्यात आदि को क्या नया स्वरूप प्राप्त होगा?

वित्तीय संस्थाओं का संस्कार

—आज तो मुझे वह नया रूप पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता है। व्यवस्था राष्ट्र-राज्य की धारणा पर चल रही है और राष्ट्रों का सम्बन्ध परस्पर स्पर्धामूलक है। मूल में प्रतिस्पर्धा है, फिर भी सहयोग तो अनिवार्य होता ही है। इन दोनों आवश्यकताओं के अधीन हमारी वित्त-संस्थाओं का निर्माण और विकास हुआ है। फिर देश की आन्तरिक विवशता और अवस्था का भी अर्थनीति पर प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र जब परस्पर परिपूरक होंगे, उनकी सीमाएँ सुविधा के लिए होंगी, निषेध-प्रतिषेध के लिए नहीं रह जायँगी, तब करेंसी का, स्टाक एक्सचेंज का, बैंकिंग आदि का स्वरूप और उन्नत तो अवश्य होगा। पर परिवर्तन की रेखाओं को निर्दिष्ट करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैं उस बारे में कुछ अतिरिक्त भाव से अनाड़ी हूँ। पर अब भी वर्ल्ड-बैंक जैसी संस्थाएँ काम कर रही हैं। निश्चय ही वे पूरे अर्थ में विश्व-बैंक नहीं हैं। लेकिन इतना तो है ही कि वह संस्था राष्ट्र-सीमित नहीं है। राष्ट्रों के सहयोग से बनी है और उनके परस्पर कल्याण की भाषा में सोचती है। उसके पीछे अमुक राष्ट्र-हितों के सूत्र यदि हों, तो धीरे-धीरे माना जा सकता है कि वह चेतना कम होगी और जो हित अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वजनीन है, उनका आधिपत्य और ध्यान बढ़ता जायगा। आज की अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्र-हितों के समझौतों पर टिकी है। तब मानो हितों के समझौते से आगे हितों की एकता अभिन्नता होगी, राजनीति की आवश्यकता कम हो जायगी, सकुटुम्बता का भाव अधिक होगा। इस आवश्यकता और अनिवार्यता के नीचे वित्तीय प्रणालियों और संस्थाओं को जो संस्कार प्राप्त होगा उसकी स्वरूप-रेखा यदि मैं आज न दे सकूँ, तो यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। सच यह है कि वह स्वरूप देने का काम तब तक कुछ अयथार्थ ही होगा, जब तक उसको यथार्थ करने का अवसर ही नहीं आ पहुँचता है। मेरा विश्वास है कि वह अवसर शीघ्रता से पास आ रहा है।

विदेशी सहायता

११७. द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विदेशी सहायता अविकसित देशों की अर्थव्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग बन रही है। यह अरबों की विदेशी सहायता क्या आपकी पारमार्थिक अर्थनीति की ओर एक कदम नहीं है?

हम इतिहास के साधन

—बे-जाने-बूझे, हाँ, जान-बूझकर नहीं। बे-जाने-बूझे का अर्थ यह कि मानव-जाति का विकास अनिवार्य रूप से हमें परस्परता के विस्तार की ओर ले जा रहा है। यह

हो नहीं सकता कि समय के साथ और विज्ञान की उन्नति के साथ हम एक-दूसरे में अधिक दिलचस्पी न लें और एक-दूसरे के अधिक काम न आयें। अमरीका का ही उदाहरण लीजिये। यह कहना मुश्किल है कि वह स्वार्थ से मुक्त है, लेकिन पहले वह मुनरो-डाक्ट्रिन के अधीन था। सब उन्नति वहाँ उसी नीति के आधार पर हुई और अमरीका शक्ति-सम्पन्न होता चला गया। संकीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से आज भी तर्क हो सकता है कि क्या वह मूल सिद्धान्त-नीति ही उसके लिए हितकर न होती ? लेकिन बुद्धि-तर्क को कितने भी स्वार्थ के चक्र में रखें, बढ़ते हुए ऐतिहासिक विकास का तर्क अमोघतर सिद्ध होता है। इतिहास हमसे वह करा देता है जिसके शायद हम लायक नहीं होते हैं। यानी छोटे मन से ही बड़ी बातें हमसे हो जाया करती हैं और हम इस तरह, इतिहास कहो या ईश्वर कहो, उसके हाथ के मात्र साधन सिद्ध हुआ करते हैं।

दाता-आदाता सम्बन्ध

बुद्धिमानी यह है कि जो ऐतिहासिक साध्य हमारे द्वारा अनिवार्यतया सिद्ध हो रहा है, साधन के रूप में हम स्वचेष्टा से उसके अनुकूल बनें। अन्यथा भी गति होती है, लेकिन वह उतनी हमारे द्वारा नहीं होती, जितनी हमारे बावजूद होती है। अच्छा यह है कि वह हमें अपने बावजूद न लगे, बल्कि विचार-विवेकपूर्वक हम उसके सहयोगी बने चलें। आज की परस्पर की ओर बहनेवाली राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सहायताएँ शुभ हैं। वे शुभतर हो सकती हैं, अगर पीछे उनके हार्दिक भाव ही हो, राजनीतिक हिसाब न हो। यह कहना गलत होगा कि उन सहायताओं के पीछे आज वे राजनीतिक अपेक्षा-आकांक्षाएँ एकदम नहीं हैं। उनके कारण वातावरण में संशय रहता है। दाता में लाभ और आदाता में लोभ का विचार रहता है। इस आधार पर बने सम्बन्ध सम नहीं रहते, विषम हो जाते हैं और आगे जाकर कानूनी और कूटनीतिक दाँव-पेंचों को जन्म देते हैं।

मरद का खसम : करज

सहायता सब जगह ऋण के रूप में है। व्यवहार की दृष्टि से यह उचित है। लेकिन राजनीतिक अपेक्षा मन में दुबकी हो, तो यह साहूकार-कर्जदार का सम्बन्ध उपकार को अपकार बना दे सकता है। अर्थ-व्यापार में यह बहुधा अनुभव आता है कि वैश्य की लालसा उदारता बनकर फैलती और अपना जाल डालती है। वह मीठी होती है, उद्धत नहीं होती, और आपकी आवश्यकता के प्रति उद्यत बनकर आती है। हिसाब का व्यवहार उदाराशय भी हो सकता है, लेकिन उस हिसाब के पीछे उदारा-

शयता न होकर निजीय या राष्ट्रीय विस्तार-भावना है, तो वह हिसाब भी फंदा बन जाता है और सारी जान उसमें फंस जाती है। देहाती कहावत है : 'औरत का खसम मरद, मरद का खसम करज।' यह कर्ज सारे पौरुष को मार देता है और वड़े-बड़े इसकी मार के नीचे सारी चौकड़ी भूल बैठे हैं।

इन ऋणों का भविष्य

ऋण और सहायता के ये अनुबन्ध यदि राजनीतिक गठबन्धन न पैदा करें, तो बहुत ही शुभ बात है। लेकिन इतनी शुभ है कि उसी कारण भरोसा नहीं होता। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय ऋण एक ऐसा भार है कि एक राष्ट्र क्रान्तिपूर्वक अपनी व्यवस्था बदल डाले, तो उसके जुए को अपनी गर्दन से उतार फेंक सकता है। युद्ध से पूर्व और युद्ध के अर्थ अमरीका ने रूस को ऋणरूप काफ़ी सहायता दी थी, तो उसका क्या हुआ ? शायद वह लौटायी नहीं गयी है। कोई अन्तर्राष्ट्रीय साधन ऐसा हमारे पास नहीं है कि जो ऐसे कर्ज की अदायगी का जिम्मा उठा सके। राष्ट्र सावरेन है और यदि उसकी नयी सरकार तय कर दे कि हम पुरानी सरकार के कृत्यों और ऋणों का भार नहीं स्वीकार करते हैं, तो कोई उपाय बाध्यता का नहीं है। राष्ट्र इनकार करके युद्ध के लिए ठनकर उतारू हो सकता है। बहरहाल युद्ध पिछले इतिहास को मिटाकर नये परिच्छेद का आरम्भ है और कहा नहीं जा सकता कि उन भारी ऋणों का क्या भविष्य है, जो सहायता के रूप में इधर-उधर जा रहे हैं। भारत की बात कही जाय, तो उसको सारे ऋण पूरे तौर पर चुकाने होंगे। और मुझे नहीं लगता कि उस आधार पर उठायी गयी एक-दो-तीन नम्बर की पंचवार्षिकी योजनाएँ बुद्धिमानी की साबित होंगी। शायद हो कि वे अधीरता की सिद्ध हों और आगे आनेवाली सरकार को क्षति-पूर्ति में लगना पड़े।

धनाधारित उद्योगवाद का पुनर्निरीक्षण

मैं नहीं कह सकता कि वह हिसाब, जो औद्योगिक उत्पादन की अतिशयता के कारण विस्तार पाता और उसके लिए सहायता का हाथ आगे कर दुनियाभर की तरफ बढ़ता है, स्वस्थ हिसाब है। वहाँ उत्पादन आवश्यकता से टूट चुका होता है और निर्यात और लाभ के नाते धड़ाधड़ और अनवरत बढ़ाया जाता है। वह आदमी के काबू में नहीं रहता और खुद आदमी को बेकाबू कर देता है। औद्योगिक उत्पादन और खपत के क्षेत्र में वह समस्या आज विश्व के सामने खड़ी दिखाई दे रही है। कई देशों की अर्थ-व्यवस्था उसके परिणाम में डगमगा आयी है और कुछ देश बुरी तरह उससे जूझ रहे हैं। कई करेन्सियाँ डाँवाडोल हैं और तेजी से उन्न सिक्कों का

अवमूल्यन हो रहा है। इन लक्षणों से कहा जा सकता है कि जल्दी ही धनाधारित उद्योगवाद के पुनर्निरीक्षण की आवश्यकता आ उपस्थित होगी और विश्व के सन्दर्भ में नयी अर्थनीति का विचार अनिवार्य हो जायगा।

अर्थ-प्रधान उद्योगवाद उस सभ्यता का परिणाम या उद्गम है जो अर्थ-विनियोग को लाभशून्य बनाकर नहीं देख सकती और इसलिए जिसके वास्ते यह असम्भव है कि वह शिल्प और यांत्रिकी सिखलाने के नाम पर दूसरे को जेर करने की न सोचे। उत्पादन का यह नशा विकसित समझे जानेवाले और अविकसित समझे जानेवाले दोनों प्रकार के ही देशों में हो सकता है। इस नशे के नीचे होनेवाले वित्तीय हिसाब-किताब को मैं खतरे से खाली नहीं मानता हूँ। भारी यन्त्रोंद्योगों से पैदा हुए माल के इफ़रात को लेकर नशा हो सकता है, या अपने अभावग्रस्त देश को धन-दौलत से मालामाल करने की बेसब्री में भी वह नशा पैदा कर लिया जा सकता है। लेकिन उस चक्कर में से शान्ति की शक्तियाँ नहीं, बल्कि विग्रह और दुर्भाव की सम्भावनाएँ प्रतिफलित होती दीखती हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपयोग

११८. कर्ज करने के बदले क्यों न एक देश अपने नागरिकों के वैयक्तिक धन-साधनों को किसी भी प्रकार प्राप्त करे और देश को उन्नति की ओर गति देने में उनका उपयोग करे? राजाओं, जमींदारों और धनिकों के तहखानों में सड़ने-वाली तथाकथित व्यक्तिगत सम्पत्ति क्यों न राष्ट्र के हित में लगे?

क्या जोर-जबरदस्ती जायज है?

—क्यों न सब जन-धन राष्ट्र के हित में लगे? सचमुच इस भावना से कहीं कुछ जोर-जबरदस्ती को भी जायज मानकर काम किया गया है। इस पद्धति ने परिणाम भी दिखलाया है। रूस, चीन की तेज तरक्की में यह तरकीब बरती गयी है। सहसा चलताऊ दृष्टि से इसके विरोध में कुछ कहा नहीं जा सकता है। कहना होगा कि अगर सचमुच उन्नति की वैसी अधीरता है, तो वही कर गुजरना चाहिए। राज्य, जो समाज का ही वैधानिक रूप है, क्यों न बिखरे हुए सब धन-जन को अपना ले, संगठित कर डाले और उस आधार पर तेजी से अपना निर्माण शुरू कर दे? जो थोड़े-बहुत असहमत हों, बाधक हों, विघ्न बनें, उनको रास्ते में से साफ कर दिया जाय। आखिर प्रगति और इतिहास कब इन छोटे-मोटे मन्तव्यों पर रुकते हैं? जलजला आता है, तो क्या हम-तुम का विचार करके वह रुक जाय? क्या इतिहास अपनी गति समेट ले, सिर्फ इस खयाल से कि कोई जीव न मरे? काल सबको अपने-

अपने समय पर खाता हुआ ही तो आगे चलता है। अगर आदमी न मरे, अमर बन जाय, तो बेचारा काल खुराक के अभाव में भूखा रहकर खुद ही मर जाय। अहिंसा का चाहना यही नहीं तो और क्या है। लेकिन स्पष्ट है कि यह सब खामखयाली है और व्यग्रता है।

सीमा-रेखा पर युद्ध की स्थिति

मैं यदि ऊपर के तर्क से सहमत नहीं हो पाता हूँ, तो किसी अहिंसा नाम के सिद्धान्त के कारण ऐसा नहीं है, न किसी डिमोक्रेसी का प्रेम ही बाधक है। बल्कि यह कि उस पद्धति से उधर एक समस्या हल होती दीखती है, तो उससे दूसरी विकटतर समस्या बन आती है। यह बात शायद पहले भी कही गयी है। ऐसे उत्पन्न होने-वाली आन्तरिक समस्या को छोड़ भी दें, पर सीमारेखा पर जो युद्ध की परिस्थिति बनी रहती है, उसको ओझल नहीं किया जा सकता है। जोर-जबरदस्ती से बनायी गयी स्थिति को जोर-जबरदस्ती से ही परिस्थिति के बीच टिकाये रखा जा सकता है, दूसरा उपाय सम्भव नहीं है। व्यवहार इस अनिवार्यता से छूट नहीं सकता। सिद्धान्त का यह बिलकुल सवाल नहीं है, परीक्षण में आ रहे और लगातार तैयार हो रहे अणु और हाईड्रोजन बमों का सवाल है। सब शान्ति-प्रयत्नों के बावजूद क्यों सन्धि नहीं हो पाती और आणविक अस्त्र-निर्माण क्यों रुक नहीं पाता? इस अमोघ विवशता के गर्भ में जो तर्क पड़ा है, वहाँ तक पहुँचने की आवश्यकता है। वह जोर-जबरदस्ती का तर्क है और यह कि उससे शुरू करके फिर उसका अन्त नहीं लाया जा सकता।

कानून और जन-मन

लेकिन देश एक-मन और एक-प्रण होकर आत्मनिर्माण में जुट जाय, यह आशा जोर-जबरदस्ती से ही घटना में आ सकती है सो क्यों? गांधी के जमाने में क्या ऐसा नहीं लग आया था कि सारा भारत देश एकात्म है और स्वतन्त्रता पर बलि होने के लिए बच्चा-बच्चा आतुर है? लाम के लिए रंगरूट-भरती को कानून से जरूरी बनाया जा सकता है, कान्सक्रिप्शन आम हो सकता है। लेकिन ऐन लड़ाई के मौके पर जो चीज काम आयेगी, वह सिपाही की स्वतःस्फूर्ति होगी, या दूसरे की जबरदस्ती होगी? अर्थात् जबरदस्ती धन को इकट्ठा कर सकती है, तन को भी शायद जमा कर ले, पर उसके पीछे जन-मन नहीं होगा, तो कुछ भी काम नहीं हो सकेगा, यह निश्चय है। आखिर जिसको क्रान्ति कहते हैं, वह क्या है? राज्य का कानून एक होता है, प्रजा का मन सर्वथा दूसरा होता है। तो इनके विग्रह में से ही तो विद्रोह और

विप्लव आते हैं। अतः आवश्यक है कि राज्य को अगर सम्पूर्ण देशवासियों का सहयोग और उत्सर्ग प्राप्त होगा, तो जबरदस्ती के मार्ग से नहीं, स्वयं बलिदान का उदाहरण और मिसाल पेश करने के बल पर होगा। डिमाक्रेसी के नाम पर शासन-पदों पर पहुँचकर लोग प्रभुता में भूलेंगे, सामान्य जन से टूटकर तनख्वाहें मोटी लेंगे तो जन-मानस आत्म-निर्माण में तत्पर नहीं होगा; बल्कि सरकार की अमलदारी में तरह-तरह के करों द्वारा जमा अनन्त कोषराशि को लूटने और लुटाने में मन रखेगा। निश्चय ही तब प्रजाजन और राजकीय कर्मचारीगण सभी आत्मदान से उलटे चलेंगे, सब अपने-अपने लिए छीनने और जुटाने में प्रवृत्त होंगे और भ्रष्टाचार का बोलबाला होगा।

मूल्य : लोक-मत

जो स्वर्ण और रत्न के खजाने तहखानों में सड़ रहे हैं, वे अपना धन नहीं उगलेंगे, बल्कि और दबने-दुबकने की कोशिश करेंगे, जब तक उनके स्वामियों को अपनी सुरक्षा की चिन्ता सतायेगी। कानून से उस चिन्ता को बढ़ाया ही जा सकता है। लोकमत में पूरा बल हो, लोकमूल्य में से उस बेकाम सोने-हीरे का मूल्य एकदम घट जाय और उनके स्वामियों में सर्वथा मुक्तभाव हो, तो जरा भी अचरज नहीं है कि वे तहखाने अपना धन उगलने लग जायँ। जिसने महात्मा गांधी को देखा और जाना है, वह इस सम्भावना को असम्भव नहीं मान सकता है। हम अपनी ओर से गांधी को और उस प्रकार के अचरज को असम्भव कर देना चाहेंगे, तो बात दूसरी है। नेहरू चाहें तो स्टालिन की राह चल सकते हैं, लेकिन सोच में रह जाना पड़ता है कि क्या वे गांधी की राह चलने की सोचेंगे? ●

८

अर्थ और काम

अर्थ और काम

११९. कल बातों-बातों में आपने अर्थ की जड़ों को काम अर्थात् सेक्स में निहित बताया था। इस कथन का स्पष्टीकरण कराये बिना मेरे लिए आगे बढ़ना कठिन हो रहा है।

प्रयत्न का मूल है काम

—पुरुष क्यों प्रयत्न करता है? जिसको उद्योग की भाषा में 'इन्सेंटिव' कहते हैं, वह कहाँ से आता है? बहस चला करती है कि स्वत्व और स्वामित्व नहीं रहेगा, तो प्रयत्न के लिए इन्सेंटिव नहीं रहेगा। इसका क्या आशय है? आशय यही है कि प्रयत्न कामना में से निकलता है। प्रयत्न का मूल इस तरह काम है, फल अर्थ। पड़ोस की ही बात लीजिये। तीन वर्ष पहले वह युवक आवारा समझा जाता था। मनमाना खर्च करता था, काम कुछ नहीं करता था। तीन वर्ष हुए, विवाह हो गया। विवाह प्रेम-विवाह था और युवक में अब काफी परिवर्तन देखा जाता है। पत्नी सुन्दर और समाज में अपना स्थान बनाने योग्य है। इसलिए मामूली खर्च में काम नहीं चलता है और युवक दिन-रात पत्नी की और अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए कमाई के कामों में लगा दीखता है। इसमें क्या आप काम और अर्थ जुड़ा हुआ नहीं देख सकते हैं?

अर्थ की उलझनें निष्कामता से कटेंगी

सूक्ष्मता से देखें, तो और सब दूसरी जगह भी अर्थ के मूल में काम को देखा जा सकेगा। इसीलिए अर्थ की उलझनों को काटने के लिए निष्कामता का अभ्यास सुझाया जाता है। मैं स्वयं मानता हूँ कि अर्थोत्पादन के जोर से आर्थिक समस्याओं का निपटारा न हुआ है, न होगा। इस निर्णय के आधार के लिए अपने पास मैं स्वयं हूँ, मेरा परिवार है, आस-पास के सब लोग और सब परिवार हैं। सबका अनुभव यही है

कि आर्थिक-समस्या अपने-आप में बढ़ती गयी है, बढ़ती जाती है, जब तक कि किसी ओर से या किसी स्तर पर निष्काम-भाव, नीतिभाव का भी वहाँ प्रवेश नहीं हो पाता है। तृष्णा यदि अनन्त है, तो अर्थोत्पादन को भी अनन्त परिमाण तक बढ़ाये चला जा सकता है और समस्या बनी की बनी रहती चली जा सकती है। अर्थ की आय समाधान तब पहुँचाती है, जब नयी आवश्यकता एकाएक न खड़ी हो जाय और पुरानी की पूर्ति पर थोड़ी देर मन रुका रहे।

दो घटनाएँ

दो घटनाएँ सुनिये। प्रेमचन्द्र का नाम सब जानते हैं। स्थिति में अभाव था और चार सौ रुपये कहीं से आने की आशा थी। राह देखते-देखते आँखें हार चलीं, तो आखिर दो सौ पचास रुपये आये। सब पत्नी के हाथ दे दिये गये। "कितने हैं?" "ढाई सौ हैं।" सुनकर पत्नी ने उन सब नोटों को जोर से आँगन में फेंक दिया, वे उड़ते हुए इधर-उधर फैल गये! क्यों ऐसा हुआ? उस विपन्नावस्था में ढाई सौ का तो बहुत मूल्य था। वही नाचीज़ बनकर क्यों तिरस्कार के पात्र हुए? कारण, आशा अधिक थी, धन कम था।

मेरे साथ की सन् तीस की बात है। मैं पैसा जानता न था। मेरे लिए पैसे की दुनिया तिलस्म थी। अखबार ने बताया: जैनेन्द्र की किताब को पाँच सौ का इनाम मिला है। मैंने सोचा, माँ को खुशी होगी। माँ हैरान रहा करती थीं कि इस अनहोने लड़के का होगा क्या, मैं खुद हैरान था। घर आया, तो माँ ने कहा: "सुना है इनाम मिला है, कहाँ है ला।" मैं क्या जानता था कि चेक घर आ चुका है। खैर, मालूम हुआ तो माँ ने कहा: "यह हुए पाँच सौ, तीन सौ और ला। बहू की चूड़ियाँ जो बनी थीं।" यानी इनाम पर प्रसन्नता का मौका ही न आया, उलटा रोना पड़ गया। कारण, मुझे सूझता न था कि बाकी तीन सौ कहाँ से, कैसे, कब आयेंगे। अर्थात् स्वप्न से भी बाहर की रकम एकाएक घर में आ पड़ी, तो भी यदि हर्ष की जगह क्लेश हुआ तो क्यों? कारण यही कि अर्थ स्वप्रतिष्ठ वस्तु नहीं है। वह इच्छा-आवश्यकता से जुड़ा है और सुख-दुख देने की शक्ति उसे वहीं से मिलती है।

अर्थ सत्तावाद के पीछे कामोद्दीपन

१२०. यह तो हुआ, पर अर्थ की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सेक्स से आप कैसे, कहाँ जोड़ पायेंगे?

—व्यक्ति के पास सेक्स है। राष्ट्र के पास वह कहाँ है, यही न? लेकिन कामना दोनों के पास है। शायद पहले मैंने यह कहा भी है कि वर्तमान सभ्यता पुल्लिंगी

है और उसे भोग की चाह रहती है। उस सभ्यता की मानो माँग है कि नारी प्रतीक पदार्थ हो कि जिसे वह जीते, मर्दित और दलित करे, इत्यादि। अर्थ का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस लिप्सा से क्या शून्य देखा जा सकता है? करोड़ से अरब और खरबपति बनने से जो भागता हुआ दीखता है, उसके मनोभावों में जाइये। स्त्री जैसे उसके लिए नाकाफी हो, अपनी प्रभुता वह विस्तृत क्षेत्र पर छायी हुई चाहता है। मानो चाहता है कि एक उपनिवेश का उपनिवेश नीचे ऐसा बिछा हो कि जैसे भोग्य स्त्री। आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद में कामोद्दीपन देखने में मुझे तो कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। यदि यह उद्दीपन वहाँ से खिंच रहता है, तो हमारी सारी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एकाएक नया स्वरूप ले सकती है। जिस दर्शन और भाव के अधीन हमारी अर्थ और राजनीति चल रही है, उसमें सेक्स और भोग की निश्चय ही युक्त से अधिक प्रतिष्ठा है। आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, और बढ़ती जानी चाहिए। जीवन-स्तर जितना उठता है, आदमी उतना बड़ा होता है। अर्थ और सत्ता के मान से व्यक्तित्व का मान है। आदि धारणाएँ क्या बतलाती हैं? मुझे सचमुच लगता है कि हमारे दर्शन में पौरुष का एकांगी भाव रहा है, नारीत्व का सन्तुलित योग नहीं रहा। मानव-जाति करीब-करीब समान भाव से स्त्री-पुरुष में बँटी हुई है, लेकिन हमारे आदर्शों और नीतियों में इन दोनों तत्त्वों का समानुपात नहीं है। इसीसे प्रेम से अधिक काम का महत्त्व है और उसीका स्थिति पर खिंचाव है।

नारीत्व का समीचीन योग

नारीत्व का समीचीन योग हो, तो केन्द्रित राज्य-व्यवस्था कुछ गृह-व्यवस्था के निकट आयेगी और शस्त्र-सैन्य की आवश्यकता कुछ कम होगी। आज तो जहाँ देखिये, सेना की महिमा के दृश्य हैं। सिनेमा में वही, राष्ट्रीय उत्सवों-पर्वों में वही। मानो उत्साह का उपाय शस्त्र-दर्शन और सैन्य-प्रदर्शन है। यह सब हिंसक सभ्यता के प्रतीक हैं और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति को भी इसके आनुषांगिक रूप में ही देखना मानना होगा।

१२१. नर और नारी में शारीरिक विभेद से बढ़कर तात्त्विक अथवा आत्मिक विभेद मानना क्या अवैज्ञानिक नहीं? पुरुषत्व को अनिवार्य रूप से हिंसापरक और भोगी और स्त्रीत्व को अहिंसापरक और भोग्य मानकर क्या हम कहीं गलती नहीं करते?

नर-नारी में निगूढ़ अन्तर

—नर और नारी में शारीरिक भेद भर मानना बल्कि अवैज्ञानिक है। यह शरीर को मन से पृथक् मानने जैसा हो जायगा। अनुभव से ही वह ग़लत है।

इसके अर्थ यह नहीं कि मानव की दृष्टि से दोनों में सम-समानता नहीं है। लेकिन यह अवश्य है कि स्त्री वह नहीं है, जो पुरुष है। ऐसा न होता तो, वे परस्पर पूरक न हो सकते थे।

पुरुष निर्गुण, स्त्री सगुण

हिंसा-अहिंसा से नर-नारी को समगत या तद्गत देखना सचमुच ग़लत है। नारी में हिंसा-अहिंसा दोनों की उत्कटता देखी जा सकती है। यदि उन दोनों में तरतमता और पृथक्ता है तो शायद इस अर्थ में कि पुरुष निर्गुण और स्त्री सगुण खोजती है। निर्गुण सत्य, सगुण अहिंसा। सत्य और अहिंसा में विरोध नहीं है, पर यदि एकत्व है, तो तनाव के साथ। अर्थात् यह एकता हमेशा साधना और सावधानता से साधी जाती है। वह सहज नहीं है, परम साध्य और दुःसाध्य है। काम में इतनी शक्ति, इतनी अनिवार्यता और अमोघता इसी कारण दिखाई देती है और ढाई अक्षर का प्रेम परम गूढ़ और दुरधिगम्य इसीसे बना हुआ है।

भोगी और भोग्य में अन्तर

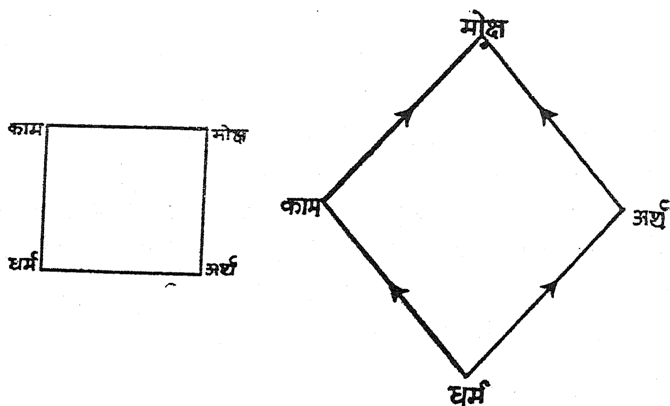
भोगी और भोग्य का थोड़ा अन्तर तो स्वीकार करना होगा। पुरुष में 'सबजेक्टिविटी' प्रधान है। स्त्री अपेक्षाकृत 'आब्जेक्टिव' होती है। एक पुस्तक मैंने देखी थी, 'दि अदर सेक्स'। स्त्री के बारे में थी और स्त्री ही उसकी लेखिका थी। लेखिका तज्ज्ञ थी और अनुभवी थीं। सारी पुस्तक में यह भाव व्याप्त था कि स्त्री को खुशी के साथ अपने को पुरुष से दोयम मान लेना चाहिए, क्योंकि वह दोयम है। पुस्तक के शीर्षक में 'अदर' का भाव वहाँ यही द्वितीय था। इतना भी अन्तर पुरुष-स्त्री में न मानें तो जैसे सृष्टि का रहस्य नहीं खुलता है, उसका मन्त्र नहीं मिलता है। इस रूप में जैसे कुछ पता चलता है कि क्यों जीव-सृष्टि मूल से ही दो लिंगों में बँटी हुई बनी है।

१२२. अर्थ की जड़ें काम में आपने दिखायीं, पर क्या और गहरे जाकर मोक्ष में वे नहीं हैं? अर्थ, धन, काम, मोक्ष के चतुर्भुज का क्या तारतम्य आप समझते हैं?

चार पुरुषार्थ

—मोक्ष की चर्चा नहीं की जा सकती। सफर जिसका काम है, वह मुसाफिर मंजिल की गाने नहीं बैठेगा। मुझे तो यह भी लगता है कि जो मंजिल को जान गया, वह कभी मंजिल तक पहुँचा नहीं। दिमाग से वहाँ पहुँच जाना, पाँव-पाँव चलकर कड़ी मेहनत से पहुँचने के काम से अपने को बचाना ही है। कवि और दार्शनिक

ऐसे ही लोग हुआ करते हैं। आदर्श और स्वप्न को गाते जाते हैं, उसे पाने-पहुँचने की झंझट में नहीं पड़ते। इसलिए मंजिल और मोक्ष की बात से आप खुद भी बचिये, मुझे भी बचाइये। चतुर्भुज को देखना ही हो, तो मैं उसे उल्टा खड़ा देखता हूँ :



सामान्यतः चतुर्भुज का चित्र 'अ' सामने आता है। चतुर्भुज के ही चित्र में मुझे इन चारों पुरुषार्थों को देखना होता है, तो 'ब' चित्र के रूप में ही देख पाता हूँ। धर्म मूल भाव और मूल दृष्टि है। वही अर्थ और काम इन दो तटों की ओर जीवन को विस्तार दे और वही दृष्टि फिर दोनों को परस्परापेक्षा में व्यवस्था देती हुई मुक्ति में समाहित कर दे, तो मानो चतुर्भुज का इष्ट परिपूर्ण हो जाता है। धर्म एक अखण्ड श्रद्धा है। श्रद्धा को व्यवहार पर लाते हैं, तो विवेक का रूप बनता है। और उसके समक्ष अर्थ और काम से रूपाकार पाया हुआ द्वैत का संसार आता है। इस समग्र विस्तृत द्वैत में से फिर एक एकत्व अर्थात् मुक्ति की ओर उन्नति होती है। दूसरे शब्दों में मोक्ष में अर्थ और काम का परिहार नहीं है, बल्कि समाहार है। अर्थ-काम की कोई अतिरिक्त अतृप्ति और त्रुटि मोक्ष-प्राप्ति में अन्तराय और बाधा ही बननेवाली है। यानी मोक्ष में अतृप्ति किसी प्रकार की नहीं रह सकती है। पर यह चार पुरुषार्थ के चतुर्भुज रूप की कल्पना इसलिए नहीं है कि आप और मैं उस पर अटकें, या दर्शन को उसी चित्र से साधें। वह तो सिर्फ बुद्धि के सहारे के लिए है। उससे अधिक महत्त्व देना भूल करना होगा।

९

साहित्य और कला

पश्चिम का साहित्य

१२३. हम शायद कुछ हट गये हैं। पर अब फिर पाश्चात्य प्रदेशों में लौटना होगा। मैं जानना चाहता हूँ कि पाश्चात्य-साहित्य पाश्चात्य सभ्यता की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को कितने समाधानपूर्वक प्रस्तुत कर रहा है।

दुर्दम प्यास और दुर्दान्त साहस

—साहित्य वहाँ की मानसिकता को सचमुच पूरी तरह प्रतिबिम्बित करता है। समस्याएँ जब वहाँ साफ उठती दीखती हैं, तब यह कहना कठिन होगा कि समाधान का आभास भी वहाँ उतना ही स्पष्ट है। लेकिन रोग का ज्ञान स्वयं उसका निदान और समाधान है, यह भी बहुत हद तक सच है। मानसोपचार और मनोविश्लेषण में इसी सिद्धान्त को काम में लाया जाता है। अन्दर की गाँठ का बाहर चेतन में आकर व्यक्त हो जाना ही मानो खुल जाना है, ऐसा मनोवैज्ञानिक बताते हैं। इस दृष्टि से सच ही पाश्चात्य-साहित्य बहुत कीमती और मर्मदर्शी है। विघटित मानस का चित्र वहाँ भरपूर उतरा देखा जा सकता है। गहरी बेचैनी है और गहरी तलाश है। ऐन्द्रिकता के प्रति एक साथ उतनी ही घनी अनुरक्ति और गहरी विरक्ति है। शराब का भरोसा है और उतना ही उसकी व्यर्थता का भी निश्चय है। आस्था जो पहली पीढ़ी तक के लेखकों को थामे हुए थी, टूटकर बिखर गयी है। मूल्य खो गये हैं और आदमी का अपना चित्र पानी की हल्की लहराती सतह पर जैसे हर क्षण सैकड़ों-हज़ारों खण्डों में हिलता-डुलता बनता-बिगड़ता रहता है, वैसा ही हो गया है। राजनीति में एक वस्तु स्थिर मालूम होती है और वह है युद्ध। अन्यथा वह विभीषिका भी रस खोती जा रही है। तत्काल से भी आगे तत्क्षण प्रधान बन गया है। और धन का भी यही उपयोग बचा है कि उससे क्षण का अधिक-से-अधिक रस खींचा जा सके, इत्यादि। मैं उस साहित्य के नास्तिक स्वर को बहुत महत्त्व देता हूँ। महत्त्व उसका इस बात में है कि सबके प्रति उसमें नेति का घोष है। सब देखा,

चखा और परखा जाता है, फिर निर्णयपूर्वक फेंक दिया जाता है—यह कहकर कि यह नहीं है। अपराध में, पाप में, घृण्य में, कुत्सित में, शराब के नशे में, बुद्धि के मद के सहारे उतरकर हठात् सब भुलाकर, मुक्त लास्य से वहाँ विलसा और रमा जाता है, अन्त में यह पाने के लिए कि नहीं, यह भी नहीं है। इस दुर्दम प्यास और दुर्दान्त साहस पर मेरे मन में सहानुभूति और प्रशंसा होती है। वह मानस है जो बनी-बनाई राह को नहीं लेगा। सच भी है कि मुक्ति के लिए चली राह पर चलने से नहीं चलता। सब राहें बाहर हैं, भीतर के लिए अपनी ही खोज से राह बनानी और चलनी पड़ती है। आत्मा कभी दूसरे की नहीं पायी जा सकती, अपनी ही पानी होती है। वहाँ कोई राह नहीं रहती, सब भीतर निबिड़ और आकीर्ण होता है। पश्चिम का लेखक चलते-चलते ऐसी ही जगह पहुँच गया है। वह अपने आमने-सामने है। सहारे जान-बूझकर उसने सब पीछे छोड़ दिये हैं। न परम्परा है, न पन्थ है, न विश्वास। वह है और जिन्दगी है। पास के दिग्यन्त्र को भी फेंक दिया है। सफर का कोई नक्शा साथ नहीं छोड़ा है। और दोनों एक-दूसरे से जूझ रहे हैं, जिन्दगी उसको नहीं बख्शना चाहती और वह जिन्दगी को नहीं बख्शेगा। जीने-मरने की यह बाज़ी है और एक-दूसरे के आदर-उपचार का यहाँ सवाल नहीं हैं। मानो परिरम्भण हो, दया-हया का प्रश्न न हो। इस घोरता में से मैं मानता हूँ, प्रकाश निकलेगा। अँधेरा है और निबिड़ है, इसीसे है कि उद्योत उगेगा। मन्थन जहर दे रहा है, पर अन्त में अमृत ऊपर आयेगा।

अश्लील, बीभत्स की घोरता

अश्लील, बीभत्स, कुत्सित, अधम की सीमा-रेखाएँ यदि खोयी-सी जा रही हैं, तो यह भी मेरी दृष्टि से अनिष्ट नहीं है। क्योंकि भीतर बड़ा त्रास है, बड़ी प्यास है, और बड़ी तलाश है। उसकी कीमत है और सब कहीं है। उसकी थाह को गहने के लिए जो निकला है, उसे फिर क्या कहने को रह जाता है। ऐसा लगता है कि बीसवीं सदी के खुलने से पहले ही उठ जानेवाले दोस्तोवस्की के भीतर भी यदि धीरता थी, तो उसे सहारने के लिए श्रद्धा का सहारा भी था। आज अपने नरक को झेलने के लिए बौद्धिक के पास वह आस भी नहीं है। फिर भी वह मुसाफिर है, हक की तलाश है और उससे पहले रुकने की उसे ताब नहीं है। मैं इसको भव्य भविष्य का सूचक मानता हूँ। हद से गुजरकर दर्द क्या दवा नहीं बनता?

साहित्य बैंक 'यार्ड'

व्यवस्था के क्षेत्र में मनुष्य को राज्य प्राप्त है और सभ्यता प्राप्त है। उनकी आव-

श्यकताओं के अधीन वह शिष्ट, व्यावहारिक और नियन्त्रित जीवन बिता लेता है। इसीसे उनकी हद के नीचे वह अत्यन्त अशान्त और व्यग्र है। वहाँ बेहद अनियन्त्रित निर्बन्ध है। मानस उन मर्यादाओं से आबद्ध नहीं है और दिन के बीतते ही वह रात की शरण लेता है। घर में सामने ही ड्राइंग रूम है, पीछे बैक यार्ड रहता है। वैसे ही इस मनुष्य की अवस्था है। जीवन के पृष्ठभाग के पीछे भी अति-पृष्ठभाग उसने रख छोड़ा है। वहाँ शिष्टता की जगह मनमानेपन को अवकाश है। सभ्य आदमी में जो ढँका हुआ असल आदमी है, वह यहाँ खुलता है। साहित्य सारी लाग-लपेट को उतारकर उस असल आदमी को अपने पूरे नग्न मनमाने के बीच ही खोज और पा लेना चाहता है। उस पृष्ठातिपृष्ठ भाग में कितनी भी रात का अँधेरा रखो, कितने भी बेहोशी के लिपटाव रखो, साहित्य अपनी तीखी किरणों से पहुँचकर उन्हें पा ही लेगा और तुम्हारे नंगे रूप को तुम्हें ही उजागर कर देगा। इस साहित्य के काम का मैं अभिनन्दन ही कर सकता हूँ।

प्राच्य त्रास-प्यास से रहित क्यों?

१२४. पाश्चात्य मानव में यह घोर त्रास, प्यास और तलाश क्यों है और क्यों प्राच्य उससे रहित दीखता है? साहित्य की इस निबिड़ता में से जिस भव्य भविष्य की आप आशा करते हैं, उसका स्वरूप क्या होगा?

—यहाँ पूरब में आदमी अपने अस्तित्व से लिपटा है। अस्तित्व की रक्षा में जूझ रहा है। अस्तित्व जहाँ सहज होता है, जीवन वहाँ से आरम्भ होता है। ये दो चीज़ें हैं, रहना और जीना, 'टु एग्ज़िस्ट', 'टु लिव'। मानसिक समस्याएँ जीवन के तल पर आती हैं, अस्तित्व (एग्ज़िस्टेंस) के तल की समस्याएँ आर्थिक होती हैं। पूर्व और पश्चिम में आज यह फर्क है। शिष्टता-सभ्यता पूर्व के लिए स्पृहणीय और वाञ्छनीय चीज़ बनी हुई है। यहाँ आदमी फर्नीचर बढ़ाना चाहता है, पश्चिम में घटाने के भाव से चला जाता है। आर्थिक सम्पन्नता के कारण पश्चिम के आदमी की समस्या जैविक (एग्ज़िस्टेंशल) से मानसिक होती जाय, तो सहज है। यहाँ मानसिकता से शुरू करें, तो मानो जैविक पर खिंचकर उतर आना होता है। इसीलिए यहाँ का साहित्य अधिक नीतिपरक और विधि-निषेध की रेखाओं से भरा होता है। इन रेखाओं से शुचिता, पवित्रता फलित होती समझी जाती है। लेकिन प्राणवत्ता कम होती है। यहाँ के प्राचीन साहित्य में जो उमंग और आल्हाद दीखता है, वह शायद इसी कारण कि तब यहाँ जीवन-भाव अधिक था, आनन्द अधिक था। आस-पास अभाव का भाव उतना नहीं था, प्राणों में दैन्य नहीं था। स्वयं धार्मिक ग्रन्थों में आप एक मुक्त भाव देखेंगे। धर्म और नीति की समस्या मानसिक तल पर सृष्ट होती है।

उससे पहले जो है, वह जैविक और सामाजिक समस्यामात्र होती है। उनके आधार पर साहित्य व्यवस्थापक होता है, उन्नायक या अवगाहक नहीं होता।

पीड़ा में से ज्ञान, पाप में से आत्मा

गहन मन्थन में से किस भव्य भविष्य या उपलब्धि की आशा की जा सकती है? मुझे लगता है, पीड़ा में से ज्ञान और पाप में से आत्मा प्राप्त होता है। मनुष्य यदि पहचानेगा कि पाप में गहरे से गहरे गिरकर भी कुछ है उसमें जो गिरता नहीं है, पहचानेगा कि आदमी पाप नहीं है, तो एक नया दर्शन उसे प्राप्त होगा। तब युद्ध की हत्या या कानून की हत्या व्यर्थ दीख आयेगी, वह बेवकूफी मालूम होगी, और कानून अपराधियों से समाज को बचाने का दायित्व ओढ़कर नहीं बैठेगा, बल्कि उन अपराधियों को समझ में उतारेगा और उनके लिए अस्पताल की व्यवस्था करेगा। आज जो राज्य के कानून के ज़ोर से हमने दुनिया को अच्छे और बुरे, उजले और काले, सही और ग़लत, उत्तम और अधम, सज्जन और दुर्जन, पूज्य और पामर आदि में बाँटकर मानवता को दो टूक काट डाला है, वह दर्प और दम्भ ख़त्म होगा। व्यवस्था शासन और नियन्त्रण की मुँहताज न होगी, वह भीतर से उठती हुई आयेगी। चोर आज चोर है, कल मालूम हो सकता है कि वह बेचारा और भूखा था। मुन्सिफ के लिए जो मुज़रिम है, माँ के लिए वही बेटा होता है। उस भव्य भविष्य में जिसकी आप बात करते हैं, मैं करता हूँ, मुन्सिफ में माँ का दिल हो सकेगा। अर्थात् सिर्फ मुन्सिफ और हाकिम होना बन्द हो जायगा; क्योंकि मुन्सिफ अपनी निगाहों में खुद मुज़रिम होगा और शास्ता स्वयं में आत्मानुशासित होगा। वह भव्य भविष्य कभी नहीं आनेवाला है अगर साहित्य यह दिखाने से बचेगा, कतरायेगा, असमर्थ होगा कि सन्त और दुष्ट दोनों में मनुष्य है, सती और वेश्या दोनों में नारी। हज़ारों वर्ष पहले गीता ने यह कहने का साहस किया था। आज शब्द कृष्ण के मुँह से नहीं निकले हैं, संस्कृत भाषा के नहीं हैं, तो क्या इसीलिए पश्चिम के साहित्य को नास्तिक कहकर गर्व मानने का हक किसीको हो सकता है?

कम्युनिस्ट साहित्य तत्काल बद्ध

१२५. पाश्चात्य-साहित्य के बारे में आपने जो कहा, क्या वही कम्युनिस्ट-साहित्य के बारे में भी सत्य है?

—नहीं, उन देशों के साहित्य के बारे में स्वयं उन्हींको शिकायत होने लगी है कि वह अधिक सुनिश्चित है, काफी नकारात्मक और प्रश्नात्मक नहीं है। जिसको कहा जायगा तीसरा आयाम (थर्ड डाइमेन्शन), वह उसमें कम है। मत वहाँ बना-बनाया है

और जिज्ञासा-अभीप्सा उतनी तीव्र नहीं है। उन देशों में प्रयोजन लक्ष्य है। समक्ष जो सामाजिक और लौकिक हैं, मानो साहित्य तदर्थ और तदनुगत है। प्रतिकार और प्रतिवाद के रूप में वह स्वतन्त्र मूल्यों की खोज में नहीं चलता। उस सत्य का शोध, जो समय और युग के दायित्वों के अधीन नहीं है, जो हृन्मर्म है, जीवन का मूलार्थ है, उसकी सम्मुखता साम्यवादी देशों के साहित्य में उतनी प्रत्यक्ष नहीं है। साहित्यकार से राष्ट्र-निर्माण आदि की सर्वोपरि अपेक्षा है, और वह इस माँग से मुक्त नहीं होता। वहाँ का लोकमत उसको इस अपेक्षा में घेरे ही रहता है, उस पूर्ति की आशा में उसे रहन-सहन की सब प्रकार की सुविधाएँ भी देता है। राज्य की ओर से उसे जीवन के सुख-साधन ही प्रस्तुत नहीं होते, प्रत्युत विशिष्टता और प्रतिष्ठा का वातावरण भी उसके लिए सुरक्षित रखा जाता है। अतः भीतर किसी अभावात्मक व्यथा के जागने और उस व्यथा के द्वारा अपने हार्द से तद्गत होने की सम्भावना इतनी नहीं रहती। लोकमानस के निर्माता एवं शिल्पी के रूप में उनका काम चलता है, उससे गहरे डूबने और चित्त की थाह लेने की उतनी आवश्यकता उन्हें नहीं रहती है। दो डाक्टरों की कल्पना कीजिये। एक, जिसको लेबोरेटरी (प्रयोगशाला) में वैज्ञानिक शोध-प्रयोग में रहना होता है; दूसरा, जिसे अस्पताल में नित्य रोगियों के तात्कालिक उपचार से काम पड़ता है। कम्युनिस्ट देश के साहित्यकार के सुपुर्द मानो यह औपचारिक और सामाजिक दूसरा काम है, जिसकी तात्कालिक उपयोगिता और आवश्यकता है। व्यक्तिपरकता के लिए वहाँ उतना अवकाश नहीं है। इसलिए जिसे आत्मिक गहनता कहा जाता है, वह चीज वहाँ के साहित्यों में कम मिलेगी। जटिलता, रहस्यमयता कम होगी। स्पष्टता, प्रवृत्तिमयता और उपयोगशीलता अधिक होगी। कारण, उसका सम्बन्ध समय-समाज से विशेष है और उनसे तटस्थ किसी अन्तिम सत्य के प्रति उन्मुख होने की छुट्टी कम है।

कम्युनिस्ट-साहित्य और भारतीय रस-साहित्य

१२६. कम्युनिस्ट-साहित्य की इस स्थिति में और हमारे रस-साहित्य की स्थिति में क्या कुछ दूर तक समानता आप नहीं पाते?

—उपयोगी होने के लिए जो भी है, वह लगभग एक कोटि पर आ जाता है। शिक्षा और उपदेश देनेवाला साहित्य और केवल मन बहलाने और रंजन करनेवाला साहित्य गुण की दृष्टि से एक स्तर पर आ जाता है। आप वहाँ प्रभाव और परिणाम की दृष्टि पायेंगे। मानो वह राग हेतु बन जाता है, रचना 'फॉर इफेक्ट' की जाती है। रसवादी साहित्य अमुक प्रयोजन की पूर्ति को इष्ट मानकर सृष्ट होता है, इसलिए नये-नये तौर पर नयी-नयी विधाओं में पैदा करना ज़रूरी होता है। अदायगी

और उक्ति की खूबियाँ यहीं से पैदा होती हैं। नयी-नयी तरकीबें निकलती हैं और एक स्वतन्त्र कला सौन्दर्यवाद के नाम पर जन्म पाती है, जिसके नीचे गम्भीर अभीप्सा नहीं होती। मुझे प्रतीत होता है कि जिसमें केवल जीवन-शोध और सत्यानुसन्धान की स्पृहा है, ऐसा साहित्य रसशून्य न होगा, पर वह रसवादी भी न होगा। इन दोनों रसों में अन्तर यह है कि एक रस से मन भरता है और दूसरे से भरता ही नहीं। वह रस अनन्य और स्थायी होता है। उसमें आपके लिए नव-नवाविष्कार का अवसर रहता है। जैसे रस वहाँ से कभी खाली नहीं होता और स्रोत पुराना बासी नहीं पड़ता। रसवादी वस्तु का रस आज ताजा है, कल वह बासी पड़ जाता है। यह कहिये कि रूप-स्तरवाला वह रस है, जिसको बदलते और पलटते रहना जरूरी होता है। गुणात्मक रस किंचित् अरूप होता है और वह उतना ही स्थायी बनता है। 'फॉर इफेक्ट' होनेवाली रचना, चाहे इष्ट उसका मनोरंजन हो अथवा व्यवस्थापन, स्थायी भाव नहीं पाती। कारण, कर्ता और भोक्ता के बीच इस हेतु का एक व्यवधान पड़ रहता है, ऐक्य नहीं रहता। रचना मानो बनायी जाती है, वह सृष्ट नहीं होती। जो कृत है और कारित है, वह मानो लेखक और पाठक के बीच सम्बन्ध बनाकर भी अन्तराय रखता है। अतः उस रस में आत्मीयता परिपूर्ण नहीं होती है। जहाँ प्रयोजनीय दान है, वहाँ आत्मदान नहीं है। यही कारण है कि रस की कसौटी पर वादी रचना हलकी तुलती है और लाभ की कसौटी पर उपदेश-आदेशवाली रचना आत्मलाभ की अपेक्षा में सदा ओछी रह जाती है। मनोरंजन और शिक्षण दोनों ही उपयोग हैं। रसवाद पहले को प्रधानता देता तो समाजवाद दूसरे को प्रमुख रखता है। दोनों ये वाद जब तक प्रयोजन मन में रखते हैं, परस्पर पूरी तरह समन्वित नहीं हो पाते और उनमें कुशलतापूर्वक सन्तुलन साधे रखने की बात सोचनी पड़ती है। सृजन की एक तीसरी विधा है, जहाँ प्रयोजन-विचार के लिए अलग से अवकाश ही नहीं रहता। जहाँ प्रेरणा आत्म-व्यथा में से आती है, आत्म-विसर्जन आत्म-प्रकाशन में पूर्ति पाती है। इस जगह यदि रस और प्रभाव का अनायास ऐक्य एवं समन्वय हो जाता हो, तो विस्मय नहीं है।
हेतुपूर्वक किया गया कुछ भी विषयी (सब्जेक्ट) और विषय (आब्जेक्ट) में तादात्म्य नहीं ला सकता है। कारण, इस आत्मप्रेषण में बहुत कुछ पीछे रोक लिया जाता है, और हेतुगत किंचित् ही दिया जाता है। इससे उतनी तृप्ति और भुक्ति भी किसी ओर प्राप्त नहीं होती।

रस-सिद्धान्त की भारत में बड़ी मीमांसा हुई है। मर्म है उसका विषयी का मनोभोग द्वारा विषय में लीनता और अभिन्नता पाना। सृजन के द्वारा होनेवाली यह साधना पठन के द्वारा मानो फिर उस छोर से इस ओर प्रतिकृत होकर आती है। अर्थात्

सामाजिक विषय द्वारा विषयी की अनुभूति का आस्वादन पाता है। यों वृत्त पूरा होता और रस-संचार का उद्‌भवन और संवहन करता है। यह प्रक्रिया बीच में हेतु और प्रयोजन के आने से अनिवार्य नहीं रहती और निजगत हेतुमत्त्व साधारणीकरण में बाधा बनता है।

आन्तरिक कुरेद और शेक्सपियर

१२७. आन्तरिक कुरेद और व्यथा इनमें से आप साहित्य के लिए किसे अधिक आवश्यक और उपयोगी मानते हैं? शेक्सपियर ने शायद आज के-से यूरोपीय लेखकों की-सी कुरेद नहीं की। तब क्या उनकी रचनाओं को आप आज की रचनाओं से हीन मानेंगे?

—कुरेद और व्यथा मेरी समझ में दो दूर की चीजें नहीं हैं। व्यथा को जब हम अंगीकार करते हैं, कलपते-कराहते नहीं हैं, तो वह अन्तरोन्मुख होती और अवचेतन-अचेतन स्तरों को तोड़ती हुई व्यक्तित्व में गहरे पैठती है। इसीको कुरेद कहिये। बुद्धि का बरमा इतना बारीक नहीं है और वह अवचेपन के तल को नहीं भेद पाता। बुद्धि समग्र नहीं होती, हाँ-नहीं में बँटी होती है। कहिये कि वह द्विजिह्व या द्विशूल होती है। व्यथा में जैसे दोपन टिक सकता नहीं है, वह एकाग्र हो जाती है। गम्भीरतम चिन्तन व्यथा का रूप ले लेता है, यहाँ तक कि वह चिन्तन रहता ही नहीं। हमारे शास्त्रों में उद्धव-गोपी-संवाद में गोपियों ने विरह में से जो पा लिया, वह उद्धव की ज्ञानोपलब्धि से कहीं गहरा था। इस कथा में सिवा इसके क्या सार है कि बुद्धि से व्यथा गहरे मर्म में जाती है और गहरी सत्यता पा जाती है।

शेक्सपियर शायद सबसे स्वस्थ लेखक माने जा सकते हैं। हाँ, कुरेद की दृष्टि से शायद कम-से-कम व्यथित। इस कारण शेक्सपियर में ऐसी विशेषता है कि सदियों से वे सबसे लोकप्रिय लेखकों में हैं। लेकिन आत्मसाधना की दृष्टि से उन्हें आसानी से अनावश्यक भी मान लिया जा सकता है। टाल्स्टाय ने उन्हें प्रथम श्रेणी में नहीं रखा है। आध्यात्मिक विचार मजे से उनसे किनारा लेता हुआ चल सकता है। शायद वे अनिवार्य लेखक नहीं हैं। कुछ वैज्ञानिक जैसे नया आविष्कार, नया प्रकाश का दान दे जाते हैं, वैसे कुछ लेखक भी मानो विश्व-दर्शन के प्रति एक नया आयाम खोल जाते हैं। शेक्सपियर को मैं स्वयं उनमें नहीं मान पाता हूँ।

यूरोपीय कलाएँ

१२८. क्या यूरोपीय कलाओं में आप साहित्य की ऊपर वर्णित प्रवृत्तियों को वर्त-

मान पाते हैं? फ्री आर्ट का जो काफ़ी मज़ाक इधर बनाया गया है, क्या उससे आप सहमत हैं?

—हाँ, कलाओं में भी तत्संगत प्रभाव देखा जा सकता है। बात यह मालूम होती है कि प्रयोजनवाले अर्थ से काम नहीं चलता, वह अधूरा जान पड़ता है। बीच में ही उसका सहारा छूट जाता है। इससे यह अर्थ (मीनिंग) टूट रहा है। कुल मिलाकर जो सहसा इस सब होने-हवाने में कुछ भी अर्थ नहीं पकड़ मिलता है, सो जिद होती है कि मानो अर्थ-हीनता ही अर्थ हो। मानो सबके अपने-अपने होने में अर्थ गर्भित हो। यह अस्तित्ववाद (एग्जिस्टेंशलिज्म) समन्वित अर्थ की आवश्यकता को मानो समाप्त कर देता है। उसे इतना अधिक छितरा देता है कि जैसे कुल होने में किसी एक अर्थ अथवा भाव का होना, वैसा मानना-देखना, मूर्खता हो। रूप पहले सुन्दर होकर कला में उतरता था। रूप क्या है, सुन्दर क्या है, यदि यह प्रश्न खड़े हो जायँ, प्रतीतियों से अलग कहीं हम उन्हें पा ही लेना चाहें, तो क्या परिणाम होगा? जो होगा, वह परिणाम कलाओं की आधुनिकताओं में नज़र आ रहा है। रूप का रूप के रूप में आना ही जैसे अनभीष्ट हो गया है। आकृति अनाकृति बन जाती है, सुघड़ अनगढ़ बनता है। सब कुछ अनिर्दिष्ट होता है और यह आप पर निर्भर करता है कि आप उसमें अर्थ देखें, रूप देखें, आकार देखें, सुघरता देखें या चाहें तो इन सब चीजों का अभाव देखें। कलाकृति मानो समक्ष इसलिए है कि आपकी निश्चितता को विश्रृंखलित कर दे और वहाँ केवल प्रश्न की पूँछों को कुलबुलाता छोड़ दे। मान लीजिये, चित्र का शीर्षक है युवती। तो मानो युवती ही है जो चित्र में नहीं मिल सकती है। क्या यह युवती का मुख है, लेकिन फिर वक्ष कहाँ है? इत्यादि प्रश्न उठते जाते हैं और चित्र उठाने में ही उनकी मदद कर सकता है; बुझाने में नहीं। जिसको कहा जाता है सवजेक्टिविज्म, उसकी मुक्त अतिशयता कलाओं में कदाचित् इसलिए आयी हो कि बाहरी सामाजिक व्यवस्थाओं में औब्जेक्टिविज्म की अतिशयताओं से काम पड़ता है। पश्चिम का कलावाद, प्रतीत होता है, उस पश्चिम के ही वस्तुवाद और समाजवाद की प्रतिक्रिया में ही यह रूप लेकर उठा है। शायद इसका जन्म भी समान स्रोत से हुआ। व्यवहार में नियम-संयम की प्रतिष्ठा है, तो कला में अ-नियम और अ-संयम की उपासना होगी। व्यवस्था सामाजिक है, तो अव्यवस्था को कलात्मक होना होगा। समाज और राज्य यदि समूह को गिनते हैं, तो कला नितान्त व्यक्ति की उपासना में लगेगी। सामाजिक और राजनीतिक प्रयत्न एकता को अनेक के सम्मिलन के द्वारा साधना चाहेंगे, तो कला हर एक-एक की निजता को बिखराकर मानो परमाणु द्वारा अन्तिम ऐक्य को प्रतिष्ठित करेगी। यह दो विरोधी गतियाँ पश्चिम में जोर-शोर से चलीं।

एक का शोर दूसरे को अनायास ज़ोर पहुँचाता रहा। समाजवाद की सामूहिकता और कलावाद की एकाकिता, दोनों पन्थ साथ-साथ पनपे और साथ ही साथ समानान्तर भाव से बढ़ते चले जा रहे हैं। पाँच, तीन,दस आदि की गणना के साथ अमुक वर्षीय सुनिश्चित कर्म-योजनाओं के समक्ष कला की यह विद्रोही आधुनिकता है जहाँ सब उलट-पलट और गड्डमगड्ड हो जाता है। स्टील का कारखाना वहाँ ऐसा दीख सकता है कि झोंपड़ी हो, और फिर उन दोनों में शुक्र नक्षत्र आकर बैठ सकता है! ऐसा वहाँ इसलिए होता है कि असल में हो नहीं सकता! स्टील का कारखाना झोपड़ी से अनमेल है, इसीसे दोनों के जमघट को चित्र में होना पड़ता है। मैं इस भौतिकी गणित और आत्मिकी कला की क्रिया-प्रतिक्रिया में स्वास्थ्य के लक्षण न देख पाऊँ, तो क्या आप मुझे दोष देंगे?

●

तृतीय खण्ड

भारत

१. सांस्कृतिक सम्मिश्रण
२. जातीय राष्ट्रवाद और गांधी
३. संविधान, दलीय प्रजातंत्र, निर्वाचन
४. हमारे दल और नेता
५. भाषा का प्रश्न
६. अव्यवस्था और अपराध
७. सेक्स, वेश्या, शराब, जेल, प्रशासनिक ढील
८. प्रादेशिक समस्याएँ
९. सरकारी कर्मचारियों का प्रश्न

१

सांस्कृतिक सम्मिश्रण

भौगोलिक नहीं सांस्कृतिक

१२९. आपकी दृष्टि में भारत एक भौगोलिक इकाईमात्र है अथवा इस नाम के साथ एक सांस्कृतिक तस्वीर भी जुड़ी हुई है?

—भौगोलिक इकाई के रूप में भारत स्थिर नहीं रहा है। उसकी सीमा हटती-बढ़ती रही है। अभी लाहौर उसमें नहीं है, कभी काबुल उसमें था। फिर भी सहस्रों वर्षों से भारत के नाम पर कुछ अविच्छिन्न और अजस्र चला आया है। वह भौगोलिक नहीं, सांस्कृतिक ही रहा हो सकता है।

अटूट, अडिग

१३०. सांस्कृतिक भारत की रूपरेखा क्या है?

—उसे वस्तुगत रूपरेखा देना कठिन है। उस सार को भावमय और मानसिक कहना चाहिए। सामाजिक संस्थाएँ, जिनमें यहाँ का पारस्परिक जीवन व्यक्त और व्यवस्थित हुआ है, वे चरित्र और आदर्श, जो यहाँ के मानस को संस्कार देते रहे हैं, संस्कृति के सत्त्व को दरसाते हैं। रूपरेखा उस पर बँध गयी होती, तो शायद राजनीतिक आघातों को वह संस्कृति अपने में समा नहीं सकती थी। शायद तब वह टूटकर बिखर जाती, जैसा कि और जातीय संस्कृतियों के साथ हुआ है। किसी तन्त्र में वह जड़ नहीं पायी, तभी वह अटूट और अडिग बनी रही। शायद कुछ मूल्यों का स्वीकार और व्यवहार उसकी निरन्तरता को थामे रहा।

मिश्रित, संश्लिष्ट

१३१. तब क्या आप भारतीय संस्कृति को एक संश्लिष्ट और मिश्रित संस्कृति के रूप में ही देख पाते हैं? वे मूल्य क्या थे, जो भारतीय संस्कृति को थामे रहे?

—हाँ, वह मिश्रण और संश्लेषण ऊपर से जुटाया गया नहीं था। उससे किसी विविधता और विलक्षणता की हानि नहीं हुई। उसमें हिंसा का प्रवेश नहीं हुआ।

हिंसा जितनी रही, व्यवहार-व्यापार के क्षेत्र में रही हो सकती है; मूल्यों के स्वीकरण में वह प्रवेश नहीं पा सकी, श्रद्धा को खण्डित नहीं कर सकी। विभिन्नता को कम न करने की इच्छा रखते हुए जो एकता की अनुभूति है, उसको ठेठ भारतीय कहा जा सकता है।

तटस्थ संग्राहक वृत्ति

भारत को लोगों ने हिन्द कहा है। हिन्द सिन्ध से निकला है, जो नदी का नाम है। वही सिन्ध हिन्द बना। हिन्दू-धर्म में एक शास्त्र, एक देवता, एक प्रवर्तक या अवतार नहीं है। शास्त्र बनते चले गये और देवता बढ़ते चले गये। कोई ऐसा मत विचार नहीं जो वहाँ न मिल जाता हो। आवश्यक इतना ही रहा है कि पैतृक पूँजी के प्रति आदर रहे। इस मूल विनय के साथ जो भी आता है, वहाँ स्थान पाता रहा है। अर्थात् आग्रह पर उस संस्कृति का निर्माण नहीं है, आग्रह फिर मत का हो अथवा नीति-रीति का। ऐसा मालूम होता है कि आपसी रहन-सहन के विकास और अभ्यास के क्रम में से उस संस्कृति का निर्माण होता चला गया है और किसी बौद्धिक प्रतिपादन और लौकिक नियन्त्रण का आरोप उस पर नहीं हो पाया है। मानो एक तटस्थ संग्राहक वृत्ति और दृष्टि उसके पीछे रही है। ऐसे ऋषि वहाँ होते रहे हैं, जिनके पास अपने अलग स्व का भाव नहीं था, जिनकी कामना सबको परस्परता में समा लेने और अपने को सबमें समा देने की थी। शायद भारतवर्ष की परिस्थिति और उसका जलवायु इस दाक्षिण्य और वदान्यता के अनुकूल हुआ। जो हो, मानव-चेतना की सब प्रकार की अभिव्यक्ति का समावेश और संग्रह करके, उस थाती के प्रति परिचय और आदर को जीवन का यहाँ मूल-ज्ञान मान लिया गया है। वेद भारत की विशिष्ट पूँजी हैं। किन्तु वेदों में संग्रह है उस सब कुछ का, जो प्रागैतिहासिक काल से भारत-भूमि में मनुष्य ने सिरजा और रचा। उसमें महिम्न भाव हैं तो साधारण और तुच्छ का भी वर्णन है। जैसे महान् और क्षुद्र में कोई भेद नहीं बरता गया है, सबको अंगीकारभाव से आदर में ले लिया गया है।

पर की स्वीकारता

यह पर के प्रति उदारता और स्वीकारता का भाव उन संस्थाओं में भी व्यक्त हुआ, जिन्होंने यहाँ रचना पायी। परिवार का जितना पल्लवन भारत में दीखेगा, उतना विश्व के किसी और देश में नहीं। तीर्थ, धर्मशाला, सदावर्त, प्याऊ, अतिथि, महन्त, परिव्राजक, संन्यासी ये सब धारणाएँ और संस्थाएँ भारत की निजी हैं। परिव्राजक और संन्यासी कोई विलक्षण व्यक्ति न थे। वे 'फ्रीक्स' नहीं थे, समाज की विधाओं

में उनके लिए स्थान था। गृहस्थ के धर्म का परिपाक ही संन्यास में होता था। जीवन का यह समग्र विचार, जहाँ धर्म और कर्म एक-दूसरे से हटकर अलग दिशाओं में नहीं चलते हैं, भारतीय संस्कृति के आधार में देखा जा सकता है। स्वयं परिवार की कल्पना यहाँ धर्माश्रित है, नितान्त लौकिक और ऐहिक वह नहीं है। पति-पत्नी परस्पर सुविधा और सामाजिकता के विचार से ही अनुबद्ध नहीं हैं, बल्कि मानो यहाँ से आगे भी उस सम्बन्ध की व्याप्ति है। इस भाँति ऐहिक को पारलौकिक से ऐसे जोड़ दिया गया है कि उसका आधार हिल नहीं पाता है। कर्म के नीचे धर्म की बुनियाद है और इसलिए कर्म उतनी रगड़-झगड़ पैदा नहीं करता है। मानो वह परस्पर परिपूरक बना रहता है। स्व और स्वकीय की परिधि पर पर और परकीय की उपस्थिति यहाँ अभ्यर्थनीय ही होती है, भय और आशंका का कारण नहीं बनती है। अतिथि देवता है। कल्पना यहाँ तक गयी है कि जो जिस रूप में समक्ष है, क्या पता कि भगवान् ही उस रूप में प्रकट हुआ है। इस प्रकार मनुष्यमात्र, जीवमात्र के लिए एक सम्भ्रम और श्रद्धा की वृत्ति यहाँ पनपती रही है।

विकास हार्दिक

इसका आशय यह नहीं कि जीवन का परुष और कठोर पहलू यहाँ अनुपस्थित रहा है। वह तो सम्भव नहीं है। भारतवर्ष में, जैसा इतिहास बताता है, आर्य लोग आये और क्रमशः फैलते चले गये तो प्रकृति के साथ उन्हें वह सब युद्ध करना पड़ा होगा, जो रहने-सहने की सुविधा जुटाने में आवश्यक होता है। किन्तु इस सब प्रयत्न के नीचे प्रकृति के प्रति भाव उनमें संघर्ष से अधिक विस्मय और सहयोग का रहा। इसी तरह जिन आदिम लोगों से उन्हें मुठभेड़ लेनी हुई, उनके प्रति भी भाव मानो धीरे-धीरे स्वकीय होता चला गया है। जान पड़ता है कि एक विशेष प्रकार की निःस्वता उन आदि-पुरखाओं को सिद्ध हो सकी, जिन्होंने यहाँ के जीवन को बुनियादें दीं। उस निःस्वता के कारण उस जीवन का विकास इतना निर्बाध और हार्दिक होता चला गया कि विग्रह और दमन के बीज गहरे तक नहीं गये और उस संस्कृति में समन्वय और संश्लेषण की शक्ति बराबर जाग्रत और विद्यमान रही।

इस्लाम और ईसाइयत

१३२. पर ऊपर आपने जिस संस्कृति का विश्लेषण किया है, वह आज हिन्दू-जातीय संस्कृति मात्र ही मानी जाती है। भारत में दो विशेष और बड़ी संस्कृतियाँ और हैं, जिन्हें इस्लामी और ईसाई-संस्कृति कहा जाता है, जो तथाकथित भारतीय संस्कृति के मूल्यों एवं संस्थाओं को स्वीकार नहीं करती। वास्तविक

भारतीय संस्कृति क्या इन तीनों के भावी संश्लिष्ट स्वरूप का आधार लेकर ही विकसित नहीं होगी ? क्या आप इन तीन धाराओं का मिश्रण सम्भव समझते हैं ?

विदेशी राष्ट्रवाद

—हाँ, हिन्दू-जातीय आज सही अर्थों में उतनी उदार भारतीय है, यह कहना कठिन है। इस्लाम और ईसाइयत दोनों में एक निश्चित और एकाग्र धर्म-श्रद्धा थी। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि एक अमुक आवेश भी उनके पास था। भारतीय भूमि पर मैं मानता हूँ कि इस्लाम आया, तो धीरे-धीरे उसका आवेश दब चला और जीतने से अधिक उसकी दिलचस्पी जीने में होने लग गयी। उस समय से मान लीजिए कि संश्लेषण की प्रक्रिया भी जारी हो चली थी। नातों-रिश्तों में एक-से सम्बोधन चलते थे। पर्व-उत्सव सम्मिलित होने लगे थे। अनेक ऐसी धार्मिक विधियों ने जन्म पाया था, जिनमें हिन्दू-मुस्लिम साथ होते थे। यह प्रक्रिया रुक गयी, जब एक नये कर्मवाद ने प्रवेश किया। उसको मैं ईसाइयत नहीं कहता हूँ। ईसाइयत यहाँ उससे बहुत पहले आ चुकी थी और उसने कोई समस्या उत्पन्न नहीं की थी। आज भी केरल में ईसाई हैं, जिनको अहिन्दू कहना मुश्किल होता है। खान-पान, रीति-नीति, रहन-सहन, यहाँ तक कि स्वयं गिरजा भी कुछ ऐसा रूप लेता गया है कि उस सबको अहिन्दू कहना आवश्यक नहीं है। यह नवागत वस्तु ईसाइयत से कुछ भिन्न थी, यह एक (विदेशी) राष्ट्रवाद था। राष्ट्रवाद का इससे पहले भारत के जीवन में प्रवेश नहीं हुआ था। मतवाद तो थे, और भी दूसरे प्रकार के मानवीय आग्रह-वादों से भारत का सामना होता रहा था। लेकिन अंग्रेजों के आने से एक नया स्वार्थवाद आया, जो हिल-मिल रहने के लिए तैयार न था। उसको यहाँ की सम्पदा सात समुन्दर पार ले जानी थी। इस नये तत्त्व के प्रवेश ने समन्वय की उस प्रक्रिया को जैसे रोक दिया। यदि केवल विजातीय होता, तो शायद यह तत्त्व शनैः-शनैः यहाँ के अगाध जीवन में समाकर घुल सकता था। लेकिन विजातीय से अधिक वह विदेशीय था। अर्थात् उसे अपने भौगोलिक स्वदेश का खयाल था। इस तरह मानवीय से इतर एक भौगोलिक देश-विदेश-विचार यहाँ घर करने लगा। उसके सहारे स्वजातीय और विजातीय, स्वमत और विमत, ये भाव भी सोते-सोते मानो जाग उठे और समन्वय की पाचन-प्रक्रिया में भंग आ गया।

हिन्दुत्व, हिन्दीत्व, गांधी

हिन्दू जिसको आप कहिये, उसमें यदि इतनी साम्प्रदायिकता आ गयी है और उस कारण इतनी असमर्थता आ गयी है कि इस्लामी और ख्रिस्ती धाराओं से मेल न

हो सके, अनबन ही बनी रहे, तो मैं मानता हूँ कि भारतीयता में अब भी वह क्षमता है कि इन धाराओं को ऐसे समा ले, जैसे सागर नदियों को समा लेता है। मूल हिन्दुत्व साम्प्रदायिक नहीं था, और मेरी आशा है कि आनेवाला हिन्दीत्व साम्प्रदायिक न होगा। हिन्दू का सम्बन्ध मतवाद से आज यदि जुड़ गया लगता हो, तो हिन्दी के सम्बन्ध में वह बात नहीं है। पहले हिन्दू-संज्ञा भूमि से जुड़ी हुई थी, आज वह स्थिति हम हिन्दी-संज्ञा की मान सकते हैं। जो हिन्द का, वह हिन्दी। यह भी नहीं, तो, जो हिन्दुस्तान का, वह हिन्दुस्तानी। शब्द कोई हो—हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी भारतीय ! मुझे लगता है कि भारत में से वह रचना होगी, जिसका मूल मानवीय आधार होगा। मानसिकता की ओर से कोई सीमा और संकीर्णता उस पर न होगी, भूमि और क्षेत्र को लेकर ही मर्यादा होगी तो होगी। यह भारतीयता न केवल इस्लाम और ख्रिस्ती धारा को, बल्कि इनसे इतर दूसरी धार्मिक श्रद्धाओं को भी उसी आदर और आत्मीय भाव से अपना सकेगी, जो उसमें हिन्दू-सम्प्रदायों के लिए हैं। हिन्दुत्व यदि मान सकेगा, और मैं समझता हूँ आगे-पीछे माने बिना न रहेगा, कि गांधी उसके युगीन अवतार थे, तो स्वयं हिन्दुत्व में वह क्षमता आ जायगी। गांधीजी ने कहा : मैं हिन्दू हूँ, हिन्द का हूँ। लेकिन दुनिया के सब लोगों और वादों ने कहा कि तुम हमारे हो। मेरी आशा है, बल्कि विश्वास है, कि आगामी हिन्दुत्व, हिन्दीत्व और भारतीयत्व गांधी को आधार में लेगा और इस तरह विश्व-मानवत्व का प्रतीक हो सकेगा।

इस्लाम की वफादारी

१३३. मैं समझता हूँ कि इस्लाम जो हिन्दुत्व में घुल-मिल न सका, इसका कारण विदेशी राष्ट्रवाद ही नहीं है। इस विभेद की जड़ें अधिक गहरी हैं। शायद इस्लाम को माननेवाले भारतीय प्रथम तो भारत के प्रति वफादार न रहकर अरब के प्रति वफादार होते हैं, यह एक कारण है। और दूसरे यह कि जितना भीषण हिंसात्मक आवेश लेकर इस्लाम भारत में आया, उतना आवेश कोई भी अन्य जाति अपने साथ नहीं लायी। इस आवेश ने भारत की छाती पर जो घाव किये हैं, मैं समझता हूँ, जब तक वे भर नहीं जाते, तब तक इन दो संस्कृतियों का मिश्रण असम्भव है। क्या आपका विश्वास है कि इस्लाम के माननेवाले अपनी मूल वफादारी को बदलेंगे और भारत की छाती के ये घाव भरेंगे?

राजनीतिक समझ अधूरी

—इतिहास की राजनीतिक समझ को मैं बहुत अधूरी मानता हूँ, एक बात !

दूसरी बात कि संस्कृति दो होती ही नहीं। धाराएँ दो होती हैं, पानी दो नहीं होते। नदियों के पानियों में फर्क हो सकता है, फिर भी पानी एक होता है।

जड़ें गहरी आखिर होंगी तो कहाँ होंगी ? मानस से अधिक गहराई कहीं नहीं है। देश और भूमि में गड़ी चीजों की गहराई उतनी नहीं माननी चाहिए।

इस्लाम की फतह

इस्लाम का जोश आज हममें आलोचना पैदा कर सकता है। लेकिन अरब जैसे पिछड़े और गये-बीते देश में से यह स्फूर्ति और उद्भावना जगी, इसको इतिहास का बहुत बड़ा चमत्कार मानना चाहिए। मैं कैसे मानूँ कि इतिहास राजनीतिक हेतुओं से चलता है। शायद हेतु उसमें अधिक गम्भीर, अधिक व्यापक होते हैं; शायद वे हेतु ऐतिहासिक, जागतिक, 'कॉस्मिक' होते हैं। भारतवर्ष ने विविध की ममता में शायद लक्ष्य की एकता को खो दिया था। परमेश्वर नाना देवताओं में बिखरकर मानो हमारे जीवन और व्यवहार में से अनुपस्थित हो चला था। उस समय वहदत और बुत-शिकनी को लेकर इस्लाम भारत में आया। कौन जानता है कि परमेश्वर को क्या इष्ट था। यदि हिन्दू-भारत में कहीं कुछ जीवन-चैतन्य का अभाव न होता और इस्लाम में पूरक तत्त्व के कुछ अंश न होते, तो सम्भव था कि इतिहास दूसरा होता। पर यदि यह घटना घटी कि इस्लाम ने फतह पायी, यहाँ इस्लामी राज्य हुआ, तो इसमें भारत का पराभव ईश्वर को इष्ट न रहा होगा। बल्कि वह इतिहास भारत की सम्पूर्ति में सहायक ही बनने के लिए आया होगा।

इन्सानियत का पानी

हिन्दू का पहला और अन्तिम कर्तव्य यदि हिन्दुत्व के प्रति है, और मुसलमान का समझे गये इस्लाम के प्रति, तो दोनों ही इन्सान से विमुख होते हैं और दोनों के लिए आपस में दो बने रहने का ही शाप शेष रहता है। पर यदि भविष्य है, तो अभिशाप स्थायी नहीं होनेवाला है और दोनों को सीख लेना है कि उनका पहला ईमान और पहला धर्म मनुष्य के प्रति है। उनका दर्शन, उनका विश्वास और ईमान, उनका वाद और मत, यदि इसमें सहायक होते हैं तो ही वे ठहरते हैं; अन्यथा समय की गति में ठहरनेवाले नहीं हैं। ऐसा हो तो हिन्दू और मुस्लिम इन दो धाराओं में बहनेवाली संस्कृतियों का पानी मिलकर एक नहीं होगा, यह मैं नहीं मान सकता हूँ। यदि उनमें पानी है तो मैं जानना चाहूँगा कि आखिर वह जायगा कहाँ, अगर सागर में जाकर आपस में मिलेगा ही नहीं ? दोनों धाराएँ सूख जायँगी, मिट जायँगी, अगर आग्रह रखेंगी कि पानी उनका अलग-अलग ही बना रहे, अन्त तक कहीं

मिले नहीं। आवश्यक है कि दोनों में पानी इन्सानियत का हो और इन्सानियत एक होगी।

स्फूर्ति का स्रोत

इस्लाम को माननेवाला भारतीय अरब से अपनी स्फूर्ति लाता है, तो बुरा क्या करता है? स्फूर्ति तो उपयोगी चीज है। जीवन उससे समर्थ होता है। प्रश्न यह है कि क्या वह स्फूर्ति और जीवन-सामर्थ्य वापस जाकर अरब में ही खर्च होती है? अंग्रेज और मुसलमान में यही फर्क था। मुसलमान का देश भारत था, तीर्थ अरब था। उस तीर्थता से भारत को नुकसान क्या था? धर्म-भाव आदमी कहीं से भी प्राप्त करे, लाभ तो उसका आस-पास के समुदाय को मिलता है। आप क्या इस कारण कि ब्रह्मपुत्र का स्रोत तिब्बत में (और आज चीन में) है, तो उसके जल को अपवित्र और विदेशी मानेंगे? सच यह कि चेतना जहाँ से भी अपने लिए स्फूर्ति प्राप्त करे, वह शुभ ही है। धर्म का और स्फूर्ति का स्रोत अमुक प्रान्त-प्रदेश या देश में स्थावर होकर गड़ा हो, यह मोह मूढ़ता का ही है। टॉल्स्टॉय और दोस्तो-विस्की से रस और स्फूर्ति लेना क्या मेरे लिए इस आधार पर नाजायज हो जायगा कि भारत-भूमि पर उनका जन्म नहीं हुआ था? भूमि का महत्त्व स्वयं व्यक्ति से होता है। उसको व्यक्ति और इन्सान से ऊपर चढ़ा देना भारी गलती है।

राजनीति का इसलाम

धर्म और राजनीति में यही अन्तर है। पाकिस्तान इस्लाम के कारण बना, लेकिन कायदे-आज़म जिन्ना धर्म की दृष्टि से कितने मुसलमान थे, यह स्वयं मुसलमान से पूछिये। इस्लाम के नाम पर चलनेवाली राजनीति से ढँका हुआ घिरा हुआ जो है, वही इस्लाम-धर्म है, यह समझना सच को न समझना है। हिन्दू-धर्म के बारे में भी भारी भ्रम होगा, अगर हिन्दू-महासभा को उसका धनी-धोरी समझ लिया जायगा। आपके प्रश्न में भी कुछ इस तरह की भूल समायी है। राजनीति में से इतिहास के सार और सन्देश को देखना कभी सही नहीं होगा।

इतिहास की सीवनें मत उधेड़िये

धार्मिक-मतावेश इस्लाम में ज्यादा रहा, तो क्या यह नहीं माना जा सकता कि धर्म पर कुर्बानी करने की शक्ति उनमें ज़्यादा रही? दूसरे की कुर्बानी में भी अपनी कुर्बानी की तैयारी जरूरी होती है। उन क्रूर कृत्यों का समर्थन यहाँ नहीं है, जो इस्लाम के नाम पर हुए या हिंदू या दूसरे धर्मों के नाम पर भी होते रहे। उनकी याद

पोसना और उनके घाव पोसना चाहें, तो पोसे जाइये। लेकिन तब इतिहास की सीवन उधेड़ने आप पीछे जा रहे होंगे, भविष्य की तरफ आगे बढ़नेवाले नहीं कहे जायँगे। तब यदि आप वैष्णव हैं और मैं जैन हूँ, तो वे अमानुषी लीलाएँ जाग कर हमें उद्विग्न कर छोड़ेंगी, जो जैन और वैष्णव अथवा शैव और वैष्णव आदि दलों में अपना ताण्डव कभी अतीत-काल में दिखाती रही थीं। इतिहास और पुरातत्त्व उनको जगा भी सकता है, लेकिन उस अध्ययन का लाभ इसमें है कि हम उसको मूर्खता समझें और उससे बचें। यदि राग-द्वेष से ऐतिहासिक तथ्य को अपनाकर वहाँ से अपनी मानसिकता की रचना करेंगे, तो हम अपने प्रति ही अन्याय कर रहे होंगे। वैष्णव और जैन रहते यदि मुझको और आपको परस्पर चर्चा करने में कोई कठिनाई नहीं हो रही है, तो क्या इस दावे के साथ कि उस प्रकार के इतिहास के सब घाव भर चुके हैं? पागलपन क्या आये दिन पति-पत्नी के बीच भी नहीं घटित हो जाया करता है? उस तीव्र रोष और घृणा की याद कीजिये, जो इस निकटतम सम्बन्ध में क्षण में उदय पाकर मानो सब भस्म कर डालने पर उतारू हो आता है। लेकिन एक ही क्षण बाद फिर किस तरह वह छू-मन्तर हो जाता है, पति-पत्नी आलिंगन में आ जाते हैं, कि पता ही नहीं चलता। घाव पहली हालत में इतना गहरा मालूम होता है कि जैसे कल्प-कल्पान्त तक नहीं भरेगा, अगले ही क्षण वह सब इतना जड़ से उड़ जाता है कि उस पर यह यकीन आना मुश्किल होता है। प्रेम-भाव और हिंसा-भाव की इस निकटस्थता को व्यक्तिगत सम्बन्धों में हम रोज देखते और भोगते हैं। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण से उसकी यथार्थता और तर्कता को भी समझ पाते हैं। लेकिन जातीय और राष्ट्रीय पैमाने पर उस हिंसा को देखकर हमारी श्रद्धा मानो खो जाती है। लेकिन मैं आपसे कहता हूँ कि इतिहास के मर्म में जायँगे, तो आप देख सकेंगे कि व्यक्ति-मानस, जाति-मानस और विश्व-मानस में कोई बहुत अन्तर नहीं होता है। एक ही सिद्धान्त एक ही नियम यहाँ और वहाँ काम करता है। मनुष्य समझ लिया करता है कि राजनीतिक और विग्रहात्मक हेतुओं से घटना-जगत् चल रहा है। लेकिन जरा गहरे जायगा, तो वह पहचान पायेगा कि उसके हेतु सिर्फ उस तक ही सच हैं, अर्थात् उन हेतुओं के द्वारा वह कर्म-समर्थ होता और इस प्रकार विधाता और विधान के हाथों साधन सिद्ध होता है। अन्यथा उन हेतुओं के लिए जागतिक प्रक्रिया में कहीं स्थान नहीं है।

मुसलमान अधिक हार्दिक

यों आप मुझसे पूछना चाहें तो मैं कहूँगा कि इस्लाम के सहारे मुसलमान आज भी

अधिक हार्दिक और भावुक है; उधर विचार और हिसाब के अतिरेक से हिन्दू अधिक स्वलिप्त और स्वनिष्ठ है।

धर्म-निरपेक्षता

१३४. नये भारत में जो आर्थिक और औद्योगिक प्रगति हो रही है और उसके नीचे जो एक धर्म-सम्प्रदाय-निरपेक्षता पनप रही है, वह कितनी दूर तक वाञ्छित सांस्कृतिक सम्मिलन एवं सम्मिश्रण को प्रेरित करने में समर्थ है?

धर्म-समादर, धर्म-निरादर

—धर्म-निरपेक्षता के दो स्वरूप हो सकते हैं। एक तो वह, जो सर्व-धर्म-समादर में से आती है। दूसरी, जो धर्म की उपेक्षा में से फलित होती है। मुझे प्रतीत होता है कि धर्म के बिना व्यक्ति लौकिक से घिर जाता है, लौकिक का विभु नहीं बन पाता। यह धर्म प्रत्येक की आन्तरिकता से सम्बन्ध रखता है; लेकिन रहन-सहन के इकट्ठे होने के कारण तत्त्व-दर्शन और प्रार्थना-पूजा की विधियों को लेकर सामुदायिक भी हो जाता है। विश्व का सारा मानव-समाज इस तरह पाँच-सात धर्मों में बँटा हुआ है। वे बुद्धिशाली लोग भी, जो धर्म-निर्भर अपने को नहीं मानते उससे उत्तीर्ण मानते हैं, जाने-अनजाने अमुक मात्रा में अमुक धर्म-समुदाय में रचे-पचे होते हैं। मैं जैन हूँ, आप सनातनी हैं, वे मुस्लिम हैं, चौथे ईसाई हैं, इत्यादि घटना सदा मन के निर्णय से नहीं बनती; मानो जन्म की और आस-पास की स्थिति से सहज बनी हुई होती है। जो धर्म-निरपेक्षता इस यथार्थता और वास्तविकता से विमुख और असावधान होकर लोक-कल्याण करना चाहती है, वह उतनी सफल नहीं हो सकती। कारण, वह ऊपरी सतह के काम-काजी आदमी को लेती है, उसकी अभ्यन्तरता को हिसाब से बाहर छोड़ देती है। अर्थात् वह पूरे व्यक्तित्व का लाभ नहीं उठा पाती।

लोकवाद से मनुष्यता का ह्रास

लोकवादी दर्शन और कोरमकोर कर्मवादी कार्यक्रम मेरे विचार में सांस्कृतिक विकास में बहुत मदद नहीं कर पायेंगे। इसमें से जो फलित होगा, वह भौतिक प्राचुर्य तो हो सकता है और उत्कट राजकारण भी हो सकता है, लेकिन नैतिक और सांस्कृतिक उन्नति दूसरी चीज है।

वस्तु और कर्म पर जब एकांगी जोर पड़ता है, तो मानवीय गुणों के प्रति अपेक्षा वातावरण में कम हो जाती है, कुछ उपेक्षा-सी होने लगती है। इस कारण कुल

मिलाकर मनुष्य और मनुष्यता का ह्रास होता है। धर्म कई हैं और सम्प्रदायों में बँटे हैं। इसलिए उन सबसे एक-साथ किनारा लेकर जो लोकवाद (सेक्युलरिज्म) सुरक्षा बनाकर चलना चाहता है, उसके गहरे में उन धर्मों के प्रति समान तटस्थता नहीं होती है, बल्कि एक प्रकार का समान निरादर होता है। जिसमें समानता आदर की है, उपेक्षा की नहीं है, वह धर्मभाव-सम्पन्न लोकवाद अधिक कार्यकारी हो सकता है।

गांधी और नेहरू

आपका प्रश्न शायद भारत की स्थिति को मन में लेता है। तो इन दोनों दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए दो नाम समक्ष हैं: गांधी और नेहरू। गांधी भी व्यावहारिक और राजनीतिक थे, लेकिन मूलतः धर्मभावापन्न थे। चोटी रखते थे, अपने को वैष्णव कहते थे। लेकिन धर्मों और सम्प्रदायों को परस्पर पास लाने में उनसे अधिक काम कौन कर पाया है?

सांस्कृतिक सम्मिश्रण

१३५. पिछला प्रश्न शायद कुछ उलझ गया। मैं यह जानना चाहता हूँ कि भारत के नये जन-जीवन में जो एक बौद्धिकता, एक वैज्ञानिक प्रश्न-चेतना और अर्थ-मानसिकता पनप रही है, वह क्या इस समस्या के समाधान में कुछ योगदान दे सकेगी?

सम्मिश्रण की व्यग्रता निरर्थक

—समस्या सांस्कृतिक सम्मिश्रण की आप मानते हैं न? सिन्धु और ब्रह्मपुत्र का क्या हम सम्मिश्रण चाहते हैं? मार्ग दोनों के अलग हैं, स्रोत और समाधि में दोनों आज भी एक है। दोनों हिमालय में बहुत पास-पास से निकलती हैं और अन्त में सागर में जा मिलती हैं।

मैं मिलाने की कोशिश में कुछ बहुत अर्थ नहीं देखता हूँ। मिलाने में अक्सर रूपाकार को एक बनाने की कोशिश की जाती है। वह चेष्टा बहुधा एकता को सम्पन्न नहीं, खण्डित करती है। ऊपरी राजनीतिक समझौते भीतर मनों की दुई और दूरी को ज्यों का त्यों छोड़ जाते हैं। यहाँ वही पहली बात ध्यान में रखनी होगी, जिसको मैंने भारतीय संस्कृति की विशेषता कहा था। अर्थात् विविधता के प्रति उसमें अधैर्य नहीं है, क्योंकि विविधता के नीचे एकता की अनुभूति है।

पृथक्करण के सहारे मिश्रण

जीवन नीचे से जो खिलता-फैलता हुआ आता है, वह बहुजन समाज को अनायास

नाना सम्बन्धों में सजाये बिना नहीं रहता। सम्बन्धों का यह नानात्व, यह निबिड़ता, जटिलता, उनका यह गुम्फन बढ़ता ही जानेवाला है। जिसको आप संस्कृतियों का सम्मिश्रण कहते हैं, वह भावनानुभूति में होता है। बाहर, रूप-प्रत्यक्ष में, तो मानो अभेद से अधिक भेद-विभेद और उनका भेद-विज्ञान बढ़ता है। विज्ञान की प्रगति, बुद्धि की प्रगति, सिवा इसके क्या है कि हम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म का भी पृथक्करण कर पाते हैं। जितना आदमी आगे जायगा, बुद्धि की भेद-शक्ति बढ़ती ही जायगी। अणु-विज्ञान आज परमाणु तक पहुँचा है और उसमें भी नाना भिन्नताओं को देख पा रहा है! भेद की इस तीव्र शक्ति में से ही मानो अभेद आविष्कृत होता आ रहा है, इस अर्थ में कि चेतन और जड़ भिन्न नहीं रह गये हैं! देखने की बात है कि इस तरह मिश्रण स्वयं पृथक्करण के सहारे सहज सम्पन्न होता है।

सम्मिश्रण के प्रयास

आपको उन प्रयत्नों की याद दिलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए, जो जान-बूझकर इस सम्मिश्रण के लिए किये गये हैं। अकबर को इस सम्बन्ध में याद किया जा सकता है। सामाजिक दृष्टि से हिन्दू मुस्लिम विवाह द्वारा, धार्मिक और तात्त्विक दृष्टि से तरह-तरह के सम्मिलित शास्त्रार्थ और नीति-रीति के प्रचलन द्वारा उसने अपना दीने-इलाही चलाना चाहा। क्या कुछ उसका फल हुआ? सम्मिश्रण जब-जब किया जाता है, वह ऊपर से होता है, भीतरी अनिवार्यता में से नहीं आता। अतः अधिकांश उसका फल उलटा ही आता है।

धर्म-परायणता द्वारा एकता

आप एक बात देखियेगा। धार्मिक हिन्दू और धार्मिक मुसलमान व्यवहार में जैसे एक समान सज्जन बन जाते हैं। एक मन्दिर जाता है, दूसरा मस्जिद जाता है। मानो इस विधि वे दोनों अलग और उलटे तक चलते मालूम हो सकते हैं। लेकिन फल एक और एक समान आता है। दोनों अच्छे नागरिक बनते हैं। सच्चे धर्म-भाव में इस तरह हिन्दुत्व और इस्लाम आप ही मिल जाते हैं। भावना से बाहर, कोरी लोक-हितैषिता और लोक-दायित्व के नाम पर, उन दोनों को मिलाने की कोशिश विशेष फल नहीं ला सकती।

हाँ, विज्ञान और कर्म की सघनता और विपुलता में से निश्चय ही हम अनिवार्यतया समझ में, सहयोग में, और समानता में एक-दूसरे के निकट-से-निकट पाते जा रहे हैं, यह स्पष्ट ही है।

प्रयासों की विफलता

१३६. फिर भी यह आवश्यक है कि जातीय द्वेष और घृणा को कम किया जाय। इसके लिए क्या प्राचीन पौराणिक पद्धति का ग्रहण लाभप्रद नहीं होगा? प्राचीन पुराणों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक कथाओं को इस प्रकार परस्पर मिलाया और गूँथा गया कि विरोधी सम्प्रदायों के लिए पुराण समान रूप से मान्य एवं पूज्य बन गये। क्या इसी प्रकार के कुछ ग्रन्थ नहीं रचे जा सकते, जिनमें भारत के सभी विभिन्न धर्मों के तत्त्व और धार्मिक मान्यताओं का समावेश हो और जिन पर सभी ईमान ला सकें। अकबर और गांधी जो विफल हुए, मेरी समझ में इसलिए कि विभिन्न धर्मों को विश्वास का एक समान आधार वे न दे सके।

हृदय के तल के प्रयास

—गांधी और अकबर के प्रयत्नों की भूमिका मैं एक नहीं मानता हूँ। पौराणिक प्रथा जिसको आपने कहा, वह ठीक है। लेकिन यह काम कैसे हुआ और किसने किया? मुझे नहीं प्रतीत होता कि यह काम शासक या लोकनायक द्वारा हुआ था। भावनाशील पुरुषों के द्वारा यह काम अनायास होता चला गया। लम्बा-चौड़ा आयोजन और जुटाव उसके पीछे नहीं था। ऐसे प्रयत्न हो सकते हैं जो गहरी आत्म-श्रद्धा में से न आयें, लोक-प्रयोजन के तल पर ही हों। मेरा इस जगह आग्रह यह है कि हृदय में से निकले हुए प्रयत्न ही इस क्षेत्र में फलदायक होंगे। केवल प्रयोजन के हेतु किया गया काम सफल नहीं होगा। अर्थात् जो स्वयं एक धार्मिक कार्य है, केवल लौकिक नहीं है, उसकी सिद्धि में वह लोक-कर्म या संघ-कर्म उपयोगी होगा, जिसके मूल में स्नेह की विवशता होगी।

मात्र परिचय निष्फल

केवल परिचय से काम नहीं चलता है। बल्कि उल्टे घृणा का काम भी उससे लिया जा सकता है। एक बन्धु ने बड़े परिश्रम से अरबी भाषा पढ़ी और कुरान का गहरा अध्ययन किया। अच्छे-अच्छे मौलवी उनके इस्लामी ज्ञान पर दंग रह जाते थे। लेकिन यह सब विद्या इस काम आयी कि वे इस्लाम के प्रति अवज्ञा और द्वेष ही जीवनभर फैलाते रहे! संस्कृतज्ञ मौलवी भी ऐसे मिल जाते हैं कि जिनकी विद्या उन्हें हिन्दू के निकट नहीं लाती है, बल्कि विमुख बनाती है। केवल एक-दूसरे के विषय का बोध काफी नहीं है। स्वयं में यह उलटा फल भी ला सकता है। जो आवश्यक और मूलभूत है, वह यह कि पहले पर के लिए हममें स्नेह और आदर हो। स्वयं के प्रति राग कम होगा, ठीक उतनी ही मात्रा में पर के प्रति द्वेष भी कम होता जायगा।

पर को पररूप में देखकर जितना भी जानेंगे, वह सब जानकारी गैरियत को मिटानेवाली नहीं, बढ़ानेवाली होगी।

गैरियत के सम्बन्ध

छुटपन में एक कहानी एंड्रोक्लीज की पढ़ी थी। कभी शेर के पाँव से उसने काँटा निकाला था। कई रोज भूखे रखे गये शेर के सामने जब सजा के तौर पर एंड्रोक्लीज़ को डाला गया, तो शेर ने उसको पहचान लिया। लोग तब सारे अचम्भे में रह गये देखकर कि, दोनों तो परस्पर लाड़ कर रहे हैं। मैं अपने मन से पूछता हूँ कि एंड्रोक्लीज से पूछा जाता कि शेर लम्बा कितना था, पूछ कितनी बड़ी थी, कहाँ पैदा हुआ इत्यादि, तो क्या वह कुछ भी बता सकता था? लेकिन शिकारी के ज्ञान को देखें। वह जब वैज्ञानिक अध्ययन करता है, शेर की एक-एक बात को पहचानता और परखता है, तो वह ज्ञान आखिर उसको शिकारी ही तो बनाता है; शेर के लिए उसमें कोई अपनेपन का भाव तो नहीं पैदा करता! शेर और शिकारी का सम्बन्ध अपनेपन का नहीं है, ग़ैरियत का है। अर्थात् परस्पर-परिचय आदि स्वयं में उस इष्ट में सहायक नहीं होता है। होता है तो तब, जब पहले भावना उस प्रकार की जाग चुकी होती है।

गम्भीर धर्मभाव अनिवार्य

भारत के वेलफ़ेयर राज्य की ओर से इस प्रकार के प्रयत्न हो रहे हैं। वे शुभ हैं, उपयोगी हैं। लेकिन शुभता और उपयोगिता वह फलवती तब होगी जब वातावरण में गम्भीर धर्मभाव भी होगा। सेक्युलरिज्म, जो केवल लोकवादी है, अगर हवा उससे भरी होगी, तो निकट लाने के प्रयत्न होते रहेंगे और दूरी भी बढ़ती रहेगी। कारण बुद्धि-व्यापार हृदय से समानान्तर चलता है। धर्म हृदय की वस्तु है।

गांधी और अकबर

१३७. ऊपर आपने गांधी और अकबर के एकता-प्रयासों की भूमिकाओं को भिन्न-भिन्न बताया है। पर मैं उनको लगभग एक मानता हूँ इस दृष्टि से कि दोनों ही हिन्दू-मुस्लिम-एकता को स्थिर करने में और पारस्परिक विद्वेष को मिटाने में असफल रहे। इस विषय को तनिक और स्पष्ट करें।

महात्मा और शाहन्शाह

—अकबर स्वयं शासक थे। गांधी का सम्बन्ध शासन से या भारत की राजनीति

से कांग्रेस के द्वारा था। अकबर ने उस रूप का निर्माण किया, जिसमें उन्हें आशा थी कि हिन्दू-मुस्लिम-संगम हो जायगा। गांधी में उस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं दीखता। उनके आश्रम में जैसे जिस-जिस प्रकार के लोग आते चले गये, प्रार्थना में उसी विधि के भजन-स्तवन शामिल होते चले गये। यह नियोजनपूर्वक नहीं हुआ, परिस्थिति की और हृदय की आवश्यकता के अनुसार हुआ।

गांधी के एकतासम्बंधी प्रयत्न मानो तपस्या और तितिक्षा को प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर बनाने की ओर चलते गये। साथ ही कर्म-क्षेत्र में कांग्रेस को वे उस प्रकार की प्रेरणा देते गये। ऐसा कोई प्रयत्न उनके द्वारा नहीं हुआ, जहां वेद और कुरान का मिला-जुला संस्करण निकालने की चेष्टा की गयी हो। न मस्जिद मन्दिर के समन्वय की बात उनमें देखी जाती है। गांधीजी का प्रयत्न महात्मा का है। अकबर का शाहन्शाह का है।

प्लेटफार्म और साधना

विफल दोनों हुए, तो सच यह कि सम्पूर्ण रूप से सफल कभी कोई होगा ही नहीं। आदमी में द्वेष शेष रहे ही चला जायगा, जिससे पुरुषार्थ के लिए अवकाश रहे। लेकिन दीने-इलाही की विफलता जैसी चीज गांधीजी के लिए कहीं न थी; क्योंकि वैसा प्रयत्न न था। हिन्दू-मुस्लिम-विद्वेष की जो ज्वालाएँ फैलीं, तो कांग्रेस के हिन्दू-मुस्लिम-एकता कार्यक्रम में से कांग्रेस-लीग की फूट ही निकलती चली गयी। वह इतिहास दूसरा है और उसके कारण दूसरे हैं। यह तो निस्सन्देह माना जायगा कि वह विफलता गांधी की भी है, लेकिन उसका निदान मैं गांधी-कांग्रेस के सम्बन्ध में अधिक देखता हूँ। गांधी का धर्म-भाव कांग्रेस के पास अगर केवल कर्मवाद बनकर रह गया, तो अवश्य त्रुटि गांधी में भी रही होगी। कांग्रेस ने एकता को प्लेटफार्म बनाया, साधना नहीं बनाया। गांधी साधना में से एकता सिद्ध किया चाहते थे। कांग्रेस राजनीतिक जमात थी और साधना की बात ही उसे असंगत थी। कांग्रेस की विफलता गांधी की विफलता नहीं है, यह मैं नहीं कहता हूँ। लेकिन गांधी का इस प्रश्न के प्रति दृष्टिकोण अकबर से और कांग्रेस से भिन्न था। यही इस समय के लिए संगत बात है।

दार्शनिक ऐक्य-भूमि

१३८. यद्यपि अर्थ, राजनीति और समाज इन तीन स्तरों पर विभिन्न सम्प्रदाय एक भूमि पर खड़े होते हैं। फिर भी यह भूमि ऊपरी है, आन्तरिक नहीं। क्या आप दर्शन और श्रद्धा की किसी ऐसी ऐक्यभूमि की ओर संकेत कर सकते हैं, जिस पर सभी विरोधी धर्म एक होने की ओर बढ़ सकें?

ऐक्य धर्म में, बाहर नहीं

—वह भूमि ईश्वर के सिवा दूसरी नहीं है। आज भी लगभग सभी अनुभव करते हैं कि ईश्वर, गॉड, अल्लाह एक हैं। कुछ पहले ऐसा अनुभव नहीं था और ये सच-मुच तीन थे। लेकिन उत्तरोत्तर जान पड़ता रहा है कि तीन नहीं, सहस्र-सहस्र नाम और लाखों-करोड़ों अन्तर ईश्वर में विलीन हो जाते हैं। परम एकता वहीं है।

धर्म वह है जहाँ व्यक्ति स्मरण-प्रतिस्मरण, पूजा-प्रार्थना आदि के द्वारा अपना सम्बन्ध उसी एक से बनाता है। अतः धर्म से बाहर ऐक्य कहीं मिलनेवाला नहीं है।

धर्म स्वयं अनेक हैं, लेकिन पहचान गये हैं कि वे आपस में जुड़े सब उस एक से ही हैं। अनेकता सम्प्रदायों की रहती भी चली जाय, तो हानि नहीं है, बशर्ते कि वहाँ धर्म-भाव हो। क्योंकि धर्म-भाव होने पर एकता की अनुभूति के द्वारा अनेकता स्वयं सुन्दर और आदरास्पद बनती है।

संघ-बद्ध स्वार्थ

जीवन-व्यवहार की लोकभूमिका पर हरएक को व्यक्ति और नागरिक बनकर आना पड़ता है। इस तरह प्रकटतः वहाँ सब समान हो जाते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि यह काफी नहीं होता। कारण संघबद्ध स्वार्थ सम्प्रदाय की आड़ लेते हैं और उस साम्प्रदायिकता का पूरा-पूरा लाभ उठाया करते हैं। अभी हाल के अपने अनुभव की बात कहता हूँ। जैनों के दो सम्प्रदाय वैमनस्य में मानो उलझ ही पड़े थे, बड़ी गरमागरमी थी। लेकिन दोनों पक्षों के सर्वमान्य स्थानीय नेता एक जगह टिके थे, एक थाली में खाते थे, एक कम्पनी में साझेदार थे। दोनों के लिए साम्प्रदायिक फटाव साधन-रूप होता था, दोनों ही इस तरह करोड़पति बनकर आपस में बराबरी के मित्र बन पाते थे!

●

२

जातीय राष्ट्रवाद और गांधी

पाकिस्तान की सृष्टि

१३९. पाकिस्तान की सृष्टि के लिए आप किन-किन शक्तियों को जिम्मेदार मानते हैं? कांग्रेस की मुस्लिम अपीजमेंट की अव्यावहारिक नीति इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी है? पाकिस्तान बनने को आप भारत के भविष्य के लिए शुभ मानते हैं अथवा अशुभ?

कांग्रेस की प्रयोजन-प्रियता

—व्यतीत घटना के लिए क्या-क्या तत्त्व उत्तरदायी थे, यह किसलिए हम जानना चाहते हैं? अगर आगे की सावधानता के लिए जानना चाहते हैं, तो यह प्रश्न उपयोगी हो सकता है। केवल जानने के लिए जानने का विचार छोड़िये। कारण, वह जानना आधा स्थितिगत और आधा मनोगत होता है। अर्थात् कोई जानना सही, सच नहीं हुआ करता।

कांग्रेस एक राजनीतिक संस्था थी और उसको भारत का स्वराज चाहिए था। सन् १९,२० से उसने गांधीजी को अपनाया और गांधी-नीति उसकी नीति बनी। लेकिन जो गांधी के लिए नीति से अधिक था, सिद्धान्त था, अवसर-साधन का उपाय-मात्र न था, कांग्रेस के लिए वह प्रयोजन-साधन की युक्ति तक ही रह गया। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए गांधीजी ने आगे जाकर कांग्रेस की सदस्यता तक से अपने को अलग कर लिया और केवल परामर्श का सम्बन्ध रखा। इस परामर्श के नाते नेतृत्व का काम फिर भी उनके कन्धों से उतरा नहीं।

कांग्रेस और गांधी की अहिंसाएँ

इन परिस्थितियों में भारत का स्वराज्य आया। घोर वेदना का वह काल था। गांधी सत्यरूपी परमेश्वर के लिए ही जीते थे। उनका वचन था कि दो भाइयों में जैसा बँटवारा होता है, वैसा हो तो ठीक है; नहीं तो देश का बँटवारा मेरी लाश पर से होगा। क्रिप्स-मिशन से अधिकारतः बात करनेवाले कांग्रस-नेता थे, गांधीजी

उन्हें अनिवार्य केवल अपने व्यक्तित्व के कारण थे, वैधानिक स्थिति उनकी नहीं थी। यह अ-स्थिति गांधीजी ने जान-बूझकर अपनी बना रखी थी। देश को फाड़ने और चीरने की बात पर उनका कलेजा ही जैसे चिरता था। क्या हलाहल की घूंट उन्हें उस वक्त पीनी पड़ी, यह धीरे-धीरे खुले इतिहास में आता जा रहा है। यह उनकी मनोवेदना आगे जाकर अमोघ बनेगी और लोगों के दिलों को हिला सकेगी। कांग्रेस की राजनीति ही अहिंसा थी, इससे आगे वह कोई धर्मनीति तो न थी। गांधीजी अहिंसा के साथ जीने और मरनेवाले थे। लेकिन गांधी की यह अहिंसा सत्य के साथ थी, इसलिए वह तनिक भी अपीजमेण्ट न थी। मन रखने का लोभ उसमें रंचमात्र न था। वह शक्ति का एक नया रूप था—नंगी और बर्बर शक्ति के सामने मानवीय और भव्य शक्ति का रूप! लेकिन भव्यता के कारण वह शक्ति कम नहीं, अधिक ही प्रखर और अमोध थी। कांग्रेस के हाथ उसका राजनीतिक रूप ही जो आया, सो जान पड़ा कि कांग्रेस के पास अपीजमेण्ट की नीति ही है!

गांधी की लाश पर

सब जानते हैं कि कांग्रेस के वैधानिक नेताओं को उस समय गांधीजी का मार्ग और गांधीजी का परामर्श रुचा और पचा नहीं। पाकिस्तान कांग्रेस के नेताओं ने स्वीकार किया। कांग्रेस की जनता ही शायद नेताओं के इस निर्णय को न मानती। नेताओं को स्वयं यह संशय था। गांधीजी की वे शरण गये और आल इण्डिया कांग्रस कमेटी में हिन्द-भंग का प्रस्ताव गांधीजी के आशीर्वाद से पास हुआ। क्या गांधीजी उस समय अपना कौल भूल गये थे? मेरे विचार में नहीं भूले थे। मुझे विश्वास है कि उस प्रस्ताव पर जो गांधीजी में से आशीर्वाद गया था, वह स्वयं उन्हें शव बनाकर ही छोड़ गया था। उनका वचन झूठा नहीं हुआ, सचमुच सच्चा हुआ कि उनकी लाश पर से हिन्दुस्तान आरी से चीरकर दो बना!

केवल अहिंसा अपीजमेण्ट

अपीजमेण्ट! केवल अहिंसा सचमुच अपीजमेण्ट रह जाती है। सत्य के साथ, और सत्य के आग्रह के साथ, वह एक ऐसी शक्ति का आविष्कार है, जो विज्ञान के क्षेत्र के अणु-शक्ति के आविष्कार से कहीं अधिक महत्त्व का है। वही शक्ति आगामी मानव-इतिहास को सँभालने और बनानेवाली होगी। अब तक शक्ति का जो रूप हम देखते और परखते आये हैं, वह अमानुषी रहा है। यह नयी शक्ति सर्वथा मानुषी होगी। व्याघ्र, सिंह जैसे नख-दन्तवाले हिंस्र पशुओं से दुर्बल और स्वल्पकाय मनुष्य बुद्धि-

शक्ति के योग से जिस प्रकार जीतता रहा है, वैसे ही शस्त्रास्त्र-सज्जित सैन्य-शक्ति से आगे जाकर यह प्रम और नीति-शक्ति कहीं विजयिनी सिद्ध होगी।

पाकिस्तान क्यों बना ?

पाकिस्तान क्यों बना ? उसके पीछे अवश्य जीवन का और विज्ञान का तर्क काम कर रहा होगा। हम आगे दौड़ते हैं तो कैसे ? तैरकर बढ़ा जाता है तो क्यों ? यान धरती से ऊपर उठता और आगे भागता है तो किस कारण ? इन सभीमें फल कृति से उलटा दीखता है। यान के पंख हवा को नीचे दबाते हैं और यान ऊपर उठता हैं; पाँव धरती को पीछे धकेलते हैं, आदमी आगे बढ़ता है; हाथ पानी को पीछे फेंकते हैं तो ही तैराक आगे जाता है। अर्थात् धन के प्रयत्न में ऋण का फल आप ही प्राप्त हो जाता है। कांग्रेस को राज्य चाहिए था। गांधीजी के नेतृत्व में तप-त्याग से बल की सृष्टि हुई । स्वराज्य उस बल से तनिक निकट आता दीखा, तो मालूम हुआ कि कांग्रेस के समकक्ष होकर इधर से लीग उठती आ रही है। काम कांग्रेस ने किया था, फल लीग को भी मिलता गया। ताकत कांग्रेस की बढ़ती, तो ठीक उतनी ही लीग की भी बढ़ जाती। कांग्रेस को स्वराज्य चाहिए था। लीग भी स्वराज्य चाह निकली। दोनों को स्वराज्य कैसे मिलता ? इसलिए एक के दो राज्य बने।

क्रिया-प्रतिक्रिया

गांधीजी शुरू से सलाह देते गये थे कि मत चाहो, मत चाहो। कर्म को अकर्म बनाकर करो। लेकिन वह बात काम की थी ही कब कि काम-धाम के बीच सुनी जाती! परिणाम आज के हिन्दुस्तान-पाकिस्तान हैं। क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त काम करता है और उसका हमारे चाहने न-चाहने से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सकाम अहिंसा

भारत में समन्वय सिद्ध होता चला गया, क्योंकि उसका दर्शन और वर्तन अकर्मक था। गांधी की सारी अथक कर्मण्यता अकर्म से आती थी और इसीसे अमोघ भी होती थी। कांग्रेस ने अपने पास निष्काम को आने नहीं दिया। उसका कर्म सकाम रहा। अहिंसा भी सकाम रही। हिन्दू-मुस्लिम-एकता भी सकाम रही। तो सकामता के धरातल पर क्रिया के समतुल्य प्रतिक्रिया को भी होना था।

कांग्रेस हिन्दू बनी

क्या कभी कांग्रेस हिन्दू थी ? एक क्षण के लिए भी नहीं थी। लेकिन व्यवहार के

लिए कांग्रेस को 'हिन्दू' बनना हुआ, क्योंकि लीग को 'मुस्लिम' बनना था। हम इस व्याधि से साम्प्रदायिकता के नाम पर ऊपर-ऊपर लड़ना चाहेंगे, जैसी कि कोशिशें होती हैं, तो फल नकारात्मक आयेगा। इस, और ऐसे, प्रयत्नों में ही अपीजमेण्ट आ घुसता है। वह प्रयत्न सच से दूर हो जाता है। सच से बाल बराबर हटने पर भद्रता, सभ्यता, शिष्टता आदि सचमुच दुर्बलता के ही नाम हो जाते हैं। अगर हम सच को अपनाने की हिम्मत न रखें, तो अहिंसा में खतरा ही खतरा है। इसीलिए जीवित राजनीति में जैसे दिखाई देता है कि अहिंसा एक छलना है, वह निर्वीर्यता है, पराजय को अपनाना है। लेकिन अगर मृत्यु के प्रति निर्भयता हो और हर हालत में सच को अपनाने का हौसला हो, तो उसके साथ शर्त के तौर पर चलने-वाली अहिंसा से बड़ी कोई राजनीति नहीं है, कूटनीति नहीं है। एक तरह सारी नीतिमत्ता उसमें समा जाती है। आज जिसे 'पीछे बन्द मुक्का, सामने मीठी मुस्कान' की नीति माना जाता, कूट और सफल नीति कहा जाता है, मानो वह सहज हो आती है, कठिन नहीं रहती। कूटता में, मुक्के और मुस्कान में मेल जो नहीं है, भीतर कपट जो रहता है, सो मुक्के को छिपाकर पीछे रखना पड़ता है। गांधीवाली निष्कपटता में सारी बाजी सामने खोल दी जा सकती है और मुस्कराहट के साथ बँधे मुक्के को भी समक्ष रख दिया जा सकता है। अर्थात् जीवित राजनीति का सत्त्व गांधीनीति में अविद्यमान नहीं होता, बल्कि सर्वथा स्पष्ट और प्रत्यक्ष होता है। और वह है बल। सत्य के बल से क्या कोई भी बड़ा बल हुआ है, हो सकता है? संकल्प के रूप में उसीको सामने और साथ लेकर चलने से फिर अहिंसा में निर्बलता की प्रतीति का अवकाश किसीके लिए नहीं रह जाता। सत्य से छुटी अहिंसा ही है जो निर्बल हो सकती है, और इससे राजनीति के लिए अनिष्ट और त्याज्य समझी जा सकती है।

पड़ोसी मित्र बनें

पाकिस्तान और हिन्दुस्तान आज दो हैं और अपने पड़ोसपन के प्रभाव से उनकी राजनीति और विदेश-नीति मुक्त नहीं हो सकती है। दोनों की वे राष्ट्रनीतियाँ, जो अपने-अपने बल में विश्वास रखती हैं, दोनों को बेचैन बनाये रहेंगी। कभी वह समय आये कि पड़ोसी इतने मित्र हों कि एक अनुभव करें, तो वह बल की बात को भूल जाने से आयेगा। केवल एक बल को साथ रखने से वह आयेगा और वह सच के साथ चलनेवाला हमदर्दी और प्रेम का बल है।

ऐसी राष्ट्र-नीतियों को मैं परस्पर के प्रति शुभ मानूंगा। हिन्दुस्तान के लिए पाकि-स्तान स्वयं में शुभ या अशुभ क्या होगा, इस प्रश्न में कुछ अर्थ नहीं है। भविष्य

निर्भर करता है उनके परस्पर सम्बन्धों पर। परस्परता में ही इष्ट या अनिष्ट की सम्भावनाएँ होती हैं। भारत की और पाकिस्तान की परराष्ट्र-नीतियाँ सही नीति पर चलीं और बड़े गुटबन्द स्वार्थों से अटकी न रहीं, तो शायद दोनों अनुभव करें कि वे एक-दूसरे के लिए संकट से अधिक संबल भी हो सकते हैं। दोनों के द्वैत का आरम्भ अवश्य इतना अशुभ हुआ है कि भविष्य में दूर तक उसके परिणाम शायद घुल नहीं पायेंगे। लेकिन प्रेम की शक्ति अपरम्पार है और बरसों की भ्रान्तियाँ क्षणभर में कटती देखी गयी हैं।

गांधी की आन्तरिकता

१४०. गांधीजी ने किन बाध्यताओं के अधीन विभाजन को अपना आशीर्वाद प्रदान किया? ऐसा करते समय उनकी मनःस्थिति क्या रही? यदि हो सके, तो इस पर आप कुछ स्पष्ट प्रकाश डालें। क्योंकि मैं समझता हूँ कि इस स्थिति और परिस्थिति की अनुभूति गांधी-नीति को समझने के लिए अनिवार्य है।

—बहुत संदिग्ध काम है यह दूसरे के अन्तरंग में उतरना। गांधीजी की आन्तरिकता तिस पर इतनी गहन है कि वह और भी कठिनाई उपस्थित करती है। अधिक-से-अधिक उस सम्बन्ध में अनुमान ही हो सकता है।

धर्मनीति प्रधान

गांधीजी को मूलतः मैं सच्चा आदमी मानता हूँ। सच से डिगना किसी कीमत पर उन्हें मान्य नहीं हो सकता था। सत्य के प्रयोग की राह में ही राजनीति उनके जीवन में आयी। राजनीति आयी, राजनेता का दायित्व और धर्म नहीं आया। भारत के जीवन में अनायास उन्हें ऐसा राजनीतिक नेता बनना पड़ा कि छुटकारा न था। किन्तु इस सारे प्रयोग में उनके लिए धर्मनीति ही प्रधान रही। उन्होंने साफ कहा भी कि मैं धार्मिक आदमी हूँ, राजनीतिक नहीं हूँ; राजनीति धर्म के श्वास के बिना निरा छल और छद्म है।

कांग्रेस और गांधी-नीति

भारत का राजनेतृत्व उन पर यदि आता ही चला गया, तो वह कांग्रेस-नेतृत्व के निमित्त से। कांग्रेस ने बहुत कुछ त्याग किया गांधी के इस नेतृत्व का लाभ अपनाये रखने के लिए। कांग्रेस का कुल कार्य भारत को स्वतंत्रता दिलाना था। वहाँ तक ही गांधीजी का लाभ उसके लिए संगत था। उससे अधिक गांधी की धर्म-नीति, तत्त्व-दर्शन आदि में जाने का कांग्रेस के लिए कोई प्रयोजन और हेतु न था।

गांधी और कांग्रेस के इस सम्बन्धका इतिहास अध्ययन की वस्तु है। एक अवसर पर जाकर गांधीजी को अनुभव हुआ कि उनका व्यक्तित्व कांग्रेस के आत्मविकास पर भारी तो नहीं पड़ जाता है! इसमें उन्हें हिंसा का दोष दीखता था। इस अनुभव पर ध्यान जाते ही कांग्रेस पर से उन्होंने अपना बोझ हटा लिया, उसकी सदस्यता से भी अलग हो गये।

किन्तु भारत की यह राष्ट्रीय-कांग्रेस गांधीजी के मार्ग-दर्शन में मानो समस्त राष्ट्र के वर्चस्व, संकल्प और पराक्रम की प्रतिनिधि बन आयी थी। वह दल से कहीं अधिक हो गयी थी, मानो स्वयं में राष्ट्र की प्रतीक बन गयी हो। निश्चय ही राष्ट्र की राजनीतिक आशा-आकांक्षा का सेहरा कांग्रेस पर था। राजनीतिक चेतना रखने-वाले सभी वर्ग उसमें घुल-मिल चले थे। इस तरह कांग्रेस पर राष्ट्र का नेतृत्व, अर्थात् भारत का राजनीतिक नेतृत्व, दायित्व के तौर पर अनिवार्य होकर आ टिका था।

किन्तु गांधीजी को सत्य के प्रयत्न में ही खपना था। उसमें ही जीना था, उसमें ही मरना था। राजनीतिक नेता का पद इसमें बाधा ही डाल सकता था। यह काम मानो उन्होंने पूरी तौर पर कांग्रेस का मान लिया और समझे गये राष्ट्र-धर्म से अपने को अलग कर लिया।

सत्य के प्रति दायित्व

मैं यह समझता हूँ कि स्वधर्म के रूप में उन्होंने मानव-धर्म अर्थात् सत्य-धर्म के प्रति अपना सर्वस्व और दायित्व स्वीकार किया। सारी वफादारी उसीके प्रति मानी। यह नेता से अधिक शहीद का धर्म हो जाता है। कुछ शहीद ऐसे होते हैं, जो आगे नेता और राजा बनते हैं; गांधीजी की शहादत स्वयं में एक मूल्य थी, कोई मंजिल उसमें नहीं थी। उसका अलग से कोई फल और प्रयोजन नहीं था। गीता का यज्ञ उन्हें सर्वस्व था और कभी किसी समय, अगला जन्म हो तो भी, सत्ता और भोग के स्वीकार की सम्भावना उनमें नहीं रह गयी थी।

भारत की आत्मा के प्रतिनिधि

इन दो स्वधर्मों के अलगपन को समझना बहुत जरूरी है, अगर देश-विभाजन की दुर्घटना के रहस्य को हम समझना चाहते हैं। आगे बढ़कर सन्धि-वार्ता चलाने, अमुक फैसला करने न-करने का दायित्व राष्ट्र की ओर से गांधीजी अपने ऊपर नहीं ले सकते थे। उनकी ओर से वह कांग्रेस का ही कार्य था और कांग्रेस की ओर से पदाधिकारियों पर वह जिम्मा आ जाता था। वे लोग सलाह के लिए जब तक चाहें और जिस मात्रा तक चाहें, गांधीजी उपलब्ध थे। उससे आगे और अलग

वे सर्वथा मुक्त थे। उस दृष्टि से वे राजनीतिक नेता से अधिक भारत की आत्मा के प्रतिनिधि थे। इतिहास में क्या कभी हुआ है कि आत्मा का प्रतिनिधि देश का राजनेता या राजनीतिक भाग्यविधाता हो? नहीं हुआ, परन्तु केवल गांधीजी के सम्बन्ध में यह समझने में कठिनाई होती है। कठिनाई इसलिए होती है कि महात्मा से पहले हम उन्हें राष्ट्रनेता और राष्ट्रपिता के रूप में मानते और अपनाते हैं। मानो उपयोगिता के उस सम्बन्ध से और अपने रागभाव में से हम उन्हें देखते हैं। अतः कांग्रेस के सन्दर्भ में गांधीजी के सर्व-समर्थ नेता रहते हुए भी जो देश-विभाजन हुआ, उसका सारा दोष उन्हींके माथे डालने से हम बच नहीं पाते हैं। नेहरू, पटेल, आजाद अगर बँटवारा मान भी गये थे, तो कब गांधीजी का यह वश नहीं था कि उस किये को अनकिया कर दें और अपनी बात चला लें? क्या ऐसा कभी सम्भव हो सकता था कि कांग्रेस इन तीनों के कारण गांधी का साथ न देती? न देती तो भी क्या था? गांधीजी को तो अपने ईमान के साथ रहना था। क्या उन्होंने नहीं कहा था कि अगर द्विराष्ट्र का सिद्धान्त जिन्ना का है, तो एक-राष्ट्र ईमान मेरा है। फिर नेहरू, पटेल, आजाद का यह क्या मोह था कि गांधी ने अपना ईमान छोड़ दिया? गांधी की या तो यह कमजोरी थी, या पहला कौल उनका सच्चा न था, या फिर राजनीतिक सुविधावाद के कारण देश-विभाजन में सहारा और स्वीकृति देना उन्होंने सही समझ लिया था। इन सब अनुमानों से बचने का साधारणतया मार्ग नहीं रह जाता है। पर उनमें से किसी-को अपनाने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है। कारण, उनका स्वधर्म राजनीतिक नेता के दायित्व को स्वीकार करके सध नहीं सकता था। और वह स्वधर्म था: जहर पीते जाना, तिल-तिल अपने को मारते जाना, यज्ञ द्वारा ही जीना और इस जगत् का कुछ भी अपना न मानना, सत्य को ही सर्वान्त सर्वस्व मानना! भारत का राजनीतिक स्वराज्य राजनीति की सामयिक यथार्थता से अधिक भला क्या था? आखिर उसका बोझ अपने कन्धों लेना तो कांग्रेस को था। गांधी को तो मिनिस्टर वगैरह बनना कभी था नहीं। इसलिए राजपद जिनको लेना है, फैसला भी उन्हींके हाथों रहने देना होगा। यह उनके आगे इतना स्पष्ट था कि सामर्थ्य रहते हुए भी कांग्रेस को उस मार्ग से उन्होंने मोड़ा नहीं। बल्कि उससे आगे समर्थन तक दे दिया उस अनिष्ट को, जिसको उसके चुने हुए नेता लोग इष्ट मानने लग गये थे।

गांधी की सलाह

सब जानते हैं कि गांधीजी ने कांग्रेस को सलाह दी कि वह एक ही आग्रह रखे कि अंग्रेज लोग अपनी प्रभुता को लेकर भारत से फौरन हट जायँ, इसमें बिलकुल

देर न लगायें। फिर इसमें यदि यह प्रश्न पैदा-होता है कि राज्यव्यवस्था आखिर किसको सौंपकर वे जायँ, और कांग्रेस-लीग के बीच इस बारे में कोई मन-मनाव हो नहीं पाता है तो कांग्रेस को कह देना चाहिए कि सत्ता की बागडोर लीग के ही हाथों वे छोड़ जायँ। हर हालत में अंग्रेजी प्रभुता को यहाँ से फौरन अपनी छुट्टी कर लेनी चाहिए। पूरी मिनिस्ट्री लीग बना ले तो भी कोई हर्ज नहीं है। लीग से सुलझने-उलझने की बात फिर घर की घर में रह जायगी। विदेशी साम्राज्य को विदा हो ही जाना चाहिए। यह सलाह कांग्रेस की बृहत्त्रयी के गले नहीं उतरी।

कांग्रेस हिम्मत न कर सकी

लेकिन इनसे उतरकर कांग्रेस के दूसरे कुछ नेता लोग भी थे। वे राष्ट्रभंग के स्वीकार से तब भी सहमत नहीं थे। गांधीजी ने अपेक्षा की, पूँछ टटोलकर मालूम किया, कि क्या वे अपने विश्वास पर दृढ़ हैं, क्या वे हिम्मत करेंगे और कांग्रेस के नेतृत्व को हाथ में लेकर आगे बढ़ेंगे? अगर कांग्रेस की आल इण्डिया कमेटी उनकी बात रख ले और राष्ट्रभंग अस्वीकार कर दे, तो क्या वे कमान हाथ में लेंगे? कांग्रेस के भीतर से वैसा आश्वासन गांधी को किसी ओर से नहीं प्राप्त हुआ। तब खून की घूँट पीकर उनके लिए क्या शेष बच जाता था, सिवा इसके कि कांग्रेसी राजनेता जिस राह जाना चाहते हैं, गांधी उसका द्वार खोलकर कहें, 'एवमस्तु' और मुँह मोड़कर आप अकेले अपनी सूनी बीहड़ राह पर पाँव-पाँव चल दें! वही उन्होंने किया। आपको याद होगा कि इसके बाद एक नया सूत्र उनके मुँह से निकला। वह था कि 'हुकूमतें ही दो हुई हैं, दिल तो दो नहीं हो गये।' उस दिल की एकता पर वे इतने दृढ़ और अडिग थे कि उन्होंने बैरिस्टर होते हुए भी कह दिया था कि 'अपने मुसलमान भाइयों से मिलने जाऊँगा, तो क्या मैं पासपोर्ट के लिए रुकनेवाला हूँ? वे तो मेरे भारत के मां-जाए भाई हैं।'

कौल नहीं टूटा

मैं मानता हूँ कि इसके प्रकाश में आप समझ सकेंगे कि कैसे गांधीजी का समर्थन विभाजन को मिला और कौल भी नहीं टूटा। समर्थन मानव-अहिंसा में से मिला, कौल ईश्वर-सत्य में निभा और सच्चा रहा। इसका प्रमाण स्वयं हिन्दू के हाथों उनकी हत्या है!

कश्मीर

१४१. जिस समय कश्मीर-युद्ध आरम्भ हुआ, गांधीजी जीवित थे। क्या आपकी

राय में कांग्रेसी सरकार की कश्मीरसम्बन्धी नीति को भी गांधीजी का समर्थन और आशीर्वाद प्राप्त था? गांधीजी के मत और कांग्रेस की नीति में इस विषय पर कितना अन्तर था?

गांधी ने आशीर्वाद दिया

—हर राजनीतिक समस्या पर कांग्रेस को उस समय गांधीजी की जरूरत नहीं हुआ करती थी। कश्मीर पर हमले का प्रश्न अवश्य ऐसा था, जिसमें गांधीजी के नैतिक समर्थन का बल कांग्रेसी सरकार के लिए जरूरी था। गांधीजी ने भारतीय सेना को कश्मीर-कूच के समय अपना आशीर्वाद दिया, कहा कि वहाँ रक्षा में मर जाना, लौटना नहीं। सेना और सैनिक को समर्थन जब कि उनके मन में नहीं था, तब यह वहाँ स्पष्ट था कि सशस्त्र-सैन्य का स्वधर्म-रक्षा में आगे बढ़कर बलि हो जाना है। जिन्होंने शस्त्र लिया है, उनके लिए शस्त्र का उपयोग है तो यही कि वह रक्षा के काम आये। अपना स्वधर्म गांधी किसी पर लाद नहीं सकते थे। कश्मीर के सवाल को संयुक्त राष्ट्र-संघ में भेजने के खिलाफ उन्होंने कांग्रेस को सलाह दी थी।

१४२. गांधीजी शस्त्र, सेना और हिंसा को कितनी दूर तक एक राज्य के लिए अनिवार्य मानते थे? क्या वे हैदराबाद के पुलिस-एक्शन का भी समर्थन करते?

सेनारहित राज्य

—गांधीजी क्या करते, क्या न करते, इसकी चर्चा से बचना चाहिए। वे ऐसे राज्य की कल्पना कर सकते और करते थे, जहाँ सशस्त्र सेना अनावश्यक हो जाय। उस हालत पर पहुँचने तक वे स्वयं कांग्रेसी सरकार को यह सलाह देने को तैयार नहीं थे कि वह अपनी सशस्त्र सेना को बखेर दे। अर्थात् वे मानते थे कि यह हालत ऊपर से नहीं आयेगी, किसी दिमागी निर्णय में से नहीं आ जायगी, बल्कि भीतर से अनुकूल सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पनपायेंगे तो उसके परिणाम-स्वरूप ही यह इष्ट फलित हो सकेगा। उसी बुनियादी काम में वे लगे भी हुए थे।

१४३. क्या यह उचित ही नहीं हुआ कि भारतीय जीवन के उस विशिष्ट क्षण में गांधीजी हमारे बीच से उठ गये? गांधी-हत्या के विभिन्न कारणों और परिणामों पर क्या आप प्रकाश डालने की कृपा करेंगे?

'कमजोर' गांधी की हत्या

—भगवान् की सृष्टि में अनुचित कुछ होता नहीं है। इसीको दूसरे शब्दों में यों

कहिये कि जो होता है, उसे अनुचित मानकर समझ से परे हटा देने के बजाय समझ के द्वारा उसके कारणों में जाने का धैर्य चाहिए।

गांधीजी को लोग महात्मा और इस लिहाज से कोमल-हृदय मानते थे। हिन्दुओं को लगता था कि मुसलमान के प्रति वे पक्षपात रखते हैं, रियायत करते हैं। उनका मन रखने के लिए ऐसी राह चल जाते हैं, जो हिन्दू और मुस्लिम के बीच सही-सही न्याय की नहीं है, बल्कि हिन्दू के प्रति अन्याय और मुस्लिम के प्रति न्यायातिरेक की होती है। ऐसा उनकी अहिंसा-नीति के कारण होता है। इसी-से समय पर वे दुर्बल बनते और झुक जाते हैं। ऐसा व्यक्ति दुनिया के काम-काजी मामलों में नेता हो, तो खतरा ही तो है। राष्ट्र और जाति का स्वाभिमान उसके हाथ में सुरक्षित नहीं रह सकता।

गांधीजी की हत्या हुई, तो यह जानने पर कि हत्यारा हिन्दू है, लगभग सभी के मन में हुआ था कि अवश्य वह कोई पंजाब का शरणार्थी होगा। पर निकला वह नाथूराम विनायक गोडसे।

शरणार्थी गांधी को समझ गये थे

शरणार्थी लोगों ने जो कष्ट उठाये थे, उस क्षोभ और रोष में से जो भी कृत्य निकलता, कम माना जा सकता था। उनमें से कोई गांधी का हत्यारा होता, तो बात सीधी दीखती। लेकिन ऐसा जो नहीं हुआ, वह मेरे विचार में इसलिए नहीं हुआ कि दिल्ली में शरणार्थियों को गांधीजी को पास से देखने-जाँचने का अवसर मिल गया था। इस जरा से अवसर में भी उन्होंने शायद पहचान लिया था कि महात्मा समझे जानेवाले अहिंसक गांधी के अन्दर क्या आग जल रही है। उसके प्रकाश में गांधीजी को निर्बल और कायर मानने की कहीं सम्भावना उनमें नहीं रह जाती थी।

शहीद (?) गोडसे

लेकिन गांधीजी को केवल दूर से और दिमाग से जाननेवालों का जो वर्ग था, उसकी गलतफहमी दूर कैसे होती? वे गांधी के पास इसलिए नहीं आते थे कि गांधी के भूत से डरे रहते थे। वह भूत उनके अपने दिमागों में से तैयार होता था। भूत उनके लिए असली था, असली गांधी नकली था। गोडसे ने उस भूत को मारा था और इसलिए वह हत्या गोडसे के मन में हत्या थी ही नहीं, बल्कि पुण्य का कार्य था। मरनेवाला काया का सचमुच का गांधी निकल आया, इससे उसका पुण्य-कृत्य अगर हत्या का कृत्य बन गया, तो इसमें गोडसे क्या करे?

गोडसे ने जो अदालत में वक्तव्य दिया, उससे भी साफ हो सकता है कि हत्या द्वारा उसने तो पुण्य-कर्तव्य करना चाहा था। कानून हत्या समझे तो समझे और अपना काम करे। कानून ने अपने हिसाब से गोडसे को फाँसी दे दी और गोडसे अपने हिसाब से शहीद होकर मर गया।

राजनीतिक हत्या क्या पुण्य ?

गांधी-हत्या का कारण शायद इस तरह स्पष्ट हो जाता है। राजनीतिक हत्या का औचित्य जब तक जन-मानस में रहेगा, ऐसी हत्या असम्भव न बनेगी। कारण, यह साधारण क्रोध या बदले के भाव से होनेवाला कत्ल-खून नहीं है। यह तो वह है, जिसके बारे में दिमाग एक पुण्य-कृति का भाव बना ले सकता है।

गांधी-हत्या का प्रभाव

उस हत्या का परिणाम तत्काल तो यह हुआ था कि हिन्दूवाद का मूल्य गिरा था। पर हिन्दू-साम्प्रदायिकता को तो अपने समर्थन का तर्क पाकिस्तान के जन्म में मिल जाता है। इसलिए गांधी-हत्या की बात पुरानी पड़ने पर हिन्दूवाद का उदय रुक नहीं सका। कांग्रेसी सरकार का काम भी कुछ उस ढंग से चला, जिससे उसके अभ्युदय को अवकाश मिला। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के सम्बन्धों का प्रभाव सम्प्रदाय-भाव पर पड़े बिना नहीं रहता। उन सम्बन्धों के हृदय तक मीठे बनने की सम्भावना स्थिति-तर्क के कारण ही बहुत अधिक नहीं रह जाती है। किसी एक ओर, शायद भारत की ओर, से ही आशा हो सकती है कि यदि राजनीति पूरी तौर पर मानव-नीति तक उठ आये, तो तनाव शान्त हो सकता और पूरा सौमनस्य सम्भव बन सकता है। पर उसमें समय लगता दीखता है।

गांधी-हत्या का प्रभाव शुभ हुआ था। दुनिया भर में, और पाकिस्तान में, लोगों के दिल हिल गये थे और गांधी-जीवन का सन्देश जैसे उनके मनों को हठात् छू गया था। वैसी गहरी तितिक्षा फिर किसी कारण जागे, तो बात दूसरी है; अन्यथा जिस ढंग से चीजें चल रही हैं, उसमें खाई को पाटनेवाली कोई सम्भावना जाहिरा दीखती नहीं है।

गांधी के भूत से भयभीत

१४४. ऊपर आपने गांधीजी को केवल दूर से और दिमाग से जाननेवालों के वर्ग का जिक्र किया। आपने कहा कि वे लोग गांधीजी के भूत से डरे रहते थे। कृपया

इस उक्ति पर और स्पष्ट प्रकाश डालें और बतायें कि गोडसे ऐसे किन लोगों का प्रतिनिधित्व करता था?

—जिन्होंने गांधीजी को मुसलमानों का दोस्त और हिन्दुओं का दुश्मन माना, ऐसा मानकर खुद संशय-निवारण के लिए गांधी के पास नहीं आये और दूर से अपनी मान्यताओं को कट्टर बनाते चले गये, गोडसे को उन सबके मानस का खण्ड ही कहना चाहिए। इससे आगे वह वर्ग कौन क्या था, इसमें राजनीति को रस हो, आप और मैं उससे मुक्त रह सकते हैं।

हिन्दू-राष्ट्रवाद

१४५. वीर सावरकर आदि के हिन्दू-राष्ट्रवाद के विषय में आपका क्या मत है? क्या यह राष्ट्रवाद भारत के लिए उपयोगी है?

—किसी भी प्रकार के बन्दपन का समर्थन मेरे पास नहीं है। वाद स्वयं में एक बन्द भाव है और जिस शब्द के साथ लगता है, उसके अर्थ को भी कुछ बन्द बना देता है। राष्ट्रवाद, जातिवाद, मतवाद में वाद के कारण राष्ट्र, जाति, मत आदि सब शब्द मानो कुछ कटकर अलग और बन्द बन जाते हैं, सामान्य भाषा-प्रवाह के वे नहीं रह जाते। अभी एक प्रगतिवाद शब्द चलता था। वह प्रगति सामान्य भाषा की नहीं थी, उसकी अपनी विशिष्ट परिभाषा हो गयी थी। इस तरह वादपूर्वक राष्ट्र मानो कुछ बन्दपने (एक्सक्यूलिविज्म) को अपना लेता है। हिन्दू-राष्ट्रवाद तो जैसे उसको और सँकरी घेराबन्दी दे देता है। हिन्दू-शब्द में आरम्भ में कोई घिरा भाव नहीं था। भारत-राष्ट्र या हिन्दू-राष्ट्र उस समय एक अमुक लोक-जीवन का नाम था। आज राजनीति बहुत मुखर और प्रबल हो गयी है, तो उसने राष्ट्र की भौगोलिक सत्ता को प्रधानता दे दी है। वाद जोड़कर मानो उसे और भी एकांगी बना दिया जाता है। इसलिए कुल मिलाकर हिन्दू-राष्ट्रवाद वह भाव देता है, जिसके लिए मेरे मन में तनिक भी आकर्षण नहीं है।

जातीय राष्ट्रवादों की उत्पत्ति

१४५. हिन्दू-राष्ट्रवाद अथवा मुस्लिम-राष्ट्रवाद अथवा अन्य जातीय राष्ट्रवादों की उत्पत्ति और उनके विकास की जिम्मेदारी आप विदेशी शासन पर डालते हैं अथवा उनका स्रोत अपने ही धार्मिक और सांस्कृतिक जन-जीवन में पाते हैं?

—कारण सदा द्विमुखी होता है। अद्वैत इसी द्वन्द्व द्वारा प्रकट और सिद्ध होता है। अर्थात् आन्तरिक चेतना और बाह्य परिस्थिति इन दोनों दबावों के बीच में से घटना और क्रिया फलित हुआ करती है।

राष्ट्रवाद स्वयं एक राजनीतिक भाव और शब्द है। शासन में उसकी स्पृहा रहती है और वहींसे तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया भी जन्म लेती है। अर्थात् विदेशी शासन ने भारत में राष्ट्रवाद के लिए कारण उपस्थित किया और उसको प्रबलता दी। भारत का स्वराज्य सामने आता दिखाई देने लगा, तो मुस्लिम-राष्ट्रवाद और हिन्दू-राष्ट्रवाद की उत्पत्ति का कारण बन गया। जब शासन का सपना दूर था, स्वराज्य के भोग की कल्पना भी न थी, केवल उसके लिए बलिदान की बात ही ध्यान में आती थी, तब वह स्वराज्य हिन्दू या मुस्लिम नहीं दीखता था। उस समय वे दोनों बिना भेद-भाव के उसके लिए अपनी कुरबानी देने आगे आते थे।

अपने बीच में ही हम प्रेम पाते हैं, जिसमें स्व में पर के लिए समर्पण का भाव होता है; साथ ही वैर भी पाते हैं, जिसमें स्व में पर के नाश की इच्छा होती है। ये दोनों भाव हमारे भीतर से आते हैं और बाहरी दबावों के अनुसार अदलते-बदलते हैं। राष्ट्रवाद के जन्म में इन बाहरी दबावों को राजनीतिक इतिहास में से खोजा-परखा जाता है। लेकिन चेतना के क्षेत्र में तो आप मान ही लीजिये कि विनम्र धर्म-भाव, जहाँ आत्म-विसर्जन की प्रेरणा काम करती है, संस्कृति की सृष्टि करता है और सदर्प कर्मभाव राजनीति की रचना रचता है।

विभाजन में अंग्रेजों का हेतु

१४७. भारत को विभाजन तक पहुँचा देने में और उसके सामने-आगे शतशः विभाजन की स्थिति पैदा कर देने में अंग्रेजों ने क्या स्वार्थ सोचा? क्या उनके मन में मात्र प्रतिशोध की भावना ही काम कर रही थी अथवा कुछ और भी था?

—अंग्रेज जाति अंग्रेज व्यक्ति की तरह कोई एक घटक नहीं है। अर्थात् जातीय अन्तःकरण जैसा कुछ स्पष्ट सामने नहीं है। पार्लियामेण्ट को ही आप वह स्थान दे सकते हैं या पार्लियामेण्ट के भी प्रतिनिधिरूप प्राइम मिनिस्टर को। तो यह विभाजन लेबर-पार्टी के प्रधानमन्त्री एटली के काल में हुआ था। उनके मुँह के शब्दों को या किसी भी दूसरे प्रधानमन्त्री के मुँह के शब्दों को लिया जाय तो वहाँ सब भला ही भला दिखाई देगा। अर्थात् सचेत मन ऊँची भाषा और ऊँचे हेतुओं को सामने रखकर काम किया करता है। लेकिन वह मन के बहुत थोड़े अंश को ही व्यक्त करता है, उसके पीछे बहुत कुछ पड़ा रहता है, जो शब्दों की पकड़ में नहीं आया करता और अवचेतन कहा जाता है। इसलिए अंग्रज़ जाति के हेतुओं को बाँध देने का काम मुझको या किसीको करना नहीं चाहिए। एक भगवान् ही है, जो सब जानता है।

इसीलिए यह घटना इतिहास में सिवा भारत के कहीं नहीं मिलती कि अंग्रेजी राज हारकर हटा, तो भी एक अंग्रेज माउण्टबेटन को इस देश ने स्वेच्छा से अपना पहला 'राष्ट्रपति' बनाया। यह अचम्भा सम्भव हुआ गांधी के कारण। भारत का स्वराज्य-युद्ध गांधी की अहिंसक नीति से जो लड़ा गया, उसका ही यह आश्चर्यजनक परिणाम आया। शासक अंग्रज में क्या अनिष्ट और कलुष काम करता रहा था, इसमें जाने की आवश्यकता नहीं है। हम सब अपनी छोटी-मोटी सम्पत्ति बनाकर स्वत्व-गर्व में रहा करते हैं। सम्पत्ति और स्वत्व छूटता और छिनता है, तो सब अनुभव कर सकते हैं कि क्या बीतता है। उस स्वत्व-सम्पदा को बचाने के लिए हम जाने क्या-क्या तर्क और उपाय नहीं रच डाला करते? वह सब खेल शासक अंग्रेज ने खेला हो और युक्तियाँ चली हों, तो कुछ भी असंगत और अनहोनी बात नहीं है। वह राग और मोह जाते-जाते भी न मिटा हो, स्वयं देश-विभाजन में भी वह काम कर रहा हो, तो भी कुछ विस्मय नहीं होना चाहिए। राजनीतिक तथ्य तो ऐसे भी सामने आये हैं कि स्वराज्य के बाद भी वह दुष्प्रवृत्ति छिपे-छिटके अपना काम करती ही रही है। उस सबके ऊपर यदि जातीय रूप में अंग्रेज ने अपना पाँव वापस खींचा और एक तरह स्वेच्छा से भारत को स्वराज्य दिया, तो इस 'प्रदान' की अहिंसक-पद्धति में अवश्य गांधी-नीति का प्रभाव रहा। यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उस नीति के कारण शासन-हस्तान्तरण में विधि का और मन का सौन्दर्य रहा, पर उस कृत्य और घटना की अनिवार्यता केवल नीति में से नहीं बन आयी, वह तो सचमुच शक्ति में से ही फलित हुई। अर्थात् भारत देश में से वह शक्ति प्रकट हो सकी थी, जिससे उसके राजनीतिक स्वराज्य को रोकना अंग्रेज के बस का नहीं रहा। उस शक्ति के प्रादुर्भाव का अभिन्न सम्बन्ध राजनीति में गांधी-नीति के आविर्भाव से था, इसे किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता। गांधी इसीलिए महात्मा के अतिरिक्त समाज-शास्त्रियों और लोक-नेताओं के लिए अध्ययन और अनुगमन के विषय हो जाते हैं कि नीति ही उन्होंने नहीं दी, बल्कि शक्ति भी प्रकट कर दी; और शक्ति ही नहीं दी, बल्कि समग्र कार्यक्रम की एक संगत श्रृंखला भी दी। केवल नीति से नहीं चलता, केवल शक्ति से भी नहीं चलता। तदनुकूल व्यवस्थित कर्म भी चाहिए। ये तीनों आवश्यक तत्त्व गांधीजी से मिलते गये, इसका यह परिणाम हुआ कि अंग्रेजों के अवचेतन में और भारतवासियों के अवचेतन में भी कितना ही मैल चाहे पड़ा रहा हो, स्वराज्य के आगमन की विधि अभूतपूर्व रूप से सुन्दर सद्भावमय रही!

प्रतिशोध एक दुतर्फा भाव

गांधी मार्ग-द्रष्टा थे, आत्मनेता थे, राजनेता नहीं। राजकर्म के लिए उनके निकट माध्यम बनी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस। तब कांग्रेस के अवचेतन में पड़ा हुआ जो कुछ था, वह रंग लाये बिना कैसे रहता? उस स्वराज्य के साथ मुस्लिम-हिन्दू-राज्य की कल्पना, और उन कल्पनाओं पर नर-हत्या, हुई तो भीतर पड़े हुए उस विष के कारण हुई, जिसको गांधी का अमृत काट नहीं सका था। काट इसलिए नहीं सका था कि आत्मिक गांधी को शायद हमने व्यर्थ किया था और राष्ट्रीय और कर्मिक गांधी तक ही अपने स्वार्थ को सीमित रखा था। उस सीमा के पार हमारे मन के जहर तक अगर अमृत-प्रभाव नहीं पहुँच पाया, तो यह हम पर है कि चाहे तो उस प्रभाव को दोष दें और चाहें तो अपने को, अपने स्वार्थ-राग को, दोष दे लें कि उसने हमारी दृष्टि को इतना ओछा और नेता के प्रति हमारे समर्पण को इतना अधूरा क्यों कर दिया!

प्रतिशोध एक ऐसा भाव है जो एक ओर से ही नहीं टिक पाता है। अंग्रेजों में जो रहा सो रहा, भारतीय होकर हमें तो यही सोचने को रह जाता है कि गांधी के बावजूद क्या हममें भी वह भाव था? यदि अब भी उसका शेष बचा हो तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कामनवेल्थ के द्वारा हम अपना पूरा दान नहीं दे सकेंगे, यह निश्चय मान लेना चाहिए।

पटेल द्वारा देशी-राज्यों का विलय

१४८. देशी-राज्यों की समस्या को सरदार पटेल ने जिस भाव और विधि से सुलझाया और जिस प्रकार उन्होंने विदेशी शासन के इन मोहरों को निरस्त्र किया, उससे क्या आप सहमत हैं? यदि ऐसा वे न कर पाते, तब आपकी राय में भारत की एकता का क्या भविष्य रहता?

—सरदार पटेल की विजय राजनीतिक विजय है। उसके प्रति प्रशंसा का ही भाव हो सकता है। अवश्य सम्भव था कि विदेशी कूटनीति इन देशी-राजाओं की आड़ लेकर देश की एकता और व्यवस्था में विघ्न और बाधा उपस्थित कर आये। उन सब अनिष्ट सम्भावनाओं को सरदार के इस दाँव ने एक साथ छका और हरा डाला। मेरा यह भी मानना है कि सरदार की यह सफलता दुस्साध्य हो जाती, अगर कोरे शक्ति के प्रदर्शन के बल पर ही की जाती। सरदार में संकल्प का बल था, ठाट-बाट एकदम कहीं भी उनके पास नहीं था। अर्थात् आतंक से ही नहीं, साधारण सहजता और सज्जनता के साथ चल सकने के कारण वह सफलता उनको मिली।

केवल राजनीतिक विजय

आशय को आप समझें। वह आशय यह कि राज्य की नीति में सहज मानव की नीति मिल रही, तभी सरदार को सफलता भी मिलती गयी। सरदारी तो उनके पास थी ही, साथ साधारणता भी उनके पास भरपूर मात्रा में थी। यह योग सफलता के लिए मन्त्र सिद्ध हुआ।

फिर भी कुल मिलाकर विजय वह राजनीतिक थी। क्या ही अच्छा होता कि वह इससे अधिक भी होती; अर्थात् राजा लोग, जो राज्यों के विलय के बाद राजा ही नहीं रह गये, अपने को वंचित नहीं, कृतार्थ अनुभव करते और आगे जाकर देश की विधायक राजनीति में, उसके प्रशासन आदि कामों में, सहयोगी और सहायक बनने को आगे आते। कुछ यदि उनमें पराजित और परास्त अनुभव करते रहे, मन में द्रोह पोसते रहे, तो वह भाव भारत के लिए घाटे का ही कारण बना। गांधी के लिए सम्भव हो सकता था कि काम ऐसी खूबी से हो कि राजाओं पर से सिर्फ राजत्व उतरे और जाये, पर मानवत्व उन पर और चमक आये। वे उस कारण अतिरिक्त उपयोगी नागरिक बनें। लेकिन वह बात शायद आपके प्रश्न से आगे की है।

कश्मीर-समस्या

१४९. सरदार पटेल कश्मीर के मामले में मैं समझता हूँ कि बहुत दूर तक असफल रहे। यदि भारतीय फौजें जब बढ़ रही थीं, तब आगे बढ़ती जातीं और राष्ट्र-संघ के दबाव में आकर युद्ध-विराम को स्वीकार न कर लेतीं, तो सारे कश्मीर पर भारत का कब्जा होता और समस्या उतनी न उलझती। आप इस परिस्थिति के लिए नेहरू को अधिक जिम्मेदार ठहराते हैं अथवा सरदार को?

—राजनीति में मैं नहीं जाऊँगा। वह केवल शक्ति की नीति है। केवल राज-शक्ति में से जो फलित होती है, वह नीति भी है, इसीमें मुझे संशय है।

भारत की मजबूती

बढ़े-चढ़े सैन्य-शस्त्रबल से भारत पाकिस्तानियों को हराकर सारे कश्मीर पर कब्जा कर लेता और आज तक किये रहता, तो मेरे लिए यह किसी गर्व और गौरव की बात न होती। अब भी मैं मानता हूँ कि भारत के पक्ष में जो मजबूती है, वह फौज़ी बलाबल की नहीं है। वह तो यह है कि कश्मीर में भारत वहाँ की जनता और व्यवस्था के प्रतिनिधियों की माँग पर है और तब तक के लिए है, जब तक आम मतदान से इससे अन्यथा सिद्ध नहीं हो जाता।

हमारी फौजें वहाँ पहुँचीं और हैं, तो उनका बल इसलिए कायम और अर्थकारी है कि पंडित नेहरू का मन इस बारे में निश्शंक है कि यह क़दम जायज ही नहीं, बल्कि दायित्वपूर्णता और कर्तव्यता का था। हिन्दू-मुस्लिम-विचार वे अपने लिए संगत नहीं मानते और यह तर्क कि कश्मीर में मुसलमानों की आबादी अधिक है, पंडित नेहरू को उस सम्बन्ध में उनके कर्तव्य से मुक्त नहीं कर देता है।

न्याय का बल

न्याय का यह बल न हो, तो फौज का बल आज के दिन दुनिया में मुश्किल से ही काम कर सकता है, यह समझने और समझाने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। युद्ध-विराम यदि भारत को स्वीकार हुआ, तो अवश्य राजनीतिक स्थिति के सन्तुलन की दृष्टि से वह अनिवार्य रहा होगा। नेहरू-पटेल को यहाँ अलग देखना गलत है। शक्ति के भरोसे में युनाइटेड नेशन्स की बात को ठुकराना भारत या पाकिस्तान किसीके हित में नहीं हो सकता था।

●

३

संविधान, दलीय प्रजातन्त्र, निर्वाचन

भारतीय संविधान

१५०. भारत के संविधान के विषय में आपका क्या मत है? क्या हमारा संविधान भविष्य के किन्हीं भी सम्भावित मतभेदों, संघर्षों अथवा गृहयुद्धों को सुलझाने की सामर्थ्य रखता है और क्या इसके सहारे भारतीय शासन का प्रजातान्त्रिक एवं संसदीय स्वरूप बना रह सकता है?

संसदीय पद्धति अधूरी

—मैंने विधान पढ़ा तक नहीं है। वह मूल अंग्रेजी में बना, इसीमें आ जाता है कि बहुत कुछ है उसमें जो उधार है, अनिवार्य नहीं है। उसमें आरम्भ में ही भाषा है कि "हम भारत के लोग इस (संविधान) को आत्मार्पित करते हैं।" किन्तु सच यह कि वैधानिकों द्वारा संविधान राष्ट्र को दिया गया था। विधान एक संसदीय तन्त्र भारत को देता है। यह संसदीय स्वरूप गांधीजी को बहुत आश्वासन देनेवाला न था। मैं भी मानता हूँ कि यह संसदीय व्यवस्था शासक वर्ग के लिए सार्वजनिक असन्तोष को वाद-विवाद द्वारा बाहर फेंक देने का सुविधाजनक जरिया देती है, अधिक नहीं। लोकमत का दबाव उस द्वारा उतना प्रशासन पर नहीं आता, जितना प्रशासक वर्ग को जनमत के प्रति विश्वस्त बनाये रखने में मदद देता है। पार्लियामेण्टरी पद्धति आज के जमाने में साफ ही अधूरी सिद्ध हो रही है।

संविधान पेचीदा

भविष्य की दृष्टि से मालूम होता है कि कुछ सुगम पद्धति का निर्माण होगा। कम्यु-निस्ट विधि में इतने उलझाव और पेंच नहीं हैं। यदि प्रगति हमारी इस ओर होनी है कि शासन का तन्त्र अलग से होने की आवश्यकता शनैः-शनैः निःशेष हो जाय, यथावश्यक नियन्त्रण समाज-शरीर में आप ही गर्भित और सक्रिय हो, तो संविधान सरल से सरलतर होता जायगा और शासन की मशीन मनुष्य की प्रतिभा को उत्तरोत्तर अवकाश दिया करेगी, उसको अकृतार्थ नहीं करेगी। भारत का संविधान भारतीय जीवन की आवश्यकताओं में से उतना नहीं निकला है, जितना कि और जगह के कई नमूनों पर से उतार कर लिया गया है।

संविधान का प्रश्न मेरी दृष्टि से वैसे भी दोयम है। अन्त में तो वह पात्र है। मुख्य प्रश्न यह रहता है कि उस पात्र में क्या चित्तत्त्व है?

संविधान दोयम, प्रथम चित्तत्त्व

संविधान की चिन्ता मुझे होती नहीं है। नीचे से प्राणतत्त्व यदि उपजता और उगता आता है, तो फिर यह प्रश्न बहुत विवाद का नहीं रहता कि वृक्ष का आकार क्या होगा। स्वतः उसको जितना आकार लेने दिया जाता है, उतना अच्छा है। महत्ता ऐसे ही उदय में आती है। लेकिन आकार-प्रकार में भी हमें रस हो तो उमगते आते हुए जीवन को अमुक आकार-प्रकार में भी हम सजा दे सकते और अपने मन का परिच्छद पहना दे सकते हैं। मेरा ध्यान यदि है तो इस मूल की ओर है, जिसका विचार संविधान से छूट जाता है।

चुनाव-पद्धति में संशोधन की आवश्यकता

मुद्दे की बात संविधान में वयस्क चुनाव की है। मनों को जोड़ने की दृष्टि से चुनाव कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है। फिर भी शायद अनिवार्य तो वह होता है। किन्तु वहाँ मौलिक संशोधन की आवश्यकता है। चुनाव में से निष्पन्न यह होना चाहिए कि शिखर समाप्त हो जाय, समाज का संस्थान स्तूपाकार बमी जैसा न हो। ऊपर के वर्ग नीचे के स्तर पर जब दबाव डाले रहते हैं, तो श्रम चुसता है, धन पुजता है। इसमें मानवता की हानि है। समाज का विकास समान भूमि पर (हौरीजोण्टल) होना चाहिए। इस पर हमारा ध्यान हो, तो चुनाव-क्षेत्र का घटक छोटा हो जायगा, पाँच-एक हजार तक की आबादी से बड़ा वह न होगा। इस छोटे क्षेत्र का यह सुभीता है कि सब परस्पर परिचित होंगे; प्रचार, धन, आतंक के प्रभावों को काम करने का अवकाश उतना न रहेगा और चुनाव में चरित्र प्रधान बन सकेगा। साथ ही यह सम्भावना भी होगी कि चुना गया केन्द्रीय से केन्द्रीय पुरुष श्रम से छूटेगा नहीं। राजा सिर्फ राजपना करे, श्रम करे ही नहीं, तो धीरे-धीरे वह आदमी कम हो जाता है और मूरत ज्यादा बन जाता है। तरह-तरह के आडम्बरों से उसे ऊँचे उठाये रखना जरूरी होता है। समाज की व्यवस्था में उस कृत्रिम बल का जो उपयोग किया जाता है, वह सत्य को पीछे डाल देता है और बनावट के महत्त्व को बढ़ा देता है। समूची राज्य-संस्था में यह दोष समाया हुआ है और भारतीय संविधान उससे बरी नहीं है। प्रकट है कि समाज का नक्शा हमारे मन में ढेर के मानिंद है, जिसमें ऊपर शीर्ष पर बैठा राजा है। वह जो करे सो ठीक है, सब भोग उसे जायज़ हैं, सब खर्च उसके लिए कम हैं। ढेर में नीचे बुनियाद पर मेहनती आदमी हैं, जिसके

कन्धे सब आरामदारों का बोझ सँभालने के कारण झुके हैं और दिन-रात कड़ी मेहनत में पसीना बहाना जिसका काम है। राज्य को प्रधान बनाने के पीछे जैसे समाज का यही ऊँच-नीचवाला मंजिल-दर-मंजिल 'वर्टिकल' नकशा हुआ करता है।

प्रशासक का महत्त्व बढ़ा-चढ़ा

यों संविधान से हम गणतन्त्र हैं। लेकिन अर्थ-रचना ऐसी है कि गणतन्त्रता में से समानता नहीं फलित होती। प्रशासक का महत्त्व नागरिक से बढ़ा-चढ़ा रहता है। इससे जरा बढ़ जाने पर हर कोई अफसर बना चाहता है, नहीं तो अपने को वंचित मानता है।

राज्य का ऐसा संविधान भविष्य के सम्बन्ध में मेरे मन में से आशंकाओं को निर्मूल नहीं कर पाता है।

१५१. आपके उपर्युक्त उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हूँ। कई प्रश्न शेष हैं। क्या हमारा संविधान वर्तमान अथवा भावी के प्रशासकों पर नियंत्रण रखने में समर्थ है? अथवा वह प्रशासकों की कामनाओं के हाथों में एक खिलौनामात्र है?

प्रशासन, राष्ट्रपति, न्याय, हिसाब

—प्रशासक अर्थात् एक्ज़िक्युटिव। कानून को पालन कराने का काम प्रशासन या सरकार का है, बनाने का काम सदन का होता है। सदन दो सभाओं का मिलकर है और प्रशासन-यन्त्र बहुमतवाले दल के मन्त्रिमण्डल के हाथ आता है। थोड़े में हमारे विधान का यह स्वरूप है। किन्तु मन्त्रिमण्डल के ऊपर राष्ट्रपति है, जिसका सीधा चुनाव होता है, दलों से उसका सम्बन्ध नहीं माना जाता। मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस बारे में अभी कुछ विवाद की स्थिति बनी है, लेकिन सामान्यतया इंगलैण्ड के राजा के समान राष्ट्रपति की केवल वैधानिक सत्ता है, मन्त्रिमण्डल की 'सलाह' को वह किसी स्थिति में अमान्य नहीं कर सकता है।

न्याय और हिसाब-जाँच के विभाग प्रशासन के अधीन नहीं हैं और वे सीधे राष्ट्रपति से अपना अधिकार प्राप्त करते हैं।

इस भाँति एक्जेक्युटिव की रोक-थाम के लिए सदन, राष्ट्रपति, न्याय और हिसाब-जाँच के विभाग रह जाते हैं।

कार्यकारी और नैतिक

इतनी तो विधान की बात। किन्तु वस्तुस्थिति सदा व्यक्तियों से बनती और चलती

है। अधिक सम्भव मन्त्रिमण्डल के लिए है कि अपने को सत्तावान् अनुभव करे। कारण, उसके पीछे राष्ट्र का और सदन का बहुमत समझा जाता है और उसके हाथ में पावर रहती है। पावर का अर्थ है धन और जन के विनियोग का अधिकार। नाना भाँति के करों से प्राप्त हुई राशि और वेतनभोगी सर्विसेज़ के लोग मन्त्रिमण्डल के अधीन रहते हैं। दूसरी चीजें विवेक के प्रतिनिधि के तौर पर काम करती हैं। रोक-थाम और जाँच-परख उनका काम है। शेष में देश का जन-संचालन, अर्थ-संचालन, नीति-संचालन, सम्बन्ध-संचालन आदि का सब काम एक्जेक्युटिव के द्वारा होता है। यों कह सकते हैं कार्यकारी समस्त बल एक्जेक्युटिव के पास है, नैतिक बल राष्ट्रपति, न्याय और आडिट के पास है।

दोनों का सन्तुलन

नीति-बल और शक्ति-बल के सन्तुलन पर राज्य-व्यवस्था चलती है। असन्तुलन हो सकता है और वह किसी भी दिशा से आ सकता है। शक्ति नीति को अँगूठा दिखा सकती और उस ओर से निरंकुश होने की चेष्टा कर सकती है। उधर नीति शक्ति के रंग-ढंग पर क्षुब्ध और रुष्ट हो सकती है। अन्त में इन दोनों पक्षों के तार-तम्य पर लोकमानस और लोकमत का प्रभाव पड़ता है।

मुख्य चीज : समाज-मूल्य

शक्ति का स्रोत इस भाँति स्पष्ट है। मूल में करोड़ों लोगों की भावनाओं के पास उसे देखा जा सकता है। इसीलिए मुख्य बात यह हो आती है कि प्रचलित समाज-मूल्य क्या हैं? समाज़ के अन्तस् में कौन बैठा है, कौन समाज-मानस को रूप दे रहा है? सेवा और समर्पण-भाव द्वारा यदि एक वर्ग जनता के मनों में पहुँचता और वहाँ अमुक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है, तो नयी शक्ति का उदय हो सकता है और सहज भाव से राज्य-क्रान्ति सम्पन्न हो सकती है। इस लोकनीति से स्वतन्त्र होकर यदि राजनीति के ही धरातल पर कुछ दल-विग्रह चलता है, तो उसकी मुझे यहाँ चर्चा करनी नहीं है। कारण, सुनते हैं कि शेर और सुअर की लड़ाई में निश्चित रूप से भविष्य-वाणी करना कठिन है कि परिणाम क्या होगा और कौन जीतेगा। उस प्रकार के सब अनुमानों में जाना अनावश्यक है। कारण, वहाँ व्यक्तियों के बलाबल की प्रतिद्वन्द्विता ही चलती है, जिसको पावर-पॉलिटिक्स, सत्ता-राजनीति कहा जाता है।

संविधान नहीं, मानव-तत्त्व निर्णायक

संविधान स्वतः नियन्त्रण नहीं रख सकता। आज भी मन्त्रिमण्डल, यद्यपि वह प्रशा-

सन का अंग है, सर्विसेज की ओट लेता देखा जाता है। डिमोक्रेसी एक ऐसी फैली हुई चीज है कि इसमें दोष एक-दूसरे पर डालने और स्वयं बचने का यत्न और अवसर हो सकता है। अन्त में इन्क्वायरी-कमेटी जैसा साधन आता है कि दोष कहीं बाँधा जा सके। चुनाव और बहुमत द्वारा नियुक्त मन्त्रियों की कुशलता, नीतिमत्ता और निःस्वार्थता पर निर्भर करता है यह कि नीचे का प्रशासक कैसे काम करता है। यह क्षेत्र तन्त्र से परिभाषा पाकर भी अन्त में मानवीय रह जाता है और मानव-तत्त्व के अनुसार उसका गुण-निर्णय होता है।

अगर समाज में बल और आत्मनिष्ठा नहीं है, तो उसके प्रतिनिधि भी निर्बल हो सकते हैं। तब प्रशासकों की ही बन आये, तो इसमें कोई विस्मय नहीं है। ठीक आज सन् १९६१ की स्थिति सचमुच ऐसी मालूम होती है कि सबसे समर्थ और स-साधन व्यक्ति आज सरकारी अफसर है, सामान्य नागरिक स्वयं में असहाय और असमर्थ है। अफसर का पृष्ठबल पाते ही वह ऊँचा उठ आता है, अन्यथा समाज में मानो मुरझाये जाना ही उसके बस का रह जाता है।

नैतिक धारणाओं का सहारा

विधान के शब्द और कागज का कितनों को पता है। उसका आप बहुत भरोसा मत बाँधिये। करोड़ों की जनता उस भरोसे नहीं रहती। जिस सहारे करोड़ों आदमी आपसी व्यवहार चलाते हैं, वह अलिखित प्रचलित नैतिक धारणाएँ हैं। उस मूल्य का ही विचार अन्त में सार्थक एवं आश्वासन का साधन हो सकेगा।

राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री

१५२. आपने राष्ट्रपति को नैतिक बल का प्रतीक बताया है और प्रधानमन्त्री को शक्तिबल का। पण्डित नेहरू और राजेन्द्रबाबू के बीच अभी कुछ दिन पहले के दृष्टिभेद को ध्यान में रखते हुए बताइये कि नीति-बल कितनी दूर तक भारतीय प्रशासन को नियन्त्रण में रखने में समर्थ है अथवा आगे होगा ?

न्याय्य शक्ति चलती है

—मेरा विश्वास है कि जगत् ईश्वरीय नियम से चलता है। शक्ति स्वयं नीति में से शक्ति पाती है। क्या आज और हिन्दुस्तान में, क्या कल और कहीं भी, यही हुआ और हो सकता है। मानव-क्षेत्र में नंगी शक्ति नहीं चलती, उत्तरोत्तर न्याय्य शक्ति चलती है, इस पर श्रद्धा रखी जा सकती है। श्रद्धा में यह तो समाया ही है कि मनुष्य पशुता से क्रमशः मानवता और पूर्णता की ओर जा रहा है। इस क्रम के तारतम्य पर अधीर होने की आवश्यकता नहीं है।

जन-मानस की स्वीकृति किसे ?

यह जब कि श्रद्धा की बात है, तब जो असल और संगत है वह यह कि लोक-मानस को और कर्मव्यूह में पड़े लोक-नेताओं को स्वयं कैसा लग रहा है। अर्थात् यदि पण्डित नेहरू को अपना बल प्राइम मिनिस्टर के पास जो 'पावर' है, उसमें मालूम होता है, और राजेन्द्रबाबू को प्रेसिडेण्ट के पास जो सीधी 'पावर' का अभाव है, उस कारण अबलता अनुभव होती है, तो पावर की शक्ति जीतेगी। क्योंकि उस स्थिति में दूसरी शक्ति कहीं रह नहीं जाती। यहाँ याद रखना चाहिए कि प्रेसिडेण्ट की शक्ति सांविधानिक है और इस तरह स्वयं शक्ति-बल से पूरी तरह मुक्त नहीं है। हाँ, यदि राजेन्द्रबाबू प्रेसिडेण्ट न होते, जन-मानस में बैठे हुए उसके मान्य नेता होते, तब अवश्य जवाहरलालजी के साथ की उनकी असहमति में अधिक और अमित बल हो सकता। पर उन सब अनुमान और कल्पना की बातों को छोड़ दीजिये।

लोकनीति अंकुश बनेगी

यह निश्चित मान लीजिये कि अन्त में करोड़ों लोगों का विश्वास-बल और प्रेम-बल निर्णायक होगा। आखिर इसीलिए सब राजनीतिक दल और व्यक्ति जनता को रिझाने और उनकी मानस-कल्पना को पकड़ने की कोशिशें किया करते हैं। जनता समझती जा रही है कि राजनीतिक नेता वह है जो आगे-पीछे राज्य पर जाना चाहता है, इसीलिए शायद असल नेता वह नहीं हो सकता। असल नेता शायद कोई वह होगा, जिसका जीना-मरना जनता के साथ है, राज्य पर बैठना जिसके मन में और भाग्य में कभी है ही नहीं। नेतृत्व की यह पहचान जनता की चेतना में हो जायगी, तब मानो राजनीति के लिए लोकनीति अंकुश भी बन आयेगी, जो उसे युद्ध की भाषा में सोचने नहीं देगी और युद्ध ठानने की क्षमता को उससे छीन लेगी।

१५३. बहुदलीय प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली में कितने भी दोष क्यों न हों, एक महत्त्वपूर्ण गुण उसमें है कि जब-जब आवश्यकता होती है, वैधानिक एवं राजनीतिक क्रान्तियाँ सहज अहिंसक रूप में होती चलती हैं। तथाकथित एकदलीय कम्युनिस्ट शासन-प्रणाली में मैं समझता हूँ, यह सुविधा नहीं और वहाँ लोकमानस को उतनी खुली हवा नहीं मिल पाती। इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए बताइये कि हमारा संविधान क्या वास्तव में संरक्षणीय नहीं है ?

कश्यप या कशिपु

—मैं उस सुविधा को बहुत महत्त्व नहीं देता हूँ। उस सुविधा का अर्थ है कि अहिं-

सक सत्याग्रही को प्रजातन्त्र में जल्दी सिर नहीं देना पड़ता, बहुत दूर तक वह खुलकर काम कर सकता है। वह जल्दी शहीद न होने को मैं कोई बड़ी सुभीता नहीं मानता हूँ। प्रह्लाद इस आश्वासन पर बहुत नहीं होने लग जायँगे कि उसके पिता कशिपु नहीं हैं, बल्कि कोई कश्यप हैं, जो सज्जन हैं। अहिंसा को सुविधा देने के खयाल से भारतीय प्रजातन्त्र का समर्थक होना मुझे मान्य नहीं है। अहिंसा वह सत्याग्रही नहीं है जो अपेक्षा रखती है कि सामने की हिंसा उसका लिहाज करे और कृपा-पूर्वक कुछ कम निर्दय और कम क्रूर बने।

कम्युनिस्ट तन्त्र में नेतापने का धन्धा नहीं

कुल मिलाकर मैं एक-दलीय कम्युनिस्ट तन्त्र का इसलिए प्रशंसक और समर्थक हूँ कि राजनीति की स्पर्धा और राजनीति का धन्धा उस कारण समाप्तप्राय हो जाता है। आज क्या हालत है? हर पढ़ा-लिखा आदमी मानो उस धन्धे को अपनाना चाहता है, क्योंकि वही सबसे ज्यादा फल देता मालूम होता है। पोलिटिकल कैरियर मानो हर किसीके लिए खुला है। हल्दी लगे न फिटकरी, तनिक तीन-पाँच और जोड़-तोड़ से आपको लगता है कि जिन्दगी में रंग चोखा आ जाता है। बहु-दलवाद ने हमारे बीच में यह वातावरण पैदा कर रखा है। सोचिये कि कितनी मानव-शक्ति का इस तरह अपव्यय होता है। रचनात्मक किसी काम में लोग लग नहीं पाते। बस, जोड़-जुगत में रहते हैं और सारे जन-मानस में तनाव पैदा कर देतें हैं। यह भयंकर व्याधि है कि हर जवान काम की न सोचे, नेतापने की सोचे; उत्पादन में न लगे, उत्पादकों को रास्ता और रोशनी दिखाने का काम ही अपना मानता रहे। इसको मैं अहिंसा नहीं कहता हूँ, शिथिलता कहता हूँ। बहुदलवाद की स्वतन्त्रता और सुविधा के नाम पर प्रजातन्त्र अगर शिथिलाचारी रहेंगे, तो किसी नीतिवाद और अहिंसा की ओट उनकी रक्षा नहीं कर सकेगी। कम्युनिस्ट-राज्य में मैंने देखा कि सबके पास काम है, हर आदमी आठ घण्टे काम करता है। राजनीतिक नेतृत्व वहाँ आराम की बात नहीं है, बड़ी मेहनत और काम की वहाँ जरूरत होती है। यहाँ दिल्ली में रहकर अनेक पार्लियामेण्ट के सदस्यों को मैं जानता हूँ, जिन्हें भत्ता भरपूर मिलता है, लेकिन काम एकदम नहीं। तीन-चौथाई सदस्य ऐसे होंगे, जिन्हें हर घड़ी पता रहता है, वे एम० पी० हैं; लेकिन एक घड़ी के लिए भी सुध नहीं होती कि उन्हें इस कारण करना क्या है। भत्ता बनाने और मुफस्सिल में या अपने निर्वाचन-क्षेत्र में नेतापन जमाने के काम को अवश्य जानते हैं। इससे आगे जैसे पता रखने की उन्हें आवश्यकता नहीं रहती।

प्रजातन्त्र क्या अनाचार का ही दूसरा नाम रहे ?

प्रजातन्त्र यदि शिथिलाचार, भोगाचार, धनाचार और भ्रष्टाचार और समाज की तलहटी में अनाचार, कुत्सित और बीभत्स दुःख-दैन्य के दृश्यों का ही नाम हो, तो मैं उसका समर्थन नहीं कर सकूँगा। सच यह कि राज्य-निर्भरता यदि बढ़नी हो और बढ़ानी हो, तो राजतन्त्र को एकदलीय बनाना ही सुविधा का मार्ग दीखेगा। आँखों के आगे जो एक-एक देश टपकता जाता और कम्युनिस्ट बनता जाता है, सो इसी अनिवार्यता के कारण। नैतिक अभिमान और उस प्रकार की दावेदारी से शैथिल्य को टिकने का पट्टा नहीं मिल जानेवाला है।

प्रजातन्त्र में प्रबल प्रचेष्टा जागे

इससे आप यह न समझें कि लोकतन्त्र से मैं अधिनायकतन्त्र को श्रेष्ठ कह रहा हूँ। जो कह रहा हूँ वह यह कि यदि राजतन्त्र का अवलम्बन व्यापक और विस्तृत होगा, तो तन्त्र को हठात् अधिनायकवाद की ओर बढ़ते ही जाना होगा। वह अहिंसा गलत है, जिसका मतलब सिर्फ सह्यवाद रह जाता है। यही कारण है कि हिंसा को हमारे बीच आना पड़ता और अनुशासन की कमी को प्रशासन की दृढ़ता से भरना पड़ता है। शासन वह चलेगा जिसमें अधिकाधिक व्यक्तियों की शक्तियों का अधिकाधिक उपयोग हो सकेगा, उनका अपव्यय न होगा। हिंसा-अहिंसा आदि शब्दों के सहारे भविष्य का निर्णय नहीं होनेवाला है। प्रजातन्त्र अहिंसा का नारा उठाये और कम्युनिज्म के एक-दलीय तन्त्र में हिंसा का दर्शन करा दे, इतने मात्र से एकदलतन्त्र पर बहु-दलतन्त्र की विजय नहीं हो जायगी। प्रजातन्त्र को यदि टिकना है, अपने को बेहतर और बढ़कर सिद्ध करना है, तो उसे अपने भीतर से उस अनुशासन को जगाना होगा, जो शैथिल्य को समाप्त कर दे और प्रबल प्रचेष्टा जगा आये।

मनमानापन बहुदलीय पद्धति का शत्रु

अहिंसा को निश्चेष्टता की भाषा में देखना और समझना बहुत ही गलत है। लेकिन यही समझ चलेगी, अगर प्रजातन्त्र शिथिलाचारी दीखेंगे। पर गांधी अहिंसक थे और क्या उन्हींके जमाने में न था कि देश का शैथिल्य एकदम उड़ गया था और प्रबल साहस का उसमें उदय हो आया था। सारा देश मानो एक हुंकार में इकट्ठा हो गया था, मानों जेल-फाँसी किसीके लिए भी तैयार ! यह इसलिए कि गांधी के साथ सत्याग्रह की ज्वाला थी और उस योग से अहिंसा स्वयं उज्ज्वल और ज्वलन्त बन आती थी। सत्याग्रह जिस जीवन-नीति का श्वास नहीं है, उसके पास अहिंसा केवल

निर्वीर्यता का बहाना हो रहेगी। वह अहिंसा अर्थ-संग्रह का साधनमात्र बनेगी। क्या इस प्रकार की वैश्य अहिंसा की अपर्याप्तता के आधार पर ही गांधी का आविर्भाव नहीं हुआ था? डिमोक्रेसी का भविष्य अहिंसा के साथ है, लेकिन स्वयं अहिंसा का भविष्य सत्याग्रह की सामर्थ्य के साथ है। मृत्यु को सामने लेकर चलनेवाला सत्य का आग्रह नहीं होगा, साथ ही हिंसा की असह्यता नहीं होगी, तो अहिंसा के प्रति लोकमानस में अश्रद्धा का भाव जागेगा और डिमोक्रेसी कैपिटलिज्म का गढ़ और ओट समझी जायगी। तब काल-गति में उसको खंडित और उल्लंघित होना होगा। मनमानेपन की सुविधा ही ठीक वह परिस्थिति है, जो बहुदलीय स्थिति को श्रेष्ठतर नहीं होने दे सकती। इसकी रोक-थाम के लिए प्रजातन्त्र ने नाना उपाय किये हैं, पर मनमानापन यदि नहीं रुक पाता है, तो अन्त में लाचार अधिनायक के तन्त्र और दण्ड को ही लोकमत निमन्त्रित करेगा, दूसरा उपाय नहीं है।

कम्युनिज्म का विकल्प : गांधी-मार्ग

मुझसे पूछें तो कम्युनिज्म के साथ एक ही विकल्प है और वह गांधी का इज्म है। इज्म न कहना चाहें, तो कहिये कि गांधी-मार्ग वह दूसरा विकल्प है। अन्य गति मैं नहीं देखता हूँ।

१५४. क्या आप कहना चाहते हैं कि कम्युनिस्ट व्यक्ति ने अपनी सभी लालसाओं, वासनाओं, कामनाओं को स्वेच्छा से शासन के चरणों में समर्पित कर दिया है और जिन किस्मों से अत्याचार प्रजातन्त्र में ऊपर आपने स्थित माने हैं, वे वहाँ सम्भव नहीं हैं? व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य का अधिनायकत्व इनमें शुद्ध उपयोगिता की दृष्टि से आप क्या तारतम्य देख पाते हैं?

स्वतन्त्रता देने में, लेने में नहीं

—स्वतन्त्रता का सीधा अर्थ सबको प्राप्त है। लेकिन मैं चाहूँगा कि उसके जरा आप अन्दर जायँ।

मैं स्वतन्त्र कब अनुभव करता हूँ? क्या तब, जब अपने में हूँ और केवल अकेला हूँ? उलटे ठीक यही है, जो घुटन की स्थिति होती है। इस अकेलेपन को लेकर आदमी पागल हो जाता है। हलकी मानकर मृत्यु तक का वरण करता है। स्वतन्त्रता में जोर इसलिए जब सारा ही 'स्व' पर होता है, तो एक बहुत ही नकारात्मक स्थिति बन जाती है। वह स्वतन्त्रता निरर्थक और अनर्थक तक होती है। कम्युनिस्ट इसीसे तो कहता है कि क्या स्वतन्त्रता एक के करोड़पति से अरबपति बनते जाने और दीन-दरिद्र के नंगा-भूखा होते जाने की ही स्वतन्त्रता

है? अपने अन्दर से हम समझेंगे तो पायेंगे कि जब तक परतन्त्र हैं, तभी तक स्वतन्त्रता लेने जैसी चीज मालूम होती है, अन्यथा स्वतन्त्रता सदा देने में है। स्व अपने पास होते ही मानो हम उसे कहीं अर्पण करने के अभिलाषी होते हैं। स्वतन्त्रता के विस्तार का अर्थ सिवा इसके कुछ दूसरा है ही नहीं। जितना अधिक हमारा शेष के प्रति स्नेह और सामंजस्य का सम्बन्ध है, उतने ही हम स्वतन्त्र बनते हैं। जहाँ विषमता और विग्रह का बोध होता है, स्वतन्त्रता वहीं रुकी अनुभव होती है।

सिद्धि समर्पित होने में

कम्युनिस्ट यदि पार्टी के प्रति समर्पित होता और ऐसे अपनी सिद्धि अनुभव करता है, तो इस प्रकार उसके व्यक्तित्व की उपयोगिता अनायास खुल और बढ़ आती है। जो सर्वथा स्वतन्त्र है, अर्थात् जो समर्पित कहीं है ही नहीं, वह अपना उपयोग देगा तो किसे देगा? अव्वल तो इस तरह वह आलसी होगा, भटका हुआ रहेगा; यदि अपनी शक्तियों का उपयोग करता हुआ भी दिखाई देगा तो वह उपयोग शुद्ध स्वार्थ का होगा और समाज के लिए विधायक होने से उलटे विघातक होगा।

समर्पण स्वेच्छित हो

प्रश्न होता है तो यह कि क्या कम्युनिस्ट दल को कम्युनिस्ट व्यक्ति का स्वेच्छित समर्पण प्राप्त है, अथवा किस मात्रा में वह समर्पण स्वेच्छित है। स्वेच्छा से दिया गया समर्पण उपयोग की अर्गलाओं को एक साथ खोल देता है, स्वार्थ की सीमाओं को भी उस पर से काट देता है। अस्वतन्त्र आदमी सदा सब कहीं बाधक है; लेकिन यह स्वतन्त्रता आत्मपरक होती है, अनुभूति की होती है, ऊपरी दृष्टि की पकड़ में नहीं भी आ सकती। आज्ञाकारी बालक बहुत उपयोगी होता है, दूसरों के प्रति और स्वयं अपने प्रति भी। आज्ञा के वश होने के कारण आवश्यक रूप से उसकी उपयोगिता कम नहीं हो जाती, यदि आज्ञा में उसके अपने मन का योग हो। बल्कि उपयोगिता उलटे गुणानुगुणित हो जाती है।

जन और तन्त्र में विग्रह

मैं मानता हूँ कि कम्युनिस्ट तन्त्र की सफलता वहीं तक है, जहाँ तक वह अपने प्रति जन-भावना का योग भीतर से जगा पाता है। जिस जगह शासन और कानून का जोर अनुभव हो आता है, ठीक वहीं से उसकी विफलता आरम्भ हो

जाती है, ऐसा मैं मानता हूँ। जन और तन्त्र में अगर परस्पर विग्रह हो, तो उसमें शक्ति का या तो दलन होता या व्यर्थ व्यय होता है। विग्रह के अभाव में एक ऐसी रस-हीनता हो सकती है, जिसको उपेक्षा का नाम दिया जाय। यहाँ दिल्ली में अभी हुए सदन के चुनाव में कुल चालीस फी सदी मत पड़े। यह चालीस प्रतिशत तो तब, जब दल के लोग खींच-खींचकर लोगों को घरों से निकाल कर लाये होंगे। माना जा सकता है कि अपना मत स्वयं देने की इच्छा करनेवाले शायद दस-पन्द्रह फी सदी मतदाता रहे होंगे। उपेक्षा और उदासीनता का यह भाव विग्रह की स्थिति से भी गया-बीता है। विग्रह होने पर हिंसक दमन आवश्यक होता हो, और जनता की उपेक्षा और उदासीनता के कारण प्रजातन्त्र को भी उपेक्षाशील और उदासीन बनने की सुविधा हो जाती हो, लेकिन पहली हिंसा को दूसरी 'अहिंसा' से बढ़कर या उपयोगी नहीं ठहराया जा सकता। शक्ति सामंजस्य में है; न वह मानी जानेवाली व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता, पृथक् सत्ता, में हैं, न राज्य-शासन की संगठित सत्ता में। राज्य के व्यक्ति और प्रजा के व्यक्ति में आपस में कितना सौमनस्य है, इस पर व्यवस्था की सफलता का माप निर्भर करता है। मैं दूसरे देश की नहीं कह सकता हूँ, कांग्रेसी शासन में आज औसत नागरिक की श्रद्धा का बल नहीं पहुँचता है, यह मैं अवश्य अनुभव करता हूँ।

१५५. प्रजातान्त्रिक देशों में प्रचलित निर्वाचन-पद्धति को आप कितनी दूर तक लोक-हित एवं शासन-हित में युक्तियुक्त मानते हैं?

निर्वाचन अनिवार्य

——प्रजातन्त्रवाले देश अलग-अलग स्थिति में हैं और उनके संविधानों में भी अन्तर है। निर्वाचन-प्रणाली हर जगह है, यद्यपि कुछ भेद के साथ है। निर्वाचन की पद्धति अनिवार्य है और उससे बचने का उपाय नहीं है। साधारणतया वह पद्धति संगत और युक्तियुक्त है।

नागरिक भूमिका से उत्तीर्ण व्यक्ति चाहिए

लेकिन जो खतरा है और जिसे बचाना है, वह यह कि निर्वाचन के द्वारा व्यक्ति वे न आ सकें, जिनके प्रति जनता में अश्रद्धा का भाव हो। श्रद्धा की जगह लोभ और आतंक का भाव यदि काम कर रहा होता है, तो ठीक उलटे ढंग के लोक चुनाव द्वारा चोटी पर आ जाते हैं। इसका आशय यह कि निर्वचिन-प्रणाली के फेर-फार से भी पूर्व जो आवश्यक है, वह यह कि समाज-मूल्य के बतौर धर्म-मूल्य का प्रचलन और प्रतिष्ठा हो। निर्वाचन नागरिक भूमिका की वस्तु है;

समाज में ऐसे व्यक्ति भी हों, जो नागरिक भूमिका से उत्तीर्ण हों, स्वत्व-सम्पत्ति की कामना न रखते हों, प्रेम ही जिनका सम्बल हो और इस तरह कुछ विरागी-से जान पड़ते हों। इस वर्ग के प्रभाव के नीचे जो नागरिक निर्वाचन होगा वह सही होगा और उसमें दूसरे गुणों से पहले चरित्र को प्रधानता दी जायगी। प्रजातान्त्रिक देशों में शायद उस ओर उतना ध्यान नहीं है। इसीलिए निर्वाचन-प्रणाली के रहते हुए भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि जनता और सरकार एक है और शोषण मिट गया है।

पद्धति में आवश्यक सुधार

निर्वाचन द्वारा सही किस्म का आदमी शासन पर आये, इसके लिए जब कि यह सुविधाजनक होगा कि निर्वाचन में आने की इच्छा ही न करनेवाले लोग भी उस समाज में मौजूद हों; तब स्वयं उस प्रणाली में कुछ आवश्यक संशोधन भी किये जा सकते हैं। जैसे, निर्वाचन-क्षेत्र का सीमित होना; निर्वाचन के लिए स्वयं खड़े होने की पद्धति का समाप्त होना; नुमाइन्दों के नामों का नीचे से आना और सब नुमाइन्दों को एक साथ इकट्ठे होकर निर्वाचकों के समक्ष उपस्थित होना। इन संशोधनों से अनिष्ट सम्भावनाओं को बहुत कुछ बचाया जा सकता है।

सामाजिक मानसिकता का निर्माण हो

लेकिन एक बार फिर कहना होगा कि महत्त्व उस वातावरण का है जिसमें निर्वाचन किया जाता है। एक इष्ट प्रकार की सामाजिक मानसिकता का निर्माण पहले होना चाहिए। वह ऐसे और उन पुरुषों द्वारा होगा जो यज्ञ को ही अपना धर्म मानते और लोकाकांक्षाओं से अधिक लोक-सेवा की आकांक्षा रखते हैं।

१५६. जिस एक संन्यस्त और उत्तीर्ण मानस के वर्ग की ओर आपने संकेत किया है, उसका निर्माण और संगठन आज की अनैतिक स्थितियों में किस प्रकार संभव है? जब तक वैसा न हो, तब तक क्या निर्वाचन और राज-काज रुका रहे?

मत मन में से आये

—नहीं, वह निर्माण आज से भी सम्भव हो सकता है। लेकिन उसमें समय लगे, तो उस कारण राज-काज या कोई भी काज दुनिया का रुका नहीं रहेगा। इतना ही है कि वह सही-सही नहीं होगा।

हम यह चाहते हैं कि समाज के शीर्ष पर जो आदमी हो, वह अहंकार और दर्प का न हो। स्वार्थ-वासना का न हो, बल्कि नम्र हो, सबके दुःख-दर्द को सम-

ञता हो और विश्वास द्वारा मिले हुए अधिकार का अपने सुखोपभोग में उपयोग न करता हो। यह इष्ट हाथ में तब आयेगा, जब हमारा मत मन में से आ रहा होगा और हमारा हाथ किसी दबाव में नहीं उठ रहा होगा। मन बना ही ऐसा है कि उस पर मानवीय सद्‌गुणों का प्रभाव पड़ता है। अगर कृत्रिम तत्त्व बीच में न आयें, और हमारा मत मुक्त हो, तो अवश्य ही वह सही आदमी को छाँट लेगा।

मत मुक्त हो

इसलिए जो किया जा सकता है, और करना चाहिए, वह यह कि मत मुक्त हो और धन-सत्ता के कृत्रिम प्रभाव मत की सुई को सही दिशा से इधर-उधर लाने की शक्ति खो रहें। यह तब आसान हो जायगा जब आदमी रहने-सहने की आवश्यकताओं के बारे में स्वाधीन होगा, किसी निर्भरता में नहीं रहेगा। हमारा अस्तित्व ही यदि दूसरे के हाथ में हो, तो मन मारकर भी हम अपना मत उसके पक्ष में दिये बिना न रहेंगे। इसका सम्बन्ध फिर अर्थ-व्यवस्था से आ जाता है। अपनी जगह पर व्यक्ति केवल स्वतन्त्र नहीं, बल्कि स्वाधीन-चेता और स्वाश्रयी जितना होगा, उसका मत उतना ही निर्बन्ध और उचित होगा।

सुधार जन-मन से शुरू होगा

किन्तु यदि अन्दर के मन और ऊपर के मत के बीच धन, सत्ता आदि के नाना प्रभाव काम करते रहेंगे, तो आवश्यक है कि उन प्रभावों के अनुवर्ती ही हमको शासक और प्रशासक मिलें। देश को वही शासन मिलता है, जिसके वह योग्य होता है। यह समझना गलत है कि शासन सुधरा हुआ पहले मिलेगा और बाद में जनता का सुधार होगा। उन्नति हर प्रकार की जन-मन से शुरू होगी, संविधान से नहीं शुरू होगी। संविधान में तो समाज-मानस का प्रतिबिम्ब भर है। जीवन यदि है तो विधान में नहीं, समाज में है। इसलिए संविधान को बदलने की ओर से मैं प्रश्न को शुरू नहीं कर सकता। मन की ओर से ही समस्या शुरू होती है और समाधान का भी वहींसे आरम्भ है।

१५७. ऊपर आपने निर्वाचन-पद्धति को सुधारने के लिए जो सुझाव रखे, वे अल्प जन-संख्या और अति सीमित क्षेत्र में तो सफल हो सकते हैं, पर भारत जैसे बड़े देश और इतनी बड़ी आबादी पर उनको सम्भवतः लागू नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विशेषकर भारत को ध्यान में रखते हुए क्या किया जाना उचित है?

निर्वाचन मानवीय हो

—क्यों लागू नहीं किया जा सकता? डाइरेक्ट इलेक्शन उन मूल इकाइयों में ही हो, तो उसके ऊपर शेष निर्माण इन-डाइरेक्ट इलेक्शन द्वारा क्यों नहीं हो सकता? प्रत्यक्ष निर्वाचन मान लीजिये, ग्राम-क्षेत्र में होता है। फिर पास-पास के क्षेत्र चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा आपस में मिल सकते हैं। पाँच हजार की जनसंख्या पर मान लीजिये, एक प्रतिनिधि प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुन लिया जाता है। तो हम यह तय कर सकते हैं कि पाँच लाख की जन-संख्या पर ऐसे चुने हुए सौ प्रतिनिधि मिलकर फिर एक को निर्वाचित कर देंगे। इस पद्धति से विस्तृत क्षेत्र कोई बाधा उपस्थित नहीं करता और अवश्य ही भारतवर्ष में वह प्रयोग हो सकता है। पाँच से आठ-दस लाख की जनसंख्यावाले निर्वाचन-क्षेत्र छोटी इकाइयों में बँटकर ऊपर परोक्ष निर्वाचन की सहायता से हमको अपना एक प्रतिनिधि दे सकते हैं। मन्शा यह है कि मानव-समुदाय के बीच मुक्त मानवता काम कर रही हो, लोभ और भय आदि के प्रभाव व्यतिक्रम डालने के लिए वहाँ उपस्थित न हों। आज तो चुनाव में वोट ऐसे पड़ते हैं कि पचहत्तर फी सदी को मालूम नहीं होता कि वे किसके लिए वोट दे रहे हैं। फिर यह भी गलत बात है कि जिसको वोट दे रहे हों, उसका मनोनयन कहीं दूर से होता हो और मनोनीत उम्मीदवार भी जाने कहाँ दूर-दराज का कोई आदमी हो। आज के निर्वाचन में वह सब सम्भव बना हुआ चल रहा है। इसलिए निर्वाचन इतना अधिक राजनैतिक हो जाता है कि मानवीय वह रहता ही नहीं। ये सब दोष अवश्य और आसानी से उस प्रणाली में से हरण किये जा सकते हैं। वह करना चाहिए।

चुनावों में भ्रष्टाचार

१५८. मैं भारत की बात जानता हूँ। मनुष्य भ्रष्टाचार, दुराचार और अनाचार की जिस सीमा तक जा सकता है, उस तक निर्वाचनों में हमारे मतदाता और उम्मीदवार पहुँच जाते हैं। यह स्थिति प्रजातंत्र की जड़ों को खोद रही है। मैं समझता हूँ, इसके लिए बहुदलीय पद्धति और एक सीट के लिए निर्बन्ध अनेक उम्मीदवारों का खड़ा होना उत्तरदायी है, इस विषय में आपका क्या मत है?

यह प्रश्न एक या बहु-दल पर मौकूफ नहीं

—मुझमें अगर दम है, पास पैसा है, तो क्या कारण है कि मैं निर्वाचन में आने के लिए न खड़ा होऊँ। यदि लोभ और अहं-भाव के लिए निमन्त्रणपूर्वक समाज मुझे अवसर देता है, तो कोई कारण नहीं रह जाता कि मैं पैसा बखेरता हुआ

और निर्वाचित होने पर कृपा का आश्वासन देता हुआ वोट माँगूँ और बटोरूँ नहीं। बहुदल-वाद इस प्रकार के अवसर देता ही है। दल बन जाते हैं और हमेशा किसी वाद के कारण से ही नहीं बनते, व्यक्तिगत अहंकारों में से भी बन खड़े होते हैं। इन दलों को हर निर्वाचन-क्षेत्र में एक-एक मोहरे की आवश्यकता होती है और पैसा और प्रभाववाला आदमी उनके पास पहुँचकर टिकट की प्रार्थना करता है।

प्रश्न यह है कि निर्वाचन के लिए सामने आनेवाला आदमी कहाँ से आये, कैसे खड़ा हो, कौन उसे मनोनीत करे? राजनीतिक दल यदि एक हो सकता है तो दूसरा क्यों न हो, और उसके बाद तीसरा-चौथा क्यों न हो? यदि एक को अवकाश है तो हरएक को अवकाश हो जाता है। मान लीजिये, किसी युक्ति से एक दल इतना बलिष्ठ और सत्ताशाली हो जाता है कि शेष दल नास्तिवत् हो जायँ, और उस अवस्था में भ्रष्टाचार इत्यादि न दीखें, तो क्या उस अवस्था से आपको संतोष हो जायगा? समाधान की स्थिति तब भी नहीं आयेगी और जान पड़ेगा कि चुना गया आदमी सच में चुना नहीं गया है, वह ऊपर से आने के कारण छा भर गया है और इसलिए उसे चुनना अनिवार्य हो गया है! इसलिए इस प्रश्न को मैं बहु-दल और एक-दल पर मौकूफ नहीं मानता और उसमें गहरे जाना जरूरी समझता हूँ।

योग्य सदा अनुत्सुक होता है

चुनाव राजनीतिक हों ही क्यों, वे नागरिक क्यों न हों? उनकी भूमिका ही बदल जानी चाहिए। नागरिकों की ओर से ही फिर निर्वाचनीयों के नाम भी आयें। ऐसी हवा बनेगी, तो पाया यह जायगा कि निर्वाचन के लिए उत्सुक और आतुर लोग कम हैं, अनुत्सुक लोग ही ज्यादा हैं। एक जगह की मुझे याद है। वहाँ चुनाव होना था। मालूम हुआ कि चुनाव हो ही नहीं पा रहा है। कारण, जिन जिनके नाम आते हैं, वे अपने को पीछे करके दूसरे का समर्थन और प्रस्ताव करते हैं। मालूम हुआ कि चुनाव को मनाव बनाना होगा, तब काम चलेगा। आखिर बड़े मन-मनाव के बाद वहाँ अध्यक्ष का निर्णय हो पाया। योग्य सदा अनुत्सुक होता है। समक्ष आने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति मानो उसी कारण सिद्ध करता है कि वह अयोग्य है। आज जो ढंग चल रहा है उसमें इस कसौटी से अयोग्यता ही सामने आती है। फिर वह सब अन्धेर, जिसका आपने जिक्र किया, चुनाव में चलता हो तो इसमें विस्मय ही क्या है?

१५९. तब फिर क्या किया जाय? रूस ने जिस निर्वाचन-पद्धति को अपनाया

है, उस एक दलीय पद्धति को भी आप शायद हितकर नहीं मानते। मैं समझता हूँ, बात मतदाता की स्वाधीन चेतना और उसके मत की मुक्तिवत्ता पर आ टिकती है। पर आज की वैज्ञानिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में क्या वैसा होना सम्भव है? यदि नहीं, तो क्यों न चुनावों के इस आडम्बर को समाप्त करके एकराजत्व अथवा अधिनायकत्व को ही सब देश स्वीकार कर लें?

खुले डण्डे का शासन

—मैं तो इससे नहीं डरता, बल्कि अच्छा ही समझूँगा। खुली हिंसा राज्य करे तो मुझे खुशी होगी। खुशी इसलिए होगी कि राज्य को फिर इस तरह का दम्भ नहीं रहेगा कि वह कल्याण कर रहा है। वेलफेयर जैसे नाना शब्दों के सहारे राज्य को यह मानने का मौका बना रहता है कि वह कल्याणकारी संस्था है और इसलिए उसका सर्वोपरि मान होना चाहिए। खुले डण्डे के शासन में इस भ्रम के चलने या चलाने का इतना मौका नहीं रहता है।

राइट माइट के अधीन

मैं सचमुच मानता हूँ कि राज्य असल में शक्ति से चलता है। शक्ति वह जब तक हिंसा की है, तब तक आपस में युद्ध ही वह उपाय है, जिससे अन्तिम निर्णय हो। मानव-जाति इस अवस्था से पार नहीं पहुँची है। सब राष्ट्रों के पास न्याय की संस्था है। नीति-न्याय की बड़ी बारीकियाँ वहाँ सुलझायी जाती हैं। पर प्रथम सत्य है यह कि न्यांय का निर्णय भी अन्त में युद्ध से होता है। माइट और राइट में राइट माइट के साथ रहता है, स्वतन्त्र नहीं होता।

माइट व्यर्थ बन जाय

क्या अवस्था हमको वह नहीं लानी है कि राइट से स्वतन्त्र होकर माइट एक व्यर्थता सिद्ध हो आये, राइट ही स्वयं माइट बन जाय? मैं उसी स्वप्न के प्रति समर्पित रहना चाहता हूँ। आपका चुनाव का प्रश्न, एकदल बहुदल का प्रश्न इस स्वप्न की राह से कुछ हटा हुआ-सा ही मुझे दीखता है। इसीलिए सचमुच एक-दल का ही जहाँ बोलबाला है, वहाँ की चुनाव-प्रणाली को बेहतर कह दूँ, यह भी मुझसे नहीं हो पाता है।

युद्ध निर्णायक न बने

एक बात मन में आती है। मान लीजिये कि औसत जीवनमान भारतीय नागरिक

का आज सौ रुपया मासिक जितना ऊँचा है। यदि कुछ ऐसी व्यवस्था हो कि चुने गये आदमी को वेतनरूप उससे दस रुपया मासिक कम मिलेगा, तो कल्पना कीजिये कि चुनाव के मैदान का तब क्या हाल होगा। सम्भव हो सकता है कि तब वहाँ घमासान की जगह सन्नाटा दिखाई दे आये। शासन पर चुने गये आदमी में यह सामर्थ्य होनी चाहिए, यह शिक्षा, अभ्यास और इतनी जितेन्द्रियता होनी चाहिए कि और आदमियों का काम अगर सौ रुपये में चले तो वह दस कम में ही सन्तुष्ट हो जाय। मुझे प्रतीत होता है कि ऐसा होने में देर है कि चुनाव की समस्या काफी आसान हुई दीखेगी। तलवार के जोर से यदि शासक बनता है तो वह अपने लिए जरूरी पाता है कि आस-पास वैभव और ऐश्वर्य का परिमण्डल रखे और इस तरह जितना सम्भव हो सके उतना साधारण आदमी और अपने सिंहासन के बीच अन्तर बनाये रखे। इस व्यवधान में वह आतंक और लोभ आदि के प्रभाव डाले रखता और इस तरह अपना शासन सम्भव एवं निरंकुश बनाता है। माने जानेवाले प्रजातान्त्रिक राज्य भी जाने-अनजाने इन प्रभावों का अपने पक्ष में लाभ लिये बिना नहीं रहते। स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ये सब प्रभाव हिंसात्मक शक्ति से सम्बन्ध रखते और अन्तिम विश्लेषण में आतंकवादी हुआ करते हैं। यदि इन प्रभावों के बल से राज्य चलेगा, तो यह कैसे हो सकता है कि युद्ध ही अन्तिम निर्णायक तत्त्व न बना रहे और आदमी पशुओं के पैने-से-पैने नख-दन्तों से पैने हथियार बनाने में विश्वास न रखे। यह प्रगति मूल में मानवीय नहीं मानी जा सकेगी, फिर इसके भीतर सांस्कृतिक कही जानेवाली कितनी भी प्रवृत्तियाँ क्यों न होती रहें।

राज्य सेवकों का हो

राज्य भला करना चाहता है, सेवा करना चाहता है, तो वह सेवकों का होना चाहिए। सेवक क्या अपने सेव्य और सेवित से बड़ा बनकर रहना बर्दाश्त कर सकता है? तब तो धिक्कार है उसकी सेवकाई को। सच्चा सेवक होगा तो अफसरी भावना को कभी अपने मन में ला ही नहीं सकेगा। लायेगा भी कैसे, उसके पास इतना साज-सामान ही कब होगा?

मेरी निश्चित मान्यता है कि जब तक राज्य और राज्यनीति इस दिशा की ओर नहीं चलती है, तब तक ऊपर के सब प्रयत्न सतही और मन बहलानेवाले हैं। असल प्रश्न तक वे नहीं पहुँचते हैं और केवल बौद्धिक उलझन और व्यसन का अवसर देकर बुद्धिवादियों को या तो चुप कर देते या अपने में समा लेते हैं। इतना हो जाने पर फिर श्रद्धा से लगकर रहनेवाली जनता की चिन्ता करने की आवश्यकता तो रहती ही नहीं!

४

हमारे दल और नेता

कांग्रेस शोषक और विपथगामिनी

१६०. भारत का नया चुनाव सामने है। कितना छल, प्रपंच, हत्या, हिंसा आदि का प्रवाह अब बहेगा और धन-जन, सेक्स, अधिकार सभी प्रकार का बल चुनावों की विजयाकांक्षा को पूरा करने में अपना योगदान देगा, इसका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे नेता इस बात में सन्तुष्ट दीखेंगे कि उनका दल जीत गया और उन्होंने शासन पर अपना अधिकार जमा लिया। इस भीषण अपव्यय और दुराचार को रोकने के लिए हमारा शासक-दल क्यों कोई ठोस और उपयोगी मार्ग नहीं निकाल पा रहा? जिस कांग्रेस ने भारत को आजादी दिलायी, वही अब शोषक और विपथगामिनी क्यों बन गयी? ऐसी स्थिति में कांग्रेस का अपना क्या भविष्य है?

—क्यों मुझे कष्ट देते हो? मैं दोष किसीको दे नहीं सकता। दोष लेने में ही मेरा परिपूर्ण विश्वास है। मैं क्यों मर रहा हूँ, क्यों जी रहा हूँ? कष्टकर जिस स्थिति की बात करते हो, उसका उत्तर दिया नहीं जा सकता, वह उत्तर स्वयं बना ही जा सकता है। वे, जिन्हें गांधी की याद है, स्वयं इस स्थिति के लिए उत्तर बनकर उठें, यही एक उत्तर है; अन्यथा कोई उपाय नहीं है।

कांग्रेस शासन में जुटी है

कांग्रेस क्या करे? अपने को इनकार कैसे करे? वह क्या शुरू से राजनीतिक न थी? कांग्रेस का काम गांधीवादी बनना तो कभी नहीं था। उसका काम था भारत में स्वराज्य लाना। वह स्वराज्य आया तो कांग्रेस क्या करती? गांधी ने तो सीधे कह दिया कि राज पर किसी-न-किसीको बिठाया ही जायगा, कुछ व्यवस्था देश उस सम्बन्ध में कर ही लेगा। हम सब उसे इसमें सहायता देनेवाले होंगे। लेकिन मेरी माने तो कांग्रेस इस समय राजनीतिक संस्था के रूप में अपने को खतम कर ले और लोक-सेवक संघ के रूप में नया जन्म ले ले। वह बात गांधी की थी। शायद उस

बात में गहरा और उज्ज्वल भविष्य छिपा हुआ था। शायद उससे वह स्वप्न धरती के पास आता, जो स्वतन्त्रता के युद्ध के समय सभी भारतीयों के मन में झूम आया करता था। वह राम-राज्य का स्वप्न ! लेकिन वह बात कांग्रेस के मन की तो नहीं थी, वह उसके बस की भी नहीं हुई। कांग्रेस के भीतर वह कहीं भी जगह नहीं पा सकी। और भारत का स्वराज्य जो आया तो कांग्रेस ने उसे अपना स्वराज्य मानकर पहले अपने कन्धों पर और फिर अपने हाथों में ले लिया। बड़ी जल्दी देश को मालूम होने लगा कि उसका स्वराज्य बस कांग्रेस-राज्य है। शंका होने लगी कि क्या वह स्वराज्य भी है ! क्या दिल्ली से आगे बढ़कर वह देहात और समाज तक भी पहुँ-चेगा ? शंका कितनी भी हो, कांग्रेस अपने कांग्रेसी राज को लेकर व्यस्त है। राज कोई छोटी चीज तो नहीं होती, जाने कितनी उसकी उलझनें होती हैं, पेचीदगियाँ होती हैं। कांग्रेस जी-जान से उनमें लगी है और अपने को फ़ुरसत और आराम नहीं दे रही है। मानना होगा कि वह पूरी तरह जूझ रही है। बधाई ही दीजिये उन कांग्रेसी नेताओं को, जो दिन को दिन, रात को रात न गिनकर राज-काज से निब-टने में लगे ही हुए हैं। हाय, वक्त तेज़ी से तरक्की करता जा रहा है और अंग्रेजों का जमाना नहीं रह गया है। तब थोड़े से सेक्रेटरियों और कर्मचारियों से काम चल जा सकता था, अब स्वराज्य है और काम बेहद बढ़ गया है। देखिये न कितने दफ्तर हैं। कितने कर्मचारी हैं। सेक्रेटरिएट क्या एक जंगल है और आदमी वहाँ जाने कितने डिविजन फौज के बराबर होंगे। और पूछिये नहीं ! कांग्रेसी नेता ही हैं कि जिन्होंने त्याग और तपस्या का ब्रिटिश-जेलों में अभ्यास किया है और इससे इस तूफान का सामना कर रहे और डटे हुए हैं। अगले चुनाव में इन सेवाओं का देश ने फिर पुरस्कार दिया और शासन पर भेजा, तो फिर वे प्राणपण से शासन करेंगे और देश की सेवा करेंगे।

सोचने की फ़ुरसत नहीं

आप पूछते हैं, शासक-दल क्यों कोई ठोस और उपयोगी मार्ग नहीं निकाल पा रहा है ? लेकिन आप जानते नहीं हैं। शासक-दल शासन की जिम्मेदारी जो उठा रहा है। भला कहिये कि इसके अलावा वह कोई काम कैसे कर सकता है ? आपको अनुमान नहीं, शासन कितना, कितना, कितना बड़ा काम है। अभी तो कर्मचारी आठ-दस गुने हुए हो सकते हैं। कौन जाने, आगे और भी बढ़ें। आखिर तो स्वराज्य है। कोई हँसी-खेल नहीं है। उसमें सोचने की बात है कि सोचने की फ़ुरसत निकाली ही कैसे जा सकती है।

शानदार यह वक्त है

आप पूछते हैं, भारत की आजादी के लिए लड़नेवाली कांग्रेस शोषक और विपथ-

गामिनी क्यों बन गयी ? नहीं, वह कुछ नहीं बन गयी। वह सिर्फ जिम्मेदार बनी है और शासन का निर्वाह उसकी पहली जिम्मेदारी है। इसके अलावा उसे इधर-उधर कहीं देखना नहीं है। नैतिक प्रश्न निठल्लों के हो सकते हैं। सिर्फ कार्मिक प्रश्न हैं, जो कांग्रेस के लिए हैं। बाँध बांधो, कारखाने खड़े करो, दौलत बढ़ाओ। बजट बढ़ाना पड़े तो कर भी बढ़ाओ। कुछ उठा न रखो और हिन्दुस्तान का मान और हिन्दुस्तान का सिक्का देश-देशान्तर में बिठा दो। इस काम में कांग्रेस आँख मूँदकर लगी हुई है। आँख खोलना अगर नहीं चाहती, तो सिर्फ इसलिए कि दूसरी बातों के लिए वह अपने को फुरसत देना नहीं चाहती। आपको मालूम है, हमारे प्रधानमन्त्री कब उठते और कब सोते हैं? चौबीस में बीस घण्टे तो अवश्य ही वे काम में रहते हैं। शानदार यह वक्त है और शानदार कांग्रेस का काम हो रहा है! भारत अब कोने-किनारे नहीं है, मानो दुनिया के नकशे के बीचो-बीच आ गया है। ऐसे वक्त आप कैसे पूछ सकते हैं कि कांग्रेस विपथगामिनी और शोषक बन क्यों गयी?

कांग्रेस को जगाया नहीं जा सकता

मैं मानता हूँ, कांग्रेस को जगाया नहीं जा सकता। जागे वह, जो सो रहा हो। कांग्रेस सो बिलकुल नहीं रही। असल में उस पर नशा सवार है। और वह करने धरने का नशा है। सबसे बड़ा करना शासन करना होता है और वह कारोबार कांग्रेस पर आया है, तो वह चूक कैसे सकती है? यह नहीं कहा जा सकेगा कि कांग्रेसी जेल जाना जानते थे, शासन करना नहीं जानते थे। अब बजट देखिये और खुद बताइये कि किस कदर शासन का काम शान से किया जा रहा है।

नेहरू की कांग्रेस

गांधी सन् '४८ के आरम्भ में उठ गये थे। भगवान् ने यह सोच-विचारकर ही किया होगा। भगवान् के काम में क्या यह दखल देना न होगा कि गांधी को जीवित मान कर चला जाता! गांधी की समाधि बनाने की जिम्मेदारी अवश्य कांग्रेस पर आती थी और वह बनी है और बनायी जा रही है। लाखों लाख अभी उस पर और खर्च होगा और समाधि की शान देखने लायक होगी। उनके बुत बन गये हैं, स्तम्भ बन गये हैं, संग्रहालय बन रहे हैं और साहित्य निकाला जा रहा है। मृत के प्रति क्या यह कर्तव्य न था और क्या यह खूबी से नहीं पूरा किया जा रहा है? लेकिन मृत को जीवित रखने का काम कैसे किया जा सकता था? उस जीवन के काम-धाम में से गांधी को अगर कांग्रेस ने एकदम बाहर रखा है, तो शायद यह

उसने कर्तव्य माना है। जिस पूँजी से कांग्रेस ने आरम्भ किया था, वह नैतिक पूँजी अगर गांधी की कमाई थी, तो होगी। लेकिन पूँजीवाद के दिन गये और उस पूँजी को कांग्रेस ने खुले खजाने अगर लुटा दिया है, तो इसमें कोई क्या कह सकता है? कांग्रेस अब नेहरू की है और नेहरू किसीके नहीं, अपने हैं। वे आन के आदमी हैं और आदर्श से भरे रहने का उन्हें हक है। आखिर ऊँचे उनके सपने हैं और वे शुरू से ऐसी ऊँचाइयों पर रहे हैं कि मानो उन सपनों के पीछे हवा में उड़ते रह सकते हैं। आप-हम रुपये की इकाई-दहाई में रहते हैं। नेहरू की गिनती करोड़ों में चलती है। इसलिए कैसे हो सकता है कि नेहरू में कोई खयाल आ जाय और करोड़ों रुपया उस पर न बह जाय। शाहजहाँ ने एक ताजमहल बनाया, अब विज्ञान के जमाने में एक की भी कोई गिनती है? नेहरू के निर्माण की एक-एक चीज देखिये, तो ताजमहल दसियों फीके पड़ जाते हैं। योजनाएँ देखिये और उनका विस्तार, आपकी कल्पना बौखला जायगी। लेकिन उन करोड़ों-अरबों के अंकों और राशियों पर नेहरू की विवेचना ऐसे चलती है, जैसे मोतियों पर परियाँ चलती हैं। मेरा मानना है कि अभिजात, कुलीन, शालीन, तत्पर, कर्मण्य और एकाकी नेहरू कांग्रेस की समस्या हैं। और कांग्रेस उनके कारण देश की समस्या है।

अगला चुनाव कांग्रेस जीत सकती है। लेकिन इस कांग्रेस को लेकर देश के आगे अँधेरा है, ऐसा मुझे लगता है। उपाय सिवा इसके कुछ नहीं दीखता कि आदमी अपनी जगह प्रकाश बने और ईमानदारी से चले। सच रहकर विफल बनने से डरे नहीं और जो लगता है, खुलकर कहे। शायद उसमें से शक्ति निकले, जो राजनीति से दबे नहीं, बल्कि उसको सँभाले।

विरोधी दल

१६१. प्रजातन्त्र में शासक दल की विपथगामिता पर विरोधी दल ही अंकुश लगाया करता है। क्या आपकी राय में वर्तमान विरोधी दलों में कोई इतना तेजस्वी और ओजस्वी है, जो लोक-मानस की आवाज को लेकर शासक के सामने खड़ा हो सके और उसे सही रास्ता अपनाने पर मजबूर कर सके?

सब राज्य चाहते हैं

—बिलकुल नहीं है। नहीं इस वजह से कि सब राज चाहते हैं। आशा कुछ हो सकती थी सर्वोदय-विचार की तरफ से। पर सर्वोदय को याद रखना पड़ता है कि हम राज नहीं चाहते! यह इच्छापूर्वक अराजनीतिक बनना मानो तन ग़ायब करके सिर्फ मन बनकर रहना है। सन्त इसकी कोशिश करते हैं और दुनिया से उठ जाते

हैं, उसकी धरती पर नहीं रहते। दुनिया उन्हें श्रद्धा से देखती है और नहीं सीख पाती कि वह धरती पर बिना पाँव रखे कैसे चले। वे शास्त्र देते हैं, साहित्य देते हैं, सीख और बानी देते हैं, नेतृत्व और संचालन नहीं देते। सोचता हूँ कि क्या विनोबा तनिक भी गांधी नहीं हो सकेंगे?

कम्युनिस्ट दल

हाँ, एक दल है। कम्युनिस्ट दल! मैं उसका कायल हूँ। मैदान में गिनती के लिए शायद वह ही है। देश की राजनीतिक परिस्थिति में जब कोई गहरा अभाव आ बनेगा, तो जगह भरने के लिए जो तत्त्व प्रस्तुत होगा, वह मानो कम्युनिस्ट है।

हिन्दू सांस्कृतिक स्फूर्ति

राजनीतिक से अलग जो अपना सांस्कृतिक और नैतिक झुकाव मानती हैं, ऐसी शक्ति मैदान में जो हैं, उनमें एकआध गिनती में ली जा सकती है। लेकिन मानस से वह और भी घोर भाव से राजनीतिक है, यही उसकी त्रुटि है। हिन्दू के नाम पर भी सांस्कृतिक स्फूर्ति काम कर सकती और फल ला सकती थीं; किन्तु वह कहीं है नहीं। जो है, उसमें और भी संकीर्ण राज्याकांक्षाएँ हैं।

भानमती का कुनबा

इनमें से सत्ताधारी दल की वृत्तियों और प्रवृत्तियों पर अंकुश डाल सके और कुछ उसमें विवशता का भाव ला सके, ऐसा ओजस्वी दल वर्तमान राजनीति में मुझे कोई दीखता नहीं है। स्वतन्त्र-दल की भूमिका में राजाजी के जो वक्तव्य निकले, उनका प्रभाव पड़ा था, उन भावनाओं में बल है। लेकिन भावना-तत्त्व से दल का मानव-तत्त्व तद्गत हो, तब परिणाम आ सकता है। अभी तो जान पड़ता है, तात्कालिक राजनीतिक प्रयोजन के अधीन भानमती का कुनबा बटोर-बटार लिया गया है।

प्रकाश राजनीति में नहीं होता

मुझे नहीं लगता कि प्रकाश समझे जाने वाले राजनीतिक दलों में से आयेगा। राजनीति में प्रकाश होता ही नहीं। प्रकाश उठेगा, तो यह असम्भव नहीं कि राजनीतिक पक्ष भी एक उसका सामने आ जाय, लेकिन दलवाद से वह अधिक होगा। कम्युनिज्म की शक्ति ही यह है कि वह दल से कुछ अधिक होता है, वह एक विचार होता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अब जो कम्युनिज्म की शक्ति बढ़ती हुई नहीं मालूम होती, सो इसी कारण कि वहाँ वह अपनी वैचारिक भूमिका खो बैठा है। कोरमकोर

राजनीतिक भूमिका ही उसके पास रह जाती है। राष्ट्रीय क्षेत्र में कम्युनिज्म वैचारिक शक्ति भी है। इसीलिए वह अप्रतिरोध्य सिद्ध होता है।

भारतीय अध्यात्म और कम्युनिज्म

'भारत' कुल मिलाकर एक जीवन-विचार है। मानो एक जीवन-विधि का वह प्रयोग-प्रतीक है। भौगोलिक से अधिक वह सांस्कृतिक है। उस भारतीयता में अब भी मेरी आशा है। हजारों बरसों के इतिहास में वह भारतीयता विच्छिन्न नहीं हुई। परास्त नहीं हो गयी है; लेकिन ठीक इस घड़ी जो संकट उस पर आया है, इतिहासभर में वैसा नहीं आया। भारतीयता का उच्छेद ही इस युग में हो जा सकता है, अगर वहाँ से समय रहते कोई प्रभाव और प्रतिभा प्रकट नहीं हो गयी। योरप की तरफ से आयी सभ्यता स्वार्थमूलक है, भारतीयता परमार्थमूलक थी। परार्थ हो सकता है जिससे स्वार्थ जीत जाय। नैतिकता उस परार्थ को ही स्वार्थ के समक्ष प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करती है। इसमें चेतन अवचेतन को दबाने की कोशिश में पड़ता और हारता है। लेकिन परमार्थ में स्वार्थ पर प्रहार नहीं है, केवल परार्थ से उसका योग है। भारतीयता इस तरह नैतिक से कुछ अधिक रही है। वह आध्यात्मिक और समग्र रही है। नैतिक आदेश, उपदेश और आदर्श की भूमिका से आये धर्म-दर्शन कम्युनिज़्म की बाढ़ में बह जाते हैं। लेकिन अध्यात्म में से तेज और ओज लेकर वह आ सके, तो यह बाढ़ स्वयं अपने पर लोटकर अपने को लीलने-खाने लग जायगी। कारण, वह आग उससे निगली नहीं जा सकेगी। आग स्वयं जो सबको स्वाहा करने की क्षमता रखती है!

राजनीतिक भविष्य

१६२. ऐसी स्थिति में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है, वह यह कि यदि आगामी चुनाव में किन्हीं भी अप्रत्याशित कारणों से कांग्रेस हार जाय और नेहरूजी को अपदस्थ होना पड़े, तब शासन की इस बागडोर को कौन संभालेगा और देश का राजनीतिक भविष्य क्या रहेगा?

—देश का राजनीतिक भविष्य मैंने कहा न था कि मुझे अँधेरा लगता है। राजनीति से स्वतन्त्र यदि कोई शक्ति स्वप्रतिष्ठ बनकर इस बीच भारत में नहीं खड़ी हो जाती है, तो कांग्रेस की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होगी, तब दूसरे दल जगह घेरने के लिए दौड़ेंगे और इस तरह एक गृहयुद्ध की-सी परिस्थिति आ बनेगी। कम्युनिज़्म सब जगह गृहयुद्ध में से मार्ग बढ़ाता हुआ आगे बढ़ा है। वैसी गृहयुद्ध की-सी स्थिति एकबार पैदा हुई, तो मेरे मन में स्पष्ट है कि कम्युनिज्म के सिवा फिर किसीके लिए

सम्भावना नहीं रह जाती। नकारात्मक भाव एकबार पैदा हुए और भड़के तो उनकी नकारात्मकता को इंधन की भाँति उपयोग में ले आने की कला कम्युनिज्म ने सिद्ध की है। दूसरे किसीके पास वह निपुणता सिद्ध की हुई नहीं है। दूसरे लोग नैतिक आदि विचारों के लिए खुले रहते हैं। कम्युनिज्म की तन्त्रात्मक श्रद्धा इतनी साबित और साधित होती है कि वह इन पचड़ों से रुकने की जरूरत में नहीं पड़ती है। यदि किसी प्रबल नैतिक शक्ति का उदय भारत में नहीं हो सकता जो राजनीति पर ही निर्भर न हो, राजकारण से भी स्वतन्त्र जिसका प्रभाव हो, तो मेरे मन में सन्देह नहीं है कि एक बार इस भूमि पर कम्युनिस्ट-शासन का प्रयोग हुए बिना नहीं रहेगा। कांग्रेस से मेरी आशाएँ इस सम्बन्ध में टूटती जा रही हैं कि वह संस्था कर्मलिप्ति से ऊपर आकर धर्म की सम्भावनाओं को पहचान और पकड़ सकेगी।

नेहरू रोमेण्टिक

नेहरू भारत के पास अवश्य एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका सानी दूसरा नहीं है। उनकी चमक दूसरे को चमकने नहीं देती। इसलिए उनसे कुछ सहारा मालूम होता है। यह भी लगता है कि जब तक वे हैं, संकट बचा हुआ है। लेकिन जैसा मैंने कहा कि कांग्रेस के लिए वे ही बड़ी समस्या हैं। कारण, कांग्रेस उनके व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नहीं हो पाती है, न राह बदल सकती है। और नेहरू रोमेण्टिक चमक के आदमी हैं। उनके रक्त में ही यह नहीं है कि वे सेवक बन सकें।

१६३. आपने ऊपर नेहरूजी को कांग्रेस के लिए एक समस्या और कांग्रेस को भारत के लिए एक समस्या बताया है। इस उक्ति का तनिक और स्पष्टीकरण कीजिए—नेहरूजी के व्यक्तित्व, उनकी व्यवहार-नीति तथा उनके स्वभाव का विशेष ध्यान रखते हुए।

डिमोक्रेटिक नेता, एरिस्टोक्रेटिक व्यक्ति

—नेहरू डिमोक्रेटिक नेता हैं। लेकिन एरिस्टोक्रेटिक व्यक्ति हैं। इसलिए स्वयं में वे एक समस्या हैं। कांग्रेस के लिए तो समस्या ही समस्या हैं।

संगठन के रूप में कांग्रेस यदि नेहरू को अपने लिए समस्या से अधिक सम्बल मानती है, तो इस कारण कि वह कांग्रेस के पास एक अद्वितीय व्यक्तित्व है। उनको लेकर पैदा हुए कांग्रेस के अन्तर्व्यवस्था के प्रश्न निबट जाते, या अन्त में कहीं किसी करवट बैठ जाते हैं। लेकिन इस सब सुभीते के बावजूद कांग्रेस के लोग यह अनुभव अवश्य ही करते होंगे कि नेहरू उनके लिए सुविधा से कम समस्या नहीं हैं। जितनी बड़ी वे सुविधा हैं, उतनी बड़ी समस्या हैं।

गांधी और नेहरू के रास्ते

कांग्रेस वह संस्था है, जिसको गांधीजी का साथ मिला था और अब भी जो जन-मानस में पूरे तौर पर गांधी के नाम से उतर नहीं गयी है। नेहरू गांधी के उत्तराधिकारी हैं, यह सब मानते हैं। कांग्रेस गांधी की संस्था थी, यह सबको याद है। लेकिन नेहरू के पास अपना रास्ता है, जो गांधी का रास्ता नहीं है। वह रास्ता कांग्रेस के अन्तरंग में से नहीं आया है। नेहरू के कारण कांग्रेस ने स्वीकार किया है।

व्यक्तिगत बलाबल

कांग्रेस देश के लिए समस्या इसलिए है कि देश जान नहीं पाता कि उसे किस रास्ते चलना है। 'सोशलिस्ट' रास्ता कुछ ठीक तरह देश की समझ में बैठता नहीं है। कम्युनिस्ट रास्ता तो भी कुछ-कुछ उसके मन में बैठ सकता है। गांधी का राम-राज्य बौद्धिकों के लिए कितना भी अस्पष्ट हो, देश के मन में सदियों से उतरा हुआ है और उसके सहारे गांधी का रास्ता उसमें दुविधा पैदा नहीं करता। इन भीतरी कारणों से कांग्रेस अपने लिए और देश के लिए समस्या बन जाती है। वैचारिक दृष्टि से वह एक बड़े संगठन के अतिरिक्त और आज क्या है? अगर सोशलिस्ट पेटर्न उसका ध्येय है, तो प्रजा-सोशलिस्ट और सिर्फ सोशलिस्ट आदि पार्टियाँ अलग क्यों हैं? व्यक्तित्वों के कारण अलग हैं, तो हाल क्या वही न मानना चाहिए, जो मार्क्सिज्म के क्षेत्र में देखा जाता है। मार्क्सिज्म अलग-अलग रूपों और दलों में बँटा है, तो क्या राजनीतिक और व्यक्तिगत कारणों से ही नहीं? कांग्रेस का संगठन भी जो है, और जिस तरह चल रहा है, व्यक्तिगत भूमिका और व्यक्तिगत बलाबल से चल रहा है। वैचारिक अथवा निष्ठा की भूमिका उसके पास नहीं है।

गांधी के नाम की पूंजी

परिस्थिति का संकट काफी कट सकता है, अगर गांधीवाद और कांग्रेस का सम्बन्ध जन-मानस में स्पष्ट हो जाय। यह ही चाहे हो जाय कि गांधी के रास्ते से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। गांधी के नाम की पूँजी का उपयोग कांग्रेस अपने व्यापार में आगे नहीं करेगी, तो मैं समझता हूँ कि इससे कांग्रेस की ताकत साफ होगी। वह कट-छँटकर जवाहरलाल नेहरू के मान तक आ जायगी। नेहरू से अनमिल तत्त्व झड़ जायँगे और अनावश्यक स्थूलता कांग्रेस-शरीर की घट जायगी। इस सबसे आशा है कि कांग्रेस का स्वास्थ्य बढ़ेगा और अस्त्र के रूप में उस पर लगा हुआ जंग धुल जायगा। राजाजी, कृपलानी, जयप्रकाश साफ अपनी-अपनी जगह आ जायँगे और किसी भी एक को गांधी के नाम के उपयोग की शिकायत या सुविधा नहीं रह जायगी।

आज तो उस सबके अवकाश की वजह से बेहद गड़बड़ है। सब गांधी का नाम लेते और दुहाई में उन्हें ऊँचा उठाते हैं। कम्युनिस्ट और जनसंघ इस सम्बन्ध में साफ हैं और उनकी शक्ति इसीलिए बढ़ भी रही है। लेकिन शेष तीनों नारा एक देते हैं, फिर भी एक-दूसरे को काटते दिखाई देते हैं। और देश बौखलाया रह जाता है, कुछ समझ नहीं पाता।

यह अनुभव किया जा रहा है कि गांधी का मन देश की धमनी के साथ धड़कता था। वह प्रभाव अब भी देश के अन्तरंग में व्यापक भाव से बसा हुआ है। विरोधी भी यह अनुभव करते हैं। विरोधियों को इस ईमानदारी का लाभ मिलता है कि वे अपनी दूकान उस पूँजी से नहीं चलाना चाहते। दूकान हम अपनी चलायेंगे, पूँजी दूसरे की हो, तो कानूनी न्याय से भी यह जायज नहीं है। उससे वस्तुस्थिति में पेंच और उलझनें बढ़ती हों, तो इसमें अचरज ही क्या है। यह गड़बड़ की स्थिति यदि आज देश में है और एक गहरी अनिश्चितता व्याप्त है, तो मुख्यता से वह कांग्रेस के कारण है। और कांग्रेस चाहकर भी अगर इस दोष से अपने को बरी नहीं कर सकती, तो यह उसकी असमर्थता नेहरू के कारण है।

राइट और लेफ्ट

देश में दो विदेशी शब्द नाहक चल रहे हैं और उन्होंने बड़ा असमंजस और संकट पैदा कर रखा है। वे हैं राइट और लेफ्ट। गांधी-युग में जैसे ये शब्द अस्तित्व में न थे। मार्क्सिज्म की ओर से ये आये और गांधी के जीवन-काल में भी पूरी युक्ति के साथ इन्हें बोकर और सींचकर अंकुराने की कोशिश की गयी। लेकिन वे उभर ही न पाये। कहीं जबरदस्ती उदय में आते कि वहीं वे अस्त भी हो जाते थे। कांग्रेस-राजनीति में जैसे जवाहरलाल नेहरू के द्वारा ये शब्द पहले-पहल भीतर आये। शायद नेहरू के दिमाग में अब भी वे कुछ अर्थ रखते हैं और इनके सहारे वह दिमाग काम करता है। गांधी ने दूसरी भाषा और दूसरी दृष्टि देश को दी थी। तब हम सत्यता और सज्जनता से आदमियों और दलों की पहचान करते थे। आज नये बाँट और नये पैमाने चले हैं न ? तो जैसे सत्यता और सज्जनता की कसौटी पुरानी पड़ गयी है। अब जाँच राइट-लेफ्ट से हो जाती है। परिणाम यह है कि आदमी को आदमियत की फिक्र नहीं है, सच रहने या सज्जन बनने की चिन्ता नहीं है। नहीं, उसका काम आदमी को इधर या उधर, दायें या बायें बता देनेभर से जो चल जाता है ! मानव-समाज में राइट और लेफ्ट ने आकर शुद्ध दलवाद की सृष्टि कर दी है। इसको रेजिमेण्टेशन या आम बोली में कतारबन्दी कहिये। समाज की वह हालत बना दी है कि 'राइट-लेफ्ट, राइट-लेफ्ट, क्विक मार्च !' मानो समाज

एक फौंज हो। हम नहीं जानते, लेकिन दलवाद के इस रास्ते से सेनावाद घुस आता है। फिर वहाँ से विग्रहवाद और युद्धवाद ही परम राजनीति और मानव-नीति के प्रकार बन जाते हैं! हम लाख चाहें, उस रास्ते शान्ति नहीं आ सकती। उस ढंग से युद्ध का हुनर अवश्य साधा जा सकता और सारे देश को उस स्तर पर सुसज्ज किया जा सकता है!

विचारों और संकल्पों की गुलझट

भारत देश को अगर उधर नहीं चलना है, तो उसे खबरदार रहना चाहिए। चलना हो तो संकल्पपूर्वक पूरी साबितक़दमी से चलना चाहिए। तब कोई हानि नहीं है कि देश को एक डिक्टेटरशिप में संगठित और एकत्र कर लिया जाय और किरच की नोंक से भ्रष्टाचार को नाबूद कर दिया जाय। लेकिन इरादे के साथ। उस राह की तरफ अगर देखना भी हमें खतम कर देना है, तो बिलकुल जरूरी है कि हमारे विचार ढिलमिल न हों, पँचरंगी और पँचमेल न हों। वे साफ और सीधे हों, दिमागी से ज्यादा हार्दिक हों। श्रद्धा का उन्हें पृष्ठ-बल हो और वह निरे रोमेण्टिक न हों। गांधी कितने भी अहिंसक रहे हों, पर आग्रह के लिए उनके जीवन में अवकाश था। अवकाश ही नहीं, उस आग्रह का उनके जीवन में सर्वोपरि स्थान था और वहाँ किसी तरह का समझौता वे कर नहीं सकते थे। यह दृढ़, निश्चित और साफ मनोभाव था, जिससे वे ऐसे नेता बने कि कभी समझौते में गिरकर उन्हें नीचे नहीं आना पड़ा। यह उनकी अरिस्टोक्रेसी उनको एकाकी रखे रही और उसमें किसीका नुक-सान नहीं हुआ। लेकिन डिमोक्रेटिक वे रहे, सम्पूर्ण राजनीति में अहिंसा को अप-नाये रखने के कारण। किसी व्यक्तित्व या किसी मत का खण्डन उनसे नहीं हुआ और राजकारण में वे अपने व्यक्तित्व को पीछे और अपदस्थ रखकर दूसरे को ऊँचाई और पदवी देते चले गये। नेहरू अरिस्टोक्रेटिक समाज में हैं, डिमोक्रेटिक सिद्धान्त में। इसमें घोड़े और गाड़ी की जगह आपस में अलट-पलट जाती है। नेहरू की सोशलिस्ट श्रद्धा हो तब भी कुछ बन सकता है, मानवीय श्रद्धा हो तो और भी अधिक बन सकता है। लेकिन दोनों का गुलझट हो तो राम जाने क्या बनेगा!

१६४. कम्युनिज्म को हममें से बहुत एक हौवा क्यों मानते हैं? यदि हममें से कुछ भाई एक विशेष रास्ते पर देश को ले चलना चाहते हैं तो ले चलें। आज जो कम्युनिस्ट और कम्युनिज्म एक आशंका, भय और संकट का विषय बना दीखता है, उसमें वे तथाकथित दक्षिणपंथियों की हीनता देखते हैं अथवा वाम-पंथियों की वामता? भारत की परिस्थितियों को विशेष रूप से दृष्टि में रखते हुए इस प्रश्न का उत्तर दीजिये।

दक्षिण और वाम अन्दर से एक

—जो हौवा बनाकर देखता है, उसकी श्रद्धा सत्ता में है और मानो इस भाँति कम्यु-नि:म की सत्ता को वह स्वीकार करता है। इस दृष्टि और वृत्ति को मैं राजनीतिक मानता हूँ और मुझे यह भी प्रतीत होता है कि कम्युनिज्म के लिए ऐसा भय अवाञ्छनीय नहीं है। वह इज्म स्वयं शक्ति के जोर से चलता है। उसकी दृष्टि और वृत्ति भी राजनीतिक है और भय-निर्माण, सैन्य-निर्माण आदि-आदि में उसकी भी श्रद्धा है। हिंसक उपायों से बचने का कोई आग्रह उसके पास नहीं है, बल्कि हिंसक शक्ति का उसके पास खूब उपयोग है। पहला उपयोग स्वयं यह भय है। भय के आगे कृत्य तक जाने की भी तैयारी रहती है, कोरी धमकी ही उसके पास नहीं है।

दक्षिण और वाम इन दो शब्दों के पीछे मानसिकताएँ दो हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। वे दल ही दो हैं। दोनों राज्य चाहते और सैन्यशक्ति में विश्वास रखते हैं। लोगों के अन्त:करण को बाद देकर उनसे प्रयोजन साध लेने के तरीके में दोनों समान हैं। संगठन और संख्या में दोनों का भरोसा होता है। विरोध के नाश में दोनों एकमत और सहमत होते हैं। इस दक्षिण और वाम की भिन्नता सिर्फ राजनीतिक सतह तक है, उसके नीचे उन दोनों में भेद करना कठिन है और अनावश्यक है। कम्यु-निज्म अगर दक्षिणपंथियों के लिए हौवे के समान हो जाता है, तो स्वयं कम्युनिज्म विपक्ष को दानव और राक्षस के रूप में चित्रित करके अपना काम चलाता है। भय में से घृणा उपजायी जा सकती है। घृणा में से रोष, रोष में से साहस और साहस में से पराक्रम के कृत्य निकाल लिये जा सकते हैं। इस प्रकार का हिंस्र पराक्रम दक्षिण-वाम दोनों ही के लिए अनिष्ट नहीं रहता। इसलिए भय और घृणा से दोनों अपने-अपने लिए लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं।

कम्युनिस्ट दल अन्य दलों से विशिष्ट नहीं

राजनीतिक तल पर इस तरह कम्युनिस्ट-वर्ग को दूसरे और राजनीतिक दलों से मैं अलग और विशिष्ट करके नहीं देख पाता हूँ। तब कम्युनिज्म के पक्ष में यह विशेषता अवश्य है कि उसके पास एक सुनिश्चित वैचारिक लक्ष्य और दर्शन रहता है। दूसरे राजनीतिक दलों के पास उस भूमिका की सुविधा उतनी नहीं रहती। ठीक यही स्थल है, जहाँ मैं स्वयं कम्युनिज्म को महत्त्व देने को तैयार हो जाता हूँ।

कम्युनिज्म एक राज्यवाद

विचार और संस्कृति की दृष्टि से कम्युनिज्म से मैं खुद भी डरता हूँ। उस डर को

मैं अनिष्ट भी नहीं मानता हूँ। भगवान् का डर मनुष्य की सहायता करता है। पाप का डर मनुष्य को निर्बल या गलत नहीं बनाता। इस सूक्ष्म ढंग के डर को मैं जीवन-निर्माण और गति-निर्माण में उपयोगी मान सकता हूँ। इस दृष्टि से कम्युनिज्म मुझे खुल्लमखुल्ला एक राज्यवाद मालूम होता है। विचार और दर्शन वहाँ साध्य नहीं, साधन हैं। इस तरह संस्कारिता और मानवता को जैसे वहाँ राज्य-विचार और राज्य-व्यवस्था में सामग्री और समिधा मान लिया जाता है। मुझे यह क्रम बिलकुल मान्य नहीं है। राज्य को और उसके विचार को मैं किसी तरह साध्य मानने को तैयार नहीं हूँ। सारी राजनीति साधन होनी चाहिए मानवता के सांस्कृतिक विकास के साध्य में। कम्युनिज्म में यह क्रम उलट जाता है और विचार-सामग्री मानो वहाँ एक स्वतन्त्र कर्मकाण्ड में होमने के लिए तैयार की जाती है। इस तरह तत्त्व-विचार के साथ वहाँ जोर-जबरदस्ती होती है और वह सद्विचार न होकर सहेतुक विचार हो जाता है।

हिंस्र कार्यक्रम मानवीय नहीं हो सकता

मेरा मानना है कि जहाँ हम किसी भी तत्त्व-विचार में से हिंस्र कार्यक्रम तक आ जाते हैं, वहाँ अपने और तत्त्व के साथ निर्मोह और निष्कपट विचार नहीं कर रहे होते, बल्कि जाने-अनजाने रागासक्त होते हैं। हिंसा के समर्थक किसी विचार को मैं सम्यक् विचार मान नहीं पाता हूँ। निश्चय है कि उसके नीचे कहीं कोई व्यक्तिगत क्षति, कोई चोट काम कर रही होती है। सांस्कृतिक और मानवीय विचार किसी तरह प्रेम से बचकर अप्रेम और द्वेष के समर्थन तक पहुँच सकता है, ऐसा मैं सम्भव नहीं मानूँगा।

जहाँ यह हठात् फिर भी कर लिया जाता है, उस विचार से हम सबको डर लग आना चाहिए।

भारत का कम्युनिज्म

१६५. भारतीय कम्युनिज्म पर भारतीयता और गांधीवाद का कितना रंग चढ़ पा सकेगा और भारतीय कम्युनिस्ट रूस और चीन के हाथों में एक खिलौनामात्र न रहकर भारत की राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक समग्रता का प्रतिनिधि बन सकेगा, इसे क्या आप सम्भव मानते हैं?

——यह अन्त में शब्दों का प्रश्न है। शब्द इतिहास के हाथों पड़कर सचमुच बड़ा अजब खेल खेल जाते हैं। जैसे भारत में एक शब्द चलता है वाम-मार्ग। यह एक पंथ है और बौद्ध-धर्म से निकला कहा जाता है। भगवान् बुद्ध से जो चित्र मन में

उपस्थित होता है, उसका भला वाम-मार्ग से बननेवाले चित्र से कैसे कोई वास्ता हो सकता है? लेकिन वाम-मार्ग जिन आचार्यों से चला, उनकी परम्परा को अन्त में बुद्ध से जुड़ा देखा जा सकता है। इसी तरह आज कम्युनिज्म मार्क्स से उतने घनिष्ठ भाव से जुड़ा नहीं माना जा सकता, जैसा आरम्भिक कम्युनिज्म था।

भारतीय अहिंसक साम्यवाद

नियम और तर्क जीवन का चलता है और इसमें शब्दों का काफी संशोधन हुआ करता है। असम्भव नहीं है कि कम्युनिज्म भारत की आवश्यकताओं के साथ अपना समन्वय करते-करते स्वयं नया ही संस्करण प्राप्त कर ले। भारत की भूमि में तो अक्सर ऐसा होता रहा है। कम्युनिज्म को भी स्वयं में इतनी सामयिक सफलता इष्ट है कि किसी सिद्धान्तवादी शुद्धता के लोभ में वह नहीं पड़ेगा और हर तरह परिस्थितियों के साथ समझौता करता हुआ लाभ उठाना चाहेगा। यह व्यवहारिक निपुणता आज भी उसमें समायी हुई देखी जा सकती है। कम्युनिज्म में आज व्यावहारिक राजनीति अधिक है, सैद्धान्तिक मतवाद उतना नहीं है। इन सब कारणों से एक भारतीय अहिंसक साम्यवाद जैसा कुछ निष्पन्न हो आये, तो मुझे विस्मय न होगा। गांधीजी की आदत आप जानते हैं। वे किसी शब्द का तिरस्कार नहीं करते थे। सोशलिस्ट शब्द आया, तो उन्होंने उसका परिहार नहीं किया, न स्वयं साम्यवाद शब्द का वर्जन-तर्जन किया। उनको आदर से स्वीकार करके जैसे मानो उनमें अपना अर्थ डाल देने का उन्होंने प्रयास किया। ऐसे शब्द मिल जायँगे, जहाँ उन्होंने स्वीकार किया हो कि वह सोशलिस्ट है, कम्युनिस्ट है किंतु . . . यही प्रक्रिया है, जिससे शब्दों की आपसी अनबन दूर होती और उनमें एक स्वर-संधि बन आती है। उस संगति से साहित्य और संगीत का जन्म होता है। भारतीय आत्मा की यदि जय हुई तो मुझे लगता है कि आगे-पीछे यह सामंजस्य सधकर रहेगा। साम्यवाद हिंसा तजकर अहिंसा में उठेगा और साम्य-धर्म हो जायगा।

कम्युनिस्ट-पार्टी में दरार

१६६. वर्तमान कम्युनिस्ट-पार्टी में ऐसा प्रतीत होता है, एक दरार पड़ गयी है। कुछ लोग पूरी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के समर्थक और चीन के सहयोगी बनकर चलना चाहते हैं, जब कि दूसरे कम्युनिज्म के भारतीय संस्करण के विकास पर बल देते हैं। भारत-चीन-समस्या को ध्यान में रखते हुए क्या आप इस परिस्थिति पर कुछ प्रकाश डालेंगे?

द्वन्द्व अनिवार्य

—यह मन्थन और द्वन्द्व बचाया नहीं जा सकता। सिद्धान्त एक वस्तु है, जीवन दूसरी वस्तु है। दोनों में जब तनाव दिखाई दे, तो किसके प्रति वफा रखी जाय, किसके प्रति द्रोह सहा जाय, यह प्रश्न पैदा होता है। इतिहास में आप अजब दृश्य पायेंगे। जितने धर्म-प्रवर्तक हुए हैं, धर्म-विज्ञों द्वारा ही उनका विरोध हुआ है। सन्त को पण्डित ने कष्ट दिया है। हमारी बुद्धि हमारा अंग है, लेकिन कभी वह हमी पर सवार हो जाती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति मत और सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहता है, चाहे जीवन से वह किनारे ही छूट जाय। भारतीय साम्यवादी दल में यह घटना घटे, यह अनिवार्य है। समय भी उस अनिवार्यता के लिए आ पहुँचा है। राष्ट्रभाव एक यथार्थता है, कम्युनिस्ट के लिए अपनी आइडियालॉजी भी उतनी ही यथार्थ है। उस आइडियालॉजी में वह चीन के साथ है, राष्ट्र-भाव से उसका मन भारत के साथ है। चीन और भारत में दरार पड़े, तो साम्यवादी भारतीय-दल में दरार पड़नी ही चाहिए। अगर नहीं पड़ती है, तो प्रमाण होता है कि भारतीयत्व उस दल में रह ही नहीं गया। ऐसा हो तो भारतीय सरकार अभारतीय कहकर उस सारे ही दल को अस्वीकार कर दे, अवैध घोषित कर दे, तो इसके लिए भारतीय शासन के पास अच्छा तर्क हो जाता है। लेकिन सन्तोष है कि दरार पड़ी है और मालूम हुआ कि भारत के प्रति वफा का भाव साम्यवादी में सर्वथा अनुपस्थित नहीं है।

स्थानीय संस्करण

जैसे-जैसे साम्यवाद अपनी-अपनी जगह स्थानीय परिस्थितियों को झेले-सँभालेगा, वैसे-वैसे उसके ये विविधदेशीय संस्करण आपस में कुछ भिन्न और दूर होते जा सकते हैं। आज भी रूस और चीन के साम्यवादों में फासला माना जाता है।

मुझे मालूम होता है कि समन्वय यदि है तो मन में है, वह जीवन में से आता है। इसलिए मतवाद को ऊँचे उठाकर जो चलता है, वह स्थिति-परिस्थिति के साथ आगे-पीछे विग्रह में आ जाता है, अन्त में उसे टूटना-बिखरना पड़ता है। जीवन की वर्तमान गति में यदि कोई टिकेगा और ऊपर तिरता हुआ दीखेगा तो वह होगा, जो शब्दों से नहीं रहता; बल्कि शब्दों को अपने साथ रखता और उन्हें यथावश्यक उपयोग में लाता है। साम्यवादी दल शब्द की अधीनता में नहीं है, ऐसा जब वह प्रमाणित कर पायेगा, तो मैं समझता हूँ भारत के साथ उसका अनमेल समाप्त हो जायगा। तब भारतीयता द्वारा होनेवाला संशोधन उसको हृदय से मान्य होता जायगा।

कम्युनिस्टों की चीन के प्रति नीति

१६७. यदि कम्युनिस्ट शासन पर आ जायँ, तो चीन के साथ हो रहे सीमा-विवाद के प्रति उनका क्या रुख होगा, क्या इसकी कुछ कल्पना की जा सकती है? यदि कहीं उन्होंने वर्तमान सरकार की नीति को ही अपनाया, तब कम्युनिज्म का क्या भविष्य भारत में होगा, इस पर भी प्रकाश डालें।

—कम्युनिस्ट हुकूमत पर आकर हिन्द-चीन-विवाद के बारे में क्या रुख लेंगे, इस सम्बन्ध में कल्पना को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है। सरकार एक मात्रा तक ही लोकमत से आगे-पीछे या इधर-उधर हो सकती है। मात्रा से अधिक दल-मानस और जन-मानस में अन्तर पड़ा, तो उस दल की सरकार को गिरना होगा। आज तो स्वयं कम्युनिस्ट दल की कान्फ्रेन्स में जो घटित हुआ, उससे स्पष्ट है कि भारतीय-भावना के विरोध में जाना नहीं हो सकता। उस सम्बन्ध में कोई सन्देह जन-मानस में रहा, तब तक यह सम्भव नहीं होनेवाला है कि शासन कम्युनिस्ट हो। भारतका वोट उनके पक्ष में होगा तो तभी जब इस सम्बन्ध में भारत उनसे आश्वस्त होगा। यह उस परिस्थिति में, जब शासन का निर्णय वोटों से हो। कहीं गृहयुद्ध में से निर्णय होनेवाला हुआ, तब की तो बात ही दूसरी है। तब तो कम्युनिस्ट के अलावा कोई और दल हो ही नहीं सकता, जो अन्ततः सफलता में उभरा हुआ दिखाई दे। आज की शासन-नीति तो कम्युनिस्ट शासन नहीं ही अपनायेगी, और चीजों की बात दूसरी है। सीमा-विवाद के सम्बन्ध में उसकी चीन के प्रति नीति फौजी प्रतिरोध की नहीं होगी, उसमें आपसी बातचीत का आधार अधिक होगा, यही आशंका शायद भारत के मत को आज के दिन उनके पक्ष में जाने से रोके रखेगी।

कम्युनिस्ट दल की विफलता के कारण

१७. कम्युनिस्ट-पार्टी जो भारत में बड़ी सफलता नहीं प्राप्त कर सकी, इसके आप क्या कारण मानते हैं? सीमा-विवाद एक सामयिक कारण हो सकता है। पर मूल कारण क्या है, जो उसे और देशों की भाँति छा जाने से रोक रहे हैं?

मूल कारण गांधी

—सबसे बड़ा कारण है गांधी। उससे दोयम है स्वयं गांधी द्वारा उत्तराधिकार-प्राप्त नेहरू। गांधी प्रतीक है राजनीति में कम्युनिज़्म से ठीक उल्टी नीति-रीति और सिद्धान्त के। एकाएक सही मालूम होता है यह कि ऊपर हूकूमत को गिरा दो, क्योंकि उसके कारण अन्याय और शोषण हैं। जैसे भी बने गिरा दो, क्योंकि यह तो होनेवाला नहीं है कि वह स्वयं उतरे। गिराने के लिए चेष्टा करनी होगी। इसके

लिए सर्वहारा जनो आओ, मिल जाओ और हमला बोल दो। यह ऐसा तीर-सा तर्क था, और है, जो वंचित और क्षुब्ध मन में सीधा उतरता चला जाता है। गांधी व्यक्ति हुआ, जिसने दूसरा ही तर्क उपस्थित कर दिया। वह तर्क अनायास मन में उदय हो नहीं पाता। बुद्धि में से निकलता ही नहीं, न बुद्धि में बैठता है। उसीको गांधी ने अपने जीवन से सही, सरल और सिद्ध करके दिखा दिया। गांधी वह तर्क है, जो कम्युनिज्म के विस्तार में, न सिर्फ भारत में बल्कि दुनिया भर में, कभी भारी बाधा सिद्ध होनेवाला है। कहीं उस तर्क में से तदनुकूल क्रिया भी निकल आ.यी, तो बहाव उल्टा भी चल सकता है। यानी, कि तब स्वरक्षा की भाषा में सोचना कम्युनिज्म को पड़ जाय, इधर से ऐसी एक अदम्य चेष्टा और सत्यता जाग सकती है। गांधी के बाद स्थिति में एकाएक ऐसा अभाव आ सकता था कि कम्युनिज्म की बन आती। लेकिन एक तो गांधी के पुण्य से बलशाली कांग्रेस-संस्था मौजूद थी, दूसरे उनके आशीर्वाद से मनोनीत उत्तराधिकारी पण्डित नेहरू मौजूद थे। इससे कम्युनिज्म के लिए उपयुक्त अवसर नहीं आ सका।

नेहरू और कम्युनिज्म

नेहरू कम्युनिज्म और भारत के बीच एक जबरदस्त हस्ती हैं। जबरदस्त इस-लिए कि गांधी के नाम का बल उनके साथ है। लेकिन वे ही कम्युनिज़्म के बलवर्धन के लिए आड़ साबित हो रहे हैं; क्योंकि नेहरू में और सब है, गांधी-श्रद्धा नहीं है। गांधी की श्रद्धा की आग के बिना गांधी की उदारता बहुत बड़ा खतरा पैदा कर सकती है, इसका शायद नेहरू को पता नहीं है। सहिष्णुता कितनी भी मात्रा में हो, वह गुण हैं; लेकिन तभी, जब पास में असहिष्णुता की शक्ति उतनी ही प्रखर और तीव्र हो। विचार और श्रद्धा के क्षेत्र में ऐसा कुछ भी सम्बल नेहरू को प्राप्त नहीं है। इसलिए यह मानकर भी कि गांधी के बाद दूसरी रुकावट कम्युनिज्म के विस्तार के मार्ग में नेहरू का व्यक्तित्व है, यह भी स्वीकार करना होगा कि जिस मात्रा में वह व्यक्तित्व गांधी से मुक्त है, उस मात्रा में वह कम्युनिज्म के लिए अनजाने तौर पर ओट और सहारा बन रहा है। इसीसे आप देखियेगा कि तब कम्युनिस्ट कांग्रेस की निन्दा कर सकता है जब नेहरू को पहले मानो कांग्रेस से अलग करके अपना समर्थन और बल दे ले। नेहरू का व्यक्तित्व उसे अपने लिए चाहिए। अत: यदि कांग्रेस के संगठन से नेहरू के नाम को एक बार ऊँचा और अलग़ कर दिया जाता है तो वह नाम कम्युनिज़्म के लिए फिर बाधक के बजाय साधक हो चलता है। कम्यु-निस्ट यह अनुभव करता है कि नेहरू अपने व्यक्तित्व में गांधी से स्वतन्त्र हैं, कांग्रेस अलबत्ता उस तरह स्वतन्त्र नहीं है। कांग्रेस के लोग देश में से आते हैं और सारा

देश गांधी-प्रभाव से अब भी धड़क रहा है। इसलिए कांग्रेस उस प्रभाव से चाहकर भी मुक्त नहीं बन सकती। इसलिए नेहरू का व्यक्तित्व ही यदि इतना ऊँचा और अद्वितीय बनता है कि कांग्रेस की एकता नेहरू के कारण सम्भव हो, अन्यथा कांग्रेस एक अन्तर्विग्रह में फँसी और बिखरी हुई संस्था बन जाय, तो इतने मात्र से कम्युनिस्ट-दल की सम्भावनाएँ मजबूत होती हैं। नेहरू के बिना कांग्रेस बेकार हो जाती है और कांग्रेस के बिना नेहरू कम्युनिज्म के हाथों बाधा की जगह सुविधा बन जाते हैं।

भारत की अन्तःप्रकृति

भारत की अन्तःप्रकृति, उसकी धर्म-परायणता, उसका स्वल्प सन्तोष और अपरिग्रह, उसका ग्रामवाद और कृषिवाद आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो कम्युनिज्म के अनुकूल नहीं बैठते। गांधी में मानो ये सब तथ्य अपनी महदाशयता में मूर्त हो गये थे। कांग्रेस में वे अभी लुप्त नहीं हो गये हैं, और यों नेहरू भी अब तक खद्दर ही पहनते हैं, लेकिन उनका मन अब खद्दर बने रहने की मजबूरी से आजाद और ऊँचा बन गया है। कम्युनिस्ट यह पहचान गया है और स्वयं चाहे भारत उसे अपने अनुकूल न जान पड़ता हो, लेकिन दलगत राजनीति के अलावा नेहरू अब उसे अपने लिए प्रतिकूल नहीं जान पड़ते हैं, बशर्ते कि उनके व्यक्तित्व को कांग्रेस के सन्दर्भ से एक बार तोड़कर अलग कर दिया जाय।

भारत का कम्युनिस्ट बनना आसान नहीं

दूसरे देशों में धर्म-संस्थाएँ प्रबल रही हो सकती हैं, लेकिन तन्त्र में बँध रहने से धर्म स्वयं इतना अटूट नहीं रह जाता है। अतः उन देशों में कम्युनिज्म को अपनी राह में उतनी कठिनाइयाँ नहीं जान पड़ी हैं। भारत में धर्म संस्थाबद्ध केवल नहीं है, वह मनों में घर किये बैठा है, इसलिए कुछ अधिक प्रतिकूलता का निर्माण करता है। मुझे लगता है कि एशिया के दक्षिण-पूर्व के देश यदि आसानी से गिरते गये, तो भी भारत का कम्युनिज्म की झोली में पड़ना उतना आसान नहीं है।

कांग्रेस में फूट

१६९. कांग्रेस में जो भयंकर फूट और मतभेद पैदा हुए हैं, वे देश के लिए बड़े संकट प्रद और घातक सिद्ध हो सकते हैं। आपकी राय में इस फूट को मिटा देने का कोई उपाय है या नहीं? या समय की चोट ही सब कुछ बराबर करेगी?

इतनी बड़ी राष्ट्रीय संस्था में क्या कोई भी ऐसा व्यक्तित्व नहीं, जो इस मृतप्राय विशाल कलेवर में नये प्राण फूंक सके ?

नेहरू का व्यक्तित्व

—जाहिर है कि एक व्यक्तित्व कांग्रेस के पास पण्डित नेहरू का बचा है, जिसको लेकर आपस के झगड़े कुछ दूर तक सामयिक तौर पर शान्त हो सकते हैं। कुछ दूर तक और फौरी तौर पर इसलिए कि प्राइम मिनिस्टर इससे अधिक सफलता पा नहीं सकता। प्राइम मिनिस्टर बल के ऊपर बैठा है और ऐसी समस्याओं का स्थायी निपटारा हृदय-परिवर्तन से आ सकता है। बल प्रधान हो, तो उस शक्ति-संचय के लिए संघर्ष की रीति एक स्थायी नीति बन जाती है। अर्थात् उस ढंग से कांग्रेस-दल के अन्दर की खींचतान और गुटबाजी कम नहीं हो सकती। गुट बनते ही शक्ति-सम्पादन के लिए हैं। यदि गुण से अधिक संख्या की जय होती है, तो आवश्यक है कि गुटबन्दी की जड़ें फैलें और गहरी जायँ।

बाबू राजेन्द्र प्रसाद

बाबू राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति हैं और एक तरह वे कांग्रेस से अलग हैं। कांग्रेस की आपसी उलझनों के निर्णय में वे सीधा अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। राष्ट्रपति की हैसियत से वे शासन के अंग हैं और उनकी स्थिति इतनी वैधानिक हो जाती है कि उसके प्रभाव का उपयोग प्रधानमन्त्री की सहमति-असहमति का प्रश्न बन जाता है। ऐसे अवसर आये हैं, जब राष्ट्रपति का प्रभाव उधर गया है, जहां पर प्रधानमन्त्री की सहमति या प्रसन्नता न थी। ऐसे नाजुक मौके आये हैं और दोनों के सौजन्य के कारण वे टल गये हैं, समस्या नहीं बने हैं। सब जानते हैं कि राष्ट्रपति की मनोवृत्ति और प्रधानमन्त्री की मनोवृत्ति में अन्तर है। राष्ट्रपति पद के कारण तत्त्वतः बाबू राजेन्द्रप्रसाद दलातीत हैं। दल-नेता होने के कारण पण्डित नेहरू न केवल प्रधानमन्त्री हैं, बल्कि कांग्रेस-दल के भी सर्वेसर्वा हैं। इस तरह कांग्रेस के पास कोई दूसरा व्यक्तित्व नहीं रहता। राजेन्द्रबाबू यदि और जब राष्ट्रपति न रहेंगे, तब क्या परिस्थिति उत्पन्न होगी, यह देखने की बात है। उस सम्बन्ध में मैं अनुमान करना नहीं चाहता। हाँ, यदि अपनी ओर से राजेन्द्रबाबू कांग्रेस को पुनरुज्जीवन देने में लग जायँ, तो भारतीय राजनीति का नक्शा बदल सकता है। पर ये आगे की बातें हैं, जिन्हें विधाता ने अज्ञेय बनाकर अच्छा ही किया है।

कुछ व्यक्तित्व और उनके दल

१७०. इस प्रसंग के अन्त में मैं चार व्यक्तित्वों एवं उनके दलों के विषय में आपके विचार जानना चाहूँगा। प्रथम श्री जयप्रकाश नारायण एवं श्री कृपलानी तथा उनका प्रजा-समाजवादी दल। दूसरे श्री राममनोहर लोहिया और उनका समाजवादी दल तथा तीसरे राजाजी और उनकी स्वतंत्र पार्टी।

दलीय दृष्टि अर्थशून्य

—दलों की भाषा में सोचना अर्थकारी तभी तक है, जब तक कोई क्रियात्मक राजनीति से अपना वास्ता अनुभव करता है। मुझे अपना वास्ता उतना नहीं जान पड़ता। भारत के भविष्य की दृष्टि से उन पर ध्यान जाता है तो जाता है। अन्यथा वहाँ अटकना नहीं चाहता। दलों में व्यक्तित्व भी कारण होते हैं। यहाँ तक हो सकता है कि बीच में सिद्धान्त का प्रश्न हो ही नहीं, केवल अहंकारों का प्रश्न हो। देखने में जान पड़ सकता है कि सिद्धान्ततः यह दल उस दल के बहुत निकट है, लेकिन व्यावहारिक राजनीति में आप अक्सर देखेंगे कि विरोधी लगनेवाले दलों में स्वार्थों की आपसी सन्धि हो गयी है और चुनाव के समय अजब-अजब गठबन्धन बन आये हैं। यह सब इसलिए होता है कि तात्कालिक सफलता दल के लिए पहली चीज हो जाती है और उसी भाषा में उसे जोड़-तोड़ करनी पड़ती है। जिन व्यक्तित्वों के आपने नाम लिये, उन पर अलग से विचार करने का कोई लाभ मुझे नहीं दीखता। सभी देश के मान्य लोग हैं और निश्चय ही विशिष्ट व्यक्तित्व हैं। लेकिन उससे आगे दलीय दृष्टि से उनके सम्बन्ध में कुछ जानने-समझने को मेरे पास रह नहीं जाता है।

जनसंघ विभाजन-कर्म का फल

१७१. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसीके राजनीतिक रूप जनसंघ का भारत और उसकी राजनीति में क्या भविष्य आप देखते हैं?

—पाकिस्तान जब तक है, तब तक जनसंघ के पास अपने समर्थन के लिए एक बड़ा तर्क बना रहता है। अगर हिन्दू-मुस्लिम आधार पर ही हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान है और पाकिस्तान नाम के देश-खण्ड से वंचित बन गया है, तो क्या तर्क है कि वह हिन्दुओं की जगह न हो; हिन्दू-संस्कृति का गौरव न रखे और हिन्दू साम्प्रदायिकता का गढ़ न बने! सम्प्रदायवादी कहनेमात्र से जनसंघ की शक्ति को कांग्रेस खतम इसलिए नहीं कर सकेगी कि जोर-जबरदस्ती का प्रयोग करने के कारण एक रोज मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने उससे अपने को मनवा लिया था। कर्म का

फल अनिवार्य होता है। और विभाजन में सहयोगी बनने के कांग्रेस-कर्म का फल यदि जनसंघ और उसकी शक्ति है, तो उस फल से कैसे बचना हो सकेगा?

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

मुझे यह अच्छा लगता है कि जनसंघ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का राजनीतिक पक्ष है, अर्थात् रा० स्व० संघ स्वयं में राजनीति में समाप्त नहीं है। उससे बाहर भी उसे इष्ट और उद्दिष्ट है। इस व्यापक भाव की मैं प्रशंसा करता हूँ, जिसका कांग्रेस में अभाव होता जा रहा है। कांग्रेस के पास जो है, सब राजनीति है। उससे इधर-उधर रचनात्मक कुछ भी नहीं है। जान पड़ता है, राजनीति जनसंघ को सौंपकर उससे इतर कुछ कार्य है, जिसको रा० स्व० संघ अपना मानता है और उसमें दत्तचित्त रहता है। उस इतर और अतिरिक्त कार्य का क्या मूल्य है, यह अलग बात है। लेकिन राजनीति से अलग कुछ शेष बचता है, यह स्वयं मुझे उपादेय प्रतीत होता है।

विभाजन के आस-पास ऐसा वातावरण बना था कि रा० स्व० संघ सैन्य-सत्ता में विश्वास करता है और उन-उन उपायों का अवलम्बन करता है। वह वातावरण अब कुछ बदला हुआ जान पड़ता है। तो भी यह मानने का कारण नहीं है कि शस्त्र-श्रद्धा से उसका आधार या ईमान हट गया है। यदि ऐसा हो, तो आज के जमाने में अधिक सम्भावनाएँ वहां मैं नहीं मान सकता हूँ। उसकी विचार-पद्धति यदि मूलतः शक्ति को और राजनीति को महत्त्व देती हो और संस्कृति को एक मोर्चे के तौर पर ही रखकर चलना चाहती हो, तो भारतीय राजकारण में संघ कोई बड़ा प्रभाव अपना निर्माण कर सकेगा, इसमें शंका का कारण हो जाता है।

चरित्र पर उसका बल शुभ है; यदि चरित्र साधन के साथ साध्य की जगह भी ले लेता, तो मैं उसमें अधिक सम्भावनाएँ देख सकता। ●

५

भाषा का प्रश्न

भाषावार पुर्नाविभाजन

१७२. कांग्रेस ने प्रान्तों के भाषावार पुर्नाविभाजन को अपना एक सिद्धान्त बनाया था। पर जब सरकार ने इस आधार पर यह पुर्नाविभाजन किया, तो सारे देश में एक प्रान्तीय उन्माद उठ खड़ा हुआ और कितने ही प्रान्तों में हिंसा के भीषण काण्ड जनता और सरकार दोनों ओर से हुए। प्रान्तों का विभाजन भाषा अथवा किसी ऐसे ही अन्य आधार पर न करके शुद्ध व्यवस्था के आधार पर ही किया जाना चाहिए था। व्यवस्था में भाषा को लाकर सरकार ने देश की एकता के लिए एक बड़ा भारी संकट पैदा कर दिया है। इस विषय पर आपका क्या मत है?

पुर्नाविभाजन राजदण्ड के जोर से

—व्यवस्था की सहजता और सुविधा की दृष्टि से भाषा के आधार का निर्णय हुआ था। क्या आप नहीं मानते कि एक प्रदेश में यदि व्यवस्था और राज-काज एक भाषा के द्वारा चलाया जा सके तो उसमें सुविधा है? एक से अधिक भाषाएँ प्रान्त में चलती हों, तो सम्भव था कि प्रान्त भी अंग्रेजी भाषा का आश्रय लेने को मजबूर हो जाता। हिन्दी और पंजाबी इतनी दूर हैं भी नहीं, लेकिन वहाँ भी झगड़ा है। इस तरह भाषावार राज्य के सिद्धान्त में तो कोई गलती न थी, उससे व्यवस्था सुगम ही होती और होगी। फिर जो अनिष्ट घटा और भाषावार विभाजन कई जगह खून की नदियों को पार करके ही किया जा सका, उसका कारण तो यह था कि हमने राजशक्ति के भरोसे काम करना चाहा, लोक-शक्ति का भरोसा हमसे छूट गया। लोक-शक्ति के बल से यह होता तो देश का नकशा बदला हुआ दीखता। स्वराज्य आने तक कांग्रेस के पास उस लोक-शक्ति का बल था। राज-पद पर चढ़ बैठने पर कांग्रेस भ्रम में पड़ गयी कि अब वह अधिक शक्तिमान् है। किन्तु राजशक्ति शस्त्र-दण्ड से सज्जित होने के कारण ही यह भ्रम देने लगती है कि वह प्रबल है। सच यह कि उस शक्ति के जोर से कोई काम

स्थायी नहीं होता और आसान काम भी मुश्किल बन जाता है। जिस समय कांग्रेस ने भाषावार प्रान्त का निर्णय लिया, वह लोकशक्ति-सम्पन्न संस्था थी। वही कांग्रेस लोक-मानस की तैयारी में से, लोकसेवा के बल पर, यदि देश का सहज पुनर्विभाजन करती, तो अंग्रेजों के जमाने की देश की मनमानी खण्डितता दूर हो जाती और एक प्राकृतिक विभाजन हमारे हाथ लगता। पर कांग्रेस की अदूर-दर्शिता ने लोक-शक्ति से अपने को गिरा लिया और दण्ड-शक्ति के बल-बूते काम करना शुरू किया। तब कुछ लोगों ने अगर डण्डे के जोर से अपना प्रान्त और अपना राज्य बना लेने का संकल्प उठाया, तो यह उनके लिए तर्कसंगत बात ही थी। कांग्रेस सरकार ने भी आखिर उस तर्क के आगे सिर झुकाया, पहले उसी डण्डे के तर्क से भाषावार-विभाजन का मुकाबला भी किया था। आप निश्चय रखिये कि डण्डे के जोर से किया जानेवाला या किये को अनकिया करनेवाला काम डण्डा-शक्ति के विश्वास को जनता में भी उद्दीप्त करता है। कांग्रेस यदि आज भी हुकूमत से काम चलाने की रीति से होनेवाली क्षति को अनुभव न करे, तो अन्धी ही समझी जायगी। लोग प्रकृत रूप से ही यह चाहेंगे कि राज-कार्यालयों में, जहाँ व्यवस्था-केन्द्र है, आम बोलचाल की भाषा लिखी-बोली जाय। भाषावार प्रान्त के निर्णय में इसी प्रकृत सिद्धान्त की स्वीकृति थी। उस आधार पर होने-वाला पुनर्विभाजन यदि अप्राकृतिक जान पड़ा और खून-खराबी हो निकली, तो वह इस कारण कि हमने प्रकृत सिद्धान्त के व्यवहार के लिए अप्राकृतिक शक्ति का उपयोग किया। लोक-भावना का जागरण यदि रहता, तो यह काम न केवल सहज होता; बल्कि सबकी प्रसन्नता का कारण होता। लोक-शक्ति नैतिक होती है और समाज में यदि कहीं स्वार्थी और विरोधी तत्त्व हों भी, तो उनको सहज अकृतार्थ करने की क्षमता उसमें होती है। लोकमत एक ऐसा बल है, जो नका-रात्मक तत्त्वों को अनायास निष्फल कर देता है। किन्तु सामने यदि राज-दण्ड हो, तो नकारात्मक तत्त्वों को उभरने और बरगलाने का अवसर मिल जाता है। यही हुआ और एक सहज परिवर्तन अमित क्लेश और कष्टवाला बन गया। इस कारण उत्तेजित हुई वासनाएँ अब तक भारतीय राजकारण को चैन नहीं लेने दे रही हैं।

भाषा राजनीति का अस्त्र बनी

भाषाएँ कोई बन्द कमरों में पनपने-फलनेवाली चीज नहीं हैं। वे तो आपसी सम्पर्क और उसके विस्तार में से फलित होती हैं। भाषाओं में परस्पर लेन-देन अनिवार्य है और कोई प्रदेश ऐसा नहीं हो सकता, जहाँ दूसरी भाषाएँ और उनके लोग

प्रवेश पाये बिना रहें। देश के सभी प्रधान नगर बहुभाषी और कॉस्मोपोलिटन हैं। कलकत्ते में अ-बंगाली मारवाड़ी हैं। दिल्ली में पंजाबी हैं, मद्रास में तेलगू हैं। इस तरह कोई बड़ा शहर नहीं है, जहाँ इतर भाषाभाषी न हों। यदि हम एक बार भाषावार प्रान्त बनाने की प्रकृत बात में से यह भाषागत और प्रान्तगत अस्मिता की वासना जगने देते हैं, तो इन महानगरों का जीवन टूटने लग जाता है और विश्वास की जगह संशय घर कर लेता है। वही शायद भारत के जीवन में घटित हुआ है। इस कारण नहीं कि भाषा का आधार लेना गलत है, बल्कि इस कारण कि जिस शक्ति के आधार पर विभाजन हुआ, वह योजक नहीं, विभाजक शक्ति थी। समर्पण की नहीं, शासन की शक्ति थी। भीतरी स्नेह और पारस्पर्य में से वह सीमांकन नहीं हुआ था, बल्कि अधिकार और भोग के क्षेत्र से आया था। इसलिए वह प्रतिस्पर्धा और द्वन्द्व को जगा गया। वैर और अनैक्य की भावना को वह गहरा कर गया। कब से बंगाली-आसामी साथ रहते आये थे! एक दूसरे को पनपाने में दोनों का बड़ा हाथ था। पर भाषा के नाम पर आग जो भड़की, तो अब तक के पड़ोसी एक साथ दुश्मन बन आये! यह दुर्घटना होने से टल नहीं सकेगी, अगर भाषा को राजकारण का अस्त्र और आयुध बनाया जायगा। भाषा मिलाती है और मिलायेगी। वह स्वयं भी परस्पर मिलती जायगी, अगर उस पर स्वत्व का बोझ नहीं डालेंगे, न उससे अपनी सत्ता की प्राचीर बाँधेंगे; बल्कि उस आविष्कार की सुविधा से परस्पर आदान-प्रदान के क्षेत्र का विस्तार साधना चाहेंगे। इस उपयोग में आकर भाषा संस्कृति का उपकरण बनती है, जैसी कि वह है।

भाषावार प्रान्त प्रकृत

निश्चय ही सब भाषाएँ मिलकर इतिहास में से एक भारतीय बोली का निर्माण करती आयी हैं। यह मिली-जुली बोली अमुक नाम के नीचे नहीं बँध जाती। प्रादेशिकता उसके साथ नहीं रही है। शायद उसका आधार नागरिकता रहा है। हिन्दी का जन्म उसी प्रकार हुआ। उसका विकास भी उसी अन्तःप्रान्तीय रूप में हुआ। स्वयं भारतीय विकास में अन्तर्भूत तर्क था कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी यहाँ की राष्ट्रभाषा होती। कारण, हिन्दी कोई इस या उस जगह की भाषा न थी। यह तो व्यापक पैमाने पर अन्तर्भाषीय व्यवहार की सुगमता के लिए बन आयी थी। लेकिन जब प्रकृत तर्क को छोड़कर अनेक भाषाओं की स्वकीय चेतनाओं की उलझन से बचने के लिए हमने अंग्रेजी को अपनाया, तो मानो एक असत्य को अपनाया। उसका प्रभाव सभी भाषाओं की अहं-चेतनाओं को उद्दीप्त करने-

चाला हुआ और फिर भाषा की पृथक्ता मानो राजनीतिक पृथक्-भाव के हाथों पड़कर काटने और बाँटने का हथियार बन गयी। राजनीतिक चेतना और राज्य-शक्ति का मद वे कारण हैं, जिनसे दुर्घटनाएँ घटित हुईं। अन्यथा भाषा का आधार प्रदेश-सीमा के निर्णय की सुविधा के लिए प्रकृत और सहज आधार है।

प्रादेशिक आत्म-निर्णय और राष्ट्रीय एकत्व

१७३. प्रदेशों को आत्म-निर्णय एवं आत्म-विकास का पूरा अधिकार होना चाहिए। पर साथ ही देश की एकता की रक्षा भी अनिवार्य है। इन दोनों विरोधी-से दीखने-वाले दृष्टिकोणों में आप कहाँ सामंजस्य पाते हैं?

कानून विभाजक

—सामंजस्य जनता में है। प्रदेशों की सीमा-रेखा नकशों में साफ मिलेगी; धरती पर बिछे खेतों में से उसे पहचाना भी नहीं जा सकेगा। इन खेतों में काम करती हुई जनता रहती है। वहाँ इस समय भी एकता है। वे रोज सीमा-रेखा के आर-पार मिल-जुलकर काम चलाते हैं। सीमा-रेखा मजबूत और गहरी उन्हें चाहिए, जिनके काम का सम्बन्ध श्रम से कम है, कानून से ज्यादा है। यह हो सकता है कि दो पड़ोसियों में से एक अपने किसी खेत के झगड़े-फैसले के लिए दो सौ मील उत्तर की तरफ जाता है और दूसरा दो सौ मील दक्खिन की तरफ जाता है और इस तरह अदालती तरीके से वे दोनों आपस में दूर और विभाषी बन जाते हैं। पर जब तक बीच में अदालत और कानून नहीं हैं, और जीवन के अधिक भाग में ये चीजें उपस्थित नहीं हो पाती हैं, वहाँ तक दोनों पड़ोसी हैं और मिले-सटे हैं।

सांस्कृतिक एकत्व

देश की एकता प्रदेश की अनेकता के कारण कट-बँट नहीं जाती है। यदि एकता सचमुच राजनीतिक कानून से और सरकार नाम की संस्था के माध्यम से बँधी और इकट्ठी की हुई होगी, तब अवश्य प्रदेशों की अनेकता से वह खतरे में पड़ जायगी। पर भारत सैकड़ों नहीं हजारों वर्षों से एक और अविच्छिन्न बना चला आया है, यह स्वयं इतिहास स्वीकार करता है। यह अखण्ड, अजस्र एकता, इतिहास बताता है कि, भारत के सिवा आज कहीं भी देखी नहीं जाती है। लेकिन इस सारे काल में भारत शायद ही कभी राजनीतिक दृष्टि से एक और अविभक्त रहा है। राजकीय स्तर पर निर्भर नहीं रही, इसीसे वह एकता कभी

टूटी नहीं और निरन्तर कायम रही। वह एकता मन में भीगी हुई थी, ऊपर के नियम से बनायी गयी नहीं थी। इसलिए ऊपरी नाना अनेकताओं को अपने में समाये रखने में उसे कोई दिक्कत नहीं थी। सांस्कृतिक ऐक्य का यही लक्षण है। वह एकता एकरूपता नहीं माँगती। युनिफॉर्मिटी के दावे पर जो युनिटी होती है, वह कट्टर पड़ जाती है, सहृदय नहीं हो पाती। उसे प्रशासन और शासन के जोर से थामे रखना पड़ता है।

एकता विश्वास की ही

यदि हम मूल में लोक-भावनामूलक शक्ति और दृष्टि अपनायें, तो देश की एकता और प्रदेश की विविधता में कोई विरोध नहीं दिखाई देगा। संकट और उलझन बनेगी तो तब, जब हम उस एकता को प्रशासन में बाँधना और जुटाना चाहेंगे। तब राज्यों की स्वायत्तता केन्द्र के लिए असुविधा और भय का कारण हो सकती है। किन्तु यदि प्रशासन के नहीं, विश्वास के बल पर केन्द्र मजबूत हो, तो राज्यों के आत्मनिर्णय की क्षमता उल्टे केन्द्र के लिए सुविधा की चीज हो जाती है। केन्द्र तब बहुत-सी परेशानियों और छोटे-मोटे सवालों से बच जाता है; क्योंकि राज्य-शासन अपनी जगह पर उनसे निबट लेता है।

नैतिक केन्द्रीकरण, कार्मिक विकेन्द्रीकरण

इससे आप देखेंगे कि एक सीधा सिद्धान्त हाथ लगता है। वह यह कि केन्द्रीकरण उत्तरोत्तर नैतिक हो, कार्मिक अधिकाधिक विकेन्द्रित होता चला जाय। ऐसे जीवन बिखरेगा भी नहीं और ऊपर का दबाव भी कम होता चला जायगा। आज स्वीकार करना चाहिए कि राज्य इससे उल्टी दिशा में बढ़ रहा है; अर्थात् उसकी सत्ता फौज की ताकत रखकर मजबूत बनती है। जितनी फौज़ उतनी जनता से दूरी, ऐसा तक माना जा सकता है। जनता का पूरा विश्वास यदि सत्ता के पास हो, तो क्यों न यह मान लिया जाय कि संकट के मौके पर जनता का एक-एक आदमी योद्धा बना दिखाई देगा। विकेन्द्रित राज्य-पद्धति का मैं यही अर्थ लेता हूँ और उसी दृष्टि से उसका समर्थन भी करता हूँ। विकेन्द्रीकरण का अर्थ बिखरना भर हो, केवल केन्द्रहीनता, तो वैज्ञानिक प्रगति के साथ उसका निभाव नहीं हो सकता। विज्ञान ने हम सबको इतना निकट ला दिया है कि मानव-जाति का जीवन संश्लिष्ट बनने की ओर बढ़ेगा ही, वह विच्छिन्न और अनियमित अब नहीं रह पायेगा। इसलिए विकेन्द्रीकरण का सारांश आत्मा का बिखरना नहीं है, बल्कि अंगों-उपांगों का स्वयं-समर्थ होना है। हमारे शरीर के अंगोपांग क्या

यह अनुभव करते हैं कि उन पर अंकुश है? यह अनुभव होता तब है, जब व्यक्ति रुग्ण होता है। स्वस्थ व्यक्तित्व में इन्द्रियाँ और दूसरे शरीर के कार्यकारी उपकरण अनायास काम करते हैं और किसी प्रकार के केन्द्रीय नियन्त्रण का अनुभव नहीं करते हैं। इसका आशय यह नहीं कि केन्द्र में हृदय या बुद्धि और उनके भी पीछे का अहं या आत्म सुप्त या लुप्त है। बल्कि अर्थ यह कि केन्द्र स्वस्थ और प्रबुद्ध है। केन्द्र में जब कुछ भी लेने का आग्रह नहीं होता है, शुद्ध अपरिग्रह होता है, तो अवयवों के साथ उसका सम्बन्ध समीचीन रहता है। हृदय कुछ भी रक्त अपने पास रोक रखना चाहे, तो तत्काल शरीर-यन्त्र बिगड़ जायगा और जीवन संकट का अनुभव कर उठेगा। इसी प्रकार समाज-शरीर में भी केन्द्र जितना शुद्ध नैतिक आध्यात्मिक होता जायगा, उतना जन-जन में अभिक्रम और पराक्रम जागेगा और श्रम-कर्म में हृदय और स्नेह का योग होगा। कर्म जब ऊपर के अंकुश से, अर्थात् मजूरी और वेतन के लोभ से होता है, तो श्रम में वह उत्साह और सृजन-भाव नहीं रहता है। तब श्रम अपने को बिकता हुआ अनुभव करने के कारण मन्द और जड़ पड़ता जाता है। अस्त्र-शस्त्र की निर्भरता जब तक बढ़ेगी, राज्य नैतिक और कर्म-मुक्त होने से उल्टा चलेगा; वह अपने हाथ में अधिकाधिक एक्जेक्युटिव सत्ता रखना चाहेगा। इस मोह में राज्य पायेगा कि उसे वेतन-भोगी कर्मचारियों की जमात बढ़ाते ही जाना पड़ रहा है। एक की पहरेदारी के लिए दूसरे और दूसरे की चौकसी के लिए तीसरे को तैनात करना जरूरी हो रहा है। ऐसे कारकूनों की संख्या-वृद्धि के अनुपात में उनसे मिलनेवाला काम घटता जाता है, नौकरशाही समाज पर छाती है। अनुत्पादक चतुराई उत्पादक श्रम पर हावी बन रहती है। कम्युनिस्ट-पद्धति यों डिक्टेटरशिप तो मानी जाती है, लेकिन वहाँ एक अर्थ में इस विकेन्द्रीकरण का प्रयोग देखा जा सकता है। वहाँ राज्य काफी स्वायत्त और आत्म-निर्णयसम्पन्न हैं और केन्द्र के हाथ कुछ गिने-चुने विषय रह गये हैं; शेष में केन्द्र का काम उनके बीच सूत्र पिरोने का रहता है। नैतिक केन्द्रीकरण और कार्मिक विकेन्द्रीकरण को मैं सही दिशा मानता हूँ। उस ओर चलने से हमारी राजनीतिक समस्याएँ उतनी कसी नहीं दिखाई देंगी और राष्ट्रवाद मानव-जाति की एकता में बाधक की जगह साधक हो निकलेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

हिन्दी और अहिन्दीभाषी प्रदेश

१७४. आपका उत्तर सैद्धान्तिक हो गया। मैं इस प्रश्न को भाषा के पक्ष में समझना चाहता था। दक्षिणवाले जो यह अनुभव करते हैं कि हिन्दी उन पर थोपी जा

रही है और केन्द्र को बार-बार यह अनुभव होता है कि भाषा का प्रश्न लेकर प्रदेश अधिक आज़ादी छीनते और बरतते जाते हैं, इस बारे में आपका क्या कहना है? पंजाबी सूबे का मामला भी इसी समस्या का एक अंग है। उस पर भी मैं आपके विचार जानना चाहूँगा।

हिन्दी और दक्षिण

—सबसे संगत यहाँ वही पुरानी बात याद रखना है कि राजनीतिक वृत्ति और शक्ति समस्या बनाती है, सांस्कृतिक दृष्टि उसको सुलझा सकती है।

यह बात सही है कि दक्षिण में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने के प्रति अनमनापन है, संशय है। दक्षिण के प्रति उत्तर की प्रभुता का अभियान उसमें दीख पड़ता है, इसलिए प्रतिरोध भी है। यह संशय कैसे दूर हो? बल-प्रदर्शन से संशय बढ़ सकता है, कट नहीं सकता। इसलिए यह काम राजनीति और राजनेता के बस का नहीं है।

किन्तु जीवन का तर्क अपना काम करेगा ही। तमिल प्रान्त या किसी दूसरे दक्षिण प्रान्त को अपने में सिमटना नहीं है, बल्कि फैलना और अपने गुणों का विस्तार करना है, तो आवश्यक होता है कि वे उन माध्यमों को अपनायें, जिनसे उनकी सीमितता खुले और व्यापकता आये। आखिर उसी मद्रास में अधिकाधिक हिन्दी-फिल्में क्यों बन रही हैं? कारण, फिल्मवाले को राजनीति से वास्ता नहीं है; व्यवसाय से काम है। व्यवसाय वस्तुस्थिति को अपनाता है, उस पर दवाव डालने की कोशिश करके नुकसान उठाने की मूर्खता नहीं करता।

जीवन का प्रकृत तर्क

प्रत्येक भारतीय क्यों न भारतभर का हो, यह इच्छा स्वाभाविक है। अपने यश और प्रभाव का विस्तार कौन न चाहेगा? एक बार राजनीतिक दृष्टि का खोखलापन प्रकट हुआ और लोगों को अपने-अपने सीधे स्वार्थ और हित देखने की सुविधा हुई, तो स्वयं जीवन का तर्क उन्हें सही दिशा पर ले आयेगा। अभी तो राजनीति की प्रधानता होने के कारण स्थापित स्वार्थों की बन आती है। भोगप्राप्त उच्चस्तरीय सरकारी लोग बहका और बरगला पाते हैं। जब औसत आदमी अपना भला-बुरा पहचान सकेगा, तो ये कृत्रिम समस्याएँ उसके मन को फेर नहीं पायेंगी और जीवन का प्रकृत तर्क अपना काम कर सकेगा।

अंग्रेज़ी पर निर्भरता

सार्वजनिक जीवन में कुछ मुखर तत्त्व होते हैं। वे बोलते और राजनीति का निर्माण करते हैं। श्रम से उन्हें छुट्टी होती है और अन्य किसी निर्माण की उनके पास कला नहीं होती। राजनीति के ऊपर चढ़े रहने से ऐसे लोगों का महत्त्व बढ़ता और क्षोभ का कारण होता है। यदि जीवन पर इन कृत्रिमताओं का दबाव न आये, तो भाषाओं का प्रश्न दिखाई न देगा। कारण, हरएक को एक-दूसरे की ओर बढ़ने की आवश्यकता अनुभव होगी और भाषाओं का परस्पर आदान-प्रदान अपने भीतरी तर्क से ही खुलेगा। इस अभीष्ट-सिद्धि में अंग्रेज़ी ने आकर व्यवधान डाला है। मानो भाषाएँ अंग्रेजी के द्वारा आपस में मिलने की जरूरत से छूट जाती हैं। नहीं, मिले बिना मुक्ति नहीं है। अंग्रेजी में नहीं, आपस में मिलना होगा। कारण, अंग्रेज़ी से व्यक्ति अमुक श्रेणी और स्तर में अपना प्रभाव बनाता है, भारत से एक नहीं हो पाता। भारतभर से यह एकता साधने की आवश्यकता अतृप्त रहनेवाली नहीं है और आगे-पीछे अंग्रेजी की वर्तमान निर्भरता अनभीष्ट और असत् सिद्ध होगी।

पंजाबी भाषा

पंजाब का प्रश्न भाषा का नहीं है। उसमें कुछ दूसरे भी पेंच हैं। पंजाबी सब बोलते हैं। कल तक वह उर्दू लिपि में लिखी जाती थी। पश्चिमी पंजाब में आज भी लिपि उर्दू है। गुरुमुखी लिपि पंजाब के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। नाम ही जताता है कि वह गुरु के मुख से चली है और पवित्र है। यह धार्मिक भावना भी उसके साथ मिल जाती है, तो प्रश्न जटिल हो जाता है। धार्मिक अल्पसंख्यकता का भाव सिखों में रहे तो क्या हो? सिख बहादुर कौम है और उसे अपने अस्तित्व को उठाकर सत्ता में उभारने की आकांक्षा हो सकती है। पंजाबी सूबा बने, तो सिखों को हर क्षेत्र में अपना जौहर दिखाने का अवसर आ सकता है। उनकी इच्छा है कि भारत को बतायें कि उनमें कितना जबरदस्त भारत-प्रेम है और पश्चिम सीमान्त पर वे देश की सुरक्षा का भार अपने कन्धों ले सकते हैं। ये सब श्लाघनीय भावनाएँ हैं। लेकिन आप देखिये कि भाषा के साथ इसमें कुछ अतिरिक्त तत्त्व मिल जाते और बात को कुछ पेचीदा बना देते हैं। राजनीतिक बल से वे पेंच नहीं खुलेंगे। आखिर बल-पराक्रम के खेलों में से तो सिख कौम ने अपना स्वरूप पाया है; बल-प्रदर्शन में वह फिर पीछे क्यों रहे? इसीलिए राजनीतिक तल पर, जहाँ चीजें बल से उलटती-पुलटती हैं, वह प्रश्न विकट बना दीखता है।

जीवन और संस्कृति की शक्तियाँ

भाषाएँ बनती हैं मिलन की अपरिहार्यता में से। तदनुरूप वे विकास पाती हैं। वे जीवन-विस्तार का काम देती हैं। राजनीति का काम जब उनसे लिया जाता है, तो भाषा का अपमान और नुकसान होता है। प्रकृत में वे संस्कृति का माध्यम हैं। पंजाबी में हिन्दी के प्रति बढ़ने की प्रवृत्ति न हो, यह असम्भव है। राजनीति उस सहज-प्रवृत्ति पर दबाव लाती है। कितने पंजाबी लेखक हिन्दी में लिख रहे हैं, अनेक सिख हिन्दी के विद्वान् हैं। यह प्रक्रिया हुए और बढ़े बिना रह नहीं सकती। राजकारण में हिन्दी-पंजाबी-प्रश्न कितना भी गरमाया क्यों न रहे, नीचे-नीचे हिन्दी-पंजाबी का यह हेल-मेल बढ़ रहा है। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि प्रश्न के राजनीतिक रूप पर आप हैरान न हों, वह बहुत ऊपरी है। उसके नीचे जीवन की और संस्कृति की जो शक्तियाँ काम कर रही हैं, उन पर भरोसा रखें। उनको बल पहुँचायें, उन्हें ऊपर उभारें। तब सम्भव हो सकेगा कि सांस्कृतिक प्रेरणा राजनीतिकों को प्राप्त हो। उस समय समस्याओं का रूप जटिल से एकदम सरल प्रतीत होगा और आज जो फाड़ने के काम आती हैं, ठीक वे ही चीजें जोड़नेवाली बन जायँगी। विज्ञान की तरक्की से पहाड़ और समुद्र बाँटनेवाले अब नहीं रह गये, जोड़नेवाले बन गये हैं। हिमालय क्या पता, एक दिन विश्व का प्रमोदोद्यान हो जाय और सुरक्षा की पाँत की बात ही कहीं न रह जाय! इस जीवन की प्रगति में मन बदलने की देर है कि भाषा बाँटने से मिलानेवाली चीज बनी दीखेगी। काम वहाँ करना है, यानी मन को तनिक-सा फेर दे लेना है। फिर तो समाधान वहाँ रखा ही हुआ है।

अंग्रेजी से एक सुविधा

१७५. राजाजी जो अंग्रेजी की जोरदार वकालत करते आये हैं, क्या वह अराष्ट्रीय नहीं है? आपकी राय में अंग्रेजी का भारत की संस्कृति और राजनीति में क्या स्थान अभी बाकी है? क्या एक दिन उर्दू की तरह वह भी भारतीय भाषाओं की सूची में अपना स्थान बना लेगी?

—अंग्रेजी के जरिये भारत को सुविधा रहेगी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना महत्त्व का स्थान बनाये रखे। अंग्रेजी उसके संस्कार में दाखिल हो गयी है। यह भी प्रकट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कारोबार में अंग्रेजी ही सर्वमान्य भाषा बननेवाली है। इस सुविधा से भारत को वंचित नहीं किया जा सकता।

अंग्रेजी लोकभाषा नहीं बन सकती

लेकिन इसके आगे उस भाषा की निर्भरता भारत के हित में नहीं है। भारत

उस पराश्रय के कारण खण्डित हुआ पड़ा है। ऊपर अंग्रेजीदाँ लोग हैं, जो श्रेणी के रूप में अलग कटे-छँटे दीखते हैं। नीचे असंख्य जनता है, जो इस वर्ग को विस्मय से देखती रह जाती है और आसानी से उनके आतंक में दबी रहती है। यह विशिष्ट-सामान्य का वर्ग-विभाजन भारत का अमित अहित कर रहा है। वह सच्चे अर्थों में भारत को लोकतंत्र नहीं बनने देगा। इस कारण गण-तंत्र वर्ग-तंत्र बना रहता है; लोक-शक्ति भारत के राजकारण में आ नहीं पाती। भारत का आत्म-बल कर्म-बल नहीं बन पाता। परिणाम यह कि भारत पश्चिम की उन्नति की पीली नकल-सा रह जाता है, आत्मप्रतिष्ठ नहीं बन पाता। यदि भारत के पास कुछ देने को है, तो वह उसका आत्म-दान है। अंग्रेजी के द्वारा हम सिर्फ पश्चिम का अक्स दुनिया को देते हैं, अपना आत्म नहीं दे पाते। दुनिया की भी इस तरह बहुत बड़ी क्षति हो रही है। एक महादेश, जिसके पास हजारों वर्ष गहरी गयी हुई एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक परम्परा है, जिसके पास धर्मनीतिक क्षेत्र का अमित अनुभव और ज्ञानकोष है, वह देश मानो केवल अंग्रेजी की निर्भरता के कारण मानव-जाति के संचित कोष में से एक साथ ऋण हो जाता है!

यह अपने देश की और मानव-जाति की इतनी बड़ी क्षति है कि राजनेता जगेंगे, तो एक क्षण उसे नहीं सह पायेंगे। जितनी देर सहते हैं, उतना ही उन्हें पीछे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वे अनुभव करेंगे कि भारत की असंख्य जनता में से प्राप्त होनेवाला बल जो वे अर्जित नहीं कर पाये, लोक-शक्ति से वंचित और विहीन बने रहे, उसीके कारण उन्हें एक दिन वहाँ से गिरना पड़ा! कोई भी दल जब तक लोक-भाषा का सहारा नहीं लेगा, स्थिरता के साथ भारतीय राज्य के शीर्ष पर नहीं बैठ पायेगा। और यदि किसी युक्ति-बल से वह वहाँ बैठेगा और बैठा रहेगा, तो ठीक वही बल भारत की आत्मा को कुचलनेवाला होगा। भारत के पास एक नहीं, अनेक समृद्ध और समर्थ लोक-भाषाएँ हैं, उनमें कोई भी एक राजभाषा का स्थान ले सकती है। सामर्थ्य की दृष्टि से अपनी लोक-भाषाओं में कमी मानना पश्चिम-प्रभुता की पूजा में पड़ना और मानसिक दासता को सिर लेना है। यह कभी सत्य नहीं हो सकता कि भाषा में कमी है; होती है तो कमी उन लोगों के मनों में होती है, जिनकी वह भाषा है। अंग्रेजी के द्वारा काम चलानेवाला वर्ग अपनी लोक-भाषाओं में वह सामर्थ्य अनुभव नहीं करता कि राज-काज चला सके, तो यह स्वयं अंग्रेजी भाषा की आलोचना है! अंग्रेजी यदि व्यक्ति को इतना निर्वीर्य बनाती है कि वह अंग्रेजी का योग नहीं साधता, बल्कि उसकी प्रभुता के नीचे आ जाता है, तो इसीमें अंग्रेजी का दोष प्रकट हो जाता है। अंग्रेजी को यदि यह शक्ति मिली कि भारतीय उससे अभार-

तीय हो जाय, अपने देशवासियों से बात करने और काम लेने लायक न रह जाय, तो यह शक्ति अंग्रेजी की न थी; उन लोगों के आत्म-विश्वास की त्रुटि ने वह शक्ति दी थी। राजनेताओं की दुर्बलता कहनी चाहिए, आत्महीनता कहनी चाहिए कि वे अंग्रेजी से काम नहीं लेते, जितने अंग्रेजी के काम आते हैं। यह अतिरिक्त क्षमता उन्होंने अंग्रेजी को दी है ! अंग्रेजी यों बहुत बड़ा सुभीता है हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों के पास। लेकिन ये तो अंग्रेज थे, जो चाहते थे कि यह भाषा हिन्दुस्तानी के लिए सुविधा न बन पाये, उन्हींके हाथ की सुविधा बनी रहे। हम पश्चिम के और उसकी सभ्यता के हाथ खेल रहे होंगे, यदि अंग्रेजी को अपनी सुविधा न बनायेंगे; बल्कि अपनी निर्भरता बना लेंगे।

राजाजी व्यामोह-ग्रस्त

राजाजी व्यक्तिशः यह नहीं पहचानते, यह नहीं माना जा सकता। अंग्रेजी पर उनकी इतनी प्रभुता है कि उस भाषा के प्रति वे अब तनिक भी मोह की आवश्यकता में नहीं रह जाते। उस भाषा का तनिक भी आतंक उन पर नहीं है। इसीलिए लेखक वे तमिल भाषा के हैं और उनकी लेखनी मुक्त और सहज है। किन्तु राजनीतिक व्यामोह से जो वे छूट नहीं पाते हैं, उसी कारण उनमें संशय पैदा होता है। उत्तर बनाम दक्षिण की बात मन में उठते ही उन्हें अंग्रेजी में सुरक्षा मालूम होती है। राजनीति की चोटों से उनका मन अस्वस्थ न बन गया होता, तो वे कभी ऐसी बात कहनेवाले न थे। वे ऋषि हैं, क्रान्तद्रष्टा हैं। केवल राजनीति ने जो उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया है, उसीके कारण वह गलत प्रलाप या विलाप उनकी ओर से आ सकता है। उस वाणी में राजाजी नहीं हैं, केवल उनका घाव है। इसलिए वैसे उद्गारों पर विशेष अटकने की आवश्यकता नहीं है।

अंग्रेजी को भारतीय मान लिया जाय

अंग्रेजी, चाहे एक वर्ग में सही, यहाँ सदा के लिए रच-पच गयी है। इसलिए आत्माभिव्यक्ति की एक भाषा के रूप में उसे भी भारतीय स्वीकार कर लेने में हर्ज नहीं। साहित्य-अकादमी में उसे भारतीय भाषाओं की गिनती में रख ही लिया गया है। यहाँ बहुत कुछ मौलिक है, जो अंग्रेजी में लिखा गया है। विवेकानन्द और गांधी तो नेहरू नहीं हैं, लेकिन उनका अधिकांश लेखन अंग्रेजी में हुआ। राधाकृष्णन् ने जितना लिखा, भारतीय दर्शन को लेकर लिखा; लेकिन अंग्रेजी में लिखा। श्री अरविन्द भारतीय योग के अप्रतिम व्याख्याकार हैं,

लेकिन लिखते अंग्रेजी में रहे। नेहरू भारत के आविष्कार में लगे रहे हैं, लेकिन इस प्रयोग की भाषा अंग्रेजी है। इस सब निधि को भारत खो नहीं सकता। अनुवाद द्वारा उसे अपना बनाये, मूल को पराया गिने, यह गलती भी उससे सम्भव नहीं है। यह सब देखकर अंग्रेजी को भी एक भारतीय भाषा मान रखने में ही सत्य का आदर है, यह स्पष्ट है।

उर्दू हिन्दुस्तान की है

लेकिन उर्दू की तरह अंग्रेज़ी कभी न हो पायी। पाकिस्तान तो कल बना है, लेकिन उर्दू हिन्दुस्तान के बाहर कहीं आपको नहीं मिलेगी। वह एकदम हिन्दुस्तान की भाषा है। प्रदेश की नहीं है, हिन्दुस्तान की है। उस भाषा को एक अपना प्रदेश मिले, यह खब्त अगर उर्दू में हुआ, (हुआ तो था और शायद अब भी उसका कहीं अवशेष हो) तो यह अक्लमंदी नहीं कहलायेगी। हिन्दी का क्षेत्र जाने-अनजाने उर्दू का भी क्षेत्र है और केवल पाकिस्तान बन जाने से यह तथ्य बदल नहीं जाता है। बोली में ये दो भाषाएँ नहीं हैं, केवल एक भाषा की दो शैलियाँ हैं। लिपि के कारण वे दो हैं, लेकिन लिपिवाला यह दोपन एक सीमा तक ही काम करता है। सत्य के आग्रह पर ही चलनेवाले गांधीजी ने 'हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी' का सूत्र इसीलिए दिया था। वह सूत्र पुराना पड़ गया है, लेकिन उसकी सत्यता को याद रखना भाषा के क्षेत्र में आज भी उपयोगी हो सकता और उलझन को सुलझाने में बड़े काम आ सकता है।

१७६. वस्तुस्थिति की दृष्टि से आपकी बात सोलह आने सत्य है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर क्या यह भी सत्य नहीं है कि उर्दू भी उसी प्रकार आक्रान्ताओं द्वारा हिन्दुस्तानियों पर थोपी गयी, जिस प्रकार कल ही अंग्रेज़ी थोपी गयी है। जो इन दोनों भाषाओं के पास अपने प्रदेश नहीं हैं, वह इस बात का सबूत है कि ये लोक-भाषाएँ नहीं हैं और इन्हें राजनीतिक विवशता का परिणाम हम मान सकते हैं। इस बारे में आपका क्या कहना है?

उर्दू का जन्म और विकास

—थोपनेवालों का इरादा चाहे उस प्रकार का रहा हो, लेकिन हम इरादों से नहीं लड़ सकते। मेरा अपना यह भी मानना है कि मानवीय इरादे इतिहास की प्रक्रिया में किसी बड़े हेतु के हाथ काम में ही आते हैं, स्वयं में नहीं चलते हैं। इसलिए उस बारे में व्यग्र होने की आवश्यकता किसीके लिए नहीं है। प्रश्न व्यावहारिक होकर घटना तक ही अपना सम्बन्ध रख सकता है। मैं नहीं

मानता कि आक्रान्ता भाषा थोप सकते हैं। आक्रान्ता के लिए जरूरी है कि आक्रान्त से अपना सम्बन्ध बनाये, अन्यथा आक्रान्ता के निकट अपना अर्थ ही समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में से ही एक नवीनता जन्म पाती है और एक नए समन्वय का सूत्र आरम्भ होता है। उर्दू का जन्म इस प्रकार हुआ। उर्दू आक्रान्ता लोग अपने साथ नहीं लाये थे। जिस भाषा को वे साथ लाये थे और जो भाषा हिन्दुस्तान में पहले से मौजूद थी, दोनों के संगम में से उर्दू उठी। धरती हिन्दुस्तान की थी। उर्दू जिसको कहा गया उसकी जमीन अपनी अलग नहीं है; फारसी-अरबीवाली ज़मीन नहीं है। यहीं से खड़ी बोली हिन्दी का भी जन्म हुआ। ऊपर के तबके के लोग, जो बादशाह के किसी कदर नजदीक थे, भारती की ज़मीन पर फारसी-अरबी के लफ्जों से काम लेते थे। सामान्य जन देशज और तद्भव शब्दों के सहारे चलते थे। यही खड़ी बोली यानी हिन्दुस्तानी हुई, जिसकी मजलिसी शैली पीछे जाकर उर्दू कहलायी। जनसाधारण में वही खड़ी बोली हिन्दी बनी। दोनों के नीचे धरती अर्थात् व्याकरण आदि की भूमिका एक थी, शब्दों का ही हेर-फेर था। यह उर्दू थोपी हुई नहीं कही जा सकती, संगम की अनिवार्यता में से उपजी ही कही जा सकती है। अंग्रेज़ी की बात उससे भिन्न है। उर्दू हिन्दुस्तान के लिए किसी भी अर्थ में विदेशी भाषा नहीं थी। विदेश में बोली तो क्या जाती, कहीं समझी भी नहीं जा सकती थी। उससे भिन्न इंग्लिश थी ही इंग्लैण्ड की। किन्तु अंग्रेज़ी को जान-बूझकर अंग्रेजी सल्तनत ने यहाँ जमाना और थोपना चाहा। इसके बावजूद अब आकर इस ऐतिहासिक तथ्य को व्यवहार के नाते हमें अपनाना ही पड़ेगा, और इस पर रुष्ट होने की भी आवश्यकता नहीं है कि अंग्रेजी आज यहाँ एक अमुक वर्ग में आम चलन की भाषा है। साक्षर वर्ग के बीच अन्तःप्रान्तीय सार्वजनिकता के लिए तो मानो एक यही भाषा रह जाती है। परिस्थिति के इस तथ्य को मान लेना ही उचित है। फिर चाहे अंग्रेज़ी-कूटनीति का हेतु इतिहास में इसके पीछे कोई भी क्यों न रहा हो।

उर्दू का प्रादेशिक न होना उसका बल

इन दोनों भाषाओं के पास यदि अपने प्रदेश नहीं हैं, तो यह तर्क क्या उनके पक्ष में भी नहीं माना जा सकता? कल तक हिन्दी के विपक्ष में ठीक यही तर्क दिया जाता था कि वह अपने सही रूप में कहीं भी बोली नहीं जाती। अर्थात् हिन्दी किसी भी प्रदेश-विशेष की भाषा नहीं है। हिन्दीभाषी राज्यों में सचमुच ही आप जनपदों तक जाइये, तो उनकी अपनी-अपनी बोलियाँ मिल जायँगी।

व्रज, अवधी, भोजपुरी, बुंदेली, राजस्थानी, मैथिली आदि-आदि कितनी ही भाषाएँ हैं, जिन्हें उपभाषा कहना होता है। यह तर्क कि हिन्दी कहींकी भी भाषा नहीं है, कृत्रिम और थोपी हुई है, सचमुच गम्भीरता से दिया जाता था। आँकड़ों से सिद्ध किया जाता था कि हिन्दी-भाषाभाषी बंगला, गुजराती, मराठी-भाषियों से असल में बहुत ही कम और नगण्य भर हैं! किन्तु क्या यही अन्त में हिन्दी का बल भी नहीं है कि वह स्वयं में जड़ित नहीं है, प्रादेशिक नहीं है; वह कहीं बँधी और बन्द नहीं है। वह सबको अपने में समाती और अपने द्वारा मिलाती हुई चलनेवाली भाषा है। मैं समझता हूँ, उर्दू और अंग्रेजी के साथ भी यह सहूलियत है कि वे किसी प्रदेश-विशेष में सीमित नहीं हैं। वे भाषाएँ यदि इसी सुविधा को अपनी असुविधा समझेंगी, तो उस समझ को क्या कहा जायगा? एंग्लो-इण्डियन लोग माइनारिटी के नाम पर अंग्रेजी भाषा पर अपना दावा रखें, तो इससे अंग्रेजी की शक्ति और मान्यता घटेगी या बढ़ेगी?

कुछ पहले सचमुच मेरे पास उर्दू के कुछ बानी यह कहते हुए दस्तखत माँगने आये थे कि हिन्दुस्तान की जम्हूरियत में उर्दू को कोई अपना इलाका मिलना चाहिए। मैं शुरू से उर्दू का प्रशंसक और हिन्दुस्तानी का समर्थक रहा हूँ। लेकिन मैंने उन्हें कहा कि उर्दू के हक में मैं नहीं समझ सकता कि एक छोटा या बड़ा इलाका पाकर आप कैसे तसल्ली मान सकते हैं। उर्दू उस सब दूर तक जा सकती है, जहाँ तक हिन्दी जाती है। आप उर्दू के होकर उसीके पैरों क्यों कुल्हाड़ी मारते हैं? प्रदेश की माँग अगर है, तो मैं उसे भाषा के सच्चे प्रेम का लक्षण नहीं मानता हूँ।

अंग्रेजी की अनिवार्यता

१७७. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमें अंग्रेजी को लेकर हो आना पड़ेगा, इसके सिवा और कोई चारा नहीं है, आपकी यह बात मेरे गले नहीं उतरी। रूस, चीन आदि कई देश हैं, जो चाहे प्रतिद्वन्द्वितावश हो सही, अंग्रेजी का पूर्ण तिरस्कार करके चलते हैं और अपनी-अपनी राष्ट्रीय भाषाओं को लेकर ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उतरते हैं। तब भारत के लिए ही ऐसी अनिवार्यता आप क्यों मानते हैं?

भारत में अंग्रेजी व्याप्त, सहज

—नहीं, अंग्रेजी के प्रति कभी उनका तिरस्कार 'पूर्ण' नहीं हो सकता। यह ठीक है कि अंग्रेजी की निर्भरता से वे मुक्त हैं और भारतवासी जब जरूरत-बेजरूरत आपस में भी अंग्रेजी बोलते दीखते हैं, तो उनके मन में सचमुच विस्मय और अवज्ञा का भाव होता है। इसलिए आन्तरिक तौर पर भारत को भी अंग्रेजी के आश्रित

नहीं रखना है। लेकिन आज के दिन भारत की ओर से यह आग्रह हो कि हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति पाये और उसी शर्त पर भारत अन्तर्राष्ट्रीयता में भाग ले, तो वह उपयुक्त न होगा। रूस और चीन यदि अपनी-अपनी भाषाओं को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करते हैं और अनुवाद का भार दूसरों पर छोड़ देते हैं, तो यह उनके लिए तर्क-संगत है। लेकिन भारत में, ऐतिहासिक संयोग के कारण ही चाहे हो, अंग्रेजी भाषा का परिचय इतना व्याप्त और सुगम रहा है कि फिर अंग्रेजी का जान-बूझकर वर्जन करना और हिन्दी में ही बात करना अहंता और हठता का सूचक हो जाता है। उस प्रकार की अस्मिता को मैं उचित और आवश्यक नहीं मानता हूँ। भारत का वह इतिहास न रहा होता, जो कि रहा, तब प्रकृत था कि वह अपनी देश-भाषा लेकर समक्ष आता और उसीके द्वारा उसका आविष्कार शेष विश्व को प्राप्त होता। आज उसको प्राकृतिक नहीं कहेंगे, हठवादिता कहेंगे। कल्पना की जा सकती है उस परिस्थिति की, जब भारत की राजनीति में लोकजीवन का बल और प्रकाश आता है, भारत का सब कामकाज भारतीय भाषा में होने लगता है, भारत का आत्मदान सही-सही अंग्रेजी के द्वारा हो नहीं सकता और भारतीय भाषा भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सुनी जाती और वह स्तर पा जाती है। आज वह दिन और वस्तुस्थिति नहीं है। सामान्यतया प्रतीत होता है कि वह दिन यदि खींचकर ही न लाया जाय, तो स्थिति तर्क से निकट भविष्य में आनेवाला नहीं है।

अंग्रेजी को राज्य-भाषा रखना गलत हुआ

१७८. मैं समझता हूँ, हमारी प्रथम भारतीय सरकार ने अंग्रेज़ी को राजभाषा के रूप में ज्यों-का-त्यों रखकर बहुत बड़ी गलती की। यदि तत्काल ही किसी भी एक भारतीय भाषा को केन्द्र की राजभाषा का स्थान दे दिया जाता, तो पहले-पहल कुछ कठिनाई तो अवश्य होती, पर सदा के लिए पराधीनता का यह बन्धन टूटकर बिखर जाता और तब पाश्चात्य और भारतीय दोनों संस्कृतियों का उचित और यथार्थ सम्मिश्रण भारतीय जन-जीवन में हो पाता और, जैसा कल आपने कहा था, आपको यह शिकायत न होती कि, हमारे कूटनीतिज्ञ विदेशों में जाकर भारतीय रह ही नहीं पाते। वे एकदम अभारतीय बने दीखते हैं।

आत्म-निष्ठा की कमी

—हाँ, उस विषय में भारतीय विधायकों ने आत्मनिष्ठा की अपने में कमी दिखायी, यह मानना होगा।

उससे भारतीय-जीवन के अभ्युदय और बाहर भारतीय प्रतिष्ठा में ज़रूर बाधा आयी है। अगर साहस के साथ स्वतन्त्र भारत भारतीय भाषा को अपना सकता, तो हर क्षेत्र में भारतीयता का प्रकाश जा सकता था और दूतावासों में हमारे कूट-नीतिक जन कुछ उसकी सुगन्ध बाहर ले जा सकते थे। वैसा आज नहीं हुआ और यह खेद की बात है।

१७९. भारतीय विधायकों में आत्मनिष्ठा की इस कमी के क्या कारण थे? किन राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में उन्हें अंग्रेजी को बरकरार रखने और इस प्रकार उसे भारतीय जन-जीवन में एक स्थायी स्थान देने पर विवश किया?

आत्महीनता

—सबसे बड़ी बात तो वह कर्मवाद का प्रवाह है, जो वैज्ञानिक और औद्योगिक पश्चिम के देशों से बहकर आया और यहाँ के शासक-वर्ग को मानो अपने आधार से उखाड़ कर ले गया। उस भौतिक-सम्पन्नता के व्यामोह में जान पड़ने लगा कि भारतीय भाषाएँ अपर्याप्त हैं, अंग्रेजी समर्थ और सबल है। आज भी शिकायत सुनी जाती है कि राज-काज दूसरी भाषाओं में चल नहीं सकता, क्योंकि उनके पास आवश्यक शब्द नहीं हैं। विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा का माध्यम वे भाषाएँ नहीं बन सकती हैं, क्योंकि उतना ज्ञान उन भाषाओं के पास नहीं है और पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं, इत्यादि। यह क्लीबता हमको इसलिए अनुभव हुई कि हम कुछ ऊपर के वर्ग के लोगों का मानस पहले से उस बारे में ऐसा ही बन चुका था। हममें हीनभाव आ गया था और हमने अपने को जान-बूझकर नकल करनेवालों की स्थिति में कर लिया। अब तक राज्य-स्तर पर वह प्रक्रिया चल रही है और भारतीय वर्चस्व का स्पर्श वहाँ नहीं दिखाई देता है।

हिन्दी का मोर्चा उर्दू से ठना, अंग्रेजी से नहीं

परिस्थिति के और निकट आयें, तो स्वराज्य के समय साम्प्रदायिक भाव ने मूल राष्ट्रीय प्रश्न को हमारे सामने से तत्काल के लिए ओझल कर दिया था। भाषा के क्षेत्र में भी उस मनोभाव ने मुसीबत पैदा की। ऐसा मालूम होने लगा था कि हिन्दी को मोर्चा उर्दू से लेना है। इस तरह अंग्रेजी के साथ का हिन्दी का मोर्चा ढीला हो गया। उर्दू को गिराकर मानो हिन्दी तुष्ट हो गयी और उस समय पता न चला कि अंग्रेजी से जो उसे हारना पड़ा, वही उसकी असली हार थी और वह क्षति राष्ट्रभाषा से आगे राष्ट्रभाव को भी पहुँची थी। हिन्दी का प्रश्न तभी से मानो राष्ट्र-स्तर से खिसककर वर्गीय और साम्प्रदायिक स्तर पर आ गया

और राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी जा पहुँची। इसमें बड़ा दोष मैं हिन्दी-नेतृत्व का मानता हूँ, जिसके पास समय पर कल्पना का अभाव देखा गया और निरा एक भाषा-मोह। गांधीजी ने हिन्दी को जो व्यापक परिभाषा दी थी और जिसकी बुनियाद मानकर वर्षों हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपना काम करता रहा था, साम्प्रदायिक प्रभाव के प्रवाह में वह वहाँ से डिग गया। जब राष्ट्र के लिए जो एक भाषा हो सकती थी, वह उसके पास से छिन गयी और खाली हाथों में अनायास अंग्रेजी जा बैठी, तो मानना चाहिए कि बाहर से आया यह पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव, और अपने भीतर से उठा खण्डित साम्प्रदायिक भाव, स्वदेश में विदेशी भाषा अंग्रेजी के राज्यभाषा के तौर पर ऊपर आ जमने के अनिष्ट में कारण हुआ।

१८०. क्या कभी आपके मन में यह आशंका पैदा होती है कि भाषा के प्रश्न को लेकर देश का कोई भी भाग टूटकर अलग हो सकता है अथवा हो जायगा?

—राज्य और राज्य-नीति अगर हमारे बीच प्रधान बनी रही, तो भारत खण्ड-खण्ड हो, इसमें मुझे अचरज न होगा। भाषा जरूर इस काम आ सकती है; क्योंकि उसे पृथक् संस्कृति, पृथक् अस्तित्व आदि का प्रतीक और प्रमाण और आयुध बना लिया जा सकता है! ●

६

अव्यवस्था और अपराध

व्यवस्था के लिए गोली-काण्ड

१८१. स्वतंत्रता के बाद आन्तरिक व्यवस्था और शान्ति का प्रश्न बहुत काफी जटिल रहा है। कितने ही प्रतिक्रियावादी तत्त्व हुए हैं और सरकार को उनका नियमन करना पड़ा है। कितने ही अवसरों पर सरकार ने गोलियाँ चलायी हैं, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से लोग मरे हैं, घायल हुए हैं और धन-जन की क्षति हुई है। आपकी राय में एक राष्ट्रीय सरकार कितनी दूर तक व्यवस्था के नाम पर ऐसे कठोर कदम उठाने के लिए बाध्य है ?

लोकतन्त्रीय दावे पर लाञ्छन

—शासन के पास पुलिस है और वह सामान्यतया प्रशासन के काम के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। अपराध के प्रति पुलिस के पास रहे अस्त्र का भी उपयोग कभी हो सकता है। लेकिन सार्वजनिक आवेश यदि कोई ऐसे भड़क पड़ता है, जिसके शमन और प्रतिरोध के लिए प्रशासन को गोली और लाठी का सहारा लेना पड़े, तो इसको प्रशासन के लोकतन्त्रीय दावे पर लाञ्छन मानना होगा। वह सरकार अपनी लोकतन्त्रता के प्रति अविश्वास उत्पन्न करती है, जो सार्वजनिक मतावेशों और प्रदर्शनों में गोली चलाने पर उतरने को मजबूर होती है। यह प्रमाण इस बात का है कि सार्वजनिकता में सरकार के समर्थक इतने प्रबल तत्त्व नहीं हैं, जो असामाजिक तत्त्वों पर भारी पड़ें और इस तरह सामान्यतया 'लॉ एण्ड आर्डर' को सुरक्षित बनाये रखें। गोली और फौज का उपयोग जिसे सार्वजनिक मामलों में करना पड़ता है, वह सरकार राजतन्त्रीय अधिक है, जनतन्त्रीय कम है, यह आरोप साफ है। सिद्धान्ततः नैतिक अपराधों के अतिरिक्त गोली चलाने की वारदात होनी नहीं चाहिए। अन्तरंग शान्ति और सुरक्षा में फौज के उपयोग की नौबत आती है, तो कहीं बड़ी त्रुटि है, यह मानना चाहिए। जनतन्त्र जनता के विश्वास पर चलनेवाला तन्त्र है, यह यदि सच हो, तो जनता में स्वयं वे तत्त्व होने चाहिए, जो 'लॉ एण्ड आर्डर' को रक्षित बनाये रखें। अपराध वैयक्तिक होता है; छिट-पुट गुट भी यदि होते हैं; तो सार्वजनिक समर्थन उनके

पीछे नहीं होता और इसलिए वे चोरी-छिपके काम करते हैं। खुला द्रोह यदि सामने दीखे और उसके शमन के लिए सरकारी लाठी-गोली के सिवा कोई उपाय न रह जाय, तो इसमें शासन की हार है; क्योंकि कोरे प्रशासन की जीत है। भारत में स्वराज्य आने के बाद कांग्रेसी सरकार को अनेकानेक बार गोली का सहारा लेना पड़ा है और इससे कांग्रेसी सरकार निर्बल बनी है। स्वयं गोली पर उतरकर उसने जनतन्त्रीय भाषा में अपनी निर्बलता प्रकट की है। इतना ही नहीं, निर्बलता की राह को भी स्वीकार किया है। यदि जनतन्त्रीय रहने का उसका संकल्प हो, तो इस असमर्थता को लेकर उसे शासन से उतर आना चाहिए और समाज में अहिंसक तत्त्वों का बल बढ़ाने में लगना चाहिए। ऐसा नहीं, तो लोकतन्त्र जाने-अनजाने राजतन्त्र की ओर बढ़ रहा होगा, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है। दण्ड से होनेवाला शासन राजतन्त्रीय है। लोक-विश्वास के बल से चल सकनेवाला शासन ही लोकतन्त्रीय कहला सकता है। सच्चा लोकतन्त्रीय शासन हिंसा के व्यापक उपकरणों के उपयोग में नहीं गिरेगा, यह मान लेना चाहिए।

विरोधी दलों की जिम्मेदारी

१८२. बहुधा ऐसा हुआ है कि विरोधी राजनीतिक दलों ने गैरजिम्मेदार रूप में काम किया है और अपने राजनैतिक हितों को बढ़ावा देने के लिए जनता के इस या उस वर्ग को अनुचित रूप से उत्तेजित किया अथवा किसी भी एक समस्या का दुरुपयोग सरकार के विरुद्ध क्षोभ पैदा करके किया है। ऐसी स्थिति में कांग्रेसी सरकार क्या, कोई भी सरकार होती तो उसे गोलियों का आश्रय लेना पड़ता—कांग्रेस-नेताओं के इस तर्क से आप कितनी दूर तक सहमत हैं?

गोली-काण्ड विरोधी दलों की जीत

—संकट की स्थिति थी, इसीलिए गोली चली, यह सौ फी सदी सच है। शौक के लिए गोली चलानेवाला पागल हुआ करता है, शासक नहीं हो सकता। इसलिए यह प्रश्न ही नहीं है कि सरकार सफाई दे कि परिस्थिति की किस मजबूरी में गोली चलानी पड़ी। सफाई तो हो सकती है और होती है। इन हालतों में सरकार के पास अवश्य अपना केस होता है और उसमें एक तर्क-संगति भी होती है। किन्तु प्रश्न दूसरा है और वह यह कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न क्यों हो आती है? विरोधी दलों में यह शक्ति हो कि हिंसा करवा लें, तो जीत विरोध की होती है। शासन जनतन्त्रीय है, तो इसका मतलब यह है कि हिंसा की वैधानिक शक्ति समाज ने अपनी ओर से अमुक बहुमतवाले दल को सौंप दी है और समाज स्वेच्छा

से उससे विमुक्त हो गया है। अगर वह विमुक्त नहीं है, अवैध हिंसा समाज में इतनी मौजूद है कि शासन की वैध हिंसा से ही उसका मुकाबला किया जा सकता है, तो जनतन्त्रता और लोकतन्त्रता जैसे शब्द गिर जाते हैं। इन शब्दों में ही गर्भित है कि केवल वह हिंसा समाज में शेष बची है, जो वैयक्तिक और छिटफुट अपराधों के रूप में प्रकट होती है। शेष उस हिंसा की आवश्यकता को सरकार को सौंप दिया गया है। लोकतन्त्रीय शासन का इसके सिवा दूसरा अर्थ नहीं है। इसलिए कांग्रेसी शासन विरोधी राजनीतिक पार्टियों को दोष दे सकता है; वे दोष सही भी हो सकते हैं, लेकिन ऐसा वह करे, इतने में ही सिद्ध हो जाता है कि वह पूरा लोकतन्त्रीय नहीं है।

शासन हिंसा का उपकरण

अन्त में यह स्वीकार करना चाहिए कि शासन स्वयं, कुल मिलाकर, अहिंसा का नहीं, हिंसा का उपकरण है। इसलिए सच्चा और सही आदमी शासक कभी बनेगा ही नहीं। वह जनता में ही रहेगा, उनके सिर पर नहीं बैठेगा। शासन को इस तरह जान-बूझकर अमुक परिस्थितियों में हिंसा को अपनाने की छूट रहती है। वैसा न होता, तो फौज और अस्त्र-शस्त्र का अर्थ ही न था। उस हिंसा को वैध और उचित भी मान लिया जाता है। लेकिन शासन-संस्था का विकास हिंसा से अहिंसा की ओर है। और सरकार वह सबल है, जिसे सरकारपन की कम-से-कम ज़रूरत होती है। मत-शासन उत्तरोत्तर दण्ड-शासन से दूर और उन्नत होता जाय, इसीमें शासन की सार्थकता है। कांग्रेसी शासन को तो और भी इस प्रगति की दिशा का ध्यान रखना है, क्योंकि वह गांधी-परम्परा और आशीर्वाद में से हुकूमत तक पहुँचा है।

असहयोग और आज्ञा-भंग

१८३. गांधीजी ने असहयोग और आज्ञा-भंग को सत्याग्रह के विशेष अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया था और विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध वैसा करने के लिए आरूढ़ किया था। पर आज्ञा-भंग की यही प्रवृत्ति आज राष्ट्रीय सरकार के सामने एक भीषण समस्या बन उठी है। जिसको जरा भी असन्तोष अथवा क्षोभ होता है और जो कुछ लोगों को अपने चारों ओर इकट्ठा कर सकता है, वह सरकार के साथ मोर्चाबन्दी करने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसी परिस्थिति को शुभ नहीं माना जा सकता। आज्ञा-भंग की इस प्रवृत्ति के उन्मूलन के लिए आप क्या सुझाव पेश करते हैं?

अवज्ञा दल नहीं, व्यक्ति करे

—सही कहते हो। फल वह मिलता है, जो हम बोते हैं। अवज्ञा, आज्ञा-भंग, इन्कलाब जिन्दाबाद आदि की शिक्षा देते समय हमें प्रिय लगा था। भोगते समय जान पड़ता है कि वह शिक्षा सही नहीं थी।

यह बात भी सही है कि कानून की अवज्ञा और कानून का भंग व्यक्ति के हक में दाखिल हुआ, तो यह गांधीजी के कारण था। कानून का मुकाबला तो सदा ही होता आया है। लेकिन उस मुकाबले को अपराध माना जाता था, द्रोह माना जाता था। गांधीजी ने अधिकार और कर्तव्य के रूप में समाज-जीवन में इसका प्रवेश किया। यह बहुत ही विस्फोटक तत्त्व था। गांधीजी ने उसके सहारे एक अभूतपूर्व जागरण भारत देश में पैदा कर दिया और मैं समझता हूँ कि तत्त्व-चिन्तन के लिए नयी सामग्री भी प्रस्तुत की। समाजवादी विचार के सामने यह बड़ा प्रश्न गांधीजी ने रख दिया। मैं मानता हूँ कि ठीक यही खतरनाक चीज है, जो गांधीजी का सबसे बड़ा कीमती दान है। समाजवादी विचार न्याय और अधिकार को बहुमत के हाथ में दे देता है। मानो इस तरह सत्य ही स्वयं बहुमत के पास पहुँच जाता, बन्द हो जाता है। गांधीजी ने यह विस्फोटक सिद्धान्त दिया कि एक अकेला आदमी भी सारी दुनिया के संगठन के खिलाफ खड़ा हो सकता है। संगठित कानून की अवज्ञा कर सकता, उसका भंग तक कर सकता है। सकता नहीं, बल्कि चाहिए। और जब तक एक व्यक्ति और नागरिक इस प्रकार वर्तन करता है, तो प्रगति का मन्त्र और तन्त्र संगठित सत्ता के पास न रहकर व्यक्ति के और व्यक्तियों से बने समाज के पास आ जाता है।

क्रान्तिकारी विचार

यह विचार क्रान्तिकारी विचार है और समाजवादी-साम्यवादी आदि सब सामाजिक विचारणाओं के लिए चेतावनी बन जाता है। मानो तमाम भौतिक विचारधाराओं के सम्मुख यह अध्यात्म को प्रतिष्ठित कर देता है। अर्थात् यह विचार इस मूलतत्त्व को स्थापित करता है कि ऊपर से आनेवाला संचालन, इसीलिए कि ऊपर से और बाहर से आता है, सत्य नहीं है। संचालन भीतर से आता है और वही सत्य है। अन्तःकरण में वह प्रक्रिया है, जिससे इतिहास बनता है और काज चलता है। उसीसे जगत्-व्यवस्था चलेगी तो समाधान होगा, अन्यथा बहुसंख्यकता का सत्य असत्य हो जा सकता है।

अवज्ञा, पर सविनय

लेकिन गांधी का यह नवाविष्कृत क्रान्तिकारी विचार भारत की राष्ट्रीय और

राजनीतिक कांग्रेस के पास आकर मानो अपना आध्यात्मिक और वैचारिक महत्त्व खो बैठा। कांग्रेस ने अवज्ञा को लिया, सविनय को छोड़ दिया। भंग को लिया, भद्र को छोड़ दिया। कांग्रेसको तात्कालिक फल की आवश्यकता थी और विद्यार्थियों, श्रमिकों, ग्रामीणों को कर्तव्य में नहीं, केवल आवेश में उभारकर वह फल पाया जा सकता था। गांधीजी उत्तेजना से एकदम काम नहीं लेना चाहते थे। उसे ठण्डी प्रेरणा बना लेना चाहते थे, जो उफन और उबलकर बैठ नहीं जाती, जिन्दगी को अन्त तक चलाये जाती है। गांधीजी का बल सविनय और भद्र इन विशेषणों पर इतना था कि अवज्ञा और भंग का इनके अभाव में वे विचार नहीं कर सकते थे। विनम्रता और भद्रता, यह हर हालत में अपनाये रखने के स्थायी गुण थे। उनके बिना जैसे मनुष्य को अपना प्राथमिक अधिकार भी नहीं प्राप्त होता था। कांग्रेस के लिए ये विशेषण मानो केवल गांधीजी के नाते स्वीकार्य थे, अन्यथा वे उसके मन के नहीं थे। वे मानो राजनीतिक तेज को रोकने-वाले थे, प्रकट करनेवाले नहीं थे। कांग्रेस का यह अधैर्य, फलाकांक्षा में यह उसका गलत मूल्यों को उत्तेजन देना जब प्रतिफल में उसी पर लौट कर आ रहा है, तो कांग्रेसी शासन को बड़ा अजब मालूम होता है। स्वराज्य की लड़ाई में जो राज-नीतिक प्रशिक्षण दिया और जिसके नैतिक अंश को अनावश्यक मानकर हमने छोड़ दिया, वही आज के राजनीतिक परिपाक में फलता आ रहा है। इनकलाब अगर निज में मूल्य है तो लीजिये युनिवर्सिटी के ये सारे जवान इस मूल्य को ऊँचा उठाकर इनकलाब करने बढ़े चले आ रहे हैं। आप उस इनकलाब को लाठी-गोली से क्यों खतम करना चाहते हैं? आपको शिकायत शायद यह है कि ये जवान कैसे उद्धत हैं, अशिष्ट हैं, असभ्य हैं, वे उत्पात और उपद्रव करते हैं आदि। तो आपने विनय और भद्रता को उतना अनिवार्य कब माना था?

सत्याग्रह धर्म-युद्ध

मैं मानता हूँ, या तो हमको लौटकर बहुसंख्यक विचार की न्याय्यता में पहुँचकर शासन की वैध हिंसा की शरण लेनी और विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता को ऊपर से दबाने में लगना होगा; अन्यथा गांधीजी ने अजस्र क्रान्ति के मन्त्र के रूप में महाशक्तिशाली और विस्फोटक सत्याग्रह का जो तत्त्व दिया, उसको अपने पूरे फलितार्थ में स्वीकार करना होगा। वह यह कि सत्याग्रह धर्म है, हक है, कर्तव्य है; लेकिन शर्त के साथ कि पूरी तरह वह सविनय और भद्र हो। यह विनय और भद्रता की शर्त मानो सारी राजनीतिक शक्ति को सांस्कृतिक सन्दर्भ दे देती है। उसकी ध्वंसात्मकता को नष्टकर रचनात्मकता प्रदान करती है।

विद्यार्थी राजनीति के चक्कर में

युवक-शक्ति देश की सबसे बड़ी देन और थाती हुआ करती है। वह साक्षर हो, तब तो उस शक्ति का कहना ही क्या? वही यदि नकारात्मक बन आये तो दोष उन मूल्यों का है, जिनसे समाज और राज्य चलते हैं। उपाय यह नहीं है कि युवकों का दमन और दलन हो। उपाय यह है कि उनमें रचनात्मक स्वप्न जागें और उनकी सामर्थ्य-सम्भावनाओं को अवकाश और मार्ग प्राप्त हो। नैतिक वर्जनाओं से काम नहीं चलनेवाला है। उनसे शक्ति दबती और बुझती हो, तो यह जीवन-तर्क के प्रतिकूल हो जायगा। उनमें जो अपने प्राणों को प्रयोग में डालने की आतुरता है, खतरा उठाने का हौसला है, तो ये तत्त्व कीमती हैं। निषेध और विरोध में इसलिए लगे हैं कि विधायक और रचनात्मक उनके पास कुछ नहीं है। यदि आबहवा राजनीतिक रही और वही रीति-नीति समाज में ऊपर उठने और सफल होने की बनी रही, तो विद्यार्थियों को उस ओर से किसी तरह विमुख नहीं किया जा सकेगा। दलवाद अगर हमारे राज्य को चलानेवाला है, तो गुटवाद हमारे विद्यार्थियों को क्यों न चलायेगा? जीवन एक और समग्र है। हम अपने लिए एक नीति रखें और विद्यार्थियों में उससे कोई दूसरी नीति चले, तो यह नहीं होनेवाला है। विश्वविद्यालय में वही चलेगा, जो बाहर समाज में चल रहा होगा। केवल इस सुविधा से कि हमारी उम्र कुछ बढ़ गयी है और हम विद्यार्थी नहीं रह गये हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि हम दलबाजी और जंगबाजी से चलें और नीति-पालन और अनुशासन आदि को विद्यार्थियों के लिए छोड़ दें। वे बालक अन्त में हमारे हैं और हमसे भिन्न नहीं हो सकते। बालकों के लिए माता-पिताओं को और विद्यार्थियों के लिए नेता-प्रणेताओं को स्वयं अपने से आरम्भ करना होगा। ऊपर राजनीति में जो चलता है, विद्यार्थी आखिर पढ़-लिखकर क्या उसे देखने-समझने के लिए आँख ही नहीं पा जाता है? वह मूर्ख और अपढ़ समझा जायगा, अगर अपने बड़ों से इतना भी नहीं सीखेगा कि अगर उनसे आगे बढ़कर नहीं दिखा सकता है, तो उनका अनुकरण तो करे। इसीसे राजनीति का बोलबाला विद्यार्थियों के बीच खूब दिखाई देता है, उसका अभ्यास भी कराया जाता है। यूनियनवाद मानो उनके प्रशिक्षण का अंग है। तब फल कुछ दूसरा कैसे आ सकता है?

शिक्षा का ढचर ढाँचा जिम्मेदार

१८४. स्वतन्त्रता के एकदम बाद क्या नेहरू और मौलाना आजाद को नहीं चाहिए था कि पुरानी नौकरशाही के ढाँचे पर चलनेवाली शिक्षा में अनिवार्य परिवर्तन करते

और उसे अधिक रचनात्मक एवं कल्पनाशील बनाते? शिक्षा के इस अपरिवर्तित पुराने ढचर-ढाँचे को और उसके माध्यम से शिक्षामन्त्री को आप कितनी दूर तक वर्तमान 'लॉ एण्ड आर्डर' की समस्या का कारण मानते हैं?

—जी नहीं, नेहरू और आजाद इसलिए नहीं हैं कि मेरी और आपकी इच्छाओं से चलें। क्या वे अपने में व्यक्ति न रहते? क्या इतना भी अधिकार न रखते कि अपने को अपनी समझ से चलायें?

यह हमारी नासमझी के सिवा क्या है कि अपनी समझ को हम दूसरों के कन्धों बिठाकर चलता हुआ देखना चाहते हैं! यह बुद्धि का विकार है, जो प्रश्न को इस रूप में रखता है।

क्लर्कों का उत्पादन

नेहरू-आजाद को कृपया हम आजाद रहने दें। उसके बाद हाँ, यह सच है कि आज की शिक्षा का ढाँचा औंधा है। मूलतः वह ढाँचा वही है, जो क्लर्कों की जरूरत के लिए अंग्रेज हाकिमों को सूझा था और उनके द्वारा चलाया गया था। विडम्बना तो यह है कि क्लर्कों की आज भी सरकार को जरूरत रहती है। बेतहाशा बढ़ गये हैं, फिर भी उनसे अनेक गुने दरख्वास्तें देते रहते हैं और कुछ उनमें से क्लर्की की जगह पाते भी रहते हैं। मुझे बताइये कि जो क्लर्क बनने के लिहाज से पढ़ते और क्लर्क बन पाते नहीं हैं, वे दूसरा काम करें तो करें क्या? इसलिए जब तक वे क्लर्क नहीं बनते हैं, तब तक रोजगार से खाली अपने दिमाग में फितूर भरने से कैसे बच सकते हैं? देहात के और मेहनत के काम अगर कुछ पड़े भी हुए हों, तो वे उन्हें करें भी कैसे, क्योंकि आखिर अपनी पढ़ाई को व्यर्थ कैसे करें? इतनी मेहनत-मुसीबत और पैसे के खर्च से स्कूल-कालेज से मोहर्रिरी उन्होंने सीखी है, वे अपनी शिक्षा के प्रति क्या झूठें न बनेंगे अगर उस मोहर्रिरी के सिवा कुछ भी और करने लायक हो सकेंगे? जरूरी है उनके लिए कि साफ, बढ़िया और फैशनेबिल कपड़े पहनें, उठी हुई महँगी जिन्दगी रखें और अगर क्लर्की से, मुलाजमत से, माँ-बाप से इस सब बढ़े-चढ़े लिबास और तौर-तरीके के लिए पैसा नहीं आता है, तो कहीं-न-कहीं से, छल-छिद्र से, जोर-जुर्म से पैसा बनायें।

राजनीतिक दलों के लिए कच्चा माल

मैं नहीं मानता कि इसमें बेरोजगार युवकों की गलती है; क्योंकि आखिर पढ़ाई-लिखाई ने उन्हें बनाया और सँवारा है। वे मामूली देहाती या किसान-सरीखे नहीं रह सकते। पसीना बहाने का काम नहीं कर सकते। इसलिए खाली का जो

शुगल रह जाता है, वह यह कि राजनीतिक पार्टियों के अलमबरदार बनें, क्रान्ति से कम कोई बात न करें। यह तबका है, जो राजनीतिक दलों के लिए कच्चा माल मोहय्या करता है। शिक्षा सीधे उस कच्ची सामग्री को तैयार करने में लगी हुई है, यह स्वीकार करना चाहिए। आजाद गये, नेहरू हैं। उनकी शिक्षा, एक रोज उन्हें पता चलेगा कि, उनके राज की जड़ों को खोद रही थी। सीधे खोदती और जतलाकर खोदती, अगर तो एक बात भी थी। वह शिक्षण की शोभा भी हो सकती थी, जैसे खुद नेहरू पर ईटन और कैम्ब्रिज की शिक्षा सुशोभित बन गयी। इंग्लैण्ड से पायी और इंग्लैण्ड को दूर करने के काम आयी, तो नेहरू से ऐसे उस शिक्षा को एक गौरव ही प्राप्त हुआ है। लेकिन शिक्षित युवकों से वैसा कुछ जानदार यहाँ नहीं हो रहा है। जो हो रहा है, वह यह कि जाने-अनजाने समाज और राज्य की सीवन उधेड़ी जा रही है और सरकारी शिक्षा से सरकारी दुश्मन पैदा हो रहे हैं। शायद नेहरू यह अनुभव करते भी हैं, लेकिन समस्याएँ इतनी राजनीतिक उनके पास रहती हैं; राजनीतिक हों, तभी उनमें उन्हें रस भी विशेष होता है। इस तरह की ठण्डी समस्याओं के लिए ठण्डा दिमाग उनके पास नहीं बचता है, न कोई ठण्डी फुरसत मिल पाती है।

शिक्षण राज्य से स्वतन्त्र हो

उधर एक विनोबा हैं जो कहते हैं: 'शिक्षण राज्य से स्वतन्त्र हो।' राज्य की ज़िम्मेदारियों को वे जानते और तब कहते तो एक बात थी। उन जिम्मेदारियों में घिरे और परेशान तो नेहरू हैं। वे इसलिए कह दें कि हटाओ इस शिक्षण को और लो, तुम दूसरे लोग इसे सँभालो, तो कुछ अर्थ भी हो। लेकिन उन सब परेशानियों के बावजूद, वक्त की और ठण्डक की कमी रहते भी, राज्य की जिम्मेदारी को वे महसूस करते हैं और उसे उठाये रखना चाहते हैं। वक्त न दे पायें, तो भी वे देखते हैं कि वेलफेयर स्टेट का काम है कि देश के बालकों को शिक्षा दे और कामिल इन्सान बनायें। शिक्षा के मिनिस्टर और संस्कृति-विज्ञान के लिए दूसरे मिनिस्टर, दोनों मिनिस्ट्रियों के बजट कोई हल्के नहीं हैं। यह सारी जिम्मेदारी शिक्षा की राज्य पर आती है और राज्य उसको पहचानता है। दोष हो सकते हैं, कमियाँ हो सकती हैं और सबका मशविरा और सहयोग इसके लिए चाहिए। त्रुटियाँ हैं तो वे हमारी हैं और हम बड़े-बड़े सवालों के बीच हैं। आप आलोचना करते हैं और ठीक करते हैं। लेकिन अगर इरादा हो, तो आइये और क़ाम में हमारी मदद कीजिये।

इन्सान का सवाल अहम

इस तरह व्यक्ति में दोष नहीं है, दोष दृष्टि में है। दृष्टि यह भ्रमपूर्ण है कि राज्य के सवाल अहम सवाल हैं, इन्सान के सवाल दोयम हैं। आदमी का दुःख पहली और मूल वास्तविकता है, बाकी चीजें धारणाएँ हैं, जो बनाने से हमारी और बड़ी बनी हुई हैं। धारणाओं के पीछे लपकने से माया को जन्म मिलता और आडम्बर पैदा होता है। वह दृष्टि मरीचिका के पीछे पड़े राजकारण को उपजाती है। जो एक-एक के दुःख को ओझल नहीं करती, बल्कि उसको गिनती में लेती है, वह मानवीय और यथार्थ दृष्टि है। उस दृष्टि से चीजें चलेंगी और चलायी जायँगी, तब समाधान की कुंजी काम में आयी, ऐसा लग सकता है।

१८५. नैतिक, चारित्रिक एवं धार्मिक शिक्षा के तिरस्कार, प्राचीन मर्यादाओं के भंग तथा नवीन मर्यादाओं के निर्माण में पूर्ण अक्षमता को आप कितनी दूर तक भारत के जन-जीवन के हर क्षेत्र में बढ़ती जानेवाली अपराध-वृत्ति का जिम्मेदार ठहराते हैं?

शिक्षा-क्षेत्र में पैसे का गजब

—मैं एक शब्द कहूँगा कि शिक्षा के क्षेत्र में पैसे के प्रवेश ने बड़ा गजब ढाया है। उससे गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बिगड़ गया है, शिक्षण-संस्थाओं का वातावरण फिर गया है और शिक्षा का लक्ष्य मनों में उलट-पलट गया है। शिक्षण-संस्थाओं में स्तर बन गये हैं और बड़े आदमियों के लड़के एक तरह के स्कूलों में, मध्यम के दूसरों में और साधारण के किन्हीं तीसरों में ही जाते हैं। पुराने गुरुओं के आश्रमों और गुरुकुलों में यह भेद-बरताव नहीं सुना जाता था। पैसे की यह प्रधानता भारतीय संस्कृति के मूल्यों को ही उलट देती है। उन मूल्यों की पहचान चातुर्वर्ण्य के क्रम से समझी जा सकती है। सबसे ऊपर और वर्णोत्तीर्ण संन्यासी होता था। वह अनिकेतन और अकिंचन हुआ करता था। स्वत्व के नाम पर उसके पास कुछ न था, भिक्षा उसकी वृत्ति थी और परिव्रजन उसका काम था। सबके सुख-दुःख में मिलकर रहता था और इसी तरह निजी सुख-दुःख से उत्तीर्ण भी बना रहता था। समाज के लिए सर्वोच्च मूल्य का वह व्यक्ति था। पैसा उसके लिए निषिद्ध था और तन की तात्कालिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त न कुछ वह रखता था, न लेता था। पैसा-प्रधान समाज में ठीक यही आदमी है, जिसका नितान्त अवमूल्यन हो जाता है। उसका उपयोग शून्य तक ही नहीं पहुँचता, बल्कि इस अर्थ में ऋणात्मक बन जाता है कि समझा जाता है, वह खाता तो है, उपजाता नहीं है। पहले यही व्यक्ति समाज का शिक्षक और दीक्षक होता था।

उसकी आजीविका या वृत्ति का प्रश्न ही न था। अब नैतिक उपदेश कुर्सी पर बैठे राज्य-पदाधिकारी नेता के पास से आ सकता है और विद्या तनख्वाहदार मुदर्रिस से मिल सकती है। यह मुदर्रिस इतनी कम तनख्वाह पाता है कि उसका ध्यान उधर से एक क्षण के लिए नहीं हटता और समाज में वह अपने को हीन गिनता है। किसी सम्पन्न और पैसेवाले के लड़के का रोब उस पर आसानी से पड़ जाता है। उस बालक को शिक्षण देने के बजाय उसकी कृपा पाने की इच्छा उसे अधिक संगत मालूम होती है। पैसे से मिलने और दी जानेवाली यह शिक्षा जीवन की शिक्षा नहीं होती, जीविका की शिक्षा होती है। ज्ञान तब डिग्री में इतिश्री पाता है। डिग्री पाने के बाद सीखा हुआ सब भुला भी दिया जाय, तो हानि नहीं। और सचमुच वह सब भूल जाने में ही आगे खैर मानी जाती है। अपराध फल है दमित विकृत चेतना का। अन्तर्वृत्तियाँ जब मार्ग और अवकाश नहीं पाती हैं, तो नकारात्मक दिशा अपनाती हैं। पैसे से चलनेवाला समाज इस प्रकार के नाना दबावों की सृष्टि करता और फलतः अपराधों को उत्तेजन देता है। सीधा आदान-प्रदान रुक जाता है, पैसे के अर्थात् राज्य के माध्यम से ही वह सम्भव बनता है। उस प्रकार मानव-सम्बन्धों के बीच एक कृत्रिम प्रभाव का प्रवेश हो आता है। मालूम होता है कि मानवीय गुण सीधे समाज-जीवन को नहीं सम्भाल और चला पाते; बल्कि दूसरी कृत्रिमताओं के बीच में आ जाने के कारण वे सब मन्द और आड़े-टेढ़े हो जाते हैं। अर्थ-प्रधान और राज्य-प्रधान समाज में अनायास श्रमनिष्ठा कम होती है और चाटुकारों का एक वर्ग खड़ा होता है। श्रम के अभाव में भी यह वर्ग ऊँचा चढ़ता जाता है और इस तरह सारे समाज की श्रद्धा को, समाज-मूल्य को ही, बिगाड़ देता है। मानना होगा कि यह समय अर्थ-प्रधानता का है और इसीलिए मानवीय गुणों की अपेक्षा से संकट का भी है।

शिक्षा का प्रश्न माँग-पूर्ति से नियन्त्रित न हो

शिक्षण का प्रश्न जीवन का प्रश्न है। उसको सीधा राज्य-व्यवस्था से जोड़ना सही नहीं है। राज्य की तात्कालिक आवश्यकता को जब सारे शिक्षण-विधि का इष्ट बना दिया जाता है, तो जीवन के आशय से उसका विच्छेद हो जाता है। परिणामतः हमको व्यक्तित्व-सम्पन्न मानव नहीं प्राप्त होते हैं, केवल तत्काल की आवश्यकता की दृष्टि से उपयोगी जन मिलते हैं और कुल मिलाकर समाज घाटे में रह जाता है। व्यक्तियों की समूची अन्तःसम्भावनाएँ प्रकट और विकसित नहीं होती हैं, बल्कि केवल गढ़-गढ़ाकर उनको अमुक आवश्यकताओं की पूर्ति के लायक बनाकर सन्तोष मान लेना पड़ता है। अभिक्रमशीलता और सृजनशीलता

इस प्रकार कुण्ठित होती है और हमारे पास बौने व्यक्तित्व रह जाते हैं। राज्य की आवश्यकताएँ आज हो सकती हैं कि सिपाही मिलें, कल हो सकती हैं कि क्लर्क प्राप्त हों, तीसरे दिन इंजीनियर आदि-आदि। उस समय सारे शिक्षण की मशीन को इन नमूनों के लोगों को ढालने में लग जाना पड़ता है और काम कुछ ऐसे होता है, जैसे कारखानों में हुआ करता है। आदमी को उत्पादन अथवा उपयोजन के यन्त्र तक सीमित कर देना उसको आध्यात्मिक सम्भावनाओं से वंचित कर देना है। मनुष्य यदि मशीन है तो ईश्वरीय और चेतन मशीन है और उसे चैतन्य एवं ईश्वरत्व से तोड़कर केवल दैहिक अथवा बौद्धिक यन्त्र बना देने से मनुष्य की सम्भावनाओं के साथ न्याय नहीं हो पाता। याद रखिये कि स्वयं भौतिक क्षेत्र में जो उपलब्धि हुई है, वह आत्मवान् पुरुषों द्वारा मिली है। खोज देखिये, अधिकांश वैज्ञानिक क्षेत्र में नया दान देनेवाली प्रतिभाएँ कॉलेज और विश्वविद्यालयों से निकली हुई न मिलेंगी। मानो आत्मवत्ता और स्वाधीन चिन्तना में से उनकी मेधा का विकास और निर्माण हुआ था। हिसाब से बाहर रह जानेवाले व्यक्तित्व के इस चिन्मय मर्म-तन्त्व को जो शिक्षण-विधि जितना ध्यान में रख सकेगी, उसको अवकाश और विकास दे सकेगी, मानव-क्षेत्र में वह उतनी ही सफल हो सकेगी। पाठ्य और परीक्षा पर अधिक जोर देने से उस चिन्मय तत्त्व का सत्कार और संस्कार नहीं होता, बल्कि तिरस्कार हो जाता है। पाठ्य-पुस्तक और परीक्षा-प्रणाली सहायक होनेभर के लिए है। आज तो उनका आतंक है। मालूम होता है कि ज्ञान का माप उनमें बन्द है। ऐसा हुए बिना नहीं रहेगा, अगर हम शिक्षण के द्वारा थोक माल पैदा करना चाहेंगे। राज्य की आवश्यकता से जुड़कर शिक्षण मानो कारखानों और मिलों की तरह ही विश्व-विद्यालयों में मास-प्रोडक्शन की नीति पर चलने लगता है और माँग-पूर्ति के मीटर से उसका नियमन भी होने लगता है। एक कमरे में बैठकर विधायक तय करते हैं कि पास परसेंटेज अब बढ़ना चाहिए या घटना चाहिए। विद्यार्थियों से और उनकी क्षमता से उस निर्णय का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किन्हीं और दृष्टियों से नीतियों का निश्चय हो जाता है। क्या अब मैट्रिक क्लास का परसेंटेज पन्द्रह प्रतिशत काफी होगा, क्योंकि अधिक विद्यार्थियों की संख्या विश्वविद्यालय की व्यवस्था अब नहीं ले सकती—चेतन प्राणियों और बालकों के साथ यह काठ-पत्थर जैसा नाप-तौल का बर्ताव क्या वैज्ञानिक कहा जायगा? सही निगाह से देखें, तो वह शुद्ध अमानुषिक बर्ताव ठहरता है। लेकिन जब एक बार हम मानव-व्यक्ति को अन्तःसंभावनाओं की ओर से देखने से इनकार कर देते हैं और बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निर्णय करते हैं, तो ऐसी हृदय-

हीन आंकिक नीति में पड़े बिना नहीं रह सकते हैं। यह विषय बड़े ही दुःख का है। लेकिन राज्यवाद के बोलबाले के जमाने में विषम-चक्र को कहाँ किस जगह से छेड़ा और उधेड़ा जाय, यह समझ में नहीं आता है। सचमुच शिक्षण वह क्षेत्र होना चाहिए, जहाँ से ऋषि-जन अपने कार्य का आरम्भ कर सकें।

धर्म-शिक्षा का खोखलापन

नैतिक और धार्मिक शिक्षा से कुछ ऐसा लगने लगता है कि हम विषयों के तौर पर इन शिक्षाओं की भी बात करते हैं। धर्म क्लास में और अमुक पीरियड में पढ़ाया जाय, इसका अर्थ ही मैं नहीं समझ पाता हूँ। यह एक धार्मिक समझे जानेवाली संस्था में मुझे कहना हुआ। वे विचार में पड़े थे कि धार्मिक व्यक्तित्व-वाले विद्यार्थी यहाँ से कैसे निकलें। साफ है कि उनको शिकायत थी कि वह तेज उनमें नहीं होता है। मैंने कहा कि धर्म पढ़ाने का आग्रह रखेंगे, तो विद्यार्थी धार्मिक नहीं बनेंगे, यह सीधी बात है। बात का सीधापन उन्हें नहीं दीखा, वह उन्हें टेढ़ी मालूम हुई। तब गणित से समझाना पड़ा कि आप पैंतालीस मिनट का एक पीरियड धर्म का रखेंगे; चलिये डेढ़ घण्टे के दो पीरियड रख दीजिये। लेकिन दिन में तो चौबीस घण्टे होते हैं। धर्म डेढ़ घण्टे होता है, तो शेष साढ़े बाईस घण्टे जो हैं, वह तो अधर्म के रह गये न ?अब साढ़े बाईस घण्टेवाला अधर्म जीतेगा या डेढ़ घण्टेवाला धर्म ? अर्थात् धर्म विषय के तौर पर पढ़ानेवाली चीज नहीं जान पड़ती, वह तो वातावरण में से प्राप्त होता रहना चाहिए। अर्थात् पहले गुरु-शिष्यसम्बन्ध से, फिर विद्यार्थियों के आपसी सम्बन्ध से, फिर संस्था की नीति और संस्था की व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्ध से उस चीज का नाता है। कोई बाहरी व्यवस्थापक यदि प्रधान है और उपाध्याय एवं आचार्य गौण है, तो उस वातावरण में नैतिकता नहीं पनपेगी, भौतिकता ही हठात् उभरी हुई दिखाई देगी। इसलिए जब कि धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की बात को मैं बहुत महत्त्व देता हूँ, तब विषय बना देने में उनके व्यसन बन जाने का भी खतरा देखता हूँ। सब धर्म अपने-अप देने धार्मिक शिक्षण की संस्थाएँ रखते हैं। उनमें से क्या महा-मानव बने हैं ? अधिकांश वे कट्टर और अमुक सम्प्रदाय के साँचे में ढले हुए नमूने हुआ करते हैं। मैं स्वयं एक जैन-गुरुकुल में पढ़ा हूँ। आठ बरस की उमर में मुझे मालूम हो गया था कि जो जैन नहीं होगा, वह नरक में ही जायगा। और धर्मों की शिक्षा में भी लगभग इसी तरह की चीज मनों में डाली जाती है। इसलिए धार्मिक शिक्षण के महत्त्व को मानते हुए भी उस

सम्बन्ध में सावधान होकर चलना होगा। बल्कि सच्ची भाषा में स्वयं धार्मिक होकर उस पर विचार करना होगा।

मर्यादाओं का प्रश्न

मर्यादाओं का प्रश्न भी विचारणीय है। मर्यादाएँ बाहरी नियम में उल्लिखित होती हैं, तब तक मानो वे स्थिति को व्यक्त और प्रतिबिम्बित नहीं करती हैं; व्यवस्था की ओर से नियुक्त नीति की ही घोषणा करती हैं। मर्यादा काम की वे हैं, जो वस्तुस्थिति में समा रहती हैं, आदेश के तौर पर ऊपर से नहीं आतीं। अर्थात् मर्यादाओं का संस्था के भीतर से विकास होना चाहिए और स्वयं स्रोत पर वे मर्यादाएँ लागू होनी चाहिए। आज की विडम्बना यह है कि मर्यादाएँ जहाँ से चलकर आती हैं, वे स्वयं उनसे स्वतन्त्र हैं। राज्याधिकारी नियमों को बताता और बनाता है, वह स्वयं उनसे मुक्त होता है। ऐसी मर्यादाएँ स्वस्थ विकास में सहायक नहीं होतीं। उलटे वे ही मर्यादा-भंग को उत्तेजन देती रह सकती हैं। अनुशासन आत्मानुशासन के रूप में विकसित हो, तो उससे स्वस्थ परम्परा और मर्यादाओं का निर्माण होगा। ऐसा तब होगा, जब शिक्षण-संस्था में एक आपसी और आत्मीय वातावरण व्याप्त होगा। मर्यादाएँ सब पारस्परिकता में से निकली होंगी और एकपक्षीय न होंगी। मैं समझता हूँ कि सच्चे जनतन्त्र का प्रयोग एक शिक्षण-संस्था में से करके दिखाया जा सकता है और स्वयं राज्य के लिए वह वस्तु-पाठ बन सकता है।

पश्चिम में भी तो अर्थमूलक तत्त्व है

१८६. जिस अर्थमूलकता को शिक्षण में आपने सब बुराइयों की जड़ बताया है, उसीका तो पश्चिम के दोनों शिविरों में भी ग्रहण और उपयोजन है। तब पश्चिम ने ऐसा क्या योग साधा है कि वहाँ चरित्र और आचरणसम्बन्धी कुछ ऐसी मर्यादाएँ बन गयी हैं कि वहाँ के लोग उनका पालन करते हैं और वहाँ के जन-जीवन में काफी बड़ी दूर तक सचाई और ईमानदारी का प्रवेश पाया जाता है और परिणामतः उनमें भ्रष्टाचार और अपराध-वृत्ति कम ही दीख पड़ती है। भारत के पक्ष में वही शिक्षा-प्रणाली विपरीत फल क्यों दे रही है?

वहाँ आर्थिक विषमता कम

—पश्चिम में अर्थ की इतनी विषमता नहीं है। अर्थात् वहाँ वह निमित्त और माध्यम अधिक है, स्वयं में लक्ष्य कम है। इससे जीवन-चैतन्य की वहाँ उससे उतनी

हानि नहीं हो पाती है। राज्य-कर्मचारी और औसत नागरिक में स्तर का अन्तर नहीं है। राजनीतिक नेता, कौन्सिलर, पार्लियामेण्ट-सदस्य हो जाने से व्यक्ति का जीवन-मान एकदम विशिष्ट नहीं बन जाता। इस कारण अर्थमूलक होने से जो अनर्थ यहाँ दिखाई देता है, वैसा वहाँ नहीं दिखाई देता। किन्तु सभ्यता वहाँ की अर्थमूलक है और उसका अलाभ अवश्य उस सभ्यतावादी लोगों को हो रहा है। यह इसीसे सिद्ध है कि हर दस-बीस बरस बाद उन्हें लड़ाई में पड़ना पड़ता है।

क्लासेज और मासेज का भेद

वहाँ का समूचा जीवन जैसे एकीभाव से अर्थ-सम्पन्नता की ओर चल रहा है। इस तरह क्लासेज और मासेज का भेद वहाँ उतना नहीं है। भारत में यह विषमता हद तक पहुँची हुई है। भारत गाँवों में बसता है और ग्रामीण जनता धर्म-प्राण है। साक्षर वर्ग शहरों में है और वहाँ की सभ्यता पश्चिम के रंग में रँगी है। इस तरह जनता और विधाता में फाँक पड़ी हुई है। यह व्यवधान भाषा और पैसे के सहारे बनाये रखा जाता है। बल्कि उसको फैलाव भी मिलता जा रहा है। शिक्षण से आप देखेंगे कि आज देहात का व्यक्ति उठकर शहरी स्तर तक आने की आकांक्षा पा लेता है और वह गाँव की रीति-नीति से छुटकारा बना लेता है। आज के समाज-संकट का यह बड़ा पहलू है। पढ़-लिखकर आदमी गाँव रहना ही नहीं चाहता। वहाँ के काम-धाम से उसमें अरुचि बस जाती है और वह शहरी सफेदपोशी, वहाँ की नोच-खसोट और जोड़-जुगत में पहुँच जाना चाहता है। यह सब तनाव पश्चिम के देशों में नहीं है। वहाँ राज्य की भाषा दूसरी नहीं है और परस्पर स्तरों में उतना शोषण नहीं है। वे औद्योगिक देश हैं, पिछड़े वे नहीं हैं और कुल मिलाकर पिछड़े माने जानेवाले एशिया और अफ्रीका के देशों के प्रति उनका सम्बन्ध शोषण का है। भारत में अभी वह स्थिति नहीं है। यहाँ पिछड़ापन और उद्योगवाद दोनों हैं और स्तरों में बँटे हुए हैं। घोर मानसिक शोषण की प्रक्रिया उसके अन्तरंग में ही काम करती देखी जा सकती है। पश्चिम के देशों में स्तरों के बीच किंचित् अर्थ-विषमता देखी जा सकती है, किन्तु इतना तीव्र मानसिक व्यवधान और शोषण वहाँ नहीं मिलेगा। यहाँ की साक्षरता की हालत देखिये। तदनुरूप यहाँ नेता और जनता में अन्तर है। समाज में व्याप्त यह वस्तुस्थिति शिक्षण में प्रतिबिम्बित होती है और वहाँ से बल पाकर फिर विषमता को और भी घोर बनाती है। मैं समझता हूँ कि पश्चिम की उद्योगवादी उन्नति यदि अपने-आप में गलत न भी

हो, तो भी ज्यों-की-त्यों भारत में नहीं अपनायी जा सकती। अव्वल तो वह उन्नति भ्रान्त है, लेकिन पश्चिम को जो फल दे रही है, वह भी उससे यहाँ सहसा नहीं मिलेगा, क्योंकि परिस्थितियाँ इतनी भिन्न हैं। इसलिए नकल में दोहरा खतरा है और शिक्षण-पद्धति अंग्रेजी नकल से अब तक छूटी हुई नहीं है। यह अवश्य हो सकता है कि अंग्रेजी असल स्वयं भारतीय नकल से कहीं आगे बढ़ गयी हो!

डाकू-समस्या

१८७. देश में स्वतन्त्रता के बाद डाकू-समस्या ने काफी गम्भीर रूप ग्रहण कर लिया था, विशेषकर राजस्थान और मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों में। विनोबाजी ने इन डाकुओं से आत्म-समर्पण कराने का प्रयास किया था और कुछ दूर तक उन्हें शायद सफलता भी मिली थी। समस्या के कानूनी और इस नैतिक निदान के बीच आप क्या सामंजस्य देखते हैं?

—सामंजस्य नीति और कानून में सीधा नहीं होता। हो सकता है, तो व्यक्तियों द्वारा। कानून को पलवानेवाले सर्विसेज के लोग हैं। जैसे मजिस्ट्रेट और पुलिस इन्स्पेक्टर। इन सर्विसेज़ के लोगों के ऊपर जनता से चुने हुए लोग पहुँचते हैं, जो इनसे काम लेने के लिए हैं। इन्स्पेक्टर जनरल कानून से इधर-उधर बिलकुल नहीं देख सकता, लेकिन मन्त्री का न यह कर्तव्य है, न अधिकार कि वह उतनी सीमित दृष्टि से अपराध की समस्याओं को देखे। वह यदि जनता में से चुनकर आता है और मन्त्री का स्थान पाता है, तो इतने में ही यह गर्भित है कि उसकी दृष्टि मानवीय होनी चाहिए; उसकी व्यवस्था-दृष्टि पर भी आदर्शोन्मुख कल्पना का प्रभाव और स्पर्श होना चाहिए। इस विधा से नैतिक और व्यवस्थात्मक दृष्टियों का बहुत हद तक सामंजस्य हो सकता है।

डाकू-समस्या के सम्बन्ध में जो कुछ घटित हुआ, उससे मुझे यह देखकर खेद होता है कि मन्त्री और मुख्यमन्त्री पुलिस के इन्स्पेक्टर-जनरल के अधिक निकट पाये गये, और विनोबा से इतने दूर कि मानो उलटे ही हों। इसका मतलब यही हो सकता है कि वे राज्य पर अधिक हैं, जनता में कम हैं। जनप्रिय सन्त-नायक से अलग विनोबा की दूसरी क्या स्थिति है? कानूनी तर्कबन्दी के पीछे यदि मिनिस्टर शरण लेता है और मानवीय दृष्टिकोण से अपनी छुट्टी कर लेता है, तो सिवा इसके क्या कहा जाय कि जनता के आश्वासन से वह अपने को और अपने दल को वंचित करता है और जनवादी दृष्टिकोण को गौण मानने के कारण वह अगले चुनाव के लिए अपने को अयोग्य सिद्ध करता है।

मामूली पुलिस-सिपाही डण्डा अपने साथ रखता है। मिनिस्टर के लिए कभी यह शोभा की बात नहीं समझी जायगी कि वह डण्डा साथ लेकर चले। अर्थात् स्वयं कानून के दो सिरे हैं। इस सिरे पर वह जैसे धर्म-नीति की सीमा से जा मिलता है। उस छोर से धर्म-नीति का प्रभाव कानून पर अवश्य हो सकता और होना चाहिए। जितना वह कम होता है, कानून उतना ही आटोक्रेटिक बनता है। डिमोक्रेटिक शब्द में यही अर्थ है कि धर्म-नीति और जन-नीति आईन-कानून से केवल दबने के लिए न रहे, बल्कि आईन में वह अधिकाधिक प्रत्यक्ष और व्यक्त भी हो।

अपराधी रोगी अधिक

ज़माना वह आ रहा है जब अपराधी दण्डनीय से अधिक रोगी समझा जायगा। जेलों की जगह उनके लिए अस्पतालों में व्यवस्था होगी। आप जानते हैं कि अस्पताल में रोगी सेव्य होता है, डाक्टर सेवक होता है। रोगी के लिए हर सम्भव सुविधा की व्यवस्था आवश्यक मानी जाती है। रोगी के पास अधिकार होता है, उपचारक के पास केवल कर्तव्य होता है। धीरे-धीरे प्रकट होता जायगा कि अपराधी अधिकार-भावना की प्यास में से बनता है। उसका अहं घुट गया होता है और खुलने के लिए आस-पास की परिस्थिति को और व्यक्तियों को तोड़ता हुआ निकल पड़ना चाहता है। यहीं वह असामाजिक होता और अपराधी बन जाता है। अपराधी व्यक्ति को समाप्त या बेकार कर देने की कल्पना पुरानी हुई। अब हाथ-पैर नहीं काटे जाते हैं, बल्कि कोशिश की जाने लगी है कि धीरे-धीरे वह अपराधी से उपयोगी बन जाय। उपयोग की सम्भावनाएँ उस आदमी में पड़ी ही हैं और कानून को कभी यह भूलना नहीं चाहिए। कानून जितना कल्पनाशील होगा, उतना ही यह ध्यान और विश्वास उसमें गहरा होता जायगा और परिणामस्वरूप वह स्वयं अधिक मानवीय बनता जायगा। डाकू कहे जानेवाले हर आदमी की परिस्थितियों में हम जायँ, तो काफी अध्ययन की सामग्री मिल सकती है। उस विवरण से हम देख सकेंगे कि उस प्रकार के लोगों में कुछ गुण भी होते हैं। वे ही अवगुण बनने को बाध्य यदि होते हैं, तो अमुक प्रकार की परिस्थितियों के कारण। अवगुणता से मुक्त कर उन्हें फिर गुण बना लेने की क्षमता जिस व्यवस्था में होगी, वह व्यवस्था सही समाज-व्यवस्था मानी जायगी। वही कानून सच्चा भी होगा।

डाकू हृदय का आदमी

अपनी निजी बात कहूँ, तो मैं मानता हूँ कि डाकू हृदय का आदमी होता है।

हृदय के आदमी को दुर्जन से सज्जन बनने में बहुत देर नहीं लगती। एक चोट या एक मोड़ उसे बदल दे सकता है। कानून और उसके बल का स्पर्श जब कि उसके कसे और घुटे अहं को और कसकर कट्टर और गठीला बना देता है, तब हृदय का एक स्पर्श उसे गला भी दे सकता है। विनोबा की ओर से वह स्पर्श आया होगा और उनसे कुछ की मानवता जाग पड़ी होगी। मानवत्व से भी आगे देवत्व जगा होगा जो उन्हें समर्पण तक ले आया होगा। कानून की यह बात कि अवसर का लाभ उठाने के लिए समर्पण था, अन्यथा समर्पण तो हर हालत में देर-सबेर उन्हें करना ही था, इतने वे घिर गये थे—अदूरदर्शिता की है। कानून का यह गर्व समर्पण के बाद भी उनमें एक कटुता ला सकता है। कानून अगर इतना नहीं समझता तो अन्धा है। बन्दूक लेकर बीहड़ में और संकट में रहने-बसनेवाला डाकू मौत झेल सकता है, ऐन कानून के इस गर्व को ही झेलना उसे मुश्किल होता है। वह अपने को बागी मानता है। और बागी मानने का यह गर्व सीधे कानून के गर्व की प्रतिक्रिया में से उत्पन्न होता है। अपराधी में जो एक शेखी और उद्दण्डता देखी जाती है, वह मानो शासन की शेखी और उद्दण्डता का जवाब बनने के लिए आती है।

कानून अपराध की सृष्टि करता है, यह यदि सच है, तो इसीलिए कि उस कानून में अहं-दर्प इतना होता है कि आत्मालोचन की लचक बिलकुल नहीं होती। विक्टर ह्यूगो का उपन्यास 'ला मिजराबिल' इसी विरोध को मानो मूर्त करने के लिए बना है। डाकू जेल से निकलकर एक धार्मिक विशप की सहृदयता का स्पर्श पाता और एक घोर आत्मिक त्रास में से निकलकर एकदम बदल जाता है, वह महान् उपयोगी नागरिक बनता है। लेकिन कानून पुराने चोर-डाकू के रिकर्ड को लेकर ही चल रहा है। कानून का रक्षा-प्रहरी पुलिस-इन्स्पेक्टर उसके पीछे ही पड़ा रहता है। देखता है कि यह आदमी चोर नहीं है, वेहद उदार और उपयोगी है; लेकिन इन्स्पेक्टर अपने इन्सान को दबा देता है, इन्स्पेक्टरी को चढ़ा लेता है। सामने के वर्तमान और प्रत्यक्ष उदाराशय सज्जन को ओझल कर देता और अतीत में गड़े चोर को ही प्रत्यक्ष किये रहता है। इस तरह पुस्तक के अन्त तक जड़ कानून चेतन प्राणी का पीछा ही किये जाता है, कभी उसको चेतनता में उभरने नहीं देता। कांग्रेसी मिनिस्टर के हाथ से आशा हो सकती थी कि कानून की यह जड़ता कम होगी और चेतनता उसमें उदय होगी। लेकिन मध्यप्रदेश में इसका प्रमाण नहीं मिला और इससे मेरे मन में बड़ी ही निराशा का भाव पैदा हुआ। कोई डाकू अन्त तक जीनेवाला न था, आगे-पीछे हरएक को मरना था, जैसे कि हममें से हर एक को मरना है।

लेकिन कांग्रेस मिनिस्ट्री अवसर पर कानून के हाथों जड़ बनी रह गयी और आत्म-समर्पण तक स्वेच्छा से आ जानेवाले बागी इन्सानों के प्रति सिवा इसके कुछ न कर सकी कि जेल-फाँसी दे दे, यह इतिहास में जानेवाली विफलता है और इसका जिक्र मरेगा नहीं, अमर बना रहेगा। वह जिक्र श्रेय जितना भी विनोबा को दे, अश्रेय सब सरकारी कानून को देगा। अफसोस सिर्फ इतना ही है कि कांग्रेस वह है, जिसको राज पर लाने में गांधी ने सहारा दिया था और जिसे काम चलाने के लिए दावे के तौर पर स्वयं गाधी-दर्शन का सहारा था। नीति में से कानून बनता है, लेकिन बनने के बाद कानून नीति से छूट जाता है। केवल वह कर्म रह जाता है। पर कर्म में भाव का स्पर्श न हो, यह कभी आवश्यक नहीं है और भाव सदा अपना श्वास नैतिकता में से लेता है।

परिस्थिति और अहंभाव

१८८. ऐसा बहुधा देखा गया है कि अपराधी किसी सामाजिक अथवा आर्थिक विवशता के कारण अपराधी नहीं बने, बल्कि अपने अन्दर की किसी अतिसाहसिक वृत्ति के कारण ही उस ओर झुक गये और जब-जब उन्होंने महसूस किया कि उन्होंने बुरा किया है तो समाज, धर्म और कानून के जुल्मों का हवाला देकर अपनी अपराध-वृत्ति को संगत साबित कर लिया और तुष्टि अनुभव की। ऐसे अपराधियों के विषय में आपका क्या कहना है? उनको ठीक करने के लिए आप क्या मार्ग अपनायेंगे?

—अकेली परिस्थिति से कभी कुछ नहीं बनता। अपराध भी नहीं बन सकता। परिस्थिति और अहंभाव के बीच बराबर ही एक कशमकश रहती है। इस तनाव में से अपराध निकलता है। यह दीखने में ही है कि परिस्थिति का दबाव है या नहीं है; अहं-चेतना से असम्बद्ध होकर उस दबाव का निर्णय किया ही नहीं जा सकता। अपराध शब्द समाज, अर्थात् इतर, की अपेक्षा से ही बन पाता है, अन्तरंग की ओर से जो शब्द संगत है, वह पाप है। प्रत्येक पाप अपराध की गणना में नहीं आता, न प्रत्येक अपराध पाप हुआ करता है। जेल अपराध के कारण ही मिलती है, गांधी बार-बार अपराधी सिद्ध हुए, इसीलिए जेल भेजे गये। लेकिन उस अपराध में पाप की छाया भी न थी; उलटे कुछ वह था, जिससे लोग उन्हें और महात्मा मानते गये। कारावास ने उनको महिमान्वित किया और गिराने के बजाय उठाया। यहाँ अपराध और पाप का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आपका प्रश्न अपराध की सीमा पारकर पाप की गवेषणा में पहुँच जाता है। यहाँ उसमें उतरना इष्ट नहीं होगा। यदि यह बात सच है कि अहंभाव की

तीक्ष्णता और उद्धतता में से अपराध का जन्म होता है, तो पाप का भी जन्म वहींसे है। किन्तु तीव्रता खुद क्यों होती है? मैं मानता हूँ कि इसके कारण में परिस्थिति को संगत माना जा सकता है। परिस्थिति कोई ठोस चीज नहीं है; अहंभाव की परिधि जहाँ आती वहीं से परिस्थिति आरम्भ हो जाती है। दवाव ठीक उस परिधि पर अनुभव होता और केन्द्रस्थ मर्म उसे प्राप्त करता है। उसीके प्रत्युत्तर में जिसको आप अतिसाहसिकता कहते हैं, उपजती है। उस साहस के अतिपन में आप सूक्ष्म द्वन्द्व देख पाइयेगा। द्वन्द्व न होता, तो उस साहस में सहजता होती, अति न होती।

यह साहस यदि मर्यादा को लाँघता हुआ जाता है, तो इसीमें गर्भित है कि वह अपने अन्दर की किसी बाधा को लाँघ रहा होता है। वह आन्तरिक विवेक की बाधा होती है, बाहरी बाधा उपलक्ष्य बनती है। यह विवेक की मर्यादा टूट जाती है, इसीसे ऐसा व्यक्ति आत्म-समर्थन में नाना तर्क और कारण बना लिया करता है। इस बुद्धि-समर्थन के सहारे के बिना अहं-गर्व टिक नहीं सकता, न साहसिकता काम कर सकती है। लेकिन ये मनोलोक की बातें हैं, जिनमें जाना शायद आपके प्रश्न का उद्दिष्ट नहीं है।

अपराधी समाज से बहिष्कृत

अपराधी को हम समाज में स्थान नहीं देते हैं। समाज की अपेक्षा में वह अप्रतिष्ठ बनता है। अतः अहं-प्रतिष्ठ होने की आवश्यकता उसके लिए और उत्कट हो जाती है। यह वृत्ति जब कृति में व्यक्त होती है, तो समाज उसकी और भर्त्सना करता है। इस तरह उलझन बढ़ती और पैदा हुई गाँठ कसती जाती है।

समाज की ओर से यदि तिरस्कार ही उसे न मिले, किसी पद्धति से उसकी अन्तरंगता को स्वीकार भी मिल सके, तो सम्भव है कि शुरू में तो उस व्यक्ति का अहंभाव इससे तुष्टि पाये और चहके; उस अहंभाव को जैसे अवसर मिले कि वह माने कि उसका आतंक चल गया है। लेकिन यदि स्वीकार में उपचार या शिष्टाचारभर न होगा, बल्कि वह स्निग्ध और निष्कपट होगा, तो धीरे-धीरे उससे अहंभाव की कसावट खुलेगी और वहाँ विगलन शुरू होगा।

प्रेम की चिकित्सा

आजकल मानसिक चिकित्सा का प्रचलन हो रहा है। स्वयं मानसिक चिकित्सा का शास्त्र उत्तरोत्तर प्रेम की महिमा पहचानता जा रहा है। मनोविज्ञान अपनी शास्त्रीयता से खिन्न हो चला है और प्रेम के आगे ज्ञान को हीन अनुभव करने

लगा है। प्रेम के पुरुषों ने, जैसे ईसा ने, अनेक पापियों को दर्शन-स्पर्शमात्र से बदलकर सहसा स्वस्थ कर दिया, तो ये चमत्कारपूर्ण बातें अब मन:शास्त्र को अविश्वसनीय नहीं लगतीं; जैसे उनका तर्क उसे समझ आता जा रहा है। इस नये विज्ञान और नयी समझ के प्रकाश में कानून अन्तकाल या अनन्तकाल तक अन्धा नहीं बना रहेगा। और जब उसकी आँखें खुल रहेंगी, तो जान पड़ेगा कि दण्ड का उपाय उपाय ही न था, केवल अपने बचाव का उपाय था। वह आत्म-रति में से निकला था और इसीलिए इतना विपरीत बना हुआ था।

सन्त-भाव

अपराध के प्रति सन्त में जो यह भावना जागती है कि अपराधी वह स्वयं है, जगत्‌भर में अधम-पामर वही है, नये प्रकाश में वह केवल भावुक भक्ति की नहीं रह जाती, बल्कि वैज्ञानिक बुद्धि की भी बन जाती है। प्रेम उसीका नाम है, जो बाहर दृश्य में से सब दोषों को हर लेता है और वहाँ सौन्दर्य और दिव्यत्व की सृष्टि कर देता है। ऐसी आस्तिक श्रद्धा कानून की बुद्धि को कुण्ठित करने के बजाय और चमका भी सकती है। यदि न्याय की व्यवस्था में इस तत्त्व का प्रवेश हो, तो जो हृदयहीन है वह सहृदय बन जाय; और यद्यपि बाह्य व्यवहार में शायद एकाएक कुछ अन्तर न आये, फिर भी वह मानों अन्तरंग की ओर से एक भाव-रस से भर जाय। मैं मानता हूँ कि यह आस्तिक भक्ति हमारा और समाज का इस अर्थ में काफी भला कर सकती है कि वह अपराध के उत्पात से हमें रक्षा दे और स्वयं अपराध के लिए भी उत्तेजन का अभाव उत्पन्न कर दे।

१८९. तब आप अपराधियों के सामाजिक अवरोध अथवा उनकी घेराबन्दी में विश्वास नहीं करते और उनकी उपेक्षा भी आपको सह्य नहीं है। ऐसी स्थिति में एकमात्र अध्यात्म का सहारा लेकर अपराधियों का उचित निदान करनेवाले कितने व्यक्ति हमारे बीच से निकल पायेंगे? मुझे तो सन्देह है कि समाज-मर्यादा और कानून को बिलकुल निरस्त्र कर देने पर अपराध-वृत्ति बढ़ेगी ही। इस विषय पर अपना मत दीजिये।

मकान और खिड़की-दरवाज़े

—नहीं, नहीं, समाज में से इस प्रकार रेखाओं और मर्यादाओं को नष्ट नहीं किया जा सकता। किसी सदभिलाषा में से यह किया भी गया, तो उसका वही अन्त आये बिना न रहेगा, जिसका आपने संकेत किया है।

रेखाओं को समाप्त कर देने के मैं पक्ष में नहीं हूँ। दुष्ट और साधु एक हो

सकते हैं; पर दुष्टता और साधुता का अन्तर मिटेगा, तो प्रलय आ जायगा। इस समय जिस मकान में हम बैठे हैं, उसकी सीमा है, इसीलिए वह मकान है; हम उसमें बैठ सकते और काम कर सकते हैं। जिसमें सीमा नहीं है, ऐसे खुलेपन में भला हमारा यह बातचीत तक का काम कैसे चल सकता है? सीमा-रेखा के बिना हर सम्भवता नष्ट हो जाती है। लेकिन जो ध्यान में रखने की बात है, वह यह कि मकान की सीमा अगर हवा पर भी आ जाय, तो मकान मकान नहीं रहता, कैद और नरक बन जाता है। हवा के लिए खिड़की-दरवाज़े रखने पड़ते हैं, नगरपालिका के कानून से इतनी खुली जगह रखनी ही पड़ती है कि हवा बहे और घुँटे नहीं। क्रास-वेण्टिलेशन का जो आजकल खयाल रखा जाता है, सो इसीलिए कि कुछ रहे, जो बहता हुआ आये और मकान से बहता हुआ आर-पार चला जाय। जो बात ऊपर कही, वह उस मानसिक भाव की आवश्यकता की दृष्टि से थी, जो आबोहवा बनकर सारे समाज को अपना श्वास देता रहे। वह मूल्य के तौर पर व्याप्त रहे और हर मानस को स्पर्श करे। वह मानो रक्त का अंग बन जाय, समाज की सहज संस्कृति हो जाय। ऐसा होने पर हम देखेंगे कि यह भाव हमारे काम-धाम में आड़े नहीं आता है, बल्कि उसको सँभालनेवाला बन जाता है। हवा कब कहती है कि मकान न बनाओ, वह तो बस मकान बनाने में यह सूझ और चेतावनी भर देती है कि हवा को बाँध न लेना, उसके बहते रहने देने के लिए अपने मानस में अवश्य अवकाश रखना।

साहित्य का कार्य यही

और यह काम आज भी समाज में होता रहता है। साहित्य का सिवा इसके काम क्या है? साहित्य के जिम्मे तो कुछ भी करना-धरना नहीं है। न साधु की स्तुति है, न दुष्ट को दण्ड है। वह तो जैसे दर्शन को स्वच्छ और भाव को स्निग्ध रखनेभर के लिए है। मानो उसमें जीवन का असंपृक्त प्रतिबिम्ब है। जीवन के ऊपरी यथार्थ से लेकर उसके अन्तरतम गर्भ में स्थित गूढ़ार्थ को उत्तरोत्तर वह बिम्बित करता है। जिस स्तर का जीवनार्थ-बिम्ब उसमें है, उतना ही उसका महत्त्व है। महत्तम साहित्य में अनन्त वैविध्य का निदर्शन है, लेकिन उसीमें अन्तर्भूत निपट ऐक्य का दर्शन है।

उस साहित्य से क्या समाज को कुछ भी प्रयोजन नहीं है? हम जानते हैं कि साहित्य बिना समाज की स्थिति ही नहीं हो पाती है। किन्तु क्या साहित्य दखल देने आता है? विक्टर ह्यूगो के जिस ग्रन्थ का जिक्र आया, क्या कानून के प्रतिनिधियों द्वारा वह पढ़ा नहीं जाता? कानून के काम-धाम में उससे कुछ

बाधा उपस्थित नहीं हुई है। लेकिन उसको पढ़कर कोई इन्स्पेक्टर जनरल या हाईकोर्ट-जज यदि तनिक अपराधी के प्रति सहृदय हो जाता है, तो कानून का काम उससे कुछ बेहतर ही होता होगा, बिगड़ता नहीं होगा।

आदर्श व्यवहार में बाधक नहीं

यह लोगों की बड़ी गलत धारणा है कि आदर्श व्यवहार के लिए बाधक होता है। उस अध्यात्म से दुनिया का काम अवश्य आज बिगड़ सकता है, जो आदर्श का आराधनमात्र है। अध्यात्म का वह सेवन जिससे दुनिया का काम सँवरता नहीं है, कुछ गति तक नहीं प्राप्त करता है, कहीं कुछ स्वरति और व्यसन में पड़ गया हो सकता है। ऐसे आदर्श-अध्यात्म की उपासना में कहीं अहं की उपासना अनजाने मिल जाती है, जिससे वह व्यवहार से विमुख और विसंगत बन जाता है। अन्यथा ये दोनों एक और परस्पर आश्रित हैं। धर्म हो नहीं सकता, जो कर्म के तेज को न चमकाये। और वह आत्म नहीं, अहं है, जो परस्परता को सम्पन्न नहीं, विपन्न करता है।

बेकारी और अपराध

१९०. बेकारी और अन्य आर्थिक दबावों की परिस्थिति कितनी दूर तक अपराध-वृत्ति को बढ़ावा देती है और समाज में अव्यवस्था एवं विद्रोह को जन्म देती है? बेकारी को दूर करने के लिए जो उपाय सरकार काम में ला रही है, क्या उनसे आप सहमत हैं?

साँप और पत्थर

—बेकारी अपराध-वृत्ति को कितनी दूर तक जगाने और बढ़ाने में कारण बनती है, इसमें मात्रा के निर्णय का प्रश्न ही नहीं है। अन्दर की शक्तियों के उपयोग के लिए विधायक मार्ग खुला हो, तो अपराध में जाने की बात ही नहीं उठनी चाहिए। दुष्टता के पीछे आखिर कुछ दम है, इतना तो निश्चित ही है। पत्थर पड़ा ही रह सकता है, काट नहीं सकता। साँप जरा दबने पर काट आता है। साँप दुष्ट इसीलिए हो सकता है कि वह पत्थर नहीं है, अर्थात् उसमें जान है। हम साँप से तंग आकर अगर यह कहते हैं कि पत्थर उससे अच्छा है, तो यह वक्तव्य तथ्यात्मक नहीं, सिर्फ स्वरक्षात्मक होता है। इसलिए वह प्रक्रिया, जो दुष्टता को ऊपर के दबाव से जड़ता में परिणत कर देना चाहती है, केवल सुरक्षात्मक होती है, उससे अधिक जीवन-तथ्य उसमें नहीं है। अपराधों में जो फूट रही है,

उस शक्ति का रचना में उपयोग ले लेना विधायक कल्पना का प्रमाण कहा जायगा। समाज-नेता को इसके लिए स्नेहशील और कल्पनाशील होने की आवश्यकता है कि वह समाज में समाये प्रत्येक तत्त्व की सम्भावनाओं को उदय में ला सके। ऐसा व्यक्ति राजपद पर जाकर नहीं बैठेगा; क्योंकि पद के अधीन होने के कारण व्यक्तित्व की सम्भावनाएँ कुण्ठित होती हैं, प्रस्फुटित नहीं होतीं। राज्य के अधिकार से राजन्य-वर्ग गर्वस्फीत होता और अपने को शासक मानकर निरंकुश बनता है। दूसरी ओर जन-वर्ग शासित होकर उन सम्भावनाओं से वंचित होता और दीन-मलीन होने के लिए रह जाता है।

बेकारी का इलाज नौकरी नहीं

बेकारी दूर करने का उपाय नौकरियाँ बढ़ाना नहीं है। सरकार के पास मुख्य उपाय यही होता है। नौकरियाँ काम की सृष्टि नहीं करती हैं, वे सिर्फ आदमी को घेरती हैं। उससे धन पैदा नहीं होता है, सिर्फ खर्च होता है। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि अगर बेरोजगारी को एकदम दूर करना है, तो राजपने के काम को पहले कम-से-कम करना जरूरी है। सबसे बड़ा काम जब शासन और प्रशासन हो जाता है, तब बेरोजगारी किसी अंश में फैशनेबिल भी हो जाती है; क्योंकि उस अवस्था में मानों खाली दिमाग़ क्रोध के क्रांति-दर्शन को अपने भीतर उपजाने लगता है। मुझे प्रतीत होता है कि राजकीय काम-धाम की बढ़वारी के साथ बेरोजगारी भी बढ़नेवाली ही है। उत्पादन बढ़े और व्यक्ति व्यर्थ कल्पनाओं में रस लेना छोड़ दे, इसके लिए जरूरी है कि राजनीति का स्वतन्त्र व्यवसाय ही न रह जाय। लोग आवश्यकताएँ, कम-से-कम प्राथमिक आवश्यकताएँ, अपने आस-पास के सहयोग से पूरी करना सीखें। खाने, पहनने और रहने की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में ग्राम-समाज स्वावलम्बी बनें, इन बातों में मशीन का मोह कम हो और लोग अपना और अपने हाथों का सहारा लें। मशीन से श्रम कम कराने और इस तरह स्वयं विश्राम अधिक पाने का तर्क लोगों के दिमागों से दूर हो जाना चाहिए। काम विश्राम से विरोधी तब होता है, जब उजरत के एवज में किया जाता है। मजदूरी की पद्धति जितनी कम होगी, बेरोजगारी भी उतनी कम होगी। काम आदमी को अगर पैसा कमाने के लिए करना होता है, खुद जीने के लिए नहीं, तो जाहिर है कि पैसे के बल पर कमाया गया निकम्मापन फैशनेबिल हो जाता है। आज उसीकी कोशिश की जाती है। हर बड़े शहर में ऐसा वर्ग कम नहीं है, जो बेहद सफेदपोश होता है, खर्च भी खूब करता दीखता है, ऊँचे स्तरों पर घूमता और मौज करता है। पूछिये कि काम वह क्या

करता है, तो उसका रहस्य कभी हाथ नहीं आयेगा। काम जब पैसे के लिए किया जाता है, तो परिणाम यही आता है। काम का सम्बन्ध अगर सीधा हमारी आवश्यकताओं से जुड़ता है, तो उसमें रस पड़ता और वह सृजनात्मक हो जाता है। बेरोजगारी को दूर करने के सिलसिले में पहली जरूरत तो यह मालूम होती है कि काम का सम्बन्ध पैसे से हटकर जीवन से जुड़े। सिक्का श्रम की और जन की खरीद-बेच उतनी न कर सके; वह सिर्फ वस्तुओं के क्रय-विक्रय के काम आये। आदमियों को और उनके समय को खरीदने की शक्ति उसमें से खींच ली जाय।

ग्रामोद्योग और कुटीरोद्योग

यह मूल परिवर्तन हो सकेगा, तो हम देखेंगे कि तरह-तरह के ग्रामोद्योग और कुटीर-उद्योग जन्म लेते हैं और रोजगार की तलाश में देहात से चलकर आदमी शहर में बौखलाया हुआ नहीं फिरता है। बेरोजगारी बहुत है, लेकिन अधिकांश वह शिक्षित बेरोजगारी है। पढ़ा-लिखा आदमी आस-पास में से काम निकालने की ताकत खो बैठता है। वह पड़ोसी से टूट जाता है और उपयोगी होने का हुनर खो देता है। उसके पास इसके सिवा कोई उपाय नहीं रहता कि वह नौकरी की तलाश में भटके और आवारों की श्रेणी में शामिल हो जाय। ऐसे अनेक युवकों को मैं जानता हूँ, जिनके घर पर जमीन है, खेती है, लेकिन शहर में वे दर-दर महीनों से ठोकरें खा रहे हैं। खेती में वे क्यों हाथ नहीं बँटाते हैं? यह तो है ही कि उनका मन उसमें रस नहीं पाता है, लेकिन तर्क यह भी देते हैं कि खेती में से कुछ निकलता नहीं है, अर्थात् पैसा नहीं निकलता। खेती आदि काम जब पैसे से जुड़ जाते हैं, तब अधिकांश देखा गया है कि वे समस्या पैदा करते हैं और बहुत हद तक अनुत्पादक भी हो जाते हैं। आपसी आवश्यकताएँ अगर आपसीपन से पूरा करने की प्रथा हमारे बीच फिर से आ जाय, तो हम देखेंगे कि बेरोजगारी का सवाल काफी हद तक कट जाता है।

सरकारी उपायों की त्रुटियाँ

सरकारी उपाय सरकारी स्तर पर तो ठीक ही हैं, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि उनसे कुछ राहत पहुँचती है, सवाल दूर नहीं होता। सरकार उपकारी संस्था बने, इसीमें मैं कहीं त्रुटि देखता हूँ। सब धन जगह-जगह से बहकर सरकार के पास पहुँचता है। वहाँ से लौटकर वह फिर लोगों में वृत्ति और आजीविका के रूप में बँटे, तो धन अपनी इस गति में अपना सत्त्व बहुत कुछ खो रहता है।

इस सफर में अनेकानेक व्यवस्थापक जन बीच में स्वयं फूलने और मोटे होने का अवसर पा जाते हैं। अर्थ की भाषा में हम देखते हैं कि रुपया यदि केन्द्र से चलता है, तो आवश्यकता की जगह पर पहुँचते-पहुँचते वह मुश्किल से चवन्नी भर रह जाता है, बारह आना उसका बीच में ही छीज जाता है। इससे रोजगार देने की कोशिश में बारह आने लगता है, सचमुच रोजगार में चार आना लग पाता है। सरकार की ओर से चलनेवाली योजनाओं की यह त्रुटि दूर की जाय तो कैसे की जाय, यह समझ में नहीं आता। सरकारी आदमी महँगे होने का हक रखते हैं। उन्हींके हाथ से पैसे को सरकारी सागर से उठकर अभाव नाम के गड्ढे में जाकर पड़ना है। इसका हमें अक्सर पता नहीं रहता है कि उस सागर को भरने की राह में ही वे अभाव के गड्ढे बने हुए होते हैं। लेकिन वहाँ से हटकर यह भी मान लें कि धन को सरकारी खजाने से दीनों तक पहुँचना है, तो भी सरकार के पास इस काम के लिए जो बाँहें हैं, वे रुपये का बारह आना स्वयं खाये बिना काम नहीं दे पाती हैं। सरकारी योजनाएँ सरकार की दृष्टि से ठीक हैं; किन्तु इस सम्बन्ध में सावधानी रखने की आवश्यकता है कि माध्यम कुछ ऐसा पैदा किया जाय, जो जरूरतमन्दों पर भारी न पड़े और उनके हक को काटे नहीं।

१९१. जिन देशों में व्यक्ति के रहन-सहन, खान-पान और काम-धन्धे की सारी जिम्मेदारी सरकार ने अपने ऊपर ले ली है और रोग, वृद्धावस्था आदि प्राकृतिक व्याधियों से भी उसे मुक्त कर दिया है, वहाँ क्या अपराध-वृत्ति में कमी नहीं पड़ी है और व्यक्ति अधिक मुक्त-मन एवं उपयोगी नहीं बन गया है? यदि हाँ, तब आप राज्य की जिम्मेदारी ओढ़ने की प्रवृत्ति को क्यों हानिप्रद मानते हैं और क्या आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में किसी भी देश का काम सरकार द्वारा पूरी जिम्मेदारी लिये बिना चल सकता है?

राज्यवाद : निःशस्त्रीकरण का प्रयोग

—आज की अन्तर्राष्ट्रीयता सचमुच ऐसी बनी हुई है कि उसमें समर्थ और सार्थक गिने जाने के लिए अधिकाधिक केन्द्रित राज्य की आवश्यकता है। लेकिन उस अन्तर्राष्ट्रीयता में बेहद तनाव (पोलराइजेशन) भी देखा जाता है। हाल की घटनाएँ इसका प्रमाण हैं। हर छोटी चीज अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सम्भावना पैदा करती-सी लगती है। यह गम्भीर तनाव यदि दूर होना है, तो वह तभी सम्भव है, जब कोई राज्य हिम्मत करे कि उसकी शक्ति सेना की नहीं होगी, जनता की होगी। तान्त्रिक और यान्त्रिक नहीं होगी, नैतिक और आत्मिक

होगी। ऐसा राज्य एक नये ढंग का होगा और ऊपर से उसका लवाजमा बहुत बढ़ा-चढ़ा नहीं दीखेगा। किन्तु उस देशवासियों में एक संकल्प होगा; उनमें समता, सहयोग, स्नेह का भाव होगा और जनता के स्तर पर वह देश मानो एकाग्र और एकजुट होगा। यह जनशक्ति राज्यशक्ति के समान परस्पर प्रति-स्पर्धा में पड़ने से बची रह सकेगी और वह किसीके लिए भय और आशंका का कारण नहीं होगी। ऐसा सैन्य-मुक्त राज्य यदि आज सम्भव हो सके, तो मैं समझता हूँ कि वह राह खुल आती है, जिससे निःशस्त्रीकरण स्वप्नमात्र न रह जाय; बल्कि व्यावहारिक सुविधा बन आये। जिस दुर्भाव में विश्व की राजनीति और हमारी अन्तर्राष्ट्रीयता बढ़ी जा रही है, उसमें बहना ही एकमात्र मार्ग नहीं है। बहने से इन्कार करके एक नया प्रयोग किया जा सकता है और करने का समय आ गया है। विज्ञान इतना बढ़ गया है और शस्त्रास्त्र की सांघातिकता इतनी आगे आ गयी है कि मानो उससे उनकी व्यर्थता ही सिद्ध बनती है। अर्थ अब शस्त्रास्त्र-श्रद्धा का एक ही है और वह यह कि हम प्रलय में पड़ें। मानव-जाति के भाग्य को महाविनाश में झुकना और फुकना नहीं है, तो इस तमाम उन्नति से एक ही सबक हमें लेना चाहिए और वह यह कि शस्त्र के सहारे चलने में खैर नहीं है। शस्त्र मानव-जाति के लिए उपयोगी नहीं रह गया है, क्योंकि इतना खतरनाक हो गया है। बड़े देश इस निःशस्त्र-प्रयोग का आरम्भ नहीं कर सकते, लेकिन कोई छोटा देश साहस को हाथ में लेकर क्यों इस दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता है? उसके पास खोने को कुछ नहीं है। उसकी सुरक्षा आज भी शस्त्र-निर्भर नहीं है। लाख कोशिश पर भी शस्त्र के सम्बन्ध में वह बड़े देशों के समकक्ष नहीं हो सकता है। इस अनिवार्य अक्षमता को वह अपना बल क्यों न बना ले और संकल्प और विवेकपूर्वक निःशस्त्रता के अनुकूल अपने राजतन्त्र और अर्थ-तन्त्र का निर्माण करने में क्यों न लग जाय?

विकेन्द्रीकरण केन्द्र का बल

जिन देशों में राज्य ने रहन-सहन, असन-वसन और काम-धन्धे की सारी जिम्मे-दारी उठा ली है, उनकी रचना के अध्ययन में जाने की आवश्यकता है। वहाँ एक ऐसा दल काम कर रहा होता है, जिसके पास समान-शक्तिवाले दो पक्ष या पंख हैं : राज-पक्ष और लोक-पक्ष। उसमें भी लोक-पक्ष पर राज-पक्ष से अधिक बल है। कम्युनिस्ट-पार्टी के सेक्रेटरी जनरल का राज्य के प्रधानमन्त्री से अधिक महत्त्व होता है। इन दो पक्षों के सहारे वह व्यवस्था केवल ऊपर नहीं रहती, बल्कि भीतर भी पहुँच जाती है और इस तरह व्यापक भाव को थाम सकती

है। एक बार यह व्यापकता आयी कि फिर वह व्यवस्था आवश्यकता के अनुरोध पर अपने-आप केन्द्रित हो जाती है। मैं आपको सुझाऊँ कि यह विकेन्द्रितता है, जो अन्त में उस केन्द्रित समझे जानेवाले राज्य का बल सिद्ध होती है!

कम्युनिस्ट-पार्टी में यदि यह लोक-पक्ष कमजोर पड़ जाय और राज-पक्ष गर्वोन्नत हो जाय, तो वह केन्द्र-व्यवस्था आज ही संकट में पड़ सकती है। खैर इसमें है कि वह यदि केन्द्रित है, तो उतनी ही मात्रा में विकेन्द्रित भी है। विकेन्द्रित इस ढंग से है कि उसका केन्द्रीकरण सहसा ध्यान में नहीं आता है। इसलिए वह चुभता नहीं है और विकेन्द्रीकरण के सहारे प्रत्येक ग्राम-केन्द्र मानो अपने को काफी दूर तक स्वाधीन अनुभव कर पाता है।

शासक प्रथम नहीं

शासन की जिम्मेदारी उठानेवाले को मैं प्रथमता नहीं दे पाता हूं और इसको अव्यावहारिक भी नहीं मानता हूँ। हमारी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में क्षत्रिय का स्थान दूसरा है। यह बात पुरानी मालूम हो सकती थी, लेकिन दल का फर्स्ट सेक्रेटरी राज्य के फर्स्ट मिनिस्टर से अगर अधिक प्रधान बनता है, तो उस पुरानी बात में नये सार को देखा जा सकता है। इस तरह एक व्यापक राज्य के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि जब वह खाने-पहनने और काम-धन्धे की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है, तो दूसरे शब्दों में मानो वह जिम्मेदारी समाज के अपने ही ऊपर आती है।

राज्य उत्तरोत्तर नैतिक बनेगा और कार्मिक बनने का आग्रह कम करता जायगा तो उसकी व्यापकता बढ़ेगी। स्थूलता कम होगी और शस्त्रास्त्रपूर्वक नियन्त्रण रखने की विवशता उसके लिए उतनी अनिवार्य नहीं होगी। कारण, वह राज्य लोक-मानस में अधिष्ठित होगा, अंकुश के रूप में ऊपर से भय और आतंक उपजा कर काम नहीं साधना चाहेगा।

एक सेवाभावी प्रबुद्ध-वर्ग की सृष्टि

इससे आप देख सकेंगे कि यद्यपि कम्युनिस्ट राज्य-पद्धति केन्द्रित और अधिनायकीय है, तो भी अपनी पार्टी के लोक-पक्ष के द्वारा वह विकेन्द्रित और प्रजाकीय भी उतनी ही बन सकी है। बल यह प्रजापन और समाजपन के कारण है, राजपन के कारण उतना नहीं है। आप देख सकेंगे कि जो मैंने ऊपर कहा, उसका सारांश इसीमें घटित और गर्भित हो जाता है। वह सार और भी अधिक सिद्ध और सम्पन्न हो आयेगा, अगर हम समाज में एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर पायेंगे,

जो स्वभाव और संकल्प से हमेशा के लिए जन-मन में अपना स्थान रखना चाहेगा और कभी राजपद पर आना स्वीकार नहीं करेगा। आप देखें कि जिस देश और समाज के पास यह सेवाभावी लोकमन में अधिष्ठित प्रबुद्ध-वर्ग हो, वह कितना न बलशाली हो आयेगा। कम्युनिज्म जिस दिशा में बढ़ रहा है, यह बात उससे आगे की ही है, पीछे की नहीं है। आखिर क्या कम्युनिज्म स्वयं नहीं मानता कि राज्य को एक दिन समाज में विलीन होकर स्वयं में अनावश्यक हो आना है। कम्युनिस्ट-प्रक्रिया बीच में अधिनायक-तन्त्र को बस पहली मंजिल के तौर पर आवश्यक मानती है। डर यह है कि पहली मंजिल अन्तिम ही न बन जाय और अधिनायकाधीन यह राजतन्त्र की केन्द्रितता अपने को बिखराने को बिलकुल तैयार न हो, बल्कि अन्दर ही अन्दर अपने को मजबूत बनाती जाने को ही मजबूर हो। जो बात मैंने कही, उस प्रयोग में मानो आरम्भ से वह खतरा बचा दिया जाता है। राजतन्त्र की निर्भरता से वहाँ शुरू से ही स्वतन्त्र होकर चला जाता है और लोक-शक्ति पर ही आधार रखा जाता है।

समाज में राहें खुलें

अपराध में फटने की सम्भावना कम होगी कि जब समाज में से चारों ओर राहें खुलेंगी कि व्यक्ति अपनी शक्तियों का उत्सर्ग और उपयोग वहाँ कर सके। उन राहों के दरवाजों की चाबी जब ऊपर कहीं राज्य के पास रहती है, तो व्यक्ति की सूझ-बूझ बँधी और बन्द रह जाती है। तब उसमें रोध और रोष जन्म पाता है और वह विहित सीमाओं के उल्लंघन पर उतारू हो आता है। उसमें असामाजिकता का उदय होता है और व्यक्तिमत्ता के अहंकार के बल से चलना ही उसके पास रह जाता है। अपराध इसके सिवा भला और क्या है?

भार व्यक्ति पर और परस्परता पर पड़े

मनमानेपन को अवसर देकर अपराध कम किया जायगा, यह आशय आप न ले लें। नहीं, समाज एकदम बिखरा हुआ न होगा, वह जंगल जैसी अवस्था में न होगा कि जहाँ हर जानवर भिट और माँद में रक्षा पाता है और बाहर आता तो सिर्फ एक-दूसरे के शिकार के लिए आता है। नहीं, उस समाज में धीरे-धीरे एक अन्तःकरण का जन्म होगा। व्याप्त भाव से वह समाज लोगों को अवसर भी देगा और सहज भाव से यथावश्यक मर्यादाओं में भी रखेगा। रहन-सहन-सम्बन्धी प्राथमिक आवश्यकताएँ उसे यदि चिन्तित नहीं रखेंगी, तो सहज भाव से सांस्कृतिक आवश्यकताएँ उसके मन में जन्म लेने लगेंगी। यहींसे अपराध

का मूल मिटेगा और समुपयोगिता शुरू हो जायगी। राज्य कितना भी व्यापक हो, सांस्कृतिक आवश्यकताओं का नियमन अपने ऊपर लेता है, तो स्थिति उतनी सहज और समाधानकारक नहीं होती। समाधान तब होगा, जब वह सब भार सीधे व्यक्ति पर और निसर्ग-प्राप्त परस्परता पर आ जाता है। ग्राम-स्वावलम्बन आदि शब्द मानो उस भार की भारता को समाप्त कर देते हैं, उस जगह क्रय-विक्रय की उलझन को ही काट डालते हैं। इस प्रकार का स्वैच्छिक और सहभावी परस्परता का गठन समाज को उस इष्ट दिशा में उठाता ले जा सकता है, जहाँ आत्म-नियन्त्रण हो और इसलिए राज्य-नियन्त्रण की विशेष निर्भरता न हो।

१९२. आपके उत्तर से प्रतीत होता है कि आप बहुदलीय प्रजातन्त्र-व्यवस्था को अपराधोन्मूलन में अक्षम मानते हैं और कम्युनिस्ट एकदलीय प्रणाली को इस कार्य में समर्थ। क्या आपका ऐसा सोचना कम्युनिज्म की हिंसात्मक वृत्ति को बढ़ावा देना नहीं है ?

राजकीय चेतना का बढ़ना खतरनाक

—मैं राजकीय चेतना को बहुत अधिक बढ़ा हुआ नहीं देखना चाहता। बहु-दलीय पद्धति मानो समूचे जन-मानस को उस राजकीय चेतना से भर देती है। 'पोलिटिकल कान्शसनेस' को गुण माना जाता है, मैं 'रिलीजस कान्शसनेस' को ही गुण का स्थान देने को तैयार हूँ। क्षत्रिय लड़ाई-झगड़े में आगे बढ़कर पड़े और न्याय के पक्ष को अपना संरक्षण दे, यह बात उचित है; लेकिन अध्यापक, इंजीनियर, उपदेशक, वैज्ञानिक, किसान वगैरह भी उस कारण अपनी जगह बेचैन बने रहें और अपना काम न कर पायें, इसको मैं शुभ नहीं मानता। बहु-दलीय पद्धति मानो सबकी सफलता के मान को राजनीति में डाल देती और इस तरह मानसिकता को संकीर्ण बनाती है। उसमें बहुत प्राण-शक्ति का अप-व्यय होता है और चुनाव के हो-हल्ले के बाद सौमनस्य नहीं, वैमनस्य ही फलित होता है।

कम्युनिज्म में राजनीति व्यवसाय नहीं

कम्युनिज्म की विधि से सचमच मुझे यह बड़ा सन्तोष है कि उसने राजनीति के व्यवसाय को इतना खुला और व्यापक नहीं रहने दिया है। उसका दल-संगठन इतना व्यवस्थित हो गया है कि सिर्फ महत्त्वाकांक्षा को लेकर कोई उछल-कूद मचाये और अपना काम बना ले जाय, यह सम्भव नहीं है। मानो अपने संगठन द्वारा उसने शेष जन को सुविधा दी है कि वे अपने-अपने काम में रहें और व्यर्थ

हैरान-परेशान न हों। कम्युनिज्म की सफलता में यह तथ्य मेरे विचार से बड़ा सहायक हो रहा है। और तो और, सैनिक-तन्त्रशाही के नीचे भी लोगों ने राहत की साँस ली है। राजनीति के व्यवसायी जन मानो समाज-जीवन को इतना चंचल और गँदला कर देते हैं कि व्यवस्था की दृढ़ता लोगों को भली लग आती है, अव्यवस्था की स्वतन्त्रता बुरी लगने लगती है। कम्युनिज्म ने यह यदि इष्ट साधा है, तो उसकी प्रशंसा करनी होगी। लेकिन प्रशंसा वह हिंसा-परायणता की है, ऐसा आप न मान लें। सच यह कि जहाँ से हिंसा आती है, ठीक वहीं उनकी सफलता भी रुक जाती है। उस हिंसा के पीछे जो लोक-बल का समर्थन उन्हें प्राप्त रहता है, वही उनकी शक्ति है। सम्पूर्ण लोक-बल और उसका सम्पूर्ण समर्थन हो, तो हिंसा की जरूरत ही क्यों रह जाय?

हिंसा जिसमें दीखे, उसमें गुण हमें दीख ही न सकें, तो यह अन्धापन है। मैं मानता हूँ कि उन गुणों के स्वीकार और सत्कार के आधार पर ही यदि कभी उसमें से हिंसा का परिहार आयेगा, तो आ सकेगा। निन्दा में से कभी कुछ नहीं हुआ है; क्योंकि निन्दा स्वयं निर्वीर्य हिंसा है।

वैध हिंसा से अपराधोन्मूलन नहीं होगा

अपराध मूल में हिंस्र-वृत्ति का ही नाम है। यदि वह हिंस्र-वृत्ति पड़ी हुई है लोगों के मनों में, तो यह उन्नति और संस्कृति का लक्षण है कि हम उसे व्यवस्थापूर्वक विहित और वैध राज्य के रूप में बिठाकर उपयोगी बनाते हैं। इस वैधानिक हिंसा से अपराधरूप हिंसा का सामना लेना और उसे दलित-पराजित करना गलत नहीं है। समाज की ओर से ही यह इष्ट है। लेकिन इसके नीचे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि अधिक से कम को दबाया जा सकेगा, विहित से अविहित को दला जा सकेगा, लेकिन अपराधी हिंसा का उन्मूलन इस वैध हिंसा से सर्वथा हो जायगा, यह सम्भव नहीं है। अन्त में हर हिंसा को अहिंसा से ही कटना है। बन्दूक से लाठी दब जायगी, लेकिन लाठी आप ही आप हाथ से गिर जाय, यह घटना तब तक नहीं हो सकेगी, जब तक सामनेवाले के हाथ में बन्दूक रहेगी। वह इष्ट घटित होगा तो तब जब सामनेवाले के हाथ में कुछ भी न होगा, सिर्फ मन में स्नेह और बाँहों में आमन्त्रण होगा। इसकी पहचान और श्रद्धा यदि कम्युनिज्म में नहीं है तो इसके लिए उसकी प्रशंसा कैसे कर सकता हूँ? ●

७

सेक्स, वेश्या, शराब, जेल, प्रशासनिक ढील

सरकार की जिम्मेदारी

१९३. हमारे देश में सेक्स-सम्बन्धी अपराध दिन पर दिन बहुत बढ़ते जा रहे हैं। इसका आप क्या कारण मानते हैं और समाज एवं सरकार को कितनी दूर तक ऐसे अपराधों के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं?

—वैसे अपराध और देशों में भी बढ़ रहे मालूम होते हैं। दूसरे देशों में सुविधा यह भी है कि बहुत दूर तक इस दिशा का अवैध आचरण वहाँ अपराध नहीं माना जाता। लेकिन इसको विधि का नहीं, व्यवहार का दोष मानना चाहिए। वह दोष शिथिलाचार का है। कानून में उदारता है, यह नहीं मानना चाहिए।

सरकार से सेक्स के प्रश्न को जोड़ना जरा दूर चले जाना है। समाज तक ही उसकी संगति को रखना चाहिए। यह ठीक है कि समाज-व्यवस्था के नियम अन्त में जाकर कानून में मूर्त होते हैं। तो भी जब 'लॉ एण्ड आर्डर' पर ही आ बनती है, तब कानून स्थिति को हाथ में लेता है और सेक्स का प्रश्न बहुत दूर तक इस तरह कानून से बचा रह जाता है।

काम की अवमानना

सेक्स के प्रति सहानुभूति से विचार होना चाहिए। निवृत्ति और मोक्ष की भाषा के आग्रह में जब हमने सोचा, तो मानो सेक्स के प्रति कुछ अवमानना का भाव उचित जान पड़ने लगा। इन्द्रियों का अविश्वास पैदा हुआ और सबसे अधिक कामेन्द्रिय का। इस तरह धर्म और कर्म में विभेद ही नहीं, विरोध पैदा हो गया और जीवन में इस तरह एक खिंचाव और तनाव बन रहा।

यों पुरुषार्थ चार गिनाये गये हैं और काम की पुरुषार्थ में गणना है। अर्थात् वह हेय नहीं है, उपादेय भी है। उस ओर से उदासीनता और उपेक्षा नहीं, बल्कि स्वीकार और समावेश की वृत्ति होनी चाहिए।

काम अविजेय

यह बात साफ है कि पुरुष और स्त्री अपने-अपने में अकेले हैं। जीवन का सातत्य, जो सन्तति द्वारा सिद्ध होता है, किसी एक के बस का नहीं है। दोनों के परस्पर मिलन में से जीवन अजस्र बनता है। सृष्टि की कड़ी ही पीढ़ियों और युगों को परस्पर मिलाये रखती है। पुरुष का अपने में अकेलापन और स्त्री का अपने में अधूरापन यदि सत्य होता, तो उनके मिलन में ही सृष्टि का मन्त्र समाया हुआ न दिखाई देता। इसीलिए हम देखते हैं कि काम का निरोध होता नहीं है, तपस्या द्वारा किया जाता है, तो अन्त में तपस्या को ही हारना पड़ता है, विजय काम की होती है। यह काम क्यों इस मात्रा में अविजेय होता है?

एकाकिता असत्य

स्पष्ट ही इस दुर्दान्त यथार्थ की घोषणा यह है कि एकाकिता असत्य है। परस्परता से ही सत्य का आरम्भ है। परस्परता से मुँह मोड़कर जब-जब व्यक्ति ने, चाहे आत्म के नाम पर, चाहे परमात्म के नाम पर या चाहे किसी और नाम पर अपनी साधना चलायी है, तो अन्त में हठ ही उसके हाथ में रह गया है, सिद्धि तनिक भी नहीं आ पायी है। स्व की पर के बिना स्थिति ही नहीं है। जीवन का सचेतन आरम्भ स्व-परता के बोध से होता है। आरम्भ ही स्व-परता से है, लेकिन गति परस्परता में से होती है। पर में स्व-भाव लाते और स्व में पर को स्वीकार करते हैं, तब जीवन का चलना और खिलना शुरू होता है। भूख और भोग ये दोनों इस तरह जीवनारम्भ में ही हमको प्राप्त हो जाते हैं। पर के प्रति सम्बन्ध का आरम्भ इन दोनों वासनाओं में रूप पाता है। भूख अपने को नहीं खा सकती, भोगने के लिए भी अन्यत्व की जरूरत होती है। जीवित प्राणी में इस तरह ये दोनों वासनाएँ आप मूल तक पायेंगे।

काम का इनकार : अहं का स्वीकार

काम का इनकार मानो नितान्त अहं का स्वीकार बन जाता है। अहं टिकने के लिए है नहीं। वह टिकता इसी शर्त पर है कि वहाँ से सम्बन्धों का विस्तार हो और सम्बन्धानुभूति के लिए वह चित्-केन्द्र से अधिक न रहे। यदि सम्बन्धों के ही सूत्र आकर वहाँ मिलते नहीं हैं, तो अहं मानो घुट जाता और सूखता जाता है। आदमी जो पागल हो जाता है, कभी अकेलेपन के त्रास में मर तक जाता है, सो इसी कारण।

परस्परता और प्रेम

परस्परता में जब क्षति आती है, अवरोध आता है, तो समस्या बनी खड़ी दिखाई देती है। परस्परता का फैलाव और विस्तार होता जाता है, तो मानो समस्या की जगह सुख और स्वास्थ्य का अनुभव होता है और व्यक्ति तुच्छ और स्वल्प से ऊँचा और महान् बनता है। इस परस्परता के विस्तार को प्रेम और उसका विस्तार कहना चाहिए। इस तरह काम का इलाज प्रेम है। काम काम इसलिए है कि वह सीमित है। प्रेम प्रेम इसलिए है कि वह सीमा में नहीं है। वैयक्तिक सन्दर्भ जहाँ तक है, वहीं तक काम है; प्रेम मानो इस व्यक्तिमत्ता के विगलन से शुरू होता है।

अहं-रक्षण और अहं-विसर्जन

सेक्स मिश्रण है अहं-रक्षण और अहं-विसर्जन की दो अनिवार्य और विरोधी प्राण-प्रेरणाओं का। इस तरह उसमें एक विस्फोटक तत्त्व विद्यमान रहता है। लोग इसीसे उसमें असामाजिकता के बीज देखते हैं। वे बीज हैं भी। लेकिन अहं को इनकार करें, तो मानो समस्त अस्तित्व का अर्थ लुप्त हो जाता है। सृष्टि के अर्थ को धारण करनेवाला अन्त में 'मैं' ही तो है। 'मैं' को हटा दीजिये, तो अर्थ अपने-आप हट जाता है और सब कुछ अर्थहीन बन जाता है। मैं को सर्वथा हटाने की चेष्टा में से ऐसे अर्थहीन, व्यर्थ और निरर्थक व्यक्तित्व बहुत से पैदा होते रहे हैं। सामाजिक मनुष्य ऐसे प्राणी को अनोखा मानकर चाहे उसके प्रति झुकता भी आया हो, पर मानो वे व्यर्थता के ही प्रतीक बन रहे हैं। उनसे अर्थ और परमार्थ की हानि ही हुई है। इसलिए काम की विस्फोटक शक्ति से हम काम लेते रहें और अपना काम बिगड़ने न दें, इसीमें ज्ञान की और कला की कुशलता है। ज्ञान, विज्ञान अथवा कला इस कुशलता से हटते हैं और उस प्रकार व्युत्पन्नता नहीं दिखा पाते, तो वे भ्रष्ट और विफल होते हैं।

परस्परता की क्षति में से अपराध

अपराध का निर्माण इसी क्षति में से होता है। आग हमारे चूल्हे में नहीं जलती है, तो वह खाना नहीं बनाती, घर जला देती है। आग के आगपन का इसमें दोष नहीं है। उस आगपने के कारण ही तो खाना हमारा बन पाता है। दोष कहीं हमारी असावधानी में ही रहता है। आग का काम यदि जलाना है, तो वह काम कभी बदल नहीं सकेगा। वह उसका स्वभाव है, धर्म है। वस्तु-स्वभाव और वस्तु-धर्म को समझना, उसके प्रति किसी हठ में नहीं ठनना, ही सम्यक् ज्ञान और

सम्यक् चारित्र्य है। जब हम अपने से पर के स्वभाव और स्वधर्म पर रुष्ट होते हैं, दोष वहाँ डालते हैं, तो अधर्म करते हैं। अधर्म इसलिए करते हैं कि दोष अपने प्रति नहीं लेते। प्रत्येक अन्य को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके ही हम अपना व्यवहार चला सकते और उसको उत्तरोत्तर निष्पन्न करते जा सकते हैं। काम और कामना के आवेग में अधिकांश यही हो जाया करता है। प्रत्येक के भीतर यह आवेश पड़ा हुआ है और परस्पर के प्रति प्रतिक्षण काम किया करता है। जहाँ हम स्वत्व-परत्व की मर्यादाओं का इसमें उल्लंघन कर जाया करते हैं, वहीं उलझन और गाँठ पड़ जाती है। कसने पर वहींसे अपराध बनने लग जाते हैं।

विवाह, गिरिस्ती

हमने अपने बीच एक संस्था को जन्म दिया है, जिसे विवाह कहते हैं। पिछड़ी या बढ़ी हुई, बर्बर या सभ्य, सभी जातियों में विवाह का प्रचलन है। विधि और प्रकार का अन्तर हो सकता है, लेकिन समाज के रूप में आते ही मानो व्यवस्था के लिए इस प्रकार की आवश्यकता सहज अनुभव में आ जाती है और तदनुकूल प्रयोग हो निकलता है। आदमी ने आग से भुनकर या हाँड़ी में पकाकर भोजन का आविष्कार कब किया, इसका इतिहास में पता नहीं मिलेगा। उपयोग में लाने की आवश्यकता और साथ अनुपयोग से बचने की आवश्यकता का जिस क्षण आदमी को भान हुआ, उसी क्षण मानो उसने अग्नि के समान कामाग्नि पर भी कुछ व्यवस्था का नियमन डाल दिया। यों तो स्त्री के प्रश्न को लेकर लड़ाइयाँ आदिकाल से अब तक होती आयी हैं, लेकिन ठीक उसी आदिकाल से स्त्री को लेकर हमने गिरिस्ती जैसी चीज का भी अपने बीच आरम्भ कर लिया है।

एक आग, दो रोटियाँ

विवाह वह प्रयोग है, जो स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में मर्यादा लाता है। उस मर्यादा की रेखा पर मानो बराबर एक रगड़ और झगड़-सी चलती रहती है। ऐसा कभी नहीं हो पाता कि चूल्हे की आग पतीली को ही लगे, आस-पास गर्मी न दे। चूल्हे पर तवा चढ़ा होता है, लेकिन एक रोटी नीचे सिर्फ गरमी से भी सिकती चली जाती है। आग एक ही साथ दो रोटियों को अलग-अलग पकाती है, लेकिन स्तर-भेद से उन दोनों का अलग-अलग स्थान होता है। यह समझना कि विवाह के अनन्तर पति-पत्नी के अतिरिक्त शेष सब सम्बन्धों में कामोष्मा समाप्त रहती है, भूल में चलना है। यह सम्भव नहीं है। पुरुष में किसी रूप को देखकर चमक आ जाय, या स्त्री की आँखों में वह चमक दिखाई दे और इतने से पति-पत्नी एक-दूसरे पर

उबल पड़ें और झगड़ निकलें, तो क्या होगा? कामोष्मा इस ऊपर के डर से क्या अपने को मिटा सकेगी? होगा केवल यह कि उसकी अभिव्यक्ति सहज और प्रकृत न रहेगी। वह छिपे, दबे, अप्राकृतिक अवसरों में शरण लेगी।

व्यवस्था सम्पत्तिमूलक

व्यवस्था हमारी सम्पत्तिमूलक रही है, कुछ दूसरी हो भी नहीं सकती। कितनी भी समाजवादी, साम्यवादी, सर्वोदयवादी वह क्यों न हो, स्वत्व और सम्पत्ति का भाव व्यवस्था के आधार में रहने ही वाला है। नितान्तता से हटाकर सापेक्षता के स्तर पर हम उस भाव को भले ले आयें, लेकिन व्यवस्था का अर्थ ही अनेक स्वत्वों के बीच एक मर्यादा का निर्माण करना है। अर्थात् स्वत्व और सम्पत्ति के भाव से मुक्ति अन्त तक नहीं है। विवाह भी समाज-भावना के उसी स्तर तक उठ सकता है, जिस तक हमारा दूसरा व्यवहार उठा हुआ हो।

पूँजीवाद

एक शब्द चलता था और चलता है पूँजीवाद। दूसरा शब्द आप चाहें तो चला सकते हैं कानूनवाद या राज्यवाद। विवाह को उस सारे प्रकार के सहारों से हम टिकाये रखते हैं और ऐसे अपने बीच मर्यादाएँ बनाये रखते हैं। लेकिन जीवन विकासशील है और इसलिए उन तत्त्वों से वह शून्य नहीं हो सकता, जो मर्यादाओं के आरपार प्रवाहित होते और इस विधि स्वयं मर्यादाओं की मर्यादितता को स्पष्ट करते रहते हैं। उन तत्त्वों के सहारे परिवर्तन और विकास होता है और स्वयं हमारी सामाजिक संस्थाएँ संकीर्ण से उदात्त होने की ओर उठती जाती हैं।

सेक्स की उलझनें

अहं के दावे के अधीन, वैध रूप से बनी सीमितता और हृदय में से उठती हुई व्याप्तता के बीच संघर्ष अनिवार्य होता है। उस जगह समस्याएँ भी बने बिना नहीं रहतीं। अर्थ के क्षेत्र में उन समस्याओं का निपटारा अपेक्षाकृत आसान दीखता है। कारण, राग-भाव रहने पर भी बुद्धि और गणित का उपयोग वहाँ सम्भव बन जाता है। सेक्स के क्षेत्र में मानो वे ही समस्याएँ बेहद उलझ आती और बड़ी विकट और उत्कट दीखती हैं। कारण, बुद्धि इतनी रागाक्रान्त हो जाती है कि काम नहीं दे पाती। स्व और स्वकीय की बेहद आरूढ़ता वहाँ नज़र आती है, पर और परकीय के प्रति दावा मानो बिलकुल नहीं चल सकता। इसलिए उन उदाहरणों में अजब-अजब दृश्य उपस्थित हो आते हैं। हत्याएँ हो सकती हैं, आत्म-हत्याएँ

हो सकती हैं या और क्रूरताएँ प्रकट हो सकती हैं। जिनमें कभी गाढ़ा स्नेह रहा, उन्हींके बीच इतनी घृणा फूट आती है कि उस मनोदशा की सम्भावनाओं की सीमा नहीं रह जाती है। मुझे लगता है कि इन प्रश्नों का निदान और समाधान कुछ ही दूर तक सामाजिक विचार के पास है। अधिक तो इन प्रश्नों का सम्बन्ध मनो-विज्ञान की दिशा से होता है और वहीं गवेषणा की आवश्यकता है।

किराये के सम्बन्ध अशुभ

१९४. वेश्या-वृत्ति को व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आप कितनी दूर तक शुभ अथवा अशुभ मानते हैं? क्या कानून के जोर से वेश्यावृत्ति का पोषण अथवा उन्मूलन सम्भव है? सरकार ने वेश्या-वृत्ति को कानूनन बन्द करके क्या सचमुच जन-जीवन से उसे समाप्त कर दिया है?

—वेश्यावृत्ति को मैं शुभ कैसे मान सकता हूँ?

अशुभ जो उसमें है, वह और रूपों में भी समाज में व्याप्त है। इसलिए इस प्रश्न को दूसरे प्रश्नों से अलग मैं नहीं ले पाता हूँ।

व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न कुछ आत्मगत नहीं रहता है। इसलिए इस सम्बन्ध में सहसा फतवा नहीं दिया जा सकता। साधारणतया स्त्री-पुरुष के बीच किराये का सम्बन्ध अशुभ है ही। लेकिन उपयोगिता की ओर से विचार करने पर मालूम होता है कि प्रश्न में और पहलू निकलते हैं और फैसला सीधा नहीं हो पाता।

कानून से सही रोक-थाम असम्भव

कानून के जोर से पोषण तो अवश्य सम्भव है। आखिर जहाँ उस प्रथा का चलन है, तो पोषण उसे कानून की ओर से ही तो आता है। उन्मूलन अवश्य उस तरह असम्भव है। बहुत ज़ोर लगाइये, तो इतना अवश्य कर लीजियेगा कि अमुक बाजार खाली हो जाय, कानून की ओर से लाइसेन्स पट्टा किसीको न मिले, इत्यादि। लेकिन वह व्याधि अविहित और अनिर्दिष्ट रूप से वापस समाज-शरीर की शिराओं में प्रवेश पाये, तो उसकी रोक-थाम कैसे कर पाइयेगा? इसलिए यद्यपि कानून को चाहिए कि वह अपनी ओर से भरसक करता रहे, लेकिन सन्तोष मान ले और अपने को शाबाशी देने लग जाय, इसका अवसर कानून को भी कभी नहीं आना चाहिए।

१९५. आपके उत्तर बहुत नाकाफी रह गये। अच्छा हो, यदि आप ऊपर के एक-एक प्वाइंट को लेकर उस पर थोड़ा विस्तृत विचार कर लें।

—जो उन मुद्दों में अस्पष्ट रह जाता हो, उसको तुम्हीं न सामने लाकर रखो। तब तो मालूम हो कि कहाँ क्या और कहने की आवश्यकता रह जाती है ।

वेश्यावृत्ति और सामाजिक स्वास्थ्य

१९६. सृष्टि के आरम्भ से चली आनेवाली इस वेश्या-वृत्ति को आप अशुभ क्यों मानते हैं? सामाजिक स्वास्थ्य के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता उसे आप क्यों नहीं समझते हैं?

—सृष्टि के आरम्भ से नारी है यह तो सही है; पर वेश्या है, यह कैसे माना जा सकता है? वेश्या पैसे के आरम्भ से पहले हो नहीं सकती। मानव-जाति के इतिहास में अवश्य वह एक ऐसा समय है, जिसका पता लगाया जा सकता है। आखिर उजरत और कीमत देकर जब भोग के लिए नारी को प्राप्त करते हैं, तभी तो उसे वेश्या कहते हैं। कीमत पसे के रूप से चुकाने की विधि ही न हो, तो वेश्या की स्थिति नहीं बन पाती।

कृत्रिमता ही अस्वास्थ्य

सामाजिक स्वास्थ्य हार्दिक भी हो, यह अनिवार्य है। हार्दिक से अधिक जितना वह कृत्रिम होता है, उतना ही उसमें अस्वास्थ्य मिल जाता है, यह देखना और पहचानना कठिन नहीं होना चाहिए।

तुम्हारा प्रश्न इस जगह आकर यह रह जाता है कि अस्वस्थ समाज को अस्वास्थ्य की सुविधा देते रहने में आपको क्या आपत्ति है?

इस प्रश्न के उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकेगा कि अस्वस्थता का निभाव ही करना है और वह इस दृष्टि से कि अन्त में स्वास्थ्य का लाभ हो। टाँगों में यदि चलने की शक्ति नहीं आती है, तो टिकने को बैसाखी दे दें, इसमें हर्ज नहीं है; लेकिन स्वस्थ वह तब कहलायेगा, जब बैसाखी का सहारा उसे न होगा और टाँगें चल सकेंगी।

प्रश्न को सिरे से नहीं, बीच से लेना है यह कहना कि यदि इन वेश्याओं से वेश्या-वृत्ति छिन जायगी, तो फिर क्या होगा? मैं स्वयं उस जगह से विचार करने को तैयार हूँ, पर वह केवल नागरिक विचार होगा। अर्थात् उपयोगी विचार, वैज्ञानिक या सत्य विचार वह नहीं हो सकेगा।

वेश्या-वृत्ति की जड़ क्या है?

१९७. मैं यह जानना चाहूँगा कि वेश्या-वृत्ति की जड़ में आर्थिक-विवशता प्रधान

है या काम की उद्दीप्तता या एक रोमानी कल्पना या अपने अहंकार के विस्तार की कामना ? इस प्रश्न के उत्तर के आधार पर ही हम विचार कर सकते हैं कि यह वेश्या-वृत्ति शुभ है या अशुभ अथवा इसका उन्मूलन किस प्रकार किया जाय।

इस संस्था का पूरा चित्र

—वेश्या नाम की संस्था के कई कोने हैं। दो तो साफ हैं : (१) वह पुरुष, जो ग्राहक बनता और पैसा देता है। (२) वह स्त्री, जो कुछ बेचती और पैसा पाती है। लेकिन यह बाजार सीधे इन गाहक और बेचक से नहीं बन जाता। ये दो मात्र व्यक्ति हैं, वेश्या-संस्था सामाजिक है। अर्थात् दूसरे और सहयोगी हों, तब यह बाजार चलता है। यह कोई छिपी बात नहीं है कि यह बाजार भी पूँजी के नियमों से चलाया जाता है और उस बल-बूते पर भी चलाया जाता है। मैंने शायद कहीं पहले जर्मनी में मिले व्यक्तियों में से किसीकी बात कही थी, जो इसके आसपास का ही व्यापार करता था। लेकिन बहुत पाबन्द और परहेजवाला आदमी था। उसको स्त्री में रस नहीं रह गया था, न उसमें कुछ नव्यता जान पड़ती थी। भोग्यवृत्ति मानो उसमें थी, तो वह किसी उत्तीर्ण बौद्धिक स्तर पर थी। शायद वह अपने नाइट-क्लब में कभी जाता भी न हो, बही-खाते उसके पास दफ्तर में ही पहुँच जाते हों। तो वेश्या के बाजार के लिए यह आदमी कुछ कम प्रधान नहीं होता है। यह बाजार को चलाता है पर उसकी रंगीनी में रस नहीं लेता है, सिर्फ आमदनी में रस लेता है। उसका रस ऊपरी नहीं है, भीतरी है और जब हम वेश्या की बात करते हैं, तो अक्सर इस आदमी को नजर से ओझल रहने देते हैं। दस-पन्द्रह-बीस वेश्याएँ अपनी वृत्ति छोड़ दें, तो बाजार में फर्क नहीं आता है। लेकिन यह एक अकेला आदमी जो यों बाजार में खुला दीखता भी नहीं है, कहीं वहाँ से बेहद हटा हुआ और दूर मालूम होता है, उस सारे बाजार में उलट-पलट ला सकता है। इस आदमी को स्वयं वेश्याओं से कम काम पड़ता है, अपने एजेण्टों से ही बात करना उसे जरूरी और काफ़ी रहता है। संक्षेप में इस सारे बाजार का चित्र हमारे सामने तब उपस्थित होगा, जब हम आनेवाले पैसे का पीछा करेंगे और मालूम करेंगे कि उसके लाभ का बँटवारा कैसे होता है। सम्भव है कि ग्राहक के पास से बीस रुपये खर्च हुए और अपना भोग बेचनेवाली के हाथ उसमें से दो ही रुपये पड़े। बाकी अठारह रुपयों का क्या हुआ, इसके अध्ययन में से वेश्यावृत्ति का पूरा चित्र सामने आ सकता है। बहुत थोड़ा भाग है, जो सतह के ऊपर दिखाई देता और इसलिए पकड़ में आ जाता है; अधिक भाग तो उसका सतह के नीचे पानी में तैर रहा है और उसका लेखा-जोखा मामूली तौर पर हमारे हिसाब से बचा रहता है। मत मानिये

कि ऊपर दीखनेवाले भाग को आप कानून के फरसे से काट देते हैं, तो मातम कट जाता है। वेश्या-वृत्ति के लिए समस्त वैश्य-वृत्ति को आपको समझना चाहिए। मैं नहीं जानता कि ये दो शब्द यदि ध्वनि में इतने पास हैं, तो उनका निकास भी क्या एक धातु से है। लेकिन अर्थ-व्यापार के विचार से अलग वेश्या के प्रश्न का विचार पल्लवग्राही ही होगा, मूलग्राही नहीं होगा, यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

ग्राहक और दूकानदार की प्रेरणाएँ

अब ये सब प्रकार के व्यक्ति किन-किन प्रेरणाओं से चल रहे हैं, इसके बारे में निर्णय एक नहीं हो सकता। जो पैसा जेब में लेकर गाहक बनकर जाता है, उसकी प्रेरणा वैयक्तिक काम-क्षुधा से सम्बन्ध रखती है, यह तो कहा ही जा सकता है। क्षुधा अतृप्त है, या अधिक दीप्त है, या क्षत-विक्षत है, या प्रतिक्रिया में से उत्पन्न हुई है, इत्यादि जो भी निदान हो, वह काम-सापेक्ष अवश्य है। नारी जो तन देती और फीस पाती है, वह देह-दान में से भोग-तृप्ति पा रही होगी, यह मानने में कठिनाई होती है। यह उसके लिए इतना अधिक धन्धा है कि अगर बेगार और मुसीबत जैसा ही भाव उस नारी में रहता हो, तो मुझे अचरज न होगा। अब कैसे वह इस बाजार के किनारे तक आकर लगी, इसमें नाना परिस्थितियों और नाना परिणतियों का योग हो सकता है। कितनी खिंचकर आयी, कितनी फिककर आयी, कितनी आप आयी, कितनी आदमी के साथ और लोभ में आयी, कितनी स्वप्नाकांक्षाओं को रखती हुई आयी, कितनी खीज और विक्षोभ में घर से टूटकर बाहर आयी, इत्यादि असंख्य सम्भावनाएँ हैं। कल तक पैतृक व्यवसाय के रूप में भी यह चीज चलती थी और नन्हीं बच्चियों को इस पेशे के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। यह सब गवेषणा का सवाल है और कुछ परिशोधक इस काम में लगे भी हुए हैं।

प्रश्न का समग्र रूप

लेकिन मैं यह मानता हूँ कि प्रश्न को समग्र रूप में लें, तो समक्ष सौदे में दीखनेवाले दो व्यक्ति प्रधान नहीं रह जाते हैं, बल्कि ये तो गौण तक बन जाते हैं। मैं जिस साबुन से नहाता हूँ, वहाँ तक कैसे पहुँचता हूँ, वह क्यों तैयार होता है इत्यादि प्रश्नों में उतरूँ, तो बहुत से रहस्य निकल आ सकते हैं। मामूली तौर पर तो यही होता है कि घर से कोई जाता और दूकान से साबुन ले आता है। ऊपरी खरीद-बिक्री इतनी ही है। लेकिन ऐसी असंख्य व्यक्तिगत बिक्रियों के द्वारा एक बड़ा व्यापार

चलता है। उसका रूप समझने के लिए चित्र को वहीं तक सीमित नहीं रखना होगा। आदमी में भूख है, इसीलिए रोटी में कीमत पड़ती है। इस नियम का लाभ उठाकर बंगाल का अकाल पड़ा और अगर वह लाखों को मार गया, तो सैकड़ों को मालामाल कर गया। लाखों की मृत्यु और सैकड़ों की खुशहाली देखने में उलटी चीजें हैं, पर नीचे से काफी वे जुड़ी हुई हैं !

वेश्यावृत्ति, धर्म, अर्थ

मैं यह मानता हूँ कि वेश्या का प्रश्न काम से ही नहीं, धर्म और अर्थ से भी जुड़ा हुआ है। धर्म मैं जान-बूझकर कहता हूँ, क्योंकि धर्म की जो धारणा हमारे अर्थ-व्यवहार और काम-व्यवहार को चलाती है, प्रश्न से किसी तरह मुक्त नहीं मानी जा सकती है। क्या आप असम्भव समझते हैं कि इस व्यापार में पूँजी लगाकर लाभ उठानेवाला व्यक्ति धार्मिक हो सकता है? जी, नहीं, वह बड़ी आसानी से और बड़ी वाहवाही के साथ धार्मिकता में ऊँचा उठा हुआ हो सकता है। इसलिए इस प्रश्न में काम के साथ धर्म और अर्थ का सम्बन्ध आ जाता है। और इनसे हटा हुआ सीमित वेश्या-वृत्ति का विचार किसी गहरे निदान तक नहीं पहुँच सकता। कोरी ऊपरी रचना चाहे उस पर कितनी भी खड़ी कर ली जाय।

स्त्री-पुरुष की समान अधिकारिता रोग का निदान नहीं

१९८. आपके ऊपर के विश्लेषण से यह बात प्रकट है कि वेश्या-वृत्ति मुनाफाखोरों और सिक्के के प्यासे समाज-द्रोहियों की ही देन है। उन्होंने ही स्त्री को मात्र व्यापारिक पदार्थ बनाकर उसका धन्धा चलाया और फैलाया है। यही कम्युनिस्ट भी मानते हैं और वे भी इस वृत्ति को बुर्जुआ और पूँजोपति समाज-व्यवस्थाओं की देन कहते हैं। क्या कम्युनिस्ट-समाज की तरह स्त्री को पुरुष के समान पूर्ण अधिकार दे देने पर इस वृत्ति को समाप्त किया जा सकता है, स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप में?

—स्त्री और पुरुष के परस्पर अधिकारों की तौल पर यह प्रश्न स्थगित नहीं है। पैसे में कितनी शक्ति है और मुनाफाखोरी के लिए कितना अवकाश है, वेश्या का प्रश्न अधिकांश इस पर निर्भर करता है।

क्रय-विक्रय का मूल्य समाज में कितना ?

स्त्री और पुरुष के बीच ऐसा कुछ अवश्य रहेगा, जो आत्मा और हृदय से अतिरिक्त भी कहा जा सके। अर्थात् ऊपरी लोभ और लालच का अवकाश उन सम्बन्धों में रहने ही वाला है। दो व्यक्तियों में अन्तर न रहे, यह सम्भव नहीं है और कुछ-

न-कुछ आर्थिक स्तर का भी अन्तर रह सकता है। यह कहना कि कम-अधिक आर्थिक सम्पन्नता के कारण स्त्री-मानस में पुरुष के प्रति कुछ अन्तर ही नहीं आयेगा, व्यर्थ है। इसलिए वह सामग्री तो मौजूद है ही और रहने ही वाली है, जिनका उपयोग किया जा सके और लेन-देन में जिसके लाभ पर निगाह रखी जा सके। प्रश्न केवल यह रहता है कि इस लेन-देन, क्रय-विक्रय का मूल्य समाज में कितना है? अगर हमारा सामाजिक और आपसी व्यवहार पैसे के द्वारा होनेवाले लेन-देन पर निर्भर करने लग जाता है, तो ऐसे समाज में से वेश्या-वृत्ति हट नहीं सकेगी। कम्युनिस्ट-क्षेत्रों में स्त्री-पुरुष एकदम बदल गये हैं या बहुत ऊँचे हो गये हैं, सो बात नहीं है। अर्थ-विनिमय और अर्थ-विनियोग की प्रणालियाँ ही वहाँ बदल गयी हैं। वस्तुगत भौतिक आकर्षण कोई वहाँ समाप्त नहीं हो गया है और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में इसके दृश्य वहाँ भी खुले देखे जा सकेंगे। जो सचमुच बन्द हो गया है, वह बाजार है और मैं मानता हूँ आपकी समस्या भी वैयक्तिक, या दो व्यक्तियों की पारस्परिक, नहीं थी, बल्कि सामाजिक थी। इस तरह शायद उसका सम्बन्ध उस वेश्या-व्यापार से था, जिसका बाजार बन खड़ा हुआ है और जहाँ नारी की देह पैसा फेंक-कर पण्य पदार्थ के रूप में भोगी-बिखेरी जाती है। उसका सम्बन्ध सीधे अर्थ-विनिमय और उसकी प्रणालियों से है, ऐसा मैं मानता हूँ। स्त्री-पुरुषों के परस्पर अधिकारों के विभाजन से वह अलग है।

१९९. स्त्री ने पुरुष पर जो यह आरोप हमेशा लगाया है कि वही उसके पतन, उसकी कुत्सा और उसकी दुर्दशा का मूल कारण है, वही राक्षस है! उस आरोप से कितनी दूर तक आप सहानुभूति अनुभव करते हैं?

न पुरुष राक्षस, न स्त्री कुलटा

—नहीं, यह आरोप सदा क्या, बहुधा भी स्वयं स्त्री से नहीं आया है; बल्कि स्त्री की ओर से स्वयं पुरुष के मुँह से सुना गया है। यह पुरुष-नियन्त्रित और पुरुषोचित शिक्षा है, जिसने यह आरोप स्त्री के मन में और मुँह में डाला है। स्त्रियों के प्रति दया और सहानुभूति के उद्वेग में पुरुष लोग ही इस प्रकार की आवाज उठाया करते हैं, जिसका कुछ आशय नहीं है। आप समझ लें कि यदि कोई किसीको दुःख देता है, तो वह अपने दुःख के भाग और भोग में से ही दे सकता है। अर्थात् जो दुःख देता दीखता है, वह दुःख पा रहा होता है। अपने-अपने दुःखों को लेकर आखिर स्त्री-पुरुष कहाँ जायँ? सिवा इसके कि वे उन दुःखों को एक-दूसरे पर डालें, और वे कर क्या सकते हैं? पति बाहर सारी दुनिया से अगर तिरस्कार सहता हुआ घर आता है और वहाँ उसको मरहम नहीं मिलता, तो वह और क्या करे सिवा इसके

कि अपना सारा क्षोभ पत्नी पर उतार निकले ? प्यार करते हैं, उसी पर अत्याचार भी करते हैं। प्यार की ही यह बेबसी है। स्त्री वह कल्पनाहीन है और पुरुष भी वह कल्पनाशून्य है, जो इसको पहचान नहीं सकता। यह काल के अन्त तक भी कभी न हो पायेगा कि पुरुष अपना क्षोभ स्त्री पर न उतारे और स्त्री अपनी दमित भावनाओं को अपने प्रिय पर ही न उँडेल फेंके। प्रेम जो एक पुरुषार्थ है, परीक्षा है, सो इसी कारण कि इस सबके प्रति उसमें से सह्यता प्राप्त होती है। हमारे पुराणों की सतियों ने क्या कष्ट नहीं झेला ? शिकायत का सवाल हो, तो उनमें से हरएक के पास से एक बड़ा पोथा तैयार हो सकता है और अदालत में लाया जाय, तो निश्चय ही पति के लिए भारी दण्ड का फैसला हो सकता है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सती की ओर से विश्वास और अर्पण ही आता रहा। इसीलिए तो सती की महिमा हुई। निश्चय रखिये कि सतीत्व कोई जड़ भाव नहीं है। उसमें गहन तितिक्षा की आवश्यकता होती है।

आज का वातावरण परस्पर दोषारोपण से भरा हो सकता है। लेकिन इसका कारण तो यह है कि हमारी सह्यता कम हो गयी है। पुरुष राक्षस नहीं बन गया है, न स्त्री ही कुलटा हो गयी है। कुल मिलाकर देखें, तो जीवन आगे आया और सभ्यता का विकास हुआ है। लेकिन इस विकास में बुद्धि धार पा गयी है और उसने परस्पर सह्यता को झीना और जर्जर बना दिया है। बुद्धि बारीकियों में पहुँच गयी है और ऐसी हल्की और व्यर्थ बातों पर तलाक होने लगे हैं कि हँसी आती है। पहले वैसी बातें ध्यान तक में न आ सकती थीं, आज पहचान में आती हैं, इसको तो बुद्धि की तीक्ष्णता का ही लक्षण कहना होगा। कमी जो आयी है, वह धीरज और समाई में आयी है। समय के क्षण का मूल्य बढ़ गया है, और ये गुण क्षणिकता से उलटे नित्यता के परिचायक हैं। इसीलिए शायद उनका अभाव उन्नति को सहसा खलता नहीं है। लेकिन जब हम समझ पायेंगे कि समय वही नहीं है, जो भागता है; समय का वह भी रूप है, जो टिकता है; काल का महारूप अकाल है, तब चंचलता के बीच अचलता का मूल्य भी हम लगाने लग जायँगे। मैं मानता हूँ कि उस परिपेक्ष में शिकायत का अवकाश नहीं है। और आखिर स्त्रियाँ यदि ऐसी हैं भी, जो सारे दोष की दुष्टता पुरुष में देखना चाहती हैं, तो वे मुट्ठीभर होंगी। फिर शायद कहीं गहरे में उनमें चोट भी हो। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। पहले की कथाएँ हैं, अब भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं कि पुरुष-मात्र के प्रति तीव्र विद्वेष है, लेकिन इसीलिए है कि कब उपयुक्त पुरुष और उपयुक्त घड़ी आये और देखते-देखते विद्वेष एकाएक समर्पण में सार्थक हो आये ! अतः वैसे आरोप-प्रत्यारोपों को ज्यादा गिनने और अटकने की जरूरत नहीं है।

वेश्यावृत्ति का काम-पक्ष

२००. इस प्रकार पारस्परिक दुःख-कष्ट, यातना, दान और पारस्परिक सहायता की दृष्टि से वेश्या-वृत्ति का निरीक्षण करें, तो प्रतीत होता है कि वेश्या-वृत्ति का काम-पक्ष शाश्वत है। समाज-नीति और कानून उसके अर्थ-पक्ष के साथ अपनी मनमानी करने में समर्थ है। क्या मैंने इस स्थिति को ठीक रूप में रखा है?

—आपका प्रश्न शब्द की सीमाओं की रक्षा नहीं करता है। वेश्या वह नहीं है, जो अनेक को प्रेम करती है। वेश्या वह है, जो पैसे के एवज में अपने को देती है। काम एक के प्रति केन्द्रित हो सकता है या क्या, यह प्रश्न दूसरा हो जाता है।

२०१. तब वेश्या-वृत्ति को समाप्त करने के लिए आपके सुझाव क्या हैं?

वेश्या-वृत्ति की जड़ में शुद्ध अर्थासक्ति

—पैसे की संस्था जब तक ऐसी बनी रहेगी कि प्रतिष्ठा और बड़प्पन उससे खरीदा जा सके, या उस नाप में समझा जाय, तब तक हर सम्भव उपाय से पैसा बनाने की नीयत खतम नहीं हो सकेगी। पुरुष में स्त्री के प्रति होनेवाला लोभ इतना स्पष्ट निमन्त्रण है कि कोई सूझ-बूझवाला व्यक्ति उसमें से पैसे बनाने की बात अनायास सोच आ सकता है। यह कामासक्ति नहीं है, शुद्ध अर्थासक्ति है। व्यक्ति धन और उसके द्वारा प्रतिष्ठा चाहता है। यह सहज सामाजिक वृत्ति है। जिस अवसर में से इसका लाभ हो, उसे उठाने से वह बच नहीं सकता है।

कानून से आप बाजार को गैरकानूनी कर सकते हैं। लेकिन पैसे की भूख और पैसे बनाने के अवसर की सूझ-बूझ से वंचित किसीको कैसे कर सकते हैं? इसलिए सिर्फ कानून नहीं, अर्थ-विनियोग की प्रणालियों को ही अदलना-बदलना होगा। अर्थ की संस्था में से उस अनिष्ट सामर्थ्य को ही किसी तरह समाप्त कर देना होगा। कम्युनिज्म ने अपने यहाँ वह उपाय किया है। लेकिन वह भी कुछ अधूरा बन जायगा, अगर समाज-चेतना में से ही पैसे का अवमूल्यन आरम्भ न हो पायेगा।

यह वही मूल्य-परिवर्तन और मूल्य-क्रान्ति की बात आ जाती है। अगर मनुष्य, पुरुष या स्त्री, बिकने की जरूरत में पड़ सकते हैं और खरीदनेवाला पैसा हो सकता है, तो न बेगारी मजूर और न टकियाई वेश्या समाप्त हो सकती हैं। हालत वह लानी होगी कि जहाँ कोई बिकना न चाहे और कोई खरीद न सके। लेकिन शायद यह बड़ा प्रश्न हो जाता है। कहने का आशय यही है कि वेश्या-वृत्ति के सच्चे उन्मूलन के लिए, उस बड़े प्रश्न तक पहुँचना होगा और वहाँ का उपाय करना होगा।

कानूनन शराब-बन्दी

२०२. सरकार ने शराब-बन्दी के लिए जो कानून बनाये हैं, क्या आप उन्हें प्रभावी एवं लाभदायक मानते हैं? शराबबन्दी क्या जरूरी है और क्या उसे भी कानून के द्वारा समाप्त किया जा सकता है?

कानून लंगड़ा उपाय

—कानून सदा लँगड़ा उपाय है। कानून एक टाँग है, बल्कि उसकी भी आधी है। दोनों टाँगों से कानून तब चलता है, जब वह व्याप्त लोकमत का सूचक-व्यंजक होता है। इधर लोकमत उसका सहारा ले, उधर राजतन्त्र लोकमत का सहयोग पाये, तब कानून अर्थकारी होता है। यह जो पार्लियामेण्ट में जाकर सात सौ, आठ सौ आदमी पूरे बरस मोटी तनख्वाहें पाते और कानून पर कानून बनाते जाने का काम करते रहते हैं, क्या एक भी ऐसा उनमें है, जिसे उन सब कानूनों का पता है? बड़े-से-बड़े वकील को उतनी ही बड़ी लाइब्रेरी अपने पास रखनी पड़ती है। अर्थात् कानून का पार ही आपको नहीं मिल सकता। जैसे सब वहाँ मँझधार ही है। कानून एक तरफ काम करता रहता है, जनता दूसरी तरफ काम करती रहती है, और जब कानून का स्पर्श जनता पर जरा आता है तो वह बेचारी घबरा जाती है। मानो कानून मुसीबत के सिवा उसे कुछ और हो ही नहीं। अदालत का एक पुरजा अच्छे-अच्छों के पित्ते दहला देता है। कानून वह है, जो मानो सारे सरकार के आतंक का प्रतीक है। यह उसके प्रति सामान्य जन का मनोभाव है।

उस कानून की दुहाई में मुझे बहुत सार मालूम नहीं होता है। सभ्य देशों में कानून इस तरह हौवा बना नहीं रहता। वह लोगों को अपना सहयोगी जान पड़ता है। वहाँ की बात मैं नहीं कहता हूँ। यहाँ हिन्दुस्तान में कानून का सहारा थामने के लालच को मैं बहुत बढ़ावा देना नहीं चाहता।

शराब के दोषों को मैं अनुभव से नहीं बता सकता हूँ। मित्र लोग अनेक हैं जो शराब से बरी नहीं हैं, लेकिन बहुत अच्छे मित्र और बहुत अच्छे मनुष्य हैं। आखिर ठण्डे देशों में वह आम पेय है और शराब-बन्दी का प्रश्न ही वहाँ किसीकी समझ में नहीं आ सकता। लेकिन शराबबन्दी में उस शराब की बात नहीं है, जो सामाजिकता के स्तर पर कुछ उल्लास लाती है और जीवन को तोड़ती-फोड़ती नहीं है।

इसीलिए सम्पूर्ण शराबबन्दी की बात उठती है, तो सुनी-अनसुनी कर दी जाती है।

जहाँ शराब जहर है

लेकिन एक स्तर है, जहाँ शराब ने गजब ढा रखा है। जीवन को एकदम विघटित

कर दिया है। वहाँ शराब मानो जहर के काम में ली जाती है। गम गलत करने, अपने को दुःख से, अन्दर की कुरेद से, जीवन के सामने से बचाने के लिए वहाँ शराब की शरण ली जाती है। दलित और श्रमिक-वर्ग के जीवन में जाकर देखिये। शराब ने वहाँ त्राहि-त्राहि मचा रखी है। मानिये कि मर्द के हाथ एक रुपया आता है, तो उसका बारह आना शराब में उठ जाता है। शराब की लत के रास्ते सारा वर्ग का वर्ग महाजन की मुट्ठी में आ रहता है और मानो जनम-जनम के लिए वहाँ फँस जाता है, किसी तरह निकल नहीं सकता है। कोई और उपाय नहीं है, सिवा इसके कि शराब के जरिये अपने आस-पास को, अपने फर्ज को, अपने दुःख-दर्द को, सारी दीन-दुनिया को, अपने को ही घड़ी-दो-घड़ी के लिए मानो नाबूद कर देने, भूल जाने का सस्ता सहारा उनके पास से हटा लिया जाय। ऊपर से यह जोर-जब्र मालूम हो सकता है। लेकिन क्या हम प्यार में कुछ जोर-जब्र करते नहीं हैं या कर नहीं सकते हैं? कहीं तो वह फर्ज बन जाना चाहिए। इसके लिए शराब-बन्दी के कानून की आवाज़ उठायी जाती है। शायद वह कानून इष्ट है। लेकिन क़ानून कागज पर रह जायगा, बल्कि अपने उद्देश्य से उलटा परिणाम ला दिखायेगा, अगर पचास-साठ रुपये पानेवाला कान्स्टेबिल और ऐसे ही दूसरे तनख्वाहदार उसकी अमलदारी के लिए रह जायँगे। तब ठीक इन्हीं अमलदारों के योग से ग़ैरकानूनी भट्टियाँ बनेंगी और शराब के नाम पर सचमुच का जहर, जैसे स्पिरिट वगैरह, काम में लाया जाने लगेगा। जरूरत उनके बीच में जाकर काम करने की है। ऊपर से शराब-बन्दी लादने से वह काम होता नहीं है। अगर ऐसा जान पड़े कि समाज-सुधारक अपना काम नहीं कर पाता है, कानून इसमें बाधक होता है, तब अवश्य उसके सहारे के लिए सरकार की ओर से कानून भी दिया जा सकता है। लेकिन लाभ तब होगा, जब ऐसे कार्यकर्ता होंगे और समाज-चेतना में से उनकी माँग होगी। उससे पहले वह उलटा फल भी ला सकता है।

असल शराब

मैं स्वयं शराब का कायल हो सकता हूँ। भगवान् की ओर से चारों ओर इतना सौन्दर्य, इतना ऐश्वर्य फैला पड़ा है कि उसमें से आवश्यक विस्मरण किसी समय भी खींचा जा सकता है। यह शराब खुली है और मुफ्त है। यह है, जिसे स्पिरिट कहना चाहिए। नकली शराबों से इधर का ध्यान जो हट जाता है, उसको मैं घाटे का सौदा मानता हूँ। लेकिन पैसे की सभ्यता में चीज वही काम की और कीमती हो जाती है, जो ज्यादा पैसा डालने से आती है। इसलिए एक लम्बा-चौड़ा व्यवसाय शराब का बन गया है। उसने खुले आसमान को, जंगल की हरियाली को, पहाड़ों

के बर्फ को, समुद्र की हिलोरों को और फूलों की रंगीनियों को देखने की फुरसत मानो छीन ली है। पैसे की माँग, और होने पर उसके खर्च, की जरूरत हमको इतना भर लेती है कि सब कुछ जो भगवान् ने अपनी अमित वदान्यता में हमारे आनन्द और उपभोग के लिए बिखेर दिया है, उससे हम दीन-हीन बने रह जाते हैं। मैं शराब का कायल हो सकता हूँ, पर वह कि जिसका नशा उतरे नहीं।

जेलों में सुधार

२०३. सरकार ने जेलों में जो सुधार किये हैं, उनसे जेलें एक अपराधी के लिए इतने आराम और सुख की जगह बन गयी हैं, जितना कि उसे बाहर रहकर कभी भी नसीब नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में क्या यह सुधार अपराधों को बढ़ानेवाले ही सिद्ध नहीं हो रहे हैं? कानून भी कुछ इतना ढीला पड़ चुका है कि अपराधियों को आवश्यक सजा मिल नहीं पाती और उनके मन में से ब्रिटिश जमाने का-सा डर बिलकुल निकल गया है। इस स्थिति पर अपना मत प्रकट करें।

शिथिलता और उत्तीर्णता में अन्तर

—शिथिलता कभी लाभ नहीं देती। शिथिलता और उत्तीर्णता में बहुत अन्तर है। कानून की दृढ़ता में से एक रोज कानून की उत्तीर्णता आ भी सकती है, शिथिलता में से वह परिणाम कभी नहीं आ सकता। कानून को शिथिल होने का अधिकार नहीं है। ऐसा हो तो सरकार को आसन से उतर आना चाहिए और नयी सरकार को वहाँ पहुँचना चाहिए, जो दावा करे और जनता को आश्वासन दे कि शिथिलता नहीं होने पायेगी। लोकतन्त्र जो कई जगह टूट गये हैं और उनकी जगह सैन्य-तन्त्र ने ले ली है, सो इसी शिथिलता के कारण। इसलिए जब कि शिथिलता से भयंकर कोई चीज नहीं, तब यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि वह उदारता का नाम नहीं है। और कानून को अपने प्रति ईमानदार रहते हुए उठना अवश्य उदात्तता की ओर है।

सुधार अभिनन्दनीय

जेल में कुछ सुधार किये गये हैं। सुनने में वे प्रिय भी मालूम होते हैं। मैं अपनी ओर से कह सकता हूँ कि बीमार को यदि अपने घर से अधिक सुविधा अस्पताल में दी जाती है, तो यह अनुचित नहीं है। सिर्फ यह बात कि अस्पताल अस्पताल है, घर वह नहीं है, बीमार को अस्पताल का आदी नहीं बनने दे सकती। आराम जो बीमारी में मिलता है, तन्दुरुस्ती में नहीं मिलनेवाला है, फिर भी आदमी

तन्दुरुस्त होना चाहता है। ठीक यही बात कैदी के बारे में सही मानी जा सकती है। यह क्या कम है कि वह कैद में है। कितनी भी सुख-सुविधा उस स्वतन्त्रता के अभाव को भर नहीं सकती। इसलिए यह डर कि उस प्रकार की सुविधाएँ अपराधी की अपराध-वृत्ति को उत्तेजन देंगी, मानव के संशय का द्योतक है और उसकी आवश्यकता नहीं है। कुछ अच्छे प्रयोग, सुनता हूँ, उस दिशा में हो रहे हैं और कैदियों को अवसर दिया जा रहा है कि वे अनुभव करें कि वे इन्सान हैं और लौटकर नागरिकता में स्थान पा सकते हैं। एक बार कैद पा जाने पर आदमी हमेशा के लिए दागी बन जाता है, यह धारणा समाज-मन में से या स्वयं अपराधी के मन में से जल्दी निकले उतना अच्छा है। यदि उस आधार पर जेलों में कुछ किया जा रहा है, तो यह अभिनन्दनीय बात है।

सुधार भावुक न हों

पर जो कहना रह जाता है वह यह कि जेलों में होनेवाला यह सुधार समग्र दृष्टि का अंग हो और सन्दर्भ से टूटा हुआ न हो। आज की भारतीय सरकार के पास वैसी कुछ समग्र दृष्टि है, इसका भरोसा मुझे नहीं होता। किसी राज्य में कोई मन्त्री अपने किसी विभाग में उदाराशयता का प्रवेश कर सकता और वैसे प्रयोग आरम्भ कर सकता है। यदि यह प्रयोग विच्छिन्न रह जाता है, तो न सिर्फ यह कि उसका अर्थ और लाभ सीमित हो जाता, बल्कि सचमुच उसका परिणाम उल्टा तक हो जा सकता है। प्रेम का एक समग्र जीवन-दर्शन है और उसके व्याप्त प्रयोग की आवश्यकता है। लेकिन माताएँ जो घर में अपने बच्चों से जैसा अल्हड़ लाड़ लड़ाती हैं, उसे प्रेम मानकर भी सहसा उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। उदाराशयता दृष्टि में व्याप्त होनी चाहिए और भावुकता (इण्डलजेन्स) नहीं बननी चाहिए। अक्सर भावुकता एक प्रकार की शिथिलता ही होती है और उससे बचना बहुत जरूरी है।

प्रेम और घृणा दोनों का उपयोग

मेरे मन में अपराध के लिए क्षमा का बिलकुल समर्थन नहीं है। क्षमा अपराधी को मिल सकती है, लेकिन ऐसे कि अपराध को तो दण्ड ही मिले। यह झूठी दया है, जो अपराधी को क्षमा करने में अपराध को नजरन्दाज करने में कुशल देखती है। यह अहिंसा एकदम नहीं है। मेरे मन में यह भी होता है कि पाप को सम्पूर्णता से घृणा कर सकेंगे, तभी यह सम्भव होगा कि पापी को हम प्यार कर सकें। इन दोनों चीजों में मैं विरोध नहीं देखता हूँ, बल्कि योग देखता हूँ। घृणा और प्रेम

दोनों हमारे भीतर पड़े हैं और जो भी है, नष्ट वह कभी नहीं हो सकता है। दोनों को ही रहे चले जाना है—घृणा को भी, प्रेम को भी। वह उपाय अनिष्ट है, निष्फल है, जहाँ प्रेम की बढ़वारी के लिए घृणा को कुचल कर नष्ट करना ही जरूरी समझा जाता है। अगर है, तो नाश कैसे हो सकता है? इसलिए व्यक्ति के लिए जब कि बेशर्त प्रेम का मैं कायल हूँ, तब पाप और पुण्य के भेद के प्रति असावधान होने को खतरनाक समझता हूँ। समान दृष्टि का मतलब गुण-दुर्गुण में समदर्शी होना कभी नहीं है। समदर्शिता ऐसे कभी, कभी, कभी न आ सकेगी। घृणा आदि भावों के परिपूर्ण उपयोग के लिए जीवन में स्थान है। वह इस रूप में कि पाप, असत्, अनीश्वर के प्रति जितनी घृणा हो, कम है। घृणा को फेंकना नहीं है, सही जगह पर उसे लगाना है। ऐसा होगा, तो प्रेम भी फिर सही जगह के लिए शेष और मुक्त हो जायगा। तब हम बच्चे के प्यार के लिए उसकी बुरी आदतों पर प्यार खर्च करने के लिए मजबूर न होंगे।

समाज में अपराधी के प्रति वात्सल्य जागना चाहिए। लेकिन अपराध के प्रति तनिक भी प्रमाद, तनिक भी शिथिलता या उपेक्षा नहीं हो सकेगी। उसके प्रति पूरी तरह प्रबुद्ध और कटिबद्ध रहना होगा। तब प्रेम भावुक नहीं, दुर्द्धर्ष बन आयेगा और जब कि वह अपराधी को परिपूर्ण मिलेगा, तब अपराध को रंचमात्र प्रश्रय उससे प्राप्त नहीं होगा। इतना ही नहीं, बल्कि उस अपराध की जड़ें उससे गलेंगी और अपराध-भाव ही सर्वथा के लिए निर्मूल हो सकेगा।

प्रशासन में शिथिलता

२०४. आज के प्रशासन में जो शिथिलता आप देखते हैं, क्या उसका कारण कांग्रेस-दल के नेताओं एवं कार्यकर्ताओं का प्रशासन के कार्यों में रात-दिन होनेवाला अनुचित हस्तक्षेप नहीं है? एक कांग्रेसी कार्यकर्ता ने ही मुझे बताया है कि उसके लिए किसी भी मजिस्ट्रेट, जज अथवा पुलिस इन्सपेक्टर को बदलवा देना, यहाँ तक कि मुअत्तिल तक करा देना कोई बहुत बड़ा काम नहीं है। आपकी राय में प्रशासन और जन-कार्यकर्ता के मध्य किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित रहना चाहिए, जिससे प्रशासन व कानून ढीला भी न पड़े और दुर्द्धर्ष एवं नृशंस भी न बने?

कांग्रेस से शिकायत

—कांग्रेस की बात क्यों करते हो? वह तो राज से भर गयी है। बाकी उसके पास बचा क्या है? कोई दर्शन (Vision) उसके पास नहीं रह गया है। राज से बाहर प्रजा में घुला-मिला उसका कितना भाग है? जो है, वह भी तैरता

हुआ अलग दीखता है। मानो राज का ही वह अंग हो और उसके प्रहरी के रूप में ही प्रजा के मैदान में सिर्फ अपना पड़ाव डालकर रह रहा हो। ऐसी जमात से यदि कुछ आपकी आशाएँ भंग होती हैं, तो विस्मय की बात नहीं है।

लेकिन एक बात याद रखिये। राज्य के स्तर पर यह सदा होता आया है। कांग्रेस-राज्य लोक-राज्य है। कांग्रेसी आपके बीच में से उठकर राजपद पर गये हैं। इसीलिए वे चीज़ें शायद आपकी निगाह में ज्यादा गड़ती और आपको परेशान करती हैं। लेकिन राज्य स्वयं में शासन और दमन का उपकरण है, यह आपको निर्विवाद स्वीकार कर लेना चाहिए। इस निर्भ्रमता के साथ आप चल सकेंगे, तो कांग्रेस के प्रति सदैव सहानुभूतिपूर्ण भी हो सकेंगे।

मेरे पास कांग्रेस के लिए यह बहुत जबरदस्त शिकायत और अभियोग है कि वह राज-पद और राज-विचार के लिए ही रह गयी है और सब सद्-विचार और जन-विचार के लिए समाप्त हो गयी है। ऐसा हो सका, तो क्यों? यह छोटी दुर्घटना नहीं है। भारत के भाग्य में इसका जाने कब तक फल-भोग लिखा है, राम ही जाने!

गांधी का आदर्श

इस मूलभूत अभियोग से हटकर मैं नहीं मानता कि किसी सरकार के पास जवाहरलाल नेहरू जैसा खरा, दुर्दम, वीर और पराक्रमी व्यक्ति हो सकता है। कोई दूसरी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ऐसे व्यूह और भँवर में इतने अडिग भाव से टिकी न रह सकती। किसी भी और देश में देखिये, सरकारें डगमग हैं। भारतीय जैसी स्थिर और दृढ़ सरकार शायद ही कहीं दूसरी जगह आज आपको मिल सके। कितनी कठिनाइयों में उसको काम करना पड़ रहा है, आप समझ सकते हैं। गांधी को एकदम वह फेंक नहीं सकती और जानती है कि देश के लोग ही नहीं, दुनिया के लोग उसे गांधी के पैमाने से नापेंगे और पास-फेल करेंगे। एक ओर यह अनिवार्यता और दूसरी ओर यथार्थ की अनिवार्यता। गांधी की अहिंसा और राज्य के लिए अनिवार्य हिंसा। मानो इन दोनों सींगों पर संकट को उठाकर कांग्रेसी सरकार को चलना पड़ रहा है। अहिंसा का नाम तो था ही जिससे खिज और चिढ़कर गोडसे ने गांधी को मारना अपना कर्तव्य समझा। इतना बड़ा कर्तव्य कि उसने कहा कि गांधी के खून की प्यास मुझमें इतनी थी कि कोई उसकी जान को मुझसे बचा नहीं सकता था। गांधी ने अपने को नहीं बचाया, लेकिन सरकार होकर नेहरू किसी गोडसे या अनेक गोडसों को यह मौका फिर नहीं दे सकते। गांधी की अहिंसा ने निर्णय कर लिया कि प्रार्थना-सभा में पुलिस पास

तक नहीं फटक सकेगी। लेकिन सरकार का निर्णय पुलिस को इस तरह अमान्य कभी नहीं कर सकेगा।

लोकशाही की विजय

इस तरह कांग्रेस-सरकार चल रही है। अहिंसा और लोकतन्त्रता का उसके सिर सेहरा है और कन्धों बोझ है। उसी सरकार को नेहरू के नेतृत्व में जल्दी-से-जल्दी भारत देश को रूस-अमरीका के समकक्ष बना देना है। उद्योगों से छा देना है और देश को मालामाल कर देना है। अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में हिन्दुस्तान का सिक्का जमा देना है। इस प्रण-पूर्ति में आप और हम कांग्रेस के विधायक पक्ष को शायद भूल जाते हैं। सचमुच उसने कम काम नहीं किया है। और इसीलिए मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ इस बात पर कि न्याय करने के लिए ही राज्य नहीं होता है, सचमुच शासन करने के लिए उसका निर्माण होता है। कांग्रेस का होकर अगर कोई स्थानीय नेता स्थानीय इन्स्पेक्टर या मजिस्ट्रेट पर अपना आतंक रख पाता हो, तो कांग्रेस की दृष्टि से इसमें कुछ हित भी दिखाई दे सकता है। एक्जेक्युटिव के अवयवरूप किसी अमुक अधिकारी को यदि यह समझने का मौका नहीं आता कि वह सर्वेसर्वा है, तो क्या यह भी लोकशाही की विजय का ही एक चिन्ह नहीं माना जा सकता?

कांग्रेस-प्रशासन का लेखा-जोखा

आपको देखना होगा, किन विषमताओं के बीच से कांग्रेस को काम करना पड़ रहा है। स्वतन्त्रता के इन चौदह वर्षों में एक सातत्य कायम रखना, कहीं उसमें भंग नहीं आने देना, कोई छोटी सफलता नहीं है। आशा की जा सकती है कि नेहरू की कांग्रेस अगला चुनाव भी जीतेगी। दुनिया के प्रति भारत की ओर से यह इस बात का अनोखा प्रमाण होगा कि देश संयुक्त है और उसके पास कुछ संकल्प है। प्रशासन की त्रुटियों की ओर से यदि आप न देखेंगे और कुल मिलाकर कांग्रेसी-शासन का लेखा-जोखा लेना चाहेंगे, तो प्रशंसा के भाव आपमें हो सकते हैं। एक तरह से वह होने भी चाहिए।

कांग्रेस की गफलत

लेकिन मैंने खुलकर कहा है और कहता हूँ कि मेरे मन में अप्रशंसा ऊपर है। वह इसलिए नहीं कि उसका शासन अमुक विवरण में घटकर है या बढ़कर है, बल्कि इसलिए कि ठीक यह जमात थी कांग्रेस, जिससे आशा हो सकती थी कि

राज्य-दर्शन उसे घेरेगा नहीं। आशा थी कि उसके द्वारा भारत का राज्य मानवता की दिशा में उठेगा और मानव-स्वप्नों के लिए मार्ग खोलेगा। विश्व को अपेक्षा थी ऐसे उदाहरण की, राष्ट्र के और राष्ट्र-राज्य के ऐसे नमूने की, जो विश्व के लिए स्वयं गाँठ के मानिन्द न रह जायगा, जो एक अलग राष्ट्र-स्वार्थ न होगा, बल्कि जो दुनिया की गाँठ खोलने का उपाय दिखा आयेगा। समष्टिगत मानव-स्वार्थ या परमार्थ की कल्पना को जो सांगोपांग कर सकेगा। इस काम में कांग्रेस अगर गाफिल हुई है, उस विचार की गरिमा और अनिवार्यता तक से बेखबर हो गयी है, तो जिसे वह राष्ट्रपिता कहती है, उस गांधी के प्रति यह भयंकर बेवफाई है। इस कांग्रेस से गांधी की आत्मा को स्वर्ग में तनिक भी आश्वासन नहीं पहुँचता होगा, यह निश्शंक कहा जा सकता है। लेकिन इसको शासन की त्रुटि नहीं, कल्पना की ही त्रुटि मैं मानता हूँ। वह बड़ी चीज है, लेकिन अलग चीज है।

पंचायत में स्वर्ग या नरक?

२०५. कल्पना की त्रुटि का एक और नमूना मुझे पंचायतों के चुनाव में दीख पड़ता है। पंचायत-प्रणाली कितनी शुभ है, कितनी अशुभ, इसका प्रश्न यहाँ नहीं है। लेकिन पंचायतों के चुनावों ने भारतीय ग्रामों में जो विद्वेष, पारस्परिक घृणा और हिंसा तथा मुकदमेबाजी चलायी, उसका स्वरूप बड़ा ही भीषण और बीभत्स दीख पड़ता है। इस परिस्थिति को ठीक करने के लिए आपका क्या सुझाव है?

—मैं उत्कट विशेषणों से बचने की सलाह दूँगा। पंचायत-पद्धति वह आवार-शिला है, जहाँ विकेन्द्रीकरण का विचार आकर टिकता है। इसीसे प्रकट हो जाना चाहिए कि समाज-व्यवस्था का विचार अपने-आप में कितना एकांगी और अधूरा हुआ करता है। पंचायत में से स्वर्ग निकलेगा, विकेन्द्रीकरण का वाद यह परिपूर्ण नीरन्ध्र संगति से सिद्ध करके दिखला सकता है। लेकिन आप कहते हैं कि उसमें से कहीं-कहीं प्रत्यक्ष नरक निकल आया है। आपकी बात को अनुसन्धान के लिए यों टाला भी जा सकता है, और राजनीतिक यही किया करता है। वह आँकड़ों का सहारा लेता है और आपके आँकड़ों को चुनौती देता है। उससे चीज खटाई में पड़ती है। लेकिन आपकी बात को मैं जान-बूझकर अमान्य नहीं करना चाहता। जानता हूँ कि वह किसी स्वार्थ में से नहीं आ रही है। फिर अगर तहकीकात और आँकड़ों से उसे गलत बताने का दावा भी सामने हो, तो मुझे चिन्ता नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि ऐसा नरक भी अगर उसमें से कहीं निकला हो, तो मुझे बिलकुल अचरज न होगा। मुझे यह भी निश्चय है कि स्वर्ग उसमें से नहीं आयेगा।

पंचायत-भाव

कारण, प्रश्न पंचायतों तक अधिकार को बाँट देने का नहीं है। या अगर है, तो वह बाद का प्रश्न है। पहला यह है कि पंचायती भाव स्वयं हम-आपमें कितना है। नेता बनने की इच्छा पंचायती भावना से उलटी जानेवाली चीज है। पंचायती-राज से यदि आप समूचे देश की राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं, तो वह राज-तन्त्र दल-तन्त्र नहीं हो सकता। उसको सर्वथा दूसरे प्रकार का होना होगा। दल के राज की इच्छा, दल-संगठन और दलीय चुनाव के द्वारा उस राज्य का वहन और पोषण मूलतः पंचायती भावना के विरोधी हैं। यदि हममें श्रद्धा है कि पंचायत के पास सत्य और न्याय होता है, वहाँ से सहज भाव से छनकर जो वस्तु आयेगी वही विश्वसनीय होगी, तो हमको सब प्रकार के राजनैतिक मतवादों से छुट्टी मिल जाती है। कांग्रेस में पंचायत की सही श्रद्धा रही हो, तो सोशलिस्ट पैटर्न वगैरह-वगैरह की सब बातों से कांग्रेस को आज ही छुटकारा मिल जाता है। लेकिन इस प्रकार की राजनीतिक शब्दावली के परिग्रह की अगर कांग्रेस को आवश्यकता बनी रहती है, तो अर्थ होगा कि वह जनतारूपी पंचों और पंचायत से ज्यादा जानती है और शुरू होने से पहले पंचों को हुकूमत की तरफ से बतला देना चाहती है कि क्या काम उन्हें करना है। इस प्रकार की स्वरत और प्रच्छन्न लोक-कल्याण-ज्ञान की डिक्टेटरी में से बनी हुई पंचायतें स्वर्ग कैसे ला सकेंगी? क्या वे स्वाधीन होंगी? क्या चाहा जाता है कि वे स्वाधीन हों? क्या प्रच्छन्न दलीय पोषण की प्रत्याशा उनसे नहीं है? इन सब कारणों से मुझे तनिक विस्मय नहीं होगा, यदि पंचायतें बनें और उनमें से स्वर्ग की जगह नरक निकलता दीखे।

पंचायत-राज पंचायती नहीं

राम-राज्य गांधी का शब्द था। पंचायत-राज में से वह तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है, तो मान लीजिये कि पंचायत-राज सही अर्थ में पंचायती नहीं है। उन तनावों को, जो राजनीतिक और अर्थनीतिक स्पर्धा में से हमने अपने बीच उपजा लिये हैं, पहले यदि हम हवा में से दूर नहीं करते हैं और अपने मन में से दूर नहीं कर लेते हैं, तो पंचायतों के हाथ हम समर्पित नहीं बनते हैं, बल्कि पंचायतों को अपने हाथ का आयुध बना लिया चाहते हैं। रोग मुख्य यही है कि राजनीतिक चेतना से मानव-चेतना आक्रान्त है। आवश्यक यह है कि राजनीतिक कर्म मानव-चेतना से उद्भूत और परिचालित हो। तब राजनीतिक कही जानेवाली चेतना और उस तल पर चलने और जमनेवाले वाद-प्रतिवाद एकदम अनावश्यक हो जायँगे और रचनात्मक काम ही राजकर्मी के पास शेष बच जायगा। तब काम से

समय चुराने और बात में उसे लगाने की आवश्यकता भी निःशेष हो जायगी। सदन और सभा के नाम पर बनी हुई गप्पाष्टकी चौपालें (टाकिंग हाउसेस) तब नया रूप ले लेंगी और चर्चाओं से अधिक वहाँ काम हुआ करेगा। वेतन-भत्ते की लालसाएँ लोगों को वहाँ न ले जायँगी, बल्कि कर्तव्यशीलता ही उन्हें वहाँ पहुँचा सकेंगी। पंचायत को सच्चे और सही भाव से हम स्वीकार करते होंगे, तो मानो यह सब फल उसमें से निष्पन्न होगा और तब वह कदम राम-राज्य की दिशा का माना जा सकेगा।

८

प्रादेशिक समस्याएँ

नागा-समस्या

२०६. अन्तःप्रान्तीय समस्याओं में नागा-राज्य अथवा नागा-जाति का प्रश्न स्वतन्त्र भारत के सामने काफी महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया है। आप नागा-जाति की इस माँग को कि उन्हें एक स्वायत्त शासन प्राप्त कर लेने का हक है, क्या उचित और न्याय्य एवं राष्ट्र-हित के अनुकूल मानते हैं?

—यह प्रश्न स्वायत्तता का नहीं है, जो कि नैतिक प्रश्न हो सकता है, बल्कि तात्कालिक और राजनीतिक प्रश्न है। नैतिक स्तर पर यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि स्वायत्तता व्यक्ति तक पहुँच जानी चाहिए और हरएक को स्वाधीन-चेता होना चाहिए।

प्रश्न जब राजनीतिक बनता है, तो उसमें कुछ परिस्थिति में पड़े हुए कृत्रिम तत्त्व भी मिल जाते हैं। उस सन्दर्भ से अलग कर उस प्रश्न को नहीं देखा जा सकता। राजनीतिक प्रश्नों का निपटारा शक्ति के द्वारा हुआ करता है। इस तरह वह निपटारा ही नयी समस्याओं को उपजाने लगता है। कारण, शक्ति अपनी बड़ी शक्ति के मुकाबले में हारकर भी मानो अपना अहंकार नहीं खोती है। बल्कि वह अहंकार अधिक क्षुब्ध और तीखा हो जाता है। स्थायी मुक्ति इस तरह की समस्याओं से तब मिल सकती है, जब क्षेत्र में एक नयी शक्ति उत्पन्न हो और वह नैतिक शक्ति हो। यह शक्ति आग्रही नहीं होगी, फिर भी लोक-विश्वास का बल उसके पास होने से अन्त में उसीकी निर्णायक स्थिति हो जायगी।

आप जानते हैं, कुछ नागा 'होस्टाइल्स' कहे जाते हैं। कुछ दूसरे अब भी हैं, जो भारतीय राज्य के पक्ष में हैं। उनकी बड़ी-बड़ी जातीय पंचायतें और सभाएँ हुई हैं, लेकिन नागाओं में ये दो दल देखने में आते हैं। परिस्थिति और विकट बन जाती है, जब पता चलता है कि नागाओं के पीछे कुछ अन्य तत्त्व काम कर रहे हैं। ये विदेशी तत्त्व काफी अरसे से वहाँ हैं, कहिये कि ब्रिटिश-राज्य के जमाने से, और सीमान्त भाग होने के कारण उनकी प्रवृत्तियाँ बहुत पहले से इस

बारे में सावधान रही हैं। आपको शायद मालूम न हो कि नागाओं की भाषा की लिपि रोमन है। उनमें इंग्लिस्तान के प्रति भारत की अपेक्षा अधिक स्वदेश-भाव है। इस तरह समस्या सीधी स्वायत्तता की नहीं रहती, कुछ अधिक पेचदार हो जाती है।

हिंसा का प्रयोग अनुचित

यह कहने में मेरे मन में तनिक संशय नहीं है कि भारत की सरकार इस प्रश्न के सुलझाने में जो खुली सैन्यशक्ति का उपयोग कर रही है, उससे नागा-मन जीता नहीं जा सकता है। हिंसा का प्रयोग वह फल नहीं ला सकता है, जो सिर्फ अहिंसा से सम्भव है। इसीसे स्वायत्त-भाव से वंचित करने की बात की नहीं जा सकती, स्वयं भारत सरकार कर नहीं सकेगी। फिर उस स्वायत्तता को कूटनीतिक तरीकों पर हम बाँधने-घेरने का प्रयत्न करें, तो उससे स्थिति अस्पष्ट बन जाती है। ज्यादा-तर होता यही है। किन्तु यदि वातावरण में विश्वास हो, तो अन्त में अपनी स्वायत्तता पाकर भी कोई करेगा क्या? आगे-पीछे उसे जान पड़ेगा कि मेल और समर्पण में ही श्रेय है। यह समर्पण-भाव कूटनीति के द्वारा किसी स्वायत्तता को कटा-छटा बनाने की कोशिश से तो कभी आ नहीं सकता। लेकिन भारत सरकार को सीमान्त पर अपनी सुरक्षा का भी ध्यान रखना होता है। बीच में एक स्वतन्त्र और स्वायत्त खण्ड को रखने से दूसरी दिक्कतें पैदा हो सकती हैं। ये सब सम्भाव-नाएँ भारत सरकार को पूरे विश्वास से काम लेने में असमर्थ बना देती हैं।
लेकिन विनोबा अब वहाँ पहुँच तो रहे हैं। वे सरकारी आदमी नहीं हैं और देखना है कि क्या होता है।

२०७. **सुरक्षा की दृष्टि से नागा-प्रान्त को मजबूत और कसा रखने की आवश्यकता इतनी प्रखर है कि वहाँ अहिंसात्मक तरीकों के प्रयोग के लिए बहुत अधिक अवकाश नहीं है। चीनी और पाकिस्तानी एजेण्ट नागाओं को बराबर भड़काते रहते हैं। ऐसी स्थिति में कौन-से अहिंसात्मक साधन ऐसे हो सकते हैं, जिनसे नागा-जाति को पूरी तरह अपने साथ चलाया जा सके और वे देश की रक्षा में एक ढाल बनकर काम कर सकें?**

भारत के प्रति उनमें स्वदेश-भाव हो

—कसा और मजबूत आप किसे मानेंगे? मैं समझता हूँ कि सेनाएँ वहाँ बड़ी तादाद में बिठा देने से सही मजबूती नहीं आ जाती। मजबूती जो भीतर से आती है, वह पक्की होती है। अगर विदेशी शक्तियों के एजेण्ट वहाँ काम कर रहे हैं,

तो निश्चित है कि खुला सैन्य-प्रहार वह नहीं है। यह काम यदि रुक सकता है, निष्फल हो सकता है तो तभी, जब वहाँ के लोगों के मन इस बारे में स्पष्ट सचेत हों और अनुकूल संकल्प से भरे हों। अगर नागाओं में भारत नाम के प्रति अभी कोई भावना नहीं जगी है, वे नाग-शब्द के साथ उठते और उसीके साथ जीने-मरने को तैयार हैं, तो उन्हें यह दीख आना चाहिए कि भारत का पक्ष इससे दूसरा नहीं है। उन्हें अनुभव होना चाहिए कि नागा-शब्द का गौरव और गर्व सुरक्षित ही नहीं, बल्कि उन्नत होता है, जब कि भारत साथ देता और साथ लेता है। या तो यह हो कि भारत के प्रति उनमें स्वदेश-भावना और समर्पण-भावना पैदा हो। यह भावना किसी राजनीतिक या सामरिक प्रयत्न से नहीं हो सकती; सेवा द्वारा ही कभी जागेगी, तो जागेगी।

इस मजबूती के बिना फिर सेना-फौज से बनायी हुई बाकी मजबूती अन्त में कच्ची ज़मीन पर खड़ी साबित हो, तो विस्मय नहीं मानना होगा।

मैंने आपको पहले कहा कि भारत एक उदार भावना और उदात्त जीवन-नीति का नाम था। राजनीतिक सत्ता और एकता पर वह भाव निर्भर नहीं था। जो अंश उसमें थे, मानो स्वतः थे, किसी विधान या कानून के जोर से नहीं थे। यह भारत हजारों बरसों से जीता आया है। यह भारत कोई निराकार और अनिर्दिष्ट अमूर्त नहीं था, इतिहास और भूगोल में वह साकार और समर्थ बना दीखता था। आज राजनीतिक हो जाने के कारण दृष्टि हमारी कुछ ऐसी बन गयी है कि जब तक सीमा-रेखा पर पक्की हथियारदार और काँटेदार बाड़ की पाँत न हो, तब तक देश का अस्तित्व, देश की आत्मा ही खतरे में लगती है। जब अहिंसा से राजनीति चलेगी, तो जान पड़ेगा कि इन सीमान्त-प्रदेशों में बसे हुए लोगों के मनोभावों के अर्पण से देश अधिक स्थायीभाव से सुरक्षित बनता है, दूर-दराज की राजधानी से भेजे गये सैनिकों के दस्तों से सुरक्षित नहीं बनता। जन-मन का विश्वास जीतना आना चाहिए, यदि राजनीति को सफल होना है। यह तब हो सकता है कि राजनीति नीति में प्रधान हो और राज में गौण हो। नागाओं में वह भारतीय भाव नहीं पैदा हो सकता है, यह मानना गलत है। यदि धर्म की और सेवा की भूमिका से हम उनके पास पहुँचेंगे, तो वह भाव सहज उनमें उगता भी जा सकता है। आखिर भारतीय धर्म या हिन्दू-धर्म अमुक मतवाद तो है नहीं, जो किसीको टक्कर दे या टक्कर में आये। वह नागाओं के देवी-देवताओं और जातीय विश्वासों को ज्यों-का-त्यों समा ले सकता और उन्हें आदर दे सकता है। सच्ची मजबूती वही होगी, जो उस भाँति प्राप्त की जायगी और तब नागाओं की शूर-वीरता स्वयं भारत के आश्वासन का कारण होगी। जिसमें अब संकट दीखता है, उसी

में सुरक्षा दीख पड़ेगी। मुझे सचमुच मालूम होता है कि राजपद पर यदि कांग्रेस न जा बैठती, तो इस तरह का असली काम करने का अवसर वह पा सकती थी। अब भी कोई जमात ऐसी खड़ी हो, तो समस्या कुछ सुगम बन सकती है।

केरल में कम्युनिस्ट-मताग्रह

२०८. केरल में पहली कम्युनिस्ट-सरकार बनी थी। क्या आपकी राय में उसने सचमुच कुछ ऐसे काम किये, जिनको लेकर कांग्रेस को उसके विरुद्ध एक मोर्चा संगठित करना पड़ा और जिस-तिस तरह उसे राज्य से हटाना पड़ा?

—कम्युनिस्ट मताग्रही न हो, तो कम्युनिस्ट किस बात का? केरल की सरकार न तो सर्वसम्मति से सरकार थी, न भारत के शेष प्रान्तों के अनुकूल थी। एक अकेले राज्य में तनिक बहुमत से बनी हुई वह केरलीय कम्युनिस्ट-सरकार थी। अतः ऐसा सम्भव ही न था कि वह अपने दल या मत को मजबूत बनाने का अवसर खोती या वैसे काम किये बिना रह जाती। यह तो नागरिकता के आधार पर बनी सरकार ही हो सकती है, जो मानव-हित से अतिरिक्त किसी मत-पक्ष की ओर झुकी न हो।

मेरा मानना है कि यदि लोक-चेतना प्रबुद्ध हो, तो ऐसी काररवाइयाँ स्वयं अपने को हरातीं हैं। फिर जो कांग्रेस का दूसरे दलों के साथ संयुक्त मोर्चा बना और नये चुनावों में नयी सरकार आयी, तो वह राजनीतिक बलाबल का प्रश्न था। इसमें तात्कालिक दिलचस्पी से अधिक की सामग्री नहीं थी।

२०९. केरल में कम्युनिस्ट-सरकार को उलटने के लिए कांग्रेस ने जो मुस्लिम-लीग से गठबन्धन किया, क्या उसे आप कांग्रेस की अपनी असाम्प्रदायिक नीति के प्रतिकूल और इस प्रकार एक खतरनाक उदाहरण नहीं मानते हैं?

—मैं किसीको प्रेम और सहकार के अयोग्य नहीं मानता। लेकिन राजनीतिक गठबन्धन स्वार्थ तक परिमित रहते हैं। उनका समर्थन मेरे मन में इसलिए नहीं है कि वे बेहद अधूरे होते हैं। ऐसे गठबन्धन की क्षमता को अपने-आप में मैं जीवन के लिए आवश्यक एक लोच और लचक का प्रमाण मानता हूँ और राजनीति के खेल के लिए यह विशेषता बड़े काम की सिद्ध होती है।

सिद्धान्त आदमी के द्वारा चलता है, और सिद्धान्त की तरह आदमी कोई कटा और अलग नहीं हो सकता। इस व्यवहार की दुनिया में यह कुशलता का लक्षण है कि वक्त पर हम दुश्मन से भी बना ले जायँ। लीग अपने नाम से ही मुस्लिम है, कांग्रेस का दावा असाम्प्रदायिकता का है। मुझे स्वयं भी प्रिय नहीं है कि असाम्प्रदायिकता को साम्प्रदायिक के साथ समय पर समझौता करके ऊँचा उठना

पड़े। लेकिन कुल मिलाकर यह परिणाम कि कम्युनिस्ट दूसरी बार चुनकर नहीं आ सके, कांग्रेस को अपने लिए जीत की बात ही मालूम होगी। व्यावहारिक राजनीति के सम्बन्ध में यह मानना कि वह सिद्धान्त की रेखा पर चलती या चल सकती है, भ्रम में रहना है। मेरे मन से तो यह बात कि कांग्रेस में वैसी राजनीतिक व्यवहार-कुशलता है, विशेष अभिनन्दन और प्रशंसा की नहीं बन पाती है। इससे सिद्धान्त की श्रद्धा कुछ अधिक होती, तो यह मुझे प्रिय होता।

कांग्रेस-मुस्लिम-लीग गठबन्धन

२१०. केरल में मुस्लिम-लीग के साथ गठबन्धन करके क्या कांग्रेस ने यह सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार नहीं कर लिया है कि साम्प्रदायिक दलों को राजनीति में भाग लेने का अधिकार है और यदि भाग्य साथ दे, तो चुनाव लड़कर वे भी शासन पर पहुँच सकते हैं? ऐसी स्थिति में जब केन्द्रीय सरकार साम्प्रदायिक संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाने अथवा उन्हें कानूनी रूप में निरुत्साहित करने के लिए कदम उठाने की सोचती है, तो क्या वह एक विडम्बनाजनक स्थिति पैदा नहीं करती?

—लेकिन इन दोनों निर्णयों के बीच समय का अन्तराल जो है। क्या राजनीति अपने आज को किसी कल से बँधा रख सकती है? जब लीग से गठजोड़ हुआ था, तब वह उचित रहा होगा, ऐसा कहकर कांग्रेस यदि उससे आज अपनी छुट्टी माने और साम्प्रदायिक दलों को चुनाव में न आने देने का निश्चय करे, तो उसे कौन रोक सकता है? निस्सन्देह उससे स्थिति में बुद्धि-भेद पड़ता है और संस्था की साख बढ़ती नहीं है। कांग्रेस यदि लोगों के मनों में से कमजोर बनती जा रही है, तो यह बहुत कुछ इस कारण है कि किसी श्रद्धा की रीढ़ उसमें नहीं दिखाई देती है। लोगों को यह नहीं लगता कि साम्प्रदायिकता को गिराने और साम्प्रदायिक दलों को चुनाव में अनुपयुक्त ठहराने की बात सिद्धान्त में से ही आयी है; ऐसा भी लगता है कि आत्म-रक्षा के लिए सूझी एक युक्ति है। जो हो, राजनीतिक दल को उसके अतीत से बाँधा नहीं जा सकता है। और कांग्रेस को इस सम्बन्ध में आगे के लिए यदि स्वतन्त्र माना जाय, तो अनुचित न होगा।

प्रान्तों के आपसी झगड़े

२११. प्रान्तों में परस्पर काफी मनमुटाव चले आते हैं। बिहार-बंगाल, बंगाल-आसाम, गुजरात-महाराष्ट्र आदि के पारस्परिक झगड़ों के बारे में सभी जानते हैं। आपकी दृष्टि से इस प्रकार के झगड़े राष्ट्रीय चेतना के परिचायक हैं अथवा भावी राष्ट्रीय विघटन के?

—स्वदेश, स्वराष्ट्र, स्वजाति, स्वराज्य आदि शब्दों में जब स्व पर ज्यादा ज़ोर पड़ने लग जाता है, तो देश, राष्ट्र जाति, राज्य आदि शब्द भी झूठे और बाधक बन जाते हैं; मानव-चेतना के उत्थान में वे सहायक नहीं रहते। स्व का परमअर्थ उत्सर्ग में है, यह भाव जिस क्षण हवा में से लुप्त हुआ, उसी क्षण से मालूम हुआ कि हमारे पास जो कुछ अपने नाम पर था, वह सब उलटा और झूठा हो गया। स्व पर ज्यादे जोर रहे, तो स्वराष्ट्र भी मानवता की राह में रोड़ा बन जानेवाला है। भारत की राष्ट्रीयता अगर स्वोत्सर्गी नहीं, स्वार्थी होती है तो अनिवार्य है कि नीचे अन्य सार्वजनिक स्तरों पर भी वही संकुचनशील भावना काम कर निकले। स्वाग्रही राष्ट्रीयता वह तेजाब नहीं है, जिससे स्वाग्रही जातीयता या साम्प्रदायिकता घुलकर सबहल हो जायँ। वह तो यज्ञधर्मी भावना है, जो हर स्तर और हर संज्ञा को अपनी जगह उचित और परमार्थ में संगत बना देती है। छोटी सामूहिकता केवल बड़ी सामूहिकता के सामने से झुक ही सकती, सिर्फ वह अपनी शक्ति को बढ़ाने की चुनौती ही वहाँ से प्राप्त कर सकती है।

राजनीति शक्ति पर नहीं, नीति पर टिके

इसलिए अन्तःप्रान्तीय, अन्तर्भाषीय झगड़े-झमेले यदि दूर होंगे तो तब, जब कि उच्चस्तरीय राजनीति को भी हम शक्ति-द्वन्द्व के अखाड़े से हटाकर नैतिक भावना-सम्पन्न बना सकेंगे। यदि राष्ट्र पर गर्व उचित है, तो फिर गर्व ही औचित्य पा जाता है और किसी भी सहारे को लेकर वह खड़ा हो सकता है। एक संज्ञा से दूसरी संज्ञा को काटने का रास्ता एकदम गलत है। ऐसे पुरानों की जगह नये अहंकारों को जन्म मिलता है, जिनको फिर काटने और गिराने की ज़रूरत हुआ करती है। नाना संज्ञाओं और अस्मिताओं को परस्पर पूरक बनाकर चलने की नीति यदि हम अपना सकें, तो मालूम होगा कि भाषाओं की विविधता या प्रदेशों-प्रान्तों की अपनी-अपनी विशेषता परस्पर को सम्पन्न करती है, विपन्नता का कारण नहीं बनती। वह नीति जब पास नहीं होती, तो वैविध्य हमको गलत लगता है और एकता की जगह एकरूपता का मोह हममें होने लग जाता है। यह एकरूपता अहंकार का ही आग्रह है और इसमें से आतंक और हिंसा का अवलम्बन उचित और आवश्यक हो आता है।

फूट के तत्त्व समूची राष्ट्रनीति में

मैं मानता हूँ कि देश में यदि फूट के तत्त्व हैं, तो वह समूची राष्ट्रनीति में ही पड़े हुए हैं और वहींसे अपना सिंचन प्राप्त करते हैं। यह निश्चित मान लेना चाहिए

कि नीचे के गुटवाद पर हम प्रहार करें और ऊपर राजनीति में उस द्वन्द्ववाद का आधार रखें, तो यह चल नहीं सकता है।

बेरूबारी

२१२. बेरूबारी के विषय में केन्द्रीय सरकार ने जो निर्णय लिया, उसकी आप प्रशंसा करते हैं अथवा उसे राष्ट्रीय हित एवं प्रशासन-सम्बन्धी सहज नीति के विपरीत मानते हैं? क्या सचमुच नेहरूजी को अधिकार था कि वे देश के एक टुकड़े को विदेशको दे देने-सम्बन्धी समझौता देश की पूर्व-सम्मति के बिना कर सकें?

—मैंने इस प्रश्न का अध्ययन नहीं किया है। अधिकार यदि प्रधानमन्त्री का नहीं, तो किसका माना जा सकता है? यदि पाकिस्तान के अधिनायक से आमने-सामने बात हो और नेहरू मुकाबले में भारत की ओर से आत्म-निर्णय (डिलीवर गुड्स) नहीं कर सकते हों, तो क्या यह देश के आत्मगौरव को बढ़ानेवाली बात होगी? एक बात मैं अवश्य मानता हूँ। वह यह कि अहिंसा को समग्र में अपनाना एक बात है, खण्ड में इन-उन अवसरों के लिए उस नीति के अधीन भावुक और उदार होना बिलकुल दूसरी बात है। नेहरू अंश में अहिंसा अपनायेंगे और उसीको समग्र में अपनाने से बचेंगे, तो मुझे लगता है, खता खायेंगे। राजनेता को व्यक्तिगत भावुकता से बचकर चलना चाहिए।

९

सरकारी कर्मचारियों का प्रश्न

सरकारी नौकर

२१३. भारतीय प्रशासन के सामने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, वह है सरकारी नौकरों का। उनकी संख्या सीमा से बाहर बढ़ चुकी है और किसी भी समय वे किसी विशेष दल अथवा शक्ति का आश्रय पाकर सरकार की मुट्ठी से छूट सकते और इस प्रकार बात की बात में सामयिक सरकार को उलट सकते हैं। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए अभी ेछे हुई सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल के बारे में अपना अभिमत प्रस्तुत करें।

—अभिमत इसमें क्या होना है, हड़ताल वह फेल हो गयी। लेकिन हुई, इससे अवश्य एक चेतावनी मिल जानी चाहिए। आज ही के अखबार में पण्डित नेहरू का वक्तव्य है कि कांग्रेस दिल्ली का पार्लियामेण्टरी चुनाव अगर हारी है, तो इस कारण कि इस क्षेत्र में सरकारी नौकरों की संख्या अधिक थी और उन्होंने जन-संघ का साथ दिया था।

वफादारी पैसे और सत्ता के जोर से नहीं मिलेगी

सरकार को यह समझना छोड़ देना चाहिए कि पैसे के जोर पर वफादारी जीती जा सकती है। जितना उसका दारोमदार पैसे पर और सत्ता पर रहेगा, कांग्रेसी सरकार सब कुछ कर-धरकर भी लोगों के मनों से उतरती जायगी। यहीं से गम्भीर चेतावनी प्राप्त हो जानी चाहिए। कांग्रेसी नेताओं को और सब राज-नीतिक दलों के नेताओं को इस चेतावनी में से यह सबक सीख लेना चाहिए कि असली शक्ति जन-मन में बसती हैं। और जन-मन में पैठे बिना राजकीय बाहुबल से यदि कोई दल बलिष्ठ बनता है, तो उसका गर्व टिकनेवाला नहीं है, बल्कि गिरकर चूर-चूर हो जानेवाला है। निश्चय ही नेहरू से दिव्य और पराक्रमी पुरुष भारत के पास आज शायद दूसरा नहीं है। लेकिन उनके रहते जो कांग्रेस के नीचे की धरती पोली हुई जा रही है, इसमें यही कारण है कि अब वैयक्तिक

प्रतिभा और पराक्रम की शक्ति से काम नहीं चल सकता है, उसमें सेवा-भक्ति का भी समावेश आवश्यक है। उद्भट शूर-वीर आज की परिस्थिति के लिए अधूरा और नाकाफी है। आज अधिक सहयोगी, विनम्र और निरहंकारी वीरता की आवश्यकता है। वैसी कुछ स्निग्धता शासक-मानस में स्थान नहीं पाती, तो सरकार के लोग ही सरकार को उलटा देनेवाले बनें, तो विस्मय नहीं है।

सरकारी नौकरों की निरन्तर बढ़ती संख्या

२१४. सरकारी कर्मचारियों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या को क्या रोका नहीं जाना चाहिए? सरकार जितना सरकारी उद्योगों का विस्तार करती जाती है, मुझे लगता है कि वह सरकारी कर्मचारियों की मुट्ठी में स्वयं को बन्द करती जाती है। यह स्पष्ट दीखता है कि सरकारी कर्मचारियों की कार्यक्षमता में तेजी से गिरावट आयी है। क्या इसका भी कारण उनकी संख्या-वृद्धि ही नहीं है? इतनी बड़ी कर्मचारी-संख्या के उचित राष्ट्रीय सदुपयोग के लिए आप क्या सुझाव प्रस्तुत करते हैं?

—शासन बढ़ता है, तो उतना ही स्वावलम्बन घटता है, यह निरपवाद मान रखना चाहिए। शासन अपने कर्मचारियों की संख्या बढ़ाते जाने में अपना विस्तार मान सकता है। लेकिन यह शरीर की स्थूलता ही उसकी कर्म-शक्ति के लिए बाधा होगी और यह सारा बढ़ता हुआ बोझ एक दिन उसे ले डूब सकता है।

मजूर-हजूर के द्वैत का विस्तार घातक

सोशलिज्म के नाम पर जो सरकार अपने हाथ-पाँव सब क्षेत्रों में फैला लेना आवश्यक और उचित समझती है, उसको जानने की आवश्यकता है कि इस तरह सरकार से सीधे तनख्वाह या लाभ न पानेवाला आदमी सरकार के समर्थन से छुट्टी पा जाता है। तब उसके बल का योग सरकार के पास नहीं रहता। शासन इस तरह सिर्फ तनख्वाहदारों के बल चलता है, प्रजाजन का बल उससे छूट जाता है। यदि सारी जनता शासन की अंगोपांग बनकर काम करे, तो इसमें शासन को कितना न लाभ होगा! यह तब हो सकता है, जब शासन आत्मानुशासन का रूप लेता जाय। तब वेतनभोगियों की फौज बढ़ाने की आवश्यकता भी न होगी और प्राइवेट सेक्टर भी पब्लिक सेक्टर जैसा और जितना काम कर निकलेगा। सोशलिज्म के सूत्र से चिपटकर जब हम हर आदमी को मुनाफाखोर मानकर उससे किनारा लेते और व्यापार-व्यवसाय को अपने हाथ में लेते हैं, तो इस बारे में असावधान हो जाते हैं कि मुनाफाखोरी कहीं स्वयं सरकार के अन्तरंग में तो नहीं उतरती जा रही है! सबसे भयंकर मुनाफाखोरी वह है, जो कानूनन है और सरकारी

है। मुनाफाखोर को दस तरह से रोका जा सकता है। लेकिन राज्य उस पर तुल आये, तो मुनाफाखोरी मानो सारे समाज के लिए धर्म ही बन जाती है। ऐसी अवस्था में पैसे का मूल्य उचित से आगे बढ़ जाता है और मानवीय सद्गुण की कीमत पर पैसे की प्रतिष्ठा होने लगती है। आज यही हो रहा है और ऐसा मालूम होता है कि बेरोजगारी को दूर करने का उपाय अधिक नौकरियाँ निकालना और नौकरियाँ बाँटना है। सरकार स्वयं एम्प्लायर और मालिक होती है तो फिर लोगों का सम्बन्ध उसके साथ वही हो जाता है, जो मजूर-मालिक का है। मजूर-हजूर में हित-विरोध देखा जाता है और उसी हित-विरोध में शासन के कर्मचारी स्वयं शासन की जड़ काटने लग सकते हैं। व्याधि के मूल में यह भ्रमभरी धारणा है कि शासन वह उत्तम है, जो सब जगह शासन करता है। इसके विरोध में सच यह कि उत्तम शासन वह है, जिसको लगभग शासन करना ही नहीं पड़ता है। शासन का सनातन आदर्श यही था।

शासन की सर्व-व्यापकता

इधर नये द्वन्द्वात्मक विचार ने मानो इस आदर्श को बदल डाला है। यही वामांगी विचार है, जिससे सरकार का लवाजमा बढ़ता ही जाता है। यदि हम यह कल्पना कर सकते कि ईश्वर की तरह राज्य एक दिन सर्वव्यापक हो जायगा, तो वह शुभ होता। लेकिन वह सर्वव्यापकता यदि शासन को मिल सकती है तो तभी, जब कि उत्तरोत्तर वह आत्मानुशासन के रूप में सबके अपने-अपने पास पहुँच जाय। शासन की सूक्ष्मता उस प्रकार की व्यापकता को सिद्ध कर सकती है। लेकिन आज जो उसे स्थूल और दृढ़ बनाते जाने का रवैया है, उससे वह व्यापक तो क्या बनता, उलटे दलीय, बल्कि गुट्टीय बनता जा रहा है। बहुत आवश्यक है कि मूल दर्शन हमारा बदले और शासन अनुशासन में परिणत होना सीखे। अनुशासन का रूप यदि शासन लेगा, तो हर आदमी काम उसका ही करता जान पड़ेगा, यद्यपि वेतन न लेकर वह कुछ अपनी ओर से राज्य को कर ही देगा। उपयोगी नागरिकों की संख्या जितनी बढ़ेगी, शासन का अनुत्पादक काम उतना ही घटेगा और इस घटी पर अव्यवस्था नहीं दिखाई देगी, बल्कि सुख-चैन बढ़ा दिखाई देगा।

स्वावलम्बन और श्रम-निष्ठा का अभाव

वैश्य नागरिक का अविश्वास और नौकर वैतनिक का विश्वास कुछ बढ़िया प्रतिफल नहीं दिखा सका है। यदि औसत आदमी को हम विश्वास से लें, उसकी

सूझ-बूझ को अवसर दें और केवल समाज में अपरिग्रह आदि मूल्यों की प्रतिष्ठा कर दें, तो हम देखेंगे कि देश का कारोबार बढ़ रहा है, लेकिन उसके कारण सरकार का भार और दबाव बिलकुल नहीं बढ़ रहा है। इस तरह सरकार के लिए अवसर हो आता है कि वह सांस्कृतिक आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान दे सके और प्रशासन की इल्लत उसके सिर कम रह जाय। सूझ-बूझ का उपयोग यदि हो सकेगा, तो नाना प्रकार की कुण्ठाएँ उत्पन्न न होंगी जो फिर अपराध की शकल में फूटा करती हैं। दफ्तरबाजी कम हो जायगी और लाल-फीता लम्बा न होगा। यह सचमुच बड़ी अस्वस्थ प्रवृत्ति है कि जिससे सरकारी दफ्तर, सरकारी खर्च, सरकारी स्कीमें और फाइलें बढ़ती ही जाती हैं। और हर आदमी सरकारी शरण की तलाश में सेक्रेटरियट के आस-पास मँडराने में कुशल-क्षेम देखता है। अफसरी यदि लोक-जीवन के केन्द्र में हो जाय, तो अनुमान किया जा सकता है कि उसका कितना अस्वास्थ्यकर प्रभाव चारों ओर पड़ता होगा। भ्रष्टाचार ठीक यहीं से पनपता है। स्वावलम्बन और श्रमनिष्ठा आदमी की छूट जाती है। असहाय होने पर ही आदमी श्रमोत्पादन करता है, अन्यथा जब तक बस हो, वह जोड़-जुगत में ही लगा रहता है।

मैं नहीं समझ सकता कि स्थिति का कोई कारगर उपाय है, सिवा इसके कि राज्य-संस्था के विषय में, उसकी आवश्यकता और उसके कर्तव्य के बारे में, हम सही दर्शन प्राप्त करें और जीवन के सम्पूर्ण वृत्त में राजनीति को ही फैलने और छाने न दें। उसके महत्त्व को यथावश्यक सीमा में ही सीमित मानें।

२१५. रूस में जन-जीवन के प्रत्येक अंग की जिम्मेदारी सरकार ने अपने ऊपर ले ली है और वहाँ सरकार का लवाजमा निश्चित रूप से ही बहुत अधिक बढ़ा हुआ है। फिर भी भारतीय सरकारी कर्मचारियों का-सा गैर-जिम्मेदाराना आचरण शायद उनमें नहीं होता और वे बराबर अपनी सरकार और राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पित रहते हैं। यदि सरकार के फैलते जाने को ही दोषी आप मानते हैं, तो रूस की इस परिस्थिति के पीछे कौन-सा कारण काम कर रहा है?

राजा का प्रजा में फैलना

—शासन का शासित पर, राजा का प्रजा पर फैलना एक चीज है। उसी शासन का शासित में, राजा का प्रजा में फैलना उससे बिलकुल अलग चीज है। रूस आदि देशों में जो फैलाव हो रहा है, वह दूसरी प्रकृति का है। वे सीधी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हैं और इसलिए अनिवार्य पाते हैं कि लोक-जीवन से अभिन्न बनें। इसी चर्चा में शायद मैंने आपको पहले कहा भी था कि केन्द्रित होने पर भी

शासन-व्यवस्था वहाँ बहुत अन्तर्विकेन्द्रित होती जा रही है। दूसरे शब्दों में केन्द्रीकरण उत्तरोत्तर कार्मिक से नैतिक बनता जा रहा है। भारत में वहाँ से अन्तर यह है कि डिमोक्रेसी के नाम पर पूरी जिम्मेदारी सीधे अपने कन्धों पर से टालने का अवसर मिल जाता है और यह भी समझ लिया जाता है कि चुनाव पाँच-छह वर्ष के लिए जिम्मेदारी लाता है, आगे फिर देखा जायगा। इस तरह राज्य का बढ़ा हुआ लवाजमा प्रजा पर फैलता है, प्रजा में नहीं। इसलिए वह समाधान नहीं, संकट का अनुभव देता है। रूस-चीन देश में ऐसे लोग बहुत कम हैं, जिनको यह मालूम नहीं है कि उन्हें क्या करना है। सबके पास सात-आठ घण्टे का काम है और पोलिटिकल कैरीयर कोई वहाँ आसान चीज नहीं है, शायद और सब कामों से मुश्किल काम है।

दबाव अन्तरंग हो

सरकार फैले और इतनी फैले कि समाज से भिन्न न रह जाय, तो यह इष्ट तभी आ सकेगा, जब शासन अधिकाधिक अनुशासन बनता जायगा। आज भी सर्व-व्याप्त सत्ता के रूप में ईश्वर को माना जाता है। लेकिन उस श्रद्धा और अनुभूति के कारण क्या कोई अपने को अ-स्वतन्त्र अनुभव करता है? ऐसी व्यापकता तन्त्र और विधान को एक प्रकार की सूक्ष्मता भी देती जाती है। इस अर्थ में तो सरकार को व्यापक होते ही जाना चाहिए। इसीलिए कहा जाता है कि सरकार का काम उत्तरोत्तर कार्मिक कम होते जाना चाहिए, नैतिक ही रहते जाना चाहिए। तब सरकार बोझ के मानिन्द नहीं रहेगी, जो ऊपर से दबाता है, हवा के मानिन्द रहेगी कि जिसका दबाव है अवश्य, पर हम तनिक भी अनुभव नहीं करते हैं। ऐसा अन्तःकरण की ओर से पड़नेवाला दबाव लोगों को स्वकीय मालूम होगा, परकीय अनुभव नहीं होगा। बल्कि उस अन्तरंग दबाव के परिणामस्वरूप वे अपने को सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र अनुभव कर आयेंगे, परतन्त्रता का भाव उनसे एकदम दूर हो जायगा। जो मनमाना आचरण करते हैं, विश्लेषण द्वारा आप पाइ-येगा कि वे अपने को स्वस्थ और स्वतन्त्र अनुभव नहीं कर पाते। भार-हीनता की स्थिति मनुष्य के लिए स्वाभाविक स्थिति नहीं है, उसको बर्दाश्त करने के लिए बड़े अभ्यास की आवश्यकता होती है। भार जब सब अपने भीतर अन्तःकरण के रूप में अवस्थित हो जाता है, तो वही पवित्र और शक्तिशाली होता है। उससे आदमी में वजन पड़ता है, आदमी पर वजन नहीं आता। सरकार वह उतनी ही समर्थ और स्थायी होगी, जो इस सूक्ष्म व्यापक भाव की दिशा में बढ़ेगी और अपने कर्म-तन्त्र को भार से भारी बनाते जाने के मोह से छूटेगी। जब सरकार

स्वयं में तन्त्र बनकर; मानो समाज से अलग, उसीके दिल-दिमाग का काम करने की सोचती है, तो उसके परिणाम में लोक-जीवन दिल-दिमाग से हीन होकर निश्चेतन और जड़ बन जाता है। जनता की सूझ-बूझ सूखती है और वह राज्य-निर्भर होने के सिवा और कुछ भी सोच नहीं पाती। जनता से छीनकर सोचने और करने का काम जब राज्य अपने हाथ में लेता है, तब जनता अपने को बेकार अनुभव करती है और काम में उसे अगर लगना पड़ता है, तो उसे बेगार का काम मानती है। बहुत कुछ करने-धरनेवाली भारत सरकार से जाने-अनजाने कुछ उसी तरह की स्थिति बनती जा रही है। जनता नीचे बौखलायी रह जाती है और जो करती, पैसे के नाते करती है। अन्यथा उसमें काम की सूझ-बूझ नहीं है।

कम्युनिस्ट शासन में लोक-पक्ष प्रधान

कम्युनिस्ट शासन शायद जन-योग की आवश्यकता और अनिवार्यता को अधिक अनुभव करता है। इसीलिए वहाँ स्वयं दल में लोक-पक्ष शासन-पक्ष से प्रधान बना दीखता है। नेहरू वाली कांग्रेस में वह स्थिति नहीं है। कांग्रेस दल का लोक-पक्ष मूच्छित और अविद्यमान जैसा माना जाता है।

२१६. **क्या कर्मचारियों की हड़ताल को आप सत्याग्रह मानते हैं? क्या आप कर्मचारियों को हड़ताल करने का अधिकार देते हैं और सरकार को भी यह अधिकार देते हैं कि यदि वह नापसन्द करे, तो हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगा दे?**

यह हड़ताल सत्याग्रह नहीं थी

—नहीं, सत्याग्रह वह हो नहीं सकता, जो टूट जाय। वेतन को लेकर मान लीजिये कि हड़ताल हुई। तो सत्याग्रही हड़ताल वह तब मानी जायगी, जब वेतन का मान जीवन-निर्वाह की दृष्टि से निश्चित रूप से इतना कम हो कि वह काम के प्रति न्याय ही न करने देता हो। सत्याग्रही वेतन लेकर भरपूर काम करना चाहता है, पर चिन्ताग्रस्तता के कारण कर नहीं पाता। इन कारणों से किया गया असहयोग, यानी हड़ताल, फिर बीच में कैसे टूट सकती है? इसमें धन के निमित्त से अपने कर्तव्य-पालन की ही आकांक्षा है। सत्याग्रही में यह प्रेरणा यदि होगी, तो वह कभी झूठी नहीं पड़ सकती, क्योंकि इसमें स्वयं मालिक या सरकार का हित समाया हुआ है। जहाँ हित-विग्रह हो, उस भूमिका पर हठ या मोह में की जानेवाली हड़ताल सामने का बल अधिक और अपना बल कम अनुभव करते ही बिखर कर बैठ जायगी। सत्याग्रही हड़ताल के साथ यह दुर्घटना नहीं घट सकती। और नहीं तो जहाँ से हड़ताल की मूल प्रेरणा आयी होगी,

वह व्यक्ति अकेला मैदान में डटा रहेगा। अधिक सम्भव यह है कि उसका सत्याग्रह विनम्र और सविनय होने के कारण अन्त में मालिकों को दिखा आये कि यह व्यक्ति स्वयं उनके हितों को ध्यान में लेता है और व्यर्थ उनको क्षति पहुँचाने की कोई स्पर्धा उसमें नहीं है। लेकिन मालिकों के मन में ऐसा अन्तर आये कि न आये, सत्याग्रही अपनी भावनाओं के सम्बन्ध में निश्शंक होता है। मालिकों के प्रति स्नेह और विनय का भाव शक्ति देता है कि वह अडिग रहे, बीच में टूटे नहीं। कर्मचारियों की हड़ताल में स्पष्ट ही यह तत्त्व विद्यमान न था। होता तो उसका अन्त उतना निराशाजनक न होता।

अधिकार का प्रश्न

अधिकार का बँटवारा नहीं हो सकता। पागल अगर माने कि सब अधिकार उसका है, तो उसको कौन रोक सकता है? अधिकार के क्षेत्र में यदि कुछ व्यवस्था आती है तो वह कर्तव्य-भावना की ओर से आती है। अधिकारों के बीच निपटारे के लिए सीधा उपाय ताकत है। अधिकार की दृष्टि ही है कि जिसके अन्तिम परिणाम में सर्व-निर्णायक बनकर युद्ध को आना पड़ता है। उसमें जीते सो सही, हारे वह गलत। इस तरह अधिकार की चर्चा कभी विवाद से खाली नहीं होती और ताकत की तराजू पर उसका अन्त होता है।

सर्वोपरि मूल्य गुणात्मक

जिससे स्थिति में आश्वासन आता है, व्यवस्था को सहारा मिलता है, वह मर्यादा और कर्तव्य का प्रश्न है। माना जाता है कि जिसके अधिकार पर सीमा नहीं है, वह राजा है। इसकी चर्चा राजनीति-शास्त्र में बहुत मिल जायगी। न्याय-तन्त्र के ऊपर कोई बैठा न हो, तो उसका संचालन कैसे हो? अगर यह ऊपर बैठनेवाला ही न्याय के नीचे हो, तो मानो न्याय का यन्त्र हिलने लग जाता है। इसीलिए मानव-जाति हमेशा एकआध व्यक्ति को, नहीं तो देवता को, पैदा करके अपना काम चला पाती है, जिसको निर्भ्रम और निर्भ्रान्त मानना पड़ता है। उसी परम्परा में सब अधिकार आज सरकार में अधिकृत मान लिये गये हैं और शेष के लिए बस कर्तव्य रह जाता है। इसलिए सरकारों के पास तोप, बन्दूक, बम, एटम बम वगैरह कुछ भी क्यों न हो, हम उसकी सत्ता के नीचे श्रद्धा से झुक सकते हैं। मान लेते हैं कि वह सब वैध और उचित है। मैं यही कहता आ रहा हूँ कि सरकार को इस प्रकार सर्वोपरि मूल्य ठहरा देने से बड़ा संकट कोई नहीं है। सर्वोपरि मूल्य स्वयं गुणात्मक होंगे, तब वह व्यक्ति सर्व-प्रधान और अधिकाधिक अधिकार-

सम्पन्न होगा, जो उन आत्मिक गुणों का प्रतीक होगा। क्या क्राइस्ट और मुहम्मद के आत्मिक प्रभाव की पूँजी से ही अमित शक्तिशाली साम्राज्य नहीं खड़े हो गये? इस इतिहास-दर्शन में से यह श्रद्धा प्राप्त करना हमारे लिए कठिन नहीं होना चाहिए कि भौतिक शक्ति अन्त में नैतिक शक्ति की प्रार्थिनी है। और नैतिक शक्ति की निष्ठा या सत्ता राजनीति के क्षेत्र में से लुप्त हो जायगी, तो वह धर्महीन राजनीति प्रलय लाने से अन्यथा कुछ नहीं कर सकेगी।

माने हुए अधिकार खतरनाक

अधिकार का प्रश्न जो भी सुझाये, आदमी कुछ प्रकृत अधिकार भी रखता है। जीने का अधिकार वही मौलिक अधिकार है। आदमी बीमारी या निकम्मेपन से अपने को मार लेता है, तो यह उसका अपना काम है। स्वस्थ हो और काम करना चाहता हो, फिर भी उसे जीने के लाले पड़ें, तो यह अधिकार किसी समाज या सरकार का नहीं माना जा सकता। लेकिन समाज पर से बनी हुई सरकार सदा यह अधिकार अपना मानती है। इस तरह के नाना दबावों से आदमी पहले अपराधी बनता है और फिर सरकार की ओर से जेल और कैद से आगे जाकर फाँसी की सजा तक पा जाता है। माने हुए अधिकार की शृंखला ने यह सब गजब पैदा किया है। मूल में इसके है हिंसा का अधिकार। शेर पंजे से पकड़कर खरगोश को समूचा मुँह में रख लेता है, तो हमको मालूम होता है कि यह उसका प्राकृतिक अधिकार है। प्रकृति की इसी जंगली जानकारी में से हमने मानवीय अधिकारों की सृष्टि कर दी है, जिससे हमारे बीच अभी तक जंगल कायम चला जा रहा है। इस नंगे तथ्य को जितनी जल्दी हम पहचान लें, उतना अच्छा है। तथ्य के रूप में हम उसे सहें, यह तो चल सकता है; लेकिन बड़े-बड़े कानूनी शब्दों के सहारे हम उसे सत्य मानकर सिर झुकायें और राजा को परमेश्वर मानें, यह अब नहीं चलना चाहिए।

कर्मचारियों द्वारा हिस्सा-माँग

२१७. क्या कर्मचारी को आप केवल जीने का हक ही देना चाहते हैं? पूँजीपति अथवा सरकार की बृहदाकार आय में से कर्मचारियों की अपने हिस्से की माँग को आप न्यायसंगत नहीं मानेंगे? आज की मजदूर-मालिकसम्बन्धों की स्थिति प्राचीन काल के गुलाम-मालिकों की-सी नहीं है? आज का मजदूर कर्तव्य और अधिकार दोनों में बराबर का हिस्सेदार स्वयं को मानता है। उसके इस दावे को

आप कितनी दूर तक स्वीकार करते हैं और कहाँ तक आप मालिकों को विशेष और ऊपर का स्थान देने के पक्ष में हैं?

—हिस्सा-माँग का विचार मेरी दृष्टि में जूठा विचार है। मैं उस स्थिति को सही समझता हूँ, जहाँ मैं आधा नहीं, सब अपना मानता हूँ और इसी तरह आधा नहीं, सब दूसरों का मानने की इच्छा रखता हूँ। भाग-बाँट दुनिया में तभी सफल हो पायी है, जब कोई एक है जो कहता है कि अच्छा, जिस तरह से हिस्से तुमने बाँटे हैं, मुझे मान्य हैं। ऐसा नहीं होता, तो उस बाँट-बँटवारे में से झगड़े-फिसाद शुरू होते हैं और खून-कत्ल हो जाते हैं।

आदमी के पास जीने से आगे कुछ भी और हक नहीं पहुँचता। पूरी तरह जीने में ही सब हक आ जाता है। जीना होने से ज्यादा है। मिट्टी है; लेकिन वह जीती नहीं है। जीना वहाँ से शुरू होता है, जहाँ आदमी देने की सोचने लगता है। लेने की वासना जीने की कमी का प्रमाण है। वह होने के तल तक गिर आए जीवन का प्रमाण है। हिस्सा-बाँट की धारणा भी अस्तित्व-संघर्ष के तल की है। अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से पहले की। स्ट्रगल फॉर एक्सिस्टेन्स जैविक है, मानवीय का आरम्भ आत्मदान और प्रेमदान से होता है।

चाह की तीक्ष्णता, जीवन की न्यूनता

मजूर मालिक से क्यों कम चाहे? लेकिन मालिक के लिए यह सम्भव हो सकता है कि वह बाप होकर अपने लिए बेटे से कम चाहे। चाह की यह तीक्ष्णता जीवन की न्यूनता का प्रमाण है। जीवन-सामर्थ्य का लक्षण ठीक इससे उलटा होता है। वह ऋषि, जो भिक्षा से काम चलाता है, क्या मजदूर से गया-बीता नहीं है? फिर उसके चरणों में धनपति माथा झुकाता है तो क्यों? केवल इसलिए कि वह लेना नहीं चाहता है। इतिहास में क्या कारण है कि एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो महापुरुष समझा जाता हो और इसमें कारण उसकी धनाढ्यता रही हो। हम जब समान बँटवारे और समान अधिकार की बात उठाते हैं, तो जाने-अनजाने आर्थिक और स्वार्थिक विचार से चकरा रहे होते हैं। एक सुन्दर शिशु के पास क्या नहीं है? माँ-बाप के प्यार में से सभी कुछ उसे मिल जाता है। खुद उसे लेने और पाने का पता भी नहीं होता।

मालिक-गुलाम, मिलमालिक-मजूर

मालिक-गुलाम के बीच वही रिश्ता है, जो मिल-ओनर और मिल-मजूर के बीच है, मुझे यह स्वीकार नहीं है। पहले रिश्ते में भावना की गुंजाइश है, दूसरे में हिसाब से हटने का अवकाश नहीं है। मैं दूसरे रिश्ते को ज्यादा खतरनाक मानता

हूँ। इसका शोषण इतना सूक्ष्म है कि वहाँ अत्याचार है, इसका भी भान नहीं हो पाता। मोहम्मद साहब ने मांस-भोजन को सह लिया, लेकिन सूद-ब्याज को हराम ठहराया। इसमें मैं गहरी अहिंसा-भावना देखता हूँ। मालिक-गुलाम के रिश्ते की हिंसा ऊपर सतह पर दिखाई दे आती है। मिलोद्योग वगैरह में यह वर्गीय हिंसा इतनी व्याप्त हो जाती है कि मानो अन्तःकरण की पकड़ में नहीं आती। उसको देखने और दिखाने के लिए सामाजिक विचारकों और दार्शनिकों की जरूरत पड़ती है। किसी आवेश में उन दोनों को समान कह देने से नहीं चलेगा। आधुनिक अर्थ-चक्र के द्वारा बने हुए रिश्तों में भावना है नहीं, इसलिए केवल भावना के द्वारा उस हिंसा का उन्मूलन भी नहीं हो सकेगा। शोषक जैसे अरुचिकर और उससे भी घृणाभरे शब्द हमको आगे नहीं ले जायँगे। यह तो वर्ग-विद्वेष की बारूद होगी, जो फटाव पैदा कर सकती है, बनाव और विकास जिसमें से नहीं निकलेगा। भावना को भीतर रखकर उसके गहरे विश्लेषण और अवगाहन में जाना पड़ेगा, तब कहीं अर्थ के मूल में हम जन और श्रम की प्रतिष्ठा कर सकेंगे। सिर्फ वर्गों के उठाने-गिराने और अदलने-बदलने से मूल्यों की मौलिक क्रान्ति नहीं हो सकती।

हिसाबीपन नहीं, ट्रस्टीशिप-भावना

लाभ के न्यायपूर्ण समान वितरण का काम तो करना ही होगा। बल्कि यदि पूंजी से श्रम को लाभ का अधिक भाग मिले, तो इस तक को उचित और सम्भव बनाना होगा। ऐसे प्रयोग हो निकले हैं, जहाँ श्रम के प्रतिनिधि को डाइरेक्टर के तौर पर रखा जाता और व्यवस्था के विचार में उसके समानुपातिक सन्तुलन का ध्यान भी किया जाता है। आर्थिक स्तर पर समानता और न्याय के प्रयोग हर जगह किये जा रहे हैं और यह शुभ है। लेकिन हिसाब पर बहुत अधिक आधार डाल देने से नहीं चलेगा। एक महाजन गाँव में बैठता है और देखते-देखते आस-पास सब उसके मकान हो जाते और वह मालामाल हो जाता है, तो किस मन्त्र के जोर से? वह मन्त्र यही हिसाब है। समाज में सुख-चैन यदि बढ़ेगा, तो आपस में हिसाबी भावना को दृढ़ और मजबूत करने से नहीं बढ़ेगा, बल्कि विश्वास की भावना को दृढ़ और मजबूत करने से बनेगा। हिसाब के काम में वैश्य जितना दक्ष और सिद्ध है, वह दक्षता श्रमिक अथवा नैतिक में भी डाली जाय, यह जरूरी नहीं है। अगर संशय का वातावरण होगा, तो इस हिसाबी वृत्ति को बहुत ऊँचा स्थान मिल जायगा और सब शक्ति उसके हाथ आ रहेगी। हिसाबी नैपुण्य सच में तो वैश्य-वृत्ति के ही अनुकूल है और उसीके पास रहे, तो कोई हर्ज की बात नहीं है। चाहिए

केवल यह कि सारे समाज की आबहवा में यह भर जाय कि पैसा परिग्रह है। तब पैसेवाला उसके प्रति अपने को सिर्फ थातीदार (ट्रस्टी) ही मानेगा, उसके प्रति भोगी और मालिक बनकर नहीं चल सकेगा। समाज के मूल्य और समाज की प्रबुद्धता ही यह घटित न होने देगी। इसलिए जब कि आज के जमाने में लाभ की राशि के वितरण के बारे में न्याय और समानुपात के विचार को मैं शुभ मानता हूँ, तब यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि बँटने के लिए कोई लाभ की राशि रहती है; तो यही अपने-आपमें एक भूल का परिणाम है। सब सहयोग करनेवाले जीयें और अधिकाधिक पूरे तौर पर जीयें, इससे अधिक और आगे लाभ का प्रश्न कहीं रह ही नहीं जाना चाहिए। जीने से अधिक और अतिरिक्त कोई लाभ दुनिया में है, इस मिथ्यापवाद का अन्त हो जाना चाहिए। वह लाख रुपया, करोड़ रुपया आखिर किस काम का, जो स्वयं जीवन को खिलाता नहीं है, बल्कि संकुलित और संकीर्ण करता है। लाख से करोड़ और करोड़ से अरब बनाने की भूख बनी है तो इसलिए कि हमने उसको उपलब्धि मान रखा है। लेकिन अगर इससे लोकमत का सहारा छूट जाता है, तो जिन्दगी पर वह सब बोझ और परेशानी लेना किसीके लिए रस का विषय नहीं रह जायगा। यह धनार्जन का इन्सेटिव अधूरा और हल्का इन्सेटिव है। जीवन की भाषा का जब सही इन्सेटिव प्राप्त होगा, तो वह उससे कहीं बढ़कर साबित होगा और अरबों-खरबों की सम्पत्ति पैदा कर दिखाकर भी उस प्रेरणा से चलनेवाला कर्मवीर अपरिग्रही और कर्मशील बना रहेगा। वह कभी न अपने ऊपर भारी पड़ेगा, न दूसरों पर ही भारी पड़ सकेगा। वह सहयोगी, सज्जन और साधारण ही बना रहेगा। उसकी सम्भावनाएँ कभी चुकने और समाप्त होने की आवश्यकता में न पड़ेंगी। असामाजिकता का प्रवेश उसके व्यक्तित्व में न आयेगा और न भोगाचार, न दम्भाचार उसमें देखा जायगा। हिसाब के जोर से जिस मान-मर्यादा को हम आग्रहपूर्वक अपने बीच में निश्चित करेंगे और कानून के जोर से जिसकी सुरक्षा और पहरेदारी रखने का आडंबर होगा, उसमें से मानवता का यह प्रस्फुटन कभी-कभी सिद्ध न होगा। इसलिए व्यवस्था और हिसाब की ओर से आने के बजाय उसे ट्रस्टीशिप-भावना की दिशा में से आना चाहिए। तब उसमें से सम्पूर्ण सुफल निकल सकेगा।

कल्पना का भी मूल्य

२१८. मैं तो यह बात मीठी और असम्भव कल्पना ही मानता हूँ कि एक हिसाबी पूंजीपति शुद्ध थातीदार बन सकेगा और अपने कर्मचारियों के साथ एक बाप का-सा हार्दिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा और कभी उनके शोषण के लिए अपने हाथ-

पर नहीं फैलायेगा। आदर्श की दृष्टि से हम ऐसा सोच सकते हैं, पर व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जा सकता। प्रश्न को यदि इस दृष्टि से रखें कि नागरिकों की आय में सौ और लाख रुपया महीना जितना फर्क क्यों हो और क्यों न कानूनन स फर्क को घटाकर सौ और हजार तक निर्दिष्ट कर दिया जाय, तब आप क्या कहना चाहेंगे? जहाँ तक भावना का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ जितना ध्यान पूँजीपति की भावना का रखा जाना चाहिए उससे कम कर्मचारी की भावना का यदि रखा जायगा, तो क्या यह अन्याय नहीं होगा?

—मैं कल्पना के भी मूल्य को खोना नहीं चाहूँगा। श्रद्धा के बिना गति नहीं है, विकास नहीं है।

सेठ और मुनीम

हिसाब में से अवश्य यह थाती की भावना नहीं निकलेगी। लेकिन समाज का मूल्य यदि और जब अपरिग्रह हो सकेगा, तो अनिवार्य होकर यह भावना पूँजीपति के पास पहुँचेगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। दो-एक करोड़पति मेरे भी मित्र हैं। मैंने कभी उनके हाथ में पैसा नहीं देखा है; उनके कर्मचारियों में दूसरी-तीसरी श्रेणीवाले के पास पैसा रहा करता है। पूँजीपति इतना अधिक पति होता है कि मुनीम नहीं होता। तिजोरी की चाबी और बही-खाते मुनीम के पास रहते हैं और वह सब बोझ मुनीम का सिर-दर्द माना जाता है, पूँजीपति उससे उत्तीर्ण रहता है। मेरी समझ में नहीं आता कि समाज अगर स्वस्थ हो, तो वैश्य का भी स्थान ऐसे मुनीम का क्यों नहीं बन सकता? मुनीम थातीदार के सिवा क्या है? सेठ के बारे में यह थातीदारी मुश्किल इसलिए मालूम होती है कि लगता है, वह मनचाहा खर्च कर सकता है। अगर मनचाहा खर्च करने का आकर्षण और उसकी सुविधा समाज के वातावरण में से खिच रहती है, तो क्या सेठ की स्थिति मुनीम जैसी नहीं हो जाती?

उदाहरण लीजिये। मकान आप अपने लिए बढ़िया-से-बढ़िया बना सकते हैं। चाहे तो आली से आलीशान महल खड़े कर लीजिये। लेकिन मान लीजिये कि नौकर आपको नहीं मिलता। तब वह महल ही आपके लिए भूत का डेरा हो जायगा। मान लीजिये, हवा ऐसी बनती है कि महल लोगों की निगाह में चुभने लग जाते हैं। तब आप सिर्फ इसलिए कि समाज में अपना मान रख सकें, महल छोड़कर छोटा मकान अपने लिए पसन्द करेंगे। बिड़ला ने कलकत्ते का बिड़ला-हाउस छोड़कर अपने लिए मामूली मकान बनवाकर रहना शुरू कर दिया, तो इससे समाज में उनका मान बना ही नहीं रह गया, बल्कि बढ़ गया। यह परिवर्तन समाज की

हवा में से जैसे आया, कोरी भावना में से शायद वैसे न आ पाता। मैं जब अपनी श्रद्धा की बात कहता हूँ, तो कोरी भावना पर निर्भर नहीं कर रहा हूँ। लोक-मानस के मूल्य और समाज की आबहवा बदलने की देर है कि धनपति को हठात् बदल चलना होगा। कुछ पहले हीरा-मानिक के बड़े-बड़े कण्ठे पहने जाते थे, उनमें गर्व माना जाता था। आज उन्हें कोई पहनेगा, तो मूर्ख समझे जाने का ही खतरा उठायेगा। आप लोकशक्ति के महत्त्व को कम समझते हैं, जब यह कहते हैं कि ऐसा कभी नहीं हो सकेगा। जीवन-मान में वैश्य को आप उसके उपयुक्त स्थान पर ले आइये और देखिये कि अर्थ का आतंक कैसे फुर्र हो जाता है। पूँजीवाद और राज्यवाद तो आप रखें और व्यवहार में धन के महत्त्व को हिसाब के जोर से जहाँ-तहाँ से काटकर कम करना चाहें, तो वह बात होनेवाली नहीं है।

कानून और हिसाब की समानता क्षणिक

आय में जमीन-आसमान का फर्क होना अन्याय को ही जन्म दे सकता है। उसमें से कभी कोई शुभ नहीं निकल सकता। आय पर हम व्यक्ति का पूरा हक मानते हैं और उससे बाहर उस हक की व्याप्ति नहीं देखते। जिसको चालीस रुपये तनख्वाह मिलती है, वह इकतालीसवाँ रुपया खर्च करे, तो पाप करता है। इस चालीस रुपये में अगर बच्चे के लिए दूध और पत्नी के लिए साबित साड़ी भी मोहय्या न हो सके, तो कोई परवाह नहीं है। लेकिन हक उसका आय की सीमा से आगे नहीं जाता है। इसी तरह आज एक लाख रुपये रोज से अधिक भी रुपया एक आदमी की जेब में पड़ना सम्भव है। वह इतना ही अगर खर्च करे, तो उसका यह हक माना जाता है। आय के प्रति जो यह सम्बन्ध हमने बना लिया है, उससे भयंकर अनिष्ट हो रहा है। जिसको जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त माना जाय, उससे कम आय किसीकी होनी ही नहीं चाहिए। यदि बच्चों का शिक्षण निश्शुल्क कर दिया जाय और वेतन जिन्स के रूप में मिलने लगे, तो इससे व्यवस्था में सुविधा हो सकती है। विनोबा ने एक दिन यह आवाज दी भी थी कि सरकारी कर्मचारियों के वेतन का मुख्य भाग जिन्स में मिले और फिर थोड़ा भाग जो नकद में मिलेगा, उसमें अन्तर होगा, तो उतना चुभेगा नहीं। आय का अन्धाधुन्ध होना आज के कानून में अवश्य सम्भव है, अगरचे तरह-तरह के उपाय कानून ने अवश्य रच रखे हैं। कानून की जद में रहते हुए भी पद्धतियाँ निकली हैं कि आदमी अपने परिवार पर दस-बीस-पचास हजार या अधिक भी खर्च कर सकता और शरीर पर लाखों का जेवर पहन सकता है। यानी आय को सीमित करने के सारे कानूनों के बावजूद उस सीमा को डाला नहीं जा सकता। तब यह मानते हुए भी कि आय की एक

सीलिंग होनी चाहिए, क्या वह सीलिंग कानून से लायी जा सकी है, या लायी जा सकती है? आप इधर निचाई में उसके मान को अवश्य तय कर सकते हैं, लेकिन ऊँचाई में उस निर्णय को अमल में लाना सम्भव नहीं है। दो-ढाई सौ रुपये पानेवाला सब-इन्स्पेक्टर अगर दो-ढाई सौ अपने अस्तबल पर खर्च करता दिखाई देता है, तो इसका इलाज किसके पास है? अर्थात् यह व्याधि कानून से रुकनेवाली नहीं है। समानुपातिक वितरण, वेतन-मानों के पुनर्निर्णय इत्यादि से कागज पर समाधान हुआ जान पड़ेगा, प्रत्यक्ष जीवन में वह कभी न आयेगा। इसका उपाय सिद्धान्तवादी हिसाब-निर्णय नहीं है, बल्कि अर्थ का अवमूल्यन और श्रम का उन्मूल्यन है। समाज की हवा बदलने की जरूरत है और यह कहकर कि वह भावात्मक बात हो जाती है, उसकी सम्भावनाओं को कम मानना अपने को बहकाना और अन्त में उस अस्त्र की प्रतिष्ठा बढ़ा देना होगा, जिसकी प्रतिष्ठा कम करने की आवश्यकता है। समाज में से उस इष्ट का आविर्भाव हम नहीं कर सकते हैं, तो राज्य द्वारा ही उसको लाने का उपाय बच जाता है। यह उपाय स्वयं खतरे से खाली नहीं है। इसलिए कानून की जबर्दस्ती से काम लेने का सपना ज़बर्दस्ती को अपने बीच हमेशा के लिए मज़बूत बना लेने के समान है। लगभग समानता अर्थ-क्षेत्र में होनी चाहिए, लेकिन हिसाब पर उसकी सुरक्षा का काम सौंप रखेंगे, तो खता खायेंगे। उस समानता को मनों में दृढ़ करना आवश्यक होगा। राज्य के कानून और हिसाब से बनायी गयी समानता हमारे बीच से किसी क्षण भी लुप्त हो जा सकती है और राजकीय स्तर पर आय की अतिशयता आत्म-समर्थित वस्तु बन सकती है। यह जोखम उठाने की सलाह मैं आपको कभी न दूँगा।

शरणार्थी-समस्या

२१९. भारत-सरकार ने जिस रूप में शरणार्थी-समस्या को सुलझाया, वह बहुत श्लाघ्य है। पर क्या आप मानते हैं कि शरणार्थी-समस्या सुलझ चुकी है; क्योंकि अब भी पूर्वी पाकिस्तान से बराबर हिन्दू-शरणार्थियों का प्रवाह भारत की ओर बहा चला आ रहा है। आप इस समस्या को सुलझाने के लिए क्या सुझाव पेश करते हैं?

एक चुनौती

—शरणार्थियों के लिए जिस तत्परता से यहाँ व्यवस्था की गयी है, उसकी प्रशंसा सब लोग करेंगे। लेकिन उस समस्या को स्वीकार किया गया, मुझे इसीमें आपत्ति

है। सरकार तो इस सम्बन्ध में इसके सिवा कुछ भी और नहीं कर सकती थी। लेकिन सरकार से ऊपर होकर चलनेवाला कोई सात्त्विक और सांस्कृतिक तत्व ऐसा क्यों न हो सका, जो उसको उस रूप में स्वीकार न करता और मानो चुनौती-पूर्वक पूछता रहता कि वह क्या कारण है, जिससे हिन्दू पाकिस्तान में और मुसलमान हिन्दुस्तान में सुरक्षापूर्वक नहीं रह सका, या नहीं रह सकता? इसको क्यों गृहीत मान लिया गया कि जिन लोगों को अपने धाम-धरती से उखड़कर आना पड़ा है, वे फिर वहाँ वापस जा ही नहीं पायेंगे? यदि कभी दुनिया में न्याय जैसी चीज को आना और बसना है, तो इस तरह की वारदातों को राजनीतिक हाथों में छोड़कर रह जाना मानव-जाति के लिए कापुरुषता का लक्षण होगा। धार्मिक, जातीय अथवा प्रादेशिक आवेशों को लेकर अगर बड़े पैमाने पर राजनेता जन इसी तरह लोगों के दुःख-दुविधा का कारण बने रहे जा सकते हैं, तो विश्व के लिए युद्ध से त्राण पाने का मार्ग नहीं निकलनेवाला है। उपाय है कि हर देश में मानव-जाति के अन्तःकरण को प्रदीप्त किया जाय और सरकारें मानव-मूल्यों का खण्डन और उल्लंघन न कर सकें।

एक अप्राकृतिक अवस्था

यह समस्या अब भी कष्ट दे रही है। इसका कारण यह है कि विभाजन के समय हमने एक अप्राकृतिक अवस्था को अपने बीच स्वीकार कर लिया था। वह अप्राकृतिक स्थिति पेट में पड़े अपच खाद्य के समान रह-रहकर हमें कष्ट देती ही जायगी।

मुझे सचमुच विस्मय है कि गांधी के देश इस भारत में उनका उत्तराधिकारी ऐसा कोई क्यों न हुआ, जो मानव-जाति की ओर से इस कष्ट और इस चुनौती को अपनाता, अहिंसा की श्रद्धा में उठकर इस अप्राकृतिक समस्या को ललकार देता और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दोनों सरकारों को न्याय के सामने लाने की बात करता! वह तेज, सत्त्व या अन्तःकरण जब तक नहीं जागता है, राष्ट्रीय सरकारों की ओर से होनेवाली इन कारखाइयों को सहते और झेलते जाने के सिवा मानवता के पास कोई उपाय नहीं है। लेकिन निश्चय मानना चाहिए कि यदि विश्व की समस्त मानवता एक बिरादरी और एक परिवार है, तो उसके अन्तःकरण में ऐसी सब घटनाएँ नासूर छोड़ जाती हैं, जो मानवता के स्वास्थ्य को खाता रहता है। मुझे लगता है कि विज्ञान की प्रगति के साथ इतिहास में अब समय आया है कि समस्याएँ समस्त जगत् के दृष्टिकोण से देखी जायँ और बन्द राष्ट्रीय स्वार्थों को जो सर्वोपरि सत्ता मिल गयी है, उनके ऊपर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की

जाय। राजनीति स्वच्छंद और स्वयं निरंकुश रहकर सब पर अंकुश लानेवाली न रहे, बल्कि वह स्वयं किन्हीं मूल्यों के अधीन हो और उन मूल्यों का अंकुश राजनीति को निरंकुश न होने दे। यूनो आदि संस्थाएँ इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं करती हैं। कारण, वे स्वयं इतनी राजनीतिक और तन्त्राबद्ध हैं कि मानवता की ओर से हार्दिक अंकुश का काम नहीं दे सकतीं।

मूल में भारी दोष

शरणार्थी-समस्या एक बड़े पैमाने पर अगर सामने आती है, तो मान लेना चाहिए कि स्थिति में कोई भारी दोष है। यद्यपि तात्कालिक रूप से उन शरणार्थियों के भरण-पोषण का प्रश्न व्यवस्था पर आता है, लेकिन विचार के लिए जो प्रश्न रह जाता है, वह भरण-पोषण का नहीं है, बल्कि उससे गहरा है। वह यह है कि क्यों किसीको अपनी उस जगह से उखड़ना पड़ता है, जहाँ वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी से जमा चला आ रहा है? जब हम केवल शरणार्थियों के रहने-बसने की बात पर ही सोचते हैं, तो प्रश्न का वह मूल हमसे ओझल रह जाता है। सरकार शायद इससे आगे सोच नहीं सकती है। उसका दायित्व इतना तात्कालिक और सीमित है। लेकिन विचारक के लिए ठीक वही प्रश्न है और उसकी चुनौती का सामना उन सब लोगों के लिए जरूरी है, जो राजनीति को अपना घेरा नहीं बना लेना चाहते हैं। ●

१०

सुरक्षा, गृह-नीति, विदेश-नीति

देश की सुरक्षा

२२०. क्या आप भारत की सुरक्षा के लिए, सुरक्षा-विभाग जो भी कदम उठा रहा है, उससे सन्तुष्ट हैं? क्या आपका विचार है कि किसी भी ओर से सशस्त्र आक्रमण होने पर भारत अपनी सुरक्षा स्वयं करने में समर्थ होगा?

यह प्रश्न सामरिक नहीं, मानसिक

—कोई देश असली अर्थ में अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकता। असली अर्थ से मतलब कि सब जगह सब देशवासी जानते रहते हैं कि इस काम के लिए सरकार के पास एक खासी बड़ी फौज रहा करती है। अर्थात् देश की सुरक्षा सब जगह फौजों के बलबूते होती है, और होगी यह माना जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि फौज की संख्या स्वयं पर्याप्त बल नहीं है। बड़ी-से-बड़ी संख्या उससे अधिक बड़ी के आगे छोटी हो जाती है। फिर आजकल इतना यन्त्रीकरण हो गया है कि सेनाओं की संख्या से अधिक महत्त्व की चीज बड़े-बड़े यन्त्रास्त्रों की संख्या हुआ करती है। इस दृष्टि से भारत को आज की बड़ी शक्तियों के समतुल्य नहीं गिना जा सकता। चीन के पास निश्चय ही जनशक्ति और शस्त्रास्त्र-शक्ति अधिक है। इस दृष्टि से भारत का सुरक्षा-मन्त्रालय जितना जो करे, स्थिति की माँग के लिहाज से कम ही समझा जायगा। मुझे उन ब्यौरों में बिलकुल दिलचस्पी नहीं है। असल में शस्त्रास्त्र उतना ही काम करता है, जितना उनके पीछे संकल्प का बल रहता है। आज की भारत-सरकार भारत के लोक-मन से तद्गत नहीं है; उसकी बड़ी भाषा और बड़ी-बड़ी कारर-वाइयाँ लोक-मन के कुछ ऊपर-ऊपर से बह जाती हैं, उसके अन्तरंग मन तक उतर नहीं पाती हैं। पंचवर्षीय योजनाओं को लेकर यह स्पष्ट हो जाता है। उन योजनाओं को भारत के प्रति ही परिचित बनाने के लिए करोड़ों रुपयों की राशि स्वीकृत की गयी है! इसीमें गर्भित है कि योजनाएँ कहीं ऊँचाई से आती हैं

और फिर उन्हें नीचे उतारा जाता है। इसीलिए यह तक सम्भव बना चला आ रहा है कि बुद्धि-भेद की स्थिति का लाभ उठाकर एक ऐसा वर्ग और दल भी भारत में विद्यमान है, उससे आगे सक्रिय तक है, जिसकी सहानुभूति इस मामले में भारत से अधिक चीन के साथ कही जाती है। किन्तु राजनीतिक तल के इस बुद्धि-भेद और लक्ष्य-भेद की बात को छोड़ दें, तो आज भी भारत देश के पास वह गौरव और स्वाभिमान है, जिसके रहते यह आसान नहीं मालूम होता कि देश की सुरक्षा खतरे में पड़े। जब भी देश पर सचमुच संकट आयेगा, तो वह भीतर फूट और बुद्धि-भेद को पैदा करता आयेगा। आज के जमाने में यह बिलकुल संभव नहीं है कि सिर्फ बाहरी आक्रमण किसी देश को पस्त और पराजित कर दे। आक्रमण अन्दर से ही होने लगे हैं और असली संकट वहींसे पैदा होता है। मैं मानता हूँ कि सीमान्त पर बनी रहनेवाली सुरक्षा की आवश्यकता और वहाँ सुरक्षा-पंक्ति के रूप में तैनात सुसज्जित सेनाएँ इतनी महत्त्व की चीजें नहीं हैं, जितने महत्त्व का कि अपने घर का आँगन है। घर में फूट हो और कोई भेदिया बन जाय, तो मामूली एक खिड़की में से भी संकट आ सकता और घर को चौपट कर सकता है। उस मोर्चे पर सुरक्षा की बात मुझे अधिक महत्त्व की लगती है। अगर और नहीं तो इसी कारण कि वह मोर्चा सामरिक नहीं हैं, मानसिक है।

सेनाओं में राजनीति

२२१. क्या सचमुच भारतीय सेनाओं में अब पहले जैसा संगठन और ऐक्य नहीं रहा है? उनमें दलबन्दी, वर्गवाद तथा भ्रष्टाचार काफी बढ़ गया है। पक्षपात के कारण अयोग्य और गैरजिम्मेदार अफसरों को ऊँचे पद दे दिये गये हैं और धीरे-धीरे सेनाओं में राजनीति का प्रवेश होता जा रहा है। इस प्रकार हमारी रक्षा-पंक्ति का मनोभाव बहुत क्षीण हो गया है। क्या आप भी सचमुच मानते हैं कि भारतीय सेनाओं में उपर्युक्त हीनताओं ने स्थान बना लिया है?

—मेरा उधर ध्यान नहीं है। कायदे-कानून के अनुसार ही जिम्मेदारियों के पद पर लोग पहुँचा करें इसमें मैं कोई अर्थ और सार नहीं देखता हूँ। प्रतिभा में मुझे विश्वास करना पड़ता है और वह स्थिति, जहाँ प्रतिभा जिम्मेदारी पा और उठा ही न सके, मुझे जड़ जान पड़ेगी। वैसी जड़ता की आवश्यकता यदि बाहर नहीं है, तो सुरक्षा और सेना के कामों में भी नहीं होनी चाहिए।

मानसिक हवा

यह बात साफ है कि हवा सब जगह बहती हुई जाती है। उसी तरह मानसिक

हवा को भी रोका नहीं जा सकता है। समाज की आबहवा से फौजी क्षेत्र एकदम बन्द और बचा रहेगा, यह मानने का कोई कारण नहीं है। इससे अन्यथा मानना जी बहलाना और धोखा खाना हो सकता है। अंग्रेजों के जमाने में फौज को एकदम दूसरे ही मनोभावों में रखा जाता था। बहुत हद तक अंग्रेज इसमें कामयाब भी हुए थे। लेकिन जिस समय एक विशेष प्रकार का मनोभाव देश में यहाँ से वहाँ तक व्याप्त हो गया था, उस समय अंग्रेज शासकों को स्वयं उस सेना पर संशय होने लग गया था। बुद्धि-भेद जितना देश में व्याप्त होगा, उतना ही फौजों की वफादारी में भी दरार पैदा की जा सकेगी। सेना के मनोबल के बीच पड़ी ये दरारें बड़ी भयानक हो सकती हैं, इसका प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

एक महद्भाव की आवश्यकता

राजनीतिक, कानूनी और सरकारी रोक-थाम इस व्याधि का उपचार नहीं है। खुद सेना में दो मन हो चलें, तो उसका क्या कीजियेगा? बुद्धि-भेद की ओर से आनेवाली दरारों को बाहरी चूने-सीमेन्ट से भरा नहीं जा सकता है। आज स्वराज्य के पन्द्रह वर्ष के बाद कांग्रेसी शासन में मानो देश के पास से संकल्प की वह एकता खो गयी है। कोई एक स्वप्न, एक आकांक्षा, एक प्रण देश को थामे हुए नहीं है। पंचवर्षीय योजनाएँ स्थूल कार्यक्रम से आगे और ऊपर कोई स्फूर्ति या भाव नहीं दे सकी हैं। उन्होंने किसी श्रद्धा-संकल्प का निर्माण नहीं किया है। यह परिस्थिति अपने सैनिक-क्षेत्र में भी बिम्बित और प्रतिबिम्बित दीखे तो मुझे तनिक भी विस्मय नहीं होगा। कांग्रेस के पास और ऊँची तो क्या होगी, राजनीतिक तल की भी कोई श्रद्धा नहीं रह गयी है। एक कर्मवाद ही उसको चला रहा है। कर्मवाद संगठनवाद का ही एक नाम है और उसमें आत्मिक बल नहीं होता। इस संगठन के सम्बन्ध में कांग्रेस की जितनी शक्ति व्यय होती है, उसको देखकर ही पता लग जाता है कि वहाँ श्रद्धा की क्या हालत है। मुझे तो बेहद तत्काल आवश्यकता मालूम होती है किसी उस महद्भाव की, जिसमें देश आ जुटे और दलीय चेतना की जगह राष्ट्रीय चेतना काम करती दिखाई दे। यदि सेना में, सेना के मनोबल और मनोभावों में, कहीं तरेड़ पड़ रही है और इधर-उधर कुछ खिसकन आ रही है, तो इसका उपाय मैं मन्त्रालय के पास नहीं देखता हूँ। न मन्त्री के अदल-बदल से उस स्थिति में कोई बड़ा अन्तर आ सकता है। उपाय है तो यही कि कोई महद्भाव जागे और देश उसमें एक बना दिखाई दे। तब छोटे-मोटे बुद्धि-भेद उस उभार में ऐसे छिप जायेंगे कि जैसे कभी थे ही नहीं।

भारतीय आत्मा में विश्वास

वह महद्भाव कैसे कहाँ से आये, यही एक बड़ा प्रश्न है। सृष्टि यज्ञ में से होती है और किसी महान् उत्सर्ग में से ही वह महद्भाव जागेगा। हम जीने के छोटे-मोटे साधनों से चिपटे हैं, यश, पद और मान चाहते हैं। इसने लोगों और दलों को क्षीण और जर्जर कर दिया है। कुछ ऐसा यदि घटित हो, जिसमें से दीख पड़े कि स्वेच्छा से अपनाये गये कष्ट और मरण के मुकाबले सुख-भोग तुच्छ है, आराम-चैन का जीना ही जैसे उस महा-जीवन के प्रकाश के आगे मन्द और मिथ्या है, तो उस उदाहरण से फिर एक नया भाव पैदा हो सकता है। कभी शहादत की माँग हममें जागी थी। उसकी जगह आज पद-पदवी की माँग ने ले ली है। असम्भव और अशक्य नहीं है कि फिर हमें पहचान हो कि यह सब मिथ्या है, जीवन के अभ्युदय का लक्षण तो जीवन को हथेली पर रखकर किसी संकल्प में मृत्यु को भेटने चल पड़ना है। भारतीय आत्मा में मेरा विश्वास है और मैं मानता हूँ कि ऐन वक्त पर अवश्य उसमें से कुछ ऐसी ज्वाला निकलेगी, जो संकट के बादलों को काट देगी और गृहयुद्ध को असम्भव बना देगी।

असत् का मोह

मानना चाहिए कि कांग्रेस की यह दुरवस्था कि वह राजनीतिक दलमात्र रह गयी है, निमन्त्रण है उस परिस्थिति के लिए, जहाँ बुद्धि-भेद बढ़ता जाय और अन्त में नकार-निषेध के हाथ शक्ति आ जाय। असत्य स्वयं प्रबल नहीं हो सकता। सत् की ही निर्बलता है, जो बल को हठात् असत् की ओर भेज देती है। इस दर्शन को आत्मसात् कर सकें, तो जान पड़ेगा कि असत्य से मोर्चा लेने की सोचना समय गँवाना है। सत् की शक्ति पर विश्वास करके उसको अपने भीतर जगाना असत् को परास्त और पराभूत करने का सीधा-सा उपाय है। राज्य के लवाजमे का मोह, वहाँ की संगठित सत्ता और सैन्य का भरोसा, स्वयं में सत् नहीं है। उस आधार पर किसी असत् को जीता जा सकेगा, यह थोथे मोह से बना विभ्रम-मात्र है।

भारत में सेनाशाही नहीं

२२२. क्या आपको इस बात का भय नहीं है कि कहीं सेनाओं में ऐसी स्थिति पैदा न हो जाय कि वे और देशों की तरह राजनीतिज्ञों का उच्छेद कर अपना शासन स्थापित करने की सोचें और भारत में प्रजातन्त्र के स्थान पर सेनाशाही का आधिपत्य हो ?

—नहीं, भारत में मैं वह स्थिति नहीं मानता हूँ। मुझमें अभी तक उस भय ने तनिक भी स्थान नहीं पाया है। अभी पण्डित नेहरू अपने में, अर्थात् कांग्रेस संघटन से स्वतन्त्र, लोक-कल्पना में एक स्थान रखते हैं। कल्पना के नीचे भावना में अवश्य वह स्थान मन्द और फीका पड़ता जा रहा है। ऐसा हो सकता है कि भावना नीचे सूख जाय और अधर कल्पना में ही कोई नाम कुछ देर टिका रह जाय। तब जल्दी ही वह नाम गिर भी जाता है। नेहरू कांग्रेस-नेता के रूप में और प्रधानमन्त्री के रूप में देश में शीघ्रता के साथ जैसे भावना की भूमिका पर से अपना स्थान खोते जा रहे हैं। उस अभावात्मक स्थिति में क्या होगा, कहना मुश्किल है। पर सेना में से नेतृत्व और विद्रोह आने की बात का डर मुझे नहीं है।

गृह-नीति और विदेश-नीति

२२३. भारत की गृह-नीति और विदेश-नीति में आप कितनी दूर तक एक सामंजस्य अथवा एक स्पष्ट विरोध देखते हैं? क्या सचमुच ये दोनों नीतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं, जैसा कि इन्हें होना चाहिए?

दोनों में विमुखता है

—हाँ, मुझे कुछ उनमें विमुखता दीख पड़ती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र हमारे लिए अभी आकांक्षा का क्षेत्र अधिक है, जिम्मेदारी का उतना नहीं है। इसलिए उस क्षेत्र में सुविधा है कि हम अपने सिद्धान्तवाद को लेकर पहुँचें; हम जो हैं, घर में रहें; और बाहर कुछ अधिक दीखें। मामूली तौर पर ऐसा हम सबके साथ हुआ करता है। साधारणता को घर में रोकते हैं, विशिष्टता की छाप बाहर लाना चाहते हैं। जवाहरलालजी आखिर दुनिया के आदमी हैं। सामान्य जीवन की इस नीति से उत्तीर्ण नहीं हैं, तो शिकायत कैसे की जा सकती है? लेकिन भारतीय जीवन की आदर्श-नीति और व्यवहार-नीति इससे उलटी रही है। किसी-का प्रभाव और यश जो भी हो, भारतीय भीतर और बाहर अकिंचन बनना-दीखना चाहता है।

अपने घर में शासन के पराक्रम का उपयोग करने के बारे में हम उतने सावधान नहीं हैं कि जिस सावधानी को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आवश्यक बतलाते जाते हैं। बल का भरोसा यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ठीक नहीं है, तो अन्तर्विभागीय या देशीय क्षेत्र में भी वह गलत हो सकता है। विदेश-नीति और गृह-नीति को जब चलना एक ही सिद्धान्त से है, तब शायद गृह-नीति में उस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विदेश-नीति की अपेक्षा अधिक ही दृढ़ बनना चाहिए।

इसका मूल नेहरू में

नीति से अलग व्यवहार में भी उसका प्रभाव पड़ता है। भारत के राज-दूतावास जीवन-मान की दृष्टि से भारतीय गिरस्ती से कहीं ऊँचे स्तर पर रखे जाते हैं! यह अन्तर महत्त्वपूर्ण न भी होता, यदि वह दृष्टि के ही अन्तर का सूचक न होता। असल में पण्डित नेहरू का सद्भाग्य ही इस सम्बन्ध में दुर्भाग्य बना माना जा सकता है। गरीबी नाम की चीज को वे जानते ही नहीं। हमेशा उन्हें उस वस्तु को विचारपूर्वक जानना होता है। इसलिए गरीबी का सम्बन्ध उनके साथ हमेशा दूरी का और रोमान्स का बना रहता है। वे इतने अधिक कुलीन और सम्पन्न बनकर रहे हैं कि अनुभव से कभी जान नहीं पाये कि गरीब क्या होता है और गरीबी क्या होती है। शायद ही कोई विश्व में ऐसा नेता हो, जिसके साथ विधाता ने इतनी दया या अदया बरती हो। हरएक को गरीबी के कुछ अनुभवों का प्रसाद मिलने ही दिया जाता है। नेहरू इससे इतने वंचित रह गये हैं कि उसका प्रभाव उनके राजनेतृत्व में भी दिखाई दे, तो कुछ भी अचरज की बात नहीं है। किसान और मेहनती उनकी निगाह में बहुत गौरव प्राप्त कर सकता है, इतना कि वह सेव्य और पूजनीय का स्थान पा जाय। पर जब वही उनके ड्राइंग-रूम की कुर्सी पर बैठा दीखे, तो उनके कुलीन रक्त को, उसमें बसी सौन्दर्य-भावना को ठेस लगे बिना रहती नहीं है। अर्थात् उनमें और शेष में एक दूरी रहती है, जिसको रोमाण्टिक और बौद्धिक सम्बन्ध से पूरा किया जाता है। नेहरू की यह अन्तर्गत विच्छिन्नता और विभक्तता भारत के राजनीतिक इतिहास पर अपनी छाया डालती देखी जा सकती है। यदि विदेश-नीति और गृह-नीति में सम्पूर्ण एकता नहीं है, तो वह एकता स्वयं नेहरू के व्यक्तित्व में कहाँ है? मुझे आवश्यक लगता है कि वह एकता हो और भारत का राजा ही नहीं, बल्कि प्रजा भी, दोनों समग्र श्रद्धा में एकसूत्र बने चलें, बाहर वही कहें जो भीतर करने की सामर्थ्य रखें। गांधी वही थे और भारतीय जीवन और राजकारण में भी वही घटित कर दिखाना चाहते थे। लेकिन नेहरू गांधी के कितने भी वशवर्ती रहे हों, वे समर्पित और अनुगत व्यक्ति न थे। यह कि उनको अपने स्वयं के आधार पर राजनेतृत्व बनाने का अवसर नहीं आया, गांधी के हाथों जल्दी नेता हो गये, इसमें नेहरू का दोष नहीं है। लेकिन परिस्थिति की इस त्रुटि का प्रभाव तो वस्तुस्थिति से दूर नहीं किया जा सकता है। नेहरू शायद स्वयं चाहेंगे कि किसी प्रतिबिम्बित प्रकाश में से उन्हें न देखा जाय, स्वयं अपने आन्तरिक मूल्य की अपेक्षा में ही उनका वजन माना जाय। लेकिन साधारणतया यह सम्भव कैसे हो सकता है, जब तक कि स्वयं नेहरू ही इस सम्बन्ध में आग्रही

न हों और कहने की हिम्मत न करें। गांधी गये और उनके साथ उनका दर्शन और उनका रचनात्मक कार्य भी गया। अब नये युग में नया आरम्भ होगा और गांधी के साथ चलनेवाली पुरानी चीजों को बिलकुल न बख्शा जायगा। यह यदि हो सकता, तो गांधी के साथ और नेहरू के साथ न्याय ही होता। लेकिन नेहरू के जीते-जी शायद ही यह हो सके और शायद ही देश में एक समग्रता आ सके। यह भी निश्चय है कि वैसी समग्रता आये बिना त्राण नहीं है। उसके अभाव में जो हो सकता है, वह यही कि नकारात्मक शक्तियों को प्रबलता मिले और सज्जनता का मूल्य शून्यवत् हो जाय। नीति-भेद और बुद्धि-भेद में से यह फल सामने आता जा रहा है, इस बारे में दो मत नहीं हैं।

विदेश-नीति की प्रेरणा

२२४. भारत की विदेश-नीति का आधार आप किस भाव को मानते हैं? एक महत्त्वाकांक्षा को अथवा विदेशों से अपने स्वराष्ट्रीय हितों की पूर्ति को अथवा मानव-हित को? देश की विदेश-नीति को निर्दिष्ट करते हुए हमारे प्रधानमन्त्री के मन में उपर्युक्त भावों में कौन-सा भाव प्रधान है?

—नेहरू एक हीरो हैं। उन्हें स्वयं इसका पता है। वे इतिहास की भूमिका पर चलते हैं और यह अपने को भूलने देना नहीं चाहते। मानो उनके सामने एक बहुत बड़ा दर्शक समुदाय है, जिसकी आँखें उन पर लगी हैं। उन सब आँखों के मध्य-बिन्दु होकर वे अपने पार्ट को खूबी और शान के साथ अदा करना चाहते हैं। यह प्रेरणा मुझे नेहरू के व्यक्तित्व की मूल पूँजी मालूम होती है। दूसरे नायक को अवसर है कि नाटक से छुट्टी पाकर साधारण बन जाय। लेकिन नेहरू को जिस नाटक में रहना और चलना पड़ रहा है, वह साधारण नहीं है, काल से सीमित नहीं है। मानो वहाँ तो अनन्त इतिहास का पट खुला है। मानव-जाति के तमाम नायक नेहरू की निगाह में प्रत्यक्ष रहते हैं और नेहरू स्पर्धा में किसीसे उन्नीस नहीं हो सकते। इसलिए उनके पास अवसर नहीं बचता है कि वे असामान्य नेहरू से एक क्षण के लिए भी सामान्य नेहरू बन सकें। उनकी विदेश-नीति पर भी इस महत्ता की छाप है। इस छाप को नेहरू के व्यक्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता है। कारण, नेहरू ने अपने स्वत्व को इस ऐतिहासिक कर्तव्य के समक्ष सर्वथा स्थगित रखना स्वीकार कर लिया है।

नाटक की भाषा में मैं नहीं कह सकता कि यह सब ट्रेजिक है या कौमिक। लेकिन है ऐसा मुझे अवश्य लगता है।

एशियन कान्फ्रेन्स और बांडुंग

२२५. क्या कारण है कि प्रथम एशियन कान्फ्रेन्स और बांडुंग कान्फ्रेन्स के बाद हमारे प्रधानमन्त्री ने बर्मा, मिस्र, इण्डोनेशिया आदि देशों की ओर से बार-बार कहे जाने पर भी तृतीय एशियन कान्फ्रेन्स को बुलाना समयोचित नहीं माना, जब कि कितनी ही महत्त्वपूर्ण समस्याएँ पूर्ण एशिया के सामने आयीं और हैं? क्या उनके मन में भारत एशिया का नेतृत्व करे, यह एक जो भाव पहले काम करता था, वह अब लुप्त हो गया है अथवा असम्भव दीख पड़ गया है?

—मैं राजनीतिक इतिहास का विद्यार्थी नहीं हूँ। न अपने प्रधानमन्त्री के मन के रहस्यों का संरक्षक हूँ।

गांधीजी और कान्फ्रेन्स

पहली एशियन कान्फ्रेन्स हुई, तब भारत स्वाधीन न था। शासन पर मिली-जुली सरकार थी और ऊपर वाइसराय थे। अर्थात् वह यथार्थ राजनीतिक तल पर बुलायी गयी कान्फ्रेन्स न थी। भूमिका उसकी भावनात्मक थी। आपको याद होगा कि बड़े आयासपूर्वक गांधीजी को वहाँ प्राप्त किया जा सका था और बहुत थोड़ी देर बोलकर और रहकर वे कान्फ्रेन्स से और दिल्ली से चले गये थे। जो बात उन्होंने वहाँ कही, देखने में वह कान्फ्रेन्स की प्रकृति और महत्त्व से संगत तक नहीं थी। उन्होंने बस इतना कहा कि जो आप देख रहे हैं, उसे भारत न मान लीजियेगा। भारत देखने के लिए आपको यहाँ के देहातों में जाना है। इस बात के अलावा जैसे उन्होंने कुछ कहा ही नहीं। इसका आशय है कि राजनीतिक यथार्थ के तल पर उस कान्फ्रेन्स को फलोत्पादक उन्होंने नहीं माना था, उसकी भूमिका को भावनात्मक स्वीकार किया था।

बांडुंग का असल लाभ

बांडुंग राजनीतिक ही नहीं, कूटनीतिक यथार्थता पर हुआ सम्मेलन था। उसका फल अमुक अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धन में फलित दिखाई दिया, तो उसका भावनात्मक श्रेय नेहरू को और वास्तविक लाभ चाऊ-एन-लाई को मिला कहा जाता है। बांडुंग की यथार्थता आगे परिस्थिति में से लुप्त हो गयी। तब उसी सम्मेलन की दूसरी बैठक बुलाना खानापूरी का काम हो सकता था। उसमें से कुछ सार्थक नहीं निकल सकता था। परिस्थितियाँ बदल गयी थीं और शक्तियों के तत्कालीन सन्तुलन में अन्तर आ गया था।

एशिया का रूप बदला

भारत के नेतृत्व का स्वप्न पण्डित नेहरू के मन में से लुप्त हो गया कि नहीं, कौन जाने, पर स्वप्न वहाँ से लुप्त नहीं हो सकता। उसका रूप अवश्य बदल सकता है। एशिया आज के दिन एक वह संज्ञा है, जिसमें राजनीतिक यथार्थता मानो रह नहीं गयी है। चीन और रूस के सम्बन्ध इतने घनिष्ठ हैं कि एशिया के नाम पर पेकिंग अपने को मास्को से दूर और भिन्न मानने की मजबूरी में नहीं हैं। न एशिया के नाम पर उसका सुदूरपूर्व के देशों पर कोई एकता का दावा माना जा सकता है। एशिया के निकटपूर्व और मध्यपूर्व के देश इस्लाम को मानते हैं और अफ्रीका के कतिपय देशों को आत्मीय अनुभव करते हैं। अरब गणराज्य में मिस्र प्रधान है, जो एशिया नहीं, अफ्रीका में है। इस तरह एशिया और अफ्रीका जैसी संज्ञाएँ अब इतिहास की द्योतक भले हों, साम्प्रतिक राजनीति को समझने में उन संज्ञाओं से कोई मदद नहीं मिलती है। ऐसी अवस्था में बांडुंग का नाम मन पर या मुँह पर लाने में आज कुछ सार नहीं है। नेहरू राजनीतिक जाग्रति का प्रमाण देते हैं, जब बांडुंग को दोहराते नहीं हैं या उसकी दुहाई नहीं देते हैं।

तिब्बत नक्शे से गायब

२२६. ऊपर आपने कहा कि बांडुंग-कान्फ्रेन्स का वास्तविक लाभ चाऊ-एन-लाई को मिला। चाऊ-एन-लाई को क्या मिला?

—बांडुंग से पंचशील प्राप्त हुआ था। भारत के मन में, न स्थिति में, कभी फैलाव की आवश्यकता रही थी; चीन की बात दूसरी थी। पंचशील के बाद चीन-भारत में तिब्बत के सम्बन्ध में एक सन्धि हुई और उसका सन् '५९ में आकर परिणाम यह हुआ कि तिब्बत दुनिया के नक्शे पर से गायब हो गया! स्युजरेण्टी शब्द के सहारे यह सब इसलिए हो सका कि पंचशील में भारत शामिल था और चीन के प्रति वह विश्वासी हो सकता था, बोल नहीं सकता था। चीन की स्थिति स्पष्ट ही भारत से इस सम्बन्ध में भिन्न है। आकांक्षा और स्थिति दोनों दृष्टियों से चीन को फैलाव चाहिए और अहिंसा के उपाय में उसे विश्वास नहीं है। बांडुंग में सम्मिलित ये दोनों शक्तियाँ परस्पर में यदि बिछुड़ ही नहीं जाती हैं, बल्कि अनबन में आ जाती हैं, तो बांडुंग को अब बीते इतिहास की ही चीज कहा जा सकता है।

२२७. दो बड़ी ताकतों के बीच एक बफर स्टेट का रहना ऐतिहासिक, कूटनीतिक एवं सैन्य-दृष्टियों से सदा युक्तिसंगत माना गया है। फिर भारत ने तिब्बत पर चीन की स्युजरेण्टी को स्वीकार करके और अपनी सेनाएँ वहाँ से हटाकर क्या बहुत बड़ी कूटनीतिक भूल नहीं की? यदि भारतीय सेनाएँ लासा में रहतीं, तब भी आपके

मत से क्या सीमा-विवाद पैदा हो सकता? या चीन इतना बड़ा कूटनीतिक दुस्साहस कर सकता?

नंगी शक्ति-नीति अशुभ

—राज की नीति को अन्तिम स्वीकार करना कूटनीतिक दृष्टि से भी कच्चा और गलत साबित हुआ न? राजनीतिक तल पर क्या होना और क्या नहीं होना चाहिए था, उसके ब्यौरे में मैं नहीं जाऊँगा। लेकिन यह कि कल तक तिब्बत था और आज वह कहीं है ही नहीं, एकदम उसका सफाया हो गया, यह बात मुझसे किसी तरह नहीं निगली जाती। बड़े हर्ष और गौरव का विषय हो सकता था, अगर तिब्बत स्वेच्छा से अपना विसर्जन करता और किसी महादेश में विलीन हो जाता। तब विश्व के लिए एक महान् उदाहरण उपस्थित हो सकता था और उसका लाभ समूची मानव-जाति को होता। लेकिन हुआ जो है, वह ठीक इससे उलटा है। आत्म-विसर्जन में से तिब्बत ने निर्वाण नहीं पाया है, बल्कि एक जबर्दस्त ताकत के जोरदार हमले ने उसको एकदम मिटा दिया है। यह विश्व के और मानव-जाति के लिए एक प्रथम श्रेणी के नैतिक संकट का प्रश्न बन जाना चाहिए था। लेकिन यदि नहीं बना, तो मैं मानता हूँ कि आज राजनीति का, और उस राजनीति में नंगी शक्ति-नीति का, ही बोलबाला है और यह शुभ-लक्षण नहीं है।

पंचशील का खतरा

पंचशील इस तरह एक खतरनाक सिद्धान्त हो सकता है। सीमा की आवश्यकता अधिकार के लिए होती है, लेकिन कर्तव्य पर ही जब सीमा आ जाती है, तो पंचशील का मानो दुरुपयोग होता है। मानव-जाति का मन एक है, यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। यह अधिक काल सम्भव नहीं रह पायेगा कि इस भूभाग में हिंसा और अत्याचार हो और सारी मानव-जाति की काया न थर्रा जाय।

अणु-युद्ध का भय अन्याय का पोषक

अभी श्री राजगोपालाचारी का एक वक्तव्य पढ़ा था। उन्होंने पते की बात कही है कि अणु-बम बन जाने से युद्ध की बात एक विभीषिका बन उठी है और सब उससे घबराते हैं। उस भय का लाभ उठाकर अन्तरंग रूप से हिंसक वृत्ति ने बल पा लिया है। कोई कुछ कर बैठता है और फिर कहीं युद्ध ही न फूट पड़े, इस डर से दूसरे लोगों को उसे चुपचाप सह लेना होता है। तिब्बत के मामले में मानव-जाति का अन्तःकरण यदि क्षुब्ध होकर भी चुप रह गया है, तो रोकनेवाली

चीज़ सचमुच अणु-युद्ध के महा-संहार की सम्भावनाएँ थीं। वह डर यदि अन्याय को पोषण देता है, तो सोचने की बात हो जाती है!

बफर स्टेट का सुभीता

बीच में बफर रहने से सुभीता हुआ करता है, मैं यह मानता हूँ। इस भाँति पक्ष-हीन छोटे-मोटे राज्य जितने भी हो सकें, अच्छा है। खतरा यही है कि कहीं ऐसे बफर दोनों ओर के षडयन्त्रों के अड्डे न बन जाया करें। यूरोप में युद्ध की ज्वालाओं के बीच ही स्विजरलैण्ड स्वतन्त्र और निष्पक्ष बना आ रहा है। मैं मानता हूँ कि स्विजरलैण्ड की इस स्थिति की उपयोगिता शान्ति के अतिरिक्त स्वयं युद्ध के लिए भी हो सकती है। यह तो आम रिवाज है कि जहाँ टक्कर लगती हो, वहाँ हानि बचाने के लिए बीच में रबर बिठा देते हैं। रबर से रगड़ और नुकसान बच जाता है। राजनीति में बफर का उपयोग है और उसका लाभ अवश्य लेते रहना चाहिए।

२२८. तब भारत की पंचशील और मेल-मिलाप की नीति क्या बिलकुल ही अस-फल नहीं रही? क्या आप भारत की विदेश-नीति की इस असफलता के कुछ कारणों पर प्रकाश डाल सकते हैं?

अहिंसा की शर्त

—भारतीय शासन जिन हाथों में है, उनके मन में किसी निश्चित और एकाग्र श्रद्धा की स्पष्टता नहीं है। मुख्य कारण मुझे यही मालूम होता है। अहिंसा स्वयं एक बड़ा आयुध हो सकती है। लेकिन इस शर्त के साथ कि वह निरपवाद हो और समग्र हो। इस शर्त के बिना अहिंसा व्यवहार में आपको पुष्ट नहीं करेगी, बल्कि नष्ट होने के निकट ला सकेगी। सज्जनता अपने आपमें काफी नहीं होती, उसको आगे बढ़कर और ऊँचे उठकर प्रबलता और प्रहार तक बढ़ना होता है, तब उसमें शक्ति आती है। नेहरू गांधी से छूटे नहीं रहे, गांधी के एकदम साथ भी नहीं रहे। इसीसे स्थिति में विषमता रहती है और नेक इरादों से किये गये काम अन्त में घाटे के बने देखे जाते हैं। यदि राजनीति में हमको अपना बल रखना है तो या तो हम अहिंसा में से एक नये बल की सृष्टि करें और उससे समर्थ बनें, नहीं तो अहिंसा के बन्धन को खुले मन से एकदम छोड़ दें। साफ हम देखते हैं कि बल से चीजें चलती हैं। या तो हममें श्रद्धा हो कि इस राजनीति को ही नया मोड़ दें और उसका कायापलट करके रख दें। भारत के पास वह श्रद्धा हो सकती थी और हो सकती है। लेकिन नेहरू के दिमाग में उसकी गुंजाइश नहीं है, तो ताकत

का खुला तर्क उन्हें अपनाना चाहिए और देश को उस भाषा में पहले नम्बर की ताकत बनाने की कोशिश करनी चाहिए। देश का समूचा उद्यम और उद्योग उसी दृष्टि से चले और डिमोक्रेसी आदि शब्दों की रोक-थाम से अपनी गति को देश मन्द न करे। आज भी जनसंघ नाम का दल खुले तौर पर शक्ति में विश्वास रखता है। शक्ति से आशय संख्या, शस्त्र आदि की शक्ति। किसी नयी नैतिक शक्ति का तो शायद उसे अनुमान नहीं है। वह अनुमान सही तौर पर स्वयं पण्डित नेहरू को भी नहीं है। ऐसी अवस्था में सही मार्ग यही होगा कि गांधी को पीछे छोड़ दिया जाय और विश्व की राजनीति जिस बहाव में है, उसके तर्क को खुले तौर पर अपना लिया जाय। विधान को तदनुकूल बनाया जाय और सारा राज्य और राष्ट्र एक सन्नद्ध छावनी के तौर पर संगठित कर डाला जाय।

अधूरे मन की अहिंसा खतरनाक

अब तक की विदेश-नीति उस लक्ष्य को स्पष्ट सामने नहीं रखती है। या दूसरा क्या लक्ष्य रखती है, यह भी साफ नहीं है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को हिंसक श्रद्धा से एक नया मोड़ देना उसका लक्ष्य हो, जैसा कि पंचशील आदि से प्रकट होता है, तब तो गांधी का मार्ग ही अपनाने के लिए रह जाता है। लेकिन अधूरे मन से उस राह पर एक कदम भी रखना खतरनाक है। व्यवहार्य यह है कि गांधी को महात्मा कहकर हम आदर्श-लोक के लिए छोड़ दें और राजनीति में भूले-भटके भी न उस नाम की दुहाई दें, न उसकी ओट लें। मैंने पहले भी कहा है कि यह जो मिश्र या ढुलमुल स्थिति है, यही संदिग्ध स्थिति है और इसीके कारण भारत कोई नवीन और प्रबल शक्ति के रूप में सामने नहीं आ रहा है। नैतिकता की बातें मुँह से करने और क्रिया में जुठलानेवाले की-सी उसकी स्थिति बन आयी है। आदर होता है उन बातों के लिए, जो सचमुच ऊँची हैं। लेकिन वही आदर शून्य रह जाता है वहाँ, जहाँ मान्यता नीति की नहीं, शक्ति की दीखती है। नीति ही स्वयं एक स्वतन्त्र शक्ति हो, इस निष्ठा को प्रकट करनेवाला भारत नेहरू से अलग भारत हो सकता है। किन्तु उन सम्भावनाओं में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

२२९. क्या आपकी राय में भारत सचमुच एक तटस्थ देश है? मिस्र और हंगरी में जो कुछ गुजरा, उसके प्रति भारत की दृष्टि और नीति में काफी अन्तर दीख पड़ता है और उसका तटस्थता की नीति का रोल खोखला नज़र आ जाता है। इस स्थिति पर आपको क्या कहना है?

पक्षोत्तीर्णता समग्र नहीं

—न्यूट्रल और तटस्थ जैसे शब्दों में मैं विशेष अर्थ नहीं देख पाता हूँ। भारत किसी पक्ष के साथ नहीं है, यह समझ में आता है। लेकिन यह निष्पक्षता इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वही एक पक्ष बन जाय। मैं समझता हूँ, जब राजनीतिक स्थिति में किसी ओर से यह तीसरा पक्ष खुल सकेगा, तो स्थिति की विकटता बहुत-कुछ कटी दिखायी देगी। श्रद्धा में से यह निष्पक्षता आयेगी, तो राजनीतिक सुविधावाद के रूप में वह नहीं प्रकट होगी; तब वह अधिक और खुली हो सकती है। जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व में वह निर्भीकता है और यही परिस्थिति के अंधेरे में एक प्रकाश की किरण बन आती है। लेकिन नेहरू भारत के प्राइम मिनिस्टर होने की हैसियत से केवल निर्भीक ही नहीं हो सकते, उन्हें स्थिति को साधना भी पड़ता है। ठीक इसी जगह उनकी तटस्थता मानो निष्पक्षता से नीची रह जाती है और उसमें लोगों के लिए अवसर रहता है कि सुविधावाद की गन्ध पा सकें। मैं मानता हूँ कि हिंसक बल में से अपनी सुरक्षा और अपना त्राण देखने से हम उत्तीर्ण हो सकेंगे, तो सच्ची पक्षातीतता प्रकट कर सकेंगे और तब आज की अन्त-र्राष्ट्रीय जिच में एक नया आयाम खोल सकेंगे। तब सचमुच जान पड़ेगा कि छावनियों में बँटी हुई दो सन्तुलित शक्तियों के बीच एक यह नयी चीज पैदा हुई है, जो किसी की कृपा पर निर्भर नहीं है और इसलिए निपटारा कर सकती है।

यूनो में छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्र मिलकर एकआध बार अपना निर्णय पार ला सके हैं और बड़ी शक्तियाँ देखती रह गयी हैं। यह अपवाद आगे जाकर नियम बन सकता है। अगर कोई एक देश, मसलन भारत देश, हिंसा के भरोसे को एक साथ खैर बाद दे देता है और अपना आन्तरिक संगठन फिर अहिंसक श्रद्धा के अनुकूल बनाने लग जाता है, तब छावनियाँ एक दूसरे के मुकाबले के लिए तुली ही रह जायेंगी, उनके शक्ति-संगठनों को उपयोग में आने का कोई अवसर ही न आयेगा। आज तो रक्त-युद्ध (हॉट-वार) के अभाव में शीत-युद्ध (कोल्ड-वार) मजे में चलता रह सकता है और स्थिति के तनाव को बराबर उलझाता और बढ़ाये चला जा सकता है। न्यूट्रलिटी और तटस्थता के पास उसको रोकने का कोई उपाय नहीं है। यूनो में मानो वे देश राजनीतिक सुविधाओं और विवशताओं के कारण स्वयं मिलकर नहीं चल पाते हैं। लेकिन यदि समग्र पक्षोत्तीर्णता से कोई चल सके, तो स्थिति सँभल जाती है और शीत-युद्ध की ओट में अनिष्ट कार्य-वाहियों को रोकने का उपाय कुछ बन जाता है। अन्यथा तटस्थता शीत-युद्ध की स्थिति से मानो कुछ लाभ उठाने के लोभ में पड़ी रह सकती है और इस तरह स्वयं शान्ति के बजाय युद्ध की सहयोगिनी हो सकती है। 'सचमुच तटस्थ' वही

देश हो सकता है, जिसे युद्धोद्यत देशों से किसी सहायता की अपेक्षा नहीं है, प्राथमिक आवश्यकताओं की दृष्टि से जो स्वावलम्बी है और इस तरह असुरक्षित नहीं है। भारत की आज वह स्थिति नहीं है और उसकी तटस्थता इस तरह न चाहने पर भी अधूरी रह जाती है।

कोरिया और कांगो

२३०. जिस भारत ने कोरिया में अपनी सेनाएँ भेजने से इनकार कर दिया था और केवल एक रेड-क्रास का दस्ता ही भेजा था, उसीने अब कांगो में हठपूर्वक अपनी बटालियनें रवाना की हैं और कांगो के नेताओं के तीव्र विरोध के बावजूद भारतीय सेनाएँ वहाँ टिकी हैं। इस स्थिति को आप भारत की नीति में एक विशेष परिवर्तन क्या नहीं मानते हैं?

—नहीं, परिवर्तन मैं इसमें नहीं देखता हूँ। पण्डित नेहरू विश्व-शान्ति में अपना पूरा हिस्सा बँटाना चाहते हैं। इसलिए ऐसे स्थलों पर जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भंग होने की आशा हो, वे आगे बढ़कर अपना और भारत के योगदान का हक मानते हैं। खुले युद्ध के बीच सेनाओं को भेजने का प्रश्न जहाँ नहीं है, वहीं वे सेनाएँ भेज सकते हैं। कांगो की स्थिति युद्ध की नहीं है। कोरिया से वह भिन्न है। कुल मिलाकर इस सम्बन्ध में नेहरू की नीति में मैं कोई विषमता नहीं देखता हूँ। विषमता जहाँ है, वह गहरा तल है। लेकिन वहाँ का संकेत मैं दे ही चुका हूँ। यदि हम हमेशा हर हालत में बातचीत के द्वारा निपटारा करने में विश्वास करते हैं, तो सशस्त्र सैन्य भेजने को आतुर हम कैसे दीख सकते हैं? इस जगह की विषमता राजनीतिक से कुछ गहरी हो जाती है और उसका सम्बन्ध श्रद्धा के तल से होता है।

अण्वस्त्रों का विरोध

२३१. भारत ने सन् '५४-'५५ में अणु-अस्त्रों के परीक्षण का घोर विरोध किया था। इस कारण तत्कालीन अमरीकी नेता नेहरूजी से कुछ नाराज भी दीख पड़े थे। पर अब भारत ने अणु-अस्त्रों के विरुद्ध अपनी आवाज को मध्यम ही नहीं, समाप्त-सा कर दिया है। ऐसा क्यों? क्या इसलिए कि वह भी अणु-शक्ति रखने-वाले छह-सात देशों में एक हो गया है और अणु-शस्त्र बनाने की उसकी सम्भावनाएँ अब स्पष्ट ही दीख पड़ रही हैं?

—इस बारे में मुझे कुछ नहीं मालूम है। शक्ति की राजनीति के व्यावहारिक कदमों पर मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिए। अणु-शक्ति के सम्बन्ध में भारत यदि

आज सुविधाजनक स्थिति में है, तो मेरे लिए यह कष्ट की सूचना होगी कि वह विधायक और रचनात्मक से अलग भी उस शक्ति का कुछ उपयोग देखता और चाहता है। मैं उस सम्भावना पर विचार नहीं करना चाहता हूँ।

आणविक अस्त्रों के प्रयोग का विरोध बौद्धिक और वर्गीय तल पर चल रहा है। राष्ट्रीय और राजनीतिक तल पर लगभग वह नहीं है। रूस-राज्य अणु-बम बनाने में चाहे अब भी लगा हो, लेकिन उससे सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे कार्यकर्ता अथक भाव से इस प्रचार में लगे रहते हैं कि इन अस्त्रों का निर्माण और प्रयोग बन्द होना चाहिए। ये दोनों बातें आप देखते हैं, एक साथ चल सकती और चलायी जाती हैं। अगर भारत सरकार इस सम्बन्ध में आज इतनी मुखर नहीं है, तो उस मौन को साम्यवादी मौखर्य से हम कम उपयोगी नहीं मान सकते। अर्थात् उसमें से कुछ विशेष अर्थ निकालना नहीं चाहिए और भारत अणु-शक्ति को बम के रूप में सामने लायेगा, ऐसी आशंका नहीं रखनी चाहिए।

विश्व-कूटनीति में भारत का स्थान

२३२. क्या आपका सचमुच विश्वास है कि भारत ने विश्व की कूटनीति में एक विशेष स्थान बना लिया है और वह विश्व की ऐसी समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो रहा है जो किसी भी समय भीषण अणु-युद्ध के भड़क उठने में चिनगारी का काम दे सकती है?

—हाँ, अवश्य भारत सहायक हो रहा है। पण्डित नेहरू के नेतृत्व में उसने मानो अनेक देशों के लिए यह सम्भव बना दिया है कि वे तटस्थता की नीति बरतें और आपस में मिलकर अमुक पक्ष के दबाव में आने से बच जायँ। एक-एक होकर अगर वे नहीं टिक सकते, तो सब एक जूट होकर यूनो में अपनी आवाज़ ऊँची अवश्य कर सकते और शायद युद्धोद्यत शक्तियों पर कुछ अंकुश ला सकते हैं। नेहरू की यह निर्भीक स्थिति लोगों के लिए बहुत बड़े आश्वासन का कारण है और सचमुच कूटनीति में नेहरू की एक जगह बन आयी है। लेकिन वह स्थान सहज ही ऐसा बन सकता था कि जिसे टिकाये रखने के लिए अपनी ओर से किसी कूटनीति की आवश्यकता न होती और वह तनिक भी राजनीतिक कौशल पर निर्भर न होता। नेहरू का या भारत का वैसा असन्दिग्ध और आत्मनिर्भर स्थान बन सका है, यह कहना मुश्किल है। बन अवश्य सकता है, लेकिन तब, जब नेहरू के मुँह के शब्द ही ऊँचे गूँजते हुए न बोलें, बल्कि उनकी आन्तरिक और वैदेशिक सब नीतियों और क्रियाओं में से समूची विश्व-राजनीति के समक्ष वह ध्वनि निकलती सुनाई दे। इसके लिए स्वयं नेहरू में एक गहरी नीति-निष्ठा की

आवश्यकता है। वह निष्ठा राजनीतिक आबोहवा को बनाने और बदलनेवाली हो जायगी, उस हवा को देख-साधकर चलने की आवश्यकता में न रहेगी।

तटस्थता सक्रिय हो

२३३. क्या आप सोचते हैं कि गुट-बन्दी और सैनिक-सन्धियों का तीव्र विरोधी होते हुए भी भारत युद्ध की स्थिति में निष्पक्ष एवं युद्ध से विलग रह सकेगा? यदि नहीं, तो वह अभी भी समय के साथी चुनने और बनाने का प्रयत्न क्यों नहीं करता? ऐसा न करने पर क्या उसे बाद में पछताना नहीं पड़ेगा?

—मैं कहता आ रहा हूँ कि तटस्थता को उठकर सत्पक्षता तक आना चाहिए। तब यह स्थिति विश्वास से पुष्ट और स्पष्ट होगी। यही स्थिति है, जो शीत-युद्ध में कुछ कारगर हो सकेगी और रक्त-युद्ध फूट पड़ने पर भी एक उत्तीर्णता पर रहेगी, उलझन में नहीं पड़ेगी। भारत के लिए असम्भव है कि वह अलग-थलग रह जाय, उस वक्त जब सारी दुनिया में आग लगी हो। आग लगने पर वह निष्क्रिय न रह जाय, इसके लिए आज ही जरूरी है कि उसकी तटस्थता सक्रिय हो। आग लगने पर दर्शक के लिए दुनिया में कोई जगह नहीं रह जाती। तब कर्मारुढ़ होना पड़ेगा। जो केवल तटस्थ हैं, वह किस क्रिया को लेकर कर्मण्य होगा? लेकिन अगर भारतीय शासन के पास अहिंसक श्रद्धा हो, तो सचमुच अहिंसा को लेकर वह पूरे तौर पर युद्ध की ज्वालाओं के बीच भी सक्रिय और कर्मरत दिखायी देगा।

श्रद्धा सकर्मक

सचमुच आरोप लगाया गया है कि भारत मित्रहीन और एकाकी बनता जा रहा है। केवल निष्क्रिय तटस्थता शायद शीत-युद्ध के दिनों में लाभकारी भी दिखायी दे, लेकिन आग भड़कते ही तटस्थ देशों की दोनों ओर से संन्दिग्ध स्थिति बन जायगी और उनका हाल बेहाल होगा। यदि उसके पास सचमुच कोई सकर्मक श्रद्धा हो, तो अच्छा यही होगा कि वह समय रहते अपने साथी को चुन ले और फिर—वह साथ निबाहे।

हलकी तटस्थता नकारात्मक

केवल तटस्थता नकारात्मक हो जायगी और आगे कोई उसका लिहाज न करेगा। निश्चित विश्वास के आधार पर वही युद्ध को मानो तिकोना बना देगी। दोनों सशस्त्र राजनीतिक शक्तियों के समक्ष उससे एक तीसरा मोर्चा खुलेगा, जो कि

मानव-नीति और मानव-जाति का मोर्चा होगा। मुझे लगता है कि तब उन दोनों युद्ध-रत शक्तियों के लिए यही प्रश्न नहीं रह जायगा कि कौन विजय पाता और कौन पराजित होता है, बल्कि इस तीसरे मोर्चे से निबटने की चुनौती भी दोनों के समक्ष होगी। उस समय युद्ध सचमुच एक असली और मानवीय युद्ध का रूप ले लेगा। अर्थात् तब युद्ध राजनीति और संस्कृति का होगा, राजा और प्रजा का होगा और उसमें से इतिहास का एक बिलकुल ही नया परिच्छेद खुल सकेगा।

वैसी पक्षोत्तीर्ण संकल्प-सिद्ध तटस्थता के लिए भारत को निःशस्त्रीकरण की हिम्मत बतानी होगी।

एक निर्दलीय गुट

२३४. भारत ने सैद्धान्तिक रूप से एक निर्दलीय गुट को संगठित किया है, पर उसे आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सैनिक-सूत्रों में परस्पर गूंथ देने का कोई प्रयास उसकी ओर से नहीं बन सका है। इस असमर्थता का आप क्या कारण मानते हैं?

भारत के खून में समन्वय अधिक, संगठन कम

—व्यावहारिक राजनीति के लिए आवश्यक है कि गठबन्धन ऊपरी सन्धियों का ही न हो, बल्कि अधिक घनिष्ठ और दैहिक हो। कम्युनिस्ट-शक्ति में आप देखेंगे कि उसके प्रभावाधीन सारा भू-खण्ड एक इकाई है। पूर्वी जर्मनी से उत्तरी वियतनाम तक आप चलते चले आइये, कम्युनिस्ट-प्रदेश ही मिलेगा। अर्थात् राजनीतिक शक्ति के लिए पड़ोसपन का उपयोग बहुत ठोस होता है। भारत की सीमाओं पर विग्रह और विरोध हो, तो भारत राष्ट्रीय से ऊपर एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में विकास नहीं पा सकता। नेटो, सीटो आदि सन्धियों द्वारा बने हुए पुंजों का बल उतना सुगठित नहीं हो सकता, जितना एकजुट कम्युनिज्म का हो सकता है। पश्चिम की शक्तियों का बिखरा हुआ रहना उनके हक में लाभकर हो सकता था, अगर प्रश्न राजनीति से ऊपर नीति के तल का होता। पर राजनीतिक और कार्मिक तल पर एक और इकट्ठे होने का बड़ा लाभ है। आज जिस प्रश्न को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, वह यह है कि क्या सेवेरेलिटी (अलग-अलगपन) एक निर्बलता ही है और उसको कीमत में देकर बनी हुई युनिटी ही क्या एक बल है? मत, तन्त्र, वाद, राज्य आदि की केन्द्रित एकता प्रस्तुत करके जो एक नया महाबल प्रकट हुआ है, क्या इसके प्रतिरोध में दूसरा इसी प्रकार का अत्यन्त केन्द्रित नियन्त्रित संगठित बल ही काम दे सकेगा? या

बल का कोई दूसरा प्रकार भी हो सकता है, जो प्रबलतर सिद्ध हो? भारतवर्ष सहस्रों वर्षों से काल के सब आघातों को झेलता हुआ यदि समर्थ-भाव से जीता चला आया है, तो इसमें कुछ दूसरे बल का प्रभाव ही देखा जा सकता है। कभी भारत एक नहीं था, न एकमत, न एक तन्त्र, न एक विधान या छत्रपति। हर प्रकार की अनेकता यहाँ रहती ही नहीं आयी है, बल्कि समादर, संरक्षण और संवर्धन पाती चली गयी है। तनिक भी किसी अनेकता को खण्डित, परास्त या अधीन करने की वृत्ति नहीं रही है। फिर भी भारत एक बना रहा चला आया है। समूचे मानव-जाति के इतिहास में एक अकेला यह भारतीय उदाहरण है, जिसकी सांस्कृतिक परम्परा अविच्छिन्न, अजस्र और अखण्ड रही है। इस उदाहरण में से यह श्रद्धा रखी जा सकती है कि अलग-अलगपन (सेवेरेलिटी) को परस्पर आदर में मिलाये रखनेवाली ऐसी भी एक प्रेम की एकता (युनिटी) हो सकती है, शायद है, जो दल-बलशाली प्रबल-से-प्रबल अहंकार से बड़ी सिद्ध हो आये। किन्तु यह बल प्रकार और कोटि में सर्वथा भिन्न है और इसमें उत्पादक नागरिक को ध्वंसक सैनिक बनाने की आवश्यकता नहीं होती है।

मेरा मानना है कि जब दो विशाल संगठन आमने-सामने मुठभेड़ में जीते हों, तब यदि यह तीसरा नितान्त न्याय, सत्य और प्रेम का बल केवल दृढ़-प्रण होकर खड़ा हो आये तो स्थिति में एकदम अन्तर ला सकता है। आर्थिक, राजनीतिक एवं सैनिक-सूत्रों से सबको गूँथ लेने का प्रयास इस जगह मानो अपने आपमें अनावश्यक हो जाता है और एक ऐसा तत्त्व प्रकट हो सकता है, जो सामरिक एकसूत्रता से दृढ़तर साबित हो। बल्कि न सिर्फ यह कि बाहरी चोटों से वह स्वयं न बिखरे, वरन् अपनी अडिगता, धीरता और कष्टसहन से प्रतिपक्षी के मनों में दरार पैदा कर दे। आप जानते हैं कि ऐसे योद्धा हुए हैं, जिन्हें बड़ी-से-बड़ी शक्ति नहीं तोड़ सकी, लेकिन मामूली-से-मामूली बीमारी असहाय कर गयी है। वही आन्तरिक दरार पड़ जाने पर व्यक्ति ही नहीं बिखर जाता, संगठन भी बिखर जाते हैं। अधिकांश देखा गया है कि इधर का संकल्प जीता है, उधर का संगठन हार गया है।

जिस असमर्थता का कारण आप पूछते हैं, वह भारत के रक्त में है। अर्थात् यह कि उसके रक्त-संसार में समन्वय अधिक है, संगठन उतना नहीं है।

२३५. भारत की विदेश-नीति आपकी राय में क्या आज ही की तरह निष्पक्ष और निर्दलीय होने का ब्याज रखती हुई चलती रहेगी अथवा आगे परिस्थितियों के वशीभूत होकर उसमें किसी प्रकार का कोई मोड़ आयेगा? विश्व का वायु-मण्डल

दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में वर्तमान विदेश-नीति को आप कितनी दूर तक हितकर मानते हैं ?

गहरी समग्र उदारता

—अपनी विदेश-नीति में मैं कोई ढोंग नहीं मानता हूँ। बाहर और भीतर के व्यवहारों में यदि अन्तर है, तो इसको ढोंग कहना गलत होगा। अन्तर कुछ-न-कुछ अभिलाषा और यथार्थता में सदा रहता ही है। जो मुझे कहना है, वह केवल यह कि उदारता का व्यवहार अगर पूरे प्राणों में से निकलेगा और पूरे जीवन में समाया रहेगा तब तो चल सकेगा, अन्यथा एक जगह अनुभव हो सकता है कि आप ठगा गये हैं। इसका आशय यह कि उदारता एक जगह गलत नहीं है, बल्कि सब जगह यानी हमारी सम्पूर्णता में वह इतनी समा जानी चाहिए कि आत्म-विसर्जन की आतुरता तक पहुँच जाय। तब एक नयी नीति का प्रकाश मिल सकता है। उसमें से ऐसी उदारता भी आ सकती है, जो दीखने में मृदु न हो, बल्कि वज्र की तरह कठोर हो।

विधायक पक्षोत्तीर्णता

निष्पक्ष और निर्दलीय बनने की आवश्यकता नहीं है। उस भाषा में सोचना ही अनावश्यक हो जायगा, यदि हमारा अपना कोई सत्य का पक्ष होगा। तब हमारी अपेक्षा पक्षों और दलों को सोचना पड़ सकता है। इसीको मैं विधायक और श्रद्धायुक्त पक्षोत्तीर्णता कहता हूँ। आज की न्यूट्रेलिटी की स्थिति लगभग उससे उलटी है। वह परिस्थिति उत्पन्न नहीं करती, केवल परिस्थिति को झेलती है।

सत्याग्रही वृत्ति

वह रुख जिसके हाथ में अभिक्रम की पहल नहीं है, कुछ नकारात्मक और निष्क्रिय रुख होता है। सत्याग्रही वृत्ति में उसके लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। सच तो यह है कि सत्याग्रही वृत्तिवाला विश्व को, समूची मानव-जाति को, आत्मीय भाव से देखने के कारण लगभग सब समस्याओं को अपनी मानकर उनमें दखल देने का कर्तव्य और अधिकार पा जाता है। इस तरह यह वृत्ति निश्चेष्टता की न होकर प्रखर और प्रचण्ड कर्मण्यता की हो जाती है।

हाथ में शस्त्र नहीं, सत्य हो

हाँ, मैं यह मानता हूँ कि परिस्थिति एकदम जब फटने के निकट आ जायगी,

तो आज की न्यूट्रेलिटी चल नहीं सकेगी। तब यदि भारत किसी पक्ष की तरफ झुका तो मुझे विस्मय तो न होगा, पर प्रसन्नता भी न होगी। भारतीयता में इतनी जान होनी चाहिए कि उसमें से दो सन्नद्ध फौजी मोर्चों के बीच एक तीसरा मानवता का पक्ष खड़ा हो जाय, जिसके हाथ में शस्त्र न हो, किन्तु सत्य हो। वैसे किसी नेतृत्व या प्रकाश के चिह्न मैं भारतीय क्षितिज में कहीं देख नहीं पाता हूँ। उसके अभाव में वर्तमान की अनिश्चयता को मैं हितकर नहीं कह सकता हूँ।

युद्ध के समय

२३६. क्या आप अनुमानतः बता सकते हैं कि युद्ध की स्थिति में भारत किस पक्ष में सम्मिलित होगा——रूस के पक्ष में अथवा अमरीका के पक्ष में? अर्थात् उसकी विदेश-नीति का झुकाव उन दोनों में से किसकी ओर अधिक है?

——नहीं, भविष्य को अज्ञात रहने देने में ही मुझे कुशलता और बुद्धिमत्ता दीखती है।

११

औद्योगीकरण द्वारा आर्थिक समृद्धि

अर्थ-नीतिका आधार

२३७. भारत की अर्थ- ीति का आधार है शीघ्रातिशीघ्र भारत को अन्य उन्नत देशों की तरह एक औद्योगिक एवं आत्म-निर्भर देश बना देना। क्या आप स आधार को श्रेय मानते हैं?

एक मोह

—नहीं, मोहाक्रान्त मानता हूँ। श्रेयस्कर वह नहीं हो सकती। पश्चिम में उन्नति दीखती है, लेकिन यह भी दीखता है कि वह अब सिरे पर आ गयी है। उस सभ्यता का दिवाला निकला ही समझिये। हम यहाँ से उसको देख और पहचान नहीं पा रहे हैं, इसीको मैं मोह कहता हूँ।

बहुत तेजी के साथ उद्योग-सम्पन्न बन जाने से भारत आखिर उन अनेक देशों में एक ही तो होगा, जो मण्डी के लिए प्रतिस्पर्धा में पड़े हैं। हाल का अपने देश में चीनी का संकट क्या दरसाता है? अर्थात् आयात बढ़ाने को सबसे प्रधान लक्ष्य मानकर जो हम उत्पादन करते और फॉरेन एक्सचेंज के गर्जी बने रहते हैं, उससे जाहिरा ही मालूम होता है कि हम स्वावलम्बी जल्दी बन जायँगे, बल्कि उससे आगे दौलतमन्द भी बन जायँगे। लेकिन जल्दी मालूम हो जायगा कि यह श्रम ही था।

उत्पादन आवश्यकता से जुड़े

मैं मानता हूँ, फॉरेन एक्सचेंज की कमाई को सामने रखकर नहीं, बल्कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की स्वावलम्बिता को समक्ष रखकर हमारी अर्थ-नीति का विकास होना चाहिए। हमारे उत्पादन को सीधे हमारी आवश्यकता से जुड़ना चाहिए। विदेशी मुद्रा के अधीन हमारी स्थिति और परिस्थिति हो, इसको मैं उपादेय नहीं मानता हूँ।

२३८. तब आप क्या नहीं चाहते कि भारत भी विज्ञान की उस उन्नति का लाभ उठाये, जिसका लाभ अन्य देश उठा रहे हैं और यह लाभ स्पष्ट ही औद्योगीकरण

के बिना उठाया नहीं जा सकता। देश की इस सुरक्षा की दृष्टि से भी आज औद्योगीकरण अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में औद्योगीकरण का विरोध करना क्या नितान्त अव्यवहार्य नहीं है ?

जीवन-स्तर बढ़ाने का उन्माद

—मैं यदि आपके सामने पास-पड़ोस में बुनी खद्दर का कुर्ता पहने बैठा हूँ, टरिलीन की शर्ट नहीं है, तो इस कारण क्या विज्ञान के फल से मैं अपने को वंचित बनाता हूँ ? रहन-सहन के स्तर को बढ़ाते जाने का उन्माद जिन पर सवार है, ठीक वे ही लोग हैं जिन्हें फुरसत नहीं है कि विज्ञान को समझें, उसकी सम्भावनाओं पर ध्यान दें और उसका लाभ उठायें। ये लोग विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप मिलनेवाला अलाभ सारा-का-सारा अपनाते हैं और लाभ से ही केवल अपने को बचाते हैं।

व्यवसाय-वाद से विज्ञान को अलाभ

विज्ञान के लाभ को मैं पूरा-का-पूरा ले लेना चाहता हूँ, सिर्फ उसका अलाभ बचा जाना चाहता हूँ, जब कहता हूँ कि उद्योगों की होड़ में भारत को नहीं पड़ना चाहिए। यह स्वयं वैज्ञानिकों का अनुभव है कि व्यवसाय-वाद का बोझ ज्यादा लद जाने से वैज्ञानिक शोध की तीव्रता कम हो जाती है। विज्ञान की उन्नति उन लोगों के द्वारा होती है, जिनकी चेतना को व्यवसाय-वाद की हवा विशेष छू नहीं पाती। यह पुरानी बात आज के लिए भी सच है कि उच्च चिन्तन सादे जीवन के साथ चलता है। उद्योगवाद से जीवन की सादगी को हम नष्ट कर डालते हैं। तब उच्च चिन्तन भी भ्रष्ट हो जाता हो तो कोई अचरज की बात नहीं। विज्ञान की उन्नति इस निराविष्ट उत्कृष्ट चिन्तन से हुआ करती है। वह वृत्ति जो केवल अर्थोपार्जन की या बहिर्मुखी है, विज्ञान पर अपना बोझ ही लादती है, विज्ञान को सहारा नहीं देती।

आत्म-विज्ञान का सहारा

अब वस्तु-विज्ञान ऐसी जगह पर आ गया है, जहाँ अनिवार्य है कि उसे आत्म-विज्ञान का सहारा मिले। बिना उस सहारे और संयोग के विज्ञान जीवन को छिन्न-भिन्न क्या, एकदम नष्ट-विनष्ट तक कर सकता है। यदि मानव-सम्बन्धों में प्रतिस्पर्धा और विग्रह के मूल्यों का ही बोलबाला रहा, तो विज्ञान सिवा इसके कि संहार और विनाश के काम की अधिकाधिक सुविधाएँ हमें प्रस्तुत करता रहे,

दूसरा विधायक काम न कर पायेगा। विज्ञान विधायक उस समय होगा, जब आत्म-विज्ञान में से हम यह अनुभव करने लग जायँगे कि दूसरा प्रतिपक्ष या प्रतिपक्षी नहीं है। हम और वह एक ही समग्रता के अंश हैं और इस तरह आत्मीय हैं। यह भाव जब हमारे बीच काम कर निकलेगा, तब भिन्नता आदरणीय बन जायगी और विमत को परास्त करने का नहीं, बल्कि सत्कार करने का भाव हममें आयेगा। स्वयं वस्तु-विज्ञान ने वह आवश्यकता पैदा कर दी है और परता और वैरता की सामाजिक भूमिका अधिक काल मानव-जाति के हित की दृष्टि से सम्भव नहीं बनी रह सकती। आत्मता और परस्परता का आधार हमारी सार्वजनिक और अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को मिले, तभी मानवता के टिकने की सम्भावना है। आधुनिक उद्योगवाद उस दिशा में चलनेवाला प्रयत्न नहीं है। उससे मानव-सम्बन्धों में स्पर्धा और विग्रह ही ज्यादा घर करते जाते हैं। यह फल इतना प्रत्यक्ष है कि यदि हम मोहग्रस्त न हों, तो उसके देखने से बच नहीं सकते हैं। भारतीय अर्थ-नीति का नेतृत्व उस मोह से मुक्त है, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। उस मुक्ति को आज के दिन मैं बेहद जरूरी मानता हूँ, अन्यथा भारत का कोई विशिष्ट भविष्य मुझे नहीं दीखता है।

औद्योगीकरण समय की माँग

२३९. जिसे आप मोह कहते हैं, मैं समझता हूँ वह समय की माँग है। भारत के सामने दो बड़ी समस्याएँ हैं। पहली यह कि उसके हाथ में भी शीघ्रातिशीघ्र और देशों के-से वैज्ञानिक और औद्योगिक साधन हों और वह खेतिहर स्थिति से निकलकर औद्योगिक अवस्था में प्रवेश करे। और इस बात के लिए क्रमिक विकास के राग को वह बर्दाश्त नहीं कर सकता, न आर्थिक कारणों से, न ही राजनैतिक कारणों से। दूसरे, भारत का प्रत्येक नागरिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का भोग करता दीखे, यह भी समय की माँग है और स्वयं भारत के नागरिकों की कामना है। यदि हमारी वर्तमान सरकार इन दोनों कारणों से औद्योगीकरण को बढ़ावा दे रही है और उसे बड़ी तेजी से विकसित किये जा रही है, तो इसमें आपको कहाँ और क्या खोट नजर आती है?

—समय की माँग युद्ध क्यों नहीं है? मैं नहीं मानता कि समय यह कहता है कि आदमी का काम समय में बहना है। समय ने जब-जब मोड़ लिया है, उस दर्शन और संकल्प के कारण मोड़ लिया है, जो समय का अर्थ उसके पीछे चलने के रूप में नहीं लेते थे। कुछ दायित्व है, जिसका वहन करने के लिए स्वयं समय बना है। समय की अधीनता के आगे कुछ न देख पाना मानव-

स्वभाव और मानव-प्रतिभा के प्रति अविश्वास प्रकट करना और उससे मुँह मोड़ना है।

उद्योग, यन्त्र, विज्ञान वश से बाहर न हों

उद्योग, यन्त्र, विज्ञान ये सब चीजें गलत नहीं हैं। इनके उपयोग की गुंजाइश ही नहीं, उपादेयता भी है। लेकिन जिसको औद्योगीकरण कहते हैं, वह कुछ अपने में अलग चीज है। वह है उत्पादन का मुनाफे के खातिर होने लगना और जीवनोपयोग की सीधी आवश्यकता के सन्दर्भ से उसका टूट जाना। जब यह फल आने लगता है, तो मशीन और मनुष्य का सम्बन्ध उलट जाता है। मानो मशीन मनुष्य पर सवार हो जाती है। मनुष्य का काबू फिर उस पर नहीं चलता। मनुष्य खुद उसके काबू में आ जाता है। मुनाफावाद उद्योगवाद का प्रतिफल होता है और उससे सामाजिक सम्बन्ध जर्जर होने लग जाते हैं। व्यक्तिगत रूप से कैपिटलिज्म के नाम से उसकी अनिष्टता से हम बहुत अच्छी तरह परिचित हो चुके हैं। लेकिन इस मोह में पड़ गये हैं कि उससे आगे राष्ट्रीय पैमाने पर आकर वही चीज सही बन जायगी। जो पिण्ड के लिए अनिष्ट ठहर चुकी है, वह नीति ब्रह्माण्ड के लिए भी अनिष्ट ही होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

खेतिहर अप्रधान न बने

मैं नहीं मानता कि जब तक खाने के लिए हमें अन्न की आवश्यकता बनी हुई है, तब तक खेती को गौण किया जा सकता है। खेतिहर को अप्रधान और शहर के मज़दूर को प्रधान मानकर रूस ने अपने बीच कम्युनिस्ट-क्रान्ति की। उस समय यह मानो सिद्धान्त बन गया था कि मजदूर प्रगतिवादी और किसान प्रतिक्रियावादी होता है। तब से चक्र आगे बढ़ गया है और वहाँ भी पहचान लिया गया है कि किसान अप्रधान नहीं है और खेती के आस-पास ग्राम-रचना का निर्माण हुआ है। चीन में जो क्रान्ति हुई और आगे बढ़ रही है, उसमें खेती और खेतिहर गौण नहीं मान लिये गये हैं। मैं उस अधीरता को नहीं समझ सकता, जो भारत को खेतिहर के स्तर से तोड़कर एकदम ऊँचे उठा ले जाना चाहती है। ऐसा ऊँचा उठा हुआ भारत-राष्ट्र तन्त्र-प्रधान बन जायगा, मानव-केन्द्रित वह नहीं रहेगा। क्या हम इस सम्बन्ध में असावधान हो जाना चाहते हैं कि हम क्या खाते हैं? ऐसे लोग हैं, जो खाने के बारे में उदासीन हैं और पहनने की साज-सज्जा के बारे में खूब सावधान हैं। खाया हुआ अपने भीतर जो पहुँचा, सो उसे कौन देखता है; पहना हुआ सबकी आँखों के लिए होता है—इस मनोवृत्ति

में से जो सभ्यता बन खड़ी होती है, वही अन्तिम परिणति में उद्योगवादी कही जाती है।

मन और समय की झूठी माँग

भारत के शहरी नागरिकों की कामनाओं में से इसीसे एक बड़ी ग्लानिकर प्रति-स्पर्धा और भ्रष्टाचार की परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। लेकिन शायद अपने अभ्यन्तर में वही नागरिक एकान्त की घड़ी में सोचने लगता है कि क्या उसकी ये सब कामनाएँ असली हैं? उसीको संशय होता है कि कहीं वे नकली तो नहीं हैं! मैं मानता हूँ कि जिसमें सुख-चैन सब छिन जाता है, सन्तोष का धन लुट जाता है, अर्थ के पीछे हर क्षण एक हाय-हाय-सी लगी रहती है, वह मनुष्य केवल इस कारण कि अपने अन्तस्तल की कामनाओं की सुन नहीं पाता, मानो जीने का आरम्भ ही नहीं कर पाता है। सिर्फ तन रखने में ही जूझता हुआ वह अपने को बिताता रहता है।

मन की और समय की वह जूठी माँग है, जो आदमी को अपने से दूर हटा ले जाती है, जो आदमी को धन से मालामाल इस शर्त पर करती है कि वह मन से खोखला बनता चला जाय।

मैं सचमुच मानता हूँ कि विश्व में चली औद्योगिक होड़ाहोड़ी से भारत को संकल्पपूर्वक एकदम बाहर आ जाना चाहिए। उसको जरा कान देकर अपने अन्तःकरण की आवाज को सुनना चाहिए। वे ऋषि, महर्षि जो भारत के पास ऐतिहासिक काल से आज तक बराबर होते आये हैं और जिनके लिए जगत् भारत का गौरव करता आया है, समय है कि देश उनकी वाणी को सुने, उसके मर्म को बूझे और अपने वर्तमान और अपने भावी को तदनुरूप निर्माण दे। आत्मा की तो है ही, सचमुच समय की माँग को भी मैं इसी रूप में देखता हूँ। दूसरे दर्शन को मैं सम्यक् नहीं मानता हूँ।

आत्म-रक्षा के लिए औद्योगीकरण

२४०. जो इतिहास की नृशंसता को अनुभव कर सकते हैं, वे जानते हैं कि शक्ति-शाली ने कभी किसी भी अवस्था में हीन-वीर्य को बख्शा नहीं है। यदि भारत यन्त्र-विज्ञान और उद्योग, इन सबकी दृष्टि से कमजोर ही रहता चला जायगा, तो मैं नहीं समझ पाता कि वह दूसरे बड़े देशों से अपनी रक्षा किस प्रकार कर सकेगा। केवल आत्म-रक्षा की दृष्टि से भी यान्त्रिक एवं औद्योगिक होड़ में पड़ना भारत के लिए अनिवार्य बन गया है। इस बात को दृष्टि में

रखते हुए भारतीय जन-जीवन में यन्त्र और उद्योगों का आप क्या स्थान निश्चित कर पाते हैं?

शक्ति और वीर्य जन में, यन्त्र में नहीं

—अमरीका और रूस तो उस दृष्टि से पिछड़े हुए देश नहीं हैं। दोनों में ठन जाय, तो क्या उनमें से किसीकी भी रक्षा निश्चित मानी जा सकती है?

ठीक आज के दिन यह भ्रम सिद्ध हो गया है कि सुरक्षा बाहरी साधनों में है। उससे अधिक बाहरी साधन सुरक्षा के संकट के लिए आमन्त्रण हो सकते हैं; सुरक्षा के प्रयोजन को ही परास्त कर दे सकते हैं।

इसीलिए आज की तलाश है कुछ उस शक्ति की, जो टूटे नहीं, हारे नहीं। यह शक्ति संकल्प-शक्ति के सिवा दूसरी हो नहीं सकती।

शक्तिशाली और हीन-वीर्य इन शब्दों में अर्थ हम डालते हैं। शक्ति और वीर्य हमारे पास नहीं हैं, यन्त्रों के पास हैं, यह भ्रम हमारा अपना ही पैदा किया हुआ है। संख्या और गणना के हिसाब से हिटलर ने अपनी शक्ति को क्या तोला-जाँचा न होगा? लेकिन अन्त में क्या हुआ? गणना काम नहीं आयी और हिटलर जो अपने को संकल्प का धनी मानता था, अन्त में आत्मघात के सहारे मुँह छिपाकर मर निकला। समय है कि हम पहचानें कि शक्ति और वीर्य का अधिष्ठान स्वयं जन में है, जनता में है। यदि वहाँ शक्ति नहीं है, तो ऊपर से मिला धन और यन्त्र और शस्त्र सहायता नहीं कर पायेंगे। इस प्रकार की सहायता क्या कोयुमिनतांग को बाहर से कम मिली थी? लेकिन वही सहायता शत्रु के काम आयी। कारण, मन में संकल्प का बल जो न था, सो ऊपरी बल बेकार हो गया।

विकास का तर्क

विकास के तर्क को हम समझकर देखें। पशु से मनुष्य हर तरह हीन है। शरीर में वह अक्षम है। इस दीखनेवाली दुर्बलता में से ही मनुष्य में नयी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। दाँत-पंजे और शरीर-वेग इन सब शक्तियों से एक बड़ी शक्ति मनुष्य में सृष्ट हुई, जिसे बुद्धि कहा गया।

मैं मानता हूँ कि कालक्रम से अब मनुष्य-जाति का विकास उस सन्धि तक आ गया है, जहाँ साधनों की दुर्दान्त शक्ति अशक्ति बनी दिखायी दे आये। ऐसा अनुमान होता है कि ठीक यही समय है, जब शक्ति के नये प्रकार का प्रादुर्भाव होगा। भारत इच्छापूर्वक उस ऊपरी निर्बलता को अपना ले, जैसा कि उसके

स्वभाव और इतिहास में है, तो बिलकुल सम्भव है कि भावी के निर्माण में काम आनेवाली अहिंसक शक्ति का प्रादुर्भाव यहाँ से हो निकले।

माल और प्रीति

ऊपरी भाषा में दौलतमन्द भारत, अन्दरूनी तौर पर सन्तुष्ट स्वावलम्बी भारत से, बढ़कर निकलेगा, यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि हम अपनी अर्थ-रचना को ऐसा बनायें कि जिससे माल चाहे कम पैदा हो, लेकिन आपसी प्रीति अधिक उत्पन्न हो, तो मेरा मानना है कि उससे हमें बलिष्ठतर भारत प्राप्त होगा।

यन्त्र उपयोगी, यन्त्रवाद घातक

यन्त्र एक तरह हमारे इन्द्रियों के उपकरण का अगला परिमाण ही है। अर्थात् मनुष्य की पहुँच उससे विस्तार पाती है, उसकी क्षमता बढ़ जाती है। एक हार्स-पावर दस मनुष्यों की शक्ति के बराबर होता है, तो कहना चाहिए कि एक हार्स-पावर की मशीन से एक आदमी ग्यारह जितना हो जाता है। यन्त्र का मानव-जीवन में ठीक यही शक्ति-संवर्धन का काम और स्थान होना चाहिए। इससे अधिक जब होने लगता है, तो यन्त्र काम का नहीं रहता, वाद का हो जाता है। अर्थात् यन्त्रवाद उत्पन्न होता है। आदमी की उपयोगिता बढ़ती नहीं है, जैसा कि यन्त्र से होना चाहिए। बल्कि आदमी अनुपयोगी, बेकार और बेरोजगार होने लगता है। यन्त्र में जब यह अनर्थ और अनिष्ट पड़ने लग जाता है, तब यन्त्र के साथ सोच-विचारपूर्वक चलना चाहिए। ध्यान में इतना रखना है कि जैसे मनुष्य के पास यन्त्ररूप में यह शरीर है, अंगोपांग है, बुद्धि-विज्ञान से प्राप्त हुए अन्य यन्त्र भी इसी तरह मनुष्य के अंगरूप होकर उसे विस्तार देनेवाले हैं। उसे काटने और कम करनेवाले वे न बनें।

२४१. गांधीजी ने यन्त्र-विज्ञान के प्रति जो तिरस्कार और अवज्ञा का रुख अपनाया था, उसे नेहरूजी स्वीकार नहीं कर सके। आप भी यद्यपि यन्त्र और विज्ञान को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखते, पर उनकी अत्यन्त सीमित उपयोगिता को ही स्वीकार कर पाते हैं। तब क्या गांधीजी और आपकी दृष्टि में नेहरूजी देश को एक ग़लत और ख़तरनाक रास्ते पर ले जा रहे हैं कि वे देश को एक आधुनिक यान्त्रिक, औद्योगीकृत देश बना देने के लिए कटिबद्ध हैं?

यन्त्र को देवता न मानें

—गांधीजी में यन्त्र के प्रति अवज्ञा थी, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। लेकिन देवता की जगह यन्त्र को लेने का समर्थन अवश्य और तनिक उनमें नहीं था।

कौन जानता है, भविष्य में क्या रखा हुआ है। नेहरू आधुनिक हैं और इसमें वे गर्व भी मान सकते हैं। आधुनिकता का प्रवाह जिस ओर जा रहा है, हम देखते है, पण्डित नेहरू अपने ढंग से उस प्रवाह के बारे में सोचते और निर्णय लेते हैं। नेहरू के लिए यह गलत और असम्भव होगा कि वे अपने ही सोचने से उलटे चलें। उनको पूरा अधिकार है, बल्कि उनका कर्तव्य है कि नेहरू जन्मे हैं तो नेहरू होकर ही वे चलें। इसीमें उनकी मुक्ति और कृतार्थता है। यही नेहरू के व्यक्तित्व की विशेषता है, जिससे गांधी ने उन्हें अपनाया। इन दोनों भिन्न-ताओं को पहचानने में चूक नहीं हो सकती है। नेहरू उस सभ्यता के अंग हैं, अंश हैं, उनकी समूची मानसिकता का निर्माण वहाँ से हुआ है, जिसे हम पाश्चात्य कहते हैं। गांधीजी के प्रेरणा-स्रोत वे सिद्धान्त थे, जो सनातन और शाश्वत कहे जा सकते हैं और जिनकी सत्यता आधुनिकता पर निर्भर नहीं है। वे मूलतः धार्मिक थे।

भारत अपना मार्ग चुने

मैं मानता आया हूँ कि भारत को अवसर मिलना चाहिए कि वह अपने मार्ग का चुनाव कर ले। वही विभ्रम है, जो परिस्थिति को संकटापन्न बनाये हुए है। नेहरू से आशा करना कि गांधी के मार्ग पर वे भारत को चलायेंगे, नेहरू के प्रति अविश्वास प्रकट करना है। भारत को अपना नेता नेहरू को यह समझ-बूझकर बनाना है कि वे गांधी की नहीं, अपनी राह भारत को ले जायँगे। वह राह क्या होगी, यह अत्यन्त स्पष्ट है। आज की परिस्थिति में इन दोनों के बीच चुनाव का अवसर आने नहीं दिया जा रहा है, यह बड़े खतरे की बात है। यह विभ्रम अगर चलता रहा, तो दोनों से अलग एक वह चीज भारत में आयेगी, जो अन्यत्र बड़े वेग से छाती जा रही है। अहिंसा जैसी भावना के लिए उसके तर्क में कोई जगह नहीं है। सारी नैतिकता मानो वहाँ एक उपार्जित वस्तु है, मनुष्य में मौलिक नहीं है। लेकिन उसकी बात यहाँ नहीं करनी है।

विदेशी सहायता

२४२. औद्योगिक विकास के लिए भारत-सरकार ने विदेशी सहायता प्राप्त करने की नीति को अपनाया है। विदेशी सहायता के रूप में केवल रुपया और तकनीक ही नहीं आती, कुछ मानसिक बन्धन भी आते हैं। आपकी अपनी विचारणा से मुक्त यदि यह मान लिया जाय कि औद्योगिक विकास करना है, तो उसके लिए विदेशी सहायता के अतिरिक्त और कौन-से साधन हो सकते थे, जिनका उपयोग लक्ष्यसिद्धि के लिए किया जा सकता था?

हम स्वावलम्बी अर्थ-विधि अपनायें

—वर्तमान परिस्थिति में औद्योगीकरण यदि करना ही हो, तो स्वयं स्वावलम्बन की दृष्टि से भारी मशीनें हमें यहाँ बिठानी होंगी। भारी से मतलब वे मशीनें, जो खुद मशीन तैयार करती हैं। सिवा दूसरे देशों के वे प्राप्त कैसे हो सकती हैं? इसलिए विदेशी सहायता से औद्योगिक कार्यक्रम को अपनाने के बाद फिर उसके तर्क से छुट्टी का अवसर नहीं रह जाता है।

कितना भी हम सम्भव मानें, किन्तु अपनी गर्ज और निर्भरता के होते हुए दूसरी ओर से मानसिक बन्धन भी कुछ नहीं आयेंगे, यह मैं सम्भव नहीं मानता हूँ। आगे तो स्थिति वह आनी ही है, जब सहायता देशी-विदेशी न रह जाय, सब आपसी बन जाय। लेकिन वह स्थिति राष्ट्रीय अर्थ-रचना के आधार पर नहीं आयेगी, बल्कि मानवीय उत्पादन एवं अर्थ-विधि के आधार पर आ सकेगी।

यदि देश को सच्चे और पूरे अर्थों में निष्पक्ष होना है, तो उसे स्वावलम्बी अर्थ-विधि का आधार लेना चाहिए। अन्यथा उसकी स्थिति उत्तरोत्तर उलझन की बनती जायगी और उसकी पक्षहीनता कुछ विशेष अर्थकारी न होगी; केवल यथार्थ संकट के समय भारत को नगण्य बना देने के ही काम आयेगी।

मानवीय साधन : जन-बल

मशीन के अतिरिक्त दूसरे साधन मानवीय हुआ करते हैं। उन साधनों का कम महत्त्व नहीं होता। यदि दलीय भाव यहाँ के वातावरण में कम होता और राष्ट्रीय भाव अधिक होता, तो मानवीय साधनों की ओर से सुविधाजनक स्थिति हो सकती थी। प्राइवेट और पब्लिक सेक्टर जैसे शब्द तब अधिक चिन्ता के न होते और दोनों तरफ एक राष्ट्र-भाव काम कर रहा होता। राजा और प्रजा का भेद कम होने पर मानो जन-शक्ति का पूरा सहयोग हमारी योजनाओं को प्राप्त होता। मैं मानता हूँ कि यदि यह जन-बल तैयार हो, तो विदेशों से भारी मशीन हमें सहायता में न मिल सकें या हम खरीद न सकें, तो भी उतनी हानि नहीं। विदेशी सहायता की अपेक्षा उतनी ही बढ़ जाती है, जितनी हम अपनी सहायता करने की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अपनी सहायता माने अपने विशाल जन-बल की सहायता।

भारतीय मानस की हीनता

मशीन के साथ तकनीकी विशेषज्ञ भी आते हैं और एक बार मशीन को बिठाकर ही उनकी आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि आगे भी बराबर बनी रहती

है। इस सबका मानसिकता पर प्रभाव पड़ता है और प्रच्छन्न रूप से भारतीय मानस में एक हीनता या न्यूनता का भाव घर करता रहता है। यह तथ्य कि एक दिशा ऐसी भी है, जहाँ उलटे भारत को कुछ देने को हो सकता है, मन से दूर हो जाता है। इस तरह भारत का एक बड़ा सम्भावित बल किनारे पड़ा रह जाता है और भारतीय गौरव की स्थापना में कुछ भी भाग नहीं ले पाता। यह बड़े ही खेद का विषय है कि हमारे योगी, संन्यासी, ऋषि और पारमार्थिक जन इस विदेशी मशीनी सहायता के दौर में मानो अनपूछे और अनबूझे रह जाते हैं और राष्ट्र-निर्माण में अपना कोई दान नहीं कर पाते। मान लीजिये कि रामतीर्थ और विवेकानन्द पंचवर्षीय योजनाओं के कोलाहल के बीच अपनी बात सुनाने चलें, तो कितनी सुनी जायगी, सेक्युलरिज्म से तो वह बहुत संगत होगी नहीं। इस तरह भारत की जनता का एक बहुत बड़ा और उत्कृष्ट भाग एक तरफ बचा रह जाता है, भारत के जीवन-निर्माण में उनका अधिकृत अनुदान नहीं पहुँच पाता।

घर की पूँजी

२४३. क्या यह सम्भव नहीं था कि जितना धन और स्वर्ण भारत ने अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना के लिए बाहर से लिया, वह घर में से ही अधिक समर्थ लोगों के पास से स्वर्ण के रूप में और निर्धनों के पास से श्रम के रूप में प्राप्त किया जा सकता? उस अवस्था में केवल तकनीकी सहायता ही हमें बाहर से लेनी पड़ती और इस घर की पूँजी के लाभ से अगली पंचवर्षीय योजना को भी आगे बढ़ाया जा सकता। रूस ने ऐसा किया है। यदि रूस के इस उदाहरण को हम ग्रहण न कर सके, तो आपकी राय में इसके क्या कारण रहे? क्या अहिंसा का अदूरदर्शी और कल्पना-शून्य स्वरूप ही इस भूल के पीछे नहीं रहा?

कानूनन लेना घातक होता

—धन को या तो मन के साथ लेते, या कानून के जोर से मन के बावजूद लेते हैं। मन के साथ ले नहीं पाये और रूस की तरह राज्य के कानून से लेने का उपाय अपने वश का और विवेक का नहीं दिखाई दिया।

रूस ने क्रान्ति के बाद जो भोगा है, वह कुछ कम कटु अनुभव नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि इस अनुभव-प्राप्त शिक्षा के बाद अब यदि दूसरी क्रान्ति का अवसर आये, तो उसका प्रकार वहाँ दूसरा होगा। अक्तूबर-क्रान्ति के तत्काल बाद राज-शक्ति और राज-दण्ड के जोर से काम कराने और करने की मजबूरी में से अनेक

संकट क्रान्ति के मार्ग में पैदा हुए और प्रभूत मानव-रक्त बहाते हुए क्रान्ति को आगे बढ़ना पड़ा। भारत यदि उस राह नहीं चला है, तो यह अफसोस की बात ही नहीं, बल्कि बधाई की बात हो सकती है।

अहिंसक उपाय अदूरदर्शी नहीं

हाँ, गांधी की अहिंसा ही इसमें कारण हुई। लेकिन गांधी की अहिंसा इसलिए कारण बन सकी कि भारतीय रक्त और मानस में से उसको सीधी स्वीकृति और आत्मध्वनि प्राप्त होती गयी। अवश्य वह अहिंसा की नीति अदूरदर्शी और कल्पना-शून्य सिद्ध होगी, अगर हमको हिंसा में त्राण दिखाई देने लगेगा। दुनिया के बढ़े हुए देशों के उदाहरण से तो यह लगता है कि हिंसा में से श्रद्धा उठ जानेवाली है और उसमें से किसी सुरक्षा या त्राण के आने की कल्पना एकदम मिथ्या कल्पना सिद्ध होनेवाली है। किन्तु भारत जो उतना अभी आगे बढ़ा हुआ नहीं है, शायद समय से कुछ पीछें चल सकता और अब भी यह माने रख सकता है कि हिंसक उपायों का अवलम्बन और उसमें सहायक होनेवाली अर्थ-रचना ही उसके लिए उपयोगी होगी। लेकिन मुझसे पूछिये, तो मैं इसको अदूरदर्शी और कल्पनाशून्य मनोदशा मानता हूँ।

महत्-श्रद्धा का उदय

यदि हम अपने दृष्टिकोण को वही रख सकें, जो स्वराज्य से पूर्व था या जो भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण है, तो अपनी परम्परा पर हमें खेद नहीं होगा, बल्कि गौरव हो सकेगा। और हम उस निश्चित श्रद्धा के आधार पर वह मनोभाव भी पैदा कर सकेंगे, जिसमें जनता का पूरा मन और पूरा धन राष्ट्र-निर्माण के लिए बह निकले। राज्य के बल से यह काम कभी हुआ नहीं है और हुआ है तो अधूरा ही हो पाया है। इसके अलावा यह भी आवश्यक होता रहा है कि रुकावटों को हम तलवार से काटकर दूर करें और इस तरह अपने ही बीच एक गृह-युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न किये रहें। जनता में राज्य के लिए विसर्जन-भाव यदि हो सके, तो कठिनाई दूर हो जाती है, लेकिन वह विसर्जन-भाव तब तक नहीं आ सकता, जब तक राज्य के स्तर पर भी बिसर्जन के मूल्य की ही प्रतिष्ठा न हो। स्वराज्य से पहले एक महद्-भाव ने देश का काया-पलट कर दिया था। तब मौत के साथ खेलने में जीवन सार्थक होता जान पड़ता था। आज वह सब यदि भूली कहानी बन गयी है, तो इसलिए कि स्वराज्य के बाद समाज का और जीवन का मूल्य बदल गया है। विसर्जन और समर्पण मूल्य नहीं रह गया

है, बल्कि पद-प्रतिष्ठा मूल्य बन गया है। तब जीवन में उभार आया था, उसकी जगह ह्रास दिखाई दे और राष्ट्रीय-चेतना को कुचलती हुई दलीय चेतना सिर उठाती दिखाई दे, तो क्या विस्मय है।

योजनाएँ लोक-मानस से प्रेरित हों

सचमुच निश्चय हो जाने की आवश्यकता है कि कहाँ हमें पहुँचना है और मार्ग की दिशा क्या है। दूर दर्शन की ही मैं बात करता हूँ और मैं समझता हूँ कि उस ध्येय को सामने रखकर यदि हम निर्णय करेंगे, तो तात्कालिकताओं से विचलित होने की जरूरत नहीं पड़ेगी। भारत के स्वराज्य और भारत के भविष्य के सम्बन्ध में गांधी की दृष्टि तात्कालिक ही नहीं थी, वह दूरदृष्टि थी। उस दूरदर्शिता को श्रद्धा के आधार पर ही थामे रखा जा सकता है। वह अदूर-दृष्टि कहलायेगी, जो भारतीय आत्मा और भारतीय परम्परा का विचार नहीं करेगी। यों भी मेरा मानना है कि अन्तःप्रेरणा में से जितना फल प्राप्त हो सकता है, बाहरी अंकुश में से वह नहीं प्राप्त किया जा सकता। अर्थात् राजनेता से अधिक प्रजा के प्राणों में घुला-मिला जन-नेता जो सम्भावनाएँ लोक-जीवन में से प्रस्फुटित कर सकता है, वह अन्यथा सम्भव नहीं हैं। और इस परिपूर्ति के लिए आवश्यक और उचित मुझे यह जान पड़ता है कि हमारी योजनाएँ राज्याश्रित और राज्य-केन्द्रित न हों, बल्कि वे लोक-सामर्थ्य में से जन्म लें और लोक-सामर्थ्य को जगायें।

कर्ज और उसको चुकाना

२४४. भारत ने अरबों रुपया कर्ज लिया है। क्या आप सोचते हैं कि उस रुपये का ऐसा सदुपयोग किया जा रहा है जिससे निश्चित समय पर वह रुपया ब्याज-समेत चुका ही न दिया जायगा, बल्कि देश में ऐसी स्थिर संपत्ति भी बच रहेगी, जिसके आधार पर आगे देश का अर्थ-चक्र सुगमतापूर्वक प्रगति करता चलेगा?

—कर्ज लेना खतरनाक हुआ करता है। उसको चुकाने का ध्यान रखना और तदनुकूल हिसाब से काम करना उस मनोभाव के लिए सम्भव हुआ करता है, जिसको अपेक्षाकृत नतिक कहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति मितव्ययी होता है और पैसे के प्रति उसका सम्बन्ध दायित्वपूर्ण होता है। वर्तमान वस्तुस्थिति में खर्च करने और खर्चीली जिन्दगी बनाने का रुख दिखाई देता है। इसलिए आगे झमेला पड़, तो कुछ अचरज की बात नहीं होगी। या तो ऐसा हो सकता है कि ऋण चुकाने के बारे में हमारा आग्रह मन्द हो जाय, या नहीं तो हमारा देश बहुत हद

तक बन्धक बन सकता है। दोनों ही स्थितियाँ उचित नहीं होंगी। भारत इस समय सुविधाजनक स्थिति में है, क्योंकि वह तटस्थ है और दोनों ही पक्ष उसे अपनी ओर झुका देखना चाहते हैं। इस स्थिति की सुविधा को सुविधा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि कभी भी वह स्थिति ऐसी हो सकती है कि साथी कोई न रह जाय।

खाद्य-समस्या

२४५. भारत-सरकार ने खेती की उन्नति के लिए दो बड़े काम किये। प्रथम तो जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन और दूसरे खेती का सीमित यन्त्रीकरण। साथ ही सरकार ने बड़े-बड़े बाँध बनाये, जिनसे अब तक उजाड़ पड़ी धरती को सींचा जा सके और उपज को बढ़ावा दिया जा सके। बहुत-कुछ किया जाने पर भी हमारी खाद्य-समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है और हमें अमरीका आदि से बड़ी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है। खाद्य-समस्या की इस विकट स्थिति के आप क्या कारण मानते हैं?

अनुसन्धान का विषय

—यह अध्ययन और अनुसन्धान का विषय होना चाहिए। सचमुच विचित्र मालूम होता है कि प्रयत्न वे सब किये गये, जिससे खाद्य का उत्पादन बढ़ता। लेकिन खाद्य-समस्या ही बढ़ती चली गयी तो चूक कहाँ रही, यह देखने की बात है।

स्वार्थ और संग्रह की वृत्ति

मैं मानता हूँ कि उद्योगवाद के अधीन अन्न का उत्पादन गौण पड़ गया और कृषि, खाद्य की आवश्यकता से अधिक, विदेशी मुद्रा के अर्जन के हेतु से जुड़ गयी। दूसरे, सरकारी मशीन पर हमने भरोसा रखा और वितरण के लिए जो वर्ग माध्यमिक था, अर्थात् वैश्य-वर्ग, उसकी सहानुभूति देश से कट गयी और स्वार्थ से जुड़ गयी। कृत्रिम अभाव का अनुभव हमें हुआ है और यह आज सिद्ध बात है कि बंगाल का अकाल कृत्रिम और निर्मित था। नियन्त्रण के सहारे जब हम अपना काम-काज चलाते हैं, तो औसत नागरिक सरकार के प्रति दावेदार बन जाता है, समस्या में सहयोगी अपने को नहीं अनुभव करता। तब संग्रह की भूख बढ़ जाती है; क्योंकि भविष्य के बारे में संशय आदमी के मन में घर कर जाता है। मैं ऐसे परिवारों को जानता हूँ, जिन्होंने जीवनभर कभी एक बोरा भी गेहूँ

नहीं खरीदा था, अर्थात् एक बार में अधिक-से-अधिक एक मन गेहूँ खरीदते थे, लेकिन उस जमाने में बीस बोरे खरीदकर उन्होंने ऐसे डाल लिया था कि उसे छूते तक न थे। अर्थात् सार्वजनिक संकट के प्रति औसत नागरिक का भाव उसको बँटाने और उसमें शामिल होने का नहीं होता, बल्कि उससे बचने और लाभ उठाने का हो जाता है। इस प्रकार राजा और उसकी नौकरशाही तथा प्रजा और उसकी जनता में विरोध पैदा हो जाता है।

भावना की कमी

खेती में चकबन्दी होनी नहीं चाहिए, या यन्त्रों का उपयोग नहीं होना चाहिए, या बड़े-बड़े बाँधों की योजनाओं को स्थगित रखना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। मैं समझता हूँ, सबका अपनी-अपनी जगह स्थान है और जमीन का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाना आज के दिन उत्पादन-वृद्धि के लिए बाधक ही बनता है। लेकिन जमीन का इकट्ठा होना, प्राथमिक यन्त्रों का उपयोग होना, बाँधों की सहायता से सिंचाई की सुविधा होना, यह सब हितकर हो सकते हैं, इस शर्त के साथ कि उसकी जानकारी और उपयोग की भावना नीचे से आये। जिनके उपकार के लिए यह सब होता है, वे स्वयं अनुभव करें कि वे अपनी सहायता में यह सब कर रहे हैं। योजनाओं का जन्म जनता में से हो, औसत आदमी को ऐसा न मालूम हो कि कोई बड़ी जबरदस्त उपकारी संस्था उनके लिए सब कर रही है; इसलिए अब हम लोगों के लिए उसके प्रति दावेदार बनना और अधिक-से-अधिक लाभ उठाने में लगना ही शेष रह जाता है। कारण, वह मनोभाव होने पर फिर वितरण की समस्या ऐसी विकट बन जाती है कि उसके लिए सरकारी कर्मचारियों की फौज रखनी पड़ती है। अन्त में परिणाम यह आता है कि लोक-कल्याण के कार्य के लिए निकाले गये रुपये में से मुश्किल से तीन-चार आने कल्याण के कार्य के लिए शेष रहते हैं, बाकी बारह-तेरह आने व्यवस्था में ही खर्च हो जाते हैं। ऊपर जो पहेली की-सी स्थिति आपने बतायी, उसका कारण मैं यही राजा और प्रजा के बीच का बढ़ता हुआ अन्तर मानता हूँ।

आय बढ़ी, महँगाई बढ़ी

२४६. औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास का जो क्रम चल रहा है, उससे औसत भारतीय के पास पैसा तो बढ़ा है, पर महँगाई भी उसी अनुपात से बढ़ती चली गयी है। स स्थिति को नागरिक के आर्थिक स्वास्थ्य के लिए कितनी दूर तक शुभ माना जाय?

स्वास्थ्य मानसिक दशा है

—स्वास्थ्य असल में मानसिक दशा है। आजकल तो लोग शारीरिक व्याधियों के मूल में भी मानसिकता को देखने लगे हैं। इसलिए आर्थिक स्वास्थ्य का आशय यही हो सकता है कि क्या इस प्रकार की पैसे की बढ़वारी से आदमी का सुख-सन्तोष भी बढ़ा है? पैसा लेने-देने का माध्यम है और इसलिए पैसे के अभाव में आदमी घुटा-घुटा अनुभव करता है। पैसे की सुविधा से वह खुल आता और खुशहाल दीखता है। अर्थात् पैसा होने से दूसरों के साथ उसके सम्बन्धों की प्रणालियाँ हरी-भरी हो उठती हैं और वह अपने को बढ़ा हुआ अनुभव करता है। किन्तु यदि पैसा उन सम्बन्ध-सूत्रों में संशय और अविश्वास डाल आये, तो वही सुख के बजाय दुःख और संकट का कारण बन जायगा।

स्पर्धा और विग्रह

औद्योगिक विकास की प्रणालियाँ कुछ ऐसी बन गयी हैं कि उनसे विषमता अनिवार्यतया बढ़ती है। परस्पर हितों में स्पर्धा, विरोध और विग्रह बढ़ आता है। वर्ग खड़े होते हैं और उनकी मुख्य चिन्ता स्वरक्षा की हो आती है। अर्थ-रचना में वे गिल्टी के मानिन्द स्थापित स्वार्थों की सृष्टि करते हैं। एक ओर होनेवाली यह पैसे की इफरात मजबूरन महँगाई ले आती है, इसमें सामाजिक स्वास्थ्य का संवर्धन कैसे हो सकता है? तेजी जो दीखती है, उसे ज्वर की तेजी मानना चाहिए, उसके नीचे सहानुभूति की स्फूर्ति नहीं होती है। वह वस्तु नहीं होती, जिससे समाज में सामंजस्य और सुगठन आता है। बल्कि उस उन्नति के मूल में स्वार्थ की प्रेरणा काम कर रही होती है, जिससे समाज के स्वास्थ्य का ह्रास होता और अपराध की वृत्ति बढ़ती है।

आवश्यक है कि स्वास्थ्य को हम व्यापक सामाजिक भाव में समझें और उसको वस्तु-निर्भर न मानें। आँकड़े इस जगह धोखा दे सकते हैं। वे औसत आय और औसत जीवन-मान को बढ़ता दिखा सकते हैं, उत्पन्न अन्न और निर्मित माल-सामान की राशि गुणानुगुणित हुई बता सकते हैं। फिर भी सम्भव हो सकता है कि अपराधों की संख्या बढ़ रही हो और विक्षिप्तता और आत्म-हत्या की घटनाएँ भी बढ़ती पर हों। अतः प्रकट होना चाहिए कि स्वास्थ्य परिमाण और राशि पर निर्भर नहीं है। उसका सम्बन्ध मानसिकता और पर-स्परता की स्निग्धता और स्वच्छता से है।

आय और सिक्के की क्रय-क्षमता

२४७. आर्थिक स्वास्थ्य से मेरा मतलब था औसत आय और आय के घटक रुपये

की क्रय-क्षमता। स्वतन्त्रता के बाद हमारी औसत आय तो बढ़ी है, पर रुपये की क्रय-क्षमता घटी है। इस विकटता के लिए आप किसको जिम्मेदार ठहराते हैं?

श्रम सिक्के को टर्म्स दे

—साधारणतया श्रम और वस्तु का सम्बन्ध स्थिर रहता है, पैसे का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। एक सेर अन्न पाने के लिए आज जितना पैसा देना पड़ता है और दस वर्ष पहले जो पैसा दिया जाता था, उसके अनुपात से ही पैसे के सूचक मूल्य (इण्डेक्स वेल्यू) का निर्णय होता है। यानी जितना अधिक सिक्का चलन में आता है, उतना ही पैसा सस्ता होता और चीज महँगी होती है। उद्योगवाद को बढ़ाने के लिए अक्सर इस मुद्रास्फीति का अवलम्बन लिया जाता है। इससे क्रय-विक्रय, व्यापार-व्यवसाय में वेग आ जाता है और जीवन जाग्रत और त्वरित जान पड़ता है। लेकिन इस तरह श्रम मूल्य में घट जाता है और चातुर्य बेहिसाब बढ़-चढ़ जाता है। मैं मानता हूँ कि मूल में बुद्धि का मद और प्रमाद था कि जिसमें से मुद्रास्फीति, डेफीसिट बजट, आदि की कल्पना निकली और उद्योगवाद को बढ़ाने के लिए मानो चाबुकमार-नीति की सृष्टि हुई। इसमें मानो मानव-व्यक्तित्व का सन्तुलन बिगड़ गया। श्रम का सम्बन्ध शरीर से है, चतुराई का बुद्धि से। अर्थात् श्रमिक और बौद्धिक इस तरह के दो वर्ग ही समाज में बन गये। जोड़-तोड़ की सूझ देनेवाली बुद्धि का स्वामी अत्यधिक सुविधा में हो गया और उसने शहर बसाया। श्रम से लगकर रहनेवाला आदमी ईमानदार, धार्मिक और नैतिक मान्यताओं से चिपटा-सिमटा पिछड़े हुए देहात में बना रहा और शोषित होता रहा। इस असन्तुलन में से वह विचार निकला, जिसे साम्यवादी विचार कहा जाता है। लेकिन वैज्ञानिक और आंकिक बनने की धुन में इसने असामंजस्य के मूल को नहीं पकड़ा, बल्कि व्यवस्था और तन्त्र को बदलने और स्वत्व-स्वामित्व को राज्यतन्त्राधीन करने के उपाय से सन्तोष मान लिया। मूल व्याधि थी यह कि सिक्का श्रम से स्वतन्त्र होकर स्वयं में मूल्य बन गया था और इस तरह मनुष्य असहाय और राज्य सर्व-सहाय बनने की ओर जा रहा था। साम्यवादी क्रान्ति ने अपनी ध्वजा पर श्रम के प्रतीकरूप हँसिये-हथौड़े को रखा अवश्य, लेकिन धुर मूल तक उस विश्वास के अनुवाद-अनुकरण का आग्रह नहीं रखा। परिणाम इसलिए यह नहीं आया कि सिक्के की या पूँजी की ताकत कम हुई हो, बल्कि राज्यगत होने से वह ताकत कहीं बढ़-चढ़ गयी। राज्य-कर्मी के लिए साथ-साथ श्रमी बनना बिलकुल आवश्यक नहीं रह गया। बल्कि श्रमहीन रहने की शर्त पर उसको सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती गयीं। शरीर और

बुद्धि के अनुपातहीन और विषम मूल्यों में सही सन्तुलन लाने का काम उस विचार या उस क्रान्ति ने नहीं किया। मैं मानता हूँ कि सही सन्तुलन लाने का काम पैसे के जरिये नहीं बन सकता। मूल्यता किसी तरह सीधे श्रम में पैदा की जा सकती हो, तो शायद उपाय हो। अर्थात् सत्ता पैसे के पास से हटकर श्रम के पास आ जाय और श्रम अपनी जगह स्वस्थ और स्वावलम्बी बनकर पैसे को अपनी टर्म्स दे सके, या नहीं तो अपनी इच्छानुसार पैसे को खरीद सके। अभी तो श्रम बिकता और पैसा खरीदता है। तब पैसा बिके और श्रम खरीदार बन जाय। यह उस अवस्था में हो सकेगा, जब श्रमिक बुद्धिशाली हो और अर्थशास्त्र के गणित को अपने हाथ में ले सकें। ऐसा होगा, तब उद्योगवाद का रूप बदला हुआ दिखाई देगा और समाज का रूप भी बदल जायगा। तब राजनीतिक समस्याएँ भी नया आकार-प्रकार लेंगी और शायद राजनीतिक एवं संगठनात्मक से अधिक गुणात्मक और सांस्कृतिक हो चलेंगी।

लेकिन शायद मैं प्रश्न से दूर निकल गया।

राजनीतिक यथार्थता से न बँधिए

२४८. ऊपर आपने जिस स्थिति का वर्णन किया है, वह क्या आज के विश्व के किसी भी देश में उपलब्ध है? क्या ऐसी स्थिति विश्व में वर्तमान रही है अथवा आगे कभी रहेगी?

—नहीं, आज किसी देश में वह स्थिति उपलब्ध नहीं है। कारण, देश स्वयं एक राजनीतिक धारणा है। वह स्थिति जब और जहाँ होगी, तो वहाँ देश की धारणा सीमित नहीं रह पायेगी। लेकिन वह स्थिति कल्पनातीत नहीं है। ईसाइयत उठी, इसलाम उठा, तब देशों-विदेशों का क्या हुआ था? क्या उस समय ऐसा नहीं मालूम हो आया था कि देश-विदेश अयथार्थताएँ हैं, सत्यता वह है जो भावनात्मक और धार्मिक है? हम मान लिया करते हैं कि राजनीति में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है, शेष इधर-उधर सब अवास्तविकता और भावुकता है। लेकिन ध्यान रहे कि जड़ से उठती हुई चेतना की परिणति परिस्थिति में विप्लव उत्पन्न कर सकती है। राजनीति देश को पहचानती है, व्यक्ति को वह जानना चाहती ही नहीं। नये विज्ञान ने अणु की सत्यता को परम सत्य के रूप में प्रकट कर दिया है। इसी तरह व्यक्ति घटक में से वह तेज और तपस्या का बल प्रस्फुटित हो सकता है, जो राजनीतिक परिस्थितियों में क्रान्ति जितना परिवर्तन ले आये। इसलिए राजनीतिक यथार्थताओं में ही दृष्टि को बाँध रखने की आवश्यकता नहीं है। ईसाइयत और इसलाम के प्राथमिक उन्मेष के समय की घटनाओं से

बड़ी उल्लेखनीय घटनाएँ शायद इतिहास में हैं ही नहीं। उनके मूल में कोई राजनीतिक यथार्थता ढूँढ़े भी नहीं मिलेगी। वहाँ चिन्मय स्फुलिंग था, जिसकी दीप्ति में से सदियों का इतिहास उखड़ता और बनता चला गया। इसलिए मेरी सलाह है कि आप परिस्थितियों की ओर से सत्य को न देखें, बल्कि अन्तर्भूत सत्य का विचार करें। उस सत्य की श्रद्धा में से अपरिमेय बल निकल आ सकता है।

प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग हो

२४९. इस बारे में अब दो मत नहीं रहे हैं कि भारत की अगाध प्राकृतिक एवं खनिज-सम्पदा का पूरा लाभ उठाने के लिए भारत का औद्योगीकरण किया जाय। अस्तित्व-रक्षा की दृष्टि से भी यह अनिवार्य बन गया है। तब उद्योगों के निजी स्तर पर विकास को आप श्रेष्ठ मानते हैं या सरकारी स्तर पर?

मानव-सम्पदा की बेकदरी क्यों हो?

—प्राकृतिक और खनिज-सम्पदा तो कुछ दूर और भीतर भी हो सकती है, लेकिन जो एकदम प्रत्यक्ष और प्रस्तुत है, उस अतुलित मानव-सम्पदा का क्या आप विचार नहीं करना चाहते? यन्त्र-विचार और उद्यम-विचार जो इस मानव-विचार से किनारा ले रहता है, तो क्या आप यह चाहेंगे कि मानव-सम्पदा की बेकदरी हो, क्योंकि धरती में गड़े हुए कोष की ही हमें कद्र करनी है? यह अन्धा और औंधा विचार होगा, जो मानव को मिट्टी और धातु को ही सोना समझना चाहता है। हमने बहुत शक्ति पैदा की है, इतनी कि एक बम लाखों लाख को भस्म कर दे। यह शक्ति अनिवार्य पाती है कि एक-दूसरे को काटने में ही अपने को खर्च करें। जबरदस्त हथियार बन रहे हैं—इधर पश्चिम की छावनी में, उधर पूरब की छावनी में। इतना ज्ञान-विज्ञान, श्रम-धन उस पर लग रहा है कि आँकड़े मिलें, तो हम अचरज में बौखलाये रह जायँ। उनका सिवा इसके क्या उपयोग हो सकता है कि वे एक-दूसरे को काटें और व्यर्थ करें। मैं कहता हूँ कि यह इसलिए हो रहा है कि मानव की जो मूल सम्पदा मानवता है, उसकी तरफ से ध्यान ओझल हो गया है और जाने फिर दूसरी किन-किन सम्पदाओं के फेर में पड़ गया है। भारत में इस मानव और मानवता के विचार को आत्म-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान कहा गया है। इसमें सचमुच झूठ नहीं है कि आत्मज्ञान के बिना वस्तु-विज्ञान हमें चक्कर और टक्कर के सिवा और कहीं नहीं ले जा सकता है।

दोनों का संयुक्त उपयोग हो

सम्पदा को देखने की दृष्टि अपने से दूर और बाहर जायगी, अपने में देखने को मानो विपदा और व्यर्थता मानेगी, तो उसमें से प्राप्त हुई उन्नति मायामय होगी और उसमें स्थायित्व न होगा, न मनुष्य की सार्थकता हो सकेगी। प्राकृतिक और खनिज का वह आविष्कार और उपयोग शुभ और सफल होगा, जो मनुष्य का ध्यान रखकर किया जायगा और उसकी पारस्परिकता को विच्छिन्न और विभक्त करनेवाला नहीं, बल्कि संयुक्त और सघन करनेवाला होगा। आज जिस प्रणाली से हम बाह्य सम्पदा के पीछे पड़े हुए हैं, उसमें प्रमाद के लक्षण देखे जा सकते हैं। उसमें तर्कबाजी की प्रेरणा है, उससे उत्कृष्ट और उन्नत कोई धारणा नहीं है। समष्टिभाव और हितभाव से उच्छिन्न यह स्वार्थ लिप्सा की प्रेरणा अधिक काल तक श्लाघनीय नहीं मानी जायगी। उसको प्रशंसा की भावना से देखना बहुत जल्द अशक्य हो जायगा। आज भी दर्पोद्धत राजनीतिक नेता-विजेता लोग मानवता के मन को उस तरह नहीं रख और जीत पाते हैं। जल्दी वह समय आ जाना चाहिए, जब कोरमकोर अहंवादी महत्त्वाकांक्षाओं में ऊपर उठकर चलनेवाला आदमी सहानुभूति और चिकित्सा का पात्र दीख आता है, सराहना आदि कोई और भाव वह हमारे मन में पैदा नहीं करता।

निजी और सरकारी उद्योग

२५०. मौलिक प्रश्न तो यह है कि आप औद्योगीकरण की निजी पद्धति को राष्ट्र और मानव के लिए श्रेयस्कर मानते हैं या सरकारी पद्धति को? निजी पद्धति में गति और संगठन कम होता है। सरकारी पद्धति में वेग इतना अधिक हो जाता है कि व्यक्ति शून्य बन रहता है। क्या वैज्ञानिक औद्योगीकरण की कोई मध्यममार्गी नीति आपकी दृष्टि में है?

सरकार वणिक् न बने

—सरकार उत्तरोत्तर निष्काम होती जाय, तो सही दिशा में उसका विकास हो रहा है, ऐसा मैं मान लूँगा। उद्योग-व्यवसाय सरकार को नहीं करना चाहिए। सरकार को वणिक् नहीं बनना चाहिए। वणिक् वह, जो आर्थिक लाभ की प्रेरणा से काम करता है। सरकार की प्रेरणा भी आर्थिक लाभ हो, तो इससे बहुत अनर्थ होगा। समाज में वे लोग अवश्य हैं, जिनकी वृत्ति अर्थी और व्यवसायी है, लेकिन ऐसे लोग भी हर स्वस्थ समाज में अवश्य होते हैं, जिनकी वृत्ति अर्थमूलक न होकर मानमूलक और नीतिमूलक है। जब व्यापार-व्यवसाय की

वृत्ति राज्य में पहुँच जाती है, तो ब्राह्म और क्षात्र-वृत्ति रखनेवालों से वैश्य को प्रधानता या उच्चता मिल जाती है। ऐसे समाज-मूल्य उलट जाते हैं और मानव-गुणों की अवगणना होने लगती है।

काम-काज सब आदमी द्वारा होना चाहिए। अर्थात् अर्थलाभ की प्रेरणा को निजीय से उठाकर सार्वजनिक स्तर पर कभी भी नहीं लाना चाहिए। शासन को उत्तरोत्तर स्वच्छ शासन और अनुशासन बनना है। अर्थलाभ को शासन-तन्त्र की प्रेरणा बनने देने से फल उलटा होगा। अर्थात् नैतिकता का ह्रास होगा और कोरी कार्मिकता का मूल्य बढ़ेगा।

शासन वह अच्छा, जिसे शासन करना न पड़े। अर्थात् शासन का उत्कर्ष कार्मिक से उत्तरोत्तर नैतिक बनने की दिशा में है।

वे सब काम, जो निजी प्रेरणा से आपसीपन के संगठन द्वारा हो सकें, उन्हें सरकार को अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। जो और किसी तरह सम्भव न हो सकते हों, उन्हीं कामों को सरकार को अपने हाथ में लेने का हक है।

समाज-मूल्य अर्थ नहीं, नीति हो

निजी उद्योगों से पूँजीवादी प्रवृत्ति बढ़ेगी, उस प्रकार के मनोभाव और जनवर्ग पैदा होंगे, यह आपत्ति की जा सकती है। पर समाज-मूल्य ही यदि अर्थ न रह जाय, मूल्य मानवीय और नैतिक हो, तो इस प्रकार कितना भी पैसा कमाने पर भी वणिक् व्यक्ति समाज के शीर्ष पर पहुँचा नहीं दिखाई देगा; अर्थात् पूँजीवाद का विष और संकट तनिक भी समाज में घर नहीं कर पायेगा। जब हमारा विचार ही आर्थिक बन जाता है, समूची सामाजिकता और सभ्यता को आर्थिक मान लिया जाता है, तभी धन प्रश्न उपस्थित करता है और शोषण का साधन बनता है। राज्य स्वयं उत्पादन-साधनों का स्वामी हो और बड़े-छोटे सब उद्योग सीधे उसके हाथ में हों, यह समाधान पूँजीवादी संकट से समाज का उद्धार नहीं करता है, बल्कि शायद उस संकट को और विकट बना देता है। कारण पूँजीवाद तब राज्य की अनुमति ही नहीं पाता, बल्कि स्वयं अपनी संघटना में ही राजकीय बन जाता है। कैपिटलिज्म अगर शोषक प्रणाली है, तो स्टेट-कैपिटलिज्म से वह बुराई और घनी होती है, कट नहीं सकती।

राजकीय पूँजीवाद से रोग बढ़ेगा

राज्य के हाथ में ही उद्योग हों, तो अन्तर्राष्ट्रीयता प्रतिस्पर्धात्मक और विग्रहात्मक ही बनी रहेगी। युद्ध की आशंका तब एक क्षण के लिए भी दूर नहीं हो पायेगी।

कारण, राष्ट्रीय स्वार्थ तब हमारी विश्व-व्यवस्था की बुनियाद में होंगे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अलग-अलग सिक्कों और मुद्राओं के चलन से रुँधा और फटा हुआ रहेगा, मुक्त और मानवीय नहीं बन सकेगा। विज्ञान की उन्नति के साथ समय आया है कि आवागमन, यातायात और लेन-देन आपस में अधिक खुला और भरपूर हो। राष्ट्र-राज्यों के हाथ में वह काम रहा, तो शस्त्रास्त्र-निर्माण से छुट्टी कभी नहीं हो पायेगी और एक युद्धोद्योग ही सब तरह के उद्योगों से मिलकर बढ़ा-चढ़ा ही नहीं रहेगा बल्कि उन पर सवार भी रहेगा। आवश्यकता है कि राजकीय अर्थ-प्रणाली (पोलिटिकल इकोनामी) की जगह अब एक मानवीय अर्थ-प्रणाली (ह्यूमन इकोनामी) का आरम्भ हो। राजकीय उद्योगवाद का सहारा लेकर मानो हम इस सम्भावना के मुँह को ही रोक देते हैं और इस तरह मनुष्य-जाति के परस्पर निकट आकर एक होने की व्यवहार्यता को आरंभ में ही नष्ट कर डालते हैं। राजकीय अर्थवाद पूँजीवाद को समाप्त नहीं करता, बल्कि केन्द्रीय पूँजी से होनेवाले रोग को स्थायी बनाने का उपाय करता है। कारण, उस प्रकार पूँजी समाज के चित्-केन्द्र में अर्थात् राज्य के अन्तःकरण में पहुँच जाती है और युद्ध-सत्तावाद को जन्म मिलता है। तब सत्ता ही वह मानव-विभूति बनती है, जिसके बिना सबके लिए सब कुछ फीका हो जाता है। आज कुछ दुनिया की वही हालत बनी हुई है। इसीसे कहना पड़ता है कि यह सभ्यता रोग के अन्तिम चरण पर जा पहुँची है। मानवता इसका बोझ अधिक काल तक नहीं उठा सकेगी। उसको अब नया जन्म लेना होगा और इस जर्जर आडम्बर को उतार फेंकना होगा।

पूँजी और सत्ता

२५१. पूँजी पर बैठे आदमी में आप विश्वास प्रकट करते हैं, पर सत्ता पर बैठे आदमी को आप शंका और भय की दृष्टि से देखते हैं। है तो दोनों जगह आदमी ही, यदि आपके अनुसार पूँजीपति समाज का विरोधी नहीं बन सकता, तो सत्ताधीश ही कैसे मानव-द्रोही बन सकता है? दूसरे, निजी उद्योगों की वकालत करने पर वस्तुस्थिति से पलायन का इल्जाम आप पर लगाया जा सकता है। क्या मेरी इस शंका के प्रकाश में आप अपने उपर्युक्त मन्तव्य को अधिक स्पष्ट करेंगे?

एक ही हाथ में तराज़ू और डंडा

—पूँजी में जहर तब पैदा होता है, जब उसमें सत्ता का रस मिलने लगता है। अर्थात् व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध से सत्ता और अधिकार-लिप्सा जागती है, तब मानो अमनुष्यता मनुष्यता के ऊपर आ जाती है। वैश्य पहले अर्थलाभ

के रस से अपने काम की प्रेरणा पाता था। जिसको पूँजीवाद कहते हैं, उसमें अर्थ में से सत्ता-भोग भी प्राप्त होने लगता है। वहीं से संकट बन आता है। अर्थ अन्त में वस्तु का प्रतीक है। वस्तु को व्यर्थ जानने लगना इतना दुस्साध्य नहीं है, किन्तु सत्ता का चसका गहरा और सूक्ष्म होता है। उसकी व्यर्थता का पता सहसा नहीं चलता। वह रस वस्तुपरक से भावपरक ज्यादा है। उसमें आदमी ज़्यादा दूर तक भूला और डूबा रह सकता है। इसलिए कोरे वैश्य से मैं उतनी हानि नहीं देखता, जितनी राज-वैश्य से देखता हूँ। वणिक् समाज में घुले-मिले बिना नहीं रह सकता। इसलिए वह सदा समाज-मूल्य के अधीन रहता है। लेकिन जो साथ ही राजा भी है, वह तो अपने को समाज-मूल्य का निर्माता मानने लगता है। वह तो सिर पर आता है और समाज-मूल्य को अँगूठा दिखा सकता है। समाज का वह प्रभु और स्वामी होता है। केवल वैश्य में वह कल्पना भी नहीं हो सकती। उसके पास फौजी ताकत तो होती नहीं, इसलिए बनिया सदा विनम्र और विनयी होता है। समाज का वह सेवक ही हो सकता है। पर अगर जिसके हाथ में डण्डा है, उसीके हाथ में तराजू भी है, तो समझ लीजिये, क्या कुछ अनर्थ नहीं हो सकता! इसलिए सत्ता के हाथ पूँजी-लाभ की बात रहे, तो इसमें मैं कुशल नहीं देखता।

२५२. **इसका अर्थ यह हुआ कि आप भारत-सरकार की अर्थनीति से रंचमात्र भी सहमत नहीं हैं और देश के साधनों को संगठित और उपयोग में लाने की जो योजनाएँ सरकार बना और चला रही है, उनमें आप कहीं गम्भीर त्रुटि पाते हैं। पहले यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आप पिछड़े हुए भारत के आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण को आवश्यक मानते हैं या नहीं? और यदि मानते हैं तो सरकार ने जिस नीति से यह काम हाथ में लिया है, उसमें कहाँ-कहाँ क्या-क्या गलतियाँ उसने कीं?**

हिसाब और अंकों का फेर

—हाँ, आज की सरकार से इस विषय में मेरा मौलिक मतभेद है। वह अंकों के और वस्तु के हिसाब के फेर में पड़ गयी है। यही कारण है कि देश के 'भावनात्मक ऐक्य' पर इतना मुखर और इतना अधिक और इतना बार-बार जोर देने पर भी देश में भावनात्मक अनैक्य बढ़ता जा रहा है।

उत्पादन के मोह में आदमी की उपेक्षा

निश्चय ही वह दृष्टि सम्यक् नहीं, जिसमें आदमी साधन और उत्पादन साध्य हो। वह दृष्टि भ्रान्त है, जो भौतिक की भाषा में देखती है। कर्म भौतिक ही हो सकता

है, पर दर्शन को तनिक ऊँचे रहना होता है। पाँव चलते धरती पर हैं, आँख उस तरह धरती पर गड़ी नहीं रह सकती, आगे देखती है। सोचना वह सच्चा सोचना है, जिसमें मनुष्य साध्य होता है। उस दृष्टि और उस विचार को नैतिक कहते हैं। लौकिक के मोह में नैतिक को जो भुलाया जाता है, सो भूल होती है और उसका दण्ड भोगना पड़ता है। आज की सरकार पर वही कर्म-ज्वर सवार है। उससे रंचमात्र भावस्फूर्ति जनता को नहीं प्राप्त होती। उसे पैसे का सहारा, पैसे का विश्वास है। आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान की प्रेरणा पैसे को साधन और साध्य माननेवाली जमात से नहीं मिला करती। औद्योगीकरण की जगह मैं उद्यमी-करण को प्राथमिकता दूँगा। उद्यम का सम्बन्ध मनुष्य से है, उद्योग का यन्त्र से। उद्यम जगाने पर हमारा ध्यान हो, तो भारत की चालीस करोड़ आबादी बोझ की जगह बल हो जाती है। कितनी अमित मानव-शक्ति भारत के पास है! धन की जगह क्यों वह ऋण बनी हुई है? केवल दूरदर्शिता और मर्मदर्शिता के अभाव से। आखिर बेरोजगारी की समस्या है तो क्यों है? सच ही बेरोजगार भार होता है। आदमी क्या धरती पर भार होने के लिए जनमा है? क्या वह उसका भूषण होने के लिए नहीं आया? फिर यह क्या है? उद्योगों से क्या हम सबको काम दे पाये और बेरोजगारी मिटा पाये हैं? असल में जब तक काम और रोजगार वह है, जो किसीके दिये लोगों को मिलेगा, तब तक समस्या कभी हल नहीं होगी। आबादी की संख्या के बराबर नौकरियों की संख्या पैदा करने की भाषा में हल को सोचना हिमाकत है। सोचना यह होगा कि क्यों कोई खाली हो? बेकार और खाली रहना कोई नहीं चाहता। फिर भी है तो क्यों है? इसी सवाल की जड़ में जायँ, तो क्या यही नहीं प्रकट होगा कि आस-पास के लिए उपयोगी बनने का कोई उपाय उसके पास नहीं छूटा है? पैसे की सभ्यता ने उसे हीन और बेकार बना डाला है। मिट्टी के खिलौने नहीं बन सकते, हाथ का कपड़ा नहीं बन सकता, आस-पास के साधनों से बननेवाली कोई चीज तैयार नहीं की जा सकती; क्योंकि पैसे के बाजार में वही, बल्कि बढ़िया चीज, सस्ती मिल जाती है! यन्त्र से बनी सस्ती-से-सस्ती चीजों से बाजार को पाट देने में उन्नति की पराकाष्ठा हमने देखी है। इसमें सब तरह का सामान घरों में भर जाता है और पेट अधभूखा रहता है। वह नीति, जो आदमी के लिए यही उपाय देखती है कि वह कारखाने में पगार-मजूरी पाये, मनुष्य का उद्धार नहीं कर सकती। अरे, मनुष्य में सृजनशक्ति पड़ी है। वह नीति निकम्मी है, जो उस शक्ति को जगाती नहीं है, उलटे घुला-घुलाकर मारती है और अन्त में पैसे के लालच से गाँव से उखाड़कर उसे शहर में ला धकेलती है।

आधा तीतर, आधा बटेर

मूल मतभेद यही है कि दृष्टि मानवीय से हमने आंकिक होने दी है और प्राथमिकताओं को भूलकर अप्रधान को हम प्रधानता दे बैठे हैं। गांधी ने जो किया, उसको मानो गलत बना देने पर आज की सरकार तुल गयी है। पहनती खद्दर है और उसे अनुदान भी देती है, पर चलती उससे उलटी है। वह यान्त्रिकता समझ में आ सकती है, जो कम्युनिज्म को प्रिय है। उससे असहमत होते समय भी लगता है कि कुछ है, जिससे असहमत होना भी सार्थक है। आज की बात का तो यही पता नहीं कि वह तीतर है या बटेर। उसमें श्रद्धा का और रीढ़ का अभाव है। उसमें कोई दर्शन नहीं है। उसका दिमाग पश्चिम में है, तो दिल पूरब में। वह सब होने की कोशिश में है, इससे कुछ भी नहीं रह जाती और सिर्फ पैसे की फुलझड़ी-सी जलती मालूम होती है।

उत्पादन फॉरेन एक्सचेंज के लिए

देश के पास जो साधन सबसे प्रस्तुत और प्रचुर है, वह उसका जनबल है। लेकिन हमको दिखाई यह देता है कि बल यन्त्रबल है और उससे हम हीन हैं। इस तरह उस दृष्टिमात्र से एक क्षण में हम दीन और दरिद्र बन जाते हैं। उसी क्षण मालूम होता है कि फॉरेन-एक्सचेंज कमाकर और बचाकर यन्त्र प्राप्त करना हमारे लिए पहला काम है। बस, अब हमें उधार चाहिए और दान चाहिए। हम ऊँची बातें करेंगे, क्योंकि हमारा देश राम-कृष्ण और बुद्ध का है और गांधी के ढंग से हमने स्वराज़्य लिया है। इसलिए कृपया हमारी सहायता कीजिये। देश अवश्य शस्य-श्यामल है, लेकिन अन्न से मदद कीजिये, इत्यादि-इत्यादि। हम अपना सारा ग्रामोद्यम इस आधार पर चलाना चाहते हैं कि कुछ कच्चा माल भेजें और पक्का यन्त्र प्राप्त करें, जिससे कि आगे कभी कच्चा बाहर भेजने की जरूरत से छुट्टी मिले। यह कि अपने यहाँ के कच्चे माल को अपने हाथों स्वयं उपभोग्य बनाकर कुछ हद तक स्वाश्रयी हो सकते हैं, यह हमें सूझता ही नहीं। सत्यता और शक्ति हमें मनुष्य के बजाय मशीन में दीखने लगी है। सो हमारा सारा उत्पादन फॉरेन-एक्सचेंज की माँग से जकड़ गया है। उसका सीधा सम्बन्ध हमारी आवश्यकता से न रहकर विदेशी मुद्रार्जन से हो गया है। मैं इस पद्धति का कायल नहीं हो पाता हूँ।

राष्ट्र-चेतना खण्डित

सबसे बड़ा अनिष्ट जो फलित होता है, वह यह कि जनता नाना प्रकार के राजनीतिक मतावेशों के लिए खाली रहने के कारण सहज आखेट बन जाती है। जितनी तेजी

से एक पर एक आनेवाली पंचवर्षीय योजनाएँ बढ़ती हैं, उतनी तेजी से राष्ट्र-चेतना के नीचे से अखण्डता की जमीन खिसकती देखी जाती है। योजनाओं का उत्पादन मनों के स्खलन को रोक नहीं पाता। उस घर का-सा हाल कहिये, जहाँ गृहस्वामी कातर है, अपने भाग्य और भविष्य के बारे में सन्दिग्ध है और लोक-लाज में मिष्टान्न और पकवान की तैयारी हो रही है। मन खट्टा है तो हो, मिठा-इयों का थाल तो देखिये, किस प्रकार सजा है।

मैं मानता हूँ कि देश की दुखती और धड़कती रग पर सरकारी वैद्य का हाथ नहीं है, वह वैद्यक के वाद में इतना लीन और लिप्त है!

२५३. हमारी सामाजिक समस्याओं में जाति-विद्वेष और वर्ग-विद्वेष की समस्याएँ सबसे भयंकर हैं। समय-समय पर ये सिर उठाती और देश की एकता को खतरे में डालती हैं। क्या आपको विश्वास है, देश की आर्थिक समृद्धि से यह जाति-वर्ग-विद्वेष समाप्त हो सकेगा और एकता की नींव पक्की हो सकेगी?

समृद्धि-वाद और राष्ट्र-वाद से वर्ग-वाद नहीं मिटेगा

—आर्थिक समृद्धि में मैं देखता हूँ कि जातिवाद और वर्गवाद मदद पहुँचाते हैं। मेरे कई बन्धु हैं जो धनाढ्य हैं। स्पष्ट देख सकता हूँ कि धनाढ्यता में उनका वर्ग-नेतृत्व और सम्प्रदाय-नेतृत्व बड़ा सहायक हुआ है। इस प्रकार की सम्पन्नता श्रेणियों, समूहों और गुटों को आवश्यक बनाती और उनकी नींव पर फलती-फूलती है। इसलिए मुझे प्रतीत होता है कि सम्प्रदायवाद अथवा जातिवाद की व्याधि का उपाय किसी राष्ट्रवाद या राष्ट्र-सम्पन्नता-वाद के पास नहीं है। कारण, जाति या वर्ग के समान राष्ट्र भी एक बड़े समुदाय का नाम ही है। अर्थात् केवल परिमाण और संख्या में बड़े होने के तर्क से एक समूहवाद दूसरे समूहवाद की जड़ों को नहीं काट सकता। कोशिश आजकल इसी की देखी जाती है। समूचे राष्ट्र की सम्पन्नता की दुहाई पर हम आशा करते हैं कि छोटे समुदाय स्वार्थ-त्याग सीखेंगे। स्वार्थ का त्याग तभी होगा, जब यह त्याग ऊपर से नीचे तक सारे समाज-जीवन के लिए अभ्यर्थनीय मूल्य होगा। राष्ट्र की समृद्धि को यदि हम मूल्य मानेंगे, तो हर व्यक्ति और हर समूह जाने-अनजाने उसके नीचे अपनी निजी समृद्धि की ओर बढ़ता दीखेगा। गांधीजी ने इसीलिए राष्ट्र को समृद्धि का आदर्श नहीं दिया था, बल्कि विश्व के हित में बलिदान हो जाने का आदर्श दिया था। अर्थात् उत्सर्ग और यज्ञ को एक स्वयं-प्रतिष्ठ मूल्य का स्थान दिया था। मेरा मानना है कि जिस समाज में अहिंसा और अपरिग्रह का मूल्य प्रतिष्ठित हो सकेगा, उसी समाज में समूह और समुदाय होकर भी वे परस्पर पूरक बनना चाहेंगे। ऐसा समाज तो असम्भव है जहाँ समु-

दाय या समूह हो ही नहीं। हम जातीय या साम्प्रदायिक समुदायों को आर्थिक श्रेणियों या वर्गों में परिणत कर दें, तो इससे विशेष अन्तर नहीं आनेवाला है। विभाजन खड़ी की जगह पड़ी लकीरों से हो, तो इसमें अपने आप में कोई उन्नति नहीं मान लेनी चाहिए। अन्तकाल तक भी ऐसा समय नहीं आनेवाला है कि जब समूची मानव-जाति अपने को एक घटक अनुभव करे और व्यक्ति अथवा परिवार या संस्था के लिए स्वत्वभाव का अवकाश ही न रह जाय। यदि एकता को हम इस अनेकता के विनाश के रूप में चाहते हैं, तो भूल करते हैं। वह स्वप्न बुद्धि के प्रमाद में ही बनता है। इसलिए मुझे जाति और वर्ग आदि को समाप्त करने के दावे में कोई सार दिखायी नहीं देता। बड़ी मछली छोटी को खा सकती है, लेकिन इस तरह मछलियों में छोटा-बड़ापन समाप्त नहीं हो सकता। राष्ट्र के द्वारा सम्प्रदाय को खत्म करना वैसा ही है, जैसा बन्दूक से तलवार को खतम करना हो सकता है। अर्थात् एक संगठन से दूसरे संगठन को मिटाने की चेष्टा अन्त में संगठनवाद को दृढ़ ही करती है। राष्ट्र की दुहाई पर और उस दायित्व तथा दावे को ऊँचा उठाये रखने के आधार पर कांग्रेस-संगठन की आज क्या हालत बन गयी है। हर जगह जो उसमें गुटबन्दी और धड़ेबन्दी दिखाई देती हैं, तो क्यों ? कारण यही कि चरित्र और गुण पर संख्या और संगठन को महत्त्व मिलने दिया गया है। सेना से सेना को काटने की नीति से सेनावाद को प्रोत्साहन ही मिलता गया है। राष्ट्र सम्प्रदाय की सफलतापूर्वक हिंसा कर सकता है, लेकिन इस शर्त पर कि वह हिंसा को अपनी राह बनाये। एक मतवाद को पकड़े, एक नेता को रखे और एक-तन्त्र अधिनायकवाद का संकल्प उठाये। उस रास्ते नहीं चलना है, तो बड़ी अहन्ता से छोटी अहन्ता को मिटाने की बात नहीं करना है।

जो व्याधि आज के दिन भारत देश को बरबाद कर रही है, उसे सम्प्रदायवाद, जाति-वाद और भाषावाद नाम देकर राष्ट्रवाद की सुई से दूर नहीं किया जा सकता है। वह व्याधि मूल की है और मूल्य की क्रान्ति से ही दूर हो सकती है। इसके लिए संख्या, समूह, समुदाय और संगठन से हटाकर निष्ठा को व्यक्ति-चरित्र में, गुण में, उसकी दायित्व भावना में प्रतिष्ठित करना होगा। अधिकार के ऊपर कर्तव्य को लाना होगा। हाकिम से अधिक सेवक को मानना पड़ेगा और हमारा बड़े-से-बड़ा आदमी वह होगा, जो अपने लिए कम-से-कम रखे और चाहेगा।

स्पष्ट है कि राष्ट्र के उत्कर्ष-दर्शन का वह आदर्श कोरी समृद्धि के आदर्श से भिन्न है।

२५४. क्या कारण है कि समृद्धि का लक्ष्य जो बुराइयाँ और कठिनाइयाँ भारत में पैदा कर रहा है, उन्हीं को उसने रूस, जर्मनी या अमरीका में नहीं पैदा किया? वे

देश बड़ी तेजी से भौतिक प्रगति करते जाते हैं और संगठित हैं। उनमें एक राष्ट्रीय चरित्र है, जिसका अभाव यहाँ कदम-कदम पर अनुभव होता है। जो चीज एक के लिए अमृत बनी है, वही दूसरे के लिए विष बन गयी क्यों प्रतीत होती है ?

समृद्धि पश्चिम के लिए अमृत नहीं बनी

—उनके लिए राष्ट्र-समृद्धि का आदर्श अमृत बना है, ऐसा मानने की भूल या जल्दी आप न करें। उन समुन्नत देशों को एक-पर-एक होनेवाले दो विश्व-युद्धों में क्यों फुँकना पड़ा ? मूल में उनके क्या यह राष्ट्रवादी हुँकार न थी ? वे देश हमसे दूर हैं। न अखबारों के जरिये और न विज्ञप्तियों के जरिये हम उन्हें देखने के आदी हैं। स्वर्ग सदा अपने से दूर रहता है। इसलिए आसान है कि हम अपने सपनों को वहाँ बिठा दें। लेकिन सच मानिये कि वहाँ चैन नहीं है। अगर है यहाँ से अपेक्षाकृत कुछ वहाँ की अच्छी स्थिति, तो इसलिए नहीं कि समृद्धि वहाँ का आदर्श है। बल्कि इसलिए कि समृद्धि वहाँ कुछ इतनी घटित घटना है कि आदर्श होने की उसके लिए उतनी आवश्यकता नहीं है। ज्ञान-विज्ञान वहाँ तेजी से बढ़ रहा है। वहाँ का विद्वान् या नेता धन की प्रतिस्पर्धा में लिप्त नहीं दीखता है। अर्थात् वहाँ ऐसे चिन्तक और कार्यकर्ता अधिक हैं, जिनके दिमाग में समृद्धि से कुछ ऊँचा और उन्नत आदर्श है। उसी मात्रा और सीमा तक वे देश हमसे बेहतर हैं, जितने आर्थिक समृद्धि के पार और ऊँचे भी वे देख सकते हैं। भारत को आध्यात्मिक और इन देशों को भौतिक कहकर यह न मान लिया जाय कि राष्ट्र-नीति के तौर पर भारत में कम अर्थ-दास्य है। असल में बात यह है कि उन देशों में अर्थ-विपुलता के आधार पर अधिक अर्थ-मुक्तता दिखाई देती है, जब कि हमारे यहाँ घोर अर्थ-दासता है। व्यवहार में अर्थ-सम्पन्नता को रखना एक बात है, दर्शन और नीति के केन्द्र में उसको रख लेना दूसरी बात है। भारत की राजनीतिक दृष्टि आर्थिक सम्पन्नता के लक्ष्य से एकदम भर और ढँक गयी दीखती है। वह हालत शायद उन देशों की नहीं है। इसीसे यह सम्भव बना है कि समूह और वर्ग वहाँ अपनी-अपनी अस्मिता को लेकर इतने आग्रही और उन्मत्त नहीं बनते हैं। ●

१२

विभेद, विग्रह, अनुशासन-हीनता

सम्प्रदायवाद का विष

२५५. समाज की जो भी स्थिति आज है, उसमें कैसे कहाँ से आरम्भ किया जाय कि वर्गों और सम्प्रदायों का विष बुझे और देश में एक ओज और तत्परता दीख पड़े, देश और अधिक रक्तपात और खण्डन से बच जाय ? आवश्यक नैतिकता के विकास के लिए क्या किया जाना जरूरी है ?

वस्तु-स्थिति की सादर स्वीकृति

—पहली बात यह आवश्यक है कि वस्तु-स्थिति को आदर भाव से स्वीकार करें। मुसलमान अपने को मुसलमान कहता है, हिन्दू हिन्दू, ब्राह्मण ब्राह्मण, सिख सिख, नेहरू-काटजू-किचलू काश्मीरी इत्यादि। जो जो हैं, उसको हम अनमने मन से न मानें, आदर के साथ स्वीकार कर लें, तब हमारी व्यवहार-नीति और राजनीति यथार्थवादी बनेगी, हठवादी नहीं रह जायगी। हम अपनी चाहों के वश होकर जब जीवन में चलते हैं, तो यथार्थताओं को सँभाल या मोड़ नहीं पाते हैं, रोष पैदा करके उनके प्रति टकरा जाया करते हैं। ऐसे एक गरमा-गरमी पैदा होती है और बेकार विग्रह का वातावरण बनता है। इसलिए राष्ट्र-नेता और राजनेता को कम-से-कम हठ और मतवादिता और अधिक-से-अधिक नम्रता और उदारता अपने पास रखनी चाहिए। राष्ट्र-नेता आखिर किसी प्रान्त, नगर, कुल, खानदान और शिक्षा-दीक्षा में से तो आता ही है। उसकी कुशलता अब इसमें है कि उस अमुक प्रान्त, नगर, कुल-खानदान और शिक्षा-दीक्षा आदि से इतना मुक्त हो जाय कि शेष के प्रति उतना ही आत्मीय जान पड़े। उसका निजत्व और स्वत्व अपनी जगह घिरा और बँधा न हो और वह केवल सर्व का प्रतिनिधि हो जाय। स्पष्ट ही यह तब हो सकता है कि जब वह अपनी सम्पन्नता और विशिष्टता का लोभ जान-बूझकर तज देगा और साधारणों में साधारण हो चलेगा। ऐसी ही हालत में सम्भव है कि इतर जन उसे अपना

आत्मीय मानें और अपने हित भी उसके पास सुरक्षित समझें। दूसरे शब्दों में यही अपरिग्रहता का आदर्श है, वस्तु के अपरिग्रह के साथ मत-स्वत्व का अपरिग्रह।

सम्पन्नता धर्मभाव की हो

आज की राजनीति और राष्ट्रनीति असम्पन्न और एकाकी व्यक्ति को पहचानती ही नहीं। भारतीय संस्कृति इसी स्वेच्छापूर्वक धनहीन और अपवादस्वरूप व्यक्ति को महत्त्व देती थी। सम्पन्नता वहाँ भाव की आवश्यक थी, जो फिर दूसरे प्रकार की सम्पन्नता को आस-पास जुटाने के सम्बन्ध में उदासीन हो जाती थी। कहना चाहिए कि आजकी राजनीति भारतीय आत्मनीति की दिशा से उलटी चल पड़ी है। वामपक्षी कहता है कि कांग्रेस-नीति में सम्पन्न, धनिक और अफसर-वर्ग के हित-स्वार्थ का अधिक ध्यान है। बहरहाल जहाँ भी हम वस्तुस्थिति को और साधारणता को आदर देने से अलग हटेंगे, वहाँ ही यह दुष्परिणाम सिर निकालेगा। जहाँ अपने-अपने को गिनना शुरू होगा, वहाँ पद और महत्व अपनों को ही दिया जाने लगेगा। इसमें से दुरभिसन्धि पैदा होगी और अविश्वास जन्म लेगा। मुझे प्रतीत होता है कि आज जो भारतीय राजकारण में फटाव नजर आ रहा है, सबको जो अपना-अपना हित सता रहा है और दूसरे का हित चुभ रहा है, सो इसी मूल त्रुटि के कारण। यह त्रुटि इतना बड़ा संकट न पैदा करती, यदि यह देश भारत न हुआ होता और हाल में यहाँ गांधी न पैदा हो गये होते। भारतीय परम्परा और गांधी-युग के कारण यह देश अपने नेता से महिमा की उतनी नहीं, जितनी माहात्म्य की आशा रखता है। बुद्धि के चमत्कार और वाग्मिता से अधिक निरहंकारिता, अकिंचनता और उदारता का दावा रखना चाहता है। कर्म से अधिक धर्म में उसकी आस्था है और धार्मिक प्रखरता से अधिक मानो नेता में धार्मिक सहिष्णुता की प्रत्याशा रखता है।

मूल्य-प्रतिष्ठा ऊपर से हो

मैं मानता हूँ कि जहाँ मूल्य का प्रश्न है, आरम्भ शीर्ष से ही हो सकता है। आरम्भ नेता से हो। नेता को पद और ऐश्वर्य से उतरना और साधारणता पर आना चाहिए। उससे परिस्थिति में एकदम सान्त्वना का भाव पैदा होगा। अपने-अपने लिए चाहने की वृत्ति पर जबरदस्त रोक-थाम आयेगी। न चाहना गुण समझा जाने लगेगा और पद-प्रतिष्ठा के लिए यदि प्रतिस्पर्धा होगी, तो उसकी चमक खो जायगी। तब एकाएक लगने लगेगा कि इस प्रतिस्पर्धा में पड़े लोग असली नहीं, हलके दर्जे के हैं। रचनात्मकता में पड़े लोगों का मूल्य बढ़ेगा और मालूम होने

लगेगा कि अव्वल किस्म के लोग ये हैं। एक वह समय था, जब दिल्ली राजधानी थी, लेकिन भारत का हृदय-तीर्थ सेवाग्राम था। दिल्ली के सेक्रेटरिएट से ज्यादा रौनक सेवाग्राम की कुटिया पर दीखा करती थी। तब भारत में जीवन के प्रकर्ष और उत्कर्ष का अनुभव होता था। प्रतीत होता था कि मूल्य सही धुरी पर टिके हैं। तब जनता राजा से ही नहीं थी, बल्कि आत्म-विश्वास से थी। अब सब पलट गया है और दिल्ली से बाहर ग्रामीण भारत में सूना सन्नाटा अनुभव होता है। कुटी मिट रही है और मंजिल-दर-मंजिल मकान दिल्लियों में खड़े होते जा रहे हैं। मन्त्री खद्दर अब भी पहनता है, लेकिन दिल उसका रेशमी-मखमली से आगे आसमानी है। पहला प्रश्न मूल्य का है और सही मूल्य की प्रतिष्ठा के लिए निश्चय ही ऊपर से शुरू करना होगा।

ग्राम-प्रधान संस्कृति

इसके बाद प्रश्न कर्म और निर्माण का आयेगा। इसका आरम्भ धरती से होगा, अर्थात् ग्रामोद्योग और ग्राम-स्वावलम्बन के कार्यक्रम से। वस्त्र-स्वावलम्बन और सहयोगी वृत्ति के आधार पर टिके इतर स्वावलम्बन से, ऊपर से देखने पर, जातिवाद, भाषा एवं प्रान्तवाद आदि रोगों का सम्बन्ध नहीं दीखता होगा। लेकिन इससे सारे जीवन को एक नागरिकता की भूमिका प्राप्त होगी और जो गुटबन्दियाँ शोषण से जुड़ी सम्पन्नता के आधार पर खड़ी होती हैं, गिरने और बिखरने लग जायँगी। केन्द्रित राजधानी जहाँ प्रमुख है, वहाँ सीमा पर समस्या खड़ी मिलती है। वहाँ सदा टक्कर दीखती है, जो भाषा आदि के नाम पर यदि कभी-कभी फूट पड़ती है तो निरन्तर अनबन का वातावरण तो बनाये ही रखती है। ग्राम-प्रधान पद्धति से सीमा का महत्त्व मिट जायगा और वहाँ कोई विकट प्रश्न खड़ा न दीखेगा। परम्पराएँ तब एक दूसरे में बहेंगी और बढ़ेंगी और इसी प्रकार जाति या समूह स्वयं सुरक्षा की चिन्ता छोड़कर इतरोन्मुख होने में लाभ देखेंगे और नागरिकता की भूमिका को स्वीकार करेंगे। अल्पमत-बहुमत की चेतना उत्कट नहीं होगी और प्रश्न मिले-जुले दिखाई देंगे।

नेता की ओर से मूल्य-प्रतिष्ठा, और जनता की ओर से उद्यम-प्रतिष्ठा, इससे हटकर अन्य राजनीतिक और संगठनात्मक उपाय अपनाने से रोग की जड़ पर प्रहार न होगा, बल्कि तब उलटे रोग का सिंचन होगा, ऐसा मुझे लगता है।

अल्पसंख्यकों की समस्या

२५६. अल्पसंख्यक जिन्हें सदा अल्पसंख्यक ही रहना है, जो अपनी अल्पसंख्यकता

की और अपने धर्म के निरन्तर खतरे में होने की दुहाई देकर बहुसंख्यकों को गालियाँ देने में ही अपना राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक हित देखते हैं, उन्हें एक स्थायी आश्वासन कैसे दिया जा सकता है? मेरी राय में यह आज की हमारी सबसे गम्भीर सामाजिक समस्या है। क्या आपके पास इसका कोई साफ सीधा हल है?

इक्यावन-उनचास का मन्त्र

—अल्पसंख्यकों का प्रश्न सहसा मन में असमंजस और उलझन पैदा कर सकता है। शक्ति की राजनीति उस समस्या से कभी छुटकारा नहीं पा सकती। उसके पास दमन और निर्दलन का ही उपाय रह जाता है, या अपीजमेंट, खुशामद आदि का। इक्यावन और उनचास के मन्त्र से जैसे डिमोक्रेसी में यह सन्तोष भी मिल जाता है कि यह बहुजन-हित की सिद्धि ही है, जिसके अर्थ अल्पसंख्यकों का दमन होता है। यह दबाव और हिंसा की पद्धति इतिहास में इस समस्या से निबटने के काम आती रही है। लेकिन इतिहास उस राह उलझन से निबटा नहीं है। अब उसको क्रमशः हिंसा के सहारे से उबरना और अहिंसक विधियों का अपने बीच विकास करना है।

व्यक्ति सर्वाधिक अल्पसंख्यक

थोड़ी देर के लिए समूह का विचार छोड़िये, व्यक्ति को लीजिये। वह तो अकेला और अत्यल्पसंख्यक है। वह कैसे जीता और अपने लिए सुविधा और विस्तार जुटाता है? हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति बढ़ते और फैलते जाते हैं। दूसरे अनेक कुण्ठित और अकृतार्थ दीखते हैं। व्यक्ति के प्रति शेष का क्या कर्तव्य है, इसीपर सब कुछ निर्भर नहीं रहता, बहुत कुछ स्वयं उस व्यक्ति पर भी निर्भर रहता है। अर्थात् यह प्रश्न परस्परता का है। किसी सिद्धान्त का नहीं है।

यही अल्पसंख्यक समूहों के बारे में सच मानना चाहिए। आज भी अमुक अल्पसंख्यक वर्ग सन्तुष्ट है और उन्नति कर रहा है। दूसरा उसी प्रकार का वर्ग अपने को रुका हुआ पाता है। ये परिणाम उस सम्बन्ध में से फलित होते हैं, जो एक का शेष के साथ बनता है।

नागरिक-भूमि पर सब समान हों

राजकीय तल पर उत्तम यह है कि सबकी नागरिक भूमिका हो और सब वहाँ समान हों। सबके एक-एक मत हों और बीच में समुदायों के अलग विचार करने की आवश्यकता न हो। उस देश या परिस्थिति में जहाँ आर्थिक श्रेणियाँ विषम नहीं

हैं, रहन-सहन का स्तर सबका समान है, नागरिकता का सूत्र आसानी से व्यवहार्य बन जाता है। अल्पसंख्यकों का प्रश्न उठता वहाँ है, जहाँ समाज में स्तरों की विषमता है और इसलिए किसी वर्ग के लिए विशेष विचार उचित जान पड़ता है।

विशेषाधिकार की नीति गलत

भारत में एक वर्ग है अनुसूचित वर्ग और दूसरा है पिछड़ी जातियों का वर्ग। इन दोनों वर्गों का विशेष ध्यान इसलिए आवश्यक होता रहा है कि वे अपेक्षाकृत हीन और दलित हैं। बहुसंख्यक लोगों की मानवीय भावना का भी यह सूचक है कि अपने पिछड़े भाइयों को अतिरिक्त सहारा दिया गया। इनके अतिरिक्त दूसरे वर्ग हैं, जिनका आधार धर्म है। मुस्लिम और पारसी उस प्रकार भिन्न और हीन स्तर के वर्ग नहीं हैं। पारसी तो अधिक सम्पन्न हैं। अन्तर धर्म का है। पूजा-विधि और धर्म-विधि की हर प्रकार की स्वतन्त्रता और सुविधा देने के बाद राज्य के लिए यदि यह आवश्यक होता है कि उनको संसद्, धारा-सभा या सेवाओं में अलग प्रतिनिधित्व भी दे, तो उस अवस्था को अस्वस्थ, अनुन्नत और गठीली मानना चाहिए। समुदाय दूसरे आधारों पर भी बन सकते हैं। जातिवाद तो नात्सी-दर्शन की बुनियाद ही बन गया था। लेकिन इन सब आधारों पर विशेषाधिकार का दावा हो, तो नागरिकता खण्डित हो जाती है। पारस्परिक व्यवहार का क्रम सहज नहीं रहता और वैधानिक दखल समाज में एक दुराव और तनाव पैदा किये रहता है। अर्थात् अल्प-बहुमत का प्रश्न अस्वस्थ और कृत्रिम हुआ करता है।

बहुसंख्यक अल्प-संख्यकों का ध्यान रखें

स्वस्थ समाज में बहुसंख्यक वर्ग अनायास ही अल्पसंख्यकों का ध्यान रखेगा। अर्थात् अल्पसंख्यक बन्धुओं की ओर से विशेषाधिकार माँगने के बजाय त्यागने का प्रयत्न होते रहना चाहिए। अगर इस माँग में आग्रह-विग्रह की ध्वनि आती है, तो बहु-संख्यक में उसके प्रति अविश्वास और परायापन पैदा होने लगता है। इसमें उसीके स्वार्थ-हित की हानि है। आखिर तो बहुसंख्यकों के साथ रहना है। हिल-मिलकर जितना रहा जायगा, उतनी ही अल्पसंख्यकों की बेहतरी और स्वार्थरक्षा है। एक व्यक्ति असंख्य के बीच में जिस नीति से जीता और बढ़ता है, वही नीति अल्प-संख्यक समुदाय के लिए समीचीन है। व्यक्ति के विशेषाधिकार कोई नहीं सोचता। सोचने की आवश्यकता भी नहीं। स्पष्ट है कि अस्वस्थ को, अपंग को, रुग्ण को विशेष सेवा प्राप्त होती है। इसको किसी विशेषाधिकार से नियुक्त करने की आव-

श्यकता नहीं होती। समाज का अन्तरंग स्वास्थ्य अपने आप उपयुक्त व्यवस्था कर देता है। ऐसे ही किसी अल्पसंख्यक वर्ग के हितों की कानून द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। सामान्य कानून नागरिक को जो सुरक्षा देता है, वह पर्याप्त होनी चाहिए। ऐसा जब और यदि हो सकेगा, तो अल्पसंख्यक का प्रश्न उसी भाँति नहीं रहेगा, जैसे समुद्र में बूंद का प्रश्न नहीं रहता है।

सामाजिक सम्बन्ध स्पर्धात्मक न रहें

राजनीति जब तक दबावों के द्वारा चलती है, तब तक मानो अल्पमत के प्रश्न को पैदा करने में निहित स्वार्थ बना रहता है। आज यह स्वीकार करना चाहिए कि राजनीति में राज का जोर है, नीति का बिलकुल भी जोर नहीं है। राज का जोर उत्तरोत्तर कम होगा। कारण, जीवन के विकास के साथ प्रकट होता जा रहा है कि राज्य अधिकार कम और कर्तव्य अधिक है। अब ठाटबाट का परिमण्डल शासक के आस-पास से घट रहा है और दायित्व का आरोप बढ़ता जा रहा है। इस तरह राजनीति क्रमशः राजकीय कम होती जायगी और उसे अधिकाधिक नैतिक बनते जाना होगा। यदि नैतिक मूल्य समाज और राज्य के काम-काज में चलन में आ निकलेंगे, तो उसीके साथ अल्पसंख्यक का प्रश्न विलीन होता जायगा। अन्तर हर दो आदमियों में है। लेकिन उस अन्तर के कारण हमेशा परस्पर डर में कानून की शरण ही नहीं खोजनी पड़ती, बल्कि वह अन्तर मैत्री को सरस और सार्थक करता है। सामाजिक सम्बन्ध जितने स्पर्धात्मक होंगे, उतना ही मनुष्य मनुष्य का आखेट बनेगा और पारस्परिक क्षेत्र अविश्वास और संकट से छाया रहेगा। लेकिन जब स्पर्धा की जगह सहयोग और सहजीवन का भाव उदय होगा, तो विभिन्नता और विविधता आनन्द और विनोद की वस्तु होगी और एक व्यक्ति जैसे दूसरे व्यक्ति के लिए, उसी तरह एक समुदाय दूसरे समुदाय के लिए, पूरक होगा। उसमें खतरे का नहीं, बल्कि सहायता और सान्त्वना का कारण दीखेगा। मानना होगा कि आज भारत की परिस्थिति अनेक कृत्रिमताओं से घिरी और घुटी है। इसलिए नैतिक मान चलते दिखाई नहीं देते। मनों में फटाव और तनाव है। इसका उत्तर राजनीति के पास इसलिए नहीं है कि वहाँ राज्य की प्रधानता है। उपचार मानव-नीति के पास है, क्योंकि वहाँ प्रधान मानव है। मानव को लक्ष्य में रखें और दूसरे विशेषणों को उतनी प्रधानता न दें, तो हमें अनायास नागरिक भूमिका प्राप्त हो जाती है और वर्गीय और जातीय या साम्प्रदायिक अहंकार बिखरे हुए नजर आने लगते हैं। मुझे हल वहीं दीखता है।

इस समस्या की जड़

२५७. अल्पसंख्यकों की समस्या का कोई भी हल धर्म-निरपेक्षता और समाजवाद की नीति क्यों प्रस्तुत नहीं कर सकी, इस समस्या की जड़ ऐतिहासिक पुष्टि से आप कहाँ देखते हैं? गांधीजी और कांग्रेस की अपीजमेण्ट की नीति में या ब्रिटिश-सरकार की 'डिवाइड एण्ड रूल' की कूटनीति में या उससे भी परे मुस्लिम-युग में?

विभेद सह-अस्तित्व में लुप्त

—भारतीय परम्परा में अनेकानेक विभेद सह-अस्तित्व में समाते और मिटते रहे हैं। भारत राजनीतिक दृष्टि से कभी एक और संगठित नहीं रहा। अनेकानेक राजा और नवाब एक ही साथ यहाँ राज करते और आपस में लड़ते-झगड़ते रहे, लेकिन उससे गहरे तल पर सामाजिक जीवन कभी बहुत अधिक उद्विग्न नहीं हुआ। उस तल पर सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया निरन्तर क्रियाशील रही।

राष्ट्र-राज्य की नयी कल्पना का उदय

उस इतिहास और परम्परा पर अंग्रेजी कम्पनी का राज्य आया। यह एक नयी चीज थी। राज्य के केन्द्र में राजा का व्यक्तित्व यहाँ उतना नहीं था, जितना कि तन्त्र था। राज्य उस पश्चिम से आयी व्यवस्था में एक बड़ा संगठन था। कहना चाहिए कि अंग्रेज के आगमन से भारत को एक पृथक् राजनीतिक राष्ट्रवाद की चेतना मिली। अब तक भारत एक सांस्कृतिक भाव-खण्ड था। भौगोलिक सीमाओं के सैकड़ों योजन इधर-उधर हटने से उस भारतीय अखण्डता पर कोई क्षति नहीं आती थी। किसी राजनीतिक संविधान या शासन में उस अखण्डता को स्वरूप पाने की आवश्यकता न थी। भारतीयत्व लोक-निर्भर था, राज्य-निर्भर था ही नहीं। अंग्रेज के आने के साथ राष्ट्र और राज्य की एक नयी कल्पना भारत को प्राप्त हुई। नयी राजनीति का उदय हुआ। उस राजनीति में 'बाँटो और राज्य करो' की नीति फलित हुई। यह यों राजाओं की भी नीति रही होगी, लेकिन समाज-नीति के तौर पर उसका व्यापक प्रयोग और उपयोग न था। वहाँ धाराएँ और वर्ग अनजाने आपस में घुल-मिल जाते रहे थे। राजकारण में भले ही पहले वे मुठभेड़ में आमने-सामने आये हों, लेकिन शनैः-शनैः उनमें हेल-मेल बढ़ता और एक सामाजिकता पनपती जाती थी। अंग्रेज के द्वारा जो राजनीति का नया स्वरूप आया, उसने इस एकीकरण में बाधा डाली। तब राज्य में व्यक्तियों या परिवारों का नहीं, बल्कि जातियों या सम्प्रदायों का उपयोग होने लगा। पृथक् प्रतिनिधित्व और चुनाव की धारणा पैदा हुई। मूल हिन्दुत्व में सब प्रकार के मतवादों को समाने

की क्षमता थी। कारण, हिन्दू एक संस्कृति थी, मतवाद न था। अंग्रेज न आता तो हिन्दुत्व और इस्लाम का क्या संश्लेष घटित होता, कहना मुश्किल है। लेकिन इतना निश्चित है कि 'टू-नेशन' वाली बात न पैदा हुई होती। वहाँ से हमने इस अल्पसंख्यावाले प्रश्न को विरासत में पाया है।

धार्मिकता और सेक्यूलरिज्म

कांग्रेस और गांधी को जिस परिस्थिति से मोर्चा लेना पड़ा, उसमें यह प्रश्न मौजूद था। नजर-अन्दाज उसे नहीं किया जा सकता था। लेकिन इस प्रश्न की ओर गांधी का रुख जब कि धार्मिक और मानवीय था, तब कांग्रेस का राजनीतिक और सांख्यिक था। कांग्रेस गांधी के साथ थी, पर आधी दूर तक । राजनीतिक लाभ जहाँ तक गांधीजी की नीति और शक्ति से मिलता था, कांग्रेस को मान्य था। आगे चलने की वृत्ति कांग्रेस के पास न थी। साम्प्रदायिकता का इलाज गांधी के पास धार्मिकता था। गांधी का आग्रह था कि हिन्दू सच्चा हिन्दू बने, मुसलमान सच्चा मुसलमान बने। स्पष्ट था कि अपनी-अपनी जगह सच्चा बनने की कोशिश में हिन्दू और मुसलमान सच्चा इन्सान बन निकलेगा और फिर समस्या आसान हो जायगी। लेकिन स्वराज्य से पहले भी नेहरू और कांग्रस के मन में धार्मिकता के लिए जगह न थी और उसे धर्म-निरपेक्षता (सेक्युलरिज्म) में से साम्प्रदायिकता (कम्युनलिज्म) का त्राण आता मालूम होता था। खैर, बँटवारा हुआ। कांग्रेस ने बँटवारे को और भारत के राज्य को स्वीकार किया। गांधीजी ने दोनों ओर से मुँह फेरकर नोआखाली की तरफ रुख किया, जहाँ साम्प्रदायिकता की ज्वाला भयंकर नर-बलि ले चुकी थी। यह सब इतिहास की और जानी-बूझी बात है। लेकिन वह सेक्युलरिज्म अब भी शस्त्र के तौर पर हाथ में है और आशा की जाती है कि वह कम्युनलिज्म को नेस्त-नाबूद कर देगा। कांग्रेस की मुहिम का पहला नारा है 'सम्प्रदायवाद का नाश हो।' शायद उसमें कानून की भी मदद की राहें खोजी जा रही हैं। स्वीकार करना चाहिए कि मुझे उसमें से साम्प्रदायिकता के शमन की कोई सम्भावना नहीं दीखती है। धर्म-निरपेक्षता नागरिक-भूमि पर अच्छी ही चीज है, वहाँ सब धर्म समान हो जाते हैं। लेकिन हृदय की भूमि पर समान आदर और समान उपेक्षा में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। धार्मिक वृत्ति में सर्व-धर्म-समादर है। लौकिक वृत्ति में उसे सर्व-धर्म-अनादर कहेंगे। यह सर्व-धर्म-अनादरवाली लौकिक वृत्ति सम्प्रदाय-वाद को घुला नहीं सकेगी, बल्कि उसे तीखा और तेज कर डालेगी। सम्प्रदाय और धर्म के अनादर से सम्प्रदाय और धर्म से होनेवाले अनिष्ट को काटा जा सकता है, यह निरी आशा और कल्पना

हैं। यह थोथा अहंकार है। उस प्रकार के नारे या घोष को हाथ में लेकर चलने से होगा केवल यह कि, भारत की धर्मप्राणता के बल से कांग्रेस विहीन बनेगी। भारत की काया में सबसे प्रबल प्रेरणा-शक्ति जो सनातन काल से पड़ी हुई है, वह है यही धर्म-भावना। इससे अलग और विच्छिन्न होकर जो राजनीति चलेगी, उसका कोई भविष्य यहाँ नहीं है। राज्य-शक्ति उसके हाथ में आ भी सकती है, लेकिन लोक-शक्ति का अन्तरंग बल उसे न होगा और एक दिन उसे गिरना होगा। कारण, वह नीति से हीन राजनीति होगी और उस वोट-संगठन के आधार पर वह अपनी विजय चाहेगी जिसे नैतिकता का समर्थन नहीं है। उस प्रकार की दुहाई और वैसे प्रयत्न से सम्प्रदाय उलटे पनपेंगे। इधर मुस्लिम लीग उपजेगी और पनपेगी, उधर जनसंघ और अकाली-दल ताकत पायेंगे। अवज्ञा और उपेक्षा से कोई अस्मिता कभी टूटी नहीं है, बल्कि उसे समर्थन मिला है। अहंकार में कभी नम्रता और ऋजुता आयेगी, तो सामने के आदर-सत्कार की निरहंकारिता में से आयेगी, कभी किसी दर्पोक्ति में से नहीं आ सकती। जो यह कहने की इच्छा रखता है कि वह हिन्दू है न मुसलमान, और यह कहकर मानो गर्विष्ठ बनता है, वह हिन्दू और मुसलमान दोनों से दूर पड़ता है, दोनों को निकट लाने में असमर्थ बनता है। गहरे आदरभाव में से ही हम दूसरे के मन को पा और जीत सकते हैं।

धर्मभाव अपने अन्तिम अर्थ में सृष्टिमात्र के प्रति निश्छल आदरभाव है। यहाँ गांधी-नीति और गांधी-प्रवृत्ति की याद आती है। हमारा राजकारण उस पद्धति से चला होता तो सम्भव था कि कायदे-आजम जिन्ना से मुफ्ती किफायतुल्ला का अधिक महत्त्व बन जाता और लीग के बजाय कांग्रेस को जमीयतुल-उलमा से अपनी सन्धि-चर्चा चलाने का अवसर आता। तब प्रश्न का धरातल बदला हुआ होता और आज इतनी विकट स्थिति न होती। नियमित नमाज अगर सही मुसलमान की कसौटी होती, जो कि होनी चाहिए थी, तो कायदे-आजम उस पर बहुत सही नहीं उतर सकते थे। धर्म के स्तर तक पहुँचते तो शक्ति और संख्या के बल पर चलनेवाली नीति आप ही गिर जाती। श्री नेहरू के पास वह गहरा दर्शन नहीं है, इसलिए संकीर्णता को काटने और विशालता लाने का उपाय भी उनके पास नहीं रह जाता। सेक्युलरिज़्म के नाम पर इसीसे कोई धर्मोत्तीर्णता प्राप्त होती नहीं दीखती, बल्कि संकीर्ण-स्वार्थता का ही बोलबाला दिखाई देता है। हार्दिक धर्मभाव से भी विमुख होकर चलने से मुझे नहीं लगता, साम्प्रदायिकता के शमन की दिशा में कोई इष्ट-लाभ प्राप्त किया जा सकता है। धर्म आज संगठित संस्था-सम्प्रदाय का रव बन उठा है। अतः धर्म से यदि शाब्दिक भ्रम पैदा होता हो तो हम 'अध्यात्म' कह सकते हैं। अध्यात्म अर्थात् दूसरों में और सबमें वही आत्मा देखना।

इस तरह अध्यात्म द्वारा सबके प्रति एक गहरा आदर और ममत्व का भाव पैदा होता है। वह अध्यात्म लौकिक प्रयोजनवाद पर नहीं टिकता है और उसमें से स्वार्थ-लाभ की जगह स्वार्थ-त्याग निकलता है। उस अध्यात्म के स्पर्श से राजपद का महत्त्व क्षीण हो जाता है और लोक-सामान्य के प्रति आस्था बढ़ती है। सेक्युलरिज्म की राजनीति इस स्पर्श से कोरी रहती है। वही रहा, तो इससे सम्प्रदाय को ही नहीं, बल्कि गुटवाद और व्यक्तिवाद को भी बल पहुँचेगा, जो शायद दीख भी रहा है।

२५८. जंगली और सभ्य, भीड़ और समाज, में क्या नीति, नियम, परम्परा और संस्कृति का ही अन्तर नहीं है? हमारे आज के समाज में जो एक अनुशासन-हीनता, विशृंखलन और परम्पराओं को भंग करने की बेबसी-सी दीख पड़ती है, उसका क्या मूल कारण आप मानते हैं?

भेद धारणात्मक

—सब भेद धारणात्मक हैं। हम अपने को सभ्य मानते हैं। जंगल में रहनेवाली आदिम जातियों को शायद असभ्य। पर अनेक आधुनिक लेखक हैं, जो सभ्यता को कृत्रिम और हीन कहते हैं और वन्य जीवन-पद्धति को अकृत्रिम, अतः उत्तम बतलाते हैं। इसलिए फैसले के भाव से चलना जोखिम का काम है। अहंकार का तकाजा होता है कि आदमी अपने को बढ़कर समझे, दूसरे को घटिया माने। हमारे निर्णयों में यह अहंकार का दोष हो, तो किसको पता। अतः व्यक्तियों या जातियों के तुलनात्मक निर्णय से मैं बचूँगा। किसी परीक्षा के फल में प्राप्त अंकों के निर्धारण में नहीं उतरूँगा।

सम्बद्धता और मर्यादा

लेकिन यह ठीक है कि भीड़ और समाज में फर्क होता है। भीड़ में हर-एक हर-दूसरे से मानो रगड़ खाता हुआ चलता है। यह अलग है, वह अलग है और दोनों के बीच सम्बन्ध का कोई सूत्र या मर्यादा नहीं है। समाज में वह सम्बद्धता और मर्यादा हुआ करती है समाज का प्रत्येक घटक नागरिक है। पहले वह सहृदय है। भीड़ में आदमी कोई नाता (बिलोंगिंग) नहीं अनुभव करता। वहाँ वह मानो अकेला होता है, सब कर्तव्य से और सब अधिकार से मुक्त, मानो वह आदमी न हो, अंक हो, कण हो और कुल भी हो।

व्यक्तिवाद और समाजवाद की उत्पत्ति

यह सम्बद्धता और मर्यादा का, कर्तव्य और दायित्व का, तारतम्य सामाजिकता

का निर्माण करता है। यह समाज का कोई वाद नहीं हो जाता, मनुष्य की अन्तर्भूत प्रकृति में से यह सामाजिकता प्रतिफलित होती जाती है। यदि मनुष्य का प्रकृत और समीचीन विकास हो, तो व्यक्ति पारिवारिक और सामाजिक के अतिरिक्त कुछ हो नहीं सकेगा। असामाजिक तत्त्व उसमें पुष्ट न होंगे। लेकिन हुआ यह कि मनुष्य में बुद्धि का विकास पिछले दो-ढाई सदियों में तीव्रता से उछला। विज्ञान उभरा और उसके परिणाम में मशीनी उद्योग आरम्भ हुए। इस औद्योगिक क्रान्ति में से घनी आबादियाँ और श्रेणीभाव पैदा हुए। ठीक उसी समय एक नयी आवश्यकता और नयी कोशिश हुई, जिसका नाम हुआ समाजवाद। समाज और उसके सामूहिक हित की एक अलग धारणा बन आयी और मालूम हुआ कि व्यक्ति और समाज दो हैं। आप अचरज में न पड़ें, जब मैं यह कहता हूँ कि समाजवाद के साथ ही व्यक्तिवाद उत्पन्न हुआ। मछली इतने अनिवार्य भाव से पानी में रहती है कि अपने से अलग पानी के हित का विचार वह नहीं कर सकती। उसी तरह मानव व्यक्ति साँस लेने तक के लिए समाज पर निर्भर करता है। सम्बद्धता के बिना वह हो नहीं सकता, रह नहीं सकता। वह पशु नहीं है, मनुष्य है, इसीमें यह समाया है। लेकिन जब समाज एक स्वतन्त्र धारणा और स्वतन्त्र अस्तित्व बन गया, तो मनुष्य को अपने पृथक् व्यक्तित्व का भान हो चला। पहले एक नैतिकता काम करती थी, जिसका एक सिरा स्वयं व्यक्ति अपने में अनुभव करता था। नैतिकता की जगह अब एक समाजवादिता का मूल्य चला, जिसका सत्य मानो व्यक्ति से स्वतन्त्र था, उसमें अन्तर्भूत न था। इस तरह व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध उतना सम्पूर्ण न रह गया, वह मानसिक बन गया। मानो वह जीवन-संस्कारिता का विषय न हो, नियम और नियन्त्रण का विषय हो। मैं मानता हूँ कि व्याधि की जड़ यहाँ है। धर्म-नीति का स्थान समाजवाद ने लिया। अर्थात् समाज-धर्म घटकर समाजवाद तक उतर आया। व्यक्तिवाद का आरम्भ इस तरह समाजवादी विचार के उदय के साथ ही हुआ। पश्चिम में आर्ट और आर्टिस्टिक के नाम से जो पन्थ चलता है, वह समाजवादी विचार की प्रतिक्रिया से अतिरिक्त क्या है ?

सामाजिक और स्वगत कर्तव्य

'अनुशासन-हीनता', 'विश्रृंखलन' और 'परम्परा-भंग' आदि निषेधक शब्द हैं और दोष-जैसे जान पड़ते हैं। लेकिन जहाँ से ऐसी प्रवृत्ति आती है, वहाँ दोष का भाव होता ही नहीं, बल्कि वहाँ एक औचित्य और आत्म-समर्थन का भाव दिखाई देता है। अनुशासन-भंग को वे लोग आत्म-निर्णय कह सकते हैं। विश्रृंखलन को

स्वायत्तता और परम्परा-भंग को नवनिर्माण की प्रगति मान सकते हैं। अर्थात् आप प्रश्न को सामाजिक हित की ओर से देखते हैं, तो वे स्वाधिकार की ओर से। स्पष्ट है कि इस तरह कर्तव्यों की दुहरी धारणा उत्पन्न हो जाती है। एक सामाजिक कर्तव्य, दूसरा स्वगत कर्तव्य। सामाजिक कर्तव्य का निर्णय व्यक्ति में से नहीं आ सकता, क्योंकि उस पर अधिकार वेलफेयर स्टेट या समाज-शासक का है। जहाँ से नियन्त्रण और नियमन चलता है, वहीं ठेका है कि समाज-कल्याण का फैसला करे और उस पर पहरा रखें। अर्थात् सामाजिक हित एक वह तत्त्व बन जाता है, जो व्यक्ति-मानस से स्वतन्त्र है या उस पर दबाव लाता है। इस तरह व्यक्ति की अस्मिता को उलटे चोट मिलती, खुराक मिलती है और शासन अथवा समाज के प्रति समर्पित होने के बजाय वह अनयास शासन-मुक्त और समाज-मुक्त होना चाहने लगता है। जिसको वामपक्षीय या समाजवादी विचार कहें, उसकी यही अक्षमता है। उससे अभेद का नाश हो जाता है, व्यक्ति और समाज में भेद की सृष्टि होती है। यह द्वैत बढ़ते-बढ़ते तनाव और फिर विग्रह में फटने और फूटने लगता है। विडम्बना की स्थिति यह बनती है कि शासन की ओर से जो निन्दनीय है, श्रमिक या विद्यार्थी या प्रजाजन की ओर से वही अभिनन्दनीय बन जाता है। समाज और व्यक्ति, जो एक ही सत्यता के अंग हैं, समाजवादी विचार और प्रचार से मानो उसके बीच का सूत्र छिन्न-भिन्न हो जाता है और वे दो अलग-अलग सत्य जैसे जान पड़ने लगते हैं। तब दृष्टियों और कर्तव्यों में ही द्वैत पड़ जाता है और विग्रह मानो स्थायीभाव क्या, संचारी-भाव जैसा ही हो जाता है।

नीति के क्षेत्र में अद्वैत हो

उपाय यह है कि दर्शन और कर्तव्य की एक धारणा का निर्माण हो और नीति के क्षेत्र में द्वैत न रह जाय, अद्वैत प्रतिष्ठित हो जाय। समाज में राजनीति और मानव-नीति जैसी दो नीतियाँ न रह जायँ और राजनीतिक द्वन्द्ववाद सर्वमान्य रूप से अनैतिक बन जाय। आज तो चुनाव-संघर्ष, पारस्परिक बदाबदी और काटा-काटी ही मानो विनोद और गौरव की चीजें बन गयी हैं। इस पद्धति से ऊँचे उठे आदमी को हम राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक और सार्वजनिक सम्मान भी देते हैं। परिणामतः मूल्यों के सम्बन्ध में भारी भ्रान्ति समाज में छा जाती है। नैतिक का अवमूल्यन होता है और राजनैतिक गुटबाजी में महत्त्व पड़ जाता है। आप समाज में जिस संकट की ओर ध्यान दिला रहे हैं, उसके मूल में मैं यह कारण देखता हूँ। यानी सचराचर सृष्टि से तोड़कर समाज की संज्ञा को हमने स्वतन्त्र सत्ता दे दी है और उसकी वेदी पर राज्य को देवता के रूप में बिठाकर मानो ईश्वर का

बहिष्कार कर दिया है। ईश्वर घटघट-व्यापी होने से व्यक्ति के भी अन्दर सत्यता प्राप्त कर सकता और नैतिक भाव जगा सकता था, जब कि राज्य सेक्रटरिएट से बाहर नहीं जा सकता और व्यक्ति को प्रेरित करने के स्थान पर उसे नियन्त्रण ही दे सकता है।

इसीका दूरगामी परिणाम है कि सत्ता सुघटित हो रही है और मानवता विघटित होती जाती है।

व्यक्ति में शैतान

२५९. नियम और कानून का व्यक्ति के जीवन में आप क्या स्थान निश्चित करते हैं? नियमों, कानूनों की शाश्वता क्या यह नहीं सिद्ध करती कि व्यक्ति-मानस में कुछ है, जो शैतान की संज्ञा रखता है? जब आप व्यक्ति को समाज से बढ़कर महत्त्व देना चाहते हैं, तब क्या इस शैतान का ध्यान आप रखते हैं? व्यक्ति के हृदय में छिपा यही शैतान क्या समाज के सभी उत्पातों के लिए जिम्मेदार नहीं है? और आज हमारे समाज में इसीको खुली छुट्टी मिल गयी है। क्या आप इस स्थिति से सहमत हैं?

व्यक्ति में ईश्वर

—नहीं, मैं शैतान को नहीं मानता, केवल ईश्वर को मानता हूँ। ईश्वर के किसी विभाव को ही आप शैतान का नाम देना चाहें, तो शायद मैं सहमत हो जाऊँ। लेकिन अगर ईश्वर है तो मूल में शैतान कहाँ से हो सकता है? इसलिए शैतान का शुद्ध नाम असत् है।

व्यवस्था-विचार, नैतिक-विचार

लेकिन व्यवहार में यही मानकर चलिये कि शैतान है। भाषा में यह कहना सहसा निरर्थक नहीं है। जान पड़ता है कि असत् की भी सत्ता है। व्यक्ति में शैतान विद्यमान रहता है। वैसा न होता, तो उद्यम की आवश्यकता न थी। न पुरुषार्थ में ही तब कुछ अर्थ रह जाता। लेकिन समाज सत् का प्रतीक है, व्यक्ति असत् का, यह मानना एकदम भूलभरा है। समाज पर व्यक्ति की प्रधानता मैं चाहता हूँ, यह कल्पना आपने कहाँ से ली? नहीं, प्रधानता और गौणता का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्ति प्रत्यक्ष है, समाज परोक्ष। उनमें तुलना और तरतमता का प्रश्न नहीं है। समाज सम्बद्धता का नाम है। जिनमें परस्पर सम्बन्ध होने से समाज बनता है, वे घटक व्यक्ति कहलाते हैं। अर्थात् समाज प्रतिबिम्ब है, उस तथ्यता

का, जो उन सम्बन्ध-सूत्रों में प्रवाहित है। समाज घटकों से स्वतन्त्र और भिन्न हो ही नहीं सकता। समाज की ओर से व्यक्ति पर जो नियम और नियन्त्रण आते हैं, वे इस कोड या उस संहिता में अंकित हो सकते हैं, लेकिन अमल में वे दोनों तरफ से व्यक्तियों द्वारा आते हैं। अर्थात् कराता है वह भी व्यक्ति है, करता है वह भी व्यक्ति होता है। जब हम समाज और व्यक्ति को दो मानकर विचार करने लग जाते हैं, तो जज और अपराधी दो अलग खानों में पड़ जाते हैं। अपराधी व्यक्ति रह जाता है और जज मानो समाज हो जाता है। जज को हम ऊँची कुरसी और मोटी तनख्वाह देते हैं, अपराधी ठहराकर दूसरे को जेल की कोठरी दे डालते हैं। अपराधी व्यक्ति को जज की तनख्वाह के पैसे मिलते, तो वह अपराधी होता नहीं और जज को अपराधी की लाचार परिस्थिति मिलती, तो वह उसी तरह ऊँचा और शाइस्ता बना रहता कि नहीं, यह विचार सहसा मन में नहीं उठता है। इसलिए कहते हैं कि धर्मराज के न्याय में स्थिति नहीं देखी जाती, मन देखा जाता है। मैं भी मानता हूँ कि व्यवस्था-विचार के आगे एक नैतिक विचार की आवश्यकता रहा करती है। व्यवस्था-विचार में से राजनीति जन्म लेती है और वहाँ युद्ध, दण्ड आदि उचित बने रहते हैं। लेकिन यदि समाज को संस्कार मिलना हो, मानव-संस्कृति का विकास होना हो, तो उसके लिए मूलगामी विचार आवश्यक और अधिक उपयोगी होता है।

नियमन पर का नहीं, स्व का हो

नियमन और नियन्त्रण समाप्त नहीं हो सकता और नहीं होना चाहिए। कारण, वह समाज और व्यक्ति में अन्तर्भूत है। किन्तु शैतान को नियन्त्रित और पराभूत करने का आशय उलट जायगा, अकृतार्थ हो जायगा, अगर हम शैतानों और भगवानों की श्रेणियाँ समाज में पैदा कर देंगे और मान लेंगे कि दुर्जनता और सज्जनता श्रेणीगत हुआ करती हैं। असल में भगवान् और शैतान दोनों ही हरएक के अन्दर हैं। इसलिए वह नियमन और नियन्त्रण काम देगा, जो उत्तरोत्तर आत्म-नियन्त्रण का रूप लेते जाना चाहता है। राज-तन्त्र गिर रहे और प्रजा-तन्त्र उनका स्थान लेते जा रहे हैं, इसीमें गर्भित है कि अन्ततः न्याय और नियन्त्रण वह काम देगा, जो राजा का नहीं, प्रजा का है। आशय किसी पर का नहीं, अपने स्व का है।

मतवादी अहंकार

व्यक्ति के भीतर का चेतन-यन्त्र स्वयं इस प्रकार का अंकुश रखता है। विवेक के अंकुश से कोई व्यक्ति मुक्त नहीं। इसलिए यह निश्चित मान लेना चाहिए, और

मनोविज्ञान इसे प्रमाणित करता है, कि शैतान बनने में इन्सान को अपने से काफी झगड़ना और कष्ट उठाना पड़ता है। यदि हम इस श्रद्धा के आधार पर शासन को अनुशासन का रूप देने की कोशिश करें, तो फल अधिक हो सकता है। इसका अर्थ है कि अनुशासन का आरम्भ स्वयं-शासन से हो। शासक निरंकुश होगा तो निश्चय मानिये, नियन्त्रण कितने भी दृढ़ हों, कितनी भी गहरी चौकसी का बन्दोबस्त हो, अनीति और अपराध बढ़ेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि अपने को भगवान् और दूसरे को शैतान मानने की भूल से पहले छुटकारा हो। मतवादी अहंकार में ऐसा अक्सर हो जाया करता है कि सत्यता और सज्जनता का हम अपना ठेका मान लेते हैं और बुराई और दुर्जनता के आरोप को सब दूसरों पर थोपा करते हैं।

समाज केवल एक ओट

नियन्त्रण आवश्यक है। शैतान को शैतानियत का मौका नहीं मिलना चाहिए। पर कौन तय करे कि शैतान कौन है, कौन नहीं। सच है यह कि शैतान फैला है और सबके भीतर भी है। इसलिए व्यवस्था और राज्य की वह नीति, जो शक्ति के जोर से काम करती है, अक्सर बहुमत में सत् और अल्पमत में असत् मान लिया करती है। अमुक व्यवस्था में भोगप्राप्त सम्पन्न-वर्ग को सज्जन और विपन्न-वर्ग को दुर्जन मान लिया जाता है। इस तरह निर्वाचित सम्पन्न-वर्ग की ओर से सामान्य विपन्न-वर्ग के लिए नियन्त्रणों की सृष्टि की जाती है। इस पद्धति से कभी भी शैतान हारेगा और भगवान् की जय होगी, ऐसी दुराशा नहीं रखनी चाहिए। हमारे सोचने की पद्धति में अक्सर यह दोष रह जाता है। अपराधी के सम्बन्ध में विचार करते समय जैसे हम अपने को समाज का प्रतिनिधि मान लिया करते हैं। ऐसे हम दोनों के बीच स्वरक्षा और प्रतिरक्षा का सम्बन्ध बन जाता है, सहानुभूति का सम्बन्ध नहीं रहता। सच यह कि हम सबको अपने से पूछने की आवश्यकता है कि वह समाज क्या है, जिसके इतनी आसानी से हम मनमाने प्रतिनिधि बन जाया करते और दूसरे के दोषों का विचार किया करते हैं। तनिक विश्लेषण में जायँ तो जान पड़ेगा कि उस समाज का अस्तित्व कहीं नहीं है। वह एक ओट है, जिसकी सृष्टि हम नियन्त्रक वर्ग के लोग स्वयं अपने बचाव के लिए कर लिया करते हैं।

आत्म-नियन्त्रण ही इष्ट

यह नहीं कि मैं व्यवस्था-भंग चाहता हूँ और व्यवस्थापक-विचार के लिए कोई

अवकाश रहने देना नहीं चाहता। यद्यपि इसमें शक नहीं कि वह दिन शुभ होगा, जब राज्य और राजनेता अपना काम करके समाप्त हो जायँगे और मानव-समाज सीधे मानव-नीति से अपने को चलाने में समर्थ होगा। वैसा शासन और श्रेणीमुक्त समाज जब भी हमारे भाग्य में आनेवाला हो, लेकिन उससे पहले जब तक मनों में शैतान और कामों में शैतानियत है, तब तक हर तर्क से असम्भव है कि ऊपर से आनेवाला राज और समाज का नियन्त्रण समाप्त हो सके। बाहर से समाप्त करने का उपाय इतिहास में बराबर होता और किया जाता रहा है। क्रान्तियाँ जिन्हें कहा जाता है, उसी प्रकार के प्रयत्नों का नाम है। लेकिन हर क्रान्ति के बाद अधिनायक आया है और नियन्त्रण सख्त से और सख्त हुए हैं। अर्थात् बाहर से नियन्त्रणों की समाप्ति न इष्ट है, न सम्भव है। उसकी समाप्ति उतनी ही मात्रा में सम्भव होती जायगी, जिस मात्रा में उसकी आवश्यकता मिटती जायगी। दूसरे शब्दों में जिस अंश में आत्म-नियन्त्रण बढ़ेगा, उसी अनुपात में राज्य-नियन्त्रण असंगत और कम होगा।

शैतान विवेक से मिटेगा

शैतान में संगठन की सिफत होती है। वह इन्द्रियों और अंगोपांगों को सक्रिय और सुगठित कर लेता है। इसमें यह भाव है कि संगठन के जोर से कभी शैतान को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। भगवान् का प्रतिनिधि अन्तःकरण में बैठा विवेक है। उससे शैतान डरता और हमेशा मुँह की खाने को तैयार रहता है। उस गुण के द्वारा ही मैं मानता हूँ, शैतान के प्रश्न से निबटा जा सकता है। दूसरे संख्या, सैन्य, सत्ता की ओर से नियन्त्रण को बढ़ाने की चेष्टाएँ शैतान का काम तमाम नहीं कर सकतीं। बल्कि कहना चाहिए कि उस तरह वे चेष्टाएँ स्वयं को ही परास्त और समाप्त कर निकलती हैं।

क्रान्ति का मूल मन में

२६०. तब क्या सामाजिक उथल-पुथल और क्रान्तियों का सूत्र आप मन और मनोविज्ञान में खोजने जायँगे? यदि यही आपकी मान्यता है, तो आर्थिक और सामाजिक विषमताओं को जो लोग सामाजिक क्रान्तियों का मूल मानते हैं, वे क्या एकदम गलत कहते हैं ?

जलधारा और तट

—हाँ, मैं मानता हूँ कि मूल में जीवन-प्राण का वेग है, जो क्रान्तियों को सार्थकता देता है। नदी उस जल से सार्थक है, जो उसमें बहता है। लेकिन हिसाब हम किनारों का किया करते हैं और जो तीर्थ बनते हैं वे उस जल में नहीं, तट पर बसते

हैं। इस तरह तटों का महत्त्व हो जाया करता है। व्यवस्था की ओर से जीवन-प्रश्नों के देखनेवाली विचारधारा तटों पर बहती और तटों का विचार करती है। मैं कहना चाहता हूँ कि यदि जलधारा न हो, तो तट का या तीर्थ का प्रश्न ही उपस्थित न हो।

इसीलिए जो मर्मी और अनुभवी जन हो गये हैं, वे विद्या को अविद्या और ज्ञान को अज्ञान तक कह देते हैं। उनका वह वक्तव्य निस्सार नहीं है, उसमें गहरा सार है। इसीलिए आप देखियेगा कि जो लोग क्रान्ति के सम्बन्ध में बहुत जानते हैं, वे क्रान्तिकारी नहीं हुआ करते हैं। भाव-सम्पन्न व्यक्ति कोई होता है, जहाँ से क्रान्ति का आविर्भाव होता है। मैं इस मनुष्य की भाव-सम्पदा को सबसे मूल्यवान् ऐश्वर्य मानता हूँ। इसके बिना बोधात्मक सारी जानकारी छूछी और थोथी हो जाती है। उसमें से कोई सृष्टि नहीं होती, केवल विवाद पैदा होता है।

मानवीय चैतन्य मुख्य पूंजी

आर्थिक और सामाजिक विषमताएँ क्रान्ति के मूल में इस कारण रही कही जा सकती हैं कि वे मनुष्य के मन में भाव और विचार की हिलोर पैदा करती हैं। आखिर चेतना में स्फूर्ति बाधाओं के कारण आती है और सामाजिक एवं आर्थिक विषमताएँ जब चेतना के वेग को रोकती और घोटती हैं, तो वही चेतना उत्स्फूर्त होती है और उन विघ्न-बाधाओं को तोड़-फोड़ डालने के लिए मचल उठती है। मानवीय चैतन्य (ह्यूमन-स्पिरिट) हमारी मुख्य पूँजी है और किसी आर्थिक एवं सामाजिक विचार में उस मूल पूँजी की बात को ओझल कर जाने में खतरा ही खतरा है। यह वह तत्त्व है, जो हिसाब की गणना में नहीं आता और जिसे 'इन-डिटरमिनेबिल फैक्टर' कहते हैं। क्रान्तियाँ आखिर इसीलिए होती हैं न, कि राजनेताओं के हिसाब से कहीं कुछ छूटा रह जाता है। हर सरकार अपनी व्यवस्था भरसक चौकस रखती है। फिर भी क्रान्तियों को यदि होना पड़ता है, तो इसीलिए कि जीवन-तत्त्व आंकिक हिसाब में घिर नहीं पाता। इसलिए उस आंकिक हिसाब पर प्राथमिक श्रद्धा रखने की मैं आपको कभी सलाह नहीं दे सकूँगा।

युद्ध या शान्ति मानव-मन में

हिसाब उपयोगी होता है जब प्रश्न उस चित्-धारा को तट देने का आता है। तट का मार्ग और तट पर निर्माण क्या कैसा हो, इसका निर्धारण बहुत संगत हो जाता है। किन्तु निश्चय मानिये कि आदमी का काम उस मूल धन के बिना चल नहीं सकता, जिसका निर्माण स्वयं आदमी के हाथ में नहीं है, बल्कि जो

कालप्रभु से उसे प्राप्त होता है। यही वस्तु जीवन में वेग है। इसीलिए कहना होता है कि मनुष्य का अहंकृत सोच-विचार जीवन-निर्माण की दृष्टि से पर्याप्त साधन-सामग्री नहीं दे देता; उससे आगे श्रद्धा और समर्पण की भी आवश्यकता होती है। श्रद्धार्पण उसी परम तत्त्व के प्रति, जिसमें काल का समस्त इतिहास और वस्तु का समस्त तथ्य समाया हुआ है। जो मनुष्य को और उसके मन को नहीं जानता है, केवल पुस्तकों को जानता है, वह क्रान्ति नहीं ला सकता। आज बीसवीं सदी की अत्याधुनिक संस्था युनेस्को भी इस घोषणा से अपना काम आरम्भ करती है कि युद्ध का जन्म मानव-मस्तिष्क में से होता है। और वहीं है, जहाँ से शान्ति-निर्माण को आरम्भ करना होगा। इसका आशय यह नहीं कि समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र की रचना में काम आयी मनुष्य की मेधा-बुद्धि व्यर्थ गयी है। लेकिन यह अर्थ अवश्य है कि वे शास्त्र निर्जीव और निकम्मे रहेंगे, जब तक मानव-मन के साथ वे अपना योग नहीं साध सकेंगे।

मनों को जीतना ही सबसे बड़ी साधना

मानव-मन की बात करते समय एकाएक जैसे हमारे सामने निरा एकाकी व्यक्ति आ रहता है। हमको लगता है कि मानव-मन की बात कहकर असंख्य के और विश्व के प्रश्न को एक घटक पर टाल दिया गया है और समष्टि की बृहत्ता और घोरता का ध्यान नहीं रखा गया है। समूचे प्रश्न को जैसे भावुकता के भरोसे छोड़ दिया गया है। लेकिन विश्व को और असंख्य को आप अगर छू सकते, पकड़ सकते हैं तो इस प्रत्यक्ष मानव-व्यक्ति के द्वारा ही पकड़ सकते हैं; अन्यथा और सब पकड़ झूठी और अयथार्थ सिद्ध होती है। जो दर्शन अपने को और अपने पड़ोसी को भूल जाता है और आत्मा-परमात्मा की संज्ञा को लेकर सचराचर जगत् के सम्बन्ध में निर्णय कर डालता है, व्यर्थ और आडम्बरमात्र होता है। नाना संज्ञाओं से हम मानो विश्व को कीलित कर देते हैं और तरह-तरह के बुद्धि-प्रयोग और विश्लेषण-व्यवच्छेद द्वारा उसका उपचार और सुधार कर डालना चाहते हैं। लेकिन इस प्रकार के बुद्धि-व्यापार से कोरा अपना मन बहलाव होता है, विश्व का उद्धार आदि नहीं हो पाता। मानव-व्यक्ति और मानव-मन ही वह पूँजी है, जिससे संसार खुले तो सचमुच खुला हुआ मालूम हो सकता है, अन्यथा संसार के सम्बन्ध की धारणाओं से हम खेलते और बहलते ही रहते हैं; न हम अपने लिए खुलते हैं, न संसार हमारे लिए खुलता है। यह इतिहास के इस तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि जो लोग मानव-जाति की याद में अमर बने चले जाते हैं, वे नहीं हैं, जिन्होंने संसार के साथ ठोक-पीट का काम किया, जिन्होंने

प्रचण्ड और अन्धाधुन्ध युद्ध किया। बल्कि वे वे हैं, जिन्होंने अपने मन को साधा, अपने को जीता और इस राह सब दूसरों को और उनके मनों को अनायास जीत डाला। प्रेम को ज्ञान से बड़ा ज्ञान इसीलिए बताया गया है। ज्ञान दूसरे पर जाता है, प्रेम दूसरे में जाता है। मानो स्व-पर में वह एकता ला देता है, जब कि ज्ञान द्वैत को आवश्यक रखता है। इसलिए अन्तिम द्वन्द्व का समाधान उसके पास नहीं है, युद्ध को वह निबटा नहीं सकता है। प्रेम है, जो अद्वैत तक जा सकता और उस अद्वैत-भाव को ला सकता है। इसीसे मानव-मन को शास्त्र-ज्ञान से पीछे नहीं, पहले ही मानने का आग्रह मैं रखता हूँ।

समाज कहाँ है ?

२६१. मन में से किस प्रकार सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराएँ, व्यवहार, सभ्यता, संस्कृति और तिहास निकल चलते हैं? अर्थात् मन किस प्रकार सामाजिक संस्थाओं का नियमन और अनुप्राणन करता है? इस प्रक्रिया पर तनिक प्रकाश डालें।

—समाज कहाँ है? मेरी अबतक उससे कभी भेट और बातचीत नहीं हुई है। आप देखने चलिये, मुझे सन्देह है कि वह सचमुच आपको कहीं दीख पायेगा। असल में वह धारणात्मक संज्ञा है, वस्तुवाचक या व्यक्तिवाचक नहीं है। समाज के नाम पर हरएक अपनी धारणा को देखता है। इसीलिए है कि आपस में विरोधी मत, कार्य-क्रम और विश्वास रखनेवाले सभी लोग समाज के नाम पर सामने आते और विग्रह उठाते हैं। अनेक वाद हैं, सभी जैसे समाज के कल्याण के लिए बनते हैं, फिर भी अलग और विरुद्ध होते हैं। इसलिए कार्यकारी विचार के लिए दुहाई देकर समाज-संज्ञा को अपने बीच में लायें तो सहायता नहीं होती है। हम जिन लोगों के बीच रहते हैं, वही हमारे लिए समाज हो जाता है। आर्य-समाज, जैन-समाज, दिल्ली-समाज, महिला-समाज, विद्यार्थी-समाज आदि-आदि समाज ही हमारे लिए समाज होते हैं। बहुत बढ़े, तो भारतीय समाज कह लिया। अर्थात् बिना विशेषण के वह विशेष्य टिकता नहीं है और निर्विशेष्य भाव से उसके साथ व्यवहार करने में खतरा है।

स्व-परता ही प्रत्यक्ष सत्य

जो चीज एकदम प्रत्यक्ष है, वह है स्व-पर भाव। मैं अपने को मानता हूँ यह स्व-भाव, दूसरे को गैर मानता हूँ यह पर-भाव। इस स्व-परता में मनुष्य धीरे-धीरे परस्परता पैदा करता है। समाज का आरम्भ मानो इस परस्परता का आरम्भ

है। परस्परता में यह अभिप्राय है कि किसीके लिए मैं भी दूसरा हूँ, इसलिए दूसरा भी मेरे समान है। इसीमें से आपसीपन पैदा होता है और आत्मीय भाव का फैलाव होता है। अतः समाज यदि प्राप्त बनता है, तो इस परस्परता में प्राप्त बनता है। समाज मानो वह क्षेत्र है, जहाँ परस्परता के सहारे हमारा आत्मीय भाव विस्तार पाता जा सकता है।

इसीमें समाज-संस्कृति की सृष्टि

असंख्य वर्षों में पशु से उठकर मनुष्य ने गैर को अपनी तरह पहचानना शुरू किया और समाज का बीज पड़ गया। यह गैर को पहचानने और फिर उसमें अपनेपन को उतारने और झाँकने की क्षमता मन के सिवा और कहाँ से आयी मानी जा सकती है? हम न करें दूसरों के प्रति वह, जो अपने लिए नहीं चाहते हैं, यह सूत्र कहाँ से हाथ आया हो सकता है? स्व-परता और परस्परता के बीच से ही सारे सामाजिक व्यवहार की सृष्टि हुई है। रीति-रिवाज वहाँसे निकले हैं, परम्पराओं का निर्माण हुआ है। संस्कृति इसी प्रकार संग्रहीत हुई है और सभ्यता में उसने प्रकाश पाया है। इतिहास बना है, जो केवल काल-क्रम का नाम नहीं है, बल्कि विकास-क्रम का लेखा-जोखा है।

प्रभाव आन्तरिक सत्त्व से जुड़ा

प्रभाव कैसे बनते और फैलते हैं? हमारे पास का एक व्यक्ति कैसे क्रमशः सार्वजनीन और सार्वभौम हो जाता है और हम स्थानिकताओं में ही परिमित रह जाते हैं? उदार क्यों विस्तार पा जाता और कृपण क्यों सीमित रह जाता है? इसी तरह और जो आस-पास घटित हो रहा है, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा करें और उत्तर पाना चाहें, तो मालूम होगा कि यह सब घटना कहीं-न-कहीं मानव के आन्तरिक सत्त्व से जुड़ी है। जो होता है, सर्वथा मनमाना और ऊटपटांग ही नहीं होता है। बल्कि मानव-मन से, उसकी वृत्तियों और हेतुओं से वह जुड़ा होता है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मन का संस्कार बाहर से असंगत और उसके प्रति प्रभावहीन हो जाय? इसी प्रकार पारस्परिक मानवीय प्रभावों से मानव-समाज का काम-काज चलता है और उन्हींका समन्वित परिणाम है, जिसे राजनीति कहा जाता है। राजनीतिक तल पर जो हो रहा है, वह मानव-तल से इस तरह बिछुड़ा हुआ नहीं है और न इसलिए उसके परिष्कार का प्रश्न मानव-मन के प्रश्न से दूर या असंगत है। वरन् यह अवश्य हो सकता है कि मन को बाद देने से हमारा किया हुआ सब कुछ सही अर्थ में कोई संस्कार या

परिष्कार समाज को न दे पाता हो और बहुत-कुछ व्यर्थ का ही कार्यकलाप सिद्ध होता हो।

मन, सेक्स, अर्थ और संस्था

२६२. मन, सेक्स और अर्थ इन तीन का सामाजिक संस्थाओं से आप क्या सम्बन्ध और तारतम्य देखते हैं?

—संस्था शब्द स्थूल और सूक्ष्म दोनों अर्थों में काम आता है। स्थूल संस्था के केन्द्र में आप हमेशा एक व्यक्ति को पायेंगे। जब तक केन्द्र इस तरह चिन्मय है, तबतक संस्था सजीव रहती है। जब केन्द्र टूटता है, तो संस्था ही बिखर जाती है। उसके विधान की पोथी से न कोई संस्था चली है, न चल सकती है।

सूक्ष्म अर्थ में उन परम्पराओं और मूल्यों का बोध होता है, जो समाज में प्रचलित है।

इनके सूक्ष्म अर्थ : भूख और भोग

मन, सेक्स और अर्थ इनमें अर्थ वह स्थूल तत्त्व है, जिसको शेष दोनों से आसानी से अलग किया जा सकता है। वह अपनी स्थूलता में इधर राज्य-संस्था से जुड़ा है और उसका रूप सिक्का है। लेकिन अर्थशास्त्र के द्वारा उसके सूक्ष्म मूल में जायँ तो वह व्यक्ति की कामना और आवश्यकता से जुड़ा है। सेक्स को भी कुछ स्थूल और मूर्तभाव में लिया जा सकता है। वह शरीर में व्यक्त है और शारीरिकता में आबद्ध उसे देखा जा सकता है। पर जानकारों ने बताया कि वह इस तरह सीमित नहीं है। जिन्होंने विज्ञान द्वारा मन के मर्म को पा लेने का प्रयत्न और अभ्यास किया, उन्होंने खोजकर बताया कि सेक्स उसके भीतर तक गया हुआ है। यहाँ मुझे फ्रायड आदि की चर्चा नहीं करनी चाहिए, जिन्होंने मूल तत्त्व को 'लिबिडो' का नाम दिया, जिसे सेक्स का ही सूक्ष्म स्वरूप कहा जाता है। इस तरह स्थूलता से छूटकर ये तीनों चीजें बहुत आस-पास आ जाती हैं। मुझे कहना चाहिए कि मन के आवेग भूख और भोग के रूप में प्रकट होते हैं। स्थूल में उसे शिश्नोदर की समस्या कह दिया जाता है। शिश्न सेक्स, उदर अर्थ। उदर की समस्या को आर्थिक और सामाजिक मान लिया जाता है, जब कि शिश्न की समस्या को वैयक्तिक। हम देख सकते हैं कि मन से भूख और भोग दोनों जुड़े हैं और अभिव्यक्ति के नाते वे दूसरों के साथ जुड़ जाते हैं। अपनी तृप्ति की राह में वे पारस्परिक और सामाजिक बन जाते हैं। कामना बाहर की ओर, उपकरण और साधन

सामग्री की ओर चलती है, तो उसका आर्थिक रूप हो जाता है। उसका सम्बन्ध वस्तु और देह से अधिक होता है। काम की अभिव्यक्ति दैहिक हो, लेकिन उसे मानसिक कहते हैं। उसका एक नाम 'मन्मथ' है। मन में 'मन्थन' चलता है, तब मानो द्वन्द्व में से काम की सृष्टि होती है। काम सदा द्वन्द्वज है और इसीलिए वस्तुत्व अथवा व्यक्तित्व की माँग उसे कम और पुरुष से पुरुषत्व एवं स्त्री से स्त्रीत्व की माँग उसे अधिक हो जाती है। मानव वहाँ पुरुष और स्त्री में बँट जाता है और आत्मा की एकता वहाँ खण्डित हो जाती है। आत्मा की ओर से सब स्त्री-पुरुषों में एक व्यक्तिमत्ता है और वहाँ स्त्रीत्व और पुरुषत्व की कोई संगति नहीं रह जाती है। किन्तु काम मन से और द्वन्द्व से उत्पन्न होता है और इसलिए मिथुन और मैथुन में ही उसकी सिद्धि है।

मन की कामना मैथुन और अर्जन में व्यक्त

इससे आगे मैं नहीं समझता कि यहाँ आप और क्या चाह सकते हैं। मन को इधर सूक्ष्मता की ओर ले जायँ तो शायद आत्मा में पहुँचना पड़े। लेकिन वह अनावश्यक है, वहाँ की चर्चा अनिर्वचनीय क्षेत्र में पहुँच जाती है, जहाँ मौन ही उत्तम है और प्रतिपादन कुछ हो नहीं सकता है। समाज के सन्दर्भ से वह चर्चा छूट जाती है और यह बिछुड़न उसे उपयोगी नहीं रहने देती। यह स्पष्ट हो ही गया है कि मन के द्वार में से कामना बाहर की ओर जाती है, तो उपभोग का रूप ले लेती है, जिसकी निष्पत्ति एक ओर मैथुन में, दूसरी ओर अर्जन में होती है। मैथुन में पर-व्यक्ति को, मानो भिन्न व्यक्ति को, लेते और उसमें भोगासक्त होते हैं। अर्जन में हम व्यक्ति की जगह वस्तु को लेते हैं और भोग की तरह उपभोग का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परस्पर यह अन्तर दोनों में देखा जा सकता है और भोग के कारण एक को वैयक्तिक और उपभोग के कारण दूसरे को सामाजिक कहा जा सकता है। लेकिन सच यह कि कामनामात्र स्व को पर के प्रति उन्मुख करती है और इस तरह दोनों में सायुज्य पैदा करने के कारण परस्परता को सिद्ध और सम्पन्न करती है। आदमी का मन वह है, जो सम्बन्ध चाहता और उस सम्बन्ध का विस्तार चाहता है। कहना चाहिए कि आदमी के अन्दर वह सामाजिकता का केन्द्र है। मन के मर्म में ही यदि पहुँच सकें, तो सम्भव है कि पता चले कि वहाँ तो समाज का ही नहीं, बल्कि समष्टि का केन्द्र विद्यमान है। परमेश्वर अन्तर्यामी है और मैं सचमुच मानता हूँ कि अन्तर्मन या अन्तरतम मन में परमेश्वर का ही वास है। लिबिडो या कामना आदि ऊपरी स्तर की बातें हैं, मूल तल तक पहुँचें तो शायद ईशतत्त्व के सिवा दूसरा कुछ हाथ नहीं आयेगा।

राजनीतिक नियन्त्रण

२६३. समाज का बाहरी राजनीतिक नियन्त्रण आपको स्वीकार नहीं है। और व्यक्ति-मन में शैतान की सत्ता को भी आप स्वीकार कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में वर्तमान युग की वैज्ञानिक परिस्थितियों और विभीषिकाओं के बीच व्यक्ति-मन को नियन्त्रित और ईश-संयुक्त रखने का क्या उपाय आप प्रस्तावित करते हैं? आज जब मनुष्य पूरी तरह अपने मूल से उखड़ चुका है और पूरे वेग से विनाश की ओर बढ़ रहा है, तब क्या एक राजनीतिक नियन्त्रण ही हमारे पास नहीं रह जाता है, जिस पर हम भरोसा रख सकें? क्या व्यक्ति-मनों को स्वतन्त्र छोड़ देने का खतरा भारतीय या कोई भी समाज ले सकता है?

—नियन्त्रण यदि अन्दर नहीं है, तो बाहर होगा ही और फिर उसको अस्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं होता है। मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो विद्रोह के द्वारा बाह्य नियन्त्रण से लड़ना चाहते हैं। आत्म-नियन्त्रण के द्वारा जो बाह्य-नियन्त्रण से लड़ाई होती है, उसका प्रकार दूसरा हो जाता है। उसमें दोनों ओर स्वीकार और परस्पर आदर हो सकता है।

शैतान की सार्थकता

व्यक्ति-मन में शैतान को मैं शर्त के साथ स्वीकार करता हूँ। शर्त यह कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भगवान् को सिद्ध से सिद्धतर करने के लिए मानो शैतान मनुष्य के मन में उपजता है। अर्थात् शैतान की भी सार्थकता है और वह भगवान् को भीतर जगाकर अपना अवसान और निर्माण प्राप्त कर लेता है।

भरोसा भगवान् में

भरोसा राजनीतिक नियन्त्रण का ही किया जा सके, तो शैतान के लिए काम बाकी रहे चला जायगा। दमन का विद्रोह के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है। दमन तब तक ही हो सकता है, जब तक विद्रोह है। अर्थात् विद्रोही वृत्ति को अपने बीच रख-कर दमन को सार्थक ही किया जा सकता है। कानून और अपराध अन्त तक साथ चलेंगे। कानून और कानून के प्रहरी पुलिस वगैरह का भरोसा रखना मानो तय करना है कि पुलिस को हम काम जुटाते रहेंगे। पुलिस आदि को वेतन हम तभी तक देते जा सकते हैं, जब तक उसके लिए काफी काम भी पैदा होता रहता है। अर्थात् पुलिस के औचित्य और समर्थन के वास्ते समाज के लिए आवश्यक रहेगा कि वह अपराधों की सृष्टि करता चला जाय। राजनीतिक तन्त्र और नियन्त्रण का भरोसा अन्त में यह जतलाता है कि मनुष्य का भरोसा हमें कम है, मनुष्य के भीतर

के शैतान का भरोसा ही ज्यादा है। लेकिन मेरा भरोसा भगवान् में है, शैतान में नहीं है। इसलिए मैं जानता हूँ कि यदि शैतानियत भी आदमी में से आ रही है, तो इसका अभिप्राय केवल यह है कि व्यथा और पाप की कुरेद में से उसे अपनी ही भगवत्ता की झाँकी मिल आये और इस तरह शैतान का काम पूरा हो।

आत्म-नियन्त्रण से सम्यक्-दर्शन

सच पूछिये, तो मैं यह चाहूँगा कि हम इस द्वन्द्व की प्रकृति को अच्छी तरह समझने लग जायँ। अपराध को दण्ड और राज्य को पूजा जब हम देते हैं, तो मानो इच्छा-पूर्वक एक विरोधाभास में फँस जाते हैं। राज्य को जब तक पूजा के लायक समझेंगे, तब तक आवश्यक है कि दण्ड के लायक जिसे समझा जा सके, ऐसा तत्त्व पैदा होता रहे, जिससे सन्तुलन बना रहे। पहली आवश्यकता यह है कि उस पूजा के भाव को हम छोड़ें, तब शनैः-शनैः दण्ड के भाव से भी हमको मुक्ति मिलेगी। और मैं मानता हूँ कि यह दर्शन, जिसे सम्यक्-दर्शन या भागवत-दर्शन भी कहा जा सकता है, हमें यथावश्यक आत्म-नियन्त्रण देगा। वह शिष्ट-दुष्ट की श्रेणियों से निकाल कर हमें सीधा सच्चा इन्सान बनने में मदद करेगा।

स्व-रति और पर-घृणा

मैं मानता हूँ, आज के संकट में घोरता इसीलिए आयी हुई है कि हम अपने को, अपने मत को और देश को और गिरोह को इतना प्यार करते हैं कि दूसरे के लिए द्वेष ही शेष बच रहता है। स्व-रति पर-वर्जन को प्रोत्साहन और समर्थन देती है। इसी वृत्ति में से शस्त्रास्त्र का निर्माण उचित बनता चला जाता है। शैतान से डरने को हम सही मानते हैं और शैतान दूसरे को मानते हैं। इसलिए उस डर में से शैतान को खतम करने के लिए खूब शस्त्रास्त्र की तैयारी करने लग जाते हैं। इस तैयारी में दोनों तरफ कोई यह नहीं समझ पाता कि डर में से हम अपने भीतर की शैतानियत को ही जगा रहे होते हैं। इस तरह दोनों जगह शैतान काम करने लगता है और दूसरे को दिखाकर जैसे अपनी ओर औचित्य और समर्थन का निर्माण करने लग जाता है। हिंसा से हिंसा को, शैतान से शैतान को काटने का भ्रम इस विषम चक्र को बढ़ाता ही चला जाता है। अगर हम दूसरे में शैतान को देखना प्रणपूर्वक बन्द कर सकें, तो सम्भव है कि हिंसा को अहिंसा से काटने का उपाय हमें नजर आ जाय। मैं मानता हूँ कि इस दर्शन का उदय जब होगा, तो सारी समस्या दूसरे ही रूप में दीखने लग जायगी। युद्ध यदि रहेगा, तो एक पक्ष अहिंसा के उपकरणों से उससे लड़नेवाला निकल आयेगा। तब जिस संकट की

आप बात कहते हैं, उससे पार निकलने का उपाय भी दीखने लग जायगा। उपाय यह नहीं है कि दूसरे में शैतान को देखकर हम अपने शैतान से उसका मुकाबला करें। उपाय यह है कि शैतान को देखकर और भी भगवान् में हमारी गहरी श्रद्धा हो और शैतानियत के मुकाबले के लिए हम भागवत उपायों का अवलम्बन करें। मैं मानता हूँ कि नियन्त्रण और शस्त्रास्त्र का भरोसा उस उपाय की तरफ से हमारी आँखों को अन्धा बनाये रखेगा और कभी वह प्रकाश हमारे समक्ष प्रकट होगा, उसकी श्रद्धा जागेगी तो तभी, जब हमारी आँखों पर से इस मोह की पट्टी दूर होगी। जब वस्तु-बल, अस्त्र-शस्त्र-सैन्यबल के विरोध में मनोबल, तपोबल और आत्मबल की प्रतिष्ठा होगी और उस बल से जीना, लड़ना और जीतना हम जानेंगे।

अनुत्तर-दायित्व, अनुशासन-हीनता

२६४. ये कुछ प्रश्न मैंने इसलिए किये कि प्रस्तुत प्रश्न के लिए भूमिका तैयार हो सके। मैं भारतीय समाज की आज की दूसरी सबसे बड़ी समस्या यह मानता हूँ कि हमारे समाज में सेक्स, अर्थोपार्जन और पद-लाभ इन तीन क्षेत्रों में भीषण अनुत्तर-दायित्व, अनुशासन-हीनता और भ्रष्टाचार फैल चुका है। क्या यह स्थिति, चाहे हम वैज्ञानिक और औद्योगिक दृष्टि से कितने भी उन्नत क्यों न बन जायँ, हमारी सुरक्षा और आगे के निर्माण के लिए भयदायक नहीं हो सकती है? हर युग में ऐसा रहा हो और मनुष्य की चेतना इन तीनों आकर्षणों की तरफ सदा ही लोलुप रही हो, पर क्या आज यह लोलुपता सीमा को लांघ नहीं गयी? यदि आप मेरी बात से सहमत हैं, तो इसे कम करने के लिए और परिस्थिति में सँभाल और अनुशासन लाने के लिए आप क्या ठोस उपाय पेश करते हैं?

अस्तित्व-रक्षा का स्तर

—जीवन के दो स्तर हैं। एक अस्तित्व का स्तर, जहाँ प्राणी रहनेभर के लिए यत्न और छीन-झपट करता है। इसको प्राणि-जीवन कहना चाहिए। इसके बाद वह स्तर है, जहाँ अस्तित्व की रक्षा के लिए नहीं, बल्कि मानो अस्तित्व के उत्सर्ग के लिए जिया जाता है। सेक्स, अर्थ और पद के लिए जो चेष्टाएँ दीखती हैं, वे अस्तित्व-रक्षा की होती हैं। यहाँ कुछ वर्जनीय नहीं रहता। 'एव्री थिंग इज फेयर इन लव एण्ड वार।' इस स्तर पर किसी प्रकार की घोरता के दर्शन के लिए हमें तैयार रहना चाहिए और उससे भयभीत नहीं होना चाहिए। न उस कारण अपने में अनास्था लानी चाहिए। कारण, शरीर-धर्म अस्तित्व की भाषा में चलता है और सदेह प्राणी कोई ऐसा नहीं, जो स्वार्थ से सर्वथा मुक्त हो और यज्ञ में सर्वथा युक्त हो।

दानव मानव का विकृत रूप

हम अस्तित्व के तल पर होनेवाली नाना चेष्टा-प्रचेष्टाओं को देखते हैं, तो जैसे मानव से हमें ग्लानि और निराशा होने लगती है। लेकिन अपनी ओर देख सकें, तो मालूम हो कि उस प्रकार की जघन्य से जघन्य चेष्टा के बीज शायद हम में भी पड़े हुए हैं। इसलिए मैं मानता हूँ कि निन्दा, भर्त्सना आदि अपने बचाव में ही हम दूसरों पर डालते हैं, जैसे उस ढंग से अपने को दायित्व से बचा लेना चाहते हैं। पहली बात तो यह कि दानव और राक्षस का रूप सामने पाकर भी हम साहस करें कि मूल मानवता में आस्था न खोयें। कभी न भूलें कि दानव मानव का मूल रूप नहीं है, विकृत रूप है और उन विकारों और उनके कारणों तक पहुँचने के प्रयत्न में रहें। तब सम्भव हो सकता है कि भर्त्सना हमारे पास से न जाय, बल्कि करुणा जाय और दोष को स्वयं अपने में खोजने की इच्छा जाग जाय। इसमें से जिस दिशा का प्रयत्न निकलेगा, वह दिशा हिंसा से उल्टी होगी। हिंसा वह, जिसमें से हम दूसरे को कष्ट पहुँचाना और उसका नाश देखना चाहते हैं। इससे उलटी अहिंसा की दिशा वह, जहाँ हम कष्ट स्वयं लेते और अपने को मिटाने तक को तत्पर हो जाते हैं। मैं यह मानता हूँ कि इस दिशा के प्रयत्न में से विधायक शक्ति का उदय होता है। उसमें से अन्त में जाकर वैमनस्य कटता और सौमनस्य फलित होने लगता है। यह शक्ति किसी तरह कम अमोघ नहीं है, यद्यपि दीखने में ठण्डी और अशक्ति-जैसी मालूम होती है। शुरू में इसका परिणाम उलटा भी आ सकता है, या नहीं भी आता दीख सकता है। लेकिन इसका कार्य मानसिकता के क्षेत्र में होने के कारण गहरा, यद्यपि देर से, होता है और उसका फल स्थायी रहता है। प्रतिक्रिया का भी उसमें डर नहीं रहता।

आर्थिक-सम्पन्नता की मृग-तृष्णा

काम, अर्थ और पद-लिप्सा से ठीक उलटी दिशा में भी हम लोगों को चलता हुआ देखते हैं। जिनको सन्त आदि कहा जाता है और जिनकी बाद में पूजा-प्रतिष्ठा होती है, वे काम की जगह प्रेम, अर्थ की जगह अपरिग्रह और पद की जगह अकिंचनता को अपनाते चले गये। ऐसा क्यों हुआ, इसकी खोज में मनोविज्ञान को ही नहीं, स्वयं समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र को भी जाना चाहिए। वे शास्त्र इस मूल मान्यता पर बन खड़े हुए हैं कि मनुष्य का प्रयत्न अस्तित्व के लिए पहले है, शेष सब बाद में है। ऐसा मानकर अध्यात्मपरक साधना को भी सेक्स और स्वार्थ की भाषा में समझने की चेष्टा की गयी है। अधिकांश उनको धुनी या सनकी आदि कहकर सबुद्धि विचार से अलग कर दिया गया है। जैसे साधारण तर्क से यह अलग

हटी हुई चीज हो, सर्वथा अपसाधारण और अपवादरूप ही हो। मानव-विज्ञान के मूल में यह अनास्था काम करती रही है और हम मानते रहे हैं कि युद्ध-विग्रह जब कि जीवन का सामान्य नियम है, तब तप-त्याग अनियम और अपवादरूप है। पहली कठिनाई मनुष्य ने अपनी राह में यही पैदा कर रखी है। यह कठिनाई बाहर की ओर से नहीं आयी है, हमारी मानसिकता और शिक्षण-परम्परा में से आयी है। पिछली दो सदियों से जिस बुद्धिवाद और तर्कवाद ने सिर उठाया है, उसने मानो कर्म को धर्म से एक साथ तोड़कर स्वतन्त्र कर दिया है और सबको जान पड़ने लगा है कि आर्थिक-सम्पन्नता के स्तर को उठाते जाने में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। उस स्तर के उठने से सार्थकता की अनभूति किसीको हो पाती है या नहीं, इसकी छानबीन की चेष्टा नहीं की जाती है। मान यह लिया जाता है कि स्तर यदि बढ़ा भी है, तो भी वह पर्याप्त नहीं बढ़ा है, अमुक की अपेक्षा कम है, और यह मानकर फिर उसीमें लग जाना पड़ा है। इस मृगतृष्णा में संसार भागा जा रहा है। क्षत-विक्षत होता, लहु-लहान होता है, आपस की छीन-झपट और रगड़-झगड़ से परेशान रहता है। लेकिन मुँह मोड़ने की सोचने का अवकाश उसे नहीं मिलता और एक-पर-एक होनेवाले युद्ध में झुकता चला जाता है।

अस्तित्व-चिन्ता में जीवन की मन्दता

यह अनुभव में आयी बात है कि अस्तित्व से जब हम चिपटते हैं, तब जीवन की मन्दता अनुभव कर रहे होते हैं। और जब जीवन का प्रकर्ष होता है, तब अस्तित्व को निछावर करने का उल्लास हममें जाग उठता है। लेकिन मृत्यु का आह्लादपूर्वक आवाहन करने की मनोदशा इतनी दुर्लभ है कि मानव-जाति के अवतार-पुरुष ही उस वैभव का दान कर पाते हैं। मानो समूची मानव-जाति तब अद्भुत चैतन्य-स्फूर्ति से भर जाती है। शेष में जगत् मानो अपने चित्-स्वभाव और चिन्मय-सम्भावनाओं को भूला रहता और पदार्थ से घिर जाता है। तब जान पड़ता है कि एक-दूसरे को अकृतार्थ करने और एक-दूसरे की घात और काट में रहने से ही व्यक्ति की उन्नति होती है। ऐसे समय प्रेम से अधिक द्वेष में शक्ति जान पड़ने लगती है, आदमी जीवनोत्कर्ष से गिरकर अस्तित्व-रक्षा के प्राणिस्तर पर उतर आता और अवसाद और अनास्था के कारण प्रस्तुत करने लगता है।

प्रेम नहीं, तो काम

निश्चय है कि प्रेम नहीं होगा, तो काम होगा। त्याग का रस नहीं मिला होगा, तो अर्जन की ही ओर मनुष्य उन्मुख होगा। उसी तरह सामान्य बनने में जो कृता-

र्थता है, उसका स्वाद नहीं पा सकेगा, तब तक पद-मान की ओर वह लपकता ही रहेगा। न माना जाय कि यही मनुष्य का स्वभाव है। सच यह कि यह केवल विभाव है और समय यदि चल रहा है, तो इसीलिए कि विभाव को पीछे छोड़ते हुए हम स्वभाव की ओर उठने के प्रयासी हैं। मैं निश्चय मानता हूँ कि शनैः-शनैः हमारा ज्ञान-विज्ञान इस अध्यात्म सत्य की ओर उठेगा। वह पलायनवादी अयथार्थता है, जिससे ज्ञान-विज्ञान प्रभावित नहीं होता और नहीं हो सकता। जब समग्र चिन्मय और शक्तिशाली अध्यात्म का उदाहरण प्रकट होगा, तो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान स्वयं में एक संस्कार पायेगा। हाल में गांधी का व्यक्तित्व उसका उदाहरण उपस्थित कर गया है। महात्मा कहकर गांधी को वस्तु-विचार, समाज-विचार और राज्य-विचार से टाला नहीं जा सकता है। घटनात्मक यथार्थ में गांधी का प्रभाव इतना गहरा, व्यापक और प्रचण्ड होकर प्रकटा है कि उसके मूल अध्यात्म-स्पर्श को समझे और समाये बिना मानव-विज्ञान आगे नहीं बढ़ सकेगा।

लोलुपता में गौरव की अनुभूति

भोग, भूख और अधिकार के क्षेत्र में कोई अनुत्तर-दायिता, अनुशासन-हीनता, कोई विडम्बना और भ्रष्टाचार पर्याप्त भीषण नहीं समझा जा सकता। अर्थात् उस क्षेत्र में आप भीषणतर और भीषणतम के लिए अपने को तैयार रखियेगा। जब उन्नति को हम उन्हीं तीन की भाषाओं में समझेंगे, तब तक भीषणता उत्तरोत्तर बीभत्सता की ओर बढ़ती जायगी। निश्चय ही यह हालत सुरक्षा के लिए भयदायक है। अन्तरंग और बहिरंग, दोनों प्रकार के संकट इसमें से पैदा होनेवाले हैं। अन्दर से हम फटते और जर्जर होते जायँगे और बाहर से मानो आखेटक महत्त्वाकांक्षाओं के लिए सहज आखेट बनते जायँगे। इन तीनों आकर्षणों की तरफ लोलुपता सदा रही है और रह सकती है। संकट उपस्थित तब होता है, जब इस लोलुपता में गर्व और गौरव का भाव पैदा हो जाता है। अर्थात् जब हमारे जीवन-मूल्य इतने औंधे और उलटे हो जाते हैं कि मानव को हटाकर धन को और सत्य को हटाकर मिथ्या को प्रतिष्ठा देने लगते हैं। आज जो सोचने की बात है, वह यह कि हम उन्नति किसको समझें, किस भाषा में और भाव में उसे देखें और अनुभव करें? सामान्य प्रवाह यह बन गया है, मानो सामाजिक समर्थन भी उसे मिल गया है, कि जो धन और पद पर पहुँचता है, वही जीवन-साफल्य का अनुभव करता है। इस दृष्टि में परिवर्तन आने की पहली आवश्यकता है।

विचार को ऊँचा, कुर्सी को नीचा करें

ठोस उपाय की बात आप पूछते हैं, तो मैं कहूँगा कि जो आज की समाज-व्यवस्था में सबसे ऊपर पहुँचे हुए लोग हैं, वे अपने व्यवहार-वर्तन और रहन-सहन से सही मूल्य का उदाहरण पेश करें। वे साधारण बनने की हिम्मत करें। विचार ऊँचा करें, काम ऊँचे करें, लेकिन कुर्सी को जरा नीचा करने की तैयारी दिखायें। हम लोगों की सभ्यता नीचे धरती पर बैठने की है, कुर्सी वहाँ समाप्त तक हो जाती है। मन्त्री धरती पर बैठकर चला सके, तो भी अयुक्त न होगा। लेकिन सिर्फ इतने से भी लोगों को बड़ा ढारस पहुँचेगा। गांधी के तीसरे दर्जे में सफर करने से कोई पैसे की विशेष रक्षा नहीं होती होगी, लेकिन उससे सारे भारत की आत्मा की रक्षा हो जाती थी। साधारणता को उससे गम्भीर सान्त्वना पहुँचती थी। इतनी कि विशिष्ट वर्ग को अपनी आत्म-रक्षा में गांधी की इस बात को स्टण्ट आदि कहकर टालना जरूरी हो जाता था। आज का मन्त्री भी लगभग उस भाषा का सहारा लेता है कि यह सब सनक और स्टण्ट जैसा होगा। लेकिन उसे मालूम होना चाहिए कि उसका यह कहना दायित्व से भागना और मुँह मोड़ना ही है। अगर वह संकट का सामना करना चाहता है, तो राज्य और समाज के नेतृत्व को उठाते हुए भी उसे जन-सामान्य के समकक्ष बनकर दिखाना होगा। नहीं तो राजनिष्ठा की जगह प्रजा-निष्ठा की प्रतिष्ठा नहीं होगी और हम जाने-अनजाने उस जमाने की तरफ बढ़ रहे होंगे, जब वैभव और ऐश्वर्य में मण्डित करके ही हम अपने राजा और परमेश्वर को देखना चाहते थे और स्वयं को दास्य में रखकर सन्तुष्ट हुआ करते थे।

शासन को सेवा में परिणत किये बिना आगे काम नहीं चलनेवाला है। प्रजा सेव्य है, तो सेवक को औसत प्रजाजन से भी निम्न होकर चलना चाहिए। ऐसा यदि नहीं हो सकेगा, तो हकूमत दण्ड की ही रहेगी, गुण की नहीं होगी। डण्डे की हकूमत में तो फिर साफ है कि जो जितनी गहरी चोट देगा, वही डण्डा जीतेगा। जगह-जगह जो मिलिट्री डिक्टेटरशिप कायम हुई है, सो इसी स्थिति का प्रमाण है। उससे बचने का उपाय यही है कि सही दिशा में सही विश्वास को दरसानेवाला हम पहला सही कदम रखें। वह यही हो सकता है कि हाकिम कुर्सी से उतरकर औरों के साथ धरती पर खड़ा दिखाई दें। मैं इस प्रस्ताव को किसी तरह कम ठोस नहीं मानता हूं।

●

१३

शिक्षा, भाषा, अनुसन्धान

शिक्षा रोग की सहायक

२६५. क्या हमारी आज की शिक्षा इस विषय में आवश्यक सहायता करने की स्थिति में है?

—सहायता करती है, पर रोग की अधिक, स्वास्थ्य की कम।

२६६. रोग की सहायता कैसे वह कर पाती है, मैं समझा नहीं।

अर्थकरी शिक्षा

—रोग क्या है? प्रतिस्पर्धा से घुटा वातावरण है, और हरएक हर-दूसरे की परवाह न करता हुआ अपने लिए अधिक-से-अधिक छीन-झपट लेना चाहता है—क्या यही सब बेचैनी और परेशानी के मूल में नहीं है? रोग की जड़ यहीं है। अब शिक्षा क्या करती है? विद्या आज वह है, जो अर्थकरी है। पहले विद्या वह थी, जो विनय देती थी। अब विनय नहीं दे सकती, अर्थ के पीछे भागने की वृत्ति अवश्य दे सकती है। यानी पढ़ा केवल इसलिए जाता है और पढ़ाया भी केवल इसलिए जाता है कि व्यक्ति उपार्जन और अधिक उपार्जन करे। उपयोगी और उपकारी हो सो नहीं, पर अधिक-से-अधिक ऊँची कुर्सीवाला हो सके। अधिक कमाई कर सके; अधिक स्वार्थी हो सके, तब समझा जायगा कि उसने अपनी विद्या-बुद्धि को सफल किया है। शिक्षा की सफलता यदि यही है, तो यह क्या सीधी रोग की ही सहायता नहीं बनती?

शिक्षा-क्षेत्र में आपाधापी

ऐसी अवस्था में स्वास्थ्य यह कहलायेगा कि व्यक्ति अपनी योग्यताओं को दूसरों के हित में लगाये और इसीमें से अधिकाधिक सन्तोष पाये। क्या शिक्षालयों और विद्यालयों में इस स्वास्थ्यपरक वृत्ति और प्रवृत्ति का प्रमाण दीखता है? क्या वहाँ ऊँचे-से-ऊँचे पैमाने पर पद-वृद्धि, वेतन-वृद्धि और आय-वृद्धि के प्रयत्नों का

ही बोलबाला नहीं दीखता है ? दूकानदार, वेतनदार और उजरतदार में भी वैसी घोर आपाधापी नहीं दिखाई देती, जितनी इन क्षेत्रों में देखी जा सकती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति के साथ रोग के कीटाणु ही व्यक्ति में अधिक पहुँचते हैं, मानस में स्वास्थ्य का प्रवेश उतना नहीं होता।

२६७. क्या इस स्थिति के लिए अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली को ही आप दोषी ठहराते हैं ? हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति में रोग के ये तत्त्व विद्यमान नहीं थे ?

—अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली में अंग्रेजी शब्द पर ज्यादा दोष डालने से लाभ नहीं है। वह तो सूचक है उस सभ्यता का, जो चाहे पश्चिम से उठी हो, आज दुनिया पर छा रही है।

शिक्षा राज्य का यन्त्र न बने

प्राचीन में दोष न था, यह मानना गलत होगा। निर्दोष ही प्राचीन शिक्षा-प्रणाली होती तो वह टूटती और बिखरती क्यों ? कहीं वह अवश्य कमजोर और गतानुगतिक रही होगी, जिससे नये युग, नये जमाने का सामना वह नहीं झेल सकी। पर पुरातन में भी हम उस सनातन को खोज और पा सकते हैं, जो आज के लिए भी नूतन हो सकता है। अवश्य कुछ वह है, जो समय के साथ नया-पुराना नहीं होता। सत्य के दर्शन उसीमें होते हैं। क्या यह बात बासी और जीर्ण समझी जायगी कि विद्या से विनय आनी चाहिए ? क्या यह बात अद्यतन नहीं है कि शिक्षा पर राज्य का आधिपत्य नहीं होना चाहिए ? क्या यह आज के लिए भी आवश्यक और उपयोगी नहीं है कि अध्यापक और विद्यार्थी के बीच का सम्बन्ध आनुषंगिक नहीं, बल्कि सघन और समग्र होना चाहिए ? क्या यह भी सही नहीं है कि शिक्षा को जीवनव्यापी और जीवनात्मक होना चाहिए और वह खण्डित और केवल विषयात्मक नहीं होनी चाहिए ? आज की शिक्षा विषयों में इतनी विभक्त है कि जीवन की समग्रता से एकदम अलग जा पड़ी है। उसमें से नागरिक नहीं प्राप्त होता, मानो विशेषज्ञ प्राप्त होते हैं। अमुक विषय की विशेषता की माँग पैदा करनेवाला कोई राज्य पहले हो, तब उस विशेषज्ञ के उपयोग के लिए जॉब और काम निकलता है, अन्यथा वह विशेषज्ञ बेकाम और निरुपयोगी बना रह सकता है। जनोपयोगी होने का कोई गुण आज की शिक्षा से नहीं प्राप्त होता। शिक्षित को नौकरी चाहिए, अन्यथा वह अशिक्षित से भी गया-बीता बन जाता है। अशिक्षित कुछ-न-कुछ श्रम तो भी कर सकता है, नौकरी से छूटा शिक्षित हर तरह से निकम्मा बने रहने के लिए विवश होता है। शिक्षा पाते ही अच्छे खाने-पीने, पहनने की माँग उसकी हो जाती है और वह समाज के प्रति इसका दावा

रखता है। लेकिन नौकरी के अलावा किसी प्रकार के उत्पादन की योग्यता उसमें नहीं होती और वह परोपजीवी ही बना रहता है। केवल यह कहकर कि आज की परिस्थितियाँ भिन्न हैं, समूची प्राचीनता को धता बताने की चेष्टा अहंमन्यता होगी। निश्चय ही पहले की शिक्षा जीवन-स्पर्श से हीन और समग्रता से उतनी च्युत न थी। मानव-सम्बन्धों से वह उतनी टूटी न थी, बल्कि वह सन्दर्भ उसके लिए आवश्यक था। जीवन को स्निग्ध, समर्थ और सार्थक करने की दिशा में वह बढ़ती थी। केवल विषय-ज्ञान देने और इस तरह अर्थोपार्जन के लिए एक सर्टीफिकेट जुटा देने का लक्ष्य उसका न था। ये सब तत्त्व आज के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं। और सबसे काम की बात यह है कि शिक्षा का उद्देश्य संस्कारी मानव तैयार करना था, न कि राज्य के लिए क्लर्क, मुलाजिम, या इंजीनियर और कारीगर। राज्य के हाथ औजार बनने के लिए यदि आदमी हो और शिक्षा उन्हीं औजारों को ढालने की साधन हो, तो सचमुच वह रोग का अंग बन जाती है, स्वास्थ्य का साधन नहीं रहती। शायद आज के संकट के निराकरण की बात सोची जाय, तो शिक्षा के बिन्दु से ही आरम्भ करना होगा और क्रान्ति के सूत्र को वहीं से उठाना-बाँधना होगा।

शिक्षा पर बनिये का नियन्त्रण

२६८. ठहरिये, एक-एक कर बात को समझना ठीक रहेगा। आप शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण नहीं चाहते। तब निश्चित रूप से उस पर पूंजी और बनिये का नियन्त्रण होगा। क्या उसे आप अधिक शुभ और उत्तम मानते हैं ?

नैतिक सामर्थ्य से पूँजी का पतन

—आप सचमुच निश्चित हैं कि राज्य के अभाव में नियन्त्रण बनिये का हुए बिना न रहेगा ? क्या सचमुच बनिये के आप इतने कायल हैं, या उसमें वह सामर्थ्य देखते हैं ? मैं तो सामर्थ्य के साथ बनिये शब्द का योग ही कल्पना में नहीं ला पाता हूँ। नहीं, यदि राज्य नियन्त्रण के सामर्थ्य से गिरता है, तो बनिये में वह सामर्थ्य किसी तरह भी नहीं पहुँच सकती। पूँजी में सामर्थ्य रहती है, तो राज्य से। राज्य उस सामर्थ्य से हट ही नहीं सकता। यदि राज्य वहाँ से हटता है, तो इसीमें गर्भित है कि पूँजी से ऊँची किसी सामर्थ्य की हमने सृष्टि कर पायी है । सत्ता की सामर्थ्य पूँजीकृत सामर्थ्य की मर्मरूप है। अर्थात् समाज में नैतिक सामर्थ्य की सृष्टि होगी, तभी सत्ता का आधिपत्य कम होगा। पूँजी का आधि-

पत्य तो उससे पहले ही जराग्रस्त होकर झर चुका होगा। नहीं, बनिये से डरने की सलाह मैं आपको नहीं दूँगा। बनिया बेचारा हाकिम के हाथ के नीचे ही समर्थ बना दीखता है। वह हाथ उसके सिर पर न हो, तो सच मानिये कि वह अनायास सेवक और अनुगत बना दीखेगा। पैसे की ताकत लोभ से बनती है। यदि आज अर्थ-व्यवस्था ऐसी बन जाती है कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ सहज हो जायँ, तो निर्लोभ अशक्य नहीं, बल्कि बहुत हद तक सुलभ हो सकता है। उसके साथ ही बनिये की ताकत आप से आप गिर आयेगी। आदमी को खरीदने की ताकत जब तक पैसे में हम डाले रहेंगे, तभी तक उसकी प्रभुता है और सत्ता का यही अस्त्र है। उस ताकत को खींच लेने के बाद सत्ता गिरे और बनिया उठे, यह सम्भव नहीं हो सकता है।

२६९. मैं तो प्राचीनतम विश्वविद्यालयों और आधुनिक स्कूलों और कालेजों की बात कर रहा हूँ। हर कहीं बनिये की पूँजी शिक्षा और शिक्षा देनेवालों का निर्मम नियन्त्रण और शोषण कर रही है। मैं सरकार के नियन्त्रण को बनिये के नियन्त्रण से अपेक्षाकृत अच्छा मानता हूँ। इस विषय पर अपने विचार दें।

पूँजीपति छुटभइये

—नहीं, वे नियन्त्रण दो नहीं हैं। छुटभइयों को जब हम बनिया कहते हैं, तब जिसे सत्ता और सरकार कहते हैं, वह उनका प्रभु-वर्ग ही है। पूँजी का बल सत्ता की अनुमति से ही चलता है। हो सकता है कि बीच से पूँजीपति को हम हटा दें, जैसे कि साम्यवाद समझता है कि उसने हटा दिया है। लेकिन छुटभइयों की जमात का नाम तब पूँजीपति नहीं रहता, तो नौकरशाही हो जाता है। केवल इस नाम के अन्तर से अधिक अन्तर नहीं पड़ जाता। अन्तर अवश्य पड़ता है और शिक्षण की दूकानें तब शायद नहीं चलती हैं, लेकिन अन्तर तब जो होता है, वह यह कि दूकानें कारखाने बन जाते हैं। आदमी की ढलाई बड़े पैमाने पर होती है और छोटे स्तर पर उसकी बिकाई कुछ रुक जाती है। लेकिन उस अन्तर पर यहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है। इतना कहना पर्याप्त होना चाहिए कि छुटभइयों की जमात से रुष्ट और बड़भइयों की जमात से खुश होने का कारण विशेष नहीं है। दोनों एक ही चक्र के दो रुख हैं, वे परस्पर एक दूसरे को थामते हैं। इसलिए एक को बढ़ाने में दूसरा मिटता या घटता है, यह मानने की जल्दी नहीं करनी चाहिए।

पैसा मानव-सापेक्ष बने

पैसा तो सामाजिक आदान-प्रदान का माध्यम और प्रतीक है। वह विनिमय का

साधन है। इसलिए शिक्षा को सदा उस माध्यम के सहयोग और सुविधा की आवश्यकता रहेगी। न कोई जमाना था, न है, न होगा जब आदमी हवा पर रहेगा, हवा ही खायेगा और वही ओढ़े-बिछायेगा। इन सब कामों के लिए स्थूल पण्य पदार्थ की आवश्यकता होती है, जिनका प्रतीक पैसा है। लेकिन यह मानना कि उस द्रव्य का सद्भाव और सहयोग आधिपत्य के बिना हो नहीं सकता, अनास्था और अपरिचय प्रकट करना है। तमाम इतिहास में और तमाम वर्तमानता में आप देखेंगे कि शीर्ष पुरुष, नेता पुरुष, धनाढ्य नहीं हुआ है। जिसमें शक्ति है वह वस्तु-धन नहीं है, कुछ और है। धन केवल वस्तु का प्रतीक है, शक्ति का चित् में वास है। इसलिए आप इस भय से मुक्त रहें कि जब कि शिक्षा के लिए पैसे का सहयोग अनिवार्य होगा, तब उस सहयोग की राह से आधिपत्य भी उसका हुए बिना न रहेगा। आज जिस कुशलता और साधना की आवश्यकता है, वह यही है कि पैसा चले, पर आदमी को चलाये नहीं, बल्कि आदमी उसे चलाये। यह बिल्कुल सम्भव है कि धन में जो मानव-निरपेक्ष शक्ति आ पड़ी है, वह मानव-सापेक्ष बन जाय और पूंजी के ऊपर मनुष्य प्रधान हो जाय। वही करना है और नयी शिक्षा को इस विश्वास से आरम्भ होकर इस विश्वास में दीक्षित व्यक्तियों का निर्माण करना है।

२७०. ऊपर आपने बहुत ठीक कहा कि शिक्षा के क्षेत्र में दूकानदार और उजरतदार के क्षेत्र की अपेक्षा और अधिक आपाधापी पायी जाती है। ऐसा क्यों? क्यों है ऐसा कि विद्वान् और बुद्धिमान् अपने तनिक स्वार्थ, पक्षपात अथवा मात्र झोंक के लिए दूसरे के हित की हत्या करने में जरा भी नहीं हिचकिचाते और इस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र में और समाज में एक त्रास और कुण्ठा को जन्म देते और फैलाते हैं?

शिक्षितों की सम्भावनाएँ

—अरे भाई, जंगली आदमी के हाथ में लाठी या ज्यादा से ज्यादा तीर-कमान रह सकती हैं। चोट करने का मौका आये, तो उनकी चोट न इतनी दूर तक और न गहरे तक हो सकती है। सभ्य आदमी बन्दूक, तोप, बम तक पहुँचता है। अब इन चीजों की मार का ठिकाना क्या है? दूकानदार और उजरतदार को कब ज्ञान-विज्ञान मिला कि गड़बड़ और आपाधापी पर उतरें, तो भी कोई बड़ा मारका मार सके या हंगामा पैदा कर सकें। शिक्षित-वर्ग अपनी पर आ जाय, तो उसकी सम्भावनाएँ भी क्या अशिक्षितों जितनी रह जानी चाहिए? इसीसे घोरता ऊँचे वर्ग और स्तर पर अधिक घोर ही मिलेगी, कम नहीं। इसको प्रमाणित करने के लिए सहज-सिद्ध तर्क से आगे जाने की आवश्यकता ही नहीं है। स्वार्थ और

पक्षपात को क्या आपका शिक्षा-क्रम तनिक भी छूता और संस्कार देता है ? उससे वह सर्वथा अछूता है, इसीसे तो उस शिक्षा-क्रम को वैज्ञानिक माना जाता है ! मानवीय के विरोध में वैज्ञानिक ! तब वह शिक्षा-क्रम स्वार्थ और पक्षपात के हाथों अनिष्ट सम्भावनाओं की अधिक समर्थता और योग्यता दे आये, तो इसमें अचरज की बात क्या है। सत् और दुर् से अगर शिक्षा का सम्बन्ध नहीं रह जाता तो अधिक विचक्षण दुर्जन उस शिक्षा में से फलित हो आये, सज्जन न हो, तो इसमें तर्क की कोई अशुद्धि और गलती नहीं है। गनीमत माननी चाहिए कि जितनी अनिष्टता इस शिक्षा-पद्धति में से फलित हो रही है, वह उतनी ही है, अधिक नहीं है। अधिक हो और होती जाय, तो उसे तर्कसिद्ध ही समझना चाहिए और उस पर विस्मय नहीं करना चाहिए। क्या हम नहीं चाहते हैं कि वह सर्वथा लौकिक हो, क्या हम यह भी नहीं चाहते हैं कि वह नैतिक आदि रूढ़ धारणाओं से सर्वथा मुक्त हो, धर्म से उत्तीर्ण हो और यन्त्र-सामर्थ्य उसमें इतना हो कि मानो स्वयं ही यान्त्रिक हो ? इसका फल यह आने ही वाला है।

शिक्षा और शिक्षण-तकनीक

२७१. शिक्षा और शिक्षण-तकनीक का आपस में क्या सम्बन्ध है ? आप भयानक रूप से बढ़ते हुए तकनीकी शिक्षण के लिए कितनी उपयोगिता समझते हैं ?

—तकनीक उस विधि का नाम है, जो एक के भीतर के ज्ञान को दूसरे में पहुँचाने की प्रणाली को स्थिर और सुगम करती है। सबसे पहले आवश्यक यह है कि प्रदाता और आदाता में स्नेह की वह प्रेरणा हो, जो परस्पर में भावना और प्रेषणीयता पैदा करे। उसके बाद ही तकनीक की संगति और उसका उपयोग है। आज तकनीक जो स्वयं-प्रतिष्ठ तत्त्व बन गया है, सो जान पड़ने लगा है कि शिक्षक और विद्यार्थी में किसी सजीव सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है, टेकनीक स्वयं काम कर जायगा। इसलिए उस प्रकृत और स्निग्धभाव के अभाव में केवल शुष्क विद्या का जो आदान-प्रदान रह जाता है, उससे इष्टलाभ नहीं होता, बल्कि थोड़ा-बहुत अनिष्ट-सम्पादन हो जाता है। तकनीक जिसे कहा जाता है, उसकी सृष्टि कहाँ से हुई ? मूल में एक ओर से जानेवाला वह अनिवार्य स्नेह का वेग था, जिसने प्रकार-प्रकार की सूझ दी और भाँति-भाँति की प्रणालियों की रचना की। उस मूल-प्रेरणा के बिना वे प्रणालियाँ सिर्फ अमुक जानकारी को यहाँ से वहाँ पहुँचाती हैं, कोई संस्कारिता और अनुभूति उनके द्वारा प्राप्त नहीं होती। इस तरह तकनीक की प्रमुखता या अधिकता को सही शिक्षण के लिए बाधक ही मानना चाहिए।

अध्यापक और विद्यार्थी के दूषित सम्बन्ध

२७२. अध्यापक और विद्यार्थी के बीच आपने स्नेह-भाव को आवश्यक बताया। पर आज इन दोनों के सम्बन्ध जो दूषित और विषाक्त हुए दीखते हैं, उसके लिए आप किसे जिम्मेदार ठहराते हैं, अध्यापक को या विद्यार्थी को या हमारी शिक्षण-नीति को?

—दूषित और विषाक्त की बात तो दूर है, पहला रोग तो यह है कि वे सम्बन्ध निर्जीव हो गये हैं। अध्यापक की निगाह किसी और तरफ है, विद्यार्थी मानो राह में आ गया है और वह उस पर पाँव रखता हुआ कहीं ऊँचे पहुँचना चाहता है। विद्यार्थी को भी, और न उसके माता-पिता को, जीवन-संस्कारी शिक्षा की अपेक्षा है। उन्हें बस, अर्थकरी विद्या पर्याप्त है।

जिम्मेदारी आज की सभ्यता पर

स्थिति की जिम्मेदारी कहीं किसी खास पर मैं नहीं डाल सकता हूँ, अध्यापक पर या विद्यार्थी पर। शिक्षण-नीति के सम्बन्ध में अवश्य कुछ कहा जा सकता है, क्योंकि नीति देनेवालों से अपेक्षा होती है कि वे जीवन के प्रति अधिक जाग्रत हों। लेकिन सच यह है कि सारी आबोहवा, सारी सभ्यता में कहीं विकार है और उसके उपचार के लिए पत्ते-पत्ते पर जाने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता मूल निदान और अनुसन्धान की है। जिस सभ्यता के वातावरण में हम साँस ले रहे हैं, वहाँ मूल्य मनुष्यता से हटकर सम्पन्नता पर आ गया है और आदमी अपनी जगह सही और सच्चा नहीं बनना चाहता है, वह दूसरों से ज्यादा रखनेवाला और रोब-दाबवाला बनना चाहता है। सफलता का समूचा रूप ही यह बन गया है। परिणाम यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी क्या अध्यापक और क्या विद्यार्थी, उसी तरफ बढ़ने में कृतकार्यता मानते हैं। जिन्हें ज्ञान का ऊँचे से ऊँचा पीठ-स्थान कहा जा सकता है, उन विश्वविद्यालयों में इस बढ़ाबढ़ी की दौड़ है और ऊँचा प्रोफेसर वह है, जो विद्यार्थियों को ऊँचा ज्ञान दे कि न दे, राजनीति की ऊँचाइयों में चलता-फिरता हुआ अवश्य दिखाई दे। समूची सभ्यता की यह बीमारी सहज दूर नहीं होनेवाली है। इतना बेशक कहा जा सकता है कि शिक्षण का क्षेत्र वह मर्मस्थल है, जहाँ यदि औषधि का प्रवेश हो तो सारे समाज-शरीर में उसका प्रभाव दिखाई दे सकता है। इसलिए वहाँसे आरम्भ करना उपयोगी होगा।

२७३. विद्यार्थियों में अनुशासन-हीनता के लिए आप किसे जिम्मेदार ठहराते हैं? हमारे प्राणहीन पाठ्य-क्रम को, जो उन्हें बहुत अधिक समय बेकार खोने के लिए

दे देता है या परीक्षा की प्रणाली को, जिसके आधार पर उनमें जिज्ञासा और लगन का एकदम अभाव हो जाता है?

पाठ्य-क्रम और परीक्षा-प्रणाली

—अनुशासन से छूटकर जो शक्ति अनिष्ट मार्गों में जाती है, सो उसके उपयोग की कल्पना का अभाव है, इसीलिए जाती है। मूल प्राण-शक्ति सत्-असत् नहीं होती। जिन दिशाओं में अभिव्यक्ति है, सदसत् विशेषण उन्हीं अपेक्षाओं से बनते और लगते हैं। अर्थात् आवश्यकता यह है कि समग्र जीवन-शक्ति एकाग्र और प्रवृत्त जिससे हो आये, ऐसा कुछ बृहद् आशय वातावरण में और विद्यार्थियों के जीवन में पैदा होना चाहिए। स्पष्ट है कि वह अनुपस्थित है।

पाठ्य-क्रम और परीक्षा-प्रणाली उस मूलाभिप्राय को पैदा होने देने में सहायक की जगह बाधक होती है। गिनी-चुनी पुस्तकों को कुंजी के सहारे एक-दो महीने में निपटाकर और परीक्षा में जैसे-तैसे पास-अंक लाकर विद्यार्थी आवश्यक ज्ञान से छुट्टी मान लेता है। उसके बाद जो काम आती है, वह केवल डिग्री होती है। इस सबसे जीवन का मूल उद्देश्य बनने में कोई सहायता नहीं मिलती, बल्कि उस उद्देश्य की आवश्यकता के बारे में उदासीनता पैदा हो जाती है। लक्ष्य का स्थान लौकिक सफलता लिये रहती है और उस जगह डिग्री से अधिक कुछ आवश्यक नहीं है।

परीक्षा-प्रणाली बदल दी जाय

परीक्षा-प्रणाली को एकदम बदल डालने की जरूरत है। उससे बहुत शक्ति का अपव्यय होता और कृत्रिमता को बढ़ावा मिलता है। उसको लेकर भ्रष्टाचार की हद नहीं रहती। पाठ्य-क्रम की प्रणाली में भी अन्तर आना चाहिए। टैक्स्टरूप में यदि किताबें न हों, अपेक्षा सामान्य और सजीव ज्ञान की हो, तो कुन्जी के बल से रट-घोटकर पास होने की आदत पर कुछ रोक-थाम पड़े। पाठ्य-क्रम के बहुत अधिक निर्दिष्ट और नियुक्त होने से अध्यापक को भी कुछ तैयारी नहीं करनी पड़ती और बनी बान की तरह वह अपना काम कर जाता है। विद्यार्थी में कोई असली बोध जगाने की आवश्यकता उसके लिए नहीं रह जाती। किन्तु यह सब वह क्यों करे, या विद्यार्थी ही पुस्तक के शब्दों से इधर-उधर क्यों जाय, जब कि आगे जीवन में उससे विशेष अन्तर नहीं पड़नेवाला है और संगत केवल डिग्री ही रहनेवाली है! असल में समूचे शिक्षण पर ही पुनर्विचार होने की आवश्यकता है और परिवर्तन मूल से होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जो इष्टस्वरूप शिक्षण का होगा, उसमें

परीक्षा में प्राप्त अंक या अमुक पुस्तक की रटी हुई शब्दावलि का उतना महत्त्व नहीं रह जायगा।

२७४. क्या आप बता सकते हैं कि परीक्षा का क्या स्वरूप परिवर्तित शिक्षण-व्यवस्था में होगा या होना चाहिए?

सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्य हो

—मैं शब्द-शिक्षा को कर्ममुक्त नहीं देख सकता हूँ। करने के द्वारा जो सीखा जाता है, वह सचमुच जीवन का अंग बनता है और व्यक्तित्व को सामर्थ्य देता है। सिद्धान्त और व्यवहार दो अलग खानों में और दूर-दूर रहें, तो इससे काम नहीं चल सकता। साथ चलें तो शब्द-शिक्षा की कसौटी कर्म-प्रयोग में अनायास और नित-नित होती जा सकती है। कोई भी ऐसा विषय शायद ही हो, जो नितान्त बौद्धिक हो और जीवनोपयोगी न हो। स्वयं दर्शन को मैं जीवन और कर्म-निरपेक्ष नहीं मानता हूँ। वह दर्शन क्या, जिससे अनासक्ति नहीं प्राप्त होती और चित्त को सन्तुलन नहीं मिलता। अर्थात् दर्शन-विषय की परीक्षा विद्यार्थी के व्यवहार और मनोभाव से नित्य प्रति होती जा सकती है। इस प्रकार की सामान्य परीक्षाएँ अध्यापक प्रतिसप्ताह लेते रह सकते और चाहें तो उसका रिकर्ड भी रख सकते हैं। इस पद्धति से यह सम्भावना लगभग समाप्त हो जाती है कि विद्यार्थी फेल होता है। किसी दिशा में उसकी गति नहीं हो पाती, तो अवकाश रहता है कि वहीं से उसकी रुचि और शक्ति का योग किसी आस-पास की दिशा में मोड़ा जा सके। यह सब एक तो सम्भव तभी होगा, जब गुरु-शिष्यसम्बन्ध में न केवल सघनता हो, बल्कि एक प्रकार की स्वतन्त्रता भी हो। पाठ्य-क्रम और परीक्षाएँ इस सम्भावना को पुष्पित और फलित ही नहीं होने देतीं।

आर्ट और साइन्स का विभाजन दोषपूर्ण

अभी सामान्यतया शिक्षण को आर्ट और साइन्स इन दो विभागों में अलग-अलग करके देखा जाता है। जैसे कला में गणित-बुद्धि का उपयोग न हो या विज्ञान के लिए कल्पना का योग असंगत हो। विज्ञान में प्रयोग सम्भव और संगत हैं तो कला के लिए प्रयोग की सम्भावना और सुविधा क्यों न हो? अर्थशास्त्र जिन्हें पढ़ाया जाता है; अर्थ के साथ व्यवहार करना भी युगपत् उन्हें क्यों न सिखाया जाय? देखते हैं कि अर्थशास्त्र पढ़नेवाला अर्थशास्त्र पढ़ानेवाला ही बन पाता है, अर्थ के विनियोग या प्रयोग का विभु बनते उसे हम नहीं देखते। आर्ट की सूची में आनेवाले और भी विषय हैं, जो प्रयोग-व्यवहार से मुक्त माने जाते हैं। स्वयं भाषा के

विषय को ही लीजिये। अमुक भाषा की पढ़ाई में उस भाषा द्वारा आत्माभिव्यक्ति को इतना अनिवार्य नहीं माना जाता है, भाषा-ज्ञान को पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित समझ लिया जाता है। भाषा पर अधिकार का अर्थ होना यह चाहिए कि सफल विद्यार्थी उस भाषा का सफल वक्ता और साहित्यकार बने। पर वैसा नहीं है। बहुत आगे जाकर जो उस भाषा में पी-एच० डी० लेते हैं, वे इस योग्यता से और दूर पड़ जाते हैं। गड़ा-दबा और पुस्तकीय ही विषय न हो, तो सहज भावाभिव्यक्ति भी उन्हें कठिन होती है। इस तरह यह भाषा-ज्ञान ही भाषा-क्षमता से उन्हें दूर डाल देता है। यही आर्ट के अन्तर्गत आनेवाले दूसरे विषयों का हाल है। उन विषयों में परीक्षा में काफी अंक ले आनेवाले भी तत्सम्बन्धी सृजन-क्षमता से वियुक्त दिखाई देते हैं। यह अधिकांश इस कारण कि हमने माना है कि कोई ज्ञान नितान्त बौद्धिक हो सकता है, कर्म-क्षमता से संगत होने की उसके लिए आवश्यकता नहीं है। इस तरह एक नमूना पैदा होता है जो कर नहीं सकता, बस, विद्या के पठन-पाठन का व्यापार कर सकता है। ऐसी कर्म-वियुक्त और वादयुक्त विद्या से भला लाभ क्या होनेवाला है? कर्म से हीन ही यह विद्या है, जो हमारे विश्वविद्यालयों में दम्भ और प्रपंच का वातावरण बनाये रखती है। इन्हीं विषयों की पाठ्य-पुस्तकें और परीक्षाएँ हैं, जो भ्रष्टाचार का केन्द्र बनती हैं। कोई पाँच-सात किताबों की मदद से एक नयी पाठ्य-पुस्तक तैयार कर देता है और मालूम करने चलें कि वे महाशय स्वयं क्या हैं, तो असम्भव नहीं कि जोड़-तोड़ के जादूगर से अधिक कुछ न निकलें। यह सब अन्धेर-खाता उस विद्या के कारण चलता है, जिसकी परीक्षा ही जीवन और कर्म में हो नहीं पाती है। यदि हम शिक्षा के सम्बन्ध में इस मूलदृष्टि को साथ रखें तो फिर आगे जाकर पाठ्य-क्रम और परीक्षासम्बन्धी बहुत-सी समस्याएँ सुलझती-सी दीखने लगेंगी।

ज्ञान, कर्म और चरित्र की एकता

'करो और सीखो' (लरनिंग बाइ डूइंग) आदि सीधे सूत्र हैं, जो जीवन के अनुभव से हमें मिलते हैं। जिन्होंने सचमुच कुछ किया है, उन्होंने अधिकांश जीवन की पाठशाला में से ही अधिक सीखा है। वही टिका और काम आया है। आश्चर्य यह है कि सीखने की सही विधि यह जो साथ-साथ करते भी जाना है, उसकी ओर शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान पर्याप्त रूप से क्यों नहीं गया है? भारत में तो चलो अंग्रेज लोग थे, जिन्हें क्लर्की की जरूरत थी; समर्थ व्यक्तियों से बल्कि भय था। लेकिन देश को जब कि सचमुच समर्थ पुरुषों की आवश्यकता है, तब भी क्रिया हीन ज्ञान को हम क्यों इतना महत्त्व देते चले जा रहे हैं? समय था कि हम

पहचानते कि जो कर्म में प्रकट और सक्षम नहीं हो सकता, वह ज्ञान असल में ज्ञान है ही नहीं, वह केवल साक्षर-दम्भ है। हमको इस सत्य की यदि पहचान हो जाय कि ज्ञान, कर्म और चारित्र्य ये तीन अलग बँटे और कटे हुए नहीं हैं, बल्कि तीनों को एकता, और इस तरह समस्त व्यक्तित्व को सम्पन्नता, देनेवाला शिक्षण ही सही शिक्षण है, तो जल्दी ही इष्ट-परिवर्तन का स्वरूप हमारे आगे स्पष्ट होता जा सकता है।

वैज्ञानिक और श्रमिक का अन्तर मिटे

एक नयी चीज गांधीजी के द्वारा शुरू की गयी थी, जिसका 'बुनियादी तालीम' नाम पड़ा। उसकी पीछे छीछालेदर हुई। आज उसको खानापूरी के तौर पर चलाया भी जा रहा है, लेकिन उसकी मूल शक्ति इस दर्शन में थी कि करने के द्वारा सीखना होगा और उस ज्ञान की कसौटी आस-पास के प्रति अधिकाधिक उपयोगी और सक्रिय होने के द्वारा होगी। उस मूल-दृष्टि को प्राथमिक से विश्वविद्यालय के स्तर तक भी अमल में लाया जाय, तो एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता है। वर्तमान सभ्यता वैज्ञानिक और श्रमिक को एक-दूसरे से काफी दूर रखती और बीच में नाना प्रकार के शोषणों के लिए अवकाश बनाये रखती है। यदि यह अन्तर टूट जाता है, तो शोषण की विधियाँ और प्रणालियाँ भी सूख जाती हैं और आडम्बरीय सभ्यता मानवीय बनने लग सकती है। लेकिन यह शायद आपके प्रश्न से दूर जाना हो जायगा।

२७५. पाठ्य-क्रम में सैन्य-शिक्षा और चि के अनुकूल किसी भी व्यवसाय की दिशा का श्रम, इन दो को जब तक अनिवार्य करार नहीं दिया जायगा, तब तक मेरे विचार में विद्यार्थियों में अनुशासन और सन्तुलन, मौलिकता और विचारकता नहीं आ सकती। क्या आप मेरे इस सोचने से सहमत हैं?

सैन्य और शिल्प की शिक्षा

—सैन्य और शिल्प इन दोनों दिशाओं से शिक्षण हो तो एक विशेष प्रकार की सार्थकता, वास्तविकता और संघबद्धता प्राप्त होगी, यही आपका आशय है न? इन तीनों गुणों को मैं सही शिक्षण का अंगभूत कहूँगा। मनमानापन का स्वभाव सभी-में होता है। शिक्षण के लिए जरूरी है कि व्यक्ति को वह एक जीवन-प्रयोजन का लाभ दे और व्यक्ति इस तरह छिटका-बिछुड़ा न रह जाय, बल्कि समाज के लिए संगत और समर्थ बने। इसी तरह शब्द-शिक्षा में सार्थकता और वास्तविकता आनी चाहिए, जो किसी काम अथवा शिल्प से आती है। किन्तु सैन्य और शिल्प ये स्वयं किस प्रयोजन से जुड़े हों, यह प्रश्न विचारणीय रहता है। आजकल चलने-

वाले फैशनेबिल पब्लिक-स्कूलों में कुछ-कुछ यह सैन्य और शिल्प की शिक्षा का स्पर्श रहा करता है। किन्तु उससे इष्ट की पूर्ति नहीं होती। हैण्डीक्रैफ्ट के इस या उस रूप को पाठ्य-क्रम में दाखिल करने का रुख भी जहाँ-तहाँ दिखाई देता है। पर जो मैंने ऊपर कहा, वह उससे भिन्न है। यहाँ हस्तशिल्प कुछ शौक की तरह नहीं सीखा जा सकता। बड़े लोगों के लड़के यह शौक फरमाया करते हैं। लेकिन उससे लाभ नहीं होता, न स्वयं विद्यार्थी को होता है, न समाज को होता है। वह हस्तशिल्प किसी काम नहीं आता, न उसमें इतनी क्षमता होती है कि वह बाजार की स्पर्धा में ठहर सके। उस प्रकार के शिल्प और उद्यम को शिक्षा के माध्यम के रूप में ही अंगीकार करना इससे बिलकुल दूसरी चीज है। यह है कि जिससे श्रम केन्द्र में आ सकता और बुद्धि से समन्वित हो सकता है, जहाँ वह शौक नहीं रहता है, बल्कि जीवन का मेरुदण्ड हो जाता है, वह मूल्य बन जाता है।

सैन्य-शिक्षण से एक अनुशासन प्राप्त होता है। मिल-जुलकर पंक्तिबद्ध काम करने की योग्यता आती है। यह भी समाज के लिए उपयोगी और कीमती चीज है। लेकिन कुछ ऐसा करना होगा कि यह योग्यता और क्षमता मिले, लेकिन शस्त्र की श्रद्धा और शत्रुता की आवश्यकता न बने। सैन्य-व्यापार के लिए शस्त्र और शत्रु दोनों आवश्यक होते हैं। उनके बिना सैन्य-अभ्यास में जान ही नहीं आती, न दम-खम पैदा होता है। मैं मानता हूँ कि उत्तरोत्तर शस्त्र और शत्रु समाप्त होते जायँगे। यदि उनके बिना व्यक्ति अनुशासन सीख ही नहीं सकता हो, तो मानना होगा कि शस्त्र और शत्रु के अभाव में फिर अराजकता को ही आ रहना है। यह सम्भव नहीं है। अराजकता और आपाधापी ही अगर रह जाय, तो समाज समाप्त हो जाता है और आदमियों के लिए भी जंगल ही रह जाता है। नहीं, विकास इस तरह पीछे की ओर नहीं जा सकता। अर्थात् सैन्य-शिक्षा यदि आवश्यक हो, तो वह सैन्य-शिक्षा मनुष्य का काम देगी, जिसमें सेना शान्ति-सेना हो। तदनुकूल उस अभ्यास में कुछ अन्तर भी होगा। यदि सामान्य सैनिक के हाथ में लाठी है और उसमें उसे उससे वार करना सिखाया जाता है, तो शान्ति-सैनिक को उन लाठियों को मिलाकर डोली और सेज बनाना सिखाया जायगा, जिससे घायल और बीमार आसानी से ले जाया जा सके। अर्थात् मानसिक और शारीरिक अनुशासन का लाभ उस सैन्य-शिक्षण से अवश्य मिलेगा, लेकिन शस्त्र और शत्रु से होनेवाली हानि से विद्यार्थी को बचा लिया जायगा। उसकी जगह सुश्रूषा, प्राथमिक सहायता इत्यादि की दीक्षा होगी और पहले अभ्यास यदि युद्धानुकूल था, तो दूसरे की विशेषता शान्ति-सेवानुकूल होगी।

हमारे पब्लिक-स्कूल

२७६. हमारे पब्लिक-स्कूल जो पैसे के जोम और अंग्रेजी के दम से चलते हैं और कुलीन वर्ग को बनाने और रखने का लक्ष्य लेकर काम करते हैं, क्या भारत के समाजवाद के सिद्धान्त से एकदम उलटे नहीं पड़ते ?

—भारत की इकोनोमी आज सम्मिश्र अवस्था की है। पब्लिक-स्कूल को सामान्य स्कूल से उत्तम माना जाता है, उसमें प्रति विद्यार्थी खर्च अधिक आता है। उस नमूने पर सारे स्कूल तो सरकार चला नहीं सकती। तो क्या जो थोड़े उस उत्तम नमूने पर चल रहे हैं और चल सकते हैं, क्या उन्हें जबरदस्ती घटिया बना दिया जाय या खतम कर दिया जाय ? उन स्कूलों की अर्थ-व्यवस्था तभी समुचित रह सकती है, जब विद्यार्थियों से अमुक आय हो जाय। इसके लिए फीस वहाँ की बढ़ी-चढ़ी है, दूसरे खर्चे भी ज्यादा हैं, और सिर्फ सम्पन्न माता-पिता अपने बालकों को वहाँ शिक्षा दिलाने का शौक पूरा कर सकते हैं।

आप देखियेगा, इस तरह तर्क का एक विषम चक्र खड़ा हो जाता है। कौन कहेगा कि यदि उत्तम संस्थाएँ कम हैं और सहसा सब संस्थाओं को इतना उत्तम नहीं बनाया जा सकता, तो जो हैं उनको भी खतम कर दिया जाय ? जारी रखा जाता है तो वे विशिष्ट और कुलीनोचित बने बिना रह नहीं सकतीं। अतः क्या किया जाय ?

समाजवादी नारे के प्रतिकूल

निश्चय ही यह स्थिति समाजवादी दावों और नारों से अनुकूल नहीं ठहरायी जा सकती है। लेकिन क्या आप सचमुच मानते हैं कि नारा यथार्थ होता है ? क्या यह सही है कि स्वयं समाजवादी देशों में ऐसी कोई विशिष्टता और भिन्नता नहीं है ? मैं स्वयं अन्त्योदय में विश्वास करनेवाला हूँ। मैं मानता हूँ कि सबसे अधिक आराम रोगी को मिलना चाहिए और व्यवस्था से प्राप्त हो सकनेवाली सबसे अधिक सेवा-सुविधा दलित और पीड़ित को मिलनी चाहिए। कौन जानता है कि जो सबसे निम्न है, वह इसी कारण निम्न नहीं है कि शेष सब महिम्न बनकर उसके ऊपर सवार हैं ? कौन जानता है कि उसे हम सबका ही प्रायश्चित्त नहीं उठाना पड़ रहा है ? अगर हमें अपने दोष से मुक्त होना है, तो उसके आदर से आरम्भ करना है जो हमारे ही कारण निम्न, निन्द्य और अन्त्य बना हुआ है।

पब्लिक-स्कूलों के बालक जीवन-संघर्ष में दोयम

और भी एक बात देखी जाती है। पब्लिक-स्कूलों के बालक शाइस्ता और

सलीकेदार होते हैं। उनमें ग्रन्थियाँ कम हैं और समाज में वे खुले आत्म-विश्वास से व्यवहार करते हैं। लेकिन आगे जाकर जीवन-संघर्ष में वे उतने ही मज़बूत साबित होते हैं, इसमें सन्देह है। विश्वविद्यालय की या आगे जीवन की परीक्षा में मैं नहीं मानता कि पब्लिक-स्कूलों के बालक कुछ अधिक सफलता दिखा पाते हैं। मुझे विस्मय न होगा कि आगे जाकर ये ही कुछ पिछड़े हुए, अव्वल की जगह दोयम, दिखाई देते हों। ऐसा होना इसलिए संगत है कि कठिनाइयों में से जो सीखा जाता है, वही गहरा और खरा होता है।

इसलिए पब्लिक-स्कूलों के प्रति किसी स्पृहा और ईर्ष्या के भाव से देखने की आवश्यकता नहीं है।

पश्चिमी शिक्षा-पद्धति

२७७. जो शिक्षा-पद्धति इस समय भारत में काम कर रही है, उसीके बल-बूते पर पश्चिम ने महत्तम व्यक्तित्वों को जन्म दिया है। फिर भारत में ही पश्चिमी शिक्षा-पद्धति का यह प्रयोग अधूरा और विफल क्यों सिद्ध हो रहा है? दोनों जगहों की शिक्षा-प्रणाली में साधनों का अन्तर प्रधान है या स्पिरिट का?

—महत्तम व्यक्तियों के जीवन के इतिहास और विश्लेषण में जाना पड़ेगा, यह तय करने के लिए कि किन तत्त्वों से उनका जीवन महान् बना। शिक्षा-प्रणाली में से ही यदि बना होता, तो दूसरे शिक्षित महान् क्यों नहीं बने, इसके कारण ढूँढ़ने की आवश्यकता हो जायगी।

उसकी विशेषताएँ

लेकिन यह समझना कि शिक्षा-पद्धति यहाँ और वहाँ एक है, भूल करना होगा। कहीं भी माध्यम क्या विदेशी भाषा है? शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में केवल यह तथ्य कि भारत में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषा नहीं है, एक विदेशी भाषा है, उसको एक साथ इतना कृत्रिम बना देता है कि उसकी दूसरों से तुलना नहीं हो सकती। इसी कारण इन देशों में शिक्षित और अशिक्षित, शहरी और देहाती, में उतनी दूरी नहीं दिखाई देती है। शिक्षा का सम्बन्ध वहाँ इतना अधिक अर्थोपार्जन से नहीं है। लक्ष्य के तौर पर जब अर्थ केन्द्र में होता है, तब शिक्षा मानो व्यक्तित्व के संस्कार से एकदम विमुख हो जाती है और केवल अर्थसाधिका रह जाती है। उसका वैसा प्रभाव पश्चिम के अन्यान्य देशों में नहीं देखने में आया। उससे जीवन-स्फूर्ति और अभिक्रम का नाश नहीं हुआ और रोजगार चाहनेवाले बेकार प्रार्थियों की संख्या नहीं बढ़ी। वे कारण और अन्तर स्पष्ट हैं, जिनसे भारत में उस शिक्षा-

विधि का वह सब अनिष्ट परिणाम हुआ है। इस तल पर दोनों जगह की कोई तुलना नहीं की जा सकती।

यों तो पिछली सदी के और आज के सभी महत्त्वपूर्ण आदमी साक्षर और शिक्षित ही मिलेंगे। लेकिन यह मानना कि स्कूली-शिक्षा ने उनमें वह महत्त्व डाला, जल्दी करना होगा। शायद वे उस शिक्षा के बावजूद समर्थ और महत्त्वशाली बने, न कि उसके कारण।

२७८. क्या आप विश्वास रखते हैं कि हमारी सरकार अंग्रेज़ी को शिक्षा-पद्धति में से निकाल देने को उत्सुक है? क्या सचमुच वह भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान देने के महत्त्व को महसूस करती है?

अंग्रेज़ियत बढ़ रही है

—अपनी सरकार के बारे में अनुमान से मैं काम लेना नहीं चाहता। उस ओर से जो वक्तव्य आते हैं, उन्हींको ज्यों-का-त्यों मानकर क्यों न चला जाय? सच यह कि सरकारों में श्रद्धा नहीं हुआ करती। अपनी सरकार में तो संकल्प के बल तक का अभाव है। बहुत-कुछ आगे आनेवाले समय और लोकस्थिति पर निर्भर करता है। यों देखने में भारतीयता ह्रास पर है, अंग्रेजीयत बढ़ रही है। इस तरह अंग्रेजी का महत्त्व या उस भाषा की निर्भरता कम होती नहीं दीखती है। यों संसद् का निर्णय है कि सन् १९६५ से काम हिन्दी के द्वारा होने लगेगा। लेकिन साथ ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अंग्रेजी का उपयोग निषिद्ध नहीं ठहराया जायगा और वह मानो दूसरी राजभाषा रहेगी। इस दूसरे निर्णय के साथ पहले संकल्प का क्या भविष्य है, यह देखने की ही बात है।

लोक-शक्ति के लिए लोक-भाषा चाहिए

कांग्रेस-सरकार में जनता के साथ एकाकार होने की कोई आतुरता नहीं दिखायी देती है। लोकतन्त्र में वही सबसे बड़ी प्रेरणा होनी चाहिए। मैं मानता हूँ कि कि लोकबल सही और सच्चे तौर पर शासन को नहीं प्राप्त होगा, अगर उसका काम-काज लोकभाषा और जनभाषा के द्वारा नहीं चलेगा। कांग्रेस की सरकार मानो अंग्रेजी पढ़े-लिखे सर्विसेज के लोगों पर अपना ज्यादा विश्वास और भार रखती है। उसके बाद लोक-निर्भर और लोकनिष्ठ होने की चिन्ता से मानो वह मुक्त हो जाती है। नये चुनाव आनेवाले हैं, सम्भव है कि तब कांग्रेसी लोगों को यह चिन्ता फिर सताने लगे और उन्हें यह अनुभव प्राप्त हो कि लोक-शक्ति-सम्पादन की दृष्टि से लोकभाषा का अवलम्बन अनिवार्य है। लेकिन सामान्यतया

जो रुख है, उसको देखते हुए कांग्रेसी राज्य से हिन्दी या भारतीय भाषाओं के महत्त्व को अंग्रेजी से अधिक करने की दिशा में कुछ विशेष आशा नहीं रखी जा सकती।

पब्लिक-स्कूल और अंग्रेजी

२७९. क्या पब्लिक स्कूल इस अंग्रेजी की निर्भरता को बढ़ावा नहीं दे रहे हैं?
—हाँ, दे रहे हैं। समाज में जो ऊँचा स्तर समझा जाता है, वहाँ अंग्रेजी के द्वारा प्रवेश सहज होता है। इसलिए फैशन भी उधर ही जा रहा है। लेकिन जब लोकबल की ओर हमारा ध्यान जायगा और राजनीति अपने लिए वहाँसे शक्ति प्राप्त करना अनिवार्य पायेगी, तो प्रकट होगा कि वे व्यक्ति, जिनकी जड़ें भारतीय भाषाओं में नहीं हैं, कुछ ऊपरी रह जाते हैं; लोक-जीवन में उनकी कोई मजबूत जगह नहीं बनती। अर्थात् हमारा सार्वजनिक जीवन जब व्यापक आधार लेगा, तो पब्लिक-स्कूलों द्वारा शिक्षित-दीक्षित व्यक्ति उखड़े हुए दीख सकते हैं और उनका महत्त्व सामान्य से कुछ कम भी हो सकता है। आज हमारा सार्वजनिक जीवन उस दिशा में नहीं जा रहा है, इसीलिए अंग्रेजियत के पीछे लोग दौड़ रहे हैं। शहर पर तो उसका नशा सवार है। कांग्रेसी शासन के प्रधानमन्त्री को सामने रखकर यह रुख और रुझान तेजी पकड़ रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

२८०. क्या आपका विश्वास है कि उच्चतम तकनीकी शिक्षा के लिए भारतीय भाषाएँ उपयोगी साबित हो सकेंगी? और यदि अंग्रेजी को हटा दिया गया, तो भारत वैज्ञानिक क्षेत्र में संकीर्ण बना नहीं दीख पड़ेगा?

अंग्रेजी पर निर्भरता आत्म-हीनता

—यह झूठ है कि ज्ञान या विज्ञान अमुक भाषा से जुड़े हैं। भारतीय भाषाओं को हीन मानना असल में भारतीय जन और जनता को हीन मानने में से ही फलित होता है। यह अपने सम्बन्ध की अश्रद्धा हमें बड़ी महँगी पड़ रही है। कुछ पहले तक विज्ञान में रूस पिछड़ा था। आज सबसे आगे है, तो क्या वहाँ वैज्ञानिक शिक्षा किसी विदेशी भाषा द्वारा दी या ली गयी थी? जापान पिछड़ा हुआ तो नहीं माना जा सकता। जापानी भाषा में यह क्षमता एकाएक कहाँसे आ गयी कि वहाँ सब विज्ञान पहुँच गये, सिद्ध हो गये और जापान की प्रगति किसीसे कम न रह गयी? यह कोरा आत्म-दैन्य है, जो अपने दोष को भाषा पर डालता है और इस तरह विदेशी भाषा की दासता को छोड़ना नहीं चाहता। एक मोहम्मद साहब के बलबूते पर अरबी भाषा में एक साथ चैतन्य और वैभव आ फूटा। पहले वह भाषा दीन और हीन बनी हुई थी। क्षमता या अक्षमता स्वयं भाषा में नहीं हुआ करती, उस भाषा

के बोलनेवालों की ही क्षमता या अक्षमता वहाँ प्रतिबिम्बित होती है। यह सब चर्चा कि इस या उस भाषा में तकनीकी या वैज्ञानिक या पारिभाषिक शब्दावलि नहीं है, अविश्वस्त वर्ग की चर्चा है। उस पर जो अटकता है, वह मानो गतानुगतिक होकर चलना चाहता है। उसमें मौलिक श्रद्धा और चैतन्य नहीं है। मैं उस पर एक क्षण नहीं अटकना चाहता। देश के संकल्प-बल का क्यों हमने आवाहन नहीं किया, क्यों स्वराज्य मिलने पर अंग्रेजी की परावलम्बिता को स्वीकार कर लिया? उस समय सब काम हमने अनुवाद और अनुकरण द्वारा किया। संविधान दूसरे देशों के विधानों की नकल में मगर जोर-शोर के साथ हमने तैयार किया! उठते हुए राष्ट्र की आत्म-श्रद्धा का बल थामकर हम नहीं चले। अन्यथा भारत एक अनोखी क्रान्ति का अग्रदूत बन सकता और आज की अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए एक मार्गदर्शन दे सकता। पर अगर वैसा नहीं हुआ, तो सिवा इसके क्या कहा जाय कि हमारे राजनीतिक भाग्यविधाता हीन-विश्वास और अल्प-श्रद्धा के केवल कामकाजी लोग निकले, क्रान्तिकारी वे नहीं सिद्ध हुए।

पारिभाषिक शब्द किस भाषा में ?

२८१. मानिये कि सरकार ने आपकी बात को मानकर अंग्रेजी को आज ही समाप्त कर दिया। अब आप कौन-सी भारतीय भाषा में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेंगे? हिन्दी में करते हैं, तो दक्षिणवाले इसे हिन्दी का साम्राज्यवाद कहते हैं और मुसलमान इसे इसलाम से शत्रुता मानते हैं। बंगाली भी हिन्दी को बंगला की महत्ता के लिए प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखते हैं। आखिर सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही पारिभाषिक शब्दावलि चाहिए। इस समस्या का आपके पास क्या निदान है?

—समस्या का निकाल या निपटारा तब होता और हो सकता है, जब तय हो कि वह हमें करना है। नहीं तो समस्या समस्या रहती है और हमको दबा लेती है। मुझे सबसे पहले यही कहना है कि संकल्प से हमने समस्या को बड़ा बनाकर देखा। जो व्यक्ति या देश इस ढंग से चलता है, वह नहीं बढ़ता, उसकी समस्याएँ ही बढ़ती हैं।

आज संकल्प का अभाव

आज भाषावाद, प्रान्तवाद, जातिवाद छाया हुआ है। हम हैरान हैं। सन् बीस-बाईस और तीस-बत्तीस में स्थिति क्या थी? वे सब वाद क्यों अब उखड़े और तब उनका बीज भी क्यों नजर न आता था? देश यों देखें तो काफी आगे बढ़ा है और

राष्ट्र के बजट के अंक जाने कितने गुणानुगुणित हो गये हैं। लेकिन सच यह कि तब एक अनुपम भावसम्पन्नता का हमें बोध था, अब एक विपन्नता का भाव घेरे हुए है। कारण यह कि आन्तरिक दैन्य हमारे भीतर समा गया है। हम परिस्थिति में से तर्क लेते हैं, जो हमेशा प्रतिक्रिया का होता है। संकल्प में से अपने कदम का निर्णय नहीं करते, जो प्रगति का हो सकता है। एक महद्भाव उस महात्मा से आकर देश में भर गया था। उस समय देशवासियों को कुछ कठिन और असम्भव नहीं मालूम होता था। आज एक-एक बात नाना विकल्पों और विवादों से हमें घेर लेती है। मालूम होता है कि भँवर बड़ा है और हम छोटे हैं।

जीवन-प्रेरणा की मन्दता

हिन्दी और पारिभाषिक शब्दावलि की आप बात कहते हैं। कहते हैं कि दक्षिण और बंगाल हिन्दी को क्यों मानें? पारिभाषिक शब्दावलि एक होनी चाहिए और वह एक कैसे बने? इत्यादि-इत्यादि नाना प्रश्न पैदा किये जा सकते हैं और वहीं-का-वहीं गड़कर बैठा रहा जा सकता है। उठनेवाले देश इस ढंग से काम नहीं किया करते। पारिभाषिक और वैज्ञानिक पर्यायवाची शब्द अगर आज अनेक भी बनते हैं, तो क्या हर्ज है? समय आने पर चुनाव और छँटाव हो जायगा और अमुक को प्रामाणिक मान लिया जायगा। लेकिन प्रश्न यह है कि हमें काम करना है या बात करनी है? आज बिजली के कारीगर को बिजली कहीं लगानी होती है, तो वह इस चक्कर में नहीं पड़ता कि वह पोजिटिव-निगेटिव को क्या कहें? क्या पर्याय शुद्ध और यथार्थ होगा? वह 'ठण्ढा और गरम तार' कहकर अपना काम चला लेता है और रुकता नहीं है। हो सकता है कि गरम और ठण्डा पोजिटिव-निगेटिव का सही अनुवाद न हो। सही क्या है, इसके निर्णय में आप समय लेना चाहें तो लेते रह सकते हैं। लेकिन असल चीज यह है कि वक्त पर काम रुकना नहीं चाहिए, जो शब्दों के फेर में रोक रखा जाता है। इसमें जीवन-प्रेरणा की मन्दता है, इसके सिवा क्या कहा जा सकता है?

अनुकरण का फैशन

मैं मानता हूँ कि ऊपर केन्द्रीय-सरकार में प्रश्न जो पहले शब्द का बन गया, काम का नहीं रहा, सो यह मन्द-श्रद्धा का ही परिणाम था। आप कोश बनाइये और बनाते चले जाइये। कभी इस बोध से आपको छुटकारा नहीं मिल सकता कि अनेकानेक शब्द इस बीच ऐसे नये आ बने हैं, जिनका पर्याय आपके पास नहीं हैं। अनन्त काल तक आप सब शब्दों को अपनी भाषा में लाने में सफल नहीं हो सकते।

अगर भाषा की सामर्थ्य इसी पर निर्भर रहेगी और आप उस भाषा में काम चलाने को इसी शर्त पर स्थगित करते रहेंगे, तो आप रुके रह जायँगे, भाषा रुकी रह जायगी और जमाना आपको छोड़ता हुआ ऊपर से निकलता चला जायगा। या आप अनुकरण प्रियता में ही मग्न हुए बहेंगे और अपनी आत्मा और अन्तरंगता से बिछुड़े बने रह जायँगे। अंग्रेज़ी को थामकर भारत उसी अनुकरण-प्रियता में बह रहा है और अपनी आत्मा से हीन और वियुक्त बना जा रहा है। इसी विहीनता का यह तर्क है कि क्या करें, हम दीन हैं, हमारी भाषा दीन है। नकल करने और उल्था करने के सिवा हमारे लिए और गति नहीं है !

ज्ञान-विज्ञान एक भाषा से जड़ित नहीं

निश्चय रखना चाहिए कि ज्ञान-विज्ञान समूची मनुष्य-जाति की निधि और स्वत्व होता है और देश या भाषा की बपौती उस पर नहीं होती। अमुक देश या भाषा में वह उपलब्ध या प्रकट हुआ हो सकता है, लेकिन उस भाषा-देश से वह जड़ित नहीं होता। अपनी-अपनी भाषा द्वारा सब लोग अनायास उसका लाभ और सार प्राप्त करते और उसे आत्मसात् कर लेते हैं। इस प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता। वह भाषा नहीं, बल्कि लोग ही पराधीन हैं, जो उसको सीधे लेने में असमर्थ हैं और ज्ञान से अधिक उसके परिवेश को महत्त्व देते हैं। शब्दों को पहले सीखने और निरे अनुवाद द्वारा ज्ञान तक पहुँचने की पद्धति अवैज्ञानिक और अकार्यकारी है। बच्चों को ही हम देखें कि भाषा उन्हें कोई नहीं सिखाता और वे अनायास सीख जाते हैं। कारण, भाषा को अलग-अलग शब्दों-शब्दार्थों द्वारा वे ग्रहण नहीं करते, जीवनो-पयोग द्वारा लेते हैं। ऐसे ही ज्ञान को अलग-अलग शब्दों से जड़ित हम मान लेते हैं, तो उसकी कठिनाई पर अटक जाते हैं और आदान-प्रदान की गति अवरुद्ध हो जाती है। सरकार को इस शब्द-तर्क से इसलिए घिरना और मन्द पड़ जाना हुआ कि उसके पास श्रद्धा-संकल्प का संबल नष्ट हो चुका था और आज स्वराज्य के चौदह वर्षों के बाद भी अनुभव होता है कि अगर स्वराज्य का किंचित् भोग्य भारत को प्राप्त है, तो वह अंग्रेजीवाले वर्ग को ही प्राप्त है, शेष तो एकदम कोरे रह गये हैं। स्वराज्य की यह पराधीनता सचमुच बहुत शोचनीय है और तनिक दबाव पड़ते ही अंग्रेजी के समाधान में बच निकलने की आदत कम शोचनीय नहीं है !

शब्द-निर्माण जनता करती

२८२. शिक्षा-मन्त्रालय का हिन्दी-विभाग पारिभाषिक शब्दों के क्षेत्र में जो काम

कर रहा है उसे क्या आप उपयोगी और ठीक दिशा की ओर प्रगति मानते हैं?

—अच्छा होता यह काम सरकारी विभाग न करता, बल्कि जनता कर रही होती। जनता कैसे कर सकती है, यह प्रश्न मत उठाइये। सब कामकाज करने की अनिवार्यता ही जनता को अनेकानेक शब्द प्रस्तुत करने तक ले आती है। आज भी यह काम तेजी से हो रहा है। बम्बई और कलकत्ते में बने फिल्म-चित्र देश के हर कोने में दिखाये जाते हैं। इसी तरह जनता के सब वर्गों में जीवन की अनिवार्यता में से माँग शुरू हो चुकी होती और अनेकानेक शब्दों का निर्माण हो गया होता। विभाग द्वारा वह काम न केवल स्वल्प हुआ है, बल्कि सम्भव है कि वह उपयोगिता से कुछ हटा हुआ भी हो। कारण, वह सिद्धान्त के तल से किया गया है। कार्यकारी उपयोगिता की कसौटी वहाँ प्रस्तुत नहीं रही है। इस काम में एक सुविधा मानी जा सकती है और वह यह कि इस प्रकार बनी हुई शब्दावलि एक साथ प्रामाणिक और सर्वमान्य होकर आयेगी। पर सम्भव हो सकता है कि बहुत से शब्द उपयोग में जमे ही नहीं और कुछ शब्द उपयोग में आकर भी चलन में खपने लायक न सिद्ध हों। जनता द्वारा यह प्रक्रिया सम्पन्न होती, तो सम्भव था कि अनेकानेक शब्द-विकल्प सामने आते और कोई एक प्रामाणिक शब्दावलि प्राप्त न होती। लेकिन प्रमाणीकरण का काम कोई एक मामूली केन्द्रीय-समिति पीछे कर सकती थी और तब यह कार्य सुगम भी होता। वह तब उपयोगिता से संलग्न भी बना रह सकता था। अब हमने जीवन से, भाषा से, उपयोग से अलग, मानो सजीव सन्दर्भ से वियुक्त भाषा-शास्त्र में से शब्द-निर्माण करना चाहा है। इस प्रयत्न में न कृत्रिमता को पूरी तरह बचाया जा सकता है, न समय के व्यर्थ अपव्यय को।

स्वल्प-फल, बहु-विघात

विभाग द्वारा जो काम हुआ है, उसे अनुपयोगी नहीं कह सकते। पर 'स्वल्प फल बहु-विघात' अवश्य कहा जा सकता है। सच यह कि शायद सरकार ने अपने ऊपर आवश्यक तौर पर वह भी बहुत जिम्मा ले लिया है, जो प्रजाजन में बाँटकर किया जा सकता था। सहायता का काम ही सरकार का होना चाहिए था, भाषासम्बन्धी निर्मिति आदि का कार्य स्वयं उस प्रकार की आवश्यकता के दैनन्दिन व्यवहार में पड़े लोगों पर छोड़ना चाहिए था। किन्तु वह प्रश्न स्वयं शासनसम्बन्धी धारणा का बन जाता है। मानना चाहिए कि वेलफेयर स्टेट का आदर्श कामों को लोगों पर छोड़ना नहीं, अधिक-से-अधिक को अपने लिए अपनाने और हथियाने के निकट

पहुँचता जा रहा है। मेरे जैसे कुछ लोग उसे अभीष्ट न मानते होंगे, पर रुख वही है, यह स्पष्ट है।

हिन्दी चलाना और टलाना

शिक्षा-मंत्रालय शब्दावलि और शब्दकोष देगा, तो अच्छा ही है। लेकिन उसने समय लिया है और वह शब्दावलि सब राज्यों से स्वीकृति पाये, इसमें और समय लगेगा। चलन में आये, इस प्रयोग में और भी समय लगेगा। अर्थात् मन्त्रालय का यह सब प्रयत्न हिन्दी के माध्यम को प्रचलन में लाने की आवश्यकता के अनन्त स्थगन के साथ-साथ भी निभता चला जा सकता है। यही आज की विशेषता है कि एक स्तर पर हिन्दी को चलाने के प्रयत्न चल सकते हैं, उसी सरकार में दूसरे स्तर पर हिन्दी को टालने के प्रयत्न चल सकते हैं। दोनों में खूब खर्च होता रह सकता है और दोनों पक्षों को सन्तुष्ट रखा जा सकता है। यदि मैं विश्वास कर सकूँ कि हिन्दी पर उतर आने की आकुलता और अंग्रेजी की परावलम्बिता से जल्दी-से-जल्दी छूटने की आतुरता सरकार में काम कर रही है, तो शिक्षा-मन्त्रालय के हिन्दी-विषयक काम का महत्त्व बढ़ जाता है। परिस्थिति में वैसा आग्रह नजर नहीं आता है। इस तरह वह प्रयत्न काल-यापन का ढंग-सरीखा भी जान पड़ता है और उससे पूरी सान्त्वना नहीं होती है।

डा० रघुवीर का प्रयास

२८३. आपने यह काम जनता द्वारा किये जाने पर बल दिया। डाक्टर रघुवीर सरकार नहीं, जनता के अंग हैं। उन्होंने जो विशाल पारिभाषिक शब्दकोष तैयार किये, उन्हें सरकार और जनता दोनों ही मान्यता न दे सके, बल्कि उनके शब्दों की खिल्ली उड़ायी गयी। ऐसा क्यों हुआ?

—डाक्टर रघुबीर के काम के परिणाम से मैं कितना भी असहमत होऊँ, उसका महत्त्व स्वीकार करता हूँ। उनके अध्यवसाय और लगन की गहरी प्रशंसा मेरे मन में है। ऐसी बात भी नहीं है कि उनके परिश्रम के फल का उपयोग ही न हुआ हो। पुरानी सी० पी० की सरकार ने न सिर्फ उनको अवकाश दिया, बल्कि कार्यारम्भ की सुविधा दी और शब्दों को भी अपने उपयोग में लिया। अगर उस काम की सार्वजनीन उपयोगिता नहीं हो पायी और दोनों ओर यदि उसका कुछ उपहास भी हुआ, तो इस कारण कि शब्द-निर्माण का वह प्रयत्न भाषा और उपयोग के सन्दर्भ से स्वतन्त्र सिद्धान्त की भूमिका से हुआ था और इसलिए वह कहीं-कहीं विलक्षण और अनुपयुक्त भी हो गया था। यह दोष आये बिना तब तक नहीं रह

सकता, जब तक कि हम शब्द को जीवन-सन्दर्भ से अलग स्वयंप्रतिष्ठ रूप में देखना और अनुवाद में उतारना चाहेंगे। मैंने स्वयं उनके कोष का पारायण नहीं किया। लेकिन एक शब्द बहुत पहले बताया गया था, सद्यस्कृत्यस्थिति; वह तब से याद में अटका ही रह गया है। अटका इसलिए रह गया कि बड़ा विलक्षण जान पड़ता था। यह शब्द निश्चय ही चल नहीं सकता। यह अनुवाद है अंग्रेज़ी के 'एमरजेन्सी' शब्द का। हो सकता है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से वह बहुत सही हो, लेकिन कोई संस्कृतज्ञ एकाएक उसमें से यह भाव नहीं ले सकेगा। उपयोगिता से अलग जब हम अमुक शब्द को लेते और दूसरी भाषा में उतारना चाहते हैं, तो उसमें से अधिकांश यह अघट घटता है। डाक्टर रघुबीर का प्रयत्न व्यवहार-लोक से उन्नत और उत्तीर्ण किसी भाषा-सिद्धान्त के लोक में जो चलाया गया, सो अभूतपूर्व होते हुए भी उतना कृतकार्य नहीं हो सकता।

मैं समझता हूँ कि इससे शब्द-निर्माण-विधि के सम्बन्ध में ही चेतावनी प्राप्त की जा सकती और शिक्षा ली जा सकती है। वह यह कि शब्द को व्यवहार और भाषा के सन्दर्भ से अलग तोड़कर देखना सार्थक नहीं होगा। वह निरर्थक से आगे कभी अनर्थक भी बन सकता है।

२८४. डाक्टर रघुबीर की अकृतकार्यता क्या इस सिद्धान्त की अकृतकार्यता सिद्ध नहीं होती कि संस्कृत को ही पारिभाषिक शब्दावलि का आधार बनाया जा सके और बनाया जाना चाहिए?

जीवन-प्रयोजन को सामने रखा जाय

—हाँ, सिद्धान्तपूर्वक चलना ही मुझे सही नहीं मालूम होता है। संस्कृत बहुत उपयोगी हो सकती है इस काम में। लेकिन उसके साथ प्रण जोड़ना हठ का द्योतक है और इष्ट नहीं है। सच यह है कि भाषा के सम्बन्ध में सामने जीवन के प्रयोजन को रखकर हम चलेंगे, तभी समभावी रह सकेंगे। अन्यथा कोई-न-कोई वादिता हमको ग्रस लेगी। उस प्रकार भाषा के प्रवाह में हमारे द्वारा वेग या सामर्थ्य नहीं आयेगा। बल्कि उसमें कुछ गाँठ पड़ेगी और ऊपर का आरोप और दबाव अनुभव होगा। इसीसे पण्डित और विज्ञ लोगों से भाषा का उतना निर्माण या संस्कार नहीं हुआ करता, जितना रचनाकार द्वारा होता है। कारण, उसके हाथ में भाषा स्वयं साध्य नहीं होती, बल्कि नैवेद्य की भाँति जीवनाभिव्यक्ति के प्रति समर्पणीय अर्घ्य के समान होती है। कहे जानेवाले तद्-ज्ञों पर यह काम छोड़ने से हो सकता है कि समानान्तर हमको दो शब्द-सूचियाँ मिलें। एक सूची लोक-भाषा की हो और दूसरी विज्ञ-भाषा की समझी जाय। शासन और देश-कार्य की

दृष्टि से यह समानान्तरता उपयोगी नहीं होगी और लोकतन्त्र का तात्पर्य सिद्ध होगा तो तब, जब लोक-भाषा और साधु-भाषा में व्यवधान ज्यादा नहीं होगा, बल्कि कम होता जायगा।

एक्युरेसी और करेन्सी

जितने शब्द भूमिज-देशज, ध्वन्यर्थक होंगे, उतने भाषा-प्रवाह में सहज खपते जायँगे। लेकिन कहीं निर्माण भी आवश्यक होगा। किसी हठ और सिद्धान्त के सहारे यह निर्माण सुगम भले हो जाय, लेकिन भाषा की प्रकृति में बैठ सकनेवाला शब्द चाहिए। एक्युरेसी और करेन्सी के बीच, दोनों को सम्भालते हुए, शब्द-निर्माण के काम को करना चाहिए। सही-सही होना और प्रभावमय होना, इन दोनों सिद्धियों का ध्यान तभी रखा जा सकता है, जब जीवन-प्रयोजन के प्रति चित्त में सावधानता हो और इससे इधर-उधर भाषासम्बन्धी कोई राग या आसक्ति-भाव न हो। इस दृष्टि से विज्ञ से अधिक सामान्य जन का योग इस काम में अधिक विश्वसनीय और लाभकारी हो सकता है।

२८५. **क्या आप शिक्षा की इस तकनीक से सहमत हैं कि अध्यापक एक बैरा बनकर पाठ को हलवे के रूप में प्लेट में सजाकर विद्यार्थी के सामने केवल पेश ही न करे, बल्कि चम्मच से उसे खिलाये भी और विद्यार्थी के लिए असुविधा, कठिनाई और अभ्यास का एक भी अवसर न आने दे, उसके कोमल मन पर ज़रा भी मनोवैज्ञानिक अथवा अन्य दबाव न पड़ने दे?**

शब्द और उनका रस

—आपने जिस भाषा में बात को रखा है, उसके रहते हुए कौन उससे सहमत होने की हिम्मत कर सकता है? सचमुच पाठ्य-पुस्तक का प्रसंग स्वयं में ज्ञान नहीं होता, केवल वह अध्यापक को अवसर देता है कि उस उपलक्ष से वह बहुत-कुछ विद्यार्थी में उँडेल सके। ज्ञान जीवन का अंग है और शब्द केवल उसके माध्यम हैं। जहाँ शब्द ही साध्य बन जाते हैं और ज्यों-का-त्यों वाक्यों को मन में उतारकर स्मृति में संचित करना होता है, उसको ज्ञान नहीं कहते। वह जीवन में फिर घुलता-मिलता नहीं है, चेतना पर मानो परिग्रह की मानिन्द बैठ जाता है। उससे व्यक्तित्व खिलने में नहीं आता, बल्कि कुछ मन्दता भले आ जाती हो। इसलिए पुस्तक के पाठ्य-अंश को तो उपलक्ष और अनुषंग के रूप में ही लेना चाहिए। उसको लेकर व्याख्या के रूप में अनेकानेक परिचितियाँ विद्यार्थी को दी जा सकती हैं। सच यह कि साहित्य अथवा वाङ्मय की भाषा स्वयंसिद्ध वस्तु नहीं होती, वह सूचक

हुआ करती है; शब्दों द्वारा जितना कहती, उससे कहीं अधिक इंगित और सूचन द्वारा कहती है। यदि अर्थ तक ही उसका प्रयोजन परिमित हो, तो उसमें पाठ्य बनने की क्षमता नहीं आती। अधिकांश पाठ्य वह वक्तव्य बनता है, जो सारगर्भ है और अर्थ जितना ही नहीं देता, वरन् भावरूप में उससे बहुत अधिक देता है। अध्यापक की सफलता इसमें है कि शब्दार्थ के द्वारा दी जानेवाली भाव-सम्पदा में विद्यार्थी के मानस को पहुँचा दे। ऐसा हो तो पढ़ाई शुष्क नहीं रहती, बड़ी रोचक हो जाती है। और रसग्रहण के द्वारा प्राप्त हुआ सत्व भार नहीं रहता, वह अनायास शक्ति बन जाता है।

ज्ञान क्रिया को प्रेरित करे

स्पष्ट है कि यह ज्ञान क्रिया को रोकेगा नहीं, बल्कि प्रेरित करेगा। ऐसे विचार और कर्म की विमुखता टूटेगी और उनमें एकत्रितता आयेगी। कर्म के लिए संश्लेष आवश्यक है और बुद्धि, जो विश्लेषण-प्रवण होती है, इस रस के योग से संश्लेषण से उलटी न जाकर उसमें सहायक हो जाती है। आज की पढ़ाई इतनी अन्वयात्मक है कि व्यक्तित्व भी मानो उससे बिखरता है। समन्वय की क्षमता भी व्यक्तित्व में आये, तब मानना चाहिए कि विद्या ने ज्ञान का स्वरूप लिया है। अन्यथा विद्या वियुक्त करनेवाली हो सकती है, संयुक्त नहीं करती। आज की यही विडम्बना है कि विद्या से व्यक्ति में हृदय और मस्तिष्क का समन्वय नहीं होता, उनमें जैसे विग्रह बढ़ जाता है। अर्थात् शिक्षा से स्वार्थ की वृत्ति कटने के बजाय और उत्कट बन सकती है और पढ़ाई-लिखाई की योग्यता, हो सकता है, व्यक्ति को सज्जन और सन्नागरिक न बनाये, बल्कि दुर्वृत्तियों को और धार देकर रह जाय। पाठ्य-प्रणाली और परीक्षा-विधि के रहते हुए भी इस तथ्य का ध्यान रखा जाय तो बहुत लाभ हो सकता और बहुत हानि बचायी जा सकती है।

२८६. आपने मेरे प्रश्न को कुछ छुआ नहीं। मैं यह जानना चाहता हूँ कि विद्यार्थी को असुविधा और कठिनाई में न पड़ने दिया जाय, इस नीति को क्या उसके व्यक्तित्व के विकास तथा उसमें आवश्यक उत्कण्ठा और जिज्ञासा के लिए आप हानिकर और बाधक नहीं मानते?

प्रयत्न का रस

—मराठी भाषा में शिक्षा का अर्थ सजा है। शिक्षा के अर्थ को वहाँ तक खीच ले जाना कि मतलब सजा ही रह जाय, मुझे उचित नहीं प्रतीत होता।

परिश्रम और प्रयत्न में स्वयं एक रस है। जिसको मजा और चस्का कहते हैं, उससे

यह रस भिन्न और ऊँचे प्रकार का है। सिर्फ चस्के में एक बचाव और व्यसन की वृत्ति रहती है। प्रयत्न और पुरुषार्थ में से मिलनेवाला रस सार्थकता देता है।

बुद्धि और वृत्ति का व्यायाम

आज का सूत्र है 'खेल-खेल में सीखो और सिखाओ।' इसको भी अति की ओर खींच ले जायँ, तो चित्त के लिए आवश्यक संयमन और नियमन की दीक्षा वहाँ से नहीं प्राप्त होती। किन्तु यह सच है कि ऊपर से डाला गया श्रम बेगार हो जाता है और प्रमाद और प्रतिक्रिया को जन्म देता है। बालक प्रकृति से ही कुछ श्रम करना चाहता है, अज्ञात और अपरिचित की ओर बढ़ना चाहता है। उसमें सीखने, बढ़ने, जानने की स्वाभाविक वृत्ति होती है। प्रत्येक प्रयत्न से वह अपने में बल आता अनुभव करता है। क्या हम देखते नहीं कि वह छुटपन में बार-बार गिरकर फिर-फिर उठता और इस तरह चलना सीख ही लेता है। इसमें जिस आयास की आवश्यकता होती है, वह उसे स्वयं प्रिय होता है। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि अनायासता की बात करते समय बालक की आयास उठाने की क्षमता को मन्द करने का समर्थन आ जाता है। किन्तु बुद्धि और वृत्ति का यह व्यायाम बालक को स्वेच्छा से प्राप्त होता होगा, तो उसके लिए सहायक होगा, नहीं तो उसमें एक विद्रोह की भावना जगा सकेगा, जिससे उसका अपना जोर और अध्यापक का जोर दोनों परस्पर को खण्डित करनेवाले बनेंगे और शिक्षण का परिणाम उद्दण्डता और स्वार्थता के उत्तेजन में दीखने लगेगा।

भय और दण्ड

२८७. क्या आप नहीं मानते कि भय और दण्ड के बिना अबोध और विवेकशून्य विद्यार्थी में आज्ञा-पालन, विनम्रता और स्वहित-चिन्तन की बाध्यता नहीं आती ?

—भय और दण्ड किस ओर से आता है यह प्रश्न मुख्य रहता है। ये भाव सहायक हो सकते हैं, बशर्ते कि उस दिशा से आयें, जहाँ बालक में ममता और भरोसा है। यदि सम्बन्ध में वह ममत्व और स्नेह नहीं है, तो फिर उस दिशा से आया हुआ भय और दण्ड किसी तरह बालक की सहायता नहीं कर सकेगा। तब वह बालक की प्रकृति में क्षति लाये बिना न रहेगा और संस्कारिता देने के बजाय उसमें बाधा-स्वरूप हो जायगा।

प्रेम अधिक विश्वसनीय

मैं कहना चाहता हूँ कि प्रेम हर आदर्श और नीति के बाद से अधिक विश्वसनीय

है। नीति अनायासता की हो सकती है, दण्ड की भी हो सकती है। यह सब मत-विचार का प्रश्न है। इन सबसे बढ़कर है, प्रेम की अनिवार्यता। वह प्रेम उस प्रकार आंकिक-वादों से घिरता नहीं है, अर्थात् उसमें भय और दण्ड की यथावश्यक मात्रा भी समा सकती है। प्रेम सम्पूर्ण सम्बन्ध की सृष्टि करता है। नीतिवाद के द्वारा जो भी हम प्राप्त करते हैं, उससे नियमित सम्बन्ध बनता है। वह उस तरह सघन और समग्र नहीं होता, इसलिए उसमें आंशिक सत्य ही होता है। भय और दण्ड को सर्वथा दूर रखना चाहिए, इस प्रकार की नीति बन सकती है। भय और दण्ड से भरपूर काम लेना चाहिए, दूसरे लोग इस नीति का भी व्याख्यान कर सकते हैं। ये बने हुए मन्तव्य सब अर्ध-सत्य होते हैं और इनमें से किसी पर अपना सब आसरा डाल देना सही नहीं होता। जो सही है, वह यह कि अध्यापक और विद्यार्थी के बीच प्रेम की अभिन्नता हो। फिर अध्यापक का विवेक जिस तरह भी उसे चलायेगा, उसमें से विद्यार्थी का इष्ट ही होगा, अनिष्ट नहीं होगा। गुरु-शिष्य का यह सम्बन्ध निजी और वैयक्तिक होता है। उस सम्बन्ध के सन्दर्भ से तोड़कर कोई सामान्य सिद्धान्त स्थिर करके अलग हो जाने से नहीं बनेगा। अध्यापक की वृत्ति और बुद्धि को हम किसी बाहरी नियम से जकड़-पकड़ नहीं सकते। ऐसे किसी नियम की आड़ उस सम्बन्ध की समग्रता पर भी दबाव लाने लग जायगी।

पोषक और विधायक दण्ड

अन्ततः जो बात सर्वसामान्यरूप से स्वीकार की जा सकती है और जिस पर आग्रह भी रखा जा सकता है, वह यह कि दिया हुआ कष्ट यदि शुभ फल लाता है, तो तब और उतना ही लाता है, जितना उस दिये कष्ट के द्वारा स्वयं कष्ट उठाया जाता है। अहिंसा की यही पद्धति है। इससे व्यक्तित्व को संस्कार मिलता है और कष्ट दोनों को समर्थ और पवित्र रखता है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध में यह प्रक्रिया चले, तो भय और दण्ड बीच में आकर भी पोषक और विधायक बन सकते हैं। किन्तु जहाँ उस अभिन्नता की भूमिका न हो, वहाँ भय और दण्ड की नीति पुरानी और वर्जनीय है, यह कहने में मुझे आपत्ति नहीं है।

२८८. आपने अध्यापक और विद्यार्थी के बीच अभिन्नता की बात कही। वह कैसे सम्भव है, जब आज की शिक्षा-पद्धति में अध्यापक केवल एक नौकर है और विद्यार्थी जानता है कि वह जब चाहे, उसे और उसकी नौकरी को संकट में डाल सकता है, अथवा उसे कानूनी पकड़ में ला सकता है। जब अध्यापक के ऊपर सरकार और प्रबन्धकों की इतनी अधिक दफ्तरी रोक-थाम और जकड़ है कि वह अपनी बुद्धि और वृत्तियों का तनिक भी सदुपयोग विद्यार्थियों के हित में नहीं कर पाता और उसे

विद्यार्थी से डरकर रहना पड़ता है, अपनी इज्जत बचाने के लिए और प्रबन्धकों से डरकर रहना पड़ता है अपनी रोटी बचाने के लिए ?

नियमों की पोथी

यही तो शिक्षा-विधि की सबसे बड़ी आलोचना है। आप सम्बन्धों के बीच में जब पारस्पर्य को और सीधे दायित्व-भाव को हटाकर कोई ऊपर से बनी हुई नियमों की पोथी बिठा देते हैं, तो एक-दूसरे के प्रति ज़िम्मेदारी का अवकाश नहीं रहता। नियमों की पोथी ही सब चीज़ों को मानो अपने में समा लेती है और सारा क्रम निर्जीव बन जाता है।

पैसा मूल्य-निर्मापक

फिर दूसरी भयंकर चीज पैसा है। यदि मानसिकता का निर्माण दोनों ओर पैसा करता है, तो उसका तारतम्य गुरु-शिष्य-सम्बन्ध को जड़ से ही खा जाता है। कोई अमुक मैनेजर साहब यदि अपनी जगह इतने प्रधान अनुभव करते हैं कि अध्यापक लोग उनके घर बन्दगी बजाते हैं, तो उनके सुपुत्र महोदय फिर क्यों अपने अध्यापक का रोब मानने लगे ? पैसे के कारण इस प्रकार की अनेक विषमताएँ जन्म लेती हैं और हम मान लिया करते हैं कि नियमों की पोथी उन सबका इलाज कर सकती है। वह बेचारी पोथी अपनी जगह रहती है और वे तथ्य, जो परस्पर मानसिकताओं का निर्माण करते हैं, वातावरण को विषम बनाये रखते हैं। इसलिए यह प्रश्न जड़ का है और शैक्षणिक से सामाजिक उसे अधिक कह सकते हैं। राज्य-प्रधान और अर्थप्रधान समाज में ब्राह्मण-कर्म और वृत्तिवाला व्यक्ति मानो पिछड़ा बन जाता है। अध्यापक बेचारे की आज यही दुर्गति है। कालेज के लेक्चरार और प्रोफेसर को तो भी कुछ उचित वेतन और मान मिल जाता हो, स्कूल के अध्यापक तो किसी गिनती में ही नहीं। छोटी कक्षाओं के अध्यापकों को तो चपरासी से भी कम वेतन मिलता है। पहले भी भारतीय समाज में यह गु -वर्ग और ब्राह्मण-वर्ग सम्पन्न नहीं होता था; लेकिन प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी। समाज के मूल्य ही तब अर्थाश्रित और अर्थकेन्द्रित नहीं होते थे। यदि सचमुच हम अपने अध्यापकों से आशा रखते हैं कि उन्हें सौंपे गये विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण को वे नींव देंगे, सही दीक्षा और संस्कार देंगे, तो आवश्यक है कि समाज में उनको उचित प्रतिष्ठा भी दें। यदि वैसा नहीं हो सकता है, तो हमारे शिक्षालय केवल अक्षर-विद्या देनेवाले होंगे, विद्यार्थियों के मानस को या चरित्र को उत्कर्ष तनिक भी नहीं दे सकेंगे। अध्यापन का कार्य मानो आर्थिक स्तर की दृष्टि से आज सबसे नीचे दरजे

का कार्य बन गया है। जिसको भी और क्षेत्र में निकलने का अवसर मिल जाता है, वह इधर कभी मुड़कर नहीं देखना चाहता। इस तरह जो सबसे अधिक महत्त्व का कार्य होना चाहिए, वही सबसे अगौरव का कार्य रह गया है। यह मूल्यों का विपर्यय है और इसलिए एक गहरा प्रश्न है।

अनुसन्धान कार्य

२८९. उच्च अनुसन्धान कार्य की दृष्टि से क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि जो अनुसन्धान कार्य, विशेषकर हिन्दी में हो रहा है, उसे सही दिशा नहीं मिली है और वह बहुत निम्न स्तर का है, साथ ही उसमें जीवन के लिए उपयोगी हो पाने की क्षमता नाममात्र को ही मिलती है?

—हाँ, इस सम्बन्ध में मैं खुद चक्कर में हूँ। मैं स्वयं समझना चाहता हूँ कि जो भीतर और विगत की ओर अनुसन्धान और अवगाहन है, उसका बाहर और भविष्य की ओर क्या योग और अनुदान होना चाहिए। सचमुच वह योग और अनुदान विशेष नहीं दिखायी दे रहा है। हिन्दी साहित्य में उत्कर्ष, गाम्भीर्य, गुरुता और गहनता क्या उस अनुसन्धान कार्य के परिणामस्वरूप कुछ बढ़ रही दीखती है? मुझे तो वैसा नहीं दिखायी देता। शायद मैं अन्धकार में होऊँ, लेकिन किसीने मुझसे उस सम्बन्ध में अपना सन्तोष नहीं प्रकट किया। अनुसन्धानों पर प्रतिवर्ष डाक्टरेट पानेवालों की संख्या तो अवश्य कम नहीं है। एक ओर यह संख्या भी बढ़े और दूसरी ओर वाङ्मय का स्तर न बढ़े, तो यह बात समझ में नहीं आती।

उसमें सत्व-वर्चस्व नहीं

जान ऐसा पड़ता है कि अनुसन्धान एक कोरे परिश्रम और अध्यवसाय की चीज रह गयी है। दो वर्षों में बहुत से ग्रन्थों को उलट-पुलट कर और उनकी लम्बी सूची साथ में प्रस्तुत करके चार-पाँच सौ पृष्ठ भारी-भरकम गद्य के प्रस्तुत कर देने से अनुसन्धान की सफलता मान ली जाती और अच्छे वेतन की प्राध्यापकी पाने की राह खुल जाती है। उस सब अनुसन्धान का अन्त में किसी चित्तत्त्व और चित् प्रयोजन से सम्बन्ध जुड़ता है, ऐसा नहीं मालूम होता। प्रत्यक्ष के पीछे और वर्त्तमान के अगोचर में ही सच पूछिये, तो वह कारण-लोक निभृत है, जिसमें से संसार की नाना क्रिया-प्रतिक्रियाएँ जन्म पाकर समक्ष में लीलायमान दिखाई देती हैं। सच पूछिये तो आत्म-लोक वही है, चिदानन्दमय वही है। शायद अनुसन्धान द्वारा हमें पदार्थ के और व्यवहार के मर्म में उतरते-उतरते उसी चिदात्म का

उद्‌घाटन करना है। सच्चिदानन्द के आविष्कार की वह साधना-प्रक्रिया है। इस तरह अनुसन्धान का बहुत ही महत्त्व होना चाहिए। किसी सृजन से वह कम नहीं है। लेकिन आज हिन्दी के क्षेत्र में चलनेवाले अनुसन्धान में क्या वह सत्व और वर्चस्व है? कदाचित् उसका अपने आशय से विच्छेद हो गया है और उसकी सार्थकता नाना प्रकार की रूखी-सूखी जानकारियों को बटोरकर एक किताब के रूप में सामने ला देने में समझ ली गयी है। जो साधना चिन्मय और प्रभविष्णु होनी चाहिए थी, वह निर्जीव और निष्प्रभ बन गयी है। साहित्य के डाक्टर मालूम होता है कि, क्लास-रूम के लिए तैयार होते हैं, खुले मानव-क्षेत्र के लिए उनके पास कोई क्षमता और योग्यता होने की आवश्यकता नहीं है। कहना होगा कि अनुसन्धान की वह धारणा निस्सत्त्व और रुग्ण है, जिसके अधीन यह सब चल रहा और सहा जा रहा है। इससे ज्ञान का ही अपवाद होता है और स्वीकार करना होगा कि हिन्दी डाक्टरी के लिए आज सम्बद्ध क्षेत्रों में कम अवमानना और अवहेलना का भाव नहीं है।

ज्ञान और सृष्टि : दो अलग क्षेत्र

ऐसा लगता है कि ज्ञान और सृष्टि को दो अलग विभागों में डाल दिया गया है कि जैसे उन दोनों को परस्पर लेना-देना कुछ हो नहीं। या तो रचना का पण्डित बना जा सकता है या फिर रचनाकार ही हुआ जा सकता है। ऐसे हमने साहित्य को सृष्टि से उतारकर कारीगरी तक उतार दिया है और ऐसा मालूम होता है कि पाण्डित्य को इस कारीगरी तक दिलचस्पी है, आगे सृष्टि के रहस्य की ओर जाने की चेष्टा मानो विज्ञता के लिए अनावश्यक है। ऐसी विज्ञता और विद्वत्ता निष्प्राण और निःस्पन्द वस्तु बन जाती है और साहित्य पण्य और क्रय-पदार्थ। व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन के उत्कर्ष और उत्क्रान्ति का जो दायित्व साहित्य के ऊपर आता है, मानो इस पाण्डित्य के द्वारा उसे उससे विहीन कर दिया जाता और कोरे हस्त-लाघव और हस्तशिल्प के रूप में उसे अध्ययनीय समझा जाता है। एक चित्‌दर्शन के स्पर्श की आवश्यकता है, जिससे कोरे श्रम में लक्ष्य की प्रतिष्ठा हो और समूचा अनुसन्धान सप्राण और सोद्देश्य बन सके। आज मानो वह एक ऐसा कर्म है, जो प्रयोजन से बिछुड़ा है और कुछ विशेषाधिकारियों और विशेषज्ञों के अधिकृत व्यसन के रूप में परिपोष्य बना हुआ है।

२९०. क्या यह सत्य नहीं है कि अच्छा-भला विचारशील सहानुभूतिपूर्ण विद्वान् भी डाक्टर बनने के बाद अहंकार से इतना दृप्त हो उठता है कि रचना की क्षमता को खो ही देता है। साहित्यकारों का समुचित मार्गदर्शन करने की क्षमता क्या, इच्छा

भी उसके अन्दर नहीं रहती और इस प्रकार वह साहित्य को बढ़ावा और सहयोग देनेवाला बनने के बदले उसको काटनेवाला बनकर ही रह जाता है ?

मोटा वेतन

—बात यह है भाई कि इस दीन-हीन संसार में अच्छा-खासा वेतन छोटी चीज़ नहीं है। वह आय किसी काम के एवज में नहीं, केवल विद्वत्ता और विज्ञता के बदले में मिलती हो तो वह विज्ञता मोहरबन्द और प्रामाणिक बन जाती है। उसका भी अहंकार न हो तो किसका हो ?

जिज्ञासा से छुट्टी

लेकिन उसमें बहुत बड़ा खतरा है। ऐसी निश्चित और निश्चिन्त विज्ञता जिज्ञासा को खा जाती है। साहित्य जिज्ञासा के साथ है। वह जानता इसलिए नहीं है कि सदा जानना चाहता है। जानकार होकर जो प्रकट होता है, वह उतने मात्र से साहित्य नहीं रह जाता। इस तरह विज्ञता से अधिक इस क्षेत्र में अज्ञता की कीमत हो जाती है। अज्ञ वह, जो जानता है कि वह नहीं जानता; इसलिए जो सदा सबसे जानने का इच्छुक रहता है। जिज्ञासा ही उसमें तीव्र होती है, ज्ञान तो कह सकते हैं सदा ही मन्द रहता है। वह ज्ञान कि जो निश्चित और अन्तिम होकर रुक भी सकता है।

सील-मुहरवाली विज्ञता

उस सील-मोहरवाली विज्ञता के प्रति मुझे सहानुभूति होती है, जो मानव-प्राणी की अज्ञता को सहसा ढँक डालती और उसे आवश्यकता से अधिक गुरु-गम्भीर बना देती है। कारण, यदि डाक्टरेटी विज्ञता आदमी में यह अस्वाभाविक भाव पैदा कर दे और साहित्य की निधि के समक्ष प्रार्थी के बजाय वह उसकी तिजोरी का चौकीदार बनना पसन्द करने लगे, चाहे तो वह उस तिजोरी का अपने को विभु ही मानने लग जाय तो स्पष्टतः दोनों दशाएँ ही दयनीय हैं और ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा स्वत्वाधिकार कभी सहायक नहीं हो पाता।

पैसे से तितिक्षा मन्द

अक्सर देखा गया है कि पैसा नुकसान करता है। पैसे का सहारा होने लग जाता है, तो ज्ञान भी नुकसान करने लगता है। उससे पहले ज्ञान मानो कष्ट से मुक्त नहीं होता और कष्ट उसकी जिज्ञासुता को जाग्रत रखता है। पैसे की आड़

मिल जाने पर तितिक्षा मन्द हो जाती है और ज्ञान सहारे से टिककर निःस्पन्द और श्रान्त होने लगता है। समझ नहीं आता कि क्या यह उचित ही है कि सरस्वती को लक्ष्मी का वाहन न मिले? लक्ष्मी का सहयोग समझ में आता है। लेकिन लक्ष्मी का सहारा और उसकी निर्भरता सरस्वती में मूर्च्छा का कारण ही बनती होगी, ऐसा भय होता है।

मैं गरीबी का प्रशंसक नहीं हूँ। लेकिन अमीरी को और भी डरने लायक चीज़ समझता हूँ। सुनता हूँ, अनेक प्राध्यापक खासे अमीर बन सके हैं और कुछ साहित्यकारों को भी यह सौभाग्य मिला है। यह अवश्य अभिनन्दनीय है, पर अमीरी का डर मुझमें समाया ही रहता है।

शिक्षा पैसे के ऊपर रहे

आज सभ्यता आर्थिक है और उठा हुआ वही है, जिसकी कमाई उठी हुई है। फिर भी मैं उस समय का स्वप्न देखता हूँ, जब ज्ञानी या साहित्यकार धन नहीं पायेगा, पर आत्मा पायेगा और इस कारण समाज के प्रति शिकायत नहीं रखेगा, सिर्फ आशीर्वाद रखेगा। यह व्यक्ति शिक्षा का केन्द्र होगा और तब शिक्षा पैसे के नीचे नहीं, पैसे के ऊपर रहेगी। मनुष्यता के संवर्धन में ही योग देगी, पैसे की प्रभुता और पूजा में न दीखेगी। ●

१४

साहित्य-क्षेत्र

विश्वविद्यालय, रेडियो, पत्र

२९१. आज साहित्यिक क्षेत्र में एक विषम त्रिकोण मुझे दीख पड़ता है। विश्व-विद्यालय, रेडियो और पत्र उसके तीन बिन्दु हैं। जिसे भी लिखने में रुचि है, तीनों की ओर भागता है। जिनमें प्रतिभा है और सांसारिकता का अभाव है और जो साहित्य रच सकते हैं, वे इनमें कहीं भी फिट नहीं बैठ पाते। इस प्रकार सृजन को क्षति पहुँचती है और इस त्रिकोण के सामने साहित्य का महत्त्व घटता है। इस स्थिति पर आपको क्या कहना है?

आज लेखन व्यवसाय बना

—लिखने से जीविका का जो सम्बन्ध जुड़ गया है, सो बेचना ज़्यादा महत्त्व का हो गया है। लिखें चाहें अच्छा नहीं, लेकिन बेच अगर अच्छा सकते हैं, तो आपका धन्धा चल निकलेगा। लेखन यदि व्यवसाय है, तो व्यावसायिकता प्रधान और लेखन उसके अधीन हुए बिना कैसे रहेंगे। विश्व-विद्यालय, रेडियो और पत्र-प्रकाशन-संस्थान वे केन्द्र हैं, जो लिखे माल को या लिखने-पढ़ने की योग्यता को खरीदते हैं। इस-लिए उनके आस-पास लेखन और ज्ञान के व्यवसायियों को आप होड़ में बिका हुआ पायें और अपने-अपने माल की बिक्री में प्रवृत्त देखें, तो व्यवसाय के नियमों के यह सब अनुकूल ही है। इस स्थिति पर शर्माने या घबराने की जरूरत नहीं है। लेखक को बेचक भी बनना पड़ता है, तो यह भी शायद उसके भले के लिए ही है। लेखक पहले कृपा-प्राप्त होता था। वह अपने माल को अलग-अलग नहीं बेचता था। अपनी सम्भावनाओं-समेत इकट्ठा ही अपने को किसीकी कृपा पर बेच देता था। ये कृपालु लोग व्यवसायी नहीं होते थे, वदान्य और सहृदय हुआ करते थे। और यद्यपि लेखकों की जीविका इस तरह कृपा पर निर्भर थी, तो भी उतना दबाव उसका नहीं आया करता था, न दुनियादारी के हिसाब का उसमें उतना मेल हुआ रहता था। तब सरलता और सहृदयता के लिए आवश्यक न था कि वह कुशलता और चतुरता का बाना पहने। एक विनय को अपनाने से काम चल जाया करता था।

औद्योगिक क्रान्ति

आज वह युग है, जहाँ कहा जाता है कि औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी है। अब काम करनेवाले को अपने माल के एवज में जीविका प्राप्त होगी। इससे आगे जहाँ उससे असली क्रान्ति हुई मानी जाती है, लेखक अपना माल इस या उस दूकानदार को नहीं देता है, बल्कि राज्य को देता है, जो सर्वव्यापक और सर्वाधिपति होता है। माल अनुकूल हो, तो राज्य की शरण सब सुख-सुविधा देनेवाली हो सकती है। तब सम्पूर्ण संकट-मोचन हो जाता है।

आर्थिक वैषम्य का यह चक्र जो समाज में चला, उससे लेखक अलग कैसे रहे? अब यह लेखक का प्रश्न है कि वह इस चक्र से ठीक किस प्रकार अपना सम्बन्ध और सामंजस्य बिठाता है। इसमें कोई एक सामान्य सिद्धान्त काम नहीं करता।

अपनेपन की रक्षा या समाज-रुचि से समझौता

जिसे अपनेपन को रखने की बहुत चिन्ता है और समझौता करना नहीं चाहता, वह माँगे तुलसीदासजी की तरह से भीख और पेट पाले। तुलसी घर-बार से छूट भागे और अपने पेट को एक अकेला बना लिया। अकेले पेट के लिए भी लोग जीविका करते हैं, लेकिन उन्होंने अपने मान को इतना खोया कि भीख को अपना लिया। दूसरे हुए कबीरदास। कहते हैं, उनके पास परिवार था और वे करघे पर थान बुन लिया करते थे। जुलाहागिरी में कुछ थान भले वे बुन लेते हों, पर उसको सही बेचना, नफा उठाना और बचत करना कितना उन्हें आता था, इसका पता नहीं है। कबीर के कुनबे के लोग शायद ही अपने को इसलिए धन्य मानते हों कि वे कबीर के पाले पड़े हैं। और लोगों ने और ढंग अपनाये। कोई दरबारी बन गये, कोई शायद राजा के मित्र भी बन गये हों। इसमें अपने निजपन और बाहर के समाजपन के बीच समझौते की बात आती है। आप रुचि का माल दीजिये और ग्राहकों से आपकी ओर पदार्थ की सुख-सुविधा बहती चली आयेगी। जितनी आपको वह भौतिक सुख-सुविधा चाहिए, उतने ही समाज-रुचि और लोकरंजन के बारे में आपको सावधान और समर्पित होना होगा। अपनी ही कहनी और रखनी चाहते हों, तो उन सुभीतों की त्रुटि पर शिकायत छोड़ देनी होगी।

सुखी और सफल हैं वे, जो इन तीनों संस्थानों में से किसीमें सुविधा का स्थान पा जाते हैं। इन्हें पब्लिक सेक्टर माना जाय, तो प्राइवेट सेक्टर में भी कुछ संस्थान हैं। चलिये, वहाँ ही जगह बना लीजिये। इस जगह बनाने की सामंजस्य-कुशलता को साहित्य की दृष्टि से भी मैं कम महत्त्व नहीं देता हूँ। लेकिन जो वैसी कुशलता नहीं रखते हैं, उनको क्या मुरझाने और मरने की छुट्टी मिल जानी चाहिए?

अपवाद को भी जीने का हक

जाने क्यों, मेरा यह मानना है कि अपवाद को भी जीने का हक है। शायद उसे भी कुछ देना है। वह समाज, जो ऐसे अपवादरूप व्यक्तियों से हो सकनेवाले लाभ से अपने को वंचित रखता है, घाटे में ही रहता है। इसीसे आप देखेंगे कि आज कला में सनक की कीमत बढ़ गयी है। चित्र जितना अधिक सनकी है, मानो उतना ही अधिक आधुनिक है ; जिसके अर्थ, लक्ष्य और प्रयोजन का अता-पता ही नहीं चल सकता, मानो वह चित्र पब्लिक हाल में उतना ही मान्य स्थान पाता है। इसके मूल में जान पड़ता है, यह अपवाद को जीने देने, उसको जिलाने और अपने में समाने के आग्रह के फैशन का ही परिणाम है।

अपवाद-स्वरूप व्यक्ति को कोई हक समाज के ऊपर नहीं आता है। अर्थात् उसका दावा नहीं हो सकता। समाज ही कुछ अपने में उसके प्रति दायित्व अनुभव करे, तो यह दूसरी बात है।

पीड़ा ही पूंजी

मैं यह मानता हूँ कि निजत्व और सत्य के प्रति दायित्व माननेवाले को हर कष्ट के लिए तैयार रहना चाहिए। तैयारी इतनी चाहिए कि किसी स्थिति में कटुता और उपालम्भ उसके मन में न आये और हर कष्ट को अपने हक के तौरपर वह स्वीकार कर सके। हर बाहरी अभाव को भीतरी सद्भाव से ले और इस तरह अभाव को यह शक्ति न मिलने दे कि उसके अन्तरंग को कोई क्षति दे सके। ऐसा व्यक्ति मेरे विचार में वह काम कर जायगा, जो पीछे जाकर समाज को अत्यन्त प्रिय और उपयोगी हो सकेगा। समाज की ओर से आनेवाली अवगणना और अवहेलना मानो कुरेद-कुरेदकर उसके भीतर की स्नेह की पीड़ा को बाहर प्रकाशित होने में मदद देगी और ऐसे जो दुःख में से आयेगा, आह्लाद देनेवाला बन जायगा।

अकेला और जीविका-हीन

वह अकेला और जीविका-हीन व्यक्ति काम और भूख का क्या करे? कमा नहीं सकता, इससे विवाह भी कैसे कर सकता है? कमाई में से भूख की शान्ति का साधन होता है और विवाह में से काम का उपचार होता है। इन दोनों से वंचित होकर वह सशरीर व्यक्ति क्या करे? कोई नहीं बता सकता कि वह क्या करे। भिक्षा से भोजन मिल जाय, तो क्या समर्पण भी मिल जायगा? लेकिन यह समस्या ऐसी है कि झेली जा सकती है, चर्ची नहीं जा सकती।

पैसे का और जीविका का प्रश्न उतना ही पेचीदा है, जितनी कि पैसे की संस्था

पेचीदी बन गयी है। उस व्यूह का मुझे स्वयं पार नहीं मिलता है। ऐसा लगता है कि उसमें एक बार भीतर जाना हो भी जाय, तो बाहर निकलना नहीं हो पायगा। इसलिए घुसने की भी क्यों नादानी की जाय।

सुरक्षित आजीविका का महत्त्व

इच्छा मेरी सबके लिए यह है कि सबको सुरक्षित आजीविका प्राप्त हो और यदि स्वतन्त्रता का कुछ अंश उसके लिए कम भी होता हो, तो हर्ज नहीं है। वह सौ फी सदी स्वतन्त्रता किस काम की, जिससे वे श्वास-नलिकाएँ ही सूख जायँ, जहाँ से समाज के प्रति व्यक्ति श्वास-प्रश्वास लेता है। एक वह भी विधि कही जा सकती है, जहाँ योग-क्षेम समाज से नहीं आता, ईश्वर से आता है। उन प्रणालियों का निर्धारण नहीं हो पाता, जिनसे आदमी अपने श्वास-प्रश्वास का सम्बन्ध सीधे ईश्वर से जोड़ पाता है। उस विधि का विश्वास हो, तो निजता की सम्पूर्ण निष्ठा और तन्त्रता को अपनाया जा सकता है। उससे उतरकर मैं नहीं चाहूँगा कि कोई भी आजीविका से अपने को विमुख और वंचित करे। इसमें व्यक्तित्व और आत्मत्व को दबना और बिकना पड़े, तो भी मैं मानता हूँ कि इसमें भी कुछ विधाता का अभिप्राय होगा। बिना मन को तोड़े यह समझौता और सामंजस्य साहित्यकार को स्वीकार लेना चाहिए।

२९२. क्या आपको विश्वास है कि हिन्दी दूसरी भारतीय भाषाओं पर जो अपने को आरोपित कर रही है, वह अपनी साहित्यिक उच्चता और योग्यता के कारण कर रही है अथवा केवल राजनीतिक परिस्थितियों के कारण?

उच्चता आरोपण नहीं करती

—आरोपण सदा राजनीतिक होता है। उच्चता कहते ही उसे हैं, जो अपना आरोपण नहीं करती। हिन्दी के नाम पर भाषा के आरोपित करने की चेष्टा है, तो वह उन्हीं लोगों के नेतृत्व में हो सकती है, जिनमें वृत्ति अहंकार की है और जो अपने पोषण के लिए भाषा की दुहाई देते हैं।

साहित्यिक श्रेष्ठता एक ऐसी विशेषता है, जिसको बताने की या थोपने की जरूरत नहीं होती। उसका सत्कार सब, सदा स्वेच्छा से करते हैं। वह अहम् की श्रेष्ठता नहीं होती। उसमें आत्म-निवेदन हुआ करता है। इसलिए वह किसी प्रदेश या विदेश के लिए अरुचिकर नहीं होती, सबको सर्वथा मान्य होती है।

२९३. मेरा यह मानना है कि अपने आदिकाल से ही हिन्दी के साहित्यकार अपने पूर्वानुरागों, सिद्धान्त-मोह और अन्य कृत्रिमताओं से इतने उत्तीर्ण नहीं रहे कि वे

जीवन का सहज सर्वांगीण और सजीव चित्रण कर पाते और इस प्रकार आम जनता के मन में अपने पात्रों की और उनके माध्यम से अपनी स्थिर-प्रतिष्ठा कर सकते। कुछ अपवाद हो सकते हैं। इस विषय पर आपको क्या कहना है?

व्यापक जनभाषा होना हिन्दी के विपक्ष में

—मैं नहीं मानता कि किसी भाषा-विशेष में ऐसे आदमियों का प्रतिशत बहुत कम या बहुत अधिक पैदा किया जाता है, जो अपने को विसर्जित करने में अधिक कृतार्थता अनुभव करते हैं। हिन्दी की स्थिति साधारणतया और भाषाओं से बहुत अलग नहीं होनी चाहिए। एक घटना अवश्य उसके विपक्ष में रही है और वह यह कि भारत के लिए व्यापक जनभाषा होने के कारण उसे राजभाषा और राष्ट्र-भाषा माना गया है। उस वजह से तरह-तरह के अवसर पैदा हुए हैं, जिनसे आय का साधन बन सकता और बढ़ाया जा सकता है। यह कृत्रिम तत्त्व अवश्य ऐसा है, जिसमें से लोगों ने अपने अहं-स्वार्थ की पूर्ति चाही और बनायी है। अन्यथा हिन्दी के पक्ष में ग्लानि और गौरव अनुभव करने का कोई प्रश्न नहीं उठता। मैं नहीं मानता कि हिन्दी श्रेष्ठता की दृष्टि से और भाषाओं से गयी-बीती है। इतना अवश्य हो सकता है कि उसका क्षेत्र व्यापक होने के कारण श्रेष्ठ लेखकों की संख्या वहाँ अधिक हो, जैसे कि निकृष्ट लेखकों की भी संख्या अधिक हो सकती है।

साहित्यकार मानव-मात्र का स्वत्व

साहित्य की ओर से भाषाओं में विभेद करने की आवश्यकता नहीं है। रवीन्द्रनाथ और शेक्सपियर को लेकर बंगला और अंग्रेजी गरूर में चढ़ निकलें, तो यह उन्हींके लिए हितकर नहीं होगा। ऐसे लोग अमुक भाषा द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करते हैं, सिर्फ उतने से उन भाषाओं की बपौती वे नहीं बन जाते। वे सारी मानव-जाति का स्वत्व होते हैं और उसीको व्यक्त करते हैं।

२९४. प्रश्न भाषा के गरूर का नहीं है। प्रश्न है, विभाषियों द्वारा भी उसके स्वेच्छया स्वीकार और आदर का। आज जो हम इतने अंग्रेजी-भक्त दीखते हैं, वह अंग्रेजों के साम्राज्यवाद के कारण नहीं, बल्कि उन महान् अंग्रेजी कवियों और लेखकों के कारण, जो हमारे मन और हृदय में बस गये हैं और जिनके रस में हम इतने सराबोर हैं कि उन्हें भूल नहीं सकते। ऐसे कवियों और लेखकों की संख्या बंगला और अंग्रेजी में जितनी है, क्या आप मानते हैं, हिन्दी ने उतने और और उसी कोटि के लेखक पैदा किये हैं?

हिन्दी में गहराई कम, फैलाव अधिक

—हाँ, अंग्रेजी के प्रति ममता और भक्ति यदि और जितनी है, वह उस भाषा के महान् साहित्यकारों के कारण है। यह अच्छा है कि आपको हिन्दी से इतर भाषाओं में जो श्रेष्ठता दीखती है, हिन्दी में वह नहीं दिखायी देती। अच्छा इसलिए कि आप स्वयं हिन्दी के हैं। आत्मश्लाघा अच्छी चीज नहीं है और हिन्दी में मैं अनुभव करता हूँ कि आत्मश्लाघा की वृत्ति नहीं दिखायी देती। यह विनम्रता योग्यता में से ही आ सकती है। यदि सचमुच हिन्दी-साहित्य अयोग्य होता, तो उसमें दावे का दर्शन होता। वह उद्दण्ड और धृष्ट होता। आपके उदाहरण से ही कहा जा सकता है कि स्थिति वैसी नहीं है। हिन्दी-साहित्यकार दावेदार नहीं है और अपनी भाषा से बाहर की श्रेष्ठता को अपनाने को सहज उद्यत है। शायद तुलसी, सूर, कबीर आदि को हम मध्ययुगीन मानते हैं, लेकिन अवश्य वे हिन्दी के ही हैं। हाल के समय की बात लें, तो आपको यह भूलना नहीं चाहिए कि हिन्दी-भाषा को इस समय में राष्ट्र-कर्म का बहुत बोझ उठाना पड़ा है। यह निःसंशय कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय उद्‌बोधन का साहित्य जितना हिन्दी में है, उतना शायद ही किसी भारतीय भाषा में होगा। हिन्दी एक मिली-जुली सार्वजनीन भाषा है। वह केवल प्रादेशिक नहीं है और इसलिए वह भाव से अधिक कर्म के निकट है। अभी वह उतनी चिन्तन-मनन की नहीं है, काज-व्यौहार की ज्यादा है। इससे स्वभावतः उसमें गहराई से अधिक फैलाव है। लेकिन इसको अन्यथा समझने या इस पर लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। मैं मानता हूँ कि राष्ट्र जब अपने में स्वास्थ्य का लाभ करेगा और राजनीतिक गहमागहमी जरा बैठेगी, तो हिन्दी के वाङ्मय में अनायास गहराई और ऊँचाई आने लगेगी। अभी तो राष्ट्रीय आवेशों का ही उसे वहन करना पड़ता है। तटस्थ सौम्यता आवेशों से उत्तीर्णता पाने पर आये बिना न रहेगी। लेकिन बंगला की सम्पन्नता को हिन्दी के दैन्य की भाषा में कभी नहीं देखना चाहिए। वह प्रवृत्ति असाहित्यिक है, जो इस प्रकार तुलनात्मक वासनाओं से विचलित होती है।

हिन्दी रत्नों से शून्य नहीं

नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन आज भी महत्त्व की पुस्तकें हिन्दी में अनेक निकल रही हैं। दुर्भाग्य यह है कि बहुमत की भाषा होने के कारण इतर भाषा-भाषियों में उसके प्रति संशय पड़ गया है। उस संशय के रहते अच्छा यही है कि संकोच से काम लिया जाय, श्रेष्ठता के प्रतिपादन और प्रदर्शन से बचा जाय। किन्तु भाषा की ममता से मुक्त होकर निरपेक्ष दृष्टि से देखें, तो

हिन्दी का भण्डार रत्नों से सूना नहीं है और ठीक इस समय काफी मूल्यवान् सृष्टि हो रही है।

चेतना जब राजनीतिक सवालों में फँसी होती है, तो महत्त्वाकांक्षाओं से बने आवेशों में वह बहका करती है। तब साहित्यिक गरिमा और गाम्भीर्य के लिए अवकाश उतना नहीं रहता। हिन्दी के साथ यह दोष और दुर्भाग्य अधिक है। केवल इस कारण हिन्दी में जो है और हो रहा है, उसके प्रति दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

रचना की श्रेष्ठता

२९५. मेरी कुछ ऐसी मान्यता बन गयी है कि श्रेष्ठ रचना उसे नहीं मानता, जिसमें अमुक सिद्धान्त या वाद का प्रतिपादन अथवा उसकी रसमय अभिव्यक्ति हो। बल्कि उस रचना को मानता हूँ, जिसमें निहित जीवन-चित्र को आत्मगत करके सामाजिक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व गद्गद, रससिक्त और कृतकृत्य हो उठे और उस रचना का वातावरण उसकी आँखों में भगवान् का रूप बनकर बस जाय। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ऐसी कुछ रचनाओं के नाम क्या आप ले सकेंगे?

—नहीं, रचनाओं के नाम मैं नहीं लूँगा। कारण आपके प्रश्न से कुछ दूसरी बातें उठ आयी हैं, जो मुझे फँसाती हैं।

भावसिक्त, पर अर्थ-शून्य कृति साहित्य नहीं

सिद्धान्त-प्रतिपादन में रस नहीं होता। फिर भी अगर उसका रसमय चित्र संभव है, तो उसकी श्रेष्ठ साहित्य में गणना क्यों नहीं हो सकती? रस होने पर फिर सामाजिक की ओर का आग्रह क्यों सुना जाता है? क्या यह नहीं हो सकता कि स्वयं सामाजिक में कोई आग्रह हो और इस कारण रस पाते हुए भी वह अमुक अभिमत के कारण लेखक को स्वीकार न कर पाता हो?

मैं नहीं मानता कि अर्थ से स्वतन्त्र भाव साहित्य-कृति को श्रेष्ठ बना सकता है। आपका आशय अन्त में कुछ उसी प्रकार का है। आज के वैज्ञानिक युग में तो अर्थ की माँग और भी अधिक है। भावसिक्त और अर्थशून्य व्यंजना को साहित्य नहीं कहेंगे।

जीवन-चित्र में अर्थ जरूरी

जीवन-चित्र की आपने ऊपर बात कही है। अपनी ओर से यदि हम अर्थ न डालें, तो क्या कोई भी जीवन-चित्र हाथ आ सकता है? असल में तब चित्र ही नहीं बन पाता, केवल चंचलता ही समक्ष रह जाती है। अगर हम अमुक चित्र को पकड़

पाते और दे पाते हैं, तो यह तभी हो सकता है, जब हम अपने पास कुछ आशय रखते या रखना चाहते हैं। अन्यथा बाह्य जीवन और जगत् की यह अनन्तता हमको पागल कर दे सकती है।

सच यह कि आवेदन-निवेदन का सम्बन्ध हमारा बन पाता है, तभी आत्म-प्रकाशन एवं आत्म-विसर्जन सम्भावनीय होता है। इस आवेदनात्मक सम्बन्ध के लिए एकदम अनिवार्य है कि हम अमुक जीवन-खण्ड को अपनी ओर से अर्थ दे सकें, व्यक्तित्व तक दे सकें। अन्यथा रचना में स्पन्दन कहाँ से आयेगा? राष्ट्र के प्रति यदि विसर्जन होता है तो तभी, जब हम स्वराष्ट्र की धारणा को मानो एक व्यक्तित्व दे पाते हैं। भारत को भारत-माता बना पाते हैं। आंचलिक उसे कहा जाता है, जिसमें अमुक ग्राम या जनपद को हम मानो व्यक्तित्व ही दे उठते हैं। इसमें केवल भावावेग से काम नहीं चलता, बल्कि अर्थ डालनेवाली बुद्धि का भी सहयोग होता है। गद्‌गद रससिक्त और कृतकृत्य कर देनेवाला साहित्य अर्थ-गरिमा से शून्य नहीं हो सकता। भावोच्छलित रचना उद्वेगजन्य हो सकती है, श्रेष्ठ साहित्य सन्तुलित तटस्थता से बनता है। इस सन्तुलन को मैं आवेगजन्य नहीं मान सकता। इसलिए कवि या रचनाकार भावसिक्त प्रेमी हो, नागरिक हो ही नहीं, यह मैं स्वीकार नहीं कर सकता। नागरिकता के लिए कुछ मताभिमत आवश्यक होते हैं। अर्थात् प्रेम की वह एकता, जो सबको अभेद से आच्छन्न कर देती है, साहित्य के लिए पर्याप्त नहीं है। उसको भेद-विज्ञान में भी उतरने की उतनी दक्षता चाहिए। जिसको सिद्धान्त आदि कहते हैं, वे भेद-विज्ञान में गति करने में सहायक होनेवाले सूत्र होते हैं। उस भेद-जगत् के प्रति सर्वथा अबोध और भोला बनने का साहित्यिक के लिए अवकाश नहीं हो सकता। इसीलिए साहित्य के चरम पर जाकर मानो ज्ञान और भक्ति में दर्शन और रस का समन्वय हो जाता है।

२९६. भाव के आधार अर्थ को क्या बौद्धिक मताभिमत तक ही सीमित रह जाना चाहिए? मानव-चरित्र और रहस्यमय मन-हृदय में गहरी पैठ, जीवन-जगत् के व्यवहार की प्रचण्डता की सूक्ष्म अनुभूति और जीवन की दिशा का स्पष्ट आभास ही क्या भाव का आधार बनने के लिए काफी नहीं है? जब कवि या लेखक अपने मताभिमत को आरोपित करेगा, तब क्या वह निरपेक्ष रह सकेगा? शकुन्तला में कालिदास ने किसी विशेष मत का सहारा नहीं लिया है। तब क्या कहा जा सकता है कि उसमें उनका पूर्ण व्यक्तित्व साक्षात् नहीं हो उठा?

मताभिमत अनिवार्य

—मताभिमत का आरोपण न हो, यह समझ में आता है। लेकिन मताभिमत से

यदि शून्यता किसी देहधारी या बुद्धिधारी को प्राप्त नहीं हो सकती, तो प्रश्न है कि फिर उस मताभिमत का क्या किया जाता है? आरोपण के डर से क्या उन्हें पीछे रोक लिया जाता है? मैं मानता हूँ कि श्रेष्ठ साहित्य सर्वांश-दान से बनता है। जो मताभिमत के प्रति अपना स्वत्वभाव अनुभव करके उन्हें पीछे रोक लेता है, वह केवल दूसरे रूप में वही भूल करता है, जो मताभिमत में स्वत्व भाव रखने के कारण साग्रह उनका आरोपण कर निकलता है। मैं मानता हूँ कि मत-मान्यता से यदि व्यक्ति शून्य नहीं है, जैसा कि हो नहीं सकता, तो उनका निवेदन उसके प्रकाशन में आये बिना रह नहीं सकेगा। इसमें मैं कोई दोष नहीं मानता हूँ। शकुन्तला में यदि किसी जगह भी विषाद है, तो आप देखेंगे कि अभिमत-शून्यता में से उसकी सृष्टि नहीं की जा सकी है। यदि अमुक कृत्य के प्रति चरित्र में पश्चात्ताप का उदय होता है, तो क्या इसमें अभिमत गर्भित नहीं है? पश्चात्ताप और विषाद की धारणाएँ ही अभिमत के अभाव में असिद्ध हो जाती हैं।

अनुभूति बुद्धि से पुष्ट हो

मतभिमत में भाव सीमित और बन्द अवश्य नहीं रहना चाहिए। पर टिकने के लिए उसे जिस आधार की जरूरत होती है, उसे मताभिमत कहते हैं। मैं सचमुच नहीं समझ सकता कि कोई अनुभूति प्राप्त होकर व्यक्तित्व में आत्मसात् हो सकती है, जब तक बौद्धिक समीकरणों का भी उसमें योग न हो। प्रेषणीय बनाने की राह में भाव को बौद्धिक अनुभावों में से गुजरना ही होता है। ऐसा न होता, तो हमारे पास अमर रचना न हो सकती थी। भावाभिभूत होकर हम जो चेष्टा कर जाते हैं, वह क्षण से जुड़ी और जड़ी होती है। किन्तु जो क्षण के साथ बीतती नहीं है, काल को हराती हुई ठहरी रहती है, वह चेष्टा केवल भावावेग की नहीं हो सकती, उसके शिल्प को तो भावसाधना में से ही प्राप्त किया जा सकता है। साधना इसलिए कहना पड़ता है कि उसमें बौद्धिक आयास और अनुशासन की आवश्यकता होती है।

बौद्धिक योग-साधन

बुद्धि अन्त में वह यन्त्र है, जिससे हमारे भीतर का सार्वजनीन रूप और व्यक्तित्व प्राप्त करता और दूसरे तक प्रेषणीय बन पाता है। यदि वह स्वरूप और व्यक्तित्व उसे न मिले, तो रचनाकार के भीतर का गर्भित सार्वजनीन अमूर्त ही रह जाता है, साहित्य में मूर्त नहीं हो पाता। अनुभूति किसको प्राप्त नहीं होती, फिर भी साहित्यकार बिरले हो पाते हैं। यह इसलिए कि केवल अनुभूति में से अभिव्यक्ति

नहीं हो पाती, बल्कि उसके लिए एक विशेष प्रकार की योग-साधना की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया को बौद्धिक मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। जानता हूँ, बौद्धिक की सीमा है। लेकिन जहाँ स्वयं सीमा और स्वरूप देने का प्रश्न है, वहाँ बुद्धि का उपयोग अनायास ही उपस्थित हो जाता है।

साहित्यकार मत-मतिशून्य नहीं बन सकता

बाहर की कोई प्रचण्डता, उत्कटता रहस्यमयता सीधे ही हमको प्राप्त और अनुभूत अवश्य हो सकती है। लेकिन शब्द के या किसी दूसरे माध्यम से मूर्त बनाकर उसको स्वतन्त्र अस्तित्व दे जाना, जिससे अनागत और शेष को वह अनुभूति उपलब्ध होती रहे, बिना बुद्धि-साधना के हो नहीं सकता। मताभिमत के अभिनिवेश से आविष्ट और अधीन वह बुद्धि अवश्य नहीं होती है; लेकिन विसर्जनशील होने में आ ही जाता है कि वह व्यक्ति के स्वत्व, अर्थात् मताभिमत, से पूरी तरह समस्वर समासिक्त है। मतशून्य और मतिशून्य होकर रचनाकार साहित्य-रचना करता है, यह मानने की उद्यतता मुझमें नहीं है।

२९७. तो आप स्वीकार करते हैं कि साहित्य के सीमित क्षेत्र में बुद्धि सहायक और साधन होने के लिए है, स्वामी और साध्य होने के लिए नहीं। और मत-अभिमत जीवन-प्रवाह अर्थात् चरित्रों और कृत्यों में अन्तर्निहित और गर्भित होने के लिए है, प्रकट और प्रधान होने के लिए नहीं है?

बुद्धि अंश, समग्रता नहीं

—गर्भित और प्रकट, साधन और साध्य, इन शब्दों में अन्तर अन्ततः भाषा का ही रह जाता है। गर्भित के लिए यह चिन्ता कि वह प्रकट न हो और साधन के लिए यह कि वह साध्य न बने, मुझे आवश्यक नहीं जान पड़ती। सच यह कि साध्य की लगन साधन के प्रति भी उतनी ही भक्तिपूर्ण हो जाती है। ठाकुर-पूजा के लिए नैवेद्य के प्रति भी शुचिता का उतना ही आग्रह रखना विरल नहीं है। भाव की पूर्णता हो, तो साधन साध्य में मिल जाता है और गर्भित भी प्रकट की छटा में आये बिना नहीं रहता।

इसके बाद यह स्पष्ट ही है कि बुद्धि अंश है, व्यक्ति की सम्पूर्णता वह नहीं है। सम्पूर्णता के ही समर्पण की जहाँ माँग है, वहाँ अंग को यदि महत्त्व मिलता है तो तब, जब या तो हम उसे रोकते हैं या शेष पर उसे लादते हैं। गर्भित रूप में साहित्य-रचना में बुद्धि के व्यापार के लिए पूरा अवकाश रहता है और तन्नियोजित रूप में रचना-शिल्प में बुद्धि और उसके कार्य का कम महत्त्व नहीं मानना होगा।

साहित्य-विधा और युग-विशेष

२९८. क्या साहित्य-विधाविशेष का युग-विशेष से कोई सम्बन्ध होता है ? अर्थात् यह तो ठीक है कि व्यक्ति-विशेष विधा-विशेष में ही पटु हो पाता है। पर क्या विधा-विशेष में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ होती हैं, जो युग-विशेष में ही पनप सकती हैं और उपयोगी बन सकती हैं ?

दोनों का सम्बन्ध

—हाँ, युग-विशेष का प्रभाव विधा-विशेष के सम्बन्ध में हो तो सकता है। विधा बनती है अपने को शेष तक पहुँचाने की प्रक्रिया में। पहले जब लिखना-छपना कम था, तो काव्य और तुकान्त काव्य अधिक संगत हो सकता था। रचना तब स्मरण द्वारा टिकती और फैलती थी। छन्द और तुक उसमें सहायक होते थे। छपने की जब सुविधा बढ़ी, तो जान पड़ा कि अब वे इतने अनिवार्य नहीं हैं। इसी प्रकार युग की भौतिक परिस्थितियों का आत्म-प्रकाशन के स्वरूप पर अवश्य प्रभाव पड़ सकता है। शैली, भाषा, रूप आदि पर समय का प्रभाव आसानी से चीन्हा-पहचाना जा सकता है। भाषा मन से नहीं बनती, व्यवहार से बनती है। आज मैं लिखूँ तो उसी भाषा में लिख सकता हूँ, जो आज समझी-बूझी जाती हो। रचना आज हो और भाषा दो हज़ार वर्ष पहलेवाली हो, यह हो नहीं सकता। लेखक-पाठक के बीच भाव-प्रवाह को सुगम और सुरक्षित रखने के लिए बिलकुल आवश्यक है कि अभिव्यक्ति का बाह्य रूप उसके समय के साथ संगत और संयुक्त हो। इस तरह अनायास एक रचना से तात्कालिक रीति-नीति सभ्यता-संस्कृति आदि का परिचय मिल जाया करता है। लेकिन वह परिचय रचना का इष्ट नहीं होता, अनुषंग मात्र होता है। उस रूप-विधान द्वारा जो भाव एक से अन्य को भेजा जाता है, वह उतना काल-जड़ित नहीं होता। इसलिए साहित्य की श्रेष्ठता इससे नहीं नापनी होगी कि वह अपने समय-समाज पर कितना प्रकाश डालता है, बल्कि वह श्रेष्ठता तो इसमें देखी जायगी कि उससे मानवात्मा का प्रकाशन कितने गम्भीर स्तर का हो पाता है। साहित्य की विधाएँ यही न कि जैसे काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी इत्यादि। हाँ, व्यक्तिगत रुझान का प्रश्न तो प्रधान है ही। काव्य जैसी विधा में यथार्थ के प्रति उतना आग्रह अनिवार्य नहीं होता है, उसकी अपेक्षा आदर्श और स्वप्न की ओर वह अधिक उठ सकता है और कल्पना में से अधिक सत्व प्राप्त कर सकता है। जीवन की वह परिस्थिति, जहाँ कल्पना-विहार का अवसर न रह जाय, जो इतनी संकुलित और घिरी-घुटी हो, तो उसमें रोमेण्टिक काव्य अधिक न उपजे तो विस्मय क्या है। समय था जब

इस प्रकार से एकान्त में स्वयं पुस्तक सामने लेकर पढ़ने की उतनी सुविधा नहीं थी, जो होता समुदाय में होता था। इसलिए कथा का रिवाज़ था या नाटक का। उस समय की कहानी और नाटक मानो घटनापरक और क्रिया-परायण होते थे। अब समूह-अपील की दृष्टि मानो एकाकी वृत्ति में बिखर गयी है और रचनाएँ मनोवैज्ञानिक होने लगी हैं। कहानी अब होती है जो पढ़ी ही जा सकती है, 'कही' नहीं जा सकती। नाटक में भी समक्ष कृत्य से अधिक परोक्ष मनःस्थिति प्रधान होती जा रही है। नीति-बोध पहले सीधा मिलना चाहिए था कि समूह को प्रभावित कर सके, अब प्रभाव प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत मानस है। इसलिए नीति के आदेश-उपदेश से अधिक उसका इंगित ही पर्याप्त है और वह भी इतना अप्रत्यक्ष कि मानो हो ही नहीं।

साहित्य का रूप और आत्मा

इस प्रकार समय से निरपेक्ष जब साहित्य का रूप नहीं हो सकता, तब साहित्य की आत्मा अवश्य समयाधीन नहीं होती, समयोत्तीर्ण होती है। अन्यथा इतिहास जी न सकता और अतीत के साथ वर्तमान का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता। केवल क्षण का ही आधिपत्य रह जाता, शाश्वत और सनातन का लोप हो जाता। क्षण में यदि अर्थ पड़ता और समय में निरन्तरता आती है, तो वह उसके आधार पर ही आ सकती है जो स्वयं शाश्वत और सनातन है। उस अधिष्ठान के बिना मानो समय के पास वह सूत्र नहीं रह जाता है, जो उसके मनकों को धारण कर सके और ऐतिहासिक धारा का हमें बोध दे सके। अतः भाषा, शिल्प आदि के अनन्त और असंख्य भेद होते हुए भी देश-काल के योगदान को लाँघता हुआ साहित्य मानो एक और अभिन्न बना रहता है। सचमुच उसकी मूलवृत्ति में भेद नहीं खोजा जा सकता और ठीक वह है, जिसके आधार पर दुनिया के देश पास आकर मिल सकते हैं और इतिहास मिल-जुलकर मानवात्मा के विकास का इतिहास बन जाता है।

२९९. क्या आप इस युग की इस धारणा से सहमत हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक परिस्थितियों में साहित्य-क्षेत्र में कविता और काव्य का न कोई उपयोग रहा है, न भविष्य ही ?

काव्य में बौद्धिक सत्त्व कम न हो

—हाँ, कविता और काव्य में बौद्धिक सत्त्व मात्रा से कम हुआ, तो उसके टिकने की सम्भावना नहीं है। काव्य का अधिकांश वह है, जिसमें वह सत्त्व पर्याप्त नहीं है। लेकिन बौद्धिक गरिमा के साथ भी काव्य हो सकता है। और न केवल यह

कि वैसा काव्य नहीं मरेगा, यह भी अपेक्षा की जा सकती है कि वह विज्ञान-संकुल मानसिकता के लिए ताजी हवा का काम देगा। जिन परिस्थितियों का आपने ज़िक्र किया है, वे बहुत घुँट गयी हैं। ऐसे नगर की कल्पना कीजिये, जिसमें पार्क और उद्यान हों ही नहीं। लगभग यही स्थिति जीवन की आज बनी है। उपयोगिता की दृष्टि से बड़े शहर में खुली जगह व्यर्थ मालूम हो सकती है; ऐसे शहर हैं जहाँ प्रति वर्गगज के पाँच सौ या हजार रुपये तक उठ सकते हैं; लेकिन नगरपालिका खाली जगह को खाली ही रखती और नगर के स्वास्थ्य के लिए इसीको उचित मानती है। उनको नगर का फेफड़ा कहा जा सकता है, जहाँ से साँस मिलती है। काव्य का भी लगभग वैसा ही उपयोग है। कर्म-संकुल परिस्थिति में केवल भावोच्छ्वासपूर्ण काव्य अवश्य काम नहीं दे सकेगा, कारण मानसिकता तब इतनी बुद्धि-पुष्ट हो जायगी। लेकिन बौद्धिक सत्त्व से परिपूर्ण कविता उस परिस्थिति में उतनी ही आवश्यक बन सकती है।

३००. बौद्धिक सत्त्वप्रधान कविता आप किसे मानेंगे? पन्त की बौद्धिक कविताओं को अथवा आज के नवीन प्रयोगवादी कवियों की विचित्र रचनाओं को? वैसी कविता का क्या स्वरूप होगा?

पन्त में भारीपन, प्रयोगवाद में बिखराहट

—शायद दोनों को नहीं। फिर बौद्धिक सत्त्ववाली उस कविता का क्या स्वरूप होगा, अकवि होकर यह भी मैं नहीं दिखा सकता। प्राञ्जलता और सहजता उसमें कम न होगी। पन्त का इधर का काव्य कुछ भारी है। न बिखराहट इतनी होगी कि भावान्विति कठिन हो, जैसा प्रयोगवादी रचनाओं में अधिकांश दीखता है। अर्थ और भाव की संगति आवश्यक है। कारण-कार्य-सम्बन्ध के क्षेत्र में काम करनेवाली वैज्ञानिक वृत्ति इस बेतरतीब बिखराहट पर कुछ क्षण के लिए चमत्कृत हो सकती है, लेकिन यह उसे तृप्ति नहीं दे सकती। इस तरह प्रयोगवादिता चलते समय की चीज जान पड़ती है। मानो वह वैज्ञानिकता का प्रतिषेध हो। निषेधरूप बन गया काव्य टिकेगा नहीं। उसे विज्ञान का पूरक होना होगा और उस काव्य में हठ और विद्रोह न होगा, बल्कि प्रसाद-भाव होगा।

क्लासिक में बुद्धि की अवज्ञा नहीं

जिनको 'क्लासिक' कहा जाता है, उसमें बुद्धिसूत्र की आप अवज्ञा नहीं पायेंगे। पढ़ने के साथ आज भी वह काव्य लोगों का चित्त मुदित करता है। मुझे जान पड़ता है कि ऊपर से आनेवाली बौद्धिकता या निषेध-नकार तक बढ़ जानेवाला बुद्धि-

प्रमाद अतिरेक का फल है। जब वह भीतर से उमड़कर आती हुई भावानुभूति का फल हो, तो न उसमें भार होगा, न धार होगी। वह सौम्य और प्रीतिकर होगा।

३०१. आपने कहा कि विज्ञान का पूरक बनने के लिए आवश्यक है, कविता बुद्धि-पुष्ट हो। आपकी ही मान्यता है कि अभाव को दूर करने के लिए भाव का उत्कर्ष आवश्यक है और आज का जीवन इतना रूखा हो गया है कि रोमान्स के सृजन की आवश्यकता प्रतीत होती है। क्या आप ही की ये दो मान्यताएँ परस्पर विरोधी नहीं दीखतीं ?

कविता विज्ञान की पूरक हो, प्रतिक्रिया नहीं

—पूरक होना एक बात है, प्रतिक्रियात्मक होना एकदम दूसरी बात। जमाना, खासकर पश्चिम में, विज्ञान का है। लेकिन वहाँ उल्लंग लास्य-दृश्य देखने में आते हैं। उसको मैं पूर्तिप्रद नहीं मानता, प्रतिवादी मानता हूँ। जिस काव्य की मैं बात कहता हूँ, वह बौद्धिक की जगह भावात्मक अवश्य होगा, बौद्धिक तो विज्ञान स्वयं होता है। पूरक होने के लिए भावात्मकता यों भी संगत है। लेकिन वह भावात्मकता बुद्धि से पलायन का रूप नहीं ले सकती, जैसे कि प्रतिक्रियात्मक लास्य ले लिया करता है।

पूरक बनकर जब काव्य आयेगा, तब वह विज्ञान से उलटा नहीं दिखाई देगा। अर्थात् तर्क-संगति का एक साथ विघटन वहाँ नहीं दीखेगा। प्रयोगवाद के नाम से जो रुख चल रहा है, उसमें विज्ञान की व्यवस्थितता को मानो स्पर्धापूर्वक छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है। उसे प्रतिक्रियात्मक कहना ही होता है। अव्यवस्था मानो उसे लक्षण से अधिक लक्ष्य हो। पूरक काव्य में यह सब नहीं होगा। आलोचना का स्वर उसमें तीखा नहीं होगा, आलोचना के रूप में जो बौद्धिकता का प्रकाशन है, उसको मैं काव्यात्मक नहीं मानता हूँ। प्रायोगिक कविता का मूल स्वर वह ही दीख पड़ता है। आह्लाद और प्रसाद में आलोचनात्मक मनोदशा घुल जाती है। तब कवि वस्तु के विपरीत नहीं होता, मानो सम्मुख और संवादी होता है। मैं यहाँ उस बात को उदाहरणों से स्पष्ट और पुष्ट नहीं करना चाहूँगा। पर आप देखने चलें तो सर्वमान्य ऐसे कवि मिल जायँगे, जिनका प्रभाव वर्ग-सीमित और बौद्धिक नहीं है, वह सार्वजनीन और हार्दिक है।

३०२. क्या आज की परिस्थितियों में चिकर व हितकर नहीं होगा कि कहानी के साथ कविता का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं, तो अधिक प्रचलित हो जाय। क्योंकि कहानी-तत्त्व के सहारे कविता का महत्त्व बढ़ेगा और मनुष्य में संगीत और संगीति

की जो अन्तःस्थ प्यास है, जिसे मात्र कविता ही बुझा सकती है, वह आवश्यकता इस प्रकार पूरी होती जायगी ?

कहानी कविता से जुड़े

—कथा को काव्य के लिए मैं अनिवार्य कहता-मानता आया हूँ। अन्यथा काव्य गीत-संगीत के निकट पहुँच जाता है और सामाजिक से अधिक वैयक्तिक हो जाता है। भक्ति-भाव तक व्यक्तिभाव उठ जाय, तो उसका अवश्य बहुत सामाजिक मूल्य है। लेकिन यदि आवेदन का वह भाव उदित करनेवाली ही कविता न हो, तो वह व्यसनशील बन जाती है, अर्थात् असामाजिकता को भी पोषण दे सकती है।

कथा-वियुक्त कविता विलास

कथा से बिछुड़ी, तो कविता अधिकांश विलास हो गयी; समाज के लिए अन्न-जल के समान अनिवार्य और पोषक वह नहीं रह गयी। उसमें कुछ तिक्तता आ मिली, और वह मदिरा के नजदीक जा पहुँची। शराब की महिमा कम नहीं है। लेकिन शराब आखिर शराब है और उससे अधिक नहीं है।

जो सामाजिक और सार्वजनीन है, पारस्परिक ही है। परस्परता के लिए कथा आवश्यक हो जाती है। दो या अधिक चरित्र न हों, तो परस्परता उत्पन्न नहीं होती, न सम्प्रदान और सामंजस्य या संघर्ष की परिस्थिति के लिए अवकाश रहता है। अर्थात् सामाजिक उद्‌बोध की क्षमता के लिए कविता में कहानी का पुट आवश्यक होता है। कहानी में स्वरति के लिए उतना अवकाश नहीं होता। वहाँ प्रेम और सहानुभूति को अन्य में बाँटना पड़ता है। इस तरह सामाजिक दायित्व और नेतृत्व तक जो कविता उठे, वह अनिवार्य कथानुसारी होती है। पुराणों ने आर्य-संस्कृति को सँभाले रखा है। वे महाकाव्य भी हैं। संस्कृति को निर्दिष्ट और पुष्ट करने की क्षमता उन काव्यों में इसीलिए आयी है कि नाना चरित्रों के परस्पर सम्प्रदान द्वारा सामाजिकता का उनसे उद्‌घाटन और उन्मेष हो सका है।

आज साहित्य समाज-सन्दर्भ से मुक्त

मानना होगा कि आज सामाजिक सन्दर्भ से साहित्य कुछ मुक्ति पा रहा है। यह केवल विच्छेदमात्र रह जायगा और हानिकर होगा, अगर इस मुक्ति का मतलब समाज की जगह लक्ष्य के रूप में व्यक्ति का वरण हो जायगा। उस मुक्ति में उत्तीर्णता का, उपादेयता का भाव तब पड़ सकता है, जब समाज से आगे

समष्टि के अथवा सत्य के सन्दर्भ से साहित्य को जोड़ा जाय। सत्य समाज से हीन नहीं होता है, सत्य केवल समाज को परिपूर्ण करता है। समाज की धारणा को मूर्त बनाते हैं, तब हम पाते हैं कि वह सीमित और खण्डित है। सत्य मानो उसको समग्रता देता है। कुछ अपवादों को छोड़कर आधुनिक साहित्य मानो समाज-सन्दर्भ को बाधा मानकर इसलिए छोड़ता है कि वह स्व-च्छन्द, स्व-तन्त्र हो सके। ऐसी स्वतन्त्रता को मैं इष्ट नहीं मानता। उसमें दायित्व से छुट्टी मिलती है, लेकिन वह मुक्ति नहीं होती। दायित्व सत्य से स्वत्व के प्रति लौटकर सिमट भर जाता है; जब हम दायित्व को सत्य के प्रति जोड़ते हैं, तब फल में दायित्वहीनता नहीं मिलती, बल्कि मानो दायित्व पर से एक सीमितता उठ जाती है। अर्थात् आनन्द में संयम चरितार्थ होता है।

उच्छ्वास-विश्वास अहं-परक

सत्य मुझ-तुम तक सिमटा हुआ नहीं है। मुझमें भी है, तुममें भी है। अर्थात् सत्य के साक्षात्कार के लिए सम्बन्धों का यह विस्तार अर्थवान् होता जाता है। उन सम्बन्धों पर उतरते ही कथा हाथ लगती है और जब हम घटना द्वारा कुछ कहते हैं, तो मालूम होता है कि वैसे शब्द-सत्य से आगे जीवन-सत्य की मार्मिकता का आकलन हो सका है। घटना और कहानी से अलग जब-जब कविता द्वारा हम कुछ व्यक्त करते हैं, तो या तो वह उच्छ्वास होता है या विश्वास होता है। दोनों ही अहंपरक होने के कारण उतने उपादेय और उपयोगी नहीं हो पाते। वैसी कविता कृतार्थ यदि होती है तो तब, जब उसमें सुर भक्तिप्रवण आवेदन का होता है। ऐसे गीत, भजन, स्तवन काव्योत्कर्ष के शीर्ष तक जा पहुँचते हैं। अन्यथा वह कविता सबजेक्टिविज्म से, स्वापेक्षता से ऊँची नहीं उठ पाती और जातियों में प्राण फूँकनेवाली नहीं हो सकती है।

गीति-संगीति की प्यास

कथा से गीति और संगीति की प्यास बुझती है, ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। कथा से हम उच्चतर मानव-लोक या देव-लोक में पहुँच जाते हैं और ऐसे अपने से कुछ अधिक और ऊँचे हो जाते हैं, यह अवश्य होता है। लेकिन संगीति की प्यास कुछ और चीज है। गजल अधिकांश गेय होती है, संगीत के वह अधिक निकट और साथ है। उसमें संगीत का रस प्राप्त होता है। और ऐसा जान पड़ता है कि विषाद प्राप्त करके हमारा अहं भीगकर कुछ कोमल और विशद हो रहा है। उधर राम-कथा में भी एक विभोरता प्राप्त होती है। वहाँ का रस दूसरे प्रकार और स्तर

का होता है। स्वापेक्ष कविता द्वारा यदि हम आत्म-सम्पन्नता (सेल्फ-एनरिचमेण्ट) प्राप्त करते हैं, तो कथा-विभोरता में मानो हम आत्मोत्तीर्णता (सेल्फ-ट्रेन्सेण्डेन्स) पा जाते हैं। इस दूसरे आत्मोत्तीर्णता के तत्त्व को मैं अपनी ओर से अधिक मूल्य देता हूँ। कारण, सम्पन्न-आत्म को भी आखिर कृतार्थता अन्त में समर्पण में ही अनुभव होती है। कथानुसारी महाकाव्यों में ऐसी स्थितियाँ आती हैं कि रसो-द्रेक का परिपाक मानो आत्मार्पण में ही निकलता है और एक गद्‌गद भाव हमारे सब मन और काया में व्याप्त हो जाता है। इस अवस्था में से होनेवाला लाभ सब्जेक्टिव पोएट्री की अपेक्षा अधिक स्थायी और सुसंवादी होगा।

३०३. क्या आप चाहेंगे कि संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी की विशाल परम्परा में चला आता हुआ भारतीय काव्य इस वर्तमान युग में आकर लुप्त हो जाय? यदि नहीं तो उसकी शैली, भाषा और कथा-वस्तु में आप किस प्रकार के परिवर्तन लाना चाहेंगे?

अतीत के प्रति अतिरिक्त कर्तव्य अनावश्यक

—क्या परिवर्तन के आधार पर ही उसको लुप्त होने से बचाया जा सकता है, ऐसा आप मानते हैं? मैं वैसा नहीं मानता हूँ। यदि उस साहित्य का प्रभाव हमारे रक्त में बिंध गया है, तो अनायास हमारी अभिव्यक्तियों में उसकी छाया आ जायगी और उन रूपकों का नव-नव निरूपण होता रहेगा। पुराण-चरितों पर हर युग में नये-नये काव्य रचे गये हैं, यह इसी कारण है। राम और कृष्ण को जीवित रखने के लिए हमें उनका नया-नया संस्करण प्रस्तुत करना चाहिए, इस विचार से वे रचनाएँ नहीं हुई हैं; बल्कि एक भीतरी अनिवार्यता और ऊपरी अनायासता में से वैसा होता गया है। अर्थात् जो अमर है वह अमर है और केवल भाषा अथवा शैली के कारण मर नहीं जानेवाला है। नयी भाषा और नया मुहावरा स्वयं अमर होने की राह में उन अमर-आख्यानों को अपनाता चले, यह स्वाभाविक है। अर्थात् अमर के प्रति किसी चिन्ता या करुणा की आवश्यकता नहीं है। समय और युग को अपने ही आत्मलाभ की भाषा में सोचना चाहिए। उस विचार में से ही अधि-कांश यह घटित होनेवाला है कि अतीत पुनरुज्जीवित हो जाय और प्राचीन प्रतीक नये-नये रूपों में प्रस्तुत और प्रतिष्ठित होते जायँ। अतीत के प्रति किसी अतिरिक्त कर्तव्य-भाव की आवश्यकता नहीं है। उस अतीत से वर्तमान का सुगठित भाव ही इसके लिए पर्याप्त है कि जो तब सनातन और श्रेष्ठ होकर मूर्त हुआ था, वह वर्त-मान के मनोनुकूल होकर भी हमारे सामने प्रत्यक्ष हो और भविष्य के लिए भी सुरक्षित रहता चला जाय। मनुष्य की और काल की अखण्डता में से यह अनायास

ही घटित होता है और इस निरन्तरता से बचा नहीं जा सकता। न केवल भाषा इस क्रम को उत्तराधिकार से वहन करती है, बल्कि भाषा के व्यवधान को लांघकर भी यह घटित हुआ करता है। यहाँ के आख्यान दुनिया के दूसरे सिरों तक पहुँच गये हैं और वहाँ के यहाँ आ गये हैं, तो ऐसा इसी कारण होता रहा है। नित्य और सनातन सबका और युग-युग का होता है। वह समय-समाज के द्वारा खण्डित नहीं बनता। बल्कि इन सब खण्डितताओं को वह अखण्ड बनाता है।

३०४. क्या यह आवश्यक नहीं है कि राम और कृष्ण के पौराणिक तथा अन्य ऐतिहासिक चरित्रों के समकक्ष कुछ ऐसे चरित्रों की स्थापना की जाय, जो वर्तमान से बहुत दूर न हों, जो वर्तमान के प्रतीक बन जायँ और जिनमें राम और कृष्ण का-सा गाम्भीर्य और विशदत्व कविता द्वारा लाया जा सके। क्या ऐसे चरित्र उस अभाव की पूर्ति नहीं कर पायेंगे, चेतना के जिस अभाव को आज का बिखराव भरा कथा-साहित्य भर नहीं पा रहा है?

राम-कृष्ण जैसे चरित्रों की सृष्टि

—नहीं, आवश्यक नहीं है। राम और कृष्ण के समकक्ष दूसरे पात्र हों सिर्फ इस कारण कि राम-कृष्ण ऐतिहासिक और पौराणिक हैं, साम्प्रतिक और आधुनिक नहीं हैं, मैं आवश्यक नहीं मानता हूँ। यह बिलकुल सम्भव हो सकता है कि कोई कल्पना राम और कृष्ण का सहारा और आधार लिये बिना उतनी ऊँची उड़ान भरे कि धर्मावतारी पुरुष को अपने में प्रत्यक्ष और साहित्य में अवतीर्ण कर सके, वह दूसरी बात है। लेकिन यह स्पर्धा कि इन अतीत चरित्रों को छोड़ना है, नवीन चरितों की सृष्टि करना है, इस कार्य की दृष्टि के योग्य नहीं है। स्पर्धा में से महान् सृष्टि नहीं होती, पूर्णार्पण में से वह हुआ करती है। जातियाँ नाना युगों में अपने को जिसके प्रति भक्तिभाव में बहाती रहीं, वे चरित अनायास पुरुषोत्तमता का सन्दर्भ प्राप्त करते हैं। उन चरितों में सम्भावना रहती है कि हम युगीन समस्याओं को भी उनमें उँडेल सकें और उनके निदान और समाधान की झाँकी भी वहाँ से प्राप्त कर सकें। उनको हठात् अस्वीकार करके नये चरितों के निर्माण का आग्रह अधिकांश हमें दिशा-विपर्यय में ले जाता है। माइकेल मधुसूदन ने राम का त्याग करके मेघनाथ को केन्द्र में लिया, तो कुछ ऐसी ही स्पर्धा उनमें रही। मैथिलीशरण के साकेत में तनिक यह प्रयास दीखता है और गांधी के मन में वह खटक ही गया कि सीता को हटाकर केन्द्र में उर्मिला को रखने में एक आग्रह रहा हो सकता है। किन्तु मानव-निष्ठा की दृष्टि से यह स्पर्धा मनोरंजक ज्यादा हो, सुफल अधिक नहीं होगी।

कल्पना-सृष्ट चरित्र अक्षम

यह नहीं कि पुराण-पुरुष ही सदा-सर्वदा साहित्य के नायक बने रहेंगे। पर नायक के लिए आवश्यक है कि वह लेखक के रक्तार्पण से बना हो। जातीय आदर्शों के प्रति यह अर्पण सहज साध्य रहा करता है। कल्पना के जोर से उनकी सर्वांग अवतारणा करना उतना सुगम नहीं होता। अधिकांश यह होता है कि इतिहास में जिन विभूतियों को स्वयं विधाता सृष्ट कर रहता है, मानव-कल्पना उन्हीं के आस-पास अपने आदर्श की मूर्ति को रचा करती है। केवल कल्पना में से निकले ऐसे महाचरित कम हैं, लगभग नहीं हैं, जिन्होंने विश्व-मानस को ही मोड़ दिया हो। पौराणिक पात्र ज्यों-के-त्यों ऐतिहासिक चरित्र नहीं हुआ करते, रचनाकार की अर्चना-उपासना की विभूति से वे विभूतिमय बन जाते हैं। धीरे-धीरे मानव की इतनी महत्त्वाकांक्षाओं का अर्पण और अवसान उनमें होता है कि वे महा-महिम और अलौकिक बन रहते हैं। इनसे हटकर जो मानव-चरित्र हमको हिला जाते हैं, वे द्वन्द्व और द्वैत की घोरता में उतरकर हमको आच्छन्न करते हैं; उनकी आदर्शता नहीं, यथार्थता हममें कुरैद पैदा करती है। वे धर्म के शीर्ष पर नहीं, तो पाप के तल तक पहुँचे हुए दीखकर मानो हममें एक तीव्र भाव की सृष्टि करते हैं। अधिकांश आधुनिक साहित्य के महाचरित अपनी इस विदग्धता से हमारे मानस को झँझोड़ डालते हैं। उनकी शक्ति आदर्श चरितों से भिन्न प्रकार की हो, लेकिन कम नहीं होती। किन्तु उनकी भी क्षमता और चमक जाती है, यदि बीच में कोई पुरुषोत्तम पात्र आ सके और तुलना में समीचीन मूल्यनिष्ठा हममें ज्वलन्त और स्थिर हो सके। लेकिन यह क्षमता केवल कल्पना-सृष्ट चरितों में मुश्किल से ही आ पाती है और इसलिए वर्तमान साहित्य का उत्कर्ष-बिन्दु ट्रेजडी में मिलता है, अन्य प्रकार के साहित्य में नहीं मिलता।

चरित्र स्पर्धा-जन्य न हो

संक्षेप में चरित्र स्पर्धा-जन्य होकर महत्त्व के चरम तक नहीं पहुँच सकते हैं। यदि पुराण-पुरुषों तक हमारी गति न हो, तो महत्-चरित्र-पात्र यथार्थता की ओर चलने से शायद सृष्ट हो सकें, आदर्श की ओर चलने में उतने बल का अवधारण मुश्किल से ही हुआ करता है।

३०५. महाकाव्य और उपन्यास, इनमें से किसे आप अधिक स्थायी और मानवता के लिए अधिक उपयोगी साहित्य-विधा स्वीकार करते हैं? दोनों में दो प्रकार के चरित्र होते हैं। प्रथम में आदर्श, दूसरे में यथार्थ। किस प्रकार के चरित्रों की

सृष्टि मानव-अन्तःकरण को सबसे अधिक प्रभावित और संस्कृत करने में सफल होती है?

महाकाव्य और उपन्यास दो और दूर नहीं

—महाकाव्य और उपन्यास को मैं दो और दूर नहीं मानता हूँ। पद्य और गद्य का अन्तर अधिक महत्त्व का नहीं है। तो भी एक अन्तर विचारणीय हो सकता है। उसका संकेत आपके प्रश्न में भी है और वह यह कि उपन्यास में पात्र यथार्थ के सन्दर्भ से अधिक युक्त होते हैं, काव्य में किंचित् उत्तीर्ण भी हो सकते हैं। आज की विज्ञान-दीक्षित बुद्धि, विश्लेषण-परायण और अन्वय-परक अधिक है आदर्शों को मानो उसने चीर-फाड़ डाला है। आज के युग को अणु-युग कहते हैं, ईश्वर-युग किसी तरह नहीं कह सकते। अर्थात् समष्टिवाचक ईश्वर ओट में पड़ गया है, घटकात्मक अणु प्रधान बन गया है। मुझे इसमें ह्रास के लक्षण नहीं दिखायी देते हैं। जिसे मंजिल तक पहुँचना है, उसे मंजिल के गाने नहीं गाने हैं, बल्कि सफर की बाधाओं को अधिक समझना और पार करना है। पूर्णता और मुक्तता का दर्शन जो और जब होगा, हो जायगा। अभी तो अपूर्णता के निदान में उतरकर उसके कारण और उसकी प्रकृति को समझ लेना है। निर्द्वन्द्व में तो कुछ समझने को बचता नहीं। समझने को जो है, वह द्वन्द्वात्मक है। इसलिए आदर्शवादी और भक्तिपरक रचना आज के बुद्धिवादी वर्ग को उतनी पकड़ती नहीं है। फ्रायड से शुरू हुए मनोविज्ञान ने सन्त-महात्मा को उसके गौरव के आसन से खींचकर सामान्य सेक्स की धरती पर ला उतारा है। इस तरह महत् और बृहत् को हम स्वल्प और साधारण की भाषा में लाकर समझ लेना चाहते हैं। अन्यथा पात्र हमसे दूर और ऊँचे बने रह जाते हैं; हमारा उनसे घनी आत्मीयता का नाता नहीं बन पाता।

सत्यार्पित विदग्ध-चरित्र

किस प्रकार के चरित्रों की सृष्टि मानव अन्तःकरण को अधिक प्रभावित करती है, इस सम्बन्ध में आज दो राय नहीं हो सकती। जिनमें आदमी अपने दुःख और दर्द को देख पाता है, जिनके द्वारा वह उनकी प्रकृति को समझ पाता है और उनसे छूटने के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर पाता है, वे अधिक मानस को पकड़ती हैं। लेकिन संस्कारिता देने में भी वे ही रचनाएँ अधिक सफल होती हैं, यह कहने की जल्दी मैं नहीं करूँगा। वैसे मैं मानता हूँ कि शिव और सुन्दर को लक्ष्य में रखकर बनी रचना संस्कृति के वे गहरे तत्त्व अपने में नहीं रखती हैं, जो सत्यार्पित रचना

में हो सकते हैं। अन्वयपरक वह रचना जो यथार्थ के तल तक पहुँचकर सत्य को छू लेना चाहती है, सम्भव है कि उतनी शुभ और सुन्दर न भी समझी जाय। यह भी सम्भव है, शायद अनिवार्य है, कि वह रचना समन्वित सत्य का साक्षात्कार भी न जगा पाये। कारण, सत्य खण्ड में नहीं, इसलिए विखण्डन और विच्छेद की पद्धति के द्वारा वह उपलभ्य भी नहीं है। अन्त में उसके लिए उपासना और श्रद्धा का ही अवलम्बन रह जाता है। किन्तु यह रास्ता विज्ञान का नहीं है, शायद उससे उलटा है। वैज्ञानिक पद्धति से वस्तु-सत्य के अनुसन्धान में हम कितने भी दूर जा सकें, चित्-सत्य तक नहीं पहुँच सकते हैं। नहीं पहुँच सकते इसलिए हैं कि वहाँ पहुँचनेवाला व्यक्ति और पहुँचने की मंजिल दो बने रहते हैं। लेकिन यह स्वीकार करते हुए कि परम सत्य समष्टिरूप और समन्वयपरक है, उसके अनुसन्धान में व्यवच्छेद के पदों से अवगाहन करती हुई नीचे से नीचे उतरते जाने से कोई मनीषा हारना नहीं चाहती है, तो यदि वह तटस्थ और ईमानदार है, तो शुभाकांक्षा में लिखी हुई उद्देश्यप्रद से यह रचना अधिक मूल्यवान् और स्थायी होगी। अन्तिम विश्लेषण में वह अधिक संस्कारी भी सिद्ध हो सकती है।

चिरन्तन साहित्य भक्त से ही प्राप्य

फिर भी यह कहना होगा कि जो चिरन्तन साहित्य भक्त से प्राप्त हो सकता है, वह परम वैज्ञानिक तार्किक से नहीं प्राप्त हो सकता। दूसरा साहित्य गहन होगा, गरिमामय होगा, लेकिन गो-दुग्ध के समान सरस और प्रसादमय वह कैसे हो पायेगा? भक्त से प्रसन्न आनन्द का मानो निर्झर ही खुल रहता है।

क्या यथार्थ के कलुष में भी परम तत्त्व उपस्थित ?

३०६. हिन्दी में क्या, आधुनिक विश्व-साहित्य में ही आदर्श और यथार्थवादी साहित्यिक शैलियों और चरित्रों की बहुत चर्चा रही है। जब कि आदर्श की ऊँचाइयों में हम परम तत्त्व परमेश्वर का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकते हैं, तब क्या आप मानते हैं कि यथार्थ और तथाकथित कलुष की नीचाइयों में भी उसको खोजा और पाया जा सकता है?

'आदर्श' की परिभाषा

—असल में जो है, अखण्ड है। लेकिन जो समस्त और सनातन भाव से है, वह प्राप्य और ज्ञेय ही रहता है, प्राप्त और ज्ञात नहीं बनता। जो प्राप्त और ज्ञात है, वह काल के हाथ में होकर क्षण-क्षण बदल भी रहा है। तो इस तरह काल और

देश से जिसने स्वरूप पाया है, सत्य का वह पहलू ही हमें प्रत्यक्ष और इन्द्रियगोचर हो पाता है। इसको यथार्थ कहते हैं। यह समयाधीन होता है और रूप में व्यक्त होता है। सगुण साकार उसीको कहते हैं। किन्तु अर्थ, रूप और आकार के पार कहीं रह जाता है वह, जहाँ काल द्वारा होते हुए परिवर्तनों का हेतु है, घटनामात्र का जहाँ सार है। उसको आदर्श कहना चाहिए।

इस तरह स्पष्ट होगा कि यथार्थ में यदि कुछ अर्थ हो, तो वह आदर्शपूर्वक ही हो सकता है। जो हो रहा है, उसको ही समूचा सच मान लें तो क्षण स्थायी बनता और समय खो जाता है। निरन्तरता नष्ट हो जाती है और उसमें एकसूत्रता नहीं रह जाती। इतिहास की धारणा ही विलीन हो जाती है। अर्थात् कुछ स्थायी और ध्रुव है, रूप और आकार से अतीत है, जो रूपाकारों में नित-नयी परिणति पा रहा है। क्यों यह काल है, क्यों वह है कि जिसे आकाश कहते हैं और जिसमें काल अपना काम करने का अवकाश पाता जाता है? इस क्यों का अन्तिम अर्थ नहीं मिलता। विकास कह दीजिये, मुक्ति कह लीजिये, पर इस प्रकार के शब्द स्वयं ठोस नहीं जान पड़ते और प्रश्न के लिए मानो फिर अवकाश छोड़ रहते हैं। आदर्श मानो वही है, जिसका क्यों नहीं पूछा जा सकता, 'क्यों' की लड़ी वहाँ छोर पा जाती है। मानो सब अर्थ की वहाँ सिद्धि और समाप्ति है, मानो अर्थ का वहाँ से उद्गम है। अर्थात् आदर्श का सम्बन्ध उस श्रद्धा से है जो तर्क तक ही नहीं जाती, आगे भी जाती है। आगे पहुँचने को जो है, आदर्श है।

आदर्श एक स्वयम्भू शक्ति

इस तरह आदर्श एक स्वयम्भू शक्ति है। वह आत्मनिर्भर है। उसके सम्बन्ध में प्रश्न नहीं रहता है, क्योंकि उससे आदि होता और उसीमें अन्त होता है। आदर्श सबके भिन्न हो सकते हैं, जैसे कि स्वप्न भिन्न होते हैं। लेकिन अपने आदर्श के साथ प्रत्येक का सम्बन्ध बिलकुल एक होता है। श्रद्धा भिन्न नहीं होती, श्रद्धेय ही भिन्न हो सकता है। इसलिए श्रद्धा ही वह तत्त्व है, जिसमें एकता और समानता है और जिस एकता के लिए किसी प्रश्न की आवश्यकता नहीं रहती है। देवता चाहे आपस में कितने ही अनेक और भिन्न हों, लेकिन भक्ति एक है। भक्त उस भिन्नता के रहते हुए भी अनायास आपस में एक हो जाते हैं।

यथार्थ का सत्य : भेद-विग्रह

जिसको यथार्थ कहते हैं, वहाँ प्रयोजन और मत आदि की एकता भी दीखे, लेकिन वहाँ का सत्य विभेद है। यह सम्भव ही नहीं हो सकता कि किसी भी एक स्थिति

को दो दृष्टियाँ समान देखें। यथार्थ के आग्रह में इस तरह सब अलग-अलग हो जाता है। यथार्थ का तट हेतु और अर्थ का नहीं, केवल कर्मचेष्टा का है। इससे मालूम होता है कि भेद और विग्रह और सबका अपना-अपना पृथक् स्वत्व वहाँ का सच है। सबके अपने-अपने पृथक् स्वत्व की भाषा में ही वहाँ प्रश्न बनते और उत्तर बन सकते हैं।

जीवन के ये दो तट

एक वह, जिसे परमेश्वर कहते हैं और जो परम उपास्य होकर भी परम अप्राप्त है। दूसरे वह, जिसे जगत् कहते हैं, संसार कहते हैं, जो प्रत्यक्ष होकर भी पकड़ में नहीं आता है, ठोस होकर भी जो छलनामय है, जिसका रूप मायामय है। इन दोनों तटों के बीच मानव-प्राणी झूलता हुआ रहता है। जीवन की लहरें मानो इन दो तटों के बीच ही बहती और हारों-थकों को या मतवादियों को इस या उस किनारे फेंक देती हैं। जो जीते हैं, वह किसी किनारे नहीं टिकते हैं, लहरों में रहते हैं। इसीमें जीने का स्वाद है और कष्ट है।

साहित्य इन्हींके बीच की क्रिया-प्रतिक्रिया

मैं मानता हूँ कि साहित्य इन्हींके बीच की क्रिया-प्रतिक्रियास्वरूप जन्म लेता है और उसी क्रिया-प्रतिक्रिया की भाषा में अपने सद्दर्शन को दरसाता है। यथार्थ से आदर्श की ओर उठना आरोह और वहाँ से यथार्थ की ओर उतरना अवरोह। ये दो गतियाँ दार्शनिक शब्दावली में भी मान्य होती जा रही हैं। अनेक से एक की ओर चलना उतना ही अनिवार्य है और इसीको उठना भी कहना पड़ता है, जितना वहाँ से अनेक के स्वीकार-सत्कार की ओर आना अनिवार्य है। जिसको उतरना कहा जाता है।

आदर्श अर्थात् श्रद्धा अनिवार्य

साहित्य में सार भाव पुस्तक का एक है, लेकिन पात्र अनेक हैं। वाक्य का अर्थ एक है, पर शब्द अनेक हैं। इसीसे प्रभाव की अन्विति साहित्य-रचना में उतनी ही हो सकती है, जितनी वहाँ आदर्श की प्रतिष्ठा है। अन्विति होगी, तभी प्रभाव पुष्ट होगा और पाठक का रचना के साथ सम्बन्ध घनिष्ठ होगा। अर्थात् रचना और रचनाकार में श्रद्धा आवश्यक है। आदर्श आवश्यक है, यह कहने से अधिक श्रद्धा को आवश्यक बताना अधिक अनुकूल और सार्थक बनता है। कारण, श्रद्धा से अलग आदर्श की कहीं स्थिति ही नहीं है। और श्रद्धा की स्थिति के लिए स्वयं रचना और रचनाकार है।

श्रद्धा से यथार्थ असम्बद्ध

यथार्थ के साथ श्रद्धा का सम्बन्ध टिक नहीं सकता। वहाँ उससे काम लेना होता है, जिसे कुशलता और सावधानता कहते हैं और जिसमें तर्काश्रित विवेक के लिए अवकाश है। यथार्थ के प्रति समर्पण नहीं हो सकता। उसमें रुचि-अरुचि स्वीकार-अस्वीकार, प्रिय-अप्रिय का होना अनिवार्य है। वह स्थल मतामत खण्डन-मण्डन, प्रतिपादन-प्ररूपण आदि का है। इसलिए जो आदर्श को लेकर चलना चाहता है, उसमें मतवादी समर्थन और आलोचन आये बिना रह नहीं सकता। यह रस में बाधक होता है। रसबोध ऐक्य-भाव में से प्राप्त होता है। और वह एकता यथार्थ से उठे हुए किसी भावार्थसूचक आदर्श में ही सम्भव बनती है। इसलिए आदर्शात्मक श्रद्धा साहित्य-सृष्टि के लिये अनिवार्य तत्त्व है कारण, उसीके प्रति पूर्णाभिव्यक्ति और निःशेष समर्पण हो सकते हैं। उसके बिना रचनाकार की रुचि-अरुचि मत-विमत पाठक में तनिक चुभे बिना नहीं रह सकते और इस तरह एक बाधा प्रस्तुत कर आते हैं।

लेखक की श्रद्धा प्रश्न का भोजन करती है

किन्तु श्रद्धा की पूर्णता में से सृष्टि नहीं हो सकती। उसके लिए एक तनाव आवश्यक होता है। इसीसे लेखक में यह आवश्यकता रहती है कि वह आदर्श को श्रद्धा से छूकर ही न रह जाय, बल्कि उसको वह अपने सर्वांग में समा पाये। इस चेष्टा में ही समस्त जीवन-व्यापार में से उस अर्थ को निकालने की उसकी चेष्टा रहती है, या तमाम जीवन-व्यापार में उस आशय को डालने की चेष्टा कहो। यह एक साधना और तपश्चर्या ही है। इन्द्रियों से जो हमें मिलता है, विभिन्न होता है। उसीमें से जो अर्थ की एकता को अनुस्यूत देखने का अभ्यास है, वह किसी युद्ध से कम नहीं है। इससे व्यक्तित्व को एक अनुशासन और एकीकरण प्राप्त होता है। इन्द्रियों को मनमाना चलने की सुविधा नहीं रहती। मानो सबको अन्तःकरण और आत्मा से जुड़ना पड़ता है। इस तरह लेखक की श्रद्धा कोरी मतवादिता नहीं हो पाती, न वह यथार्थ से एक क्षण के लिए विमुख ही हो सकती है। मानो वह ऐसी जगी और जलती हुई श्रद्धा है, जो प्रश्न का वरण और भोजन करती है। प्रश्न से वह मुँह नहीं मोड़ती, बल्कि नित्यप्रति उस प्रश्न की अपने लिए खुराक जुटाती रहती है। प्रश्न के नित्य-नियमित भोज्य से ही वह श्रद्धा स्वस्थ, प्रबल और सक्रिय बनती है।

आदर्श-यथार्थ अङ्गाङ्गी

यथार्थ की नीचाइयों को तथाकथित कलुष की ही कहना चाहिए। किन्तु पूर्ण के सन्दर्भ में सब यथावस्थित हो जाता है और कलुष में भी अर्थ पड़ जाता है। सृष्टि के विधान में पाप भी निरर्थक नहीं हो सकता। एक तो उसका अर्थ यही कि वह हममें निषेध की चुनौती और कृत्य का पुरुषार्थ जगाता है। धर्मभीरु पाप और कलुष आदि शब्दों को पैदा करके शायद एकांगी होने की सुविधा भी पा जाता हो, लेकिन साहित्यकार को वह सुविधा नहीं है। वह अरुचिबोधक शब्द पैदा करके उनके सहारे किसीसे या कुछ से भी मुँह नहीं मोड़ सकता है। आदर्श की वह श्रद्धा रखकर सम्पूर्ण यथार्थ को वह जैसे अपनी समझ और स्वीकारता में उतार लेना चाहता है। माया से मुँह मोड़कर कोई और होगा जो ईश्वर की साधना में जायगा, साहित्यकार तो माया के भरपूर प्रपंच में भी ईश्वर की लीला को ही देखने का प्रयासी होगा। हाँ, मैं मानता हूँ कि जिसको ऊँचाइयों में देखा जाता है, उसको नीचाइयों में भी उतारा और पाया जा सकता है। एक जैन-दर्शन है जो कहता है कि आत्मा ही आरोहण में परमात्मा होता है। दूसरी ओर सर्व-सुलभ अवतार पुरुष की धारणा है ही कि स्वयं नारायण नर के रूप में जगत् में अवतीर्ण होते हैं। ज्ञान और दर्शन में से जब धर्म की और ईश्वर की हानि होती है, अखण्ड ऐक्य युग की मानसिकता में खण्ड-खण्ड हो पड़ता है, तब व्याप्त तत्त्व को क्रियमाण और व्यक्ति-प्रतीक के रूप में मूर्त होना पड़ता है। यह आरोही और अवरोही दोनों ही दर्शन इसी एक सत्य को बतलाने के लिए हैं कि आदर्श और यथार्थ परस्पर अंगांगी हैं। आदर्श अव्यक्त केन्द्र है, यथार्थ प्रतिक्षण परिणत होता हुआ व्यक्त प्रत्यक्ष। यथार्थ का आग्रह साहित्य के लिए तब तक सहायक और साधक होगा, जब और जहाँ तक वह श्रद्धा से समन्वित हो सकेगा। श्रद्धा से विच्छिन्न होते ही यथार्थ रचना में आता है, तो ऊब और जुगुप्सा पैदा कर सकता है।

सेक्स के बीभत्स चित्र

३०७. यथार्थवाद और वस्तुवादिता के नाम पर सेक्स की अनियमितताओं के बीभत्स चित्र और अवचेतन मन के ऊहापोह भरे जंजाल ही अधिकतर देखने को मिलते हैं। इन्हें क्या आप अश्लील, अनैतिक और अश्लाघ्य नहीं मानेंगे? तीन रचनाएँ 'लेडी चेटरलीज लवर', 'लोलिता' और 'घेरे से बाहर' इस समय मेरे ध्यान में हैं। यथार्थ के बारे में ऊपर आपने जो कुछ कहा, उसकी दृष्टि से क्या आप बतायेंगे कि इन रचनाओं में पाठक ईश्वर को कहाँ और कैसे पायेगा?

कथा से सम्बन्ध-विच्छेद

—ये तीनों रचनाएँ मुझे अश्लाघ्य लगती हैं। शायद मुख्यता से इसीलिए कि वहाँ से आदर्श-दर्शन का बिलकुल लोप हो गया लगता है और मनुष्य के अन्दर की गहरी मर्म-पीड़ा और व्यथा से उनका सम्बन्ध छिन्न हो जाता है। उस सन्दर्भ से टूट जाने पर मानो यथार्थ और वास्तविक केवल जघन्य, अधम और बीभत्स होने को रह जाता है।

अनैतिक-अश्लील क्या ?

अनैतिक और अश्लील शब्दों पर विचार करते समय हमें यह मालूम होना चाहिए कि हम क्या चाहते हैं। मान लीजिये कि पूरा मकान बनाना चाहते हैं। तो मकान में मोरी और सण्डास के लिए जगह रखनी पड़ेगी। नाराज़ होकर इन दोनों चीजों को बहिष्कृत रखकर जो मकान बनायेगा, उसका सारा मकान ही सण्डास और मोरी के मानिन्द गन्दा हो जायगा। लेकिन अगर हम मकान का विचार नहीं, चौके का और ड्राइंग-रूम का विचार करते हैं, तो उस समय सण्डास और मोरी की बात भी पास नहीं आने दी जा सकती है।

सबका अपना-अपना स्थान

ईश्वर और परम सत्य का सन्दर्भ वह है, जहाँ सबको अपनी-अपनी जगह स्थान है। अपनी जगह होने पर बुरा भी मानो उपयोग के योग्य होता है और अच्छे से योग साध पाता है। विष्ठा को हम खाद बनाते और उसके उपयोग से फिर धन-धान्य और फल-फूल प्राप्त करते हैं। बड़े सन्दर्भ में रखने से सबकी यथास्थानता का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह नहीं कि उस ज्ञान के लिए अश्लील और अनैतिक जैसे शब्द व्यर्थ पड़ जाते हैं, बल्कि वे भी अपने स्थान तक ही सीमित रहते और अधिक भय और आतंक नहीं उपजा पाते हैं। समाज-व्यवस्था के लिए हम नैतिक के मान नियत करते और उनसे सहारा पाते हैं। उन्हीं नियमों से स्थिति टिकती है, नहीं तो स्थिति-भंग की अवस्था आ जाती है। किन्तु स्थिति ही हो, गति रुक जाय, तो भी जीवन का काम नहीं चलता। गति जिससे प्राप्त होती और स्थिति में विकास आता है, वह तत्त्व समाज से आगे सत्य से जुड़ा रहता है। व्यवस्था और एडमिनिस्ट्रेशन उसका प्रथम दायित्व नहीं होता, प्रथम दायित्व उसका प्रकाशन विण्डीकेशन होता है। यह तत्त्व जान पड़ता है, नियम की अधीनता में नहीं, बल्कि नियम की प्रेरणा में रहता है और इसलिए उसे नियम से अधिक महत्त्व

भी दिया जाता है। प्रतिभा को इसीलिए अपवाद कहा जाता और मान दिया जाता है।

बहुत कुछ हुआ है जिसे तत्काल ने स्वीकार नहीं किया। उस समय वह मानो अनागत का प्रतीक था और भविष्य में ही उसकी प्रतिष्ठा हो सकी। जिनसे इतिहास को प्रेरणा और गति प्राप्त हुई है, अधिकांश अपने समय में स्वीकारता नहीं पा सके थे। कारण व्यवस्था से वे संगत नहीं बन पाये थे, केवल आत्म-प्रकाशन में परायण बने रहे।

मिथ्या ही अनैतिक-अश्लील

इसलिए अनैतिक और अश्लील शब्दों का उपयोग अवश्य हमें कर लेना चाहिए, किन्तु उन पर रुकना नहीं चाहिए। जहाँ भी मिथ्या है, वहाँ जाने-अनजाने अनैतिकता और अश्लीलता है। इसलिए मान लेना चाहिए कि सत्य में ही उन दोनों का सही निराकरण और परिहार है।

जिन तीन रचनाओं का आपने जिक्र किया, उनके साथ और अनेक रचनाएँ भी हो सकती हैं, जहाँ यथार्थ और वास्तव के नाम पर निम्नताओं और विगर्हणाओं का उद्‌घाटन हो, लेकिन उनके पीछे कोई सत्य की तड़प या उत्कण्ठा न हो। ऐसा चित्रण और प्रदर्शन तरह-तरह की सावधानी बरतते हुए भी अश्लील हुए बिना नहीं रह सकता। हम कुछ शब्दों और स्थितियों को बचा सकते हैं, लेकिन आड़े-तिरछे संकेत जैसे कृति को अश्लीलता से नहीं बचा पाते।

यथार्थ की तलस्पर्शी कुरेद

एसी कृतियाँ हैं और हो सकती हैं, जिनमें हर वास्तव्य और यथार्थ में सत्येश्वर का ही प्रयोजन पाने और दर्शन करने का प्रयास हो। दोस्तोविस्की की रचनाएँ कम घोर नहीं हैं। अभी एक अमरीकी लेखक की रचना, 'आफ लव पोसेज्ड' पढ़ी है, तालस्ताय के नाटक 'पाप और प्रकाश' को ही लीजिये। इन सबमें आप यथार्थ की तलस्पर्शी कुरेद पाते हैं। लेकिन मानो यह भी अनुभव करते जाते हैं कि रचनाकार का लक्ष्य उनके पार है और वह श्रद्धा की मजबूती से चल रहा है। वे रचनाएँ जो अमुक ब्यौरे देकर उन्हींमें रस लेती मालूम होती हैं, मानो लड़खड़ाती हुई-सी वहीं-की-वहीं नाचती हैं, उनसे पार-जैसे कहीं उन्हें अपना मन्तव्य नहीं मालूम होता। अश्लीलता असल में वह भँवर है, जहाँ हमें अपना प्रयोजन भूल जाता है और इन्द्रिय-व्यापार भुला और भरमाकर हमें घेर लेता है। आप

देखेंगे कि इस तरह आदर्श के सन्दर्भ से च्युति ही वास्तविकता को अश्लीलता प्रदान कर देती है।

काम-सेक्स अश्लील नहीं

विवाह, परिवार, मातृत्व आदि की संस्थाएँ कितनी पवित्र और उपादेय हैं। क्या उस काम और सेक्स का वहाँ उपयोग नहीं है, जिनसे अश्लीलता पैदा हुई मानी जाती है? क्यों एक जगह अश्लीलता और दूसरी जगह पवित्रता है? कारण केवल एक है। वह यह कि एक जगह उनका योग मिथ्या, कपट और दम्भ से हुआ है। दूसरी जगह सहजता, सत्यता और स्निग्धता के साथ उन्हें स्वीकार किया गया है। सुहाग-शैय्या को जब हम श्वशुरालय के निभृत से उठाकर किताब के जरिये चौक बाजार में रखते हैं, तो उसमें क्या प्रयोजन हो सकता है? माता-पिता, सास-ससुर कितने चाव से उस सब सुहाग-रात की सुविधा प्रस्तुत करके स्वयं किस चिन्ता के साथ उस ओर से विमुख और अनदेखे हो जाते हैं। उस सबमें कितनी स्निग्धता और पवित्रता होती है। उस सबका भंग करके जब कोई किताब राह चलते की निगाहों को उधर खींचती है, तो वह कार्य भौंड़ा और बीभत्स न हो तो और क्या हो सकता है? इसमें वास्तविकता का कोई पुरस्कार या सम्मान नहीं है। यह केवल बुद्धि की स्पर्धा और दम्भ है। जिसमें इस बौद्धिक दम्भ का लवलेश हो, वह रचना महत्त्वहीन और अश्लील ही हो सकती है, इस बारे में मेरे मन में भ्रम नहीं है। कारण, यथार्थ का वहाँ अनुसन्धान नहीं है, न अवगाहन है। यह वहीं हो सकता है, जहाँ उस यथार्थ से पार जाने की लगन हो। उस यथार्थ का सेवन और उपसेवन दिखाई देता हो, तो वास्तव ही जघन्य और यथार्थ ही मिथ्या पड़ जाता है। मैं मानता हूँ कि इसमें न सत्य की सेवा होती है, न समाज की ही कोई सहायता हो पाती है। उन रचनाओं में फिर कितनी भी बारीकी और साज-शैली की कुशलता हो, साहित्य में उन्हें प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती।

३०८. ऊपर आप सर्वसाधारण नैतिकता के आदर्श के बहुत नजदीक आ गये। आपकी ही अपनी मुक्तप्रेम की मान्यता पर, जो कि साहित्य का भी अनिवार्य विषय है, इस पारिवारिक नैतिकता का क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या आप स बात से सहमत नहीं हैं कि मुक्त प्रेम अधिकतर मुक्त बलात्कार का रूप ले बैठता है और यही आज की अधिकतम रचनाओं में देखा जा रहा है?

प्रेम मुक्त ही हो सकता है

—प्रेम मुक्त ही हो सकता है। जो मुक्त न हो, ऐसे प्रेम की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। इसलिए मुक्त प्रेम के समर्थन की बात में मैं कुछ अर्थ ही नहीं देख

पाता हूँ। प्रश्न है कि हम प्रेम का समर्थन करते हैं या नहीं करते। मैं ईश्वर को सक्रिय रूप में देखना चाहता हूँ तो प्रेम ही वह रूप रह जाता है। उसको अमुक्त करना सम्भव नहीं है। यों तो लोग हैं, जो ईश्वर में मुक्ति नहीं खोजते हैं, बल्कि उसको ही अपने बन्धन में लेते हैं। प्रेम के साथ मुक्त से अतिरिक्त और व्यवहार करना भी मानो वैसी ही मूर्खता करना है। हम लाख चाहें, प्रेम बन्धन में नहीं बँध सकता। बल्कि वही है, जिसमें आदमी अपनी मुक्ति पायेगा।

संयत अहं हो

अब प्रश्न पारिवारिक, सामाजिक और संयत प्रेम का आता है। मैं मानता हूँ कि जिसके सचमुच संयत होने की आवश्यकता है, वह प्रेम नहीं अहम् है। हम भूल से मानते हैं कि प्रेम संयत हुआ है। सच यह कि ऐसे संयमन अहं का ही हुआ करता है और वह सदा वाञ्छनीय है।

संयम की अतिवादिता

संयम की यह अमर्यादा है कि वह प्रेम को अपने अधीन ले। लाखों-लाख बार हम देख चुके हैं कि संयम अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करके जब प्रेम को अपनी अधीनता में डालना चाहता है, तो स्वयं ही टूटता है, प्रेम का कुछ बिगाड़ नहीं पाता। इस संयम की अतिवादिता और अहंता ने समाज और जीवन का बड़ा नुकसान किया है। बड़ी जटिलताएँ और कुंठाएँ पैदा कर दी हैं और यह भ्रम पैदा कर दिया है कि प्रेम नाश करता है, संयम रक्षा करता है। असल में संयम यदि रक्षा करता जान पड़ता है, तो इसीलिए कि वह प्रेम के अधीन हो पाता है। जहाँ इससे उलटा होता है, वहाँ संयम जलाने लग जाता है और दुनिया में मानो प्रलय मचा देता है। मूल्य-विपर्यय ठीक इसी जगह घटित होता है और मनुष्य अपने नियम को प्रेम के ईश्वरीय नियम से ऊपर महत्त्व देने लग जाता है। आक्रान्ता पैदा होता है, जो अपने दण्ड से दुनिया का शासन करना शुभ मानता है और स्वयं को प्रेम के शासन से मुक्त मानता है!

प्रेम और नैतिकता की टकराहट

पारिवारिक नैतिकता बहुत आवश्यक चीज है, किन्तु उसकी रक्षा प्रेम की रक्षा के साथ ही हो सकती है। आज वह नैतिकता टूटती-सी इसीलिए जान पड़ती है कि उसने विग्रह अपना प्रेम से माना और ठाना है, असत्य से नहीं। असत्य से नैतिकता को लड़ना है, जिससे कि प्रेम को वह उत्तरोत्तर अपना सके। जब हम

स्वयं प्रेम से नैतिकता की धारणा को टकरा रहते हैं, तो फल में असत्यता निकलती है और उसमें नाना ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं। यह मिथ्या का ही चमत्कार है कि वह शत्रु के रूप में प्रेम को समक्ष कर देता है और स्वयं इस तरह अपने लिए ओट बना लेता हैं।

प्रेम बलात्कार नहीं बन सकता

नहीं, मुक्त प्रेम मुक्त बलात्कार का रूप नहीं लेता और नहीं ले सकता। वैसा बलात्कार पशु तक में तो सम्भव नहीं है। फिर मनुष्य-समाज में दीखता है तो यह इसलिए नहीं कि वह पशु के समान मुक्त बन जाता है, बल्कि इसलिए कि नाना बन्धनों की सृष्टि करके वह सहज काम को तीव्र वासना में परिणत कर लेता है। निश्चय मानिये कि बलात्कारी मुक्त प्रेमी नहीं है। वह नाना कुण्ठाओं से अवरुद्ध प्राणी हुआ करता है।

प्रेम का प्राथमिक स्वीकार

अधमाचारी के मनमाने वर्तन को हम मुक्त मानते हैं, तो यही बड़ी भूल करते हैं। इसी उथले दर्शन की बहक के कारण नाना प्रकार के विघ्न, विरोध और दण्ड पैदा करके इसका उपचार किया चाहते हैं। इस उपचार की चेष्टा आदिकाल से होती आयी है, पर वह विफल भी होती गयी है और विफलता के कारणों की खोज में से हमारी उपचार-विधि में उत्तरोत्तर विकास सम्पन्न होता गया है। आज यह प्रतीति तर्कहीन और विपरीत नहीं मालूम होगी कि दमन प्रेम का नहीं होना है, बल्कि स्वयं दमन के विश्वास का ही शमन होना है। अर्थात् प्रेम के प्राथमिक स्वीकार के आधार पर ही हमको अपने समाज-नियमन की धारणा को खड़ा करना है। आगे सभ्यता का काम उसी तरह उत्कर्ष की ओर उठ सकेगा। अन्यथा बर्बर पद्धतियाँ अपने को ही कृतकार्य करने के यत्न में रहतीं और समस्या के सम्बन्ध में सच्चे दर्शन को उदय में आने से रोकती हैं।

आधुनिकता और नैतिकता का विरोध

साहित्यिक रचनाओं में यदि प्रेम की अनिवार्यता का निदर्शन और समर्थन हो और समाज-नियमन और समाज-दण्डन का उतना समर्थन न दिखायी दे, तो केवल उस कारण उन रचनाओं को हीन और बहिष्करणीय नहीं मानना होगा। कुछ वैसा विरोध आधुनिकता और नैतिकता के बीच देखने में आता है। इस दृष्टि से हमारी नीति-मान्यता में कुछ संशोधन की आवश्यकता हो सकती है। मुख्य बात यह

पहचान लेना है कि जीवन-प्रेरणा के स्रोतमूल का नाम प्रेम है और उसके प्रति स्वागत और समर्पण का भाव ही इष्ट है। संयम उसको रोकेगा तो स्वयं उल्लंघित होगा। संयम का काम यह है कि भगीरथ ने जैसे भागीरथी का सत्कार और पुरस्कार किया, अर्थात् तट देकर उसे आगे बढ़ाया, वैसे ही संयम भगीरथ बनकर प्रेम को धारण करे और अपनी कुशलता से उसे तट देकर आगे की ओर प्रवाह में उसे वेग दे। तट देने और बनाने में जिसके साथ जूझना और लड़ना अनिवार्य होता है, वह तो ठोस धरती है, अर्थात् वह व्यक्ति और समाज का जड़ और ठोस पड़ गया हुआ अहंभाव है। संयम-चेष्टा उसके प्रति करनी होगी, प्रेम-चेतना के प्रति नहीं। मन का विज्ञान, जीवन-प्राण का विज्ञान, समाज और अर्थ का विज्ञान अधिकाधिक इसी दर्शन की सत्यता दरसाये बिना नहीं रहनेवाला है। कुछ-कुछ यह काम आधुनिक समझा जानेवाला साहित्य भी कर रहा है। यहाँ उन रचनाओं को विचार से दूर कर देना चाहिए, जिनमें आदर्शशीलता और दायित्वशीलता का स्पर्श नहीं है। वे आधुनिकता को लाञ्छित करती हैं, उसका प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। पर ऐसा आधुनिक जो रूढ़ और गतानुगतिक को ही शिरोधार्य नहीं कर सकता है, जो सनातन-शाश्वत और सत्य के प्रति इतना लगनशील और इसलिए वर्तमान की जड़ितता के प्रति कुछ कठोर भी है, उसके स्वागत और अभिनन्दन के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। वह निर्वीर्य और निस्तेज है जो वर्तमानता का अनुरंजन करके उसे आत्मतुष्ट होने देता है, उसमें आवश्यक आत्मालोचन नहीं जगाता। नैतिकता के नाम पर निस्तेज का सत्कार और तेजवान् का तिरस्कार हो चलता है, तो यह स्वयं नीति के पक्ष में घाटे की बात होगी। स्थिति और गति में साहित्य को चुनना ही पड़े, तो उसे गति के साथ रहना होगा। सच यह कि स्थिति का प्रतिनिधि यदि धन है, तो साहित्य गति का प्रतिनिधि है। वह विचार के साथ है, जिसे कर्म से सदा ही आगे रहकर चलना होता है।

साहित्य-प्रयोजन

३०९. साहित्य का क्या लक्ष्य, प्रयोजन अथवा धर्म आप मानते हैं? हमारा आज का भारतीय साहित्य कितनी दूर तक आपके मान्य लक्ष्य, प्रयोजन अथवा धर्म के अनुकूल चल रहा है और कितनी दूर तक वह जन-मन का प्रतिनिधित्व कर पाया है?

—जन-मन एक अमूर्त संज्ञा है। उसके प्रतिनिधित्व की बात सोचने की आवश्यकता नहीं है। औसत जन कहीं रहता ही नहीं। सदा एक-एक जन के रूप में व्यक्ति मिलता और मानो वही जनता के प्रतिनिधित्व का काम निभा देता है।

प्रयोजन और लक्ष्य को अपने निकट स्थिर करके साहित्य को चलना नहीं है। ऐसा हुआ तो वह प्रयोजन आत्मीय और अन्तर्भूत नहीं रह जायगा, लक्ष्य बाह्य और वस्तुपरक हो जायगा। समस्त राजकारण और कर्मकारण बाह्य और उपादानप्रधान है। साहित्य भी वैसा बना, तो उसका प्रयोजन ही इसमें खण्डित होगा। हम अगर जीते चले जाते हैं, अगर मरते और फिर-फिर जीते हैं, तो यह इसलिए नहीं कि उसका प्रयोजन हमारी मुट्ठी में रहता है। वैसा होता, तो हम निर्णय कर सकते थे कि कभी मरेंगे ही नहीं। पर वह निर्णय हमारे हाथ में नहीं है। अर्थात् जीवन का प्रयोजन स्वयं मृत्यु द्वारा भी पूरा होता रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि जैसे स्व का प्रयोजन स्व के पास नहीं रहता और शायद उसकी कृतकृत्यता का रूप स्वयं का स्वार्पण होता है, वैसे ही साहित्य के प्रयोजन को सर्वांगपूर्ण स्वार्पण के रूप में ही मानना चाहिए।

आत्माभिव्यक्ति, आत्मोपलब्धि ही प्रयोजन

कुछ अवश्य ऐसे लोग भारत में और भारत के बाहर भी हैं जो तितिक्षा में, जिज्ञासा में, जिजीविषा में लिखते हैं। आत्माभिव्यक्ति, आत्मोपलब्धि से अतिरिक्त दूसरा प्रयोजन लगभग नहीं है। ऐसा साहित्य जाने-अनजाने सत्याभिमुख और इसलिए शिवाभिमुख भी होता है। यह स्वीकार करना होगा कि विश्व की आज की परिस्थितियों में यह आत्म-रमणता कोई बहुत इष्ट कार्य नहीं है, वरन् इसे व्यर्थ कार्य भी माना जाता है। इसलिए अधिकांश दायित्वशील जन समाज के सुधार या उद्धार के कार्य में सीधे प्रवृत्त दिखायी देते हैं। फिर भी छिटफुट लोग हो सकते हैं, जिन्हें इतनी आत्म-गरिमा प्राप्त न हो कि जगत् के सम्बन्ध में वे अविश्वस्त और अपने सम्बन्ध में पूर्ण विश्वस्त बन रहें। वे किंचित् संकोच और पीड़ा के व्यक्ति हो सकते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति नेतृत्व की कामना में से न आये, बल्कि आत्म-व्यथा में से आये। असंभव नहीं है कि वह दूसरे को अपने मर्म के भी निकट जान पड़ें और अनायास सार्वजनीन और सर्वहितकारी हो आये। आत्म यदि सर्वव्यापक है, तो निरीह भाव से आत्मिक होने और किसी भी दूसरे के प्रतिनिधि न होने से भी साहित्य को यथावश्यक गुण मिल जाना चाहिए। शक्ति जहाँ मूल्य हो, वहाँ ऐसे लोग उत्तरोत्तर कम होते जायँगे, फिर भी कभी उनका लोप न होगा और इस भाँति सर्वोदयशील साहित्य हर देश और काल में सृष्ट होता रहेगा।

इस सन्दर्भ में भारत को और देशों से अलग करके देखने जानने की बात अनभीष्ट हो सकती है।

●

चतुर्थ खण्ड

अध्यात्म

१. अन्तरंग
२. इन्द्रिय, मन, अहं
३. चेतना
४. संस्कारिता
५. कामासक्ति, सस्पेन्स, रस
६. इंस्टिक्ट्स
७. भाव, कल्पना, स्वप्न
८. अलौकिक शक्तियाँ
९. अरुचिकर भाव, पाप
१०. मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्म-विपाक
११. सत्य का आग्रह
१२. बुद्धि और श्रद्धा
१३. भाव-विभाव
१४. अहं और आत्मा
१५. कामाचार, ब्रह्माचार
१६. विराट्गत अहं

१

अन्तरंग

द्वन्द्व

३१०. द्वन्द्व आप किसे मानना चाहेंगे ?

—जिसका परिणाम तनाव हो। दो तत्त्व परस्पर इस तरह अनुबद्ध हों कि उनमें विग्रह और अपकर्षण हो, तो द्वन्द्व की अवस्था मानिये।

जगत्-द्वन्द्व : अन्तर्द्वन्द्व

३११. जगत्-द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है या कोई और ?

—मेरी दृष्टि में नितान्त दोपन कहीं सम्भव नहीं है। जगत्-द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व सर्वथा दो नहीं हो सकते। उनके सम्बन्ध को कार्य-कारण सम्बन्ध कह देकर छुट्टी नहीं है। उससे भी अधिक घना सम्बन्ध दोनों में होना चाहिए। एक कार्य और दूसरा कारण हो, यह जरूरी नहीं है। दोनों ही कारण और कार्य हो सकते हैं। उन दो सिरों के बीच सम्बन्ध इकराही नहीं है, दोराही आवागमन है। कहिये कि सीधी रेखा में नहीं, वर्तुलाकार उस सम्बन्ध की गति है।

३१२. तब जो इनमें से एक को कार्य और एक को कारण मानते हैं, वह गलत है ?

—मानने में सम्पूर्ण आता ही नहीं। और अपूर्ण मानने से भी लाभ हो सकता है। भाषा सदा अधूरी होती है। लाभ उससे तब होता है, जब हम मानते हैं कि वह सूचक भर है, स्वयं में सत् या सिद्ध नहीं है।

काशी में गंगा घिरी नहीं है। पर काशी को तीर्थ मानकर हम गंगा-स्नान का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। काशी कहने से मानो तट की सूचना मिलती है, गंगा आयत्त नहीं हो जाती । रामनगर से भी गंगावगाहन हो सकता है।'

वाद और भाषा का सत्य के साथ यही सूचक सम्बन्ध मानना चाहिए।

सृष्टि-द्वन्द्व

३१३. क्या आप इन दोनों द्वन्द्वों से ऊपर किसी विश्व-द्वन्द्व अथवा सृष्टि-द्वन्द्व की भी कल्पना करते हैं ?

—हर पिण्ड में दो क्रिया होती हैं। एक तो अन्तर्गत, दूसरी बहिर्गत। धरती अपनी धुरी पर घूमती है, उसे 'रोटेशन' कहते हैं। सूरज के चारों ओर घूमती है वह 'रिवोलुशन' है। इन दोनों गतियों से शून्य कोई पिण्ड नहीं।

विश्व और सृष्टि को हम कल्पना में भी ले नहीं पाते। अर्थात् उनकी परिधि का हमें पता नहीं है। केन्द्र अवश्य प्रस्तुत है और वह प्रत्येक में अन्तर्भूत 'मैं' है। ऐसे अनन्त केन्द्र होने से भी सृष्टि और विश्व के वर्तन में कोई बाधा नहीं होती। ब्रह्माण्ड अचित्-पिण्ड होता, तो यह अनन्त केन्द्रितता सम्भव न बन पाती। इसीलिए समष्टिरूप ब्रह्माण्ड को चिन्मय मानना होता है।

प्रत्येक द्वन्द्व समष्टिगत और विश्वगत नहीं है, उसका ही अनुभवन नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है?

अहं केन्द्र

३१४. अहं को द्वन्द्व का केन्द्र मानकर क्या आपने सृष्टि के केन्द्र ईश्वर की उपेक्षा नहीं की?

—ईश्वर को केन्द्र मानेंगे, तो शेष परिधि तक व्याप्त और क्या तत्त्व माना जायगा? इससे बुद्धि अहं को केन्द्र ठहराकर ही आगे चल पाती है।

अहं क्रास-प्वाइण्ट

३१५. अहं क्या है और इसका ईश्वर और आत्मा से क्या सम्बन्ध है?

—लगता है कि अहं एक क्रास-प्वाइण्ट है। काल आकाश जहाँ मिलते और काटते हैं, वह बिन्दु मानो अहं है। मानो वहाँ सम्बन्ध-सूत्रों के लिए गुंथन और स्व-चेतना प्राप्त करने का अवकाश हो जाता है। एक धारणा है, जिसे 'कण्टीन्युअम' कहते हैं, उसे काल का बोधक कहिये। आकाश को हम जानते ही हैं। यह दो तत्त्व सर्वव्याप्त हैं। इसलिए हर बिन्दु पर वे मिलते और कटते हैं। ऐसे असंख्य अहं-बिन्दु प्राप्त हो जाते हैं। उस बिन्दु का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड से क्या हो सकता है, सिवा अनिवार्य आकर्षण और अपकर्षण के।

अहं की असंख्यकता

३१६. अहं की यह असंख्यकता एक ईश्वर से कैसे निकली?

—छुटपन में मुझे एक चीज का बड़ा शौक था। उसे 'बुढ़िया का काता' कहते थे। उसमें चीनी के बाल से भी बारीक रेशे हुआ करते थे। एक पैसे में खासा बड़ा गुच्छा आ जाता था। मैं दंग रहता था कि इतना बारीक तार कौन बुढ़िया कैसे कातती

है। एक रोज बुढ़िया का काता स्वयं बनाकर तभी तैयार माल बेचनेवाला गली में आ गया। एक पात्र में गरमागरम चाशनी रहती थी, ऊपर से तेज़ हवा बहाई जाती थी। चाशनी से उठती हुई भाप पात्र के किनारों से बाहर फूटकर जमती जाती और 'काता' तैयार होता जाता। अहं के बिन्दुओं की परस्परता के असंख्य सूत्रों के सम्बन्ध में ऐसा ही कुछ होता होगा। सचमुच राम जाने क्या होता है। मुझसे तो जाना नहीं जाता, न वहाँ किसी तरह पहुँचा जाता है।

अन्तरंग

३१७. इन असंख्य-अहं बिन्दुओं में से एक को लें। अन्तरंग आप किसे मानेंगे? मन को, हृदय को, बुद्धि को या आत्मा को?

—हम शरीर से अगर अठारह इञ्च मोटे हैं, तो नौ इञ्च गहराई हुई। उस नौ इञ्च तक अन्तरंगता के असंख्य स्तर समा सकते हैं। मन, बुद्धि, आत्मा आदि की बात छोड़िये, स्वयं रक्त अन्तरंग है। बाहर चमड़ी पर आकर जरा दीख जाय, तो चिन्ता का कारण हो जाता है। यह जो बाहर त्वचा दीखती है, वैज्ञानिक इसीमें कई तहें बताते हैं। ऊपर शरीर पर रहनेवाली रोमावली चर्म की कई तहें फोड़कर उसके जड़ में से आती है।

अर्थात् अन्तरंगता की थाह नहीं। भाषा अनेकानेक शब्द सृष्ट करती जायगी, फिर भी थाह शेष बच जायगी। मुझे तो जान पड़ता है कि अन्तरतम में पहुँच पायें, तो वहाँ के लिए परमात्म के सिवा और कोई संज्ञा नहीं बच जाती। अहं एक है, उसके भी मर्म-मूल में शायद हैं सब। अखिल में से ही यदि अहं-बिन्दु बन उठा है, तो उसकी यथार्थता और सत्यता में उतरते-उतरते क्या हमें उस निखिल में ही पहुँच जाना नहीं मिलेगा? अर्थात् परम अन्तरंग परमेश्वर ही है। भाषा के शेष सब शब्द बीच पड़ाव के हैं। उस यात्रा में उन्हें आपस में कुछ आगे-पीछे भी कहा जा सकता है। अभ्यासियों ने ऐसा बहुत-सा अनुक्रम बनाकर दिया है। अन्तर्मन, बहिर्मन, अवचेतन, उपचेतन, चेतन आदि-आदि। अध्यात्म-विद्या, मनोविज्ञान, योग-साधन इत्यादि अभ्यासों में से उस क्रम की लड़ी को देखा जा सकता है। लेकिन वहाँ शब्द-पर-शब्द और पेंच-पर-पेंच मिलेंगे और मैं उन ज्ञान की गलियों में उतरने की आपको सलाह नहीं दूँगा। मुझे तो वहाँ का कुछ पता है नहीं। न चिन्ता है। जितने शब्द आपने कहे, उनमें, काम चलाऊ तारतम्य अपनी बुद्धि के अनुसार मान लीजिये और किसी भाषा में न घिरिये। ऐसे ही अधिक लाभ होने की सम्भावना है। भाषा सहारे से अधिक हो नहीं सकती। अधिक बनाना मानो यात्रा में रुककर शब्द पर टिक रहना है। यात्री के लिए वह हितकर नहीं है।

अन्तरंग-क्रम

३१८. कामचलाऊ क्रम की बात आपने कही। वह क्रम क्या कुछ इस प्रकार हो सकता है—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, आत्मा ?

—क्यों नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है। उस क्रम में सन्तोष की बात मेरे लिए यह कि आत्मा को आपने अन्त में रखा है। सचमुच वह वह है जिसे आसानी से इनकार और असिद्ध किया जा सकता है। उतनी ही आसानी से जितनी कि परमात्मा को न मानने में होती है। परमात्मा और आत्मा में एकता तो स्पष्ट ही है। अन्तर केवल परम का ही है। इसलिए अहं के मूलातिमूल में आत्मा को मानें तो यह उचित ही है। कारण तब जीवात्म अनायास परमात्म के साथ समरस हो जाता है।

परम अन्तरंग

३१९. ऊपर आपने परम अन्तरंग को परमेश्वर बताया था। तब क्या उस परम अन्तरंग में आत्मा को आपने अन्तर्भूत स्वीकार किया है ?

—अन्तर्भूत शब्द बहिर्भूत को आवश्यक बनाता है। यदि वह है जो अन्दर है तो वह भी है जो बाहर है। परमेश्वर को ऐसा अन्तर्भूत मानिये कि बहिर्भूत उससे बाहर नहीं रहता, बल्कि तत्सम और तन्मुख होता है।

३२०. जो लोग आत्मा और परमात्मा को अस्वीकार करते हैं, उनकी दृष्टि से ऊपर के निश्चित क्रम में से क्या आत्मा को निकाल देना आपको रुचिकर होगा ?

आत्मा अमान्य हो तो !

—मुझे उससे बिलकुल डर न होगा। आत्मा अन्त में वह है, जिसका यात्रा से सम्बन्ध नहीं है। वहाँ तो यात्रा पूरी होती है। मुझे दिलचस्पी यात्रा में है, जीवन का वहीं तक सम्बन्ध है। अन्तिम कैवल्यावस्था के बारे में कुछ कहने-जानने की आवश्यकता ही क्या है ? आत्मा शब्द के अभाव या तिरोभाव से यात्रा में तो कुछ क्षति नहीं होती। मुख्य वस्तु वह सफर है। इसलिए शब्दात्मक सारा अध्यात्म लुप्त हो जाय, तो भी जीवन में कोई क्षति नहीं आनी चाहिए। शब्दगत होकर अध्यात्म हमारी शक्ति का व्यय ही करता है, अधिक लाभ नहीं करता। उन शब्दों में जो सत्‌तत्त्व को निबद्ध और कीलित मान लिया जाता है, तो खतरा पैदा होता है। खतरा यह कि उन शब्दों को लेकर दुकानें खुल जाती हैं। स्वार्थ बनते और उनपर छावनियाँ खड़ी हो जाती हैं। खतम किसीको किसी दल को करना है, जरूरी हो जाता है उसके लिए ईश्वर को ही खतम करने में लगना। धर्म, संस्था-

सम्प्रदाय में बँध जाता है, तो नये संस्था-सम्प्रदायों को उठकर पुरानों को तोड़ने में लगना पड़ता है। इसलिए अगर आत्मा शब्द विचार में से अलग हटता हो, तो मुझे घबराहट नहीं होगी।

एक अखंड में श्रद्धा

एक खतरे से अवश्य हमें बचना चाहिए। एक अद्वितीय-अखण्ड को श्रद्धा में लेकर तदधीन विचार को चलाने से हम एकदम अहिंसा के धर्म को पा जाते हैं। परस्परता के क्षेत्र में उस अहिंसा को हम परम-धर्म के रूप में स्वीकार कर लें, तो आगे सृष्टि-विचार, समाज-विचार, नीति-विचार आदि सबके लिए एक प्रकाश और निर्देश प्राप्त हो जाता है। उसको किसी भी पद्धति से यदि हम अनिवार्य स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर आत्मा-परमात्मा आदि शब्दों से मिलनेवाली छुट्टी से नुकसान नहीं होता। पर कठिनाई यह है कि अहिंसा को अन्यथा हम उचित और उपादेय तो मान पाते हैं, परम-मूल्य मानने को बाध्य नहीं होते। आस्तिकता में से अहिंसा हमें मूल्य के रूप में प्राप्त होती है। आस्तिक्य का यही परम लाभ है। उस लाभ को रखकर फिर भाषा में से परमात्मा का निस्सरण हो जाय, तो कोई वास्तविक हानि नहीं है।

अध्यात्म और अहिंसा

३२१. जिस अध्यात्म विषय पर हम बातें करने जा रहे हैं, उसमें अहिंसा का क्या महत्त्व है?

—अहिंसा संगत और सम्भव स्व-पर बोध तक ही है। जब तक अहं है, तब तक अहिंसा है। 'स्व' रहे तो 'पर' रहता ही है। पर को उसी तरह होने का हक है जैसे स्व को, अहिंसा की मूल मान्यता यह है। आगे पर में स्व के स्वकीय और आत्मीय भाव का विस्तार होता और उसमें उत्तरोत्तर अहं की और परस्परता की सिद्धि होती है। यह सब अहिंसा को परमधर्म मान लेने से अनायास प्राप्त होता जाता है।

अहिंसा के स्वीकार से अध्यात्म स्व-रत्यात्मक व्यसन नहीं बन सकता। अध्यात्म की दिशा में यही उसका बड़ा लाभ है।

२

इन्द्रिय, मन, अहं

इन्द्रियाँ

३२२. मानव-व्यक्तित्व के सबसे ऊपरी स्तर इन्द्रियों का उसके अन्तस् के निर्माण में क्या योग आप मानते हैं ?

—इन्द्रियाँ बाहर की ओर खुलने के द्वार हैं। बिलकुल अनिवार्य है कि अन्तस् का प्रतिक्षण बाहर से योगायोग सधा रहे। वह अन्तस् जो इन्द्रिय-व्यापार के सम्बन्ध में अविश्वासी होता है, अपने को शेष से काट लेता और इस तरह अपना भावार्थ खोकर मानो सूखने लगता है। इन्द्रियों के सिवा कोई और अन्य मार्ग व्यक्ति को प्राप्त नहीं है, जिसके द्वारा उसकी शेष के साथ सम्बद्धता हरी-भरी और उपयोगी बनी रहे। आत्मा के नाम पर अन्तरंग को जब हम इन्द्रियों का अविश्वासी बनने देते हैं, तो यह विरोध न आत्मा को पुष्ट करता है, न इन्द्रियों को पुष्ट होने देता है। इस पद्धति को इसलिए आत्मविघातक ही कहना पड़ता है। व्यक्तित्व-संचय इस राह नहीं होता। बल्कि व्यक्तित्व-विघटन हो सकता है।

शेष को वस्तुता और विविधता देनेवाली

इन्द्रियाँ आखिर करती क्या हैं। बाहर को वे नाना प्रकार से अन्दर पहुँचाती हैं। प्रत्येक बाह्येन्द्रिय के पीछे प्राण-तन्तु रहते हैं, जो उस बोध को मस्तिष्क तक पहुँचाकर मानो ज्ञान-संज्ञा देते हैं। हम जब कहते हैं वह है, सुन्दर है, मीठा है, वह सुगन्धित है, हलका या भारी है, इत्यादि तो यह सब कहना एक प्रकार से अमुक के प्रति अपने प्रसन्न सम्बन्ध को ही संज्ञा देना है। ऐसे चीजें हमारे लिए होने लगती और साकारता सगुणता प्राप्त करती है। शेष को यह वस्तुता और विविधता प्रदान करनेवाली इन्द्रियाँ ही हैं। मानो इन्द्रियों के कारण जगत् सिर्फ हमारे लिए होता ही नहीं है, बल्कि सार्थक और स्वरूपवान् भी होता है। यह सब जिनके द्वारा सम्भव बनता है, उन इन्द्रियों के साधन से अपने को हीन करके कोई प्राण-चेतना, आत्म-चेतना या बुद्धि-चेतना अपने को सम्पन्न नहीं कर सकती।

सच यह कि जब इस प्रकार की रंचमात्र विमुखता पैदा होती है, तो इन्द्रियाँ स्वच्छन्द होने लगती हैं, वे आत्म की ओर पीठ करके मानो वस्तु की ओर लपकने लग जाती हैं। तब उन इन्द्रियों को यह बोध देनेवाला कोई रह नहीं जाता कि वस्तु को वास्तवता देनेवाली वे स्वयं हैं, अन्यथा उन वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं है। अयुक्त और आसक्त बनी वे इन्द्रियाँ फिर वस्तुओं को स्वतन्त्र महत्त्व देने लग जाती और स्वयं में भरमाने लग जाती हैं। इस प्रकार का मिला हुआ वस्तु-बोध मानो हमारे भीतर टिकता ही नहीं है, वहीं किसी दबे कोने से ध्वनि आती रहती है कि यह प्रपंच है, व्यर्थ है, मिथ्या है, यह नहीं है। अन्तर-विवेक मानो इन्द्रियों को चेतावनी देता रहता है कि जिधर तुम्हारी चाह है, वह असत् है, असल नहीं है। जो सत् और असल है, वह मुड़कर देखो कि यह तुम्हारे पीछे है। विवेक और व्यसन का द्वन्द्व इसी जगह उत्पन्न होता है।

इन्द्रिय-व्यापार के दो सिरे

इन्द्रिय-व्यापार का एक सिरा स्पर्श, रस, गन्ध आदि के द्वारा वस्तु को छूता और दूसरा ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा चित्तत्त्व को छूता है। उन दोनों तत्त्वों में यदि विमुखता पड़े तो वैसा ही, जैसे छड़ी कि जिसका ऊपर का सिरा आपके हाथ से चिपका रहना चाहता है और नीचे का सिरा धरती को छोड़ना नहीं चाहता। तो ऐसी छड़ी आपकी गति में बाधा होगी। वह आपको परेशान कर डालेगी। अन्तर्द्वन्द्व यों व्यक्ति ने आरम्भ से ही प्राप्त किया है। पशु दूसरे को देखता तो उसमें शिकार ही देखता है। इसी दर्शन पर उसकी पशुता सिद्ध बनी बनती है। आत्म-दर्शन की उसके लिए आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य को ही पहले-पहल प्राप्त हुआ कि वह अपने होने को जाने और अनुभव करे। वहीं से उसमें द्वन्द्व का आरम्भ हुआ और इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने की बात धीरे-धीरे उदय में आयी। इन्द्रियों का मुख अन्दर की ओर बना ही नहीं है, स्वभावतः वह बाहर की ओर है। पर मुख है, इसीमें गर्भित है कि वह बाहर को अन्दर से जोड़नेवाला द्वार है। वैसा न हो, तो उसका अर्थ ही समाप्त हो जाता है।

एकता और विविधता के बीच सक्रिय

इन्द्रियों का योग और उपयोग तब है कि जब बाहर पदार्थता और विविधता पैदा करके उस विविधता को वे अन्दर पहुँचायें, तो वहाँ से फिर उन्हीं इन्द्रियों द्वारा आत्मता और एकता के भाव को बाहर लायें। एक और अनेक को इस तरह संयुक्त रखनेवाली इन्द्रियाँ ही हैं, बाहर को अनेकता देती हैं, भीतर से एकता लेती हैं;

इस तरह इन्द्रियाँ आत्म और जगत् को परस्परता में साधे रखती हैं। इन्द्रियाँ वे स्वस्थ और सक्षम हैं, जो इस एकता और विविधता के बीच की सम्बद्धता को स्निग्ध और स्वच्छ बनाये रखती हैं। जहाँ यह नहीं हो पाता, मानना चाहिए कि वहाँ योगभ्रष्टता और स्खलन है।

वस्तु-जगत् का मिथ्यात्व

३२३. एक ओर तो आप इन्द्रियों के विषयों से अन्तस् को सम्पन्न बनाने की बात करते हैं और दूसरी ओर आपने वस्तु-जगत् को प्रपंच और मिथ्या भी कहा है। क्या इन दोनों उक्तियों में अन्तर्विरोध नहीं ?

—विषय विषयी से अलग महत्त्व पाते ही प्रपंचमात्र रह जाता है। आशय कि वस्तु-जगत् आत्म-जगत् के बिना हो नहीं सकता। आत्म-जगत् यदि प्रकाशित और अहं-मुक्त होकर आत्म-सिद्ध बने, तो इन्द्रिय-व्यापार साधना-पथ के रूप में प्रस्तुत होते और वस्तुता को सारता दे देते हैं। ऐसा जब नहीं होता, तब वस्तु-विषय ही मानो आत्म-ध्यान से उलटा पड़ जाता है। इस असम्बद्धता और विमुखता के होने पर मानो दोनों अधूरे और झूठे पड़ जाते हैं। इधर व्यक्ति ह्रस्व और तुच्छ बनता है, उधर संसार जटिल और क्लिष्ट पड़ता है। वस्तु में प्रपंचता या तथ्यता स्वयं में नहीं है। आत्म के प्रति उसके समीचीन और संवादी सम्बन्ध के तारतम्य से ही सत्-असत् का वहाँ प्रवेश होता है।

३२४. एक शंका फिर भी रह जाती है कि मानव-अन्तःकरण का रुख कुछ भी क्यों न हो, वस्तु-जगत् के अस्तित्व को अस्वीकार करना क्या एक सत्य को अस्वीकार करना नहीं है ? आत्मा कितनी भी निरपेक्ष क्यों न रहे, जब तक वह सशरीर है, वस्तु-जगत् की क्रिया-प्रतिक्रिया उसको छुए बिना कैसे रह सकती है ?

वस्तु-आत्म परस्पर सापेक्ष

—वस्तु-जगत् जैसा कुछ है, ऐसा हमें कौन बताता है ? यह ईंट का जो टुकड़ा पड़ा है, क्या इसे मालूम है कि दुनिया है ? नहीं, यह इसे मालूम नहीं है। मालूम इसलिए नहीं है कि उसे यही नहीं पता है कि वह खुद भी है। यानी वस्तु-जगत् का होना स्वयं होने के बोध से पहले नहीं हो सकता। होने का बोध अर्थात् 'मैं हूँ' का बोध। मैं हूँ के साथ ही यह पता लगता है कि वह है। वह अर्थात् वस्तु-जगत्। मैं अर्थात् आत्म-जगत्। दोनों हैं तो एक साथ हैं, अन्यथा दोनों नहीं हैं।

हाँ, दोनों के बीच की तारतम्यता नष्ट नहीं हो सकती। यह उक्ति कि संसार माया है, संसार के होने का स्वीकार ही है। माया, प्रपंच, खटराग आदि कहकर केवल

हम इतना जता पाते हैं कि हमारा उससे मेल नहीं है, उसको असत् नहीं सिद्ध कर पाते।

शंकराचार्य की कहानी है। एक हाथी उनकी तरफ दौड़ा। बचने के लिए वे भी भागे। देखनेवाले ने कहा: आचार्य, हाथी मिथ्या है, आक्रमण मिथ्या है, भागते क्यों हो? शंकर ने कहा: मेरा भागना भी मिथ्या है, भाई! आशय, शंकर का होना सच है तो हाथी का होना अपने आप सच बनता है। आत्म और वस्तु दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

मुक्ति-विभक्ति

यह आपका कहना बिलकुल सच है कि दोनों की सम्बद्धता का विच्छेद मुक्ति नहीं है, विभक्ति है। मुक्ति प्रेम में से ही सम्भव है, वह जो विभक्ति और वियुक्ति में भी भक्ति और सम्प्राप्ति का अनुभव पा सकता है। यह सम्बद्धता उत्तरोत्तर सघनता में से सम्भव है। एकता विभक्तता का फल नहीं हो सकती।

३२५. एक पागल है जिसे अपने शरीर का, अपने अहं का बोध नहीं और जो शायद शेष वस्तु-जगत् को भी संगत रूप में देख और पहचान नहीं सकता। उसके अस्तित्व को आप स्वीकार करेंगे या अस्वीकार?

पागल में तटस्थता का अभाव

—पागल में अहं का बोध अगर नहीं होता, तो सिर्फ इसलिए कि वह सर्वथा अहम्मन्य और अहंग्रस्त होता है। यह तक जानने के लिए 'मैं हूँ' इसकी कुछ आवश्यकता होती है जो मैं से तटस्थ हो। पागल में वह तटस्थता ही नष्ट हो चुकी होती है। मैं वहाँ समाप्त नहीं उत्तप्त होता है। सच पूछिये तो पागलपन मैं का ही रोग है। मैं में मात्रा से बाहर शोथ और स्फीति आने का फल ही विक्षिप्तता है। मैं की वहाँ लिप्तता ही है, उत्तीर्णता मानना भ्रम पोसना है। इसीसे उपचार के लिए उस व्याधिग्रस्त मैं को तरह-तरह से स्वस्थ और शान्त करने की आवश्यकता होती है।

उदर इन्द्रिय क्यों नहीं?

३२६. इन्द्रियाँ पाँच मानी गयी हैं और उनकी वासनाओं को उनकी भूख कहा गया है अभी मेरे मन में यह शंका उठी कि उदर को एक अलग इन्द्रिय क्यों नहीं माना गया और उसकी भूख का जो अन्तस् पर सीधा और क्रान्तिकारी प्रभाव होता है, उसकी स्वीकारता हमारे अध्यात्मवादियों ने क्यों नहीं की?

—संख्या पर कुछ स्थगित न मानिये। मन को छठी इन्द्रिय कहा जाता है। उपस्थ की गणना इन्द्रियों में है नहीं। उन पाँच के साथ पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी ले लें, तो भी दस की संख्या को सूचक ही मानना चाहिए, पूर्णांक नहीं। सच यह कि सम्पूर्णता कभी संख्या में नहीं समाती।

मात्र नैसर्गिक क्रिया इन्द्रिय नहीं

उदर और रसना का बहुत सम्बन्ध है। रसना में क्यों न मान लीजिये कि उदर का समावेश हो जाता है। सच भी है कि भूख का सम्बन्ध पेट से हो, लेकिन पेट की भूख में से उतनी जटिलताएँ नहीं निकलती हैं, जितनी वासना की क्लिष्टताएँ रसना के स्वाद में से बन आती हैं। सीधे भूख और भोग को मानव-विचार में ज्यों-का-त्यों लेना अर्थकर नहीं है, वह तो जैविक और प्राणिक विचार के अन्तर्गत आ सकता है। जीवमात्र में भूख और भोग मिलेगा, मनुष्य वहाँ सम-समान है। भूख और भोग के साथ और जो नाना प्रकार की वासनाओं की लपेटें लग जाती हैं, वह मानव को शेष जीव-जन्तु से अलग करती हैं। इसलिए मानवेन्द्रियों में जिनकी गणना की जाय, उनका सम्बन्ध किंचित् मानवत्व-बोध से भी होना चाहिए। नैसर्गिक क्रियाओं से ही जिनका सम्बन्ध है, ऐसे अंगोपांगों को इन्द्रियों में गिनाने की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। लेकिन अन्त में यह याद रखना चाहिए कि संख्या और गणना सूचकमात्र होती है, अधिक नहीं।

मूल द्वन्द्व सर्वव्याप्त

३२७. अन्तर में द्वन्द्व का सृजन कौन करता है? अपने-अपने विषयों का रस मन तक पहुँचानेवाली इन्द्रियाँ अथवा उनके बिना भी स्वयं मन?

—मन को मध्यवर्ती मानना चाहिए। हम कह पाते हैं मेरा मन, तुम्हारा मन। इसका आशय कि मन से गहरे में कुछ वह है, जो अपने को मैं कहता है।

मूल द्वन्द्व 'मैं' और 'सब' में है—उसीको कहिये अहं का और अखिल का द्वन्द्व। भगवान् समष्टि में सर्व-व्याप्त है—वह सागर है, मैं बूँद हूँ। यही मूल द्वन्द्व है। हमसे बाहर जितना जो है, वह अपने आप में पर है। अब भगवान् वह जो पर में है, स्व में भी है। अहं वह जो स्व में ही है, पर में एकदम नहीं है।

बुद्धि-चेतना, भगवत्-चेतना

स्पष्ट हुआ कि व्यक्तित्व में ही दोनों सत्ताएँ हैं। मनोविज्ञान चेतन, अवचेतन, अचेतन आदि स्तर मानता है। जिसे सामान्य अर्थ में चेतन कहिये, वह बुद्धि-

चेतना है। शेष सब में भी व्याप्त जो प्रकृत किन्तु सुषुप्त चैतन्य है, उसे मैं भगवत्-चैतन्य कह सकता हूँ। 'मैं' उससे अधिकांश लड़ता रहता है। हारता है, फिर भी लड़ता है। जब 'मैं' भगवत्-चेतना से तद्गत हो जाय, तब समाधान-सा मालूम होता है। समाधान-सा इसलिए कहता हूँ कि अहं के भगवत्-सत्ता में परिपूर्ण निमज्जन को तो मुक्ति और निर्वाण ही कहते हैं। वहाँ तो सब प्रश्नों और द्वन्द्वों का तिरोभाव है। उससे पहले जो समाधान है, वह चिरस्थायी नहीं हो पाता है। किन्तु यह सामान्यतया मान लिया जाय कि अहं जब सचेत नहीं होता, लीन या स्थगित होता है, तो कष्ट की स्थिति कम हो जाती है।

शेष द्वन्द्व मानो इस मूल-द्वन्द्व के ही रूप-प्रतिरूप हैं।

३२८. तब क्या आपकी मान्यता है कि अन्तर-जगत् का इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य-जगत् से जो सम्पर्क होता है, वह अन्तरंग में कोई हलचल या द्वन्द्व पैदा नहीं करता?

—जब मन और इन्द्रियों द्वारा ही अन्तर-बाह्य इन लोकों का सम्बन्ध संभव और अनिवार्य है, तब यह कैसे हो सकता है कि कोई भी अन्तर्द्वन्द्व उससे निरपेक्ष हो?

मूल-द्वन्द्व बाह्य-द्वन्द्व

३२९. बाह्य-जगत् जो द्वन्द्व अन्तर में पैदा करता है, वह मूल द्वन्द्व से भिन्न होता है, अथवा उसका पोषक होता है, अथवा उसका विरोधी?

—मूल द्वन्द्व तो सब जीवन-व्यापार के मूल में भूमिकारूप से अवस्थित ही है। वह बाह्य-द्वन्द्व के रूप में प्रकट भी होता है और उससे प्रभावित भी होता है। दु:ख और क्लेश हमेशा असामंजस्य के परिणाम होते हैं। भगवत्-चेतना में सामंजस्य और स्नेह है। अहं-चेतना के बीच आ पड़ने के कारण ही विसंवादिता शुरू होती और अभेद की जगह विभेद त्रास देने लगता है। सब द्वन्द्व इसी विभेद, विसंवाद और वैषम्य से बनते हैं। इस वैषम्य का द्वार इन्द्रियाँ बनती हैं।

द्वन्द्व अहं-जन्य, अप्रेममूलक

बाह्य-जगत् उतना ही भीतर पहुँचता है जितना इन्द्रियों के द्वारा मन लेना चाहता है। साथ ही उस रंग-रूप में पहुँचता है कि जो मन उसे प्रदान करता है। जिसके प्रति पहले से मन में विरोध हो, वह असुन्दर और असज्जन ही दीखेगा। यानी हम बाहर वह देखते हैं, जो चाहते हैं। इस तरह बाह्य-जगत् की सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। स्व के साथ ही पर में तथ्य पड़ता है। अत: स्व-पर के निमित्त से बने सब द्वन्द्वों की समाप्ति वहाँ ही प्राप्य हो सकती है, जहाँ स्व-पर-भेद पहुँचता नहीं

है। उसीको भगवत्-चेतना का स्तर कहा जाता है। जिसे प्रेम कहते हैं वह मानो उस चित्तप्रवाह का ही रूप है। अहं उसमें विगलित होता है। और इसलिए व्यक्ति परम सुख अनुभव करता है। द्वन्द्व अप्रेममूलक होता है, दूसरे शब्दों में अहं-जन्य होता है।

३३०. मन को कौन प्रेरित करता है कि वह बाह्य-जगत् को एक विशेष रंग में रँगे और इन्द्रियों से विशेष आचरण कराये ?

मन का आरम्भ

—कहिये अन्तर्मन बहिर्मन को प्रेरित करता है। मन के सिवा भी हम उस अन्तराभ्यन्तर के अनेक पटलों को निर्दिष्ट करने के लिए अन्य अनेक संज्ञाएँ बना सकते हैं। लेकिन उससे हमेशा सहायता नहीं होती है। कभी जटिलता बढ़ भी जाती है। इसीलिए कहा कि बाह्य-मन को अन्तर-मन प्रेरित करता है। अन्तर-मन को कौन प्रेरित करता है, यह सवाल हो तो अन्तरतर-मन कह सकते हैं। उसके आगे अन्तरतम भी कह सकते हैं। कहीं बुद्धि और प्रज्ञा शब्दों को मन के पार की सत्ताओं के रूप में दरसाया गया है। उन बहुत-से शब्दों के झमेले से कोई विशेष लाभ हाथ नहीं आता है। द्वन्द्व का मूल जहाँ से है, वहीं से मन का आरम्भ मान लीजिये। द्वन्द्व वहाँ कैसे प्राप्त होता है, इसकी खोज में आखिर मन से पार कहाँ जाया जायगा ?

मन का मूल मूल-द्वन्द्व में

परमात्मा एक है। सब है, पूर्ण है। फिर द्वन्द्वस्थ जीव की सृष्टि कैसे और कहाँ से, अद्वैत में द्वैत कहाँ से ? यह प्रश्न जीवन-प्रश्न है। बुद्धि से उसका अन्त नहीं पाया जा सकता। मैं हूँ, इस आधार पर ही आगे की चर्चा सम्भव है। अपने होने के पार और तल के मूल हेतु में उतरना आनुमानिक से आगे वैज्ञानिक नहीं हो सकता। मन जिस रूप-रंग में बाह्य को लेता है, वैसा क्यों लेता है, मन को कौन शासित और प्रेरित करता है ? तो कहना चाहिए कि मूल द्वन्द्व में से पाकर मन प्रेरणा को इन्द्रियों की ओर भेजता है। इन्द्रियाँ फिर उस प्रेरणा की चालना से बाहर के प्रति उन्मुख होती हैं। जिस रूप में उस बाह्य को फिर मन के द्वारा वे आदि द्वन्द्व में पहुँचाती हैं, उसीसे फिर प्रतिप्रेरणा का आरम्भ होता है। यह क्रिया-प्रतिक्रिया एक क्षण के लिए भी जीव में रुकती नहीं है। प्राण-विद्या और प्राणी विद्या जिन प्रक्रियाओं को जीवन के लिए अनिवार्य मानती हैं, मानो वे सब इसी मूल क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रतीक हैं। श्वास-प्रश्वास, निसर्ग-उत्सर्ग, प्रवहन और

प्रस्वेदन आदि-आदि सब उसीके मूर्त पर्याय हैं। अन्तर-बाह्य उस प्रकार परस्पर को थामता और अनुबद्ध रखता है। इस कहने में विशेष अर्थ नहीं है कि मन को वस्तु-जगत् प्रभावित करता है; कारण वस्तु-जगत् के लिए आत्म-जगत् में परिणत हुए बिना छुट्टी ही कब है। इसलिए यही कहना उचित है कि मन जो प्रेरणा पाता है, अन्तरतर से पाता है। और वह अपनी प्रेरणा अन्तरतम से पाता है।

यहाँ मैं नाना पारिभाषिक शब्दों को बचाना चाहता हूँ। क्योंकि उनसे जटिलता ही बनती है।

मूल-द्वन्द्व का स्वरूप

३३१. मूल द्वन्द्व के स्वरूप को कौन निश्चित करता है, क्या व्यक्तिगत अहं का स्वरूप ?

—हाँ, बहुत हद तक। कारण, अखण्ड भगवत् सत्ता की ओर से तो किसी चाञ्चल्य की अवधारणा ही नहीं हो सकती। अतः उसे अहं की ओर से ही जानना-समझना होगा।

नैतिक-अनैतिक

३३२. नीति और अनीति की चेतना का तब इस अन्तर्द्वन्द्व की उत्पत्ति और उसके लय में क्या योग अथवा सहयोग आप मानते हैं ?

—नैतिक वह सब है, जो भगवदुन्मुख है। अनैतिक अहंमुख होता है। प्रार्थना में अहं घुलता और स्वेच्छा से आर्द्र और विगलित होता है। नैतिकता को इस तरह प्रार्थनामूलक माना जा सकता है।

दम्भ, दर्प में अहं दृप्त और प्रमत्त होता है। इस भाव में से निकली प्रवृत्ति अनैतिक बनेगी।

३३३. यदि अहम्मुख चेतना ही अनैतिक है, तो कई बार ऐसा क्यों पाया जाता है कि कितनी ही प्रतिभाएँ पूर्ण रूप से भगवन्मुखी होकर भी आचरण में अनाचार और अनैतिकता का वर्तन करती दीखती हैं ?

प्रतिभा अहं-शासित नहीं

—देखने और दीखने पर इस विषय में निर्भर नहीं रहना चाहिए। अर्थ नहीं दीखता है, केवल कृत्य ही दीख पाता है। अर्थ का निर्माण अनुमान से करना होता है। और अनुमान स्वनिर्भर और स्वापेक्ष हुआ करता है।

प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। जैसे घड़ी का लटकन इस सिरे से उस सिरे तक डोलता है; प्रतिभा भी इसी तरह के झोंके लेती है। अध्यात्मलीनता के निर्मल क्षण उसमें प्रतिबिम्बित दीखते हों, पर उसी प्रतिभा को आप घोर कीच-कर्दम में लिपटा-सना देख सकते हैं। शराब में कभी आदमी जाने कितनी ऊँची बातें कर रहा होता है, दो-चार पेग और चढ़ने पर वही गटर में औंधे मुँह गिर जाता है। सच यह कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अहंशासित नहीं होते; इसीसे भगवान् और शैतान बारी-बारी से अपनी-अपनी विशेषताओं में पूरेपन के साथ उसमें झलक आते हैं। प्रतिभा इस तरह सदा एक दुर्बलता के साथ चलती देखी जाती है। अहं पुष्ट और स्वस्थ हो, तो प्रतिभा के स्फोट का मानो कारण नहीं रह जाता है। दुर्बल अहं अभी ऊँचा चढ़ सकता, तो अभी नीचे गिर आ सकता है।

अहं की दुर्बलता उत्तीर्णता नहीं

इसीसे कहना होगा कि अहं की दुर्बलता उसकी उत्तीर्णता नहीं है। शायद अहं से मुक्ति उसे कुचलने, दबाने के द्वारा नहीं मिलनेवाली है। न उसको निराहार रखकर सुखाने से वह लक्ष्य प्राप्त होगा। अहं की स्वस्थता और परिपूर्णता में से ही एक रोज स्वार्पण भाव पैदा होगा। धर्म इस तरह हृदय-दौर्बल्य में से नहीं साधा जा सकता। गीता के आरम्भ के अर्जुन को महाभारत में से निकलना अनिवार्य हुआ। ऐसे ही उत्तीर्णता के लिए उस अहं को अनायास फेंका नहीं जा सकता है, पूरे संसार-विग्रह में से निकलना उसके लिए अनिवार्य है। अन्यथा सच्चे प्रकार की ऋजुता, मृदुता और आर्द्रता उसमें आ नहीं सकेगी। लज्जा, संकोच, भय यह अहं के द्योतक हैं, शोधक नहीं हैं।

जो झूले में झूलता एक ऊँचाई तक पहुँचेगा उसे प्रतिकूलता में उतने ही पीछे लौटता हुआ देखने की तैयारी हमें रखनी चाहिए। सांसारिक प्रतिभाओं से मानो यही पाठ हमें प्राप्त होता है। अहं की भूमिका पर उस विपर्यास को समझने खोलने में कठिनाई नहीं रहती है।

अहं और विवेक

३३४. ऊपर के उत्तर में अहं की दुर्बलता से आपका तात्पर्य क्या विवेक की दुर्बलता से है?

—एक उक्ति चलती है: गंगा गये गंगादास, जमना गये तो जमनादास। कहते हैं पानी में न रंग होता है, न आकार होता है। जिस पात्र में रखिये वही उसका

आकार है, जो रंग डालिये वही रंग। इस प्रकार की कहावतों में दुर्बल अहं का चित्र पाया जा सकता है।

विवेक शब्द को चाहे तो अहं की जगह रख लीजिये। पर पूरा आशय उससे व्यक्त नहीं होता है। जंगली जातियों में विवेक उन्नत नहीं मालूम होता, लेकिन दृढ़ व्यक्तित्व के पुरुष वहाँ मिल सकते हैं। यह मैं नहीं कहता कि व्यक्तित्व की दृढ़ता अहं की दृढ़ता है; किन्तु इतना अवश्य है कि दृढ़ व्यक्तित्व में दुर्बल अहं नहीं हुआ करता। व्यक्तित्व की यह दृढ़ता हमेशा विवेक के आधार पर नहीं है; संवेग के आधार पर भी कभी-कभी हुआ करती है। इसीसे विवेक की दुर्बलता का आशय कुछ-कुछ तर्कशक्ति की दुर्बलता के निकट पहुँच जाता है। अहं की दुर्बलता से मेरा वह आशय न था। आशय था वह व्यक्तित्व, जो पत्ते की तरह हवा के रुख पर काँपता है, संग-साथ स्थिति-परिस्थिति से ही अपनी प्रेरणा ले लेता है और एक झोंक में दुष्ट और दूसरे में भक्त बना दीखने लगता है। इस परिवर्तन में कोई छल या कपट काम नहीं कर रहा होता, केवल अस्थिर चित्तता हुआ करती है। उसको चाहें ही, तो विवेक की दुर्बलता की भाषा में आप समझिये; अन्यथा मुझे वह दुर्बलता मस्तिष्क की नहीं, चित्त की ही मालूम होती है।

आदि द्वन्द्व की समग्रता

३३५. अहं की उत्तीर्णता का क्या स्वरूप आपकी दृष्टि में है?

—आदि द्वन्द्व जिसमें जितना उन्नत हो, दूसरे शब्दों में समग्र और समन्वित होता जाय, उतनी ही अहं की उत्तीर्णता माननी चाहिए।

प्रतिभा की ऊर्जा

३३६. प्रतिभा की ऊर्जा का स्रोत आप कहाँ मानते हैं?

—बादल घने काले होते हैं, तभी उनमें बिजली कड़ककर चमकती है, जो क्षण के लिए वाताकाश को उजला कर आती है। शक्ति द्वन्द्व की तीव्रता में से उपजती और चमकती है। भगवत्-चैतन्य सर्वव्याप्त है। उसके प्रकाशन के लिए आवश्यक है कि बिन्दु निमित्त बने। बिन्दु वह निमित्त बनता है, जिसकी बिन्दुता बन्द नहीं होती; ग्रहणशील अधिक होती है। ध्वनि समायी हुई है और एक ही आकाश में सारे स्वर समाहित और प्रवाहित हैं। रेडियोग्राम घर में हो तो सूई को अमुक बिन्दु पर घुमाकर हम मनचाही धुन प्राप्त कर लेते हैं। अहं के बिन्दु की सार्थकता ठीक इसी जगह है। नहीं तो अरूप के रूप में दर्शन न मिलें, न अखण्ड खण्ड द्वारा प्राप्त हो।

ऊर्जा का स्वरूप

ऊर्जा जिसको कहा, वह गतिशील संचरणशील ही हो सकती है। गति-संचरण की कल्पना हम काल के बिना नहीं कर सकते। अर्थात् वह ऊर्जा आदि द्वन्द्व के स्पर्श में आकर स्वयं ऊर्जा का रूप लेती है। उस अहं-स्पर्श से पहले तो शक्ति का रूप शान्ति होता है।

जीवन-प्राण का मूल-गुण : व्यथा बेचैनी

आप देखेंगे कि जीवन-प्राण का मूल गुण सुख और शान्ति नहीं है। वह तो बेचैनी और व्यथा है। यह इस कारण कि बिन्दुत्व और व्यक्तित्व प्राप्त होते ही शान्ति का धर्म पुरुषार्थ में परिणत हो जाता है। व्यक्ति को चैन का अवसर नहीं है। निरन्तर बेचैनी को अपना स्वत्व मानकर प्राण-पण से अपना लेने के द्वारा ही उसे चैन मिल सकता है। शान्ति इस तरह उसके लिए साध्य भले हो, साधन के रूप में तो उसके पास संघर्ष और युद्ध ही रह जाता है। योद्धा के रूप में जीता चले तभी मानो वह उत्तीर्णता की ओर बढ़ता है। द्वन्द्व से नीचे या पीछे जाने की उसे सुविधा ही नहीं है। अभेद में से आदि पाकर भी सामने के भेद से मुँह मोड़कर फिर अभेद में लौटने की उसे सुविधा नहीं है। वह सम्भव नहीं है। भेद में से आगे बढ़ते हुए ही उस इष्ट की ओर गति की जा सकती है।

अभेद में भेद पड़ा, वहीं से ऊर्जा की सृष्टि माननी चाहिए। शान्ति को उसी बिन्दु से शक्ति बनना पड़ा।

३

चेतना

चित्त

३३७. ऊपर आपने चित्त शब्द का उल्लेख किया है। चित्त को क्या आप मन, बुद्धि अथवा हृदय से कोई पृथक् सत्ता मानते हैं?

—मन, बुद्धि, हृदय इनको ही समझने चलें तो इनकी सत्ताओं को पूरी तरह पृथक् देखने में कठिनाई होगी। चित्त भी उस कठिनाई से बाहर नहीं है। यह कठिनाई कभी भी पूरी तरह पार नहीं की जा सकती। कारण, मूल से ही व्यक्तित्व द्वैत का मिश्रण है। ऐसे सब शब्द या तो अभीष्ट सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं, या उन्हें अन-भीष्ट अर्थ में लिया जाता है। चित्त अधिकतर अभीष्ट अर्थ में ही काम आता है। केवल इतने से यदि हम उसको मन-बुद्धि से अभ्यन्तर स्तर का सूचक मान लें, तो कोई हानि नहीं है।

सदसद्विवेक मन-बुद्धि से अधिक मूलगामी

३३८. सद् असद् विवेक अथवा कॉन्शस मन, बुद्धि और अहं इन तीनों में से किससे निस्सृत होता और जन्म पाता है?

—कान्शस और अहं की साथ उत्पत्ति माननी चाहिए। आदि द्वैत हमने स्वीकार किया कि अहं और भगवान् का है। अहं चेतना के स्तर पर ही मानो भगवत्-प्रतिनिधि जो चेतना है, वही कॉन्शस है। अहं-चेतना ही जितनी वह मूलगामी है। यों भी कह सकते हैं कि व्यक्तित्व अहंकरण और अंतःकरण के द्वन्द्व का परि-णाम है। इस तरह अन्तःकरण या कॉन्शस मन-बुद्धि से अधिक मूलगामी है। अहं भी उसीके समकक्ष मन-बुद्धि से मूलगत है।

३३९. क्या कारण है कि मानव-चेतना इन्द्रियों के विषयों की ओर जितनी तीव्रता और अनिवार्यता से भागती है और उनमें रस लेती है, उतनी अन्तःकरण की ओर नहीं जाती और आत्मोन्मुखी होने में कष्ट और प्रयास का अनुभव करती है?

चेतना की बहिर्मुखता दिग्भ्रम

नहीं, मैं नहीं मान पाता कि चेतना अनिवार्यता से अन्तःकरण से उलटी जाती है, न वह अनुकूल गति कम अदम्य होती है।

प्रत्यंचा को जितना अपनी तरफ खींचा जाता है, बाण बाहर उतनी ही दूर तक जाता है।

पाप में से आत्मा मिलती कही जाती है। बाहर की ओर इन्द्रियों की निरंकुश प्रवृत्ति को पाप कहते हैं। उन बाह्य विषयों में चाहकर भी आदमी डूब नहीं सकता। वह चाह अगर तीव्र दिखायी देती है, तो इसीलिए कि उसको नीचे से अन्तरंग का या आत्मा का डर धकेल रहा होता है। नितान्त, बाह्य प्रवृत्ति मूल में तो एक पलायन है। जिधर को भागते लगते हैं, असल में उससे उलटी दिशा के आकर्षण से भाग रहे होते हैं। अन्तःकरण की ओर से एक खींच है, जिसके प्रतिरोध के लिए बाहर की ओर प्रवृत्ति है। यह दिग्भ्रम है कि चेतना बाह्य विषयों की ओर जाती और अन्तरमन की ओर जाने से बचती है। सच यह कि चेतना अन्तरमन से अनिवार्यतया जुड़ी हुई है। यदि बाहर की ओर वह जाती है, तो यह भी उसके लिए अपने को सिद्ध और चरितार्थ करने की दृष्टि से संगत और उपयोगी ही हुआ करता है। पशु पाप नहीं कर सकता, मनुष्य कर सकता है तो इसलिए कि वह उस पद्धति से आत्माविष्कार कर सके।

३४०. परम ऐन्द्रिक ज्ञानशून्य प्राणियों को उपनिषद् में अंधेन तमसावृताः कहकर वर्णित किया गया है। अर्थात् इन्द्रिय-लिप्तता का एक स्तर माना गया है। अरविंद भी प्राणियों के चेतना के विकास की दृष्टि से स्तर मानते हैं और सबसे नीचे स्तर को उन्होंने दैहिक अर्थात् फिजिकल कहा है। क्या आप नहीं मानते कि सांसारिक भोगों और इन्द्रियों के विषयों में पूरी तरह लिप्त प्राणी उच्च मानसिकता से विच्छिन्न होते हैं और वे निम्नतम कोटि के प्राणी होते हैं?

पाप में परम लिप्ति असम्भव

—पूरी तरह लिप्त, इस भाषा को व्यंजक मानना चाहिए, वैज्ञानिक नहीं। मानव-प्राणी वहाँ लिप्त रह सकता है, पर लुप्त नहीं हो सकता। आप देखेंगे कि पूरी तरह लिप्त, अर्थात् लुप्त होने की कोशिश में ही शराब वगैरह के नशों का सहारा लिया जाता है। नशे की जरूरत ही इसलिए पड़ती है कि वह नशा है, सहज-स्वभाव हो नहीं पाता। अर्थात् लाख चेष्टा करने पर भी आदमी पाप में परम लिप्ति या तृप्ति नहीं पा सकता।

शास्त्र ने या ऋषि ने उस सम्बन्ध में अरुचि और जुगुप्सा पैदा करनेके लिए वैसा

कहा है, जिससे कि हम जागें और नींद में ही भूले न रहें। इससे अधिक उसमें सत्यता देखने की आवश्यकता नहीं है। अंधेरे से घिरे पद में ही उसका अभीष्ट स्पष्ट झलकता है। सत्यात्मक से अधिक वह शब्दावलि शिवात्मक है।

सब ओर फैलना चेतना का स्वभाव

बाहर और अन्तर यह दो दिशाएँ अवश्य हैं, किन्तु यह मानना कि चेतना के यह वश का कार्य है कि वह किसी एक दिशा में जाकर रह जाय चेतना को ही न समझना है। चेतना का स्वभाव ही सब ओर फैलना है। सबको यहाँ हमने भीतर और बाहर इन दो विधाओं में देखना चाहा, लेकिन चेतना में आगा और पीछा नहीं होता। उसमें कोई पीठ होती ही नहीं है, सब उसे सम्मुख है। अब होता यह है कि एक ओर का धक्का उसे दूसरी ओर धकेलता है। अक्सर देखेंगे कि बाहर की विफलता व्यक्ति में अन्तर्मुखता पैदा कर देती है। इसी तरह मान रखना चाहिए कि बाहर सफलता की ओर गति शायद उसमें किसी अन्दर के धक्के से हो रही है। कौन जानता है कि नेपोलियन की सैनिक गतिविधियों के नीचे उसका हीन-भाव काम नहीं कर रहा था।

प्रकाश से सदा खिचना ही नहीं होता, डरना और बचना भी हुआ करता है। सोना चाहते हैं, तो हम कमरे की रोशनी को गुल कर देते हैं। जो अंधे अँधेरे की ओर बढ़ रहे हैं, शायद है कि वे प्रकाश से घबरा रहे हों। प्रकाश को भी सहना होता है, जैसे कि अँधेरे को सहा जाता है। यह मानना कि अँधेरा स्वयं उस आदमी को असह्य नहीं हो रहा है, तर्कसंगत नहीं है। लेकिन अधिक सम्भव यह है कि वह ऐसी स्थिति में आ पहुँचा हो कि प्रकाश उसे और भी असह्य हो।

शक्ति-प्रतिशक्ति का सिद्धान्त

विज्ञान का पहला सूत्र है कि प्रत्येक शक्ति के साथ तन्मात्रा में प्रतिशक्ति होती है। उसीको यों भी कह सकते हैं कि प्रतिशक्ति शक्ति पैदा करती है। बाहर और भीतर में यही प्रतित्व का सम्बन्ध मानना चाहिए। पापी बाहर जाता जो दीखता है, सो अन्दर की कुरेद ही नहीं भेज रही है, यह नहीं मान लेना चाहिए। इसीसे देखा जाता है कि जो सचमुच सन्त बनते हैं, वे सचमुच अपने को अधम और पापी गिनते हैं। यह बाह्याचार और शिष्टाचार की भाषा नहीं है, यथार्थ में ही उन्हें ऐसा अनुभव होता है। इसका विपर्यास यह भी सच है कि जो अपने को सर्वथा सज्जन मानते हैं, वही सर्वथा अभव्य हुआ करते हैं। इन तथ्यों में उस शक्ति और प्रतिशक्ति की समतोलता का सिद्धान्त प्रतिफलित देखना चाहिए।

सत्य में स्तर-भेद नहीं

सामान्यतया सत्य को स्तरों में बाँटकर देखने के हम आदी हैं। शायद बुद्धि की प्रक्रिया यही है। श्री अरविन्द और दूसरे लोग वैसा करें, तो यह स्वाभाविक ही है। दैहिक, प्राणिक, मानसिक और फिर अतिमानसिक स्तर माने जायँ और चेतना की प्रक्रिया को इस प्रकार ऊर्ध्वता की दिशा में बढ़ता हुआ समझा जाय, तो एक चित्र मन में उतरता है और उससे प्रेरणा भी प्राप्त हो सकती है। लेकिन जो सत्ता सर्वव्याप्त है, और निश्चय ही सत्यता और भगवत्ता सर्वव्याप्त है, तो उसमें होने-वाली मुक्ति केवल इधर से हटकर उधर जानेवाली गति का नाम नहीं हो सकती। प्राणियों में तरतमता अवश्य देखी जा सकती है, उससे विवेक को सहारा होता है। लेकिन यदि हम व्यक्ति को समष्टि और खण्ड को अखण्ड के सन्दर्भ में देखें तो जान पड़ेगा कि साधुता और दुष्टता इस या उस आदमी की अपनी सम्पदा नहीं है। इन पर उनका कोई इजारा नहीं है। तब दुष्ट और साधु में समदर्शिता की स्थिति आ सकती है और ज्ञान के लिए वही वैज्ञानिक स्थिति चाहिए। दुष्ट और साधु कहकर वर्ग बना डालने में कोई कठिनाई नहीं है, शायद व्यवस्था का काम उस तरह चलता भी है। लेकिन उनमें एक ही मानव-तत्त्व और निर्गुण-तत्त्व देखने के प्रयास में से ही ज्ञान एवं विज्ञान का प्रकर्ष साधा जा सकता है।

अध्यात्म में श्रद्धा से ही लाभ

दैहिक और मानसिक तो चलिये स्तर हो भी सकते हैं, लेकिन आध्यात्मिक को भी उसी तरह एक सबसे ऊपर का स्तर मान लिया जायगा तो फिर सर्वव्यापी होने के लिए क्या रह जायगा? इसलिए इस क्षेत्र में बुद्धि से अधिक मैं श्रद्धा के उपयोग का कायल हूँ। बुद्धि किसी भी प्रकार दुष्ट और साधु में समता देखने का समर्थन नहीं कर सकती। फिर भी उस साम्य दर्शन के आधार पर ही वर्ग-भेद से हम मानवता को छुटकारा दे सकते हैं। श्रद्धा के सिवा उस साम्य-दर्शन के साधन का कोई उपाय नहीं है।

पाप की सृष्टि हितार्थ

इसीसे कहता हूँ कि पापी को दुखी मानिये। आप जितना दण्ड दे सकते हैं, उससे गहरा दण्ड वह स्वयं पा रहा होता है। पाप शब्द ही सम्भव न रह जाता, अगर हम मान लेते कि पापी में आत्मा नहीं है। अगर आत्मा है, तो सच मानिये कि इधर चाहे पाप में कितना भी मद-मत्त भाव दिखाई देता हो, उधर आत्मा पर उतने ही

संक्लेश भाव का दबाव पड़े बिना नहीं रह रहा है। सच, पाप की सृष्टि विधाता की ओर से मनुष्य के हित के लिए ही हुई है।

व्यक्ति को सन्दर्भ में देखें

मैं नहीं चाहता व्यक्तिवादी विचार के लिए इतना अवकाश हो कि कोई अपने को उत्कृष्ट आसन पर मानकर ऐसा आत्म-तुष्ट बने कि दूसरे को सर्वथा निकृष्ट मानने लग जाय। गुणावगुण को व्यक्तिगत मानने से सर्वथा हम दूर निकल जायँ, यह आशय नहीं। लेकिन सामाजिक और सामष्टिक सन्दर्भ में हम व्यक्ति को रखकर देख सकेंगे, तभी समत्वयोग सध सकेगा। समदर्शिता पाकर मानो हम तभी रागद्वेष पूर्ण आसक्तियों से ऊपर उठ सकेंगे।

जड़ता के परदे

३४१. **क्या हम सभी यह अनुभव नहीं करते कि हमारी चेतना पर एक के ऊपर एक अज्ञान और जड़ता के परदे पड़े हैं और प्रकाश कहीं नहीं है। जो किंचित् ज्योति किसी झरोखे से आती दीखती है, उसीकी तरफ हम भागते हैं। किसी घटना-विशेष से अथवा किसीके सम्पर्क से लगता है कि जड़ता का एक परदा उठा और प्रकाश का नया कोना मिला। पर कितने ही परदे अब भी बाकी बने रहते हैं और हम उनके नीचे विवश दबे पड़े रहते हैं। चेतना की इस विवशता का आप क्या विश्लेषण करते हैं?**

मनुष्य मूल में दिव्य

मैं मानता हूँ कि आवरण हैं और वे स्वयं हमारे स्वभाव पर लिपटे और चढ़े हैं। प्रकाश बाहर नहीं है, अन्तर्भूत है। जड़ता हमारी दिव्यता पर मढ़ी हुई है। मूल में मनुष्य दिव्यत्व से बना है।

इस विश्वास से प्रश्न का रूप बदल जाता है। प्रकाश बाहर है और हमारे स्वभाव के आवरण उसको हमसे ढँके हुए हैं, यह रूप न रहकर प्रश्न यह बन जाता है कि हमने ही अपने अन्तःप्रकाश पर नाना आवरण लपेट रखे हैं। अर्थात् स्वभाव को दूर करना नहीं, बल्कि उसको प्राप्त करना लक्ष्य बनता है।

प्रकाश बाहर का नहीं, अन्तर्ज्योति का

बाहरी व्यक्ति अथवा घटना से जो सहसा हमें प्रकाश मिलता है, वह असल में अपनी ही अन्तर्ज्योति का प्रकाश होता है। बाह्य अवसर या संग मानो हमारे अहंपटल

में थोड़ी देर के लिए एक तरेड़ डाल देता है और भीतर का प्रकाश सहसा ही फूटता हुआ हमें दिखायी दे आता है।

अन्यत्व भाव ही अज्ञान

मैं मानता हूँ कि वह अहं-चेतना जो हर शेष के प्रति अन्य भाव पैदा करके चलती है प्रकाश से वंचित रहती है। तब समस्त शेष हमारे लिए बन्धन और मर्यादा बन जाता है। इस चेतना द्वारा जितना भी प्रयास करेंगे, जड़ता के पटल कम होते नहीं प्रतीत होंगे। इस चेष्टा में अपनाया गया बोध हमारे बन्धन को बढ़ाता जान पड़े, तब मुक्त की जगह हम अवरुद्ध अनुभव करते जायेंगे।

अहं-रति में प्रेम असंभव

इसके विरोध में वे क्षण जब अन्यत्वभाव क्षीण होता और आत्मीयभाव बढ़ता है प्रकाश-लाभ और आत्म-लाभ के जान पड़ते हैं। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि हमने चेष्टा करके अपने आवरणों को एक-एक कर हटाया है, मालूम ऐसा होता है कि जो सच ही था उसे हमने सहज स्वीकार कर लिया है, विशेष चेष्टा की आवश्यकता नहीं हुई है। आवरण बीच में कहाँ तिरोहित हो गये हैं, पता ही नहीं चलता। जैसे सहसा हमने अपने को पहचान लिया और उस घटना अथवा प्रसंग में पा लिया है। चेतना में विवशता का बोध अहंचालित और अहं-प्रताड़ित होने के कारण होता है। जिसे स्नेह और प्रेम कहते हैं, मानो वह समष्टि की ओर से आया ऐसा झोंका होता है कि अहं एक साथ शिथिल और स्फुरित हो जाता है और इस तरह व्यक्तित्व अपने-आप प्रसार पाने लगता है। प्रेम, अर्थात् 'उस' में अपने अर्थ को देखने का आरम्भ। यह दर्शन अहं-रति के साथ हो नहीं पाता, इसीसे अहं-तप्त चेतना मानो सदा हारने को तड़पती रहती है। होश खो सके तभी वह बेहोशी आती है, जहाँ अन्य प्रथम और स्वयं द्वितीय बन जाता है। होश रहता है, तब तक हम अन्य को सदा स्वयं के लिए मानते और उसी तरह व्यवहार करते हैं। यदि चेतना अस्मिता के अधीन रहे तो फिर लाख चेष्टा पर भी हम इस वासना से छुट नहीं सकते कि अपनी प्रधानता के लिए सब दूसरों का उपयोग साध लें। यह अस्मिता यदि किसी कारण स्तब्ध और स्थगित होती है, तब देखते हैं कि हमारी चरितार्थता हममें बन्द नहीं थी, नहीं है, मानो वह सब शेष में मिली व्याप्त है।

चेतना अहं सम्बन्धी

जिसको चेतना कहा वह अहं से परिचालित हुए बिना नहीं रहती। इसीसे होश से बढ़कर बेहोशी को माना जाता है। चेतना की यह बड़ी भारी बेबसी है कि वह

स्व से छूट नहीं पाती। सच यह कि जिस क्षण छूटती है, वही क्षण उस चैतन्य की मुक्ति के हो जाते हैं।

संकल्प और विभोरता

आप देखेंगे कि परदे एक-एक कर हटाने से नहीं हटते हैं। शायद संकल्प-बल से वे हट भी नहीं सकते। कारण, संकल्प अहन्ता में से निकलता है और परत्व अन्यत्व को हमारे निकट और कठिन क्लिष्ट ही बनाता है। संकल्प से एक उलटी वस्तु है, जिसे लीनता और विभोरता कहा जा सकता है। मानो संकल्प से जो अप्राप्य बना रहता है, वह उस लीन-विभोर स्थिति में अनायास प्राप्त हो जाता है। परदे हट जाते हैं और पर से हमें और हमसे पर को प्रसन्नता प्राप्त होने लगती है। मानो हम दो हों हीं नहीं, परस्पर हों और एक हों।

इस विवशता को लिये-लिये ही हमें जीना होता है। कारण, हम अन्तरतम के साथ एक नहीं हो पाते। इस तरह हर बाह्य हमारे लिए अवरोधक बन रहता है। ●

४

संस्कारिता

संस्कार, कर्म-बन्धन

३४२. क्या परदों को आप संस्कार अथवा कर्म-बन्धन कहना पसन्द करेंगे?
—कहिये।

३४३. संस्कारों का उद्‌गम आप कहाँ मानते हैं?
—बात यह कि मैं हो ही इस शर्त पर सकता हूँ कि मेरे लिए तुम और ये-वे भी रहें। इनके घात-प्रतिघात का प्रभाव पड़ता ही रहता है। संस्कारों की उत्पत्ति यहीं से माननी चाहिए।

मूल संस्कार दिव्यता, चिन्मयता

व्यक्ति शायद निर्गुण नहीं पैदा होता। फिर गुण कहाँ से लाता है? कहाँ से लेता है? यह तो स्पष्ट हुआ कि व्यक्ति अपने में से ही नहीं है, परस्परता में से वह होता है। अर्थात् गुण पारस्परिकता में से लेता है। लेकिन लाता कहाँ से है, यह प्रश्न हो तो कहना होगा रक्त में से लाता है। सृष्टि मिथुन के योग से बनती है। वह मैथुनी है। इन दो को नर-नारी की संज्ञा दी गयी। कहना चाहिए इन माता-पिता से वह संस्कार लाता है। वे स्वयं अपने संस्कार कहाँ से लाते हैं? तो प्रश्नशृंखला से हमें प्राणी-विद्या के सहारे दूर अतीत में उन संस्कारों की आदि के लिए पहुँच जाना पड़ता है। शायद इसी पद्धति से डारविन महोदय ने कहा कि आदिम मानव-संस्कार पशु-संस्कार हैं। लेकिन मानव से पशु तक आकर यदि उन संस्कारों के जन्म के सम्बन्ध में हम सन्तोष न मान लेना चाहें, तो आगे बढ़ते-बढ़ते कहाँ पहुँचते हैं? वहाँ पहुँचते हैं कि जहाँ स्वयं जीव और जीवन की सृष्टि हुई। और भी पीछे चलें, तो कहाँ पहुँचते हैं? वहाँ कि जहाँ आदि तत्त्व परस्पर-संघात में प्रवृत्त हुए। इन आदि तत्त्वों से चलकर एक दिन सचेतन सृष्टि हो जाती है तो क्यों? कारण यही हो सकता है बीजरूप में सच्चिदानन्द आदि-तत्त्व में ही गर्भित था। तो इस तरह आदि-संस्कार

प्राणीमात्र और व्यक्तिमात्र में अन्तर्भूत चिन्मयता का हो आता है। शेष सब संस्कार उस पर ऊपर से चढ़े हो सकते हैं। मूल संस्कार यह दिव्यता और चिन्मयता है।

संस्कारिता परस्परता में से

एक क्षण वह आया कि जहाँ जीव में से जीव की सृष्टि हो निकली। जीव अपने को ही दो में बाँट लेता और इस तरह गुणानुगुणित होता जाता था। एक में ही यह द्वित्व समाया था। फिर नरत्व और नारीत्व में यह पृथक् भी हो चला। मैं मानता हूँ कि संस्कार देने और प्राप्त करने की भूमिका यहीं उत्पन्न हुई। इससे पहले स्व-परता या परस्परता थी ही नहीं। परस्परता के साथ संस्कारिता आयी।

स्त्रीभाव-पुंभाव

होने का आरम्भ हुआ में से है। 'मैं' के साथ ही 'वह' हो आया। उस-मुझ की द्विधा पड़ते ही 'मैं उसमें हूँ', 'वह मुझमें हो', इस प्रकार के भावों के लिए सृष्टि में अवकाश मिल गया। यहीं से संस्कारों को जन्म मिला। मैं उसमें हूँ, यह भाव पुंभाव बना। वह मुझमें हो, यह स्त्रीभाव हुआ। इस प्रकार पुरुष-स्त्री भावों के द्वारा जैसे जीव ने अपने को और सृष्टि को पाना और प्रकट करना चाहा। इसमें नाना संस्कार उसने दिये और लिये, पर उनके मूल में दिव्य आत्म-साधना की ही यह स्फुरणा थी कि सब सच्चिदानन्दमय हो, व्यवधान परस्पर उपलब्धि की चेष्टा जगाने मात्र के लिए हो। अन्यथा व्यवधान नहीं है, द्वैत नहीं है।

संस्कार प्रतित्व से उत्पन्न

सच यह कि संस्कारों को हम व्यक्ति-के मानते हैं, पर वे प्रतित्व से पैदा होते हैं। उस परस्परता में से प्रतिक्षण बनते-बिगड़ते रहते हैं। उन पर स्वत्वाधिकार किसीका नहीं है। न वे किसी समय प्रति-निश्चित हो पाते हैं।

३४४. मैथुन अथवा रज-वीर्य-संयोग शुद्ध रूप से एक भौतिक और दैहिक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया एक चिदंश को पकड़ पाने में जब समर्थ हो जाती है, तो हमारे सारे बाह्याचार अथवा ऐन्द्रिक व्यापार क्यों हमारी मानसिकता और आत्मोन्मुखता को प्रभावित और सीमित-निश्चित करने में समर्थ नहीं होते हैं?

बाह्य व्यापारों का चरितार्थ एकत्व, संयोग

—मैथुनी आकर्षण हो सकता है कि वैयक्तिक स्तर पर सबसे मौलिक प्रभाववाला हो। लेकिन शेष ऐन्द्रिक व्यापार प्रभावहीन होते हैं, ऐसा तो मैंने नहीं कहा।

प्रभावहीन होने के लिए इस जगत् में कुछ है ही नहीं। जो चिन्मय है, वह यदि प्रभाव नहीं देता या लेता है, तो जड़ता के कारण ही ऐसा होता है। अन्यथा तो हर प्रकार का प्रभाव लेने के लिए ही तो वह चिन्मय है। इन्द्रियों द्वारा मिले संवेदन व्यक्तित्व को प्रभावहीन क्यों रखेंगे ? मैं मानता हूँ कि समस्त दैहिक और ऐन्द्रिक व्यापार परस्पर को प्रभावित और अन्तत: संयुक्त करने के लिए है। संयोग और एकत्व व्यक्ति की अन्तिम चरितार्थता न हों तो जीवन में क्षोभ, क्रोध, विग्रह, युद्ध, हत्या आदि तक का अर्थ समाप्त हो जाता है। स्वयं उनमें सार्थकता नहीं है, यह तो स्पष्ट ही है। तब उन निषेधात्मक और विच्छेदात्मक प्रवृत्तियों का परम अर्थ स्वीकार और संयोग ही रह जाता है।

यह आपने कैसे और कहाँ से मान लिया कि ऐन्द्रिक आदान-प्रदान-सम्प्रदान को मैं व्यर्थ और प्रभावहीन मानता हूँ। वे तो माध्यम हैं, जिनसे हम परस्परता को सृष्ट, व्यक्त, पुष्ट और खण्डित एवं भ्रष्ट करते हैं। मैं इन्द्रिय के रागानुरागों को उस तरह व्यर्थ प्रवंचना नहीं मानता हूँ जैसे कि रूढ़-धर्म कहीं-कहीं मानता मालूम होता है।

३४५. क्या कभी ऐसा होना सम्भव है कि मन और विवेक एकदम अक्षम बन जायँ। और इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारों में स्वभावनिष्ठ और लिप्त दीख पड़ें ?

इन्द्रियाँ मात्र यंत्र, द्वार

—इन्द्रियों के पास शायद कोई अपना भाव नहीं होता है। वे तो यन्त्र और द्वार मात्र हैं। यहाँ तक कि उनके पास अर्थ भी नहीं रहता है। आँख पर बाहर का सिर्फ अक्स पड़ता है। आँख को यह क्या पता कि यह नीला परदा है या यह लकड़ी की कुरसी है। इन विशेषण-विशेष्ययुक्त संज्ञाओं का रूप देनेवाला मस्तिष्क है, जो दृश्य को अर्थ और वहाँ से भाव को ऐक्य और प्रभाव की क्षमता देता है। इस तरह मन और विवेक को बाद देने पर इन्द्रियाँ अपना कुछ काम कर सकती हैं, यही असिद्ध बनता है। ऐसा कभी सम्भव नहीं होगा, जब मन-बुद्धि के अभाव में इन्द्रियाँ सार्थक रूप में काम करती हों। शायद शव के आँख में भी चित्र और प्रतिबिम्ब बनता है। लेकिन उसका कोई बोध नहीं होता और न लेन्स के चित्र बिम्बित करने की क्षमता का कोई अर्थ रहता है। उन ज्ञान-तन्तुओं के अभाव में जिनसे कि पदार्थता का बोध हो पाये इन्द्रियाँ जड़मात्र हैं।

अहं के हाथ में ही वे सक्रिय

उसी प्रकार मन-मस्तिष्क में उतरना चाहें, तो मालूम होगा कि अहं के हाथ में होकर ही ये अर्थकारी और प्रभावकारी माध्यम हो पाते हैं। अक्सर बोध के तन्तु काम

करते रहते हैं, लेकिन प्रभाव का पता नहीं चलता। ऐसा हो जाया करता है कि हम कहीं व्यस्त और ग्रस्त हैं और आँखें देखती हुई भी नहीं देख पाती हैं। यह इसी कारण होता है कि अहं का योग उन्हें नहीं मिलता और इस तरह सब बेकार हुआ रह जाता है। समाधि अवस्था में जो कुछ भी संसार की प्रतीति नहीं हो पाती है, सो उसका भी सार यही है। अहं को यदि और जहाँ हम लीन कर पायें तो उसके सिवा कुछ भी अन्य बोध हम तक नहीं पहुँचता। द्रोणाचार्य ने पूछा तो अर्जुन को वृक्ष नहीं दीखा, चिड़िया तक नहीं दीखी, सिर्फ उसकी आँख ही दिखाई दी। यह उसकी आँख की अक्षमता नहीं थी, एकाग्रता की ही विशिष्टता थी कि सब इन्द्रियों का व्यापार एक बिन्दु में केन्द्रित हो रहा, और बाधा के बजाय वह स्वयंसिद्धि में साधन बन गया। इन्द्रियाँ इस तरह बिखराने और बहकाने के लिए ही नहीं हैं वे हमारी एकाग्रता को सफल करने के काम भी आ सकती हैं।

३४६. तब क्या आप मानते हैं कि जिन महान् योगियों ने अपने अन्तरंग को साध लिया है और द्वन्द्व की स्थिति को लगभग समाप्त कर लिया है उनके बाह्याचार और ऐन्द्रिक व्यापार उनके अन्तरंग को किसी कर्मबन्धन के द्वारा संस्कार में नहीं बाँधते ?

बन्धन विसंवादिता का नाम

—कैसे बन्धन में बाँध सकते हैं, अगर अन्तर और बाह्य के बीच सुसंवादिता व्याप्त हो चुकी है ? बन्धन वैषम्य और विसंवाद के अनुभव का ही नाम है। युक्तावस्था में जिस भाव की अनुभूति होती होगी, उसे मुक्त-भाव आनन्दभाव कहना चाहिए।

कृष्ण की निर्द्वन्द्वता

३४७. तब क्या आप गीता के कृष्ण की स्थिति को स्वीकार करते हैं, जो कई हजार रानियाँ अपने हरम में रखकर और नीति, कूटनीति द्वारा लाखों को महाभारत के युद्ध में कटवाकर भी निर्द्वन्द्व और मुक्त बने रहे ?

—कृष्ण पुराण-पुरुष हैं। यथार्थ पुरूष के रूप में उनको विश्लेषण में लाकर आप उलझन में पड़ेंगे। हाँ, सनातन मान्यता के लिए कृष्ण अवतार-पुरुष हैं। समस्त कर्म-प्रपंच के और महाभारत जैसे महायुद्ध के बीच भी उनकी योगस्थ वृत्ति अक्षुण्ण रही मानी जाती है। उन कृष्ण को हम अपने जाने-माने परिचित लोगों की तरह वाद या विवाद में नहीं ले सकते हैं। ●

५

कामासक्ति, सस्पेन्स, रस

अतिशय ऐन्द्रिकता कुंठा का परिणाम

३४८. क्या अतिशय ऐन्द्रिकता मन और विवेक को कमजोर बनाती है?

—अतिशय शब्द में ही है कि कहीं दूसरी ओर दबाव है तो इसीसे इधर उछाल है। वह अतिशयता उस प्रकार की कमजोरी में से आती भी है और उस कमजोरी को बढ़ाती भी है। मानना यही चाहिए कि ऐन्द्रिकता की अतिशयता में इन्द्रियों की अस्वस्थता प्रकट होती है। ऐसा मनुष्य स्वस्थ नहीं है। स्वस्थभाव में इन्द्रियाँ सहज और संयत रूप में ही काम करेंगी, असंयम और अमर्यादा में जाने की उकसाहट उन्हें न होगी। वह उकसाहट दमन में से आया करती है। मन और विवेक द्वारा जब इन्द्रियों का संचालन नहीं, बल्कि शासन और दलन होने लगता है तब इन्द्रियों के लिए मानो भीतर बारूद इकट्ठी होती है जो समय पर विस्फोट में फूटे। किन्तु यह निरन्तर जारी रहनेवाली प्रक्रिया है। दमन में से इन्द्रियों के अमर्यादित व्यवहार को उत्तेजन मिलता है, उस अमर्यादित व्यवहार से चित्त-विवेक पर दबाव पड़ता है। इस प्रकार क्रिया-प्रक्रिया की ऐसी लड़ी हो जाती है कि मानो वह अनिवार्य ही हो। किन्तु यह निश्चित माना जा सकता है कि इन्द्रियों की उच्छृंखलता कभी प्रकृत और सहज नहीं होती और स्वयं उसीको क्लेश और कष्ट पहुँचाती है जो ऊपर से उनमें मस्त और मग्न मालूम होता है। संक्षेप में यह जान लेना चाहिए कि ऐन्द्रिक स्वच्छन्दता कुण्ठा का परिणाम है और बाहर की ओर बढ़नेवाली चंचलता भीतर की दृढ़ता नहीं बल्कि बेचैनी की परिचायक है।

३४९. जितनी प्रकार की भी इन्द्रियों की आसक्तियाँ हैं, उनमें कामासक्ति को सर्वप्रमुख और सर्वशक्तिमान् क्यों माना गया है?

लैंगिक योग की भूख प्रबलतम

—माना ही नहीं गया है, सर्वशक्तिमान् वह है भी। अन्य इन्द्रियाँ वस्तु को मानो बिना खींचे भी उसका अवधान् प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिए उनके द्वारा प्राप्त

की गयी स्व-परता या परस्परता मानो अपर्याप्त रहती है। हम अपने स्वत्व को अन्यत्व में एकदम मिलाकर खो दे सकें, यह माँग फिर भी बनी ही रहती है। शरीर को लेकर दो प्राणी अनिवार्यतः दो हैं, किन्तु मूलतः दो नहीं हैं। इस मूल एकता की सम्प्राप्ति प्राणी का लक्ष्य है। अन्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त परस्पर बोध में से एकत्व की वह चरम अनुभूति नहीं होती। इसलिए लैंगिक योग की भूख प्राणी में बेहद प्रबल होती है। स्व-परता ही नहीं, परस्परता तक को मिटाकर जब मिथुन जबरदस्ती एक-दूसरे में मानो अपने को खत्म कर डालने, मार तक डालने, को उद्यत होते हैं तो यह मैथुनी योग किसीसे कम प्रबल कैसे हो सकता है? जीव-सृष्टि मैथुनी इसीलिए है कि इसी क्रिया में स्वत्व-विसर्जन की अदम्य चेष्टा है। वहाँ मानो क्षण के लिए ही सही, समस्त द्वैत नष्ट हो रहता है। और तो और, धर्माधर्म, हिंसा-अहिंसा आदि विचार-अविचार का द्वैत भी वहाँ नहीं रहता। हिंसा भाव में मानो वहाँ प्रेम की कृतार्थता अनुभव हो आती है। सभ्य व्यवहार में जिन्हें बर्बर और अमानुषिक मानते हैं, ऐसे काटने, नोंचने आदि के कृत्य मानो परस्पर को आनन्द और तृप्ति देनेवाले होते हैं। इस मिथुन-योग में मानो हमारा सब अहंकृत लुप्त हो जाता है। अहंकार द्वारा हम कितना ही मैथुन को निन्द्य, बीभत्स और भर्त्सनीय मानें, लेकिन हमारा मानना किसी काम नहीं आता। हम प्रकृति के हाथ मानो वहाँ खिलौना मात्र रह जाते हैं।

दर्पियों व बौद्धिकों में मिथुनाचार

आप देखियेगा कि बुद्धिशालियों में यह मैथुनी विवशता सीमा तक पहुँच जाती है। जो दर्पी और अभिमानी होते हैं, उन्हें मानो, प्रेयसी के तलवे चाटे और लात खाये बिना तृप्ति नहीं हो पाती। एक शब्द है मैसोकिज़्म अर्थात् कष्ट और त्रास में से तृप्ति लेना। दर्पी व्यक्तियों के मिथुन-प्रयोगों में यह चेष्टा अक्सर देखी जाती है।

काम-चेष्टा दुर्निवार्य

यह सब इसीलिए कि अहं और अभिमान के आधार पर चलनेवाले जीवन को एक सन्तुलन प्राप्त हो। मैथुन मानो अभिमान से दूसरे सिरे की ओर की प्रक्रिया है। उससे व्यक्तित्व में दर्प-दलन होता और सामंजस्य आता है। इसी कारण काम-चेष्टा परम दुर्निवार्य है। उसको मूल शक्ति भी माना जा सकता है।

३५०. परम दुर्द्धर्ष योद्धाओं के चरितों से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उनका कामाचार जैसे उनके अहं को विगलित न करता हो, बल्कि और अधिक पुष्ट और उन्नत ही बनाता चल रहा हो?

कामाचार अहं का शमन नहीं करता

—कामाचार कभी अहं का शमन नहीं कर पाता। किन्तु उसका शमन और विगलन आवश्यक तो है ही। इसीलिए काम-चेष्टा में दुर्दम्य वेग पड़ जाता है।

दुर्द्धर्ष सदा प्रेम का प्रार्थी

किन्तु स्वयं कामाचार में अहं का तात्कालिक दलन और क्षरण न होता हो, यह सम्भव नहीं है। आपने किन दुर्द्धर्ष योद्धाओं के चरितों की अन्तरंगता को प्राप्त किया है? अन्तरंग सदा गहरे अध्ययन का विषय होता है और मुझे निश्चय है कि उनका अन्तश्चरित प्राप्त होगा, तो इस मान्यता की यथार्थता और पुष्ट और प्रमाणित ही होगी। ऐसे पुरुषों के प्रेम-पत्र शायद कुछ मिल भी सकते हैं। उन्हें आप देख जाइये। आप पाइयेगा कि वे हर जगह प्रेम के प्रार्थी और अपने को हद तक झुकाने को आतुर हैं। वे अपने को निछावर कर देना चाहते हैं, आकांक्षी हैं कि उनके इस अहं के अर्घ्य को कोई ले और चाहे तो उसे स्वाहा ही कर दे। मेरे समझने में अब तक ऐसा कोई प्रेमाचार नहीं आया, जिसमें अहं का समर्पण न हो। तात्कालिक रूप से यह होना अनिवार्य ही है।

दुर्द्धर्षता प्रतिक्रिया

यह अवश्य सम्भव है, बल्कि इससे आगे अनिवार्य है, कि इस तात्कालिक अहं के विसर्जन के बाद उस अहं में प्रतिक्रियावश और कसावट आ जाय। बल्कि सच यह कि दुर्द्धर्ष पुरुषों की दुर्द्धर्षता इसी भोगाचार में से स्नान करके पुनः पुनः हठीली और निर्मम बना करती है। किन्तु इस परिणाम में से भोगाचार की इस प्रकृति को गलत समझने का अवकाश नहीं है कि उससे अहं का गलन होता है।

३५१. कौनसे वे तत्व हैं जो दो विपरीत लिंगियों को परस्पर निकट खींचते हैं और उनमें क्षणिक अथवा स्थायी शरीर-सम्बन्ध स्थापित करते हैं?

मैं शेष से अलग नहीं रह सकता

नरत्व के मूल में है कि मैं उसमें होऊँ। नारीत्व के मूल में कि वह मुझमें हो। पहले ही कहा गया है कि मैं और शेष एकदम अलग हो नहीं सकते। नाना सूत्रों से उनमें सम्बन्ध बनने और सम्पन्न होने में आता है। यहीं से 'वह मुझमें हो' और 'मैं उसमें होऊँ' इन चेष्टाओं को जन्म मिलता है।

स्त्री-पुरुष की परस्परता नित्य

इस तरह स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक हैं। अपने में दोनों आधे और अधूरे हैं। पूरे बनने के प्रयास से वे छूट नहीं सकते। स्त्री जब तक स्त्री है, पुरुष की आवश्यकता में है। यही पुरुष के साथ सच है। जब स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को अपने में सतत और नित्य भाव से धारण कर पाते हैं, तब मानो वह स्थिति आती है जिसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। अर्थात् तब वह खण्ड होता है, शेष भी उसे खण्डरूप होते हैं और पूरक-पूर्ण भाव उसका ब्रह्म अर्थात् अखण्ड के प्रति ही रह जाता है। संसार में से उसे पूर्णता पाने का भ्रम नहीं रहता। उसकी चर्या ब्रह्म की चर्या हो जाती है।

ब्रह्मचर्य का सत्य स्वरूप

स्पष्ट है कि इस ब्रह्मचर्य की सिद्धि तब तक नहीं है, जब तक पुरुष स्त्री में अपने-अपने लिए केवल पुरुष और केवल स्त्री होने का भाव है। यह भी स्पष्ट है कि शारीरिक रूप से दोनों दूसरे को नित्य भाव से अपने में ले नहीं सकते। जिस विधि से वे स्थायी भाव से एक-दूसरे को अपने में धारण कर सकते हैं, वह गुणात्मक रह जाती है। हम अन्त में क्या हैं, प्रतीक ही तो हैं। कुछ हमारे द्वारा व्यक्त हो रहा है। सार वही है, हम उसके लिए सूचन और माध्यम भर हैं। तो उस सार को अवश्य अपने में प्राप्त और धारण किया जा सकता है। स्त्री कोमल गुणों की प्रतीक है, पुरुष साहस और अभिक्रम का। इन गुणों में संगम और समवाय अवश्य साधा जा सकता है। इस विधि पुरुष अपने में स्त्री की और स्त्री पुरुष की प्रतीति भर सकते और एक-दूसरे से उत्तीर्ण हो परम ब्रह्म से सीधी भक्ति का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इस अवस्था में मानो वह सांसारिक आकर्षण-विकर्षण के सिद्धान्त से पार पहुँच जाते हैं। धरती के गुरुत्वाकर्षण से इतने मील ऊपर जाने पर जैसे मुक्ति मिल जाती है, वैसे यहाँ भी समझ लीजिये। उससे पहले विपरीत लिंगियों का परस्पर आकर्षण गुरुत्वाकर्षण की तरह ही अनिवार्य है।

३५२. यह आकर्षण किसी एक के प्रति अथवा सबके प्रति क्यों अनायास प्रवृत्त हो उठता है?

चुनाव-छँटाव की प्रक्रिया

—आकर्षण अप्रवृत्त कैसे रह सकता है? फिर प्रश्न रह जाता है कि आकर्षण अपेक्षाकृत क्यों एक के प्रति अधिक और दूसरे के प्रति कम होता है? इस तरतमता के लिए नाना संगत कारण हो सकते हैं। स्वयं व्यक्तित्वों की अन्दरूनी

बनावट और बाहरी-पारिवारिक-स्थानीय-सामयिक सुविधा-असुविधा का अवसर। प्रकृति में चुनाव और छँटाव की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। हमारे द्वारा भी वह काम करती है और हम एक की अपेक्षा दूसरे की ओर अधिक झुकते या खिचते हैं।

प्रकृत आकर्षण और विवाह

आकर्षण स्वयं एकव्रती या एकाग्र होता है, यह नहीं मानना चाहिए। कारण, वह अंश का अखिल के प्रति है। वह सामान्य और व्याप्त है। समय और स्थान की अपेक्षा में एकाग्रता जो दिखाई देती है, वह तो सिद्धान्त के घटित घटना बनने के निमित्त अनिवार्य है। शेषतः माना जा सकता है कि प्रकृत भाव से वह आकर्षण एकोन्मुख नहीं है। व्यवस्था की दृष्टि से विवाह द्वारा उसे केन्द्रित बनाने में हमने सुविधा देखी है और उस संस्कार की सृष्टि की है। वह संस्कार इस सामान्य आकर्षण के सिद्धान्त को उपयोग में लेता और उससे लाभान्वित होता है। इसके आगे यदि संस्कार सिद्धान्त की ही सामान्यता पर आघात करने लग जाय, तो उस संस्कार में से अनिष्ट भी फलित हो सकता है। संस्कृति प्रकृति को अवकाश देते हुए चलती है; अन्यथा प्रकृति से विपरीत जाने पर संस्कृति स्वयं विकृत और पराभूत होगी। इसलिए विवाह को स्वत्वमूलक आधार देने और उसकी रक्षा में ईर्ष्या-द्वेष आदि को उचित ठहराने में स्वयं विवाह की ही हानि है। इस तरह तथामन्य संस्कृति मानो प्रकृति के विरुद्ध ठनकर अपने लिए संकट का आह्वान करती है। आकर्षण सामान्य, निरपवाद और सर्वोन्मुख होता है। इस तथ्य के साथ हमारी सन्धि कुण्ठाहीन और प्रसन्न होनी चाहिए। अन्यथा संस्कार के नाम पर हम विकार पैदा करने में कारण हो सकते हैं।

३५३. क्या सेक्स के स्थान पर कुछ और ऐषणाएँ अथवा आसक्तियाँ हैं, जो उतनी ही तीव्र और रसीली हों? मनोविज्ञान में एक क्लेप्टोमेनिया का जिक्र आता है। इसके बारे में कहा जाता है कि उसके शिकार व्यक्ति को उद्देश्यहीन अथवा कारण-हीन चोरी में उतना ही आनन्द आता है, जितना सम्भोग में आ सकता है। इस विषय पर आपका क्या कहना है?

हर कामना में काम गर्भित

—सेक्स अन्त में तो प्रतीक है। स्त्री के प्रति जो राग-मोह अनुभव में आता है, वह दूसरे प्रतीक पर भी क्यों नहीं स्थानान्तरित हो सकता। स्त्री-शव के साथ सम्भोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्त्रीत्व वहाँ नहीं है, केवल शव पदार्थ

है। फिर भी वहाँ कामेच्छा का आरोप कर लिया जाता है। इच्छा मात्र को जो हमारी भाषा में कामना कहा गया है, सो इसीमें यह गर्भित है कि हर कामना में काम-तत्त्व का समावेश है।

क्लेप्टोमेनिया विक्षिप्ति का रूप

फ्रायड महाशय ने इस प्रकार की नाना चेष्टाओं और स्वप्नों को अन्त में काम से जोड़ दिखाया है। क्लेप्टोमेनिया जिसको आपने कहा, वह काम का विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी हो यह आवश्यक नहीं है। वह स्वयं कामजन्य हो सकता है।

सच यह कि व्यक्ति अपने में इतना अपूर्ण है कि नाना इच्छाओं द्वारा शेष सबकी ओर अपना सम्बन्ध फैलाये बिना उससे रहा नहीं जाता। स्त्री के उपलक्ष से हम नाना वस्तुओं की इच्छा करने लगते हैं। कभी तो उपलक्ष अनुपस्थित भी हो जाता है और जान पड़ता है कि वस्तुओं की इच्छा स्वयं साध्य है। मूल में इच्छा का स्वरूप एक ही है। सामने जब व्यक्ति होता है, जिसमें स्वयं इच्छा का आरोप है, तो खिंचाव में जो संश्लिष्टता सृष्ट होती है, वह वस्तु के राग में उत्पन्न नहीं हो पाती। वस्तु में से कोई इच्छा चलकर हम तक नहीं आती, उसके लिए मानो हमें ही दोनों ओर से क्रिया करनी पड़ती है। इस तरह कामावेग जब कि सम सामान्य है, तब क्लेप्टोमेनिया को एक तरह विक्षिप्ति का रूप ही मानना पड़ता है।

३५४. रस अथवा आनन्द सस्पेन्स में निहित माना जाता है। और सस्पेन्स की तीव्र घुटन और उसके बाद हलकापन आने पर जो आनन्द की प्राप्ति होती है, उसीके कारण चोरी, हिंसा अथवा पर-स्त्री-गमन आदि के मीनियाज में एक विशेष आकर्षण पड़ जाता है। इस स्थिति का आप क्या विश्लेषण करते हैं ?

चेतन में इच्छा अनिवार्य

—वह स्थिति विश्लेषण की मोहताज ही नहीं है। सम्बद्धता में ही हम जीते और जी सकते हैं। इच्छाओं के सूत्र से हम चारों ओर फैले नानात्व से अपने को जोड़ न सकें, तो जीने का मानो अर्थ लुप्त हो जाता है। जड़ पदार्थ हम उसीको कहते हैं, जिसमें इच्छा की संभावना नहीं मानी जाती। चेतन प्राणी वही है, जो चाहता और उधर यत्न करता दीखता है। जीवन का सारा स्वाद इन सम्बन्ध-सूत्रों के द्वारा अनुभव में आता है।

सस्पेन्स

जिसको आपने सस्पेंस कहा, वह सम्बन्ध-सूत्रों में इच्छाओं के रक्त वेग से आयी पुष्टता और पीनता का ही नाम है। हमारे शरीर में रगें हैं, जिनमें रक्त दौड़ता

रहता है। प्रवाह का वेग बढ़ जाने पर एक तनाव और स्वाद का अनुभव होने लगता है। वह स्वाद एक साथ कष्टमय और आनन्दमय हो सकता है। ठीक इसी तरह इस वाताकाश में नाना सम्बन्ध-सूत्र फैले हैं। उनमें इच्छाओं का प्रवाह जब वेग पकड़ उठता है, तो मानो सस्पेन्स की स्थिति पैदा हो जाती है। पहले कहा है कि व्यक्ति मानो वह ग्रन्थि और क्रॉस प्वाइण्ट है, जहाँ नाना सूत्र एक गुलझट और केन्द्र बना लेते हैं। वहाँ से उन सूत्रों में इच्छाएँ दोनों ओर दौड़ने लगती हैं और दोनों केन्द्रों में स्वाद की अनुभूति पहुँचाने लगती हैं।

परस्पर क्षरण ही प्राप्ति

प्राप्ति जिसको कहते हैं वह परस्पर क्षरण का नाम है। इच्छा जब छूटकर दूसरे में खो जाती है, तो मानो सस्पेन्शन और तनाव का काम पूरा हो जाता और एक तृप्ति और सुख का अनुभव होने लगता है। लैंगिक सम्भोग में इस प्रक्रिया को आसानी से चित्रित देखा जा सकता है। तनाव होता है और एक क्षण आता है कि क्षरण और स्खलन हो जाता है। उस स्खलन के बिन्दु की एक तरफ सस्पेन्स का उठान है, दूसरी तरफ ढलान आ जाता है। इच्छा की तृप्ति के साथ ही इच्छा और तद्-जन्य तनाव और आनन्द का अवसान भी जान पड़ता है। इस उठान और ढलान से पार समतल सामान्य स्थिति पर आये नहीं कि फिर नयी इच्छा का उद्वेग अनिवार्य है। इसी तरह जीवन अपनी तनाव की स्थिति को कायम रखता और मुहुर्मुहु उसे ताजा बनाता जाता है।

परमात्म की इच्छा अभीप्स

यह सस्पेन्स गिरे और ढले नहीं, अगर प्राप्ति सम्भव न हो। जब हम गुण की इच्छा करते हैं तब मालूम होता है कि तृप्ति और प्राप्ति कभी पूरी नहीं होती। यह कामना अभीप्सा कहलाती है और इष्ट समझी जाती है। उसमें चंचलता नहीं देखी जाती। परमात्म के प्रति जो कामना है, उसे परम पुरुषार्थ ही मानते हैं। परमात्म को पाकर तो कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। वह सदा प्राप्त और अप्राप्त बना रहता है। इसलिए वह कामना है, जो सदा व्यग्र रहती है और कभी ठण्डी नहीं होती। वह नशा है जो कभी उतरता नहीं। जीवन का स्वाद मानो उसीमें परि-पूर्ण होता है। क्योंकि वहाँ क्षरण और स्खलन का अवसर नहीं है। या कहो प्रत्येक क्षण में ही वहाँ चरमता की अनुभूति है, जिसमें वियोग और संयोग एक साथ और अभिन्न होते हैं। चाह ही तृप्ति है, ग्रहण ही क्षरण है; उसमें प्रीति का तार टूटता नहीं है और उद्वेग की भाषा में तनाव अनुभव भी नहीं होता है। इस बेचैनी में ही वह चैन है, जिसके लिए आदमी भटकता है।

'डिजाय-र्स' और 'दि-डिजायर'

जीवन की कृतार्थता को स्थिर, शान्त, निश्चिन्तता की भाषा में मानने से भ्रांति उत्पन्न होती है। मानो चिन्मय के लिए उस भाँति जड़ता का आदर्श प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'इच्छानिरोधस्तपः' की भाषा कभी साधक को जीवन से विमुख भी डाल देती हैं। मैं समझता हूँ कि उस सूत्र का सार है कि इच्छा के नानात्व से ही हम बचें। इच्छा मात्र से मुक्ति पत्थर को मिली हुई है और आदमी को कभी नहीं मिल सकती हैं। बहुतत्त्व का नाश इस सम्बन्ध में अवश्य हो सकता है और वही है जो इष्ट है। जो केवल और एक और एकाग्र है, वह इच्छा परमात्म के प्रति ही होती और वहीं जाती है। डिजायर्स के अन्त का 'स' मिट जाय तो वह डिजायर रह जाती है, जिसके शुरू में 'द' लग जाता है। वह 'द डिजायर' जीवन की और परम पुरुषार्थ की लौ सरीखी ही है। वही सारंभूत है।

३५५. अवाञ्छ्य वाञ्छा को पूरा करने के लिए चोरी और हिंसक उपायों द्वारा काम लेने पर अनिष्ट की आशंकामूलक जो सस्पेन्स होता है, उसमें भय और आनन्द की जितनी तीव्रता मिलती है, उतनी वाञ्छ्य वाञ्छा को अहिंसक उपायों द्वारा प्राप्त करने के प्रयास में इष्ट-प्राप्ति की सम्भावनामूलक सस्पेन्स में क्यों नहीं मिल पाती?

पाप में स्वाद की तीव्रता अधिक

—प्रश्न शायद यह कि पाप में पुण्य से अधिक बल और रस क्यों मालूम होता है। उत्तर में मैं यह कहूँगा कि पुण्य में शायद हमारा उतना अपनापन नहीं जाता, जितना पाप में जा रहा होता है। जितना सावधान और जाग्रत और यत्नशील कोई चोर अपनी चोरी में रहता है, उतना पुजारी को अपनी पूजा के काम में नहीं देखा जाता। लगन की तीव्रता से स्वाद में तीव्रता आती है।

ईश्वरी पैशन, शैतानी पैशन

यह अनिवार्य नहीं है कि जिसे पाप कहते हैं, तीव्रता उसीके प्रति हो सकती हो। सन्त में तीव्रता होती है और वह पाप के उपलक्ष से नहीं होती। उस तीव्रता की कल्पना कीजिये जिसके कारण स्वयं अपने सहयोग से ईसा अपनी ही फाँसी को निरुद्विग्न अपने कंधों लेकर बढ़ते चले गये थे। जो शहीद हो गये हैं और डिगे नहीं हैं, उनकी लगन की तुलना कहाँ मिलेगी? एक जगह गांधी की विशेषता पूछे जाने पर किसी मनीषी ने कहा कि वह विशेषता है पैशन। क्राइस्ट को लेकर जर्मनी का एक गाँव का गाँव तीन सौ वर्षों से प्रणबद्ध हर दस वर्ष के अन्तर से एक ही खेल खेलता जा रहा और उसी पर जीता और समृद्ध होता जा रहा है।

उसको पैशन-प्ले कहते हैं। पैशन पाप के साथ होता है, यह समझना भूल है। ईश्वरीय पैशन का मुकाबला शैतानी पैशन कभी कर ही नहीं सकता। लेकिन यह मानना होगा कि हाँ, पैशन में जीवन उत्कर्ष पर होता और वहीं जीवनानुभूति तीव्र होती है।

अहन्ता-भगवत्ता का मौलिक विग्रह

ट्रेजडी की उपलब्धि अधिक मार्मिक समझी जाती है, सो क्यों? इसीलिए कि भगवत्ता और अहन्ता के मौलिक विग्रह में से चित्त को सबसे अधिक तनाव और सस्पेन्स की अनुभूति प्राप्त होती है। पाप और पुण्य का वैपरीत्य और ऐक्य भी वहीं देखने में आता है। राम-रावण, कृष्ण-कंस परस्पर सम्मुख आ खड़ होते हैं और अपनी-अपनी लीला सम्पन्न करते हैं तो जान पड़ता है कि जीवन के आदि अर्थ और मूल मर्म का ही प्रस्फुटन और उद्भवन हो रहा है।

जीवन का अस्वीकरण ही हेय

समतल से नीचे जिस मात्रा तक पाप उतर सकता है, मानो ऊँचे में उसी अंश तक के पुण्य-दर्शन की सम्भावना हो आती है। ऐसे चेतना का और जीवन का वितान विस्तृत ही होता है। जिससे डरने की आवश्यकता है, वह जीवन का ह्रस्वीकरण है। जिसका निषेध है वह जीवन की सिमटन और सिकुड़न है। तुच्छता और कृच्छ्रता जैसे पाप को भी अविचारणीय बन जाती है और एक ऐसा अंधकार भी हो सकता है, जिसकी कालिमा अपनी परिपूर्णता द्वारा ही अनोखी चमक दे आये। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार के काले-उजले के आदि विग्रह से स्वयं सृष्टि और स्रष्टा का काम चलता है।

पैशन का अपना स्वतन्त्र मूल्य भी है। पाप की दिशा गलत है, पुण्य की दिशा सही है, यह ठीक हो सकता है। लेकिन इससे पैशन के स्वतन्त्र मूल्य और स्वतन्त्र स्वाद में अन्तर नहीं आता है।

३५६. इन्द्रिय-आसक्तियाँ कितनी दूर तक मानव-मानस के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष में कारण बनती हैं और बन सकती हैं?

इन्द्रियों की आसक्ति

—इन्द्रियों के पदार्थों के प्रति निष्प्रयोजन अनुराग को शायद हम इन्द्रिय-आसक्ति कहेंगे। इन्द्रियों के पीछे जब मनोनीत कोई लक्ष्य नहीं होता है, वे अपने-आपमें चंचल होती और वस्तुओं के प्रति भटकती हैं, तब कहा जाता है कि वे स्वैराचारिणी

हैं। इन्द्रियों के इस प्रकार के व्यवहार से उत्कर्ष का साधन नहीं हो सकता है, सदा अपकर्ष ही होता है।

अन्तर्मन की आसक्ति

आसक्ति जब इन्द्रिय से आरम्भ नहीं होती, बल्कि अन्तर्मन से आती है, इन्द्रियों का केवल उपयोग और प्रयोग होता है, तो उससे व्यक्तित्व को उत्कर्ष प्राप्त होता है।

इच्छा रूपग्राही, गुणग्राही

पहले कहा कि इन्द्रियाँ तो द्वार हैं। गृहवासी आवश्यकतानुसार द्वार खोले और बन्द करे, वहाँ से आये और जाये, तो यह द्वार का सदुपयोग है। गृहवासी के हित से निरपेक्ष द्वार यदि लू को अन्दर लाये और स्वच्छ वायु को रोकने लग जाय, तो मानना होगा कि वह अपना काम नहीं कर रहा है। और व्यक्तित्व में ऐसा अक्सर हो जाया करता है। अनेकानेक इच्छाएँ अन्तस्तल को बिना छुए ऊपरी मन में या कहो इन्द्रियों में भी उत्पन्न होतीं और वे बाहर की ओर भागने लगती हैं। इससे व्यक्तित्व में विघटन आता है। ऐसी इच्छा रूपज होती है, गुण को नहीं देख पाती। यदि चेतना के अभ्यन्तर में से आयी हुई अभीप्सा हो, तो वह रूप के पार गुण से सम्बन्ध जोड़ती और इस तरह उत्कर्षसाधक होती है। उससे व्यक्तित्व एकत्रित और सुगठित बनता है। ●

९

इंस्टिंक्ट्स

इंस्टिंक्ट

३५७. जिन्हें अंग्रेजी में इंस्टिक्ट्स कहा जाता है, वे क्या कामनाओं के समकक्ष अथवा उनसे कहीं कुछ भिन्न हैं?

—कामना मानो हमसे है, हमारे वश में है। इंस्टिक्ट हममें है और मानो हम उसके वश में हैं।

३५८. इंस्टिक्ट्स व्यक्तित्व की किसी परिस्थिति में से पैदा होती है अथवा वे नैसर्गिक हैं?

सामान्य संस्कार ही इंस्टिक्ट

—इंस्टिक्ट्स प्राप्त होती हैं। जीवनभर रहते-रहते और करते-करते मानो हम संस्कार के किसी सूक्ष्म अंश को इंस्टिक्ट के तल तक पहुँचा पाते हैं और इस तरह शायद मानवता में बाल बराबर अन्तर कर पाते हैं। इंस्टिक्ट में व्यक्तित्व अपवाद नहीं होते, सामान्य होते हैं। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से अलग है, वह भूमिका इंस्टिक्ट की नहीं है, उससे ऊपर बुद्धि-विवेक, विकल्प-संकल्प आदि की है। इंस्टिक्ट की भूमिका पर मानव सब लगभग समान हैं। इंस्टिक्ट अर्जित और संचित है मानव की पीढ़ी-दर-पीढ़ियों का। वह अमुक व्यक्तित्व की सीमित वायु पर उतना निर्भर नहीं है।

पशु इंस्टिक्ट्स

३५९. पशुओं के सम्बन्ध में इंस्टिक्ट्स का आप क्या खुलासा प्रस्तुत करेंगे? उन्हें इंस्टिक्ट्स का निर्माण करने के लिए जीवनभर वैसा करते रहने की आवश्यकता नहीं है। जन्म से ही वे विशेष आचरणों का स्वभाव लेकर पैदा होते हैं और जीवन-भर उनमें न विकास होता है, न ह्रास।

—जीवन वह तत्त्व नहीं है जो विकास या ह्रास बिना केवल स्थित रहे। पशु जो इंस्टिक्ट्स प्राप्त करता है उसमें कुछ योग नहीं होता, यह नहीं माना जा सकता।

प्राकृतिक विज्ञान बताता है कि कैसे विकास-क्रम में जन्तु और प्राणी के बाद मानव का उदय हुआ। यदि निसर्ग से जो प्राप्त है, उसमें कुछ योग न हो पाये तो विकास शब्द असिद्ध ठहरता और कालक्रम का अर्थ नष्ट हो जाता है। अलबत्ता यह माना जा सकता है कि पशुओं में यदि इंस्टिक्ट्स का ही उपयोग है, साथ उन इंस्टिक्ट्स में विकास भी होता रहता है, तो यह विकास-क्रिया प्रकृति और इतिहास में अन्तर्भूत है, सचेत प्रयत्न उसके पीछे नहीं है। मनुष्य के साथ कहा जा सकता है कि उसका योग इस विकास-प्रक्रिया में सचेत और इसलिए सवेग होता है। उसके भीतर जो एक विवेक का यन्त्र है, उससे उन्नति की क्रिया दिशायुक्त और कुछ वेगयुक्त हो जाती होगी।

अन्तर्भूत गति, विकास

प्रकृति स्वयं स्थिर नहीं है। चिन्मय होकर ब्रह्माण्ड जड़ की भाँति कैसे वर्तन कर सकता है। इसलिए न केवल प्रकृति में, बल्कि पदार्थ मात्र में अन्तर्भूत एक गति और विकास है।

समष्टि भाव से देखें तो मैं विकास को इतना अनिवार्य मानता हूँ कि ह्रास को अवैज्ञानिक और अप्राकृतिक तक कह दूँ।

३६०. तनिक और स्पष्ट बताइये कि इंस्टिक्ट्स का सम्बन्ध जीव और मानव-चेतना की अथवा सृष्टि-चेतना की किस पर्त से आप स्थापित करेंगे? शायद अहं से तो इसका सम्बन्ध स्थिर किया नहीं जा सकता!

इंस्टिक्ट अहं से सम्बद्ध

—क्यों, अहं से ही उसका सीधा सम्बन्ध है। भूख और भोग अहं बिना बन ही नहीं सकते। शिकार का और भय का इंस्टिक्ट शुरू से जन्तु-जगत् में देखा जाता है। ये दोनों स्वत्व भाव के बिना सम्भव नहीं हैं। स्वत्व जहाँ से है और जब तक हैं भय भूख और भोग उसके साथ हैं। सच यह कि मूल इंस्टिक्ट्स को स्वरक्षा और स्ववर्धन या प्रजनन से जुड़ा देखा जा सकता है। मैं और शेष इन दो आधारों पर ही जीवन की क्रिया-प्रक्रिया शुरू होती है। सब इंस्टिक्ट्स इसीमें से बनते और पुष्टि पाते जाते हैं।

अहं व्यक्तित्व और विवेक का पर्याय नहीं

मनुष्य में आकर आरम्भ की स्व-परता परस्परता में परिणत होती है। अहं को हम व्यक्तित्व और विवेक का ही जो पर्याय मानते हैं उसीसे यह भ्रम होता है

कि मानों जन्तु-जीव जगत् में अहं की स्थिति न हो। इतना तो अवश्य है कि अपने से बाहर अहं की स्थापना करने की क्षमता उनमें नहीं होती है, जिसे विवेक कहते हैं। मनुष्य यह देख और मान पाता है कि दूसरे में भी अपना 'मैं' है। इस पद्धति से शायद परस्परता और सामाजिकता मानव-तल पर आकर प्रकट होती है। उससे पहले यूथबद्धता तो है, शायद वह नहीं है जिसे सामाजिकता कह सकें।

यूथ-भाव और सामाजिकता

कीट-जगत् में अद्भुत संगठन के चमत्कार पाये जाते हैं। अन्य प्राणियों में भी किंचित् कुटुम्बता देखी जा सकती है। गोल और झुण्ड तो पशुओं में आम हैं। किन्तु इस सबको सामाजिकता कहने में शब्द की सीमा और परिभाषा पर जोर पड़ता है। कहा जा सकता है कि वहाँ हर्ड इंस्टिक्ट (यूथ-भाव) काम कर रहा होता है, सामाजिक भाव नहीं।

मानव-चेतना जीव-चेतना से केवल इस अर्थ में भिन्न है कि जीव में नितान्त प्रकृति काम करती है, मानव में प्रकृति संस्कृति बनकर भी काम करती है। अर्थात् मानव प्रकृति के हेतु मैं अपने विकल्प-संकल्प द्वारा स्वेच्छित सहयोगी हो सकता है।

३६१. मानव में जो रह-रहकर विवश आवेग और संवेग प्रकट होते हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक सभ्यता के नीचे अभी तक सचेत पशु इंस्टिक्ट का नाम देते हैं और जिन्हें धार्मिक भाषा में शैतानियत कहा जाता है, उनको आप कितनी दूर तक मानव-चेतना के संस्कार और विकास में सहयोगी अथवा प्रतियोगी मानेंगे ?

संकल्प विकल्प से ही पूर्ण

—सच यह कि संकल्प के समान विकल्प को भी मैं विकास में सहयोगी मानता हूँ। संकल्प को विकल्प से लड़ते हुए ही बढ़ना पड़ता है। यों भी कह सकते हैं कि रावण के बिना राम सम्पन्न नहीं हो सकते। द्वन्द्वात्मकता मानो विकास की प्रक्रिया है। वह एकांगी विचार है, जो निकृष्ट-उत्कृष्ट, गुण-अवगुण और पाप-पुण्य के अन्तर्विरोध में से निर्गुणता और उत्तीर्णता को लक्ष से भुला देता है और केवल उत्कृष्ट अथवा गुण अथवा पुण्य की धारणा से चिपट बैठता है।

इंस्टिक्ट पाशविक नहीं, दैविक

जो विवश आवेग और संवेग मनुष्य में से प्रकट होते हैं, उन्हें मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक सभ्यता पाशविक कहे और धार्मिक भाषा आसुरी कहे तो उनका काम चल सकता होगा। मैं उन्हें दैवी भी कह सकता हूँ। पशुता का प्रवेग

ही उनमें नहीं देखा जाता, कभी दिव्यता और साधुता का भी प्रस्फुटन देखा जाता है। तर्क-विवेक में से कभी वह आध्यात्मिक चमत्कार नहीं निकला है, जो अनपेक्षित संवेग में से फूट निकला है। इसलिए यह मानना कि इंस्टिक्ट की मूल पीठिका पशुता है, एकदम भ्रान्त है। सच यह कि सब इंस्टिक्ट्स के मूल में अहन्ता और भगवत्ता का द्वन्द्व है। उन दोनों में भी अहन्ता से मूलगत भगवत्ता है और वही निरपेक्ष सत्यता है। इस प्रकार यदि पशुता का उद्वेग है, तो उसे प्रतिक्रिया-जन्य ही मानना चाहिए; शुद्ध आवेग और संवेग दिव्य ही हुआ करते हैं। अर्थात् यदि अहंता हमारी इतनी लीन हो जाय कि विवेक से उत्तीर्ण हो सकें तो उस समय हम पशु नहीं दीखेंगे, पुरुषोत्तम बने दिखाई देंगे। आदमी अपने को छोड़ दे, और यह सिद्धि परम साधनापूर्वक ही साधी जा सकती है, तो वह नीचे जाकर पशु नहीं बनेगा, बल्कि उठकर महामानव बनता दिखाई देगा।

मर्मातिमर्म में पशुता नहीं, भगवत्ता

संक्षेप में आज का मनोविज्ञान और रूढ़ धर्मविज्ञान भी अनास्था से चलता और अधूरा चलता है। इसीसे वह शैतान और पशु को महत्त्व दे निकलता है और भगवान् और इन्सान की दिव्य सम्भावनाओं से वह अपने को वंचित बना लेता है।
इस दृष्टि से अपने ही आवेगों और संवेगों के प्रति हमें शंकाशील होने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जिसको अन्तर-ध्वनि (स्टिल माल वॉयस) अन्तर-आदेश अन्तःप्रज्ञा आदि कहते हैं, उसके सम्बन्ध में हमें अविश्वासी नहीं होना चाहिए। तर्कानुमोदित नाना मत-मन्तव्यों से यह अधिक विश्वसनीय तत्त्व होता है। अक्सर देखा गया है कि संकल्पबल से नहीं हुआ वह प्रार्थना से सम्भव हो गया है। जिन्होंने अहं-संकल्प को छोड़ दिया, प्रार्थना और वहाँ से मिले आदेश को ही सब कुछ मान लिया, ऐसे लोग इतिहास में अतुल पराक्रम दिखा गये हैं। इस ऐतिहासिक सत्य का इससे दूसरा और क्या चरितार्थ हो सकता है कि मनुष्य के मर्मातिमर्म में भगवत्ता पड़ी हुई है और जो अहं के एक-एक पटल को भेदकर और चुकाकर भगवत्-भाव तक पहुँच पाता है, वह अंशता से उठकर सर्वता को प्रकट करने लग जाता है। समय है कि इस ऐतिहासिक सत्य को हमारा मन का और धर्म का विज्ञान अंगीकार करे और उसके प्रकाश में अपने में आवश्यक संशोधन करे।

इंस्टिक्ट की स्थिति-गति

३६२. तब स्थिति यह हुई कि इंस्टिक्ट्स जो ऊपर से अहं से और उसके माध्यम से अस्तित्व के प्रश्न से जुड़े दीखते हैं, उनकी जड़ें सीधी नीचे भगवत्ता में हैं ?

—हाँ, और उस भगवत्ता में स्थिति ही है, गति नहीं है। गति के लिए अहन्ता का उदय हुआ। कहा जा सकता है कि भगवत्ता की अपेक्षा अहन्ता आंशिक है, आसुरी है, इत्यादि। लेकिन उसका आरम्भ स्वयं भगवत्ता की अनुमति से ही हुआ हो सकता है। भगवत्-पूर्वक हम अहं-वृत्तियों का स्वीकार और पुरस्कार करें, तो मैं मानता हूँ कि वे सब आवेग और संवेग बाधक होने के बजाय प्रकाशक और पूरक होने लग जायँगे।

भगवत्-सन्दर्भ से अहन्ता में रूपान्तर

होता यह है, और अनिष्ट का आरम्भ भी वहींसे है, कि अहन्ता भगवन्मुखी हुए बिना भी काम कर पाती है। इस तरह वह अहमहमिका के द्वन्द्व और जाल को बढ़ाने-वाली हो जाती है, भगवत्ता के विस्तार में सहायक नहीं हुआ करती। अहन्ता के लिए शुभ और सम्भव है कि वह भगवन्मुखी हो और तब उसीके योग से नर में से नारायण क्रमशः प्रकट होता जा सकता है। वैसी अहन्ता पवित्र और पुण्यात्मक होती है, उसका बल शारीरिक या सांस्थानिक या उपकरणात्मक होने की जगह नैतिक और आत्मिक होता है। ऐसी अहन्ता एक साथ ही नम्र और अटूट होती है। कुसुम-सी कोमल और वज्र-सी कठोर हो सकती है। मानो तब अहन्ता के समस्त अवगुण भगवत्ता की निर्गुणता का सन्दर्भ पाकर गुणरूप में प्रकट होने लगते हैं। क्रोध तेज बन जाता है, भय पाप का होने के कारण जगत् के प्रति निर्भयता का रूप ले लेता है। दुर्बलता नम्रता बनती और दर्प के समक्ष अडिग बने रहने का सम्बल पाती है। व्यक्ति-सन्दर्भ की जगह भगवत्-सन्दर्भ आते ही समस्त व्यक्तिमत्ता मानो ऐश्वर्य के चमत्कार को स्वरूप देने के लिए माध्यम भर रह जाती है। अभी जो बुझा और मृत था, भगवत्-प्रवाह खुलते ही बिजली के बल्ब के समान चमक आता और प्रकाश देने लगता है।

व्यक्ति के विराट् बनने के उदाहरण अन्यथा किसी और तरह नहीं समझे जा सकते हैं। उनका रहस्य खुलता है, तो मानो इसी आस्था की कुंजी से खुल पाता है।

३६३. इंस्टिक्ट्स की कार्यपद्धति में तनिक और विस्तारपूर्वक समझना चाहूँगा। मैं यह समझ पाया कि जब इंस्टिक्ट्स रूपी नसें भगवन्मुखी अहं के माध्यम से सीधी ईश्वर की समग्र चेतना से जुड़ जाती हैं और ईश्वर की शक्ति उन नसों में प्रवाहित होने लगती है, तो मानव-व्यक्तित्व में वह मौलिक वेग उत्पन्न हो जाता है जो सर्जक प्रतिभाओं को जन्म देता है। और मन और विवेक को अपनी मुट्ठी में रखता हुआ वस्तु-जगत् को एक नया रंग, रूप और आकार प्रदान कर जाता है। क्या मेरी यह निष्पत्ति सही है ?

भगवन्मुखता से वृत्तियों में संग्रथन

—हाँ, लगभग सही है। लगभग इसलिए कहता हूँ कि इंस्टिक्ट्स बहुल होते हैं, अहं एक होता है। इसलिए अहं के भगवन्मुख होने पर सब इंस्टिक्ट्स जिनका मूल अहंगामी है, मानो एक प्रेरणा से अभिमुख होते और बाहर जानेवाली इच्छाओं को भी मानो एकाग्र और एक-व्रती बनाने लग जाते हैं। ऐसे जीवन में एक उद्देश्य का निर्माण होता है और सारी प्रवृत्तियों में संग्रथन आ जाता है। ग्रन्थि फिर बन नहीं पाती और प्राण-प्रवाह वेग से वस्तु-जगत् में पड़ता और उसको आत्मवान् करने लगता है। प्रतिभा इस प्रकार मानो अपनी चमक से वस्तुओं को चमका देती और उनमें नया सन्दर्भ डाल देती है।

प्रेम और प्रतिभा

लेकिन प्रतिभा शब्द का मैं अविश्वासी भी हूँ। प्रतिभा में चमक आवश्यक है, जो द्वन्द्वज हुआ करती है। प्रेम की प्रभा प्रतिभा से बिलकुल दूसरी चीज है। प्रेम द्वन्द्व की व्यथा में से निकलता है। और यद्यपि उसे उसी स्रोत से आया कह सकते हैं, जहाँ से प्रतिभा जन्म पाती है, लेकिन उसमें द्वन्द्व से ऐक्य की तड़प अधिक होती है, अहन्ता वहाँ भगवत्ता की स्पर्द्धा नहीं, युक्तता से अनुप्राणित होती है। इस तरह उसमें ताप की जगह स्नेह और धूम की जगह चाँदनी अधिक प्रतीत होती है। देखने में प्रेम को प्रतिभा कहा ही नहीं जा सकता। उसमें सौम्यता और ऋजुता की इतनी मात्रा होती है कि सहसा किसीको स्तब्ध और स्तिमित नहीं करती। उसका ऐश्वर्य बाहर से आपकी आँखों को चमत्कृत नहीं करता, जितना कि भीतर हृदय में उसकी महिमा का शनैः-शनैः उद्‌घाटन होता जाता है। क्राइस्ट का उदय और अस्त अत्यन्त सामान्य भाव से हो गया। उन दोनों के अर्थ का उद्‌घाटन पीछे इतिहास को करना पड़ा। फिर तो उस साधारणता में इतना विराट् आशय दीख पड़ा कि मानवता एक नवदर्शन से भर गयी और जगत् में कायापलट आ गया।

इस चेतावनी के साथ जो आपने इंस्टिक्ट्स की कार्यपद्धति का चित्र दिया, उससे मैं सहमत हूँ।

इंस्टिक्ट्स से उत्थित प्राणशक्ति

अहं कोई स्वतन्त्र और इंस्टिक्ट्स का विभु तत्त्व नहीं है। इंस्टिक्ट्स से मानो वह स्वयं बुना और बना हुआ है। अहं के पास बाहर वस्तु-जगत् से सम्बद्धता रखने और प्रकट करने के जो यन्त्र साधन रूप हैं वे मन, विवेक और कही जाने-

वाली दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ हैं। इंस्टिक्ट्स के द्वारा उत्थित और प्रक्षिप्त प्राण-शक्ति मानो मन-विवेक में से गुजरती और इन्द्रियों को चालना देती है। मन और विवेक उस प्राण-शक्ति को दबा नहीं सकते, नियुक्त भी नहीं कर सकते, सिर्फ उसमें कुछ छँटाव कर सकते हैं। मानिये कि वे कुछ छलनी का काम करते हैं, जिसके छिद्रों में से प्राण-प्रवाह रुक नहीं पाता है, कुछ निर्वाचन और निर्देशन अवश्य पा जाता है। छानने के द्वारा हम कुछ अलग छोड़ देते हैं और उससे रखने योग्य को अलग पा लेते हैं। इसके अतिरिक्त मन-विवेक द्वारा उस प्राण-वेग को कुछ दिशा का इंगित भी मिल जाता है। एयरकंडीशनर के मुख पर आपने छोटे-छोटे छिद्रयुक्त लकड़ी के चौखटे लगे देखे होंगे, उनकी व्यवस्था से भीतर से आती हवा को अमुक दिशा दी जा सकती है। मानना चाहिए कि निर्वाचन और निर्देशन का यह लाभ इंस्टिक्ट्स से बाहर की ओर फेंके गये प्राण-वेग को मिलता और उनमें अर्थवान् कुछ प्रयोजन पड़ता है।

तर्क-विवेक आप देखियेगा कि अन्त में अहं-समर्थन में ही लौट आता है। हम तर्क से वही सिद्ध कर पाते हैं, जिसे पहले से अपने निकट सिद्ध हुआ पाते हैं। हमारी बुद्धि-शक्ति इस तरह आस्था से विपरीत नहीं जा पाती, आस्था को पुष्ट करने का ही काम वह कर सकती है। इस प्रकार चाहे तो वह बुद्धि अनास्था को तर्क-संगत दिखा सकती है, इस शर्त पर कि अनास्था अस्मिता का मूल भाव हो। अर्थात् मन अहं से और तर्क मन से स्वतन्त्र होकर काम नहीं करता है। इन्द्रियाँ तो, चाहे फिर किसीको ज्ञानेन्द्रिय क्यों न कहें, मन-विवेक के बिना चलती ही नहीं हैं।

गर्भस्थ भगवत्ता निरर्थक नहीं

यहाँ यह भूलना नहीं चाहिए कि केवल इस कारण कि भगवत्ता गूढ़ गर्भ में है वह कभी भी सर्वथा निरर्थक नहीं हो जाती। हम जिस शहरीली धरती पर रहते हैं, वह ठोस-बंजर है। नीचे उसके कोयला हो, या पानी हो, या जो भी अलाय-बलाय हो, लेकिन नीचे से नीचे जाकर गर्भ-तल में तो केवल अग्नि है। वह अग्नि ज्वालामुखी द्वारा ही प्रकट होने के लिए नहीं है, बल्कि किसी-न-किसी प्रकार हमारी धरती की उर्वरता और बंजरता दोनों को धारण और नियत करती है। क्राइस्ट और बुद्ध और मोहम्मद और गांधी जैसे उदाहरणों पर उस भगवत्ता के प्रमाण को स्थगित न मानिये। हममें से प्रत्येक की प्रक्रिया को समझने और खोलने में उस भगवत्-तत्त्व का सहारा काम आता है। अर्थात् किसी भी स्तर पर, फिर भले वह इन्द्रियों का स्तर ही क्यों न हो, वह भगवत्ता असंगत और अनुपस्थित तत्त्व नहीं है। दुष्ट-से-दुष्ट में भी जो अनुताप देखा जाता और जैसे-तैसे अपना

गम गलत करने की कोशिश पायी जाती है, उसमें उसी तत्त्व का प्रताप देखा जा सकता है। संक्षेप में इंस्टिक्ट्स, जिनके पुंज को हम अहं कह सकते हैं, हममें से काम करते और मन विवेक का संस्कार भी स्वीकार करते हैं। वे मूल द्वन्द्वात्मकता से मुक्त नहीं होते और जाने-अनजाने आसुरी भावों में से भी अन्तिम परिणाम स्वरूप भगवत्ता को ही सम्पन्न करते हैं।

३६४. इंस्टिक्ट्स का भाव और विचार-जगत् से क्या सम्बन्ध है ?

इंस्टिक्ट और भाव-विचार

—भाव व्यापक शब्द है। मैं मानता हूँ कि विचार संज्ञा उसे तब मिलती है, जब मन से पार आकर उसको भाषा की रेखा और परिभाषा मिलती है। भाव रेखा-हीन है, जैसे कि भाप। विचार भाषा में व्यक्त और आकृति-प्राप्त है, जैसे कि पानी। मैं मानता हूँ कि जिसको साहित्य कहते हैं, अर्थात् ऐसी अभिव्यक्ति जो अन्य के साथ रसानुभूति की सम्बद्धता पैदा करे, भावप्रेरित होती है। साहित्य अथवा कला की सृष्टि के पीछे भावानुभूति आवश्यक है, तत्त्वज्ञान से उसका काम नहीं चल सकता। तत्त्वज्ञान परिभाषायुक्त होता है और वह तभी सर्जनात्मक हो सकता है, जब वह तर्काश्रित नहीं, बल्कि भावाश्रित है। अर्थात् उसमें व्यक्तता के साथ गूढ़ता हो, अर्थवाचक से अधिक वह अर्थवाहक हो, उसमें सूचन हो प्रतिपादन न हो। भाव के और मूल में जायँ तो शायद वह व्यथा और पीड़ा भर रह जाता है। इंस्टिक्ट्स में मानो उच्छलन गर्भित है, उसमें प्रक्षेपण अनिवार्य है। पीड़ा अधिक गूढ़ और गर्भस्थ होती है। सतह पर लहरें उछलती हैं, अन्तर-गर्भ में समुद्र स्तब्ध होता है। मानो पीड़ा उसी अभ्यन्तर का रूप है। महान् सृष्टि भाव से भी अधिक मानो वेदना में से आती है। भाव में फिर भी जाने और पाने की आकांक्षा है। पीड़ा में मानो निःकांक्षता निरपेक्षता है। वह ऐसा विरह है कि उसीमें उसकी परिणति और तृप्ति है। अर्थात् भाव की व्याप्ति व्यथा और विचार के बीच तक माननी चाहिए। विचार की रेखा जब तक नहीं मिलती और विरहाकुलता जब सम्प्राप्ति की ओर चलती है, तो इसमें भाव अपना विस्तार पाता है।

३६५. विचार को अलग रखकर पहले आप भाव का सम्बन्ध इंस्टिक्ट और कामना से क्या है, यह स्पष्ट करें। क्या इंस्टिक्ट और कामना भावों को उद्दीप्त नहीं करते? जिसे आपने पीड़ा और अन्तर्व्यथा कहा है, और जिसे भाव का आधार बताया है, उसकी जड़ तो मूल द्वन्द्व में है और मूल द्वन्द्व इंस्टिक्ट और कामना का भी उद्गम स्रोत है। तब क्या भाव भी सीधे मूल द्वन्द्व से ही निःसृत

होता है? और इंस्टिक्ट के समकक्ष अथवा उससे सम्बद्ध होकर उठता और बहता है?

उनकी परिसीमाएँ

—इंस्टिक्ट अहंगर्भ में प्राप्त है। वह व्यक्तिगत से अधिक प्राणगत और जातिगत कहा जा सकता है।

भाव की अनुभूति व्यक्तिगत है। भाव भी इस तरह व्यक्तिपरक है।

दोनों व्यक्ति में अन्तर्भूत हैं, किन्तु कामना के लिए व्यक्ति से बाहर किसी काम्य की निर्भरता अनिवार्य हो जाती है। कहना चाहिए कि कामना शब्द उस भाव के लिए संगत होता है, जिसका प्राप्य कहीं बाहर स्थिति पा गया है।

विचार संगत होता है, जब अभिव्यक्ति शब्द द्वारा हो। अभिव्यक्ति ध्वनि द्वारा जब होती है, तो मानो स्वर-सप्तक वहाँ अक्षर-शब्द का स्थान ले लेता है। इसी तरह रंग द्वारा अभिव्यक्ति होने पर मानो आकृति-शिल्प को वह पद दिया जा सकता है। संक्षेप में प्रेषणीय को जब रेखाओं का तट और उनकी परिभाषा मिलने लग जाती है, भाव उससे पहले-पहले रहता है। तट मिलने पर उसको अधिक व्यक्तता, आकारता और स्वरूपता मिल जाती है। कामना अधिक रूपाकृति प्राप्त है। भाव अपेक्षाकृत अरूप और निराकार होता है।

इंस्टिक्ट्स से उन दोनों शब्दों के विग्रह का अवकाश नहीं है। कारण वह व्यक्ति-मत्ता से नीचे मानो जातिगत होती है। ●

७

भाव, कल्पना, स्वप्न

भावोत्पत्ति, भावानुभूति

३६६. क्या भावोत्पत्ति और भावानुभूति एक ही चीज है। इनके उत्पत्तिक्रम को मैं अभी तक वैज्ञानिक रूप में समझ नहीं पाया। शायद भाव अहं से उठकर मन में प्रवेश करता है और मन उसे इन्द्रियों की ओर भेजता है और इस प्रकार इन्द्रियाँ भाव को मन में लाती हैं और वहाँ से अहं के पास पहुँचकर फिर उसे रसास्वाद कराती हैं। बुद्धि केवल इन भावों के परिष्कार और यथाशक्ति नियमन का ही काम करती है। इस मेरे काल्पनिक क्रम से आप कितनी दूर तक सहमत हैं?

—एक बात को भूलना नहीं चाहिए। वह यह कि अहं अंशता के भाव से किसी क्षण मुक्त नहीं होता। इसलिए सर्वता के भाव के प्रति प्रतिक्षण उन्मुख और आग्रही होता है। इस भाव की उत्पत्ति की भूमिका को इंस्टिंक्ट कहिये या स्वयं अहं ही कहिये, एक बात है।

इस तरह अंश से उठकर कुछ शेष की ओर जाने को बाध्य होता है, फिर वहाँ से अहं की ओर अनिवार्यतया कुछ आता भी है। इस देन और लेन से जीवन-प्रक्रिया चलती और बढ़ती है। इस वर्तुलाकार गति में जो तत्त्व अन्तस से उठकर बहिर को छूता हुआ फिर अन्तस में लौटकर पड़ता है, वह विवेक और मन से अहं की ओर जाते और आते भाव का रूप ले रहता है। भाव पर रेखा नहीं होती। उसकी अनुभूति होती है, संवेदन होता है, उसका कलेवर मानो पीड़ा का बना होता है। उस जगह उसको दूसरे से पृथक् करना नहीं हो पाता। मानो दुख और सुख यहाँ एक बने रहते हैं। भाव प्रतिभाव से अलग नहीं होता। ऐसा भाव हममें से किसीके लिए अपरिचित नहीं है जिससे एक साथ त्रास और लास मिलता हो। मन-बुद्धि से उसको परिभाषा मिलती और पृथक्करण मिलता है। यों समझिये कि भोजन के समय नाना व्यंजनों का अलग-अलग रस रसना को ही प्राप्त होता है, उन स्वादों का पृथक्पन एक जगह जाकर समाप्त हो जाता है। मानिये कि तब वह रस रक्तानुभूति आदि में परिणत होता है। उसके भी बाद वह चैतन्य और स्वास्थ्य का

भाव लेने लगता है। जब चैतन्य और स्वास्थ्य में उसकी परिणति होती है, तो मानो उस पर से भेद और सीमा की रेखा समाप्त हो जाती है। भाव, अपनी ओर से 'जाते' समय, स्फूर्ति का वही रूप है। वहाँ उसका संवेदन है, व्यथा अथवा आनन्द है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'आते' समय भी उस भाव में तृप्ति और रसानुभूति ही है, उससे अधिक कुछ नहीं है। ज्ञान और बोध जिन्हें कहते हैं वे मानो भाव में पहुँचकर समाप्त हो जाते और पीड़ा या आनन्द में परिणत हो जाते हैं। उनकी बोध की स्थिति बुद्धि के स्तर तक रहती है। बुद्धि के पार जाकर पृथक्ता की सीमा उन पर से समाप्त हो जाती है। भाव में संवेदन है और पृथक्करण नहीं है। पृथक्करण का आरम्भ मन-बुद्धि से मानिये। इसलिए पल्लवन में जो ज्ञान है वह मूल में व्यथा है।

अनुभूति से हीन भाव का कुछ अर्थ नहीं है। उत्पत्ति के साथ ही अनुभूति का आरम्भ है। भावानुभूति जिसे हम कहते हैं वह गमन की अपेक्षा से, आगमन की अपेक्षा से उसे ही भावतृप्ति कह सकते हैं। अनुभूति मानो बाह्य प्रकाशन की ओर जाती है, तृप्ति अन्तर्भोग की ओर।

बोध और संवेदन

इन्द्रियाँ अनुभूति और तृप्ति को दोनों दिशाओं में, मन से और मन तक, ले जाने का काम करती हैं। लेकिन ध्यान रखना चाहिए कि मन तक विभिन्नता और विविधता रहती है, समाप्त नहीं हो जाती। मन में से जब वह अहं की ओर जाती है, तब मानो सीमा उस पर से उठ जाती है और ज्ञानबोध भावभोग बनता है। बुद्धि की प्रक्रिया को भी मन तक चलता कह सकते हैं। हर बोध और ज्ञान पृथक्करण के आधार पर टिकता है। इससे मन तक ही उसकी सम्भावना है, उसके पार वह संवेदन में घुल और गल जाता है। जिसको विचार कहते हैं, सूक्ष्म, सघन और सम्पूर्ण बनकर मानो वह वेदना हो जाता है। वेदना का कण भर विचार के मन भर से भारी होता है।

अन्तर्बाह्य का तारतम्य

३६७. इसका अर्थ यह हुआ कि भावोत्पत्ति के लिये बाह्य जगत् की अपेक्षा अनिवार्य है। उसके बिना अन्तर का मूल द्वन्द्व भाव बनकर प्रकट नहीं हो सकता?

—बिलकुल। बाह्य जगत् की अपेक्षा और सम्बद्धता मानव-चेतना में ज्ञातभाव से उदय पायें इसीलिए तो अहं की सृष्टि है। उस अपेक्षा की विहीनता हो जाती है, तो उसे ही मृत्यु कहते हैं। बाह्य-अनुभूति का अभाव होते ही अहं का भी अभाव हो जाता है। मृत्यु का इसके सिवा दूसरा अर्थ नहीं है। अन्तर और

बाह्य का तारतम्य अनुभव होता रहे, तभी तक जीवन है। उससे निवृत्ति जीवन का भी निर्वाण है।

३६८. क्या यह भी सही है कि बिना सामाजिक सन्दर्भ और लौकिक नीति-अनीति की अपेक्षा के बुद्धि और विचार की सत्ता भी सम्भव नहीं ?

लौकिक-सामाजिक की अपेक्षा

—बुद्धि और विचार के लिए सामाजिक और लौकिक आदि धारणाएँ संगत होती हैं। किन्तु जीवन का काम उनको लाँघता हुआ भी चल सकता है।

इन्द्रियाँ कुछ दूर तक जाती हैं। कहिये कि काफी दूर तक जाती हैं; क्योंकि आँखें अरबों-खरबों योजन दूर के सूर्य-नक्षत्र-तारा-मण्डल को देखती हैं। फिर भी सबका अनुभव है कि मन और दूर तक जाता है। आँख देख रही हो तो ऐसा लगता है कि मन को सीधे देखने का अवसर कम रहता है। इसलिए कहा जा सकता है कि आँख बन्द करके मन के द्वारा जितनी दूर तक देखा जा सकता है, वह आँख खोलकर नहीं। इस तरह बाह्य जगत्, जो भेद-प्रभेदों में बँटा हुआ ही हमें दीख सकता है, उसके धारणात्मक नानात्व की अपेक्षा अहंप्रक्रिया के लिए अनिवार्य नहीं है। बिना लौकिक और सामाजिक को ध्यान में लिये अहं का सम्बन्ध प्रार्थना द्वारा समस्त शेष से, अर्थात् परमात्म से बन सकता है। मेरा मानना है कि इस सम्बन्ध में से अहं को अपरिमित स्वस्थता और परितृप्ति मिलती है। अर्थात् बाह्य जगत् की सम्बद्धता और अपेक्षा जब कि अहं के लिए अनिवार्य है, तब धारणात्मक विभिन्न-विच्छिन्न नानात्वमय जगत् उतना अनिवार्य नहीं है। संक्षेप में जीवन सामर्थ्य के लिए लौकिक-सामाजिक की अपेक्षा से अखिल-अखण्ड की अपेक्षा अधिक संगत और स्वास्थ्यकर है।

बुद्धि और विचार की सत्ता विभक्त जगत् के पार नहीं जा सकती। इससे श्रद्धा को स्वभावतः बुद्धि से अधिक मूल्यता और सार्थकता होती है।

३६९. कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति स्थूल ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, प्रेम, दया आदि के विभक्त और विच्छिन्न क्षेत्र में ही अधिक रस और तृप्ति अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति आपकी दृष्टि में वास्तविक रस और तृप्ति पाता है या नहीं ? और जो रस-तृप्ति पाता हुआ दीखता है, वह उसके मानस का कौन-सा अंग पाता दीखता है ?

द्वन्द्वात्मक रस

—द्वन्द्वात्मक रस तीखा और चरपरा होता है। इसीसे अधिक रसीला भी मालूम हो सकता है। रसता का यह आधिक्य और यह तीखा-तीतापन इसलिए कि

वह उस तल तक उतर नहीं पाता, जहाँ अहन्ता का भगवत्ता से योग है। अतः उसे गम्भीर तृप्ति भी नहीं कह सकते। मूल द्वन्द्व, अर्थात् वह द्वित्व जो फिर भी मूलोद्‌गत है, स्थल है उस चरम व्यथा या तृप्तिभोग के लिए जिसे परम रस छूता है। बहुत सतह की ओर आकर, कहिये कि मन बुद्धि की सतह जहाँ तक द्वैत बोध पहुँचता है, विग्रहात्मक रस वहीं तक रह जाता है, आगे भाव-तृप्ति तक नहीं पहुँच पाता। यही स्तर दर्प और मान आदि का हुआ करता है। हम जीते हैं, सफल हुए हैं, प्रतिद्वन्द्वी को हमने छका दिया है, यह नाम पा लिया, वह यश पा लेंगे—इत्यादि का गर्वमिश्रित रस अन्तस्तल को नहीं बेध पाता। वह ऊपर-ऊपर छलकता-उफनता रहता है कि जहाँ द्वैत का विभाव और ऐक्य का अभाव रहता है।

इमेजरी

३७०. जिसे अंग्रेजी में इमेजरी कहते हैं अर्थात् अन्तस्तल पर रूपों का अंकित हो जाना, उसका आपके इस मनोविज्ञान में क्या विश्लेषण है?

—भाव यदि उठकर किसी ओर जाता है, तो स्पष्ट है कि अभाव की प्रेरणा से जाता है। चेतना तो भाव की रहती है, प्रेरणा अभाव की रहा करती है। इसीसे पहले कहा कि अन्तरंग के लिए बाह्य की अपेक्षा अनिवार्य है। भाव अपनी चरम परिपूर्णता में नितान्त अभाव-लोक में पहुँच जाता है। उस अभाव के लोक में भाव की जो लीला-क्रीड़ाएँ होती हैं, उसीको इमेजरी कहना चाहिए। स्वप्न-सृष्टि के मूल में अभाव में गये हुए इस भाव को ही देखना चाहिए।

भाव-लोक, अभाव-लोक

३७१. दो बातों को पहले स्पष्ट करना मैं चाहूँगा। प्रथम तो अभाव-लोक और भाव के अभाव-लोक में पहुँचने से आपका क्या तात्पर्य है? दूसरे अन्तर-मानस में लीला, क्रीड़ा का, जिसके अनेकों रूप व्यक्त-जगत् और व्यक्त-अध्यात्म में देखे जाते हैं, मूल स्रोत और उद्‌गम क्या है?

—भाव अहं में से उठता और अखिल की ओर उठता है। अर्थात् वह अखिल को पाना चाहता है। भीतर भाव, बाहर अभाव। भाव की अनुभूति है कि जो इन्द्रियों को और मन को बाहर की ओर जगाती है। उस बाहर से ही मानो वह अभाव-लोक शुरू हो जाता है जहाँ भाव अपनी परिपूर्णता खोजता है। कुछ अंश और वेग तो उस भाव का स्थूल वस्तुओं को लेकर व्यस्त और शांत हो जाता है; शेष उनके पार जाने को रह ही जाता है। कल्पना, भावना, जिज्ञासा, अभीप्सा आदि से भाव ब्रह्माण्ड के ओर-छोर को छूए, पाये, अपनाये बिना कैसे चैन पाये?

अनिवार्य है कि वह खण्ड होकर अखण्ड को और अंश होकर अखिल को अपना रहना चाहे। दूसरे शब्दों में अपने को अखिल में दे रहना चाहे। इसीमें से अभाव-लोक में व्यक्तिगत भाव की अनन्त लीला-व्रीड़ा देखने में आती है। जो व्यक्त और स्थूल है, उसको हमारा बौद्धिक प्रयास हिसाब में ले पाता है। अपेक्षाकृत जो सूक्ष्म और अव्यक्त है, इमेजरीज के सहारे रूपायित होता है। पदार्थों का संसार व्यक्त है। देवी, देवता, अप्सरा, स्वर्ग आदि के लोक, विचार-लोक, आदर्श-लोक आदि मानो अव्यक्त के रूपक हैं। एक को लौकिक, दूसरे को अलौकिक हम कह दिया करते हैं। संक्षेप में समस्त सृष्टि, स्थूल और भारमय एवं सूक्ष्म और वाष्पमय, भाव-क्रीड़ा और भाव-व्रीड़ा से स्वतन्त्र नहीं है।

उद्गम-पर्यवसान भगवत्ता में

मूल उद्गम तो सब वस्तुता का अहन्ता और भगवत्ता के द्वन्द्व में से है। अहन्ता में से जो उठता है, उसका आदि-हेतु और इत्यर्थ दोनों ही का पर्यवसान भगवत्ता में है। फिर जो हेतु बीच में व्यक्ति के मन-बुद्धि उत्पन्न कर दिया करते हैं, उनकी तथ्यता स्वयं व्यक्ति के बाहर कहीं नहीं रह जाती। अर्थात् उन अहंकृत हेतुओं को ही सच में उसकी चेष्टाओं का हेतु मानना भ्रम उत्पन्न कर सकता है। मैं कुछ भी कहूँ कि मैं यह इसलिए कर रहा हूँ, लेकिन हेतु उससे कुछ अन्य और अन्यत्र होता है। यह नहीं कि मैं झूठ बोल रहा होता हूँ, लेकिन बात यह कि सच शब्द में आता ही नहीं है। प्रचलित मनोवैज्ञानिक भाषा कहती है कि क्रिया का हेतु सचेतन में नहीं, अवचेतन और उपचेतन में पड़ा होता है। मनोविज्ञान की यह भाषा कुछ दूर तक जाती और उस दूर तक सही कहती है। अर्थात् उसका सत्य नकारात्मक सत्य है और वह यह कि सचेतन में हेतु नहीं है। किन्तु यह मानना कि व्यक्ति के अवचेतन तथा अचेतन स्तरों में वह हेतु बन्द है, समय और सृष्टि को व्यक्ति से विलग कर देना है। सच यह कि हेतु अगर है तो अखिलता और भगवत्ता में अहं के निमित्त से है। पर अखिल में हेतु का निवास इसलिए नहीं हो सकता है कि वहाँ अभाव नहीं है। इसलिए सृष्टि के आदि हेतु के लिए लीला-क्रीड़ा का शब्द ही हमारे पास रह जाता है। या आत्मसिद्धि आत्मरंजन जैसे शब्द रह जाते हैं।

आपके प्रश्न का दूसरा भाग मानो लीला-क्रीड़ा शब्द का उपयोग भी स्वीकार करता है और उसके हेतु को भी व्यक्तिगत अहं के भीतर टटोल लेना चाहता है। इसलिए वह एक तरह अर्थहीन ही बन जाता है।

कल्पना

३७२. कल्पना का, जिसका साहित्य में बड़ा उपयोग है, आपकी दृष्टि में क्या वही विश्लेषण है जो ऊपर आपने इमेजरी के प्रसंग में किया है ?

—कल्पना को उस विश्लेषण की आवश्यकता नहीं होगी। कारण, इमेजरी अभाव-पट पर भाव-बिंब का नाम है। कल्पना उन बिम्बों की सृष्टि कर सकती है, लेकिन स्वयं कल्पना भावमय और भावजन्य होने के कारण विश्लेषणाधीन नहीं है।

३७३. क्या यह कहना ठीक होगा कि जो लोग बाह्य-जगत् में अपने को दीन-हीन और असमर्थ पाते हैं, वही अन्तर्मुख होकर कल्पनाशील बन उठते हैं ?

कल्पना दैन्य पर निर्भर नहीं

—यह तो पहले कहा कि इन्द्रियाँ बाहर से अन्दर की ओर हो जाती हैं, तो मन दूर तक काम कर सकता है। मन के स्वतन्त्र काम को कल्पना भी क्यों नहीं कह सकते ? जरूरी नहीं है कि उस कल्पना के प्रागल्भ्य के लिए बाह्य सफलताओं का दैन्य ही चाहिए। अत्यन्त सफल आदमी वे हुए हैं जो सफलताओं से भर नहीं गये हैं, बल्कि बराबर स्वप्नशील बने रहे हैं। बाह्य जगत् और उसकी फलता से जो भर जाता है, वह अवश्य कल्पनाहीन और जड़ बन जाता है। लेकिन जो जितना जानता है, उसके लिए न-जाने-गये का विस्तार उतना ही बढ़ता जाता है। जो जितना पाता है, उतना ही अनपाये का बोध बढ़ता जाता है। तृष्णा जो कभी शान्त नहीं होती है, हर तृप्ति पर अधिक अतृप्त होती बतायी जाती है, उसका यही सार है। आशय है कि अपने भीतर के भाव के प्रति बाहर के अभाव की खींच काम करती रहे, तो कल्पना कुण्ठित नहीं होती। बाहर का अधिक-से-अधिक भी उस अन्तर्भाव को परास्त कर सकता और अभाव को भर सकता है, यह असम्भव है। इसलिए कल्पना का ऐश्वर्य किसी प्रकार के दैन्य पर निर्भर नहीं है।

३७४. कल्पना का जिसे सांसारिक भाषा में मन की उड़ान और दिवास्वप्न भी कहते हैं, जगत् में क्या उपयोग आप मानते हैं ? साहित्य तक में जब रचना अधिक कल्पनाशील और उड़ानभरी हो जाती है, तो वह निम्न कोटि की मानी जाने लगती है। ऐसी अवस्था में स्थूल जगत् में यदि कल्पना को हेय और त्याज्य कहा और समझा जाय, तो क्या इसमें आपको एतराज होगा ?

कल्पना की उपयोगिता

—नहीं, मैं भूलोक को ही जगत् नहीं मानता। देवलोक और परलोक को भी

उसमें शामिल करता हूँ। कल्पना शायद भूलोक के लिए नहीं है, क्योंकि वहाँ तर्कसंगत बौद्धिक कर्म तक का ही उपयोग है। उस भूलोक पर जो वैज्ञानिक प्रयत्न से अधिक काल्पनिक आयास का व्यय करते हैं, मेरे विचार में वे कल्पना को कृतार्थ नहीं करते हैं। कल्पना का उपयोग कला में और सृजन में है। उपयोगिता में तर्कयुक्त बुद्धि अधिक उपयुक्त है। इसलिए अलौकिक और असम्भव कहानियों का महत्त्व मेरे मन में कम नहीं है। टालस्टाय की एक भी कहानी सम्भव और यथार्थ नहीं समझी जा सकती। न भारत का एक भी पुराण उस कसौटी पर खरा उतर सकता है। लेकिन पुराणों ने भारत को हजारों वर्षों से अडिग और उन्नत रखा है और टालस्टाय की कहानियों ने बेहद संस्कारी काम किया है। हवाई शब्द हमारे लिए इसलिए हलका बन गया है कि सरीसृप की तरह शायद हम धरती से चिपटकर चलते या चलना चाहते हैं। लेकिन युग हवायान का है और बहुत जल्दी हवा से अन्तरिक्ष की ओर बढ़ जाना चाहता है। कल्पना को कहाँ तो उससे आगे चलना है, कहाँ आप उसको धरती के खूँटे से बाँध रखना चाहते हैं!

स्वप्न, दिवा-स्वप्न

स्वप्न और दिवास्वप्न भी मेरे निकट असत्य नहीं है। अगर वे वस्तु-जगत् और स्वयं स्वप्नजगत् का कुछ तथ्य नहीं देते हैं, तो उस व्यक्ति का तथ्य अवश्य दे देते हैं, जहाँ से कल्पना का निकास हुआ है। और मानव-निरपेक्ष क्या तथ्य हो भी सकता है?

चेतावनी के लिए एक ही ध्यान काफी है। वह यह कि कल्पना प्रतिक्रिया में से लौटकर चलती है, या स्वयं क्रिया के स्रोत से आती है। प्रतिक्रिया में पलायन है। अन्यथा कर्मशील कल्पना तो पुरुष को विधाता के समकक्ष बना देती है।

कल्पना का विलास

साहित्य में बहुत कुछ हो सकता है जहाँ कल्पना का आयास न हो, केवल विलास हो। अर्थात् वह कल्पना शरणार्थी होने के लिए स्वप्न और स्वर्ग की दुहाई देती हो, उस छोर तक आत्मीयता के सूत्र फैलाने के लिए नहीं। तो ऐसा विलास क्षणिक रंजन और विभ्रम से अधिक नहीं दे सकेगा और स्वयं मुरझा रहेगा। शेखचिल्ली की कहानियाँ हैं तो उधर ईसप की कहानियाँ भी हैं। असम्भव दोनों हैं, लेकिन ईसप की कहानियाँ जी ही नहीं रही हैं, अब भी अपना निर्माण का काम कर रहा हैं। शेखचिल्ली की बातें कहकर उन्हें कभी टाला नहीं जा सका है।

लगता है कि समझे जानेवाले यथार्थ का प्रेम साहित्य के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

३७५. कल्पना-लोक से स्वप्न-लोक में चलें। रात्रि में जब हमारी सब इन्द्रियाँ शान्त और चेतना-प्रसुप्त हो रहती हैं, तब यह सपने हमें क्यों आते हैं ?

सपनों में अतीन्द्रिय का हाथ

—कल्पना का लोक ही स्वप्न-लोक कहलाता है। कल्पना वह उत्तरोत्तर सूक्ष्म और तर्कमुक्त अवश्य होती है। वही स्वप्नों की सृष्टि करती है। भावना जब रेखाएँ ले उठती हैं तो उसे कल्पना कहते हैं, और वह अभाव पट पर बिम्बित होती है तो स्वप्न कहते हैं।

नींद में इन्द्रियाँ सोती हैं। मन उस तरह नहीं सोता। अगर मन भी आधा सो जाता हो तो कुछ अतीन्द्रिय है, वह बिलकुल नहीं सोता। स्वप्नों में उसीका हाथ कहना चाहिए।

अवचेतना

मनोविज्ञान की भाषा में उसको अवचेतना कहते हैं। वह शब्द इस अर्थ में गलत भी नहीं है कि बुद्धि-चेतना की कार्य-कारण शृंखला उन सपनों में नहीं रहती। किन्तु उसका अन्तस से कुछ सम्बन्ध नहीं है और स्वप्नाकाश का एक स्वतन्त्र लोक है, जहाँ से वे सपने परियों के पंखों पर बैठकर हम पर उतरते हैं, यह समझने का अवकाश आज के दिन बिलकुल नहीं रह गया है। स्वप्न की सृष्टि हमसे है, पट ही ऐसा मालूम होता है कि हमसे बाहर है। जब हम कहते हैं कि सपने दीखे या दीखते हैं, तब निश्चय ही हम द्रष्टा रह जाते और स्वप्न कुछ हमसे बाहर भी समझे जा सकते हैं। बाहर पट है जो अभाव का बना है और अपने भीतर से भाव उठकर, तर्क-चेतना से स्वतन्त्र, उस पर जिन बिम्बों को बना आता है, वे ही स्वप्न कहलाते हैं। उन स्वप्नों के सहारे हम अन्तर-व्यक्तित्व और अन्तश्चेतना में भी कुछ झाँकी पा सकते हैं। फ्रायड ने स्वप्नों का मानो विज्ञान ही रच दिया है और अनेक सपनों की सार्थक व्याख्या हो सकी है।

फ्रायड का स्वप्न-विज्ञान

३७६. फ्रायड ने सपनों का विज्ञान रचा है, जिसके आधार पर उन्होंने सपनों की व्याख्याएँ की हैं, उसे आप कहाँ तक वास्तविक और युक्तिसंगत मानते हैं ?

—मैंने उसका अध्ययन नहीं किया है। लेकिन व्यक्तित्व के मूल में फ्रायड को भगवत्ता स्वीकार्य नहीं है। जो उसके लिए मूल है, वह दिव्यत्व नहीं है। इस तरह

स्वप्नों की उनकी व्याख्या मुझे ज्यों-की-त्यों मान्य होगी, इसमें मुझे सन्देह है। शायद उनका मानना है कि दमन बाहर की ओर से आता है और स्वप्न में दमित आकांक्षा अपना खेल खेलती है। मुझे प्रतीत होता है कि द्वन्द्व अन्तर्भूत है और बाहर का पट केवल उसके प्रकाशन का काम देता है। मान्यताओं के इस अन्तर में से स्वप्न के निदान-समाधान में भी अन्तर होना सम्भव है।

३७७. तब क्या आप नहीं मानते कि सपनों में हमारी दमित इच्छाएँ, वासनाएँ आकार ग्रहण करती हैं? मूल द्वन्द्व जिसे आप सपनों का आधार मानते हैं, वह भी तो बाह्य की अपेक्षा से स्वप्नाकार प्रकट हो सकेगा?

खण्डता जब तक है, स्वप्न हैं

—बाह्य को मैं सर्वथा बाह्य जो नहीं मानता हूँ, अर्थात् अपने अन्तरंग में भगवत्ता के रूप में पहले ही से उपस्थित मानता हूँ, इसलिए अन्तर-बाह्य का उस तरह का द्वन्द्व मानने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं रहती। मुझे लगता है कि निर्जन वन में रहकर भी आदमी विवेक से शून्य नहीं हो सकता। समाज अथवा इतर बाह्य के कारण अन्तर-द्वन्द्व है, ऐसा मानने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है। दमित इच्छा इस तरह मेरे लिए दमित से अधिक अधूरो बन जाती है। हमारे स्वप्न इसलिए नहीं आते हैं कि बाहर का जगत् हमें कुण्ठित रखता है, बल्कि इसलिए आते हैं कि हम अपने में अंश की अनुभूति को लेकर चैन नहीं पा सकते। इसका मतलब यह कि जो इस समाज और संसार में बेहद सफल दीखता है, जो मानो ऐसी स्थिति तक पहुँच गया है कि संसार उसे कुण्ठा दे ही नहीं सकता, बल्कि उसका आतंक ग्रहण करता है, स्वप्न से वह व्यक्ति भी विमुक्त नहीं है। खण्डता जब तक है, अखण्डता की ओर मन में से उत्कण्ठाएँ उठती और स्वप्नों को रूप देती ही रहेंगी।

स्वप्न और भविष्य

३७८. क्या आप सपनों का सम्बन्ध भविष्य की घटनाओं से जोड़ना पसन्द करेंगे?
—काल और आकाश दोनों ही के छोर तक हमारी चेतना पहुँच रहना चाहती है। स्वप्नों में इस तरह संसार के साथ समय को भी भेदकर भविष्य की ओर पहुँचने का प्रयास हो तो मुझे विस्मय न होगा। बल्कि एक तरह मैं इसे अनिवार्यता मानता हूँ।

३७९. सपनों में जो प्रतीक विशिष्ट घटनाओं और वृत्तियों के सूचक बनकर प्रकट

होते हैं, वे सार्वभौम होते हैं या उनमें देश-काल का अन्तर व्यक्ति के अन्तर के साथ वर्तमान रहता है ?

प्रतीक सापेक्ष सार्वभौम नहीं

—प्रतीक की आकृति अन्तश्चेतना से निरपेक्ष होकर किसी सामान्य सिद्धान्त के अनुगत हो, इसकी मुझे कम सम्भावना मालूम होती है। आज भी एक भूखे के मन में लड्डू का चित्र आ सकता है, दूसरे के मन में केक का है। लड्डू के गोल और केक के चौकोर होने के आधार पर तरह-तरह के अनुमान करना और अटकलें लगाना ठीक नहीं होगा। इन दोनों से प्रकट जो होता है, वह यह कि इन प्रतीकों के प्रति कर्ता का सम्बन्ध उत्कट कामना का है और क्योंकि दोनों खाद्य हैं, इसलिए इससे निश्चित अनुमान भूख का हो सकता है। आधुनिक स्वप्न-विज्ञान में तर्कानुमान की बेहद खींचतान मालूम होती है। और जैसे सब कुछ को कामेन्द्रिय से जोड़ने का पूर्व संकल्प वहाँ बैठा हुआ रहता है। इसलिए यह मनोविज्ञान और स्वप्न-विज्ञान मुझे तो काफी अविश्वसनीय और अ-विज्ञान जान पड़ता है। बाह्य प्रतीक का अन्तर्भाव से स्वतन्त्र कोई अर्थ निश्चित कर देना मुझे खतरे से खाली नहीं जान पड़ता।

३८०. स्वप्न कितनी दूर तक व्यक्तिगत चरित्र और मानस के उत्कर्ष-अपकर्ष के सूचक बनकर प्रकट होते हैं और कितनी दूर तक वे पूर्ण-भगवत्ता की अनुभूति व्यक्ति को करा जाते हैं ?

सपनों की संभावनाएँ

—स्वप्न का सम्बन्ध अन्तर-द्वन्द्व की अवस्था से है। द्वन्द्व आप जानते ही हैं, अंशता-पूर्णता और अहन्ता-भगवत्ता के बीच है।

स्वप्न बिम्ब में अहन्ता का ज्वलन कितना है और भगवत्ता का आभास कितना है, यह कर्ता से निरपेक्ष किसी नियम से निश्चित नहीं किया जा सकता। अहन्ता जिनकी अधिक समर्पित है, उनके स्वप्नों में भगवत्ता का अधिक दर्शन हो सकता है। सच इतना ही है कि अंशता प्रतिक्षण अपने चैतन्य-सूत्रों से पूर्णता को छू और पा लेना चाहती है। स्वप्नोन्मुख निद्रा या भावना या कल्पना उसी तथ्य की परिचायक है। जो हम हैं उसका विशदीकरण जब कि स्वप्नों में देखा जा सकता है, तो जो हम होना चाहते हैं उसका भी आभास उन स्वप्नों में रहता है। हमारा होना सीमित है। वह सम्भवता से बाहर नहीं जाता। स्वप्न सहज असम्भव हो जाते हैं। यह नहीं कि उन असम्भव सपनों का हमारी सम्भव वर्तमानता से

सम्बन्ध नहीं है, पर हमारे भीतर जो अमित, असीमित और असम्भव सम्भावनाएँ पड़ी हुई हैं, स्वप्न में उन सबका भी बल और संकेत होता है। कुछ एसा नहीं बचता जो सपनों में हम नहीं कर गुजरते। फिर भी उन सपनों का सूत्र हमारे साथ हिलता और अटका ही रहता है। सपने में हमें एक दुर्दान्त महा राक्षस दबोच लेता है, आँख खुलने पर पाते हैं कि सीने पर हमारा अपना ही हाथ रखा हुआ है। अर्थात् दूर से दूर छोर तक जाकर भी किसी डोर से सपना हमारी वर्तमानता से हिलगा हुआ भी रहता है। किन्तु डोर के इस सिरे से यह निश्चित नहीं होता कि वह उधर कहाँ तक जा सकता है। यह सिरा अहन्ता का है, परला सिरा भगवत्ता का होने के कारण बे-ओर-छोर रहता है। इसलिए सपने की सम्भावना की सीमा नहीं है।

सपनों में मूल अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति

मूल अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति स्वप्न में होती है, इतना ही निश्चित हे। शेष उससे अन्तर्द्वन्द्व की ही कल्पना की जा सकती है। अन्तर्द्वन्द्व का साक्षी केवल परमब्रह्म है, अन्यथा वह अज्ञेय है। इसलिए स्वप्न का निर्धारण नहीं हो सकता। ज्ञान की गति स्वप्न से अन्तर्द्वन्द्व की ओर तो थोड़ी-बहुत हो भी सकती है, अन्तश्चेतना की ओर से स्वप्न-निर्धारण का काम कठिन और अविश्वसनीय मानना चाहिए।

३८१. इस बात को तनिक और स्पष्ट करें। अन्तश्चेतना की ओर से स्वप्न-निर्धारण का काम हो भी कैसे सकता है, क्योंकि अन्तश्चेतना तो सर्वथा ज्ञान की पकड़ से बाहर है। पहले प्रश्न में जो मैंने पूछा था, वह यह कि स्वप्न कितनी दूर तक और किस प्रकार हमारे अन्तर्मानस के व्यक्तिगत स्वरूप को प्रकट और स्पष्ट करते हैं? और क्या स्वप्नों से किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का सही अन्दाज लगाया जा सकता है?

सपनों से व्यक्तित्व का सही अन्दाज

—हाँ, सही अन्दाज शायद स्वप्न से ही लगाया जा सकता है। कारण स्वप्न में हमारी वर्तमानता ही नहीं प्रकट होती है, सम्भावनाओं और इच्छाओं का संकेत भी वहाँ से मिल सकता है। हम जो हैं वह स्वल्प हैं, जो होना चाहते हैं वही अधिक है। व्यक्तित्व जिसे कहते हैं, वह इन दोनों को मिलकर बनता है। हमारी सफलताओं से ही नहीं, अभीप्साओं से भी व्यक्तित्व का अनुमान होता है। प्राप्त भोग नहीं, बल्कि प्राप्य भूख में भी हमारा प्रकाशन होता है। स्वप्न में मानो ये दोनों घुल-मिल रहते हैं। जो हम हैं और वह भी जो हम कम हैं, स्वप्न में समा जाता है।

विद्यमानता और सम्भवता के सूत्रों और तथ्यों को उस स्वप्न की बुनकारी में से कैसे अलग-अलग किया जाय, यह बड़ा प्रश्न है और शायद सबसे कठिन विज्ञान है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि हम स्वप्न के कर्ता नहीं होते हैं, केवल द्रष्टा होते हैं। यह भी कह सकते हैं कि केवल भोक्ता होते हैं। किन्तु जिस अंश में द्रष्टा होते हैं, उस अंश में ज्ञाता बनने की भी कोशिश की जा सकती है। वह कोशिश होनी चाहिए। फ्रायड ने वह कोशिश की और अभिनन्दनीय कार्य किया। लेकिन पहले से मानो उन्होंने एक सिद्धान्त प्राप्त कर लिया और इसलिए स्वप्न-विज्ञान का उनका प्रयत्न आग्रह की ग्रन्थि से कुछ उलझ भी गया है। उसको सुलझाकर स्वप्नों की अर्थहीनता को मिटाया और अन्तश्चरित्र और अन्त:सम्भावनाओं में पहुँचने का उन्हें माध्यम और साधन बनाया जा सकता है। ऐसे कौन जाने कि वस्तु-लोक से स्वप्न-लोक अधिक ही सत्त्वशाली निकल बैठ।

चरित्र

तुमने ऊपर चरित्र शब्द का उपयोग किया था। मैं उसे टाल गया था। कारण, चरित्र को समाज की अपेक्षा और उपयोगिता के तल पर समझा जाता है। वह अधूरी समझ है। व्यक्तित्व की एकत्रितता और उसकी सम्भावना की दिशा से चरित्र को समझा जायगा, तब वह अधिक काम का सिद्ध होगा और मानव-चैतन्य की सम्भावनाओं के उद्घाटन-उन्नयन में अधिक सक्षम होगा।

स्मृत और विस्मृत स्वप्न

३८२. सपनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे जो हमारी स्मृति में स्थिर हो जाते हैं, दूसरे वे जो हमें याद नहीं रहते। इस अन्तर को क्या आप स्पष्ट करेंगे ?

—स्वप्न का ज्ञानी मैं नहीं बनना चाहता। स्वप्न-दर्शिता ही मुझे सताने के लिए काफी है।

स्वप्न का सम्बन्ध जब हमारी वर्तमानता से घनिष्ठ होता है, तो हमारे संवेदन-सूत्रों और स्नायुओं पर भी दबाव दे आता है। इस तरह वह याद में कुछ अटका रह जाता है। स्वप्न के अधिकांश हम द्रष्टा होते हैं। जिस अंश में भोक्ता हो आते हैं, उतने अंश में अधिक सम्भावना है कि स्वप्न हमसे खोये नहीं किंचित् साथ रहे।

●

८

अलौकिक शक्तियाँ

वशीकरण-शक्ति

३८३. मन की अनन्त शक्तियों का उल्लेख और परिचय शास्त्र और लोक से मिलता है। मन की जिस शक्ति के द्वारा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को सम्मोहित और वशीकृत करके उन्हें सर्वथा निश्शक्त और अपनी मुट्ठी में कर लेता है उस शक्ति की वैज्ञानिकता के विषय में आपको क्या कहना है?

आपसी प्रभाव

—आपसी प्रभावों का अनुभव तो नित्य-प्रति के व्यवहार में हममें से हर कोई करता है। एक अपनी जगह आज्ञा का पालन भी करता है, दूसरे पर अपनी आज्ञा चलाता भी है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति नाना प्रकार के सम्बन्धों के बीच चलता हैं। मेरी पुत्री अपनी पुत्री की माता भी है, मेरे प्रति उसका जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध उसका अपनी पुत्री के प्रति है। इसलिए प्रभाव सम्बन्धानुगत है। वह व्यक्तित्व में नहीं है। प्रत्येक प्रभाव को सम्भव बनाने के लिए दो सिरे आवश्यक हैं। बिलकुल संभव है कि जो आन-बान के साथ नवाब बना बैठा है, अपनी पत्नी के आगे भीगी बिल्ली बन जाता हो। व्यक्ति अपने में न निर्बल है, न प्रबल है। सम्बन्ध पर आश्रित है कि उसकी निर्बलता या प्रबलता प्रकट हो।

प्रभाव का व्यावसायिक प्रयोग

यह प्रभाव एक से दूसरे पर जाते और जीवन और व्यक्तित्व का निर्माण किया करते हैं। उन प्रभावों में अवैज्ञानिक कुछ नहीं है। किन्तु उन प्रभावों की अनिवार्यता को लेकर दूकानदारी भी की जा सकती है। जो प्रश्न आपने किया, वह इन प्रभावों के व्यावसायिक प्रयोग को लेकर अधिक किया गया जान पड़ता है। तो वहाँ यह कहा जायगा कि वैज्ञानिक शक्ति का अवैज्ञानिक उपयोग किया गया है।

वैज्ञानिक शक्ति का अवैज्ञानिक विनियोग

हमारे भारत में पण्डित नेहरू के व्यक्तित्व में जादू का-सा असर माना जाता है। वह असर दीखता भी है। भारत से बाहर अगर वैसा जादू न दीखे, तो क्या कहा जायगा ? नाना योगों और विधियों से एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न हो जाया करता है। आज के दिन तो इसे विद्या और कला का रूप मिल गया है। राजनीतिक आकांक्षाएँ इतने बड़े पैमाने पर केन्द्रित हो गयी हैं कि राज्य जनमत और जनमति को गढ़ने में पूरी-पूरी दिलचस्पी लेता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यक्ति ऐसी प्रभावशक्ति को जुटाने में लगे बिना नहीं रह पाता। शक्ति जितनी है, वैज्ञानिक है। अर्थात् वह अकारण और व्यर्थ नहीं है। किन्तु उसका विनियोग अवश्य अवैज्ञानिक और इसलिए लोकसंग्रह की बजाय लोकविग्रह पैदा करनेवाला बन सकता है।

मैं मानता हूँ वैयक्तिक या दलीय अहं के संवर्धन में इन मानसिक प्रभावों के विज्ञान का जब उपयोग होता है तब मानो विज्ञान अवैज्ञानिक हेतुओं के हाथों पड़कर जीवन की और विकास की हानि ही करता है।

मेस्मरिज्म आदि

मेस्मरिज्म, हिप्नोटिज्म, स्पिरिच्युअलिज्म, योग इत्यादि अनेक शब्द ऐसे चलते हैं, जिनके द्वारा मानसिक प्रभावशक्ति को संचित और सिद्ध किया जाता है। उनके साथ जो इज्म लगा है, उससे उन सब संचित शक्तियों के विनियोग के बारे में मेरे मन में संशय पैदा हो जाता है। उस कारण उन्हें वैज्ञानिक कहने में मुझे दुविधा होती है।

३८४. पारस्परिक सम्बन्धों से निरपेक्ष जो प्रभावशक्ति मन में है मैं उसीकी बात करना चाहता हूँ। यह प्रश्न भी मैं यहाँ नहीं उठाना चाहता कि कहाँ उसका सदुपयोग हो रहा है और कहाँ दुरुपयोग। प्रश्न यह है कि मेस्मरिज्म, हिप्नोटिज्म, स्पिरि-च्युअलिज्म और योग आदि में जो एक बल पैदा होता है, वह मानस की किस गह-राई से और किस प्रकार पैदा होता है ? और अन्य व्यक्ति उससे क्यों और किस प्रकार प्रभाव-जड़ित हुए दीख पड़ते हैं ?

बल और विष

—बल सब भगवत्ता में से आता है। और विष सब अहन्ता में से। इसका कोई इलाज नहीं है कि भगवत्ता अहन्ता के आधार के सिवा किसी और तरह प्रकट नहीं

हो सकती है। इसलिए किसी शक्ति के वैज्ञानिक होने के सम्बन्ध में इष्टानिष्ट योग से निरपेक्ष होकर निर्णय नहीं दिया जा सकता।

प्रभाव होता है, डाला नहीं जाता। अर्थात् जब उन प्रभावों से अन्य के साथ कर्ता-कर्म का सम्बन्ध पैदा नहीं होता, तब तक प्रभाव वैज्ञानिक ही नहीं आध्यात्मिक भी होता है। जहाँ प्रभाव में दोनों समभागी होते और इस तरह एक-दूसरे की परिपूर्णता में सहयोगी बनते हैं, वहाँ वह सर्वथा युक्त और आध्यात्मिक और वैज्ञानिक है। वहाँ दोनों ओर व्यक्तित्व और कर्तृत्व पुष्ट बनता और प्रभाव अनायास रहता है। दूसरे उदाहरणों में प्रभाव सायास होता और मानव-सम्बन्धों में सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट, चालक-चालित, शासक-शासित का कृत्रिम सम्बन्ध पैदा कर देता है। उसे अवैज्ञानिक और अनीश्वरीय कहना पड़ता है। कारण वहाँ अहन्ता भगवत्ता के अनुगत नहीं होती, बल्कि भगवत्ता अहन्ता का अधीन उपकरण बन जाती है।

मनोनिग्रह, संकल्प

३८५. योग आदि साधनाओं में जो मनोनिग्रह और संकल्प की शक्ति को इतना महत्त्व दिया गया है, उसे आप कहाँ तक उचित और उपयोगी मानते हैं? क्या सचमुच मन वश में करने से और इन्द्रियों के निग्रह से अलौकिक और जादूभरी शक्तियाँ मनुष्य को प्राप्त हो जाती हैं?

योग का अर्थ जुड़ना, एकसूत्रता

—योग का अर्थ है जुड़ना या जोड़ना। सीधा शब्द है और अर्थ को भी सीधा रखना चाहिए। उसमें वश या नियंत्रण में रखना नहीं आना चाहिए। निग्रह मन का यदि हो, तो निग्रह करनेवाला कौन है? व्यक्तित्व के एक अंश का दूसरे के साथ अनुकूल सम्बन्ध का नाम निग्रह नहीं हो सकता। किन्तु भाषा सदा अपूर्ण है और इसलिए निषेधात्मक निग्रहात्मक भाषा का भी किंचित् लाभ हो सकता है। पर शर्त यह कि उस भाषा के सहारे जो सचमुच उपलब्ध किया जाय, वह अन्तरंग की अनुकूलता हो, कोई जय-पराजय का विग्रहात्मक युद्ध न हो। विग्रह की भाषा में योग की व्याख्या करना मानो उसके मूलाशय पर ही विकार और आरोप लाना है। योग में समस्त व्यक्तित्व अपने अंगोपांगों समेत परस्पर संयुक्त बनना चाहिए। वैसा न होकर अगर मन और इन्द्रियों में और अन्तर्मन और बाह्य मन में या व्यक्तित्व के किन्हीं अंशों में युद्ध ठनता हो तो उससे संग्रहीत और एकाग्र नहीं, बल्कि ह्रस्व और विभक्त व्यक्तित्व प्राप्त होगा।

योग का सीधा आशय है, मन-वचन-काय या अन्तर्बाह्य की एकता या एकसूत्रता।

किन्तु योग का जब कि एक ओर धन्धा चलता है, तब दूसरी ओर हठाग्रह को भी उससे बढ़ावा मिलने दिया जाता है। इन दोनों को मैं इष्ट नहीं कह सकता।

कृच्छ्र साधनाएँ

३८६. हठ-योग और वामपन्थी कृच्छ्र साधनाओं के बारे में आपका क्या मत है? इस प्रकार की साधनाओं को और प्रवृत्तियों को मानस के किस कोने से स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त होती रहती है?

—जहाँ आग्रह और हठ है, वहाँ मूल में वह अहं-प्रेरणा काम करती है जो भगवत्-प्रेरणा से विच्छिन्न हो जाती है। इसमें हम अपने से शेष की ओर से आये हुए अमुक सूचन का सम्मान नहीं कर पाते, प्रमत्त और सुषुप्त रह जाते और इस तरह अपनी ही परिपूर्णता से विमुख दिशा में चलने लग जाते हैं। उस आग्रह में व्यक्ति परस्परता से वियुक्त होता है और स्वत्ता में बन्द होकर मानो स्वरति का रस लेने में तुष्टि मानता है। मैं इस प्रकार की साधनाओं से इसीलिए प्रभावित नहीं हो पाता हूँ।

स्पष्ट है कि उनका मूल अहन्ता है, जो अपने से शेष के प्रति निषेध या दर्प के सम्बन्ध का निर्माण करती और इस तरह दोनों ओर बन्धन और विकलांगता की सृष्टि करती है।

सिद्धियाँ-चमत्कार

३८७. क्या आप मानते हैं कि मन में संकल्प और पूर्ण केन्द्रीकरण लाकर मनोवांछित पदार्थों को अथवा आकारों को साकार रूप में उपस्थित किया जा सकता है? पुराणों आदि में वर्णित इस प्रकार की भक्तिपरक घटनाओं को क्या आप संगत मानना चाहेंगे?

—उस प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियों के बारे में मैंने भी सुना है। मुझे उस विद्या में रस नहीं है।

सबेरे ही मेरे यहाँ अखबार आ जाते हैं। डाक से कभी किताबें आती हैं। पारसल से फल चले आते हैं। बीमा, मनिआर्डर से पैसे चले आते हैं। इस सबमें भी क्यों हम चमत्कार नहीं देखना चाहते? साक्षात् मूर्त फल आखिर हम तक आ रहा है कि नहीं। लेकिन यह सामान्य आदान-प्रदान की स्थिति हमारे मन में कोई प्रश्न या विस्मय नहीं पैदा करती है!

धूप आ जाती है, जिसे जाने कितने अरबों मील से आना पड़ता है। वर्षा में पानी आता है जो सहस्रों योजन दूर सागरों से उठकर आया है। घुटन में एकदम हवा

चल निकलती और हमें आनन्दित कर उठती है। यह सब घटनाएँ नित्य हम भोगते हैं, इसलिए उनके कारणों में जाने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु वहाँ उतरें तो मालूम हो कि सब परस्पर सम्बद्ध है और यहाँ का अभाव दूर-दूर तक के भाव को हिला देता है। गर्मी से हवा ऊपर गयी तो खालीपन को घेरने के लिए चारों ओर से हवाएँ दौड़ आयीं। इत्यादि प्रक्रियाएँ प्रकृति में सदा ही घटित होती रहती हैं और हम विश्वास रख सकते हैं कि ब्रह्माण्ड में हम अकेले नहीं हैं, सबसे जुड़े हुए हैं।

पूर्ण अहिंसक की इच्छा-मात्र से फल-प्राप्ति

जितने अकेले बनते, अर्थात् अकेलेपन में तुष्ट हो बैठते हैं, उतना ही हमारे प्रति शेष का आकर्षण कम होता है। कारण अहंकार से हम अपने को शेष से काट लेते हैं। इससे उलटी प्रक्रिया हममें यदि घटित हो निकले, अर्थात् अहन्ता भगवत्ता से अनुप्राणित हो जाय तो मानो शेष का प्रवाह अपने-आप हमारी ओर बह निकलेगा और हमें भरपूर कर देगा।

अर्थात् ऋद्धि-सिद्धियों द्वारा जो घटित होता बताया जाता है, उसे असम्भव मानने का मेरे पास कोई कारण नहीं है। रेडियो का यन्त्र आकाश में दौड़ती लहरों को पकड़कर हमारे आगे नाना विधाओं में मूर्त कर देता है। राडार का यन्त्र दूर तक की सूचना दे आता है। आज ही मैंने सबेरे कलकत्ता-बम्बई से फोन पर बात कर ली है और मानो प्रियजनों को साक्षात् प्राप्त कर लिया है। सबेरे ही फोन करनेभर से दो सौ आमों का टोकरा मेरे यहाँ आ गया है। मैं मानता हूँ कि दर्प से वियुक्त और प्रेम से सर्वथा युक्त व्यक्ति हो जाय, तो उसके अहं की आवश्यकता मानो समष्टि की चिन्ता बन जायगी। गीता में भक्त के लिए आश्वासन है कि उसके योग-क्षेम का वहन भगवान् स्वयं करेगा। इसमें यही आशय देखना चाहिए। इसे चाहे श्रद्धा की बात कहिये, लेकिन मैं विज्ञान की बात भी कह सकता हूँ। पूर्ण अहिंसक की इच्छामात्र से फल प्राप्त होता है। ●

६

अरुचिकर भाव, पाप

भावों का वर्गीकरण

३८८. भारतीय रस-शास्त्रियों और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मन के अनन्त भावों का शास्त्रीय वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। आपकी राय में क्या इस प्रकार का वर्गीकरण उपयोगी होता है और हो सकता है? जहाँ तक भारतीय रस-शास्त्र का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ, इस वर्गीकरण ने हमारे काव्य को इतना रूढ़िबद्ध, संकीर्ण और गर्तपतित बना दिया है कि वह अभी तक खुली हवा का सौरभ प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सका है।

रस और शास्त्र

—वर्गीकरण अनिवार्य ही है। बुद्धि अन्यथा चल नहीं सकती। पृथक्करण पर ही वह चल पाती है। रस और शास्त्र इन दो को मिलाते हैं, तो रसशास्त्र बनता है। सच यह कि ये दोनों अनमिल तत्त्व हैं। शास्त्रकी कम महिमा नहीं है, कम उपयोगिता भी नहीं है। गंगा का नकशा या विवरण की पुस्तक सामने हो तो हमें पूरा-पूरा पता चल जाता है कि हिमालय की किस कन्दरा में से निकलती है, किस-किस प्रकार कहाँ-कहाँ होती और मोड़ लेती हुई बहती और अन्त में सागर में जाकर मिलती है। यह सब ज्ञान हमें कम आनन्द और लाभ नहीं देता। लेकिन इसका क्या किया जाय कि उस नकशे या किताब से पानी की एक बूँद भी नहीं मिल सकती है। शास्त्र अलग रहता है, रस स्वकीय होता है। भोग से मिल सकता है, ज्ञान से नहीं।

शास्त्र बाधक

इस तरह धर्म का ज्ञान धर्म के तेजोदय में और साहित्य का ज्ञान साहित्य के आनन्द और सृजन में बाधक बनता दीखे तो हैरान नहीं होना चाहिए। बल्कि हमें चुनाव कर लेना चाहिए। विश्वविद्यालयों में से साहित्य का सृजन नहीं होता और नहीं होगा। जो होता है और होता रहेगा, वह दूसरी वस्तु होती और दूसरे

काम की होती है। स्फूर्ति और आनन्द की आवश्यकता की पूर्ति उससे होगी जो जीवन के खुले क्षेत्र में उन्हीं मूल्यों की शोध में रहता है। नदी क्या कभी इसकी शिकायत करती है कि झाड़-झंखाड़ उसके प्रवाह को रोकते हैं? कौन जाने कि वे उस प्रवाह को किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित भी बनाते हों।

३८९. हमारे यहाँ आठ प्रमुख रस माने गये हैं और इनमें रौद्र, बीभत्स, भयानक भी हैं। जिनके स्थायी भाव क्रोध और जुगुप्सा और भय हैं। इन अप्रिय भावों से व्यक्ति को रस कैसे प्राप्त हो सकता है? क्या आप इस प्रक्रिया का कुछ बोध करा सकेंगे?

कर्ता-कर्म के योग से रस सम्भव

——मन-बुद्धि के पटल से पार जाकर कोई प्रभाव भाव में उतर पाता है, तो मानो हमारे संवेदनों को छू आता है। यह रस है किन्तु अमूर्त है। लौटकर फिर यह अभिव्यक्त होता और इस अभिव्यंजन को रस की मूर्त संज्ञा दी जाती है। या लौटकर भाव में व्यक्त होता है तो उसे रस का स्थायीभाव कहा करते हैं। भाव में अनुभूति है, अभिव्यक्ति नहीं है। रस संज्ञा अभिव्यक्ति की अपेक्षा से है, अनुभूति से नहीं। रस यौगिक है, भाव को हम आत्मिक कह सकते हैं। वह कर्ता के साथ है। कर्ता का जब कर्म से योग होता है, तब रस सम्भव होता है।

हर योजक सृष्टि रस-मय

अरुचि और विमर्श बोधक भाव में से रस-सृष्टि क्यों मानी जाती है, यह फिर शायद आपका प्रश्न रह जाता है। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक यौगिक और योजक सृष्टि रसमय है। यह प्रश्न नहीं है कि वह विमर्श या अमर्शसूचक है अथवा, आह्लाद-मूलक है। दोनों दिशाओं में रसबोध है, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में सम्बन्ध केवल समझ का नहीं है, बल्कि उससे सघन और भावुक हो सका है।

३९०. यह देखा जाता है कि अरुचिकर और विमर्शमूलक पदार्थों और कार्यों की ओर मन में एक विवश और तीव्र आकर्षण वर्तमान रहता है। रस का प्रसंग लाकर मैं इसी परिस्थिति की वैज्ञानिक खोज का आग्रह कर रहा था। उपरोक्त आकर्षण रुचिकर और शुभ माने जानेवाले पदार्थों और कर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक तीखा और तनिक अपराध का-सा भाव लिये हुए रहता है। इस बारे में अपने विचार दें।

भगवत्ता को चुनौती

—वही पहली बात आ गयी कि पुण्य की अपेक्षा पाप में रस और आकर्षण क्यों अधिक होता है? पाप जिसे कहते हैं, वहाँ भगवत्ता की स्पर्धा में अहन्ता ठन उठती

है। स्वभावतः अहन्ता के स्नायु उस समय तन आते हैं और शेष के प्रति उसके सम्बन्ध सूत्रों में एक भराव आ जाता है। वैर और प्रतिद्वन्द्विता में अनिवार्य आकर्षण अनुभव होता है। इसीसे उसमें रसबोध है। जब घण्टों जूझते रहकर भी बाजी मानो बराबर की रहती हैं, हार-जीत जल्दी नहीं हो पाती हो, तो ऐसे प्रतिद्वन्द्वी का आकर्षण तीखा हो जाता है। शतरंज में बार-बार ऐसे प्रतिद्वन्द्वी की याद आती और ज्यों-त्यों उसे हराने की इच्छा जागती रहती है। हर खेल का यही हाल है। कोई खेल मजा नहीं देता, जब तक दाँव न हो और हार-जीत की बदाबदी न हो। पाप में मानो यही दशा हमको प्राप्त हो आती है। हम सारे जगत् के विरोध में, मानो लोकमत के विरोध में अपने को पाते और इस तरह एक विलक्षण उत्कण्ठा अनुभव कर आते हैं। आरम्भ में जिसमें संकोच होता, बढ़कर उसीमें गर्व होने लगता है। पाप की यह शक्ति इस तरह हमें बराबर ही चुनौती देती रहती है। एक स्थल पर आकर अहन्ता मानो आत्म-गरिमा में उस चुनौती को पकड़ती और स्पर्धापूर्वक उलट कर बढ़ चलती है।

अहन्ता के विस्मयजनक कर्म

विस्मय होगा आपको यह जानकर कि अहन्ता जब अपने में क्षुब्ध प्रक्षुब्ध होकर चँहक पड़ती है, तो कैसे-कैसे काम कर जाती है। विष्ठा और वमन तक का खाना सम्भव बनता है। और यह नित्यप्रति घरों में हम देखते हैं कि आत्म-गर्व में सिर फोड़ा जाता है, अपने को नोचा और काटा जाता है और ऐसे सन्तोष प्राप्त किया जाता है। सन्तोष इस बात का होता है कि सामने का व्यक्ति कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता, हारा-सा ठिठका किम्मूढ़ रह गया है। उसकी पराजय और अपनी विजय इसमें मालूम होती है। अर्थात् अहन्ता के चहकने और ठन आने पर जो औंधा है, वह सहज हो आता है और जो अरुचि और विमर्श का कारण है, उसीमें रुचि और प्रवृत्ति होने लगती है। यह अहन्ता के लिए कम महिमा और गरिमा का प्रश्न नहीं है कि वह सारी भगवत्ता को नेस्त-नाबूद करने की चुनौती दे उठे और सचमुच वैसा कर निकले। पाप का कुछ उसी प्रकार का मनोविज्ञान है और इसी कारण बड़े अपराधी बड़े शालीन और आत्मविश्वासी पुरुष पाये जाते हैं। इतिहास के महान् अपराधियों की गवेषणा हो, तो क्या जाने अधिकांश वे निकलें जो महान् नेता और विजेता समझे जाते रहे हैं। यह लगभग अनिवार्य है कि बड़ा पाप बड़ी अहन्ता की सृष्टि करे और यह दर्पी व्यक्ति अपने समय और समाज में गरिमामय समझा जाय।

३९१. घृणा क्या केवल वस्तु अथवा व्यक्ति से ही की जा सकती है? और क्या

वह केवल इन दोनों के बाह्य शारीरिक रूप-आकार से ही सम्भव है? आन्तरिक परिस्थिति और उससे प्रेरित कर्म के प्रति घृणा क्या हमें नहीं होती? आपके अहिंसा-दर्शन में इस घृणा का क्या मूल्य और महत्त्व है?

घृणा है

—मैं इनकार नहीं कर सकता, घृणा है तो है। नहीं होनी चाहिए, यह कहकर मैं तनिक भी सन्तोष अपने लिए नहीं जुटा पाता हूँ। 'चाहिए' से मैं नहीं चल पाता। 'है' को स्वीकार करना चाहता हूँ और उस समस्त 'है' के सार को और भाव को पा लेना चाहता हूँ। सत्य से मैं डरना और चौंकना और पीछे हटना नहीं चाहता। मेरा अहिंसा-दर्शन कोई हो, तो वह हिंसा से भयभीत नहीं हो सकता।
संस्कृत में और इसलिए हिन्दी में भी बुरे के लिए असत् शब्द है। अर्थात् वह है ही नहीं। घृणा यदि है तो बुराई या असत् कहकर मैं उसे नहीं टाल सकता। नहीं है यह कहकर तो वह प्रश्न से ही एकदम हट जाती है। लेकिन अगर है, और प्रश्न का यहीं से आरम्भ होता है, तो मैं उसको गुण तक मान सकता हूँ।

घृणा की शक्ति

घृणा यदि गुण हो सके तो उसे पूरे तौर पर अपनाया जा सकता है। पूरे तौर पर अपनायी गयी घृणा में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह वस्तु की वस्तुता और व्यक्ति के व्यक्तित्व को पार कर उसमें जाकर लगे जो सचमुच और सर्वथा 'नहीं' अर्थात् असत् है। ऐसी घृणा प्रेम का आनुषंगिक अंग होगी, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। पापी को प्रेम करने की राह में ही पाप से घृणा करना सीख लेना होगा। पापी से उतना ही प्रेम सम्भव हो सकेगा, जितनी पाप के प्रति घृणा होगी। अर्थात् पापी को हम सम्पूर्ण आत्मीय भाव से प्रेम कर सकें, इसके लिए अनिवार्य हो जायगा कि उसके पाप को सर्वथा अनात्मीय मानकर पूर्ण घृणा कर सकें। पापी को आत्मीय मानेंगे तो यह देखे बिना नहीं रह सकेंगे कि उसका पाप स्वयं वह न था, बल्कि उसका रोग था। इन दोनों को पृथक् करने की क्षमता उसी प्रेम में होगी, जो रोग और विकार से कभी समझौता न करेगा और उससे लड़ने में कुछ न उठा रखेगा। ऐसा प्रेम रोग के प्रति अत्यन्त निठुर और निर्दय इसी कारण हो सकेगा कि वह रोगी के प्रति सर्वथा समर्पित होगा। मैं मानता हूँ कि रोग के प्रति यह शत्रुता, पाप के प्रति यह घृणा, दुर्गुण के बजाय सद्गुण हो जाते हैं। कोई सात्त्विकता इन निषेधात्मक सद्गुणों के बिना तेजस्वी नहीं हो सकती।

३९२. आपने अरुचिकर भाव अथवा पाप का मूल अहन्ता और पुण्य का मूल भग-

वत्ता में माना है। इसका अर्थ क्या यह हुआ कि हमारे अन्तरंग में अहन्ता और भगवत्ता का द्वन्द्व रावण और राम के द्वन्द्व की तरह निरन्तर चलता रहता है और पाप को सार्थक बनाने के लिए अहन्ता का भगवत्ता के सामने झुकाया जाना नितान्त आवश्यक है।

पाप-पुण्य अहन्ता में

——भगवत्ता में कोई द्वन्द्व नहीं है। द्वन्द्व सब अहन्ता की अपेक्षा से है। अर्थात् पाप पुण्य दोनों अहन्ता में और अहन्ता की अपेक्षा में सम्भव बनते हैं।

राम-रावण-युद्ध

हाँ, राम-रावण युद्ध व्यक्तित्व में बराबर ही चलता रहता है। यदि हम यह मान सकें कि क्या राम और क्या रावण, दोनों की सृष्टि एक उद्‌गम से है तो जय-पराजय की भाषा उतनी रुद्र और उग्र हमारे लिए नहीं रह जायगी। राम-रावण युद्ध में, आध्यात्मिक व्याख्या बताती है कि, रणोद्यत और रणप्रवृत्त रावण के अभ्यन्तर में राम से स्वयं हारने की इच्छा विद्यमान थी। पाप में भी कुछ यही मानना चाहिए। पाप अपनी स्पर्धा से उतरकर सहजता में आ सोना चाहता है। दर्प का आतंक यदि वह जतलाता है, तो कहीं गहरे में उसमें यह माँग भी विद्यमान रहती है कि वह आतंक इसीलिए किसीके निकट अस्वीकार्य बन जाय और वह उसके भीतर की असलियत को, उसके आहत मर्म को देख सके। भगवत्ता से विच्छिन्न होकर अहन्ता पुष्ट नहीं बनती है, क्षत-विक्षत मात्र होती है। इस आहत भाव को लेकर ही वह उलट पड़ती है और निषेध में से अपनी सार्थकता पाने की चेष्टा में पड़ जाती है। इस समस्त चेष्टा के बावजूद असल में वह प्रतिक्षण परावृत्त होना चाहती है। लेकिन अहंतप्त होने के कारण किसी अहं-बल के सामने वह पराजित नहीं हो सकती है, राम-बल के समक्ष ही वह झुक सकती है।

जीव-ब्रह्म तादात्म्य

इस द्वन्द्व में 'झुकाने' की बात जहाँ आती है, वहीं 'न-झुकने' की स्पर्धा खड़ी हो जाती है। इसलिए झुकाने का प्रश्न नहीं है। भगवत्ता इस रूप में काम नहीं करती। इस तरह समस्त अन्तर्द्वन्द्व में मानो भगवत्ता को अपनी ओर से सीधे कुछ करने को नहीं रह जाता है। उसकी ओर से भी स्वयं अहं ही काम करता रहता है। अर्थात् अहं अपने-आपमें अनिष्ट नहीं है। वह तो मूर्त प्रतीक और यन्त्र है, जिसके द्वारा भगवत्ता को अपने को समुपलब्ध और सुचरितार्थ करना है। जो जीव को

और ब्रह्म को इस प्रकार तदात्मता में न देखकर विपरीतता में देखते हैं, वे अपने गर्भस्थ अन्तर्द्वन्द्व का सही निदान नहीं दे पाते। अहं में प्रतिकूलता जितनी है प्रतिक्रियात्मक है, प्रकृत नहीं है। स्पर्द्धापूर्वक ही उसे साथ रखा जा सकता है। निसर्गज और सहज अनुकूलता है। ऐसा अनुकूल अहं विधायक और प्रकाशक होता है। प्रतिक्रिया के भाव से आपन्न होने पर ही अहं मानो घायल होकर खीझ में उत्पात करता है, जिसे पाप इत्यादि कहा करते हैं।

१०

मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्म-विपाक

संस्कार

३९३. क्या आप संस्कार की सत्ता में विश्वास करते हैं? यदि हाँ तो संस्कार की क्या परिभाषा आप करेंगे?

—समय यदि व्यर्थ नहीं है तो प्रत्येक क्रिया हममें कुछ-न-कुछ जोड़ जाती है। फलस्वरूप वह स्थायीभाव जो हमारा अंग-रूप हो जाता है, संस्कार है।

३९४. क्या आप मानते हैं कि इस प्रकार के स्थायी भाव स्थायी रूप से अहं से चिपटे रहते हैं और इस जन्म और अगले अनेकों जन्मों में भी वे उसके अंग बने रहते हैं?

अहंभाव परिमित

—अहं-भाव मेरी दृष्टि में स्वयं अपनी परिमित आयु तक रहनेवाला भाव है। इस तरह वह स्वयं अस्थायी है।

व्यक्तिपरक सन्दर्भ में ही देखने से अहं स्थायी इकाई जैसा मालूम होता है। अखिल के सन्दर्भ में देख सकें तो वह आवश्यकता नहीं रह जायगी।

ऐसी अवस्था में प्राप्त संस्कार का क्या होता है? वही होता है, जो तालाब में उठी लहर के साथ होता है। जरा-सी कंकरी डालिये तो सरोवर के तल पर सिहरन होती है, जो छोर तक पहुँचती और फिर शान्त हो जाती है। इसी तरह सच पूछिये तो प्राप्त हुआ संस्कार मुझ तक नहीं रहता, मानो विश्व-चेतना में समाकर वहीं पर्यवसान पाता है।

३९५. यदि व्यक्तिगत अहं की दृष्टि से ही विचार करें, तो क्या आप नहीं मानेंगे कि यह संस्कार व्यक्ति के अन्तरंग के प्रेरक बने रहते हैं और जन्म-जन्म में उसे प्रेरणा देते रहते हैं?

संस्कार समष्टि को प्राप्त

—पहली मान्यता को स्वीकार करें, तो दूसरी मान्यता अपने-आप अनिवार्य हो जाती है।

किन्तु जिसके लिए पहली मान्यता अनिवार्य न हो, वह इस आयु में व्यक्तिगत अहं द्वारा प्राप्त हुए संस्कारों का अन्तिम फलितार्थ क्या माने? यही कहना होगा कि उन संस्कारों का सार व्यक्ति द्वारा जाति को और जाति द्वारा समष्टि को प्राप्त होता है।

३९६. मन और बुद्धि आयुभर जो भले-बुरे कर्मों की छाप अपने ऊपर ग्रहण करते हैं और भगवत् अर्पित हुए बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, वे क्या बहुत दूर तक समष्टि चेतना को कलुषित और पंकिल करने का अवसर नहीं पा जाते?

स्याही की बूँद

—अवसर पाने का प्रश्न कहाँ है। वह तो उस भाग्य में नियोजित ही है। स्याही की बूँद सारे पानी को स्याह करती है। दूसरा कुछ हो नहीं सकता। खुर्दबीन से देखें तो मालूम हो सकता है कि उस स्याही के कण सर्वथा पानी में घुल नहीं गये हैं, बल्कि कुछ अलग भी बने रह गये हैं। पर अन्ततः चित्-खण्डों को इस तरह स्वयं में बन्द रहने की सुविधा नहीं हो सकती है। वह व्याप्त चैतन्य में समा जाने को ही है।

ग्रन्थि बिखरने को बाध्य

सच यह कि अहं-ग्रन्थि खुलने के लिए बँधती है। संस्कार, भले हों या बुरे, अन्ततः व्यक्ति को, आनन्द की राह से नहीं तो कष्ट के मार्ग से, इस अनुभूति तक ले ही आते हैं कि वह स्वयं में नहीं है। जितनी सम्बद्धता अहं में समा सकती है, आयु-भर समाती रहती है। उसके बाद मानव-ग्रन्थि बिखर जाती है और यह मानने का कारण नहीं है कि नहीं, बिखरती नहीं है, या वहीं ग्रन्थि बनने में फिर आये बिना नहीं रहेगी।

निखिल में अन्तराय नहीं

छुटपन में जहाँ मैं पढ़ता था, वहाँ खजूर के पेड़ बहुत थे। उन पेड़ों के तनों पर अक्सर थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक-एक वलय का चिह्न रहा करता था। मालूम हुआ कि हर वर्ष उनके पत्ते झड़ जाते हैं और नये पत्ते आते हैं और हर नया साल वृक्ष की काया पर अपना यह अलग निशान छोड़ जाता है। खजूर की आयुभर यह निशान उसके बहिरंग पर, और संस्कार अन्तरंग पर बना रहता है। लेकिन जब स्वयं खजूर गिरेगा तो क्या पृथ्वी पर भी वैसे निशान बने रह जायँगे? स्वयं खजूर की भाषा में हम अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि उसके फलों की गुठली से नये खजूर जन्म लेंगे। गुठली तक कितने सहस्र-सहस्र वर्षों में संस्कार अपना कुछ प्रभाव

पहुँचा पाता होगा, यह कहा नहीं जा सकता। किन्तु इसकी शोध करें, तो भी अमुक खजूर की व्यक्तिमत्ता का विचार तो बहुत पहले ही छूट चुका होगा। प्रत्येक वर्ष की छाप प्रत्येक व्यक्तित्व अपने भीतर-बाहर संचित रख सकता है। लेकिन वह सब कुछ चित् की भाषा में टिक जाने योग्य है, यह नहीं कहा जा सकता। जो टिकने योग्य होगा, वह चित् में समाहित होता ही रहता होगा। पहले ही हमने मान लिया है कि यद्यपि भगवत्ता में से ही अहन्ता का उदय है, किन्तु इस कारण सच्चिदानन्द में कहीं कोई खण्डित भाव नहीं है। व्यवधान की शून्यता जो बीच में दीखती है, वह हमारी आँखों के कारण है। अन्यथा निखिल नीरन्ध्र निर्बाध और निरन्तर है। उसमें कहीं अन्तराय नहीं है।

३९७. जैसा आपने कहा, यदि ग्रन्थियाँ बराबर बनती, बिखरती और फिर बनती रहेंगी, तो चेतना के विकास, आत्म-संस्कार और आत्मोपलब्धि को अवकाश कहाँ रह जायगा? और पश्चात्ताप, अर्थात् अन्तरंग व्यक्तिमत्ता के अपने कृत्य विशेष पर अनुताप को कहाँ स्थान रहेगा?

अंश को समस्त के सन्दर्भ में देखें

—हाँ, अंश-सन्दर्भ से छूटने पर स्वयं अहं का अर्थ ही लुप्त होता लगता है। लेकिन इस कारण उस सन्दर्भ पर अटक रहने से भी चित्-बुद्धि का विकास नहीं होता। यह सामने नीम का पेड़ है। हर क्षण उस पर से पत्तियाँ झरती हैं और नयी फूटती रहती हैं। वह पत्ती क्या वृक्ष की ओर से वायु को और वायु की ओर से वृक्ष को कुछ नहीं दे ले जाती? अपने समय में वह पत्ती बसन्त की हिलोर में पुलकित हुई होगी और निदाघ में संकुचित। उस द्वारा वह अनुभूति समूची वृक्ष यष्टि को प्राप्त बनी होगी। लेकिन हम खिड़की से बैठकर सम्पूर्ण वृक्ष को लहलहाता देखते और पत्तियों के पृथग्-विचार से निश्चिन्त बने रहते हैं। यह प्रश्न ही नहीं उठता कि प्रत्येक पत्ती का क्या अपना जीवन नहीं है, वह अपने में व्यर्थ या सार्थक क्या है? हर पतझर में वृक्ष सब पत्तियों को उतार डालता है और फिर सूखी शाखाओं में से असंख्य नव किसलय उगा आता है। यह क्रम हमारे आनन्द और उपयोग का विषय बना रहता है, प्रश्न और समस्या का विषय नहीं बनता।

मैं मानता हूँ कि हमारे मन में भी प्रश्न इसीलिए उठता और खुदबुदाता रहता है कि व्यक्ति के विषय में वृक्ष से इंगित पानेवाली समस्तता हमारी चेतना में प्रस्तुत नहीं बनती है। हम अपने को समग्र मानते हैं और पत्ती के रूप में देख नहीं पाते हैं। हम स्व के सन्दर्भ से बाहर नहीं आ पाते हैं। यदि ऐतिहासिकता की ओर से देखें या जातीय जीवन की दिशा से अपने पर निगाह डाल सकें, तो चित्र बदल जाता

है और अर्थ स्वयं प्रश्न की जगह ले लेता है। तब हमें आनन्दानुभूति हो सकती है। 'मैं' सदैव प्रश्नरूप है। उत्तर वहाँ मानो अनायास प्राप्त हो जाता है, जहाँ मैं की चेतना व्यर्थ हो रहती है और एक महत्‌चेतना का आशय उसको ढक लेता है। इसीलिए मेरा अनुरोध है कि हम बदलें और अपने विचार में अहन्ता की जगह भगवत्ता के सन्दर्भ की प्रतिष्ठा करें।

मृत्यु

३९८. मृत्यु आप किसे मानेंगे? मृत्यु के साथ भौतिक शरीर की समाप्ति तो प्रत्यक्ष दीखती ही है। क्या पूर्ण अन्तरंग व्यक्तित्व, अहं और आत्मा भी इस मृत्यु के आ जाने पर नष्ट और निःसत्त्व हो जाते हैं?

वह सम्बद्धता की समाप्ति

—मृत्यु द्वारा मानो वह सम्बद्धता का व्यापार असम्भव बन जाता है, जो अब तक उस अंश और अखिल के बीच था। सम्बन्ध की अनुभूति नहीं रहती। उसकी माँग भी नहीं रहती। जीवन इस सम्बद्धता का नाम है। मृत्यु उस सम्बन्ध-भंग को कहते हैं।

जन्म-मृत्यु भ्रम, माया

जन्म और मृत्यु की कड़ी को सामने काम करते हुए तो नित्यप्रति हम देखते ही हैं। मैं तो शायद एक ही बार मर पाऊँगा, लेकिन चारों तरफ जन्म-मृत्यु के दृश्य पुनः पुनः होते देखता हूँ। जन्म-मृत्यु की इस शृंखला से आखिर जीव को छूटना तो है ही। क्या जीव मूलतः आत्मा नहीं है? क्या कभी आत्मा मरता है, या जन्म लेता है? तो जीव को यदि आत्मत्व पाना है, तो इस जन्म-मृत्यु के निरन्तर की भव-बाधा से पार होना ही होगा। यह जन्म-मरण का खेल समष्टि के तल पर चल रहा है, जैसे कि सागर के तल पर लहरें चलती और लहरों में बूँदें उछलती-गिरती हैं। उस महासागर के अनन्त वक्ष पर होती हुई इस खेला को मन में भर सकें, तो जन्म-मृत्यु की लीला का रूप ही बदल जाता है। ऐसा मालूम होता है कि कुछ नहीं मरता है, कुछ नहीं जीता है। मरना-जीना जो मालूम होता है सो स्वयं ही अपने में भ्रम है। 'मैं' माया है। माया का क्या जन्म और क्या उसका नाश?

अहं की व्यापक सार्थकता

इस दृष्टि से अहं का अर्थ व्यर्थ नहीं हो जाता है, केवल उसको व्यापक सार्थकता

प्राप्त होती है। यदि मेरा पुनर्जन्म नहीं है, केवल यही एक जन्म मिला है, तो पाप पुण्य की क्या चिन्ता, भला क्या और बुरा क्या, 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की नीति ही क्यों न चले—इत्यादि प्रश्न नहीं उठते। स्व में से व्यर्थता और सार्थकता जब दोनों समाप्त होती हैं, तो कृत्य का महत्त्व बढ़ जाता है, वह ह्रस्व नहीं होता। इस तरह अनुताप-परिताप अथवा उत्सर्ग-विसर्जन में वृत्ति और हेतु की ही विशालता आती हैं, उनमें निरर्थकता नहीं पैदा होती। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति यदि इस अनुभव से भरा हो कि उसका दुष्कर्म कुनबेभर को ले डूबेगा, तो शायद उससे दुष्कर्म न बने। निजता और अहन्ता की तीव्रता ही मनुष्य को तुच्छता और द्रोह की ओर ले जाती है। विराट् का सन्दर्भ देने से अहं की क्रिया-प्रक्रिया में जब कि अन्तर नहीं पड़ता, तब आशय अवश्य विशद हो जाता है।

३९९. अहं की सत्ता आप स्पष्ट स्वीकार करते हैं और समष्टि में अहं के विसर्जन को आप मुख्य मानते हैं। अहं के अस्तित्व में आने से लेकर विसर्जन तक जो उतार-चढ़ाव अहं को देखने पड़ते हैं, वे क्या निश्चित रूप से एक ही जन्म में समाप्त हो जाते हैं? और क्या मृत्यु के समक्ष आने पर हर अहं समष्टि में विसर्जित हो ही जाता है?

अपूर्णता जियेगी

—नहीं, अहं सदा-सदा के लिए अंशरूप है। इसलिए उसकी मृत्यु नहीं है। अपूर्णता और अतृप्ति सदा जीने के लिए हैं। जीवन-मृत्यु का अवसान केवल पूर्णता में है। भगवान् न जीता है, न मरता है। वह अस्ति-नास्ति से ऊपर है। इसलिए जो अपूर्ण है, वह मर इसीलिए नहीं सकता है कि उसे प्रकार-प्रकार से और फिर-फिर जीकर पूरे होने के प्रयास में लगे ही रहना है।

अतृप्तियाँ अक्षय

मरते समय व्यक्ति में कितनी लालसाएँ होती हैं, कितनी अतृप्तियाँ। इन अतृप्तियों का क्या होगा? क्या वे व्यक्ति की हैं कि उसकी समाप्ति के साथ समाप्त हो जायँ? नहीं, वे अतृप्तियाँ मानो अपने में से नयी-नयी सृष्टि करती हैं। मैं मानता हूँ कि आदमी में से फूटकर जो आकांक्षाएँ, आसक्तियाँ और अनुभूतियाँ चारों ओर अपने तन्तु फूँकती हुई फैलती हैं। देहान्त के बाद भी मानो वे जीती-जागती रह जाती हैं। साहित्य क्यों जीता है, जब कि कर्ता मर चुका होता है? ऐतिहासिक अन्य अनेक सृष्टियाँ क्यों हैं, जब कि इतिहास हर नये आते क्षण के साथ स्वयं मरता जा रहा है? इसीलिए कि जो मरता है वही मरता है; उसके

द्वारा जो चरितार्थ हुआ रहता है, वह नहीं मरता है, वह अमर बना रहता है। यह प्रतीति विश्वासी को कठिन नहीं होनी चाहिए कि मरकर आदमी केवल अपना और कुछ का नहीं रह जाता है; बल्कि मृत्यु द्वारा वह सबका और अकाल का हो जाता है। यही प्रतीति है जो पहुँचे हुए पुरुषों को मृत्यु के समय हिलने नहीं देती है, बल्कि समाधिस्थ और आनन्दारूढ़ बनाये रखती है।

पुनर्जन्म की चित्राभिव्यक्ति

४००. तब क्या आपकी कल्पना कुछ इस प्रकार है—मृत्यु हो जाने पर आत्मा तो लहर की तरह परमात्म-सागर में लीन हो जाती है, पर जीव ने जो-जो उस जन्म में किया और जो-जो वासनाएँ, आकांक्षाएँ, उद्वेग आदि वहाँ लेकर मरा, वे सब एक प्रेरक शक्ति बनकर अन्तरिक्ष में वर्तमान रहते हैं और जब भी परमात्म का एक अंश अहंबद्ध होकर भौतिक शरीर धारण करता है, तो ये अनन्त अतृप्तियाँ, आशाएँ, आकांक्षाएँ अपना कुछ अंश उस अहंबद्ध चेतनांश के साथ जोड़ देती हैं और इस प्रकार फिर एक नये जीव की सृष्टि हो जाती है ?

—चित्र जो बने, बना लीजिये। पर यथार्थ सत्य इतना अनन्त है कि किसी एक चित्र में बैठ नहीं सकता है। फिर भी व्यक्ति को श्रद्धा की आवश्यकता होती है और फिर श्रद्धा-भक्ति को सगुण चित्र की आवश्यकता। इस भाँति चित्र असत्य भी नहीं होते। किन्तु यह न मानने लगियेगा कि चित्र में सत्य आ गया है।

यहाँ आपको लगता होगा कि पुनर्जन्म और पूर्वजन्म का जो एक तर्कसंगत चित्र असंख्य विश्वासियों के मन में है, मैं जैसे उसे असिद्ध बनाये दे रहा हूँ। उस चित्र में उनकी श्रद्धा को तोड़ने या डिगाने का मेरा तनिक आशय नहीं है। चित्र की सत्यता श्रद्धालु के व्यक्तित्व की सत्यता पर निर्भर करती है। चित्र कोई गलत नहीं हो सकता है, न मान्यता कोई गलत हो सकती है। गलत होने के लिए केवल वह अहन्ता रह जाती है, जो युक्त होने से डरती और विभक्त होने में रस लेती है। इसके सिवा गलती किसी मत अथवा मान्यता में नहीं रह सकती। कारण मान्यता सहारा है और जिसके लिए सहारा है, प्रश्न उसके स्वयं गलत या सही होने का रहता है।

ज्ञात हमारे निकट बहुत थोड़ा है। वह भी स्वकीय भाषा में ज्ञान ठहरता है, अन्यथा वह भी अज्ञान है। उस थोड़े के बाहर शेष सब तो अज्ञात है ही। उस अज्ञात को अज्ञेय और व्यर्थ मानकर हम सहसा छोड़ नहीं सकते हैं। अनिवार्य है कि उससे हम अपना सम्बन्ध केवल अनुभव ही न करें, बल्कि प्रगाढ़ बनाने की ओर भी बढ़ें। नाना अनुमान-तर्कणा, गणना-कल्पना के सहारे हम उन सम्बन्ध-सूत्रों को विश्व के

ओर-छोर तक फैलाते हैं। उनकी सार्थकता इसमें नहीं है कि वे निरपेक्ष-भाव से कितने सही या गलत हैं; सार्थकता उनकी स्वापेक्षता में है, इसमें कि कितने हमारे निकट वे उपयोगी होते और हमें सक्षम बनाते हैं। समस्त मत-मन्तव्य और ज्ञान-विज्ञान की मर्यादा हम पहचान लें, तो शायद एक को लेकर दूसरे के खण्डन के दम्भ से सदा के लिए बच जायँ। सहानुभूति का प्रवाह हमारे बीच निर्मुक्त हो। अर्थात् आपका चित्र सही है, दूसरे चित्र भी सही हैं। सही इस शर्त के साथ कि वे मनोनुकूल चित्र हैं और हमारी आस्था और भावना के द्योतक हैं। उससे अधिक वे नहीं हैं, अर्थात् सत्य को बाँधने का दावा उनके पास नहीं है।

पुनर्जन्म, कर्म-विपाक की वैज्ञानिकता

४०१. तब क्या आप पुनर्जन्म और कर्म-विपाक को व्यक्ति और समाज के श्रेय के लिए कल्पित और स्थापित धारणा ही मानना चाहते हैं और उनमें किसी वैज्ञानिक सत्य को नहीं देखते ?

—कोई तथ्य वैज्ञानिक के नाम पर भी ऐसा नहीं है, जिसे मानव-निरपेक्ष कहा जा सके। हमारा यह आग्रह कि धारणात्मक कुछ ऐसा अवश्य होना चाहिए, जो सर्वथा और सार्वकालिक सत्य हो स्वरति में बनता है। सत्य ईश्वर है और ईश्वर को जिस रूप में जो चाहे उसीमें देख सकता है। अर्थात् वह रूप धारणा में नहीं है, उससे आबद्ध नहीं है।

भारतीय समाज जिस रूप में पुनर्जन्म को स्वीकार करता है, पश्चिम के लिए वह आवश्यक नहीं होता। इनमें से किसी भी एक समाज को गलत और दूसरे को सही ठहराना ठीक नहीं होगा। अर्थात् परम्परा से मान्य चली आयी धारणाएँ अमुक समाज के लिए सत्य और उपादेय होती हैं। दूसरे प्रकार की परम्परा में पले समुदाय के लिए दूसरे प्रकार की धारणाएँ उसी प्रकार उपादेय हो सकती हैं। उनकी सत्यताओं को परस्पर टकराना ठीक नहीं है। जब हम सच को हमारा कहकर तुम्हारे सच से ऊपर बना देना चाहते हैं, तो मानो इसी चेष्टा में वह सच झूठ हो जाता है। अहं-निरपेक्ष और मानव-निरपेक्ष मान लेने से सत्य के नाम पर इसी प्रकार की दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं। शास्त्रार्थ द्वारा सत्य के निर्णय के लिए चुनौती दी जाती है। और उसमें खोपड़ियाँ तक फोड़ी जाती हैं।

नहीं, सत्य-सम्बन्धी हमारी कोई धारणा अन्तिम और निरपेक्ष नहीं हो सकती। चाहे तो केवल इस कारण कि वह धारणा है।

४०२. ऊपर आपने माना है कि मनुष्य जो कर्म करता है, उसका रस उसकी मृत्यु के बाद अनन्त में लीन हो जाता है। इस प्रकार क्या आप परोक्ष रूप में यह नहीं मान

रहे हैं कि आत्मा के मुक्त हो जाने के पहले तक उसके सूक्ष्म मन-बुद्धि-अहं आदि मृत्यु के बाद भी उसके साथ संलग्न रहते और उसे प्रेरित करते रहते हैं।

मन, बुद्धि, अहं की निरन्तरता

—मृत्यु के पश्चात् नहीं, मृत्यु के पूर्व भी हमारे कर्म का प्रभाव हमसे शेष को प्राप्त होता रहता है। जिसको मैं-तुम की संज्ञा से हम पहचानते हैं, वे अखण्ड घटक हैं, यह केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष है, मानस-प्रत्यक्ष उससे आगे जा सकता है। समाज, समष्टि आदि संज्ञाएँ मानस में ही प्रत्यक्ष होती हैं, चर्म-चक्षु को नहीं दीखतीं। इसलिए यह सम्भव हो सकता है कि किसीको मृत्यु के बाद उस सूक्ष्म-मन-बुद्धि-अहं का सातत्य मानने की आवश्यकता न हो। सूक्ष्म अहं की स्थिति मृत्यु के बाद नहीं रहती या रहती ही है, यह कहनेवाला मैं कौन हूँ। अर्थात् आप बड़े मजे में मान सकते हैं कि मृत्यु के अनन्तर सूक्ष्म मन-बुद्धि-अहं रहते हैं। वह मानना असत्य तब शायद हो भी कि जब स्वयं आपके और समाज के लिए वह स्पष्टतः अनुपादेय हो। उससे पहले या अन्यथा किसी धारणा को तथ्य-अतथ्य कहने में कुछ सार नहीं है।

मैंने जो कहा उसमें उन सूक्ष्म मन-बुद्धि-अहं आदि की मृत्यु के अनन्तर भी निरन्तरता के सम्बन्ध में कुछ मन्तव्य नहीं आता है। इतना अवश्य प्रतीत होता है कि समष्टि-गत को यदि क्रियमाण होना हो, तो यह व्यक्तिगत होने के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः व्यक्ति बार-बार मृत्यु में मरता और जन्म में जीता दीखता है। उस जन्म-मरण की कड़ी में से समष्टिगत ही अभिव्यक्त होता है, यह मानना स्वापेक्षित नहीं है। स्व अनुभव में ही समष्टिगत नहीं है। स्व और समष्टि को अभिन्न मानने से हम उस अद्वैत में पहुँच जाते हैं, जहाँ अर्थ समाप्त है, भाषा भी समाप्त है। इसलिए समष्टि और व्यष्टि इन दो संज्ञाओं के द्वैत पर ही अर्थ और काम चलता है। समष्टि सतत और निरन्तर है। व्यष्टि जन्म एवं मरणशील है।●

११

सत्य का आग्रह

सत्याग्रह

४०३. जब कोई सत्य पूर्ण निरपेक्ष और अन्तिम नहीं है, तब सत्याग्रह का क्या मूल्य और स्थान रह गया आप मानते हैं ?

वह अपूर्ण का अस्त्र

—आग्रह अपूर्ण में ही हो सकता है। अन्यथा आग्रह के लिए अवकाश ही नहीं रहता। सिद्ध के लिए सत्याग्रह असिद्ध बनता है। साधक के लिए सत्याग्रह ही मार्ग है।

अपूर्ण के लिए आग्रह इसलिए उचित बनता है कि पूर्ण पाने का और उपाय नहीं है। व्यक्ति अपूर्ण है, जो सत्य के रूप में उसमें प्रतिभासित हुआ है, वह भी अपूर्ण ही है। पर अपूर्ण कहकर उसे वह छोड़ नहीं सकता। उसीके सहारे उसे जीना और मरना है। व्यक्तिगत धर्म इसलिए सत्य के उस रूप के प्रति अनन्य आग्रह का ही रह जाता है।

अहिंसा की पीठ पर सत्य अनिवार्य

सच्चा साधक जानेगा कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उस जितना ही नहीं है। इसलिए आग्रह रखकर भी सत्याग्रही भद्र और सविनय रहेगा। जीवन स्वीकार और इनकार इन दोनों तटों को रखकर ही चल सकता है। कुछ लेना और कुछ छोड़ना पड़ता है। निश्वास के बाद प्रश्वास आता ही है। अर्थात् निषेध की शक्ति जीवन-सामर्थ्य में गर्भित है। अहिंसा में मात्र स्वीकार है, जीवन अहिंसा से स्थिति और अवकाश प्राप्त करता है। स्थिति में गति सत्य के आग्रह में से ही प्राप्त होती है। सत्याग्रह के बिना अहिंसा निष्क्रिय है। कर्म सत्याग्रह में से जन्म पाता है। गति और वेग सब वहाँ से आता है। अहिंसा के योग से जो होता है सो यह कि उस कर्म में बन्धन नहीं पैदा होता और उस गति से स्थिति

में भंग नहीं आता। लेकिन स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा वेग को खाती है, जीवन की क्षमता के लिए सत्य का आग्रह अनिवार्य धर्म होता है। वह मानो सिक्के का सामने का रुख है, उसके बिना अहिंसा मूल्यहीन हो जाती है। अहिंसा मानो उसकी पीठ है कि जिस सत्य को हमेशा समक्ष रहना चाहिए।

आग्रह का अधिकार

४०४. जब सभी सत्य अपूर्ण, व्यक्तिगत और सापेक्ष हैं, तब आग्रह का अधिकार व्यक्ति को कहाँ रहा? क्योंकि व्यवहार में आग्रह में से ही अमानुषिकता जन्म लेती है।

—बल्कि मैं यों कहूँगा कि सत्य की पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के पास प्राप्त अपूर्ण सत्य के प्रति आग्रह और अर्पण का ही एक अधिकार रह जाता है। उससे अलग और अधिक कुछ उसका अधिकार होता ही नहीं है।

अमानुषिकता अविनय-प्रसूत

हाँ, आग्रह से संघर्ष निकलता है। वह संघर्ष अमानुषिक यदि होता है, तो तब जब विनय की शर्त छूट और टूट जाती है। यदि विनम्रता की शर्त के साथ चले तो सच्चे आग्रह में से निकला हुआ संघर्ष मानवीय ही नहीं, दैवी तक हो जाता है। कर्म-युद्ध यदि धर्म-युद्ध बनता है, तो तभी जब एक ओर से धर्म की मर्यादाओं की रक्षा प्रथम और शत्रु का पराजय मानो द्वितीय हो जाता है। ऐसे धर्म-युद्ध में से ही संस्कारिता निकलती और संस्कृति सम्पन्न होती है।

४०५. बुद्धि ही मेरे विचार में सत्य को पहचानती और पकड़ती है। उस बुद्धि का प्रयोग-क्षेत्र आप क्या निश्चित करते हैं?

सत्य बुद्धि द्वारा अप्राप्त

—नहीं, बुद्धि शब्द से चलती और मत तक पहुँचती है। सत्य उसके पार रह जाता है। इसलिए बुद्धि में से कभी सत्याग्रह का निर्णय नहीं आता।

मूर्त के साथ हमारे सम्बन्धों के नियमन के काम बुद्धि आती है। सत्य मूर्त नहीं होता, इसीसे बुद्धि नहीं, बल्कि श्रद्धा में से सत्याग्रह की उद्भावना होती है। बुद्धि जब तक है, उपाय होता रहता है। उपाय सब हार जाते हैं, अर्थात् बुद्धि हार जाती है, तब सत्य में शरण लेनी होती है। जगत् से हारकर सब सम्भावनाओं को चुकाकर, अन्त में सत्येश्वर की शरण जो लेता है, वह सत्याग्रह कहलाता है। आग्रह दीखने में है, अन्यथा वह शरणागति है। सत्याग्रही विवश होता है, वह ईश्वर

के हाथ में होता है। वहीं अपने को सौंप रहता है। वहीं कर्ता रह नहीं जाता। मानो सत्याग्रही सत्याग्रह में अपने को पाता है, सत्याग्रह उतना 'करता' नहीं है।

सत्याग्रह विवशताजन्य, स्वयं-प्राप्त

इसलिए सत्याग्रह के साथ शर्त नहीं हो सकती। उसमें तरतमता नहीं हो सकती। सौम्यतर और सौम्यतम की भाषा बुद्धि की है। वह दूसरे की ओर से आ सकती है, स्वयं सत्याग्रही की ओर से उस प्रकार की भाषा के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। मैं मानता हूँ कि सत्याग्रह मनुष्य के पास वह आयुध है, जो ईश्वरीय है। उसका समर्थन दुनिया में से किसी तरह भी नहीं आ सकता है। दुनिया की ओर का कोई औचित्य सत्याग्रह को उचित नहीं दिखा सकता। उस प्रकार का सब तर्क और सब विचार मानो बाहरी होता है। सत्याग्रह आन्तरिक विवशता में से फूटता है। उसके औचित्य का निर्धारण किन्हीं बाह्य विचार पर निर्भर नहीं हो सकता। परिस्थिति की घोरता से अधिक व्यक्ति की अवशता और अहिंसकता में से वह बनता है। स्थिति के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध उस अवस्था में इतना उठ जाता है कि मानो समष्टि के सन्दर्भ में जा मिलता हो। मानो व्यक्ति का झगड़ा स्वयं परमेश्वर से हो, परिस्थिति से रह ही न गया हो। अर्थात् सत्याग्रह वह कर्म है, जिसका सन्दर्भ सांसारिक रहता ही नहीं, पूरी तरह आत्मिक हो जाता है। तत्काल और समाज के नैतिक मानों की ओर से उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उसका परिणाम तत्काल से अधिक इतिहास के वृत्त में जाता है। दूसरे शब्दों में फलाशा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अन्तिम रूप से और दो शब्दों में यह समझिये कि मनुष्य का जब सब कुछ हार रहता है, तब प्रेम में परमात्मा के हवाले अपने को छोड़ देने का नाम सत्याग्रह है। प्रेम में छोड़ना, याने अहं जीवन को बिसार रहना और परम जीवन के प्रति आहुत हो रहना।

१२

बुद्धि और श्रद्धा

४०६. बुद्धि का कार्य-क्षेत्र क्या है? शायद आप मानते हैं कि बुद्धि जागतिक, सामाजिक और व्यावहारिक क्षेत्र की शक्ति है। और श्रद्धा है आत्मिक और ईश्वरीय असीम को पकड़ने और बाँधनेवाली ताकत। इन दोनों की कार्य-सीमाएँ कहाँ एक-दूसरे को छूती और काटती हैं, यह भी स्पष्ट करें।

बुद्धि और श्रद्धा की सीमाएँ

—खण्ड के प्रति चित्त का सम्बन्ध और आकलन बुद्धि निर्मित होता है, अखण्ड के प्रति खण्ड का सम्बन्ध और अवदान श्रद्धाश्रित । खण्ड में जब अखण्ड भाव रख पाते हैं, तो वहाँ भी बुद्धि असंगत हो जाती है। प्रेम ऐसे ही सम्बन्ध का नाम है। प्रेम अन्धा होता है, प्रेम में पड़ा पागल होता है, आदि उक्तियाँ यही दरसाती हैं।

खण्ड और मिथ

जागतिक, सामाजिक और व्यावहारिक तीनों ही शब्द खण्डबोधक हैं। अर्थात् उन शब्दों में हम अपने ही हेतुओं की स्थापना करते हैं। यही शब्द जब मिथ बन जाते हैं; रहस्यावृत्त होकर मानो सम्पूर्ण के सूचक हो जाते हैं, तो उनके साथ हमारा सम्बन्ध बुद्धि से उठ जाता और भावार्पण का हो जाता है। जैसे भारत-माता। भारतमाता के साथ हेतु-प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं रह जाता, वह अधिक घनिष्ठ बन जाता है। भारत एक बौद्धिक संज्ञा है, किन्तु माता के रूप में हम उसे मिथ बना लेते हैं। मिथ के साथ बुद्धि-व्यापार नहीं चलता, मानो सीधा प्राण-व्यापार का सम्बन्ध वहाँ हो जाता है।

धारणा, भावाभिभूति

प्रश्न परिमाण का नहीं है। ब्रह्माण्ड को भी धारणा-बुद्धि से जब हम पकड़ना चाहते हैं, तो मानो वह पिण्ड बन रहता है। किन्तु भावाभिभूत होकर एक

मामूली कन्या भी हमारे लिए ब्रह्माण्ड से बड़ी और सम्पूर्ण और दिव्य की मूर्ति हो सकती है।

४०७. आम तौर से बुद्धि को विचार प्रसविनी और तर्क और वितर्क को जन्म देने-वाली अस्थिर, पर तीक्ष्ण प्रज्ञा ही समझा और कहा जाता है। हमारे अन्तरंग में बुद्धि और श्रद्धा को क्या अलग-अलग अस्तित्व मिला है? या ये एक ही हैं। द्विमुखी प्रज्ञा के दो मुख हैं। इनका इन्द्रियों से क्या सम्बन्ध है?

द्विमुखी प्रज्ञा

—इन शब्दों की व्याप्ति शास्त्रों में परस्पर स्पष्ट नहीं है। प्रज्ञा अवश्य वह शब्द है जो बुद्धि और श्रद्धा दोनों को ढक लेता है। किन्तु श्रद्धा व्यवच्छेद में नहीं पड़ सकती, वह संश्लेष की ओर जाती है। यदि आप संश्लिष्ट सत्य की ओर जानेवाली प्रज्ञा को श्रद्धा कहें तो मुझे आपत्ति नहीं है। किन्तु बुद्धि एक को अनेक द्वारा और अखण्ड को खण्ड-खण्ड द्वारा प्राप्त करना चाहती है। इस अन्वय-विश्लेष की प्रवृत्ति को भी क्या आप प्रज्ञा ही कहना चाहेंगे? तब प्रज्ञा द्विजिह्व हो जायगी। इस-लिए अच्छा यही है कि बुद्धि और श्रद्धा इन दो अलग-अलग शब्दों से काम लें और प्रज्ञा जैसे उदात्त व्याप्त शब्दों को भावोद्‌बोधन के समय प्रयोग में लायें, अधिक भार उन पर न डालें।

देवता और वस्तु

पहले कहा कि भाव में रेखाओं से बननेवाली परस्पर विलगता नहीं होती। अतः भाव तक श्रद्धा का क्षेत्र मानना चाहिए। भाव को जहाँ से धारणात्मक रेखाएँ मिलना आरम्भ होती हैं, बुद्धि का व्यापार शुरू हो जाता है। वहीं से बाहर वस्तुता का आरम्भ होता है। एक समय था जब मानव-मेधा ने बाहर में वस्तुता से अधिक देवता को देखा। अग्नि वस्तु नहीं देवता था; वायु-व्योम-वरुण सब देवरूप थे। अर्थात् जब हमने बाहर के प्रति समग्र भाव का सम्बन्ध स्थापित किया, तो वहाँ वस्तुत्व की सृष्टि नहीं हुई, देवत्व की सृष्टि हो गयी। वस्तुत्व बौद्धिक है, देवत्व भाविक। भावना का सम्बन्ध मिथिकल, रहस्यमय और मौलिक है। जहाँ से हम भीतर भावना को धारणा का और बाहर देवता को वस्तुता का रूप देते हैं, वहीं बुद्धि-व्यवसाय का उपयोग आ जाता है।

सिलाई का योग

मानना होगा कि तीक्ष्णता बुद्धि में है। सूई पहले छेदती है और पीछे डोरे से मानो

फिर जोड़ती है। बुद्धि के काम को भी इस प्रकार पहले छेदनेवाला और फिर तर्क-सूत्र से जोड़नेवाला माना जा सकता है। किन्तु यह सिलाई का योग द्वित्व को नष्ट नहीं करता, इसलिए न सर्वांगीण होता है, न आनन्द या ऐक्य दे पाता है।

ज्ञान के लिए द्वैत की शर्त

बौद्धिक ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय की पृथक्ता की शर्त पर ही सधता है। ज्ञाता कर्ता (सब्जेक्ट) रहता है और ज्ञेय को विषय (ऑब्जेक्ट) बनना पड़ता है। इसलिए बौद्धिक ज्ञान दोनों ओर किंचित् बन्धन की भी सृष्टि करता है, निरपेक्ष और मुक्त नहीं होता।

ज्ञान-विज्ञान

श्रद्धा में इन्द्रियों का हविष्य पहुँचता है, बोध नहीं पहुँचता। रसना स्वाद देती है, कर्ण शब्द देता है, चक्षु रूप देती है; इन सबकी भिन्नता भाव के स्तर पर समाप्त हो जाती है। रूप-रस-गंध मानो एक प्रभाव में समा जाते हैं। बुद्धि इन सबकी पृथक्ता को लेती ही नहीं, बल्कि उनके भेद में और विभेद करती है। बुद्धि-विज्ञान एक नीले रंग को असंख्य छटा-विधाओं में बाँटने का दावा रखता है। यों कहिये कि इन्द्रियाँ प्रथमत: उस मन-बुद्धि से नियत हैं, जो शेष इतर को वस्तु का रूप देकर हमें सुलभ करती हैं। इससे गहरे जहाँ श्रद्धा का भाव है, वहाँ उस शेष-इतर में देवत्व की जगह वस्तुत्व की स्थापना करने का आग्रह नहीं होता। इस भेद द्वारा हम ज्ञान और विज्ञान का भी अन्तर देख सकते हैं। ज्ञान जो आत्मता द्वारा शेष को लेता है और विज्ञान जो अणुता द्वारा उसका आविष्कार करता है। इन्द्रियाँ विज्ञान की उपकरण हैं, ज्ञान मानो हार्दिक अतीन्द्रिय है। अंग्रेजी का शब्द है Intuitive, वही ज्ञान का लक्षण जानिये।

४०८. पहले इन्द्रियों को बोध होता है या अनुभूति? इस प्रकार बुद्धि प्रधान है या श्रद्धा? अर्थात् हमारे अन्तरंग में बुद्धि हमारी उच्चतम मानसिकता की वाहक है या श्रद्धा?

बोध और अनुभूति

—शब्दों द्वारा हम व्यक्तित्व को स्तरों में बाँटते हैं। व्यक्तित्व का यह विखण्डन उपयोगी होता है। किन्तु बहुत सापेक्ष है। अर्थात् कामचलाऊ से ज्यादा उसमें अर्थ नहीं रखना चाहिए।

हमने अब तक दो संज्ञाओं का प्रयोग किया है, भीतर और बाहर। श्रद्धा की

अपेक्षा में बुद्धि को भीतर केन्द्र से अधिक बाहर परिधि की ओर मानिये। इन्द्रियाँ जो हमको देती हैं, वह न अनुभूति है, न बोध है। इन्द्रियाँ मात्र विवरण देती हैं। उन विवरणों के समुच्चय में ऐक्य-बोध कहीं भीतर से आता है। पहली जो प्रक्रिया प्राणी में होती, वह केवल प्रतिक्रियात्मक है। उसे अनुभूतिपरक कहना चाहिए। उसे संन्सेशन कहते हैं। जिसे बोध कहा जाय, अर्थात् परसेप्शन, वह पीछे आनेवाली चीज है।

प्रतिक्रियात्मक संन्सेशन के लिए प्राणवत्ता मात्र पर्याप्त है। उसके बाद बोध की संज्ञा के लिए प्राण से आगे चित्तवत्ता भी आवश्यक होती है। बोध लगभग अनुभूति को पचाने की क्रिया है। प्रथमतः जो प्राणी में प्राप्त बनता है, उसमें दोनों तत्त्व सम्मिलित होते हैं, आहार और प्रहार। बोध में प्रहार का भाव बिलकुल नहीं है। आहार पाने के अनन्तर जो उसको आत्मसात् करने की प्रक्रिया है, उसमें बोध उपस्थित होता है। अर्थात् बोध से पहले अनुभूति है।

४०९. तब क्या आप कहना चाहते हैं कि बुद्धि मानसिक संवेदनाओं का चुनाव करने और उनका नियमन करने का काम करती है?

बुद्धि विभु नहीं

—हाँ, कुछ-कुछ यह काम करती है। कुछ-कुछ इसलिए कह रहा हूँ कि बुद्धि का वश अधिक नहीं है। स्वयं उसका कार्य जिन शक्ति-स्रोतों से चलता है, उन्हें मानसिक संवेदनाएँ कहना चाहिए। उन पर बुद्धि की कोई विभुता नहीं होती। होता यह है कि उन संवेदनाओं में जो अहंपरक हैं वह अपेक्षाकृत दुर्बल होता है, आत्मपरक प्रबल होता है। विवेक आत्मपरक को सहज ले लेता और अहंपरक को मानो छोड़ रहता है। किन्तु विवेक की अधीनता में तारतम्य आता रहता है और बुद्धि प्रमत्त भी हो सकती है। इस तरह बुद्धि का नियमन और चुनाव किसी विभु-भाव से नहीं होता है, बल्कि अनुगत भाव से हुआ करता है। इसलिए श्रद्धा पर बुद्धि को विभु मानना गलत होगा।

चित्केन्द्र वस्तुवृत्त से प्रधान

लेकिन हम जानते हैं कि स्वास्थ्य में फेरफार आता है, जिसमें मनुष्य की मानसिकता उलट काम भी करने लगती है। अर्थात् बुद्धि विविक्त नहीं रहती, प्रमत्त हो जाती है। तब प्रक्रिया यहाँ तक उलट जाती है कि इन्द्रियाँ शासन स्वीकार करने के बजाय अन्तरंग पर शासन का दम भर आये। यह दोष व्यक्तित्व में कहीं बाहर से नहीं आ जाता, न इन्द्रियों में स्वयं में यह शक्ति है। आदि द्वन्द्व में से ही यह दोष उपजता

है। आत्म और अहं के द्वन्द्व में अहं की चहक से स्वास्थ्य में यह ज्वर प्रवेश पाता और आत्म को व्यर्थ कर देता जान पड़ता है। मुझे प्रतीत होता है कि इस अवस्था में जो बाह्याकर्षण प्रधान बना दीखता है, सो उस कारण सचमुच बाह्य को प्रधान मानने लगने से ज्ञान अथवा विज्ञान के लिए सुगमता उत्पन्न नहीं होगी। चेतना की भाषा में यदि हम समझना चाहेंगे तो चित्-केन्द्र के ऊपर वस्तु-वृत्त को महत्त्व देने से बचे रहना ही उत्तम होगा।

४१०. उपयोग, दुरुपयोग, धारणा, विश्वास, सिद्धान्त और विचार आदि शब्द क्या बुद्धि के क्षेत्र के ही नहीं हैं ? और श्रद्धा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ? कहाँ ऐसा है कि बुद्धि और श्रद्धा प्रकाश और छाया की तरह परस्पर गूँथे दृष्टि पड़ते हैं ?

श्रद्धा अनवरत रूप से सक्रिय

—हम दिन में दूकान-दफ्तर पर सोच-समझकर व्यवहार करते और इस तरह कमाई करते हैं। इसलिए शायद समझ लेते हों कि श्रद्धा का कहीं प्रश्न ही नहीं आया। मैं मानता हूँ कि खण्ड-खण्ड रूप से शायद बुद्धि को काम करता हुआ हम देख भी पायें, लेकिन अनवरतारूप से जो काम करती है, वह श्रद्धा ही है। दिन के काम को बन्द करके घर लौटते तो किस भरोसे फिर कल के लिए शेष रह जाते और जीते चलते हैं ? इसमें आप उतरियेगा तो पाइयेगा कि अवसर के साथ और व्यक्ति के साथ हमारा कितना भी समझ-बूझ का सम्बन्ध रहा हो, पर स्वयं जीवन के और समय की निरन्तरता के साथ हमारा पूर्व-स्वीकृति का ही सम्बन्ध रहा है। वह सम्बन्ध इतना सहज मान्य है कि श्रद्धा को कभी सक्रिय अनुभव करने की आवश्यकता नहीं आती। किन्तु इस कारण यह समझना कि वह अनुपस्थित या अप्रस्तुत है, जल्दी करना है।

केवल बुद्धि सन्दर्भहीन

केवल बुद्धि सन्दर्भहीन और गतिहीन हो जाती है। बुद्धि के काम की संभवता के लिए जो सन्दर्भ अनिवार्य है, वह श्रद्धा द्वारा हमें प्राप्त बनता है। जितने शब्द हैं, संज्ञा हैं, वे अमुक बोध ही हमें क्यों देते हैं ? इसमें आप देखेंगे कि अन्वयपरक बुद्धि काम नहीं कर रही है, बल्कि सहज-सम्मत स्वीकृति काम कर रही है। वह प्राप्त सन्दर्भ न हो तो बुद्धि चल नहीं सकती। अधिकांश वह है, जो पहले से हमारा माना हुआ है। जैसे आकाश है, समय है, मैं है, तुम है, इत्यादि। इन मान्यताओं के सम्बन्ध में बुद्धि के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रहती। परम्परा द्वारा प्राप्त इन धारणाओं के आधार पर फिर बुद्धि चला करती है।

श्रद्धा हममें तद्गत और अन्तर्भूत

क्या हमें पता रहता है कि धरती है? पता हमें अपने चलने का हुआ करता है। किन्तु चलना सम्भव ही धरती के बिना नहीं होता। इसलिए अधिकांश यह होता है कि धरती के होने को इतना स्वीकृत ठहरा लिया जाता है कि उसके अलग से जिक्र की आवश्यकता नहीं होती। श्रद्धा के साथ का तथ्य यही है कि उसके अलग से जिक्र की जरूरत नहीं आती, वह हममें इतनी तद्गत और अन्तर्भूत रहती है। अन्यथा ढूँढ़ने चलें तो शायद यह तक हम आविष्कार कर आयें कि हम सब केवल माया-मिथ हैं, मान्यतारूप हैं, इसके अतिरिक्त हमारा होना और कुछ नहीं है।

४११. बुद्धि क्या केवल अहं-प्रेरित ही है? आत्मा से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं?

कुछ भी केवल अहं-प्रेरित नहीं

—केवल अहं-प्रेरित कुछ हो नहीं सकता है। द्वैत में से समस्त सृष्टि है और अहं यदि कैवल्य पा सके तो द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। केवल अहं को परमेश्वर कहते हैं, ब्रह्मास्मि ही तत्सत् है। वहाँ द्वन्द्व नहीं है, इसलिए सृष्टि-विचार आदि भी कुछ नहीं है। विचार द्वित्व तक चलता है और द्वन्द्व के लिए आदि में ही अहं के साथ आत्म आ जाता है। अर्थात् सदा और हर विचार में अहं के साथ आत्म भी होता है।

बुद्धि द्वारा साधना सम्भव नहीं

४१२. यदि बुद्धि के द्वारा सांसारिक श्रेय और प्रेय की साधना सम्भव है तो क्या उसके द्वारा ईश्वर की खोज और प्राप्ति सम्भव नहीं है?

—श्रेय और प्रेय की एकता क्या सचमुच बुद्धि द्वारा सम्भव है? यदि नहीं है तो ईश्वर की साधना भी सम्भव होनेवाली नहीं है उसके द्वारा, जो श्रेय को प्रेय से अलग रखती और उसी शर्त पर दोनों को सिद्ध किया चाहती है!

४१३. पर हमारे समस्त दार्शनिक ग्रन्थ बुद्धि की सहायता से ही निर्मित हुए। श्रद्धा का योग उनमें अपेक्षाकृत कम रहा। तब कैसे कहा जाय कि बुद्धि ईश्वर-आराधना में असमर्थ है?

दर्शन श्रद्धा-मूलक

—दर्शन शब्द श्रद्धामूलक है। दर्शन में सीधा दीखता है। जानते हम उसको हैं, जिसको इन्द्रियों से पाते नहीं, बल्कि अनुमान से बनाते हैं। इसलिए सृजनात्मक

दर्शन ऋषियों से प्राप्त होता है। वे ज्ञाता से अधिक द्रष्टा होते हैं। उस दर्शन की सृष्टि में आपको स्पन्दन मिलेगा। केवल शब्द वहाँ नहीं रहते, बल्कि धड़कन भी रहती है। मानो वहाँ से आपको स्फूर्ति की, एक सम्बद्धता की, उपलब्धि होती है। मानो किसी सजीव सप्राण स्पन्द सत्य के ऐसे ही संस्पर्श में आप आते हैं जैसे गंगा के जल के स्पर्श में आ गये हों। यह सरस-परस की अनुभूति कोरे बौद्धिक शब्द-ज्ञान में से नहीं प्राप्त हो सकती। रूढ़भाव से उसे दर्शन भले कह दें, पर दर्शन की प्रत्यक्षता वहाँ नहीं होती, तर्कानुमान की परोक्षता होती है। मैं नहीं मान पाता कि द्रष्टा हुए बिना दार्शनिक बना जा सकता है। जो बनते हैं वे दर्शन पाते नहीं, सिर्फ पढ़ते-पढ़ाते हैं।

४१४. एक कवि और विद्वान् ने लिखा है कि बुद्धि जैविक और आत्मिक दोनों धरातलों की समान रूप से सेविका है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

आत्मिक, जैविक दो नहीं

—शायद ठीक हो। लेकिन सच यह कि आत्मिक और जैविक ये दो अलग धरातल हैं नहीं। फिर भी जो 'शायद ठीक' कहा, वह इसलिए कि बुद्धि दो के या दायें-बायें के बिना चल नही सकती। जागतिक द्वैतात्मक है, इसलिए जिसे आत्मिक कहें वह बुद्धि का प्रक्रिया में उतना संगत नहीं रहता।

जीवात्मा में दोनों का समास

पहले ही कह दिया गया है कि आत्मिक और आस्मिक मूल से ही एक अनिवार्य संधि-विग्रह के द्वन्द्व में जड़ित हैं। जहाँ कैवल्य और ऐक्य है, उसे परमात्मा कहते हैं। उससे पहले संगत संज्ञा जीवात्मा है। जीवात्मा में जीव और आत्म पहले ही सामासिक बने हुए हैं। इसलिए आपके प्रश्न में एक मूलभूत असंगति रह जाती है। जीवात्म की सेवा में जो भी नियुक्त है, एक साथ उसका कार्य जैविक और आत्मिक हुए बिना कैसे रहेगा?

लेकिन जैविक और आत्मिक में परख करने से बहुत लाभ भी होता है। इसीमें से उन्नति-अवनति, विकास-ह्रास आदि की धारणाएँ परिभाषा पाती हैं। मानो तब समय को अर्थ मिलता है और गति में प्रगति और अवगति का विवेक सम्भव होता है। जैविक से हम आत्मिक में उन्नति और विकास देखते हैं। इस अर्थ में बुद्धि को आत्मिक सोपान में नीचे की कड़ी माना जा सकता और अन्तिम रूप से बाधक भी देखा जा सकता है।

द्रष्टा और स्रष्टा

४१५. द्रष्टा और स्रष्टा मानस के लिए बुद्धि का क्या उपयोग है? बुद्धि उसको कितनी दूर तक राह दिखाती है, और संयमित नियमित करती है?

—द्रष्टा और स्रष्टा को आपने साथ और एक कोष्ठक में रखा है। सच यह कि द्रष्टा कर्ता नहीं होता, भोक्ता भी नहीं होता। स्रष्टा को द्रष्टा के अतिरिक्त कर्ता और भोक्ता भी युगपत् होना पड़ता है। द्रष्टा वासनाहीन है, वेदनाहीन भी है। वासना और वेदना से मुक्त बनकर स्रष्टा की स्थिति ही नहीं रह जाती!

बुद्धि राह नहीं दिखाती

राह दिखानेवाली बुद्धि नहीं है। दीखता जिसे है, यदि उसका नाम बुद्धि हो तो फिर वह विश्लेषण और व्यवच्छेद में न पड़े। दीखता हमको सीधा है। उसको जब नाम और शब्द देकर दूसरी संज्ञाओं से पृथक् करते हैं, तब बुद्धि का प्रयोजन आता है। बुद्धि को नियोजित करनेवाला न हो तो बुद्धि उत्कर्ष की साधिका नहीं होती अर्थात् अभेद की ओर नहीं ले जाती, भेद में भरमाने लगती है।

सृष्टि के लिए प्राण-तत्त्व की संगति

दर्शन को आत्मसात् और वास्तविक करने में दार्शनिक बुद्धि का उपयोग करता है। किन्तु दर्शन सीधा और सहज होता है, बुद्धि के द्वारा होने की आवश्यकता नहीं आती। सृष्टि की क्षमता निर्बुद्धि प्राणियों में भी देखी जाती है। आवश्यक नहीं है कि जो बुद्धिमती समझी जाती है, उसका पुत्र स्वस्थ ही हो, जब कि अपढ़ ग्राम्या के स्वस्थ और सुष्ठु सन्तान हो सकती है। अर्थात् सुभग सृष्टि के लिए बुद्धि से अधिक किसी और प्राण-तत्त्व की संगति विशेष है। साहित्य-रचना अथवा वैज्ञानिक आविष्कृति में बुद्धि का उपयोग है अवश्य, लेकिन वह अभिव्यंजना और प्रेषणा के निमित्त से है, अन्यथा गर्भोपलब्धि में वह उतनी अनिवार्य नहीं है।

बुद्धि और इन्टचूशन

४१६. बुद्धि और इन्ट्यूशन में क्या वैज्ञानिक सम्बन्ध है? इनमें से कौन किसका अंग और कौन किसका पोषक है? इन्ट्यूशन की उत्पत्ति आप हमारे व्यक्तितव में किस अंग से मानते हैं?

प्रत्यभिज्ञान हममें गर्भित

—मेरा मानना है कि प्रत्यभिज्ञान हममें गर्भित है। अहं भाव का परदा रहने

से वह उदय और प्रकाश में नहीं आता। जब हम किसी कारण अपने को सर्वथा बिसरे रहते हैं, मानो शून्य हो जाते हैं, चैतन्य हममें सोया नहीं रहता पर प्रवृत्त भी नहीं होता और केवल जाग्रत भर रहता है, तब सम्बुद्धि काम कर आती है। सम्बुद्धि से प्राप्त ज्ञान से अधिक दर्शन होता है। उसमें तर्क-प्रक्रिया आदि नहीं होती। न इण्डक्शन होता है, न डिडक्शन होता है। सम्बुद्धि मानो सत्य से सीधे सम्बन्ध की स्थापना है। इस प्रकार उपलब्ध तथ्य को जब हम वस्तुबोध का रूप पहनाते हैं, तब उसका काम आता है जिसको बुद्धि या इण्टलैक्ट कहा जाता है।

उपलब्धि सम्बुद्धि से ही सम्भव

वह न्यूटन प्रवृत्त वैज्ञानिक न था, बल्कि निवृत्त मुमुक्षु था, जो सेव के डाल से गिरते ही एकाएक चमत्कृत हो रहा था। उस क्षण मानो सेव के गिरने की रेखा उसके भीतर ज्योति की शलाका-सी खिचती चली गयी और वह कृतार्थता में अवसन्न हो रहा। इस क्षण की उपलब्धि को बाद में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का रूप मिला। उस सिद्धान्त के प्रतिपाद्य में बुद्धि काम आयी, किन्तु उपलब्धि में जो काम आयी उसे बुद्धि नहीं, सम्बुद्धि कहना चाहिए।

अखण्ड-भाव, खण्ड-बोध

पहले ही हमने माना है कि समष्टि में हम अन्तर्भूत हैं, उसके अंगरूप हैं। इन्द्रियों द्वारा समष्टि हमको प्राप्त नहीं हो पाती है। समष्टि अखण्ड है, इन्द्रियाँ हमको खण्ड-खण्डमय नानात्व देती हैं। इस प्रकार अहं के द्वारा हम अखण्ड सृष्टि से नहीं, बल्कि नाना वस्तुओं के राग में जुड़ते हैं। समष्टित्व हमारे भीतर अन्तरंग के रूप में बिंबित या अवस्थित नहीं है सो नहीं, पर इन्द्रियों के सीमित जगत्-बोध के कारण वह अप्रस्तुत बन जाता है। भीतर का अखण्ड-भाव और बाहर का खण्ड-बोध मानो ये परस्पर उलझ जाते और विभ्रम पैदा करते हैं। अन्तरंग से जिसका सम्बन्ध है, उसको सम्बुद्धि कह सकते हैं। इन्द्रियों के उपकरणों के उपयोग द्वारा जो हमें वस्तुबोध देती हैं, उसे बुद्धि कहिये।

सम्बुद्धि प्राथमिक, बुद्धि नैमित्तिक

भीतर के आत्म और बाहर के जगत् में विच्छेद तो है नहीं। इसलिए किसीको कम-अधिक ठहराने का प्रश्न नहीं उठता। चेतना की दृष्टि से अभ्यन्तरीण चित्त को केन्द्र माना जा सकता और इस दृष्टि से सम्बुद्धि को प्राथमिक और बुद्धि

को नैमित्तिक कहा जा सकता है। सम्बुद्धि स्वप्रतिष्ठ और स्वयम्भव है। बुद्धि वस्तु-सापेक्ष होती है।

बुद्धि की प्रेरणा

४१७. बुद्धि किसकी प्रेरणा से कार्य करती है ?

—बुद्धि के साथ हमने मन शब्द का उपयोग किया है। उससे आगे चित्त भी कहा है। उसके मूल में अहं को माना है। अहं से निबद्ध आत्म को भी स्वीकारा है। उसी क्रम से बुद्धि को मिलनेवाली प्रेरणा का उदय मान लीजिये।

बुद्धि का स्थान-निर्णय

४१८. बुद्धि का मानव-व्यक्तित्व में कहाँ क्या स्थान आप निश्चित करते हैं। यह ऊपर के उत्तर से कुछ स्पष्ट नहीं हो पाया। आज की सभ्यता ने जो बुद्धि को असाधारण महत्त्व प्रदान कर दिया है, उसे देखते हुए उसका ठीक स्थान-निर्णय मुझे आवश्यक लगता है।

विभेद-दृष्टि ही बुद्धि

—बुद्धि इन्द्रियों द्वारा अहं को इतर के साथ सम्बन्ध बनाने की क्षमता देती है। वस्तु और व्यक्ति को अलग-अलग हम बुद्धि द्वारा पहचानते हैं। बच्चा अलग-अलग नहीं पहचान पाता, बर्बर में भी यह क्षमता कम होती है। बुद्धि इस तरह वह है, जो हमें विज्ञान की वृत्ति और दृष्टि देती है। विज्ञान अनिवार्यता से भेदपरक होता है। हम बिना बुद्धि के भेद में अवगाहन नहीं कर सकते। इसलिए जगत् बोध और जगदनुसन्धान के लिए बुद्धि ही एक उपाय है। उसका कम महत्त्व नहीं है। बल्कि संसार की दृष्टि से उस महत्त्व को बढ़कर भी माना जा सकता है।

बुद्धि के लिए एकत्व अगम

किन्तु बुद्धि नानात्व से छुटकारा नहीं दे सकती। अभेद की ओर हमें नहीं ले जा सकती। पिण्ड को खण्ड में बाँट सकती है; पर खण्ड से पिण्ड और पिण्ड से ब्रह्माण्ड की ओर ले जानेवाली क्षमता को बुद्धि नहीं सम्बुद्धि कहना चाहिए। या चाहे तो उसे श्रद्धा कहिये। सम्बन्ध बन्धन देते हैं, नानात्व के साथ के सम्बन्ध नाना बन्धनों की सृष्टि करते हैं। यदि इनके बीच हमें मुक्ति की आवश्यकता हो, तो सम्बन्धों की अनेकता का कटना आवश्यक हो जाता है। उसका मतलब सम्बन्ध-हीनता नहीं है, बल्कि सम्बन्ध की अखण्डता है। इसी अनन्य सम्बन्ध को प्रीति

कहते हैं। यह किसी प्रकार इन्द्रियाश्रित बुद्धि से नहीं प्राप्त हो सकती। अखण्ड के साथ सम्बन्ध भावाश्रित ही हो सकता है। परम और अखण्ड भाव से जो एक है उसे परमेश्वर कहते हैं। बुद्धि के लिए वह सदा सर्वदा अगम और असिद्ध ही रहेगा। कारण, बुद्धि जिस पृथकत्व को प्रतिक्षण पहचानती रहकर अपना काम करती है, उस यथार्थ से वह किसी तरह छूट नहीं सकती। एकत्व उसके लिए कहीं वास्तविक हो नहीं सकता। इसलिए श्रद्धा का सत्य बुद्धि के लिए अयथार्थ और बुद्धि का यथार्थ श्रद्धा के लिए मिथ्या बन जाता है। इस अटपटेपन से घबराने की जरूरत नहीं है; क्योंकि यही द्वन्द्व है, जिसके सहारे मनुष्य उठता और पुरुषार्थ करता है।

बुद्धि का दावा झूठा

आज की सभ्यता बुद्धि को अधिक महत्त्व देने लगती है सही, लेकिन स्वयं उसका यह मानना भ्रम है। क्योंकि किसी बड़े आविष्कारक या व्यवस्थापक का काम दर्शन (Vision) के बिना नहीं चलता है। दर्शन से दिशा मिल लेती है, तब बुद्धि अपने नियोजन या विनियोजन का काम कर पाती है। अर्थात् बुद्धि का दावा कितना भी बड़ा हो, यह हम निश्चय मान सकते हैं कि उसके तल में श्रद्धा काम कर रही है। और जहाँ नींव में वह नहीं है उस बुद्धि का कोई गर्व भी नहीं कर पाता है। वह प्रमत्त बुद्धि निर्माण नहीं करती है, केवल विनाश और छितराव ही करती है। ●

१३

भाव-विभाव

४१९. क्रोध, भय और लोभ आदि भाव बुद्धि को धार और गति देते दीख पड़ते हैं इससे क्या यह नहीं सिद्ध होता कि बुद्धि भाव के इशारे पर ही काम करती है ?

बुद्धि भाव के हाथ में

——यह तो है ही कि बुद्धि भाव के संकेत पर काम करती है। लेकिन क्रोध, भय, लोभ भाव से अधिक विभाव हैं। विभाव मूलभाव की प्रतिक्रिया होते हैं, इसलिए उनमें भाव की शक्ति भी होती है। यह तर्क-संगत ही है कि बुद्धि को उनसे धार मिले। असल में बुद्धि कैंची की तरह है। किसीके हाथ चलाते हैं तब वह काम करती है। यों कहिये कि भाव के हाथों में होकर ही बुद्धि आगे बढ़ पाती है।

भाव-विभाव

मूल-भाव और विभाव में अन्तर केवल इतना है कि भाव जाने-अनजाने अखण्डता के प्रति होता है और विभाव अमुक सीमितता के प्रति। इसलिए विभाव अधिक धारदार दीख सकता है। तटों की संकीर्णता के कारण उसमें वेग कुछ त्वरित होता है। इसलिए समीचीन से अधिक ताप उसमें दीखता है। विभाव में राग होता है, भाव में अनुराग। राग में गाढ़ापन और चिपचिपापन होता है, अनुराग उससे स्वच्छ है। इस गाढ़ता और लेह्यता से शायद विभाव कुछ अधिक ठोस भी जान पड़ते हों, लेकिन उसी कारण अस्थायी भी होते हैं।

४२०. एक अमरीकन का लेख मैंने पढ़ा था, जिसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि हमारी वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता का मूल प्रेरक और पोषक युद्ध है। युद्ध में भय, क्रोध और लोभ तीनों भाव मिलते हैं। क्या आप उपरोक्त विचार से सहमत हैं ? यह तो हम स्पष्ट देख रहे हैं कि अणुशक्ति विभाव में से निकली और उसका भाव-परक प्रयोग कैसे हो, यह बाद में खोजा गया और तदनुकूल उसका नियोजन अब आज किया जा रहा है, जब कि उसकी सहायता से भयंकरतम शस्त्र बहुत पहले ही बन चुके हैं।

स्व-पर का युद्ध मूल

—युद्ध आज की सभ्यता का प्रेरक और पोषक है, यह मैं मान सकता हूँ। लेकिन युद्ध जो इधर बीस-बीस बरसों बाद होता रहा है और अपने शीत रूप में अब भी मौजूद है, मेरे लिए उतना विचारणीय नहीं है। विचारणीय वह युद्ध है, जो स्वयं विचार के मूल में है। अर्थात् स्व-पर का युद्ध। जब हम संघर्ष की भाषा में उन्नति को देखते और साधना को भी वही परिभाषा देते हैं, तो युद्ध साधन में नहीं रह जाता, साध्य में पहुँच जाता है। तब वह आदि तथ्य के रूप में जीवन-व्यापी हो जाता है। यह युद्ध है, जिससे पहले लड़ना है; फिर बाहरी युद्ध तो अनायास हमें व्यर्थ और बर्बर दीख आयेगा।

प्रगति सदा वैभाविक

अणुशक्ति विभाव में से निकली है, यह मानना होगा। बल्कि मुझको यह प्रतीत होता है कि सब उन्नति और प्रगति का अगला कदम सदा वैभाविक और राजसिक प्रवृत्ति में आगे बढ़ा है। चेतना पर जब धक्का आता है, तब स्फूर्ति और प्रेरणा निकलती है। इसीसे राजसिक क्रियमाण है, सात्त्विक स्थिर यह क्रियमाणता राजसिक को ही क्यों प्राप्त हुई, यह प्रश्न दूसरा हो जाता है। किन्तु वैभाविक और राजसिक आगे बढ़ते हुए चलते हैं, यह मान लेना होगा।

विभाव फारवर्ड

हॉकी के खेल में फारवर्ड्स आगे बढ़ते हुए जाते हैं, लेकिन महत्त्व फारवर्ड्स का सबसे अधिक नहीं होता, महत्त्व उनका होता है, जो बैक और फुल-बैक कहे जाते हैं। आशय यह कि व्यक्तित्व की क्रीड़ा में विभाव फारवर्ड खेलनेवाले हैं। किन्तु विभाव कहकर उनको हेय भाव नहीं मान लेना चाहिए। यदि अखण्ड के संदर्भ से वे जुड़ जाते हैं तो उन्हींमें उपादेयता पड़ जाती है।

अहिंसा से पुष्ट युद्ध

युद्ध सही हो जाता है, अगर एक ओर से वह प्रीतिभाव से लड़ा जाता है। अहिंसा को स्वीकार कर लें तो सभ्यता युद्ध को पोषण देती हुई भी किसी खतरे में नहीं पड़ती। यों कहिये कि असल युद्ध धर्म-युद्ध है, जिसमें सत्-असत्, आत्म-अहं, मानव-दानव का युद्ध होता है। इसमें जीवन के उत्कर्ष की सिद्धि ही है और इसी संघर्ष में से संस्कृति का विकास सिद्ध होता आया है। यह युद्ध फिर छावनियों में नहीं होता, न उसके लिए अस्त्र-शस्त्र की कोषपूर्वक कोई बड़ी तैयारी की जाती है।

वह समाज व्याप्त हो जाता है और प्रकृत रूप से विरोधी-तत्त्वों में अनायास और अनवरत घटित होता है। समाज के साथ वह प्रत्येक व्यक्ति के अभ्यन्तर में भी मचा रहता और व्यक्ति उस आग में से जलता हुआ दमकता आता है।

जैविक आत्मिक से अविरोधी

अणु-युग से पहले स्टील-युग, लोह-युग, ताम्र-युग, पाषाण-युग आदि जिन सोपानों का भी विकास-क्रम में आविर्भाव हुआ, जान पड़ेगा कि वह उन विभावों के अधीन ही हुआ। धारदार पत्थर के उपयोग की सूझ मनुष्य को शिकार की आवश्यकता में से पहले हुई होगी, बाद में ही वह फिर दूसरे कामों में आयी होगी। सारी उन्नति शुरू में जैविक और स्वरक्षा की आवश्यकता में से निकली। बाद में ही वह संस्कृति के लिए उपयोगी हो सकी। आविष्कार की जननी आवश्यकता है और वह जैविक आवश्यकता। किन्तु जैविक आवश्यकता अनिवार्य रूप से आत्मिक की विरोधी नहीं होती, बशर्ते कि उस उन्नति के खेल में फारवर्ड्स को थामने और सहारनेवाले अपनी जगह पर मूल्यों के सम्बन्ध में चौकन्ने बैक्स और फुल-बैक्स भी हों। समाज में इस प्रकार के नीतिज्ञ ऋषि और सन्त होते ही आये हैं जो फारवर्ड होने की चेष्टा में नहीं पड़ते हैं, न किसी जैविक उन्नति की ही व्यग्रता उनमें दीखती है। मानो वे धर्म से तद्गत बनकर चलने में कृतार्थ हैं और जीवन-मूल्यों की रक्षा उनका काम है। युद्ध किसलिए? शायद इस प्रकार के लोगों द्वारा व्यक्त और प्रतिष्ठ संस्कृति-मूल्यों की रक्षा के लिए ही न?

युद्ध अनिवार्य, पर वह धर्मयुद्ध हो

एक बात और ध्यान देने योग्य है। युद्ध-निर्णय कौन करते हैं? वे जन-नेता जो यद्ध की घोषणा करते हैं नृशंस नहीं होते, वे आदर्शवादी हुआ करते हैं। आदर्श के अनुराग को आप या मैं या कोई गलत नहीं कह सकते। उस आदर्श के प्रेम में जिनको युद्ध रचने और करने का साहस होता है, वे निकम्मे या निकृष्ट नहीं माने जा सकते। अर्थात्, युद्ध की दारुणता के पीछे भी जो एक सत्यता है, उसको दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए। केवल भावुकतावश युद्ध से पराङ्मुख होना समर्थनीय नहीं मान लेना चाहिए। घर बैठनेवाला सिर्फ इसी कारण कि वह नहीं लड़ता है, योद्धा से बढ़कर नहीं हो जाता। अर्थात् युद्ध तभी असत्य बन सकता है, जब उससे कुछ सत्यतर समक्ष हो और उत्तमतर पराक्रम वह प्रस्तुत कर सके। हम युद्ध शब्द से जैसे जैसे एक विभीषिका मन में खड़ी कर लेते हैं और उसके जोर से वर्तमान सभ्यता को हीन और भयंकर बता दिया करते हैं। वह आदत छोड़नी चाहिए।

पैसिफिज्म या शान्तिवाद ने कोई बढ़ा-चढ़ा नमूना आदमी का हमें नहीं दे दिया है। इसलिए प्रश्न के मूल में जाना होगा और वहाँ जाकर जो हाथ लगता है, वह यह कि युद्ध अनिवार्य है, शायद जीवन और इतिहास की प्रक्रिया का नाम है। लेकिन यह भी कि संस्कृति और मानव का प्रकर्ष और उत्कर्ष युद्ध से सधेगा तो तब जब वह धर्मयुद्ध होगा, अर्थात् ऐक्य की श्रद्धा में ही जब द्वन्द्वात्मक जगत् से हम संघर्ष लेते और देते हुए चल सकेंगे। जो ऊपर कहा गया है, उसका आशय केवल यह कि कर्म द्वन्द्वात्मक हो सकता है, होगा ही, किन्तु श्रद्धा एकात्मक हो तो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया शुभ बनती है। अन्यथा स्वयं साध्य बनकर द्वन्द्व हमको काट-फाँटकर रख देगा, उठा नहीं पायेगा।

सम्बुद्धि परमात्मोन्मुख

४२१. सम्बुद्धि को क्या आप अनिवार्य रूप से आध्यात्मिक और ईश्वर-प्रदत्त मान पायेंगे?

—ईश्वर-प्रदत्त या तो मैं सब कुछ मानूँगा, या कुछ भी नहीं मान सकूँगा। ईश्वर के पास देने को हाथ नहीं होते। यदि वह कुल है तो दे क्या और किसे सकता है। इस अर्थ में सचराचर जगत् ईश्वरमय है और जो भी शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा है, सब उसमें से हैं।

सम्बुद्धि ईश्वर-प्रदत्त हो और बुद्धि अन्य-प्रदत्त, यह कैसे हो सकता है। हाँ, यह मानना होगा कि सम्बुद्धि द्वारा हमारी अविकलता का जो बाहर अखण्ड के साथ भाव सम्बन्ध स्थापित होता है, वह अनायास आत्मोन्मुख या परमात्मोन्मुख हो जाता है। बुद्धि उस तरह एकोन्मुख नहीं हो पाती, वह पृथक्-पृथक् के प्रति उन्मुख होती है, इसलिए वह अपेक्षाकृत जगत्-परायण दीखती है। ●

१४

अहं और आत्मा

४२२. अहं के बारे में बहुत काफी आपने पहले कहा है। मैं केवल यह पूछना चाहता हूँ कि पूर्ण परमात्म तत्त्व को अहं के रूप में अलग-अलग घटकों के विभाजन की आवश्यकता क्यों पैदा हुई ? और जब हुई तो उस अहं में जिसे आप बहुत इष्ट नहीं मानते, इतनी शक्ति कहाँ से आयी कि वह आत्मा को रुद्ध और आवृत बनाये रख सके और उसके विरुद्ध आत्मा को सतत एक संघर्ष रोपना पड़े ?

महा-प्रश्न

—पहला प्रश्न महा-प्रश्न है। उसका उत्तर नहीं है। उत्तर का न होना इसलिए भी उचित है कि प्रश्न सदा बना रहे, कभी बन्द न हो। अतः पुरुषार्थ का अवकाश भी कभी बन्द न हो।

सृष्टि स्रष्टा की केलि-क्रीड़ा

पूर्ण में अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए किसी हेतु का भी वहाँ उदय नहीं हो सकता। अन्त में यही कहना हाथ रह जाता है कि परमात्म स्वभाव लीलामय है, नारायण की लीला में से नर की सृष्टि है, सृष्टि स्रष्टा की केलि-क्रीड़ा है। इससे अतिरिक्त और कोई सार्थक भाषा हो नहीं पाती।

शक्ति का अधिष्ठान

पूर्ण स्थित ही हो सकता है। शक्ति गतिशील होती है। इसलिए परमात्म को जीवात्म घटकों में आत्मसाक्षात्कार की परिणति में ही अहं का रूप लेना पड़ता है। शक्ति का अधिष्ठान इस तरह अहं और उनकी विविधता है। शक्ति का सारा खेल वहीं से स्वरूप पाता है।

परस्पर अवरोधकता

प्रश्न यह तो हो सकता है कि वह शक्ति अपर्याप्त कैसे रह गयी, यह प्रश्न नहीं हो

सकता कि वह इतनी पर्याप्त कैसे हो पायी। मैं मानता हूँ कि अहं के घटक क्योंकि असंख्य हैं, इसलिए वे सभी परम शक्तिमान् होकर भी एक-दूसरे की शक्ति के लिए परम अवरोधक बन जाते हैं। इसी में से समस्या और चेष्टा को जन्म मिलता है। सबमें शक्ति है और उस शक्ति-चेतना को लेकर सभी परस्पर में आहार-प्रहार में जुटे और जूझते हुए दीखते हैं। जीव जीव को खाता है, जीव जीव को चाहता है। इस सबके जंजाल में से जो बन खड़ा होता है, वह सामने फैला हुआ संसार है।

अहं शक्ति अवरोधक ही हो सकती है, अगर केवल इस कारण कि अहं अनेक हैं। वही शक्ति मानव-शक्ति बनने लग जाती है, जब अहमहिका से आगे बढ़कर वह शक्ति परस्परता की बन जाती है। इससे आगे जब वह एकता की होती है तब वह आत्म-शक्ति परमात्म-शक्ति बनकर अमोघ हो जाती है।

ईगो और अहं

४२३. पाश्चात्य ईगो और आपके दार्शनिक अहं में क्या अन्तर अथवा समानता है ?

—मैंने कब पाश्चात्य तत्त्ववाद का अध्ययन किया है ? सच तो कुछ अध्ययन नहीं किया है। सामान्य बोलचाल का अहंकार असन्तुलित व्यवहार के लिए प्रयोग में आता है। उसमें जैसे पर का तिरस्कार समाया है। जिसमें पर का सत्कार भी हो, उस व्यवहार को हम सामान्य भाषा में अहंकार नहीं कहते। जिसे हम अपनी चर्चा में अहं कहते आये हैं, वह शिष्ट और नम्र व्यवहार में भी व्याप्त और गर्भित रहता है। जब तक देह है, तब तक उस अहं से छुटकारा नहीं है। वह मानो हमारे सारे जीवन का आधार बनता और उसको व्याख्या देता है। वह अहं सूक्ष्म है और स्थूल कर्म में से उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता।

४२४. ऊपर एक जगह आपने विभाव को प्रतिक्रियात्मक बताया है और भाव को मौलिक। विभाव की यह प्रतिक्रियात्मकता अहं से ही क्या प्राप्त नहीं होती है और भाव को अपनी मौलिकता आत्मा से ? ऐसी स्थिति में अहं और आत्मा के बीच क्या एक भेद और दूरी नहीं पड़ जाती ?

अहं और आत्मा

—अवश्य पड़ती है। भेद भी है, दूरी भी है, बल्कि विरोध तक है। अगर ऐसा न होता तो तनाव न पड़ता और जीवन में व्यथा और वेदना की अनुभूति न आ पाती।

अहं की सम्पूर्ति विभावों से नहीं

किन्तु अहं के लिए अनिवार्य है कि जब वह अपने स्व की चेतना पर गर्व करे, तब उस गर्व में कष्ट भी अनुभव करे। स्व है, इसीमें है कि वह पर की अपेक्षा में है। कोई नहीं हो सकता, जो अपने में अकेला होकर व्यर्थ न अनुभव कर आये। सार्थकता की अनुभूति स्व को होती ही तब है, जब वह पर में बढ़ता और उसमें स्वकीय भाव प्राप्त करता है। अर्थात् अहं के लिए भी प्रीति, सत्कार, दान, दाक्षिण्य आदि तो मूलभाव सिद्ध होते हैं। उनसे उलटे क्रोध-भय-लोभ विभाव ही कहे जाने चाहिए। कुछ-न-कुछ टक्कर होती है कि जिनसे पलटकर भाव विभाव बनते हैं। यह तो मानना ही पड़ेगा कि अहं-मूलक अधिक होने से विभाव, और आत्मोन्मुख होने से स्वभाव कहना होता है। लेकिन यह स्पष्ट होना चाहिए कि अहं की सम्पूर्ति और तृप्ति विभावों द्वारा नहीं होती, बल्कि क्षति ही होती है। यदि हम मान सकें कि अहं अपनी प्रकृति से आत्म-विमुख नहीं है, तो विभावों को प्रतिक्रियात्मक ही कहना पड़ता है।

४२५. अहं और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्धों पर तनिक स्पष्ट वैज्ञानिक प्रकाश डालें।

—वैज्ञानिक प्रकाश वहाँ पड़ सके, तो बात ही क्या है। कम-से-कम मेरे द्वारा नहीं पड़ सकता।

आत्मता आकाश, अहं पिण्ड

आत्मता में हम सबसे एक हैं। अहन्ता में हम सबसे अलग हैं। चेतना सक्रिय हो इसके लिए अहन्ता का उसे आधार चाहिए। आत्मता तो मूल धरातल है, जैसे आकाश। आकाश में पिण्ड इसीलिए गति करते हैं कि वह स्वयं निश्चल है। हम दो पाँववाले प्राणी धरती पर चल पाते हैं तो इसीलिए कि जब पाँव चलते हैं, तब धरती अचल रहती है। आत्मता को भी अहं के सम्बन्ध में उसी प्रकार मूलाधार के रूप में समझना चाहिए। हम जीते हैं, क्योंकि हवा है; मछली जीती है, क्योंकि पानी है। अहं जी पाता है, क्योंकि आत्मता का उसे अवलम्ब है। अहं स्वयं में व्यर्थ और असिद्ध हो जाता है अगर शेष से उसे हम सर्वथा हटा और कटा मान लेते हैं। इस प्रकार अखिल से छिन्न-भिन्न अहं है नहीं। फिर जो उसकी अव्यक्त संयुक्तता है, उसीको आत्मता का क्षेत्र कहना चाहिए। मैं सूरज से करोड़ों मील दूर अपने को मानता हूँ, लेकिन उस दूरी से धूप आ जाती है और इन आँखों से उसके दर्शन प्राप्त हो जाते हैं। यह मेरे और सूरज के बीच की सम्बद्धता जिस शून्याकाश से सम्भव बनती है, क्या उसके बिना मैं हो सकता था?

मैं हूँ तो उसमें हूँ और सूरज भी उसमें है। उसीके आधार पर नाना वस्तुओं में नाना प्रकार की सम्बद्धता सम्भव बनती और निभती है। ठीक इसी प्रकार अहन्ता को आत्मता का आधार प्राप्त है और अहं की सारी क्रिया-क्रीड़ा इसी-लिए हो पाती है कि आत्मता में उसके लिए अवकाश बना रहता है।

अहन्ता-आत्मता के सम्बन्ध वैज्ञानिक

पृथ्वी पर रहते हुए गुरुत्वाकर्षण के कारण हम भार अनुभव करते हैं। पृथ्वी सूर्य के प्रति खिंची रहती और उसकी परिक्रमा में प्रवृत्त रहती है। विज्ञान द्वारा इन पृथ्वी, व्योम और सूर्य के सम्बन्ध को गणना की परिभाषा में ले आया गया है। मुझ लगता है कि अहन्ता और आत्मता के सम्बन्धों को भी बहुत कुछ ज्ञान-विज्ञान में ले आया जा सकेगा। लेकिन आज मेरे लिए उस सम्बन्ध में अधिक कहना सम्भव नहीं है।

४२६. अहं और आत्मा में निरन्तर एक संघर्ष चलता है यह आपने माना। इस संघर्ष को जीवन में क्या स्वरूप प्राप्त होता है। और किस घड़ी यह संघर्ष हमें अपने चरम रूप में दीख पड़ता है ?

तीव्रतम आरोपण और उत्सर्जन

—अहन्ता में हम एक साथ गर्विष्ट और त्रस्त होते हैं। गर्व में अधीन करना चाहते हैं, त्रास में निछावर होना चाहते हैं। जिसको **काम** कहा जाता है, मानो उसके स्फोट में यह द्वन्द्व अपनी चरमता प्राप्त करता है। हम एक साथ अपने को दूसरे में तोड़कर मिटा देना चाहते और दूसरे को अपने में समाकर खतम कर डालना चाहते हैं। 'स्व' का 'पर' पर आरोपण भी तीव्रतम होता है और उत्सर्जन भी उतना ही तीव्र होता है। पहले को हिंसा कहा जाये, दूसरे को अहिंसा कहा जा सकता है। जो हो, इन दोनों विपरीतताओं के परम संगम से वह ज्वाला और वह विस्फोट प्रकट होता है, पारस्पर्य में दो प्राणी अपनी पृथक्ता को लेकर इस प्रकार डूबते और स्वाहा होते हैं कि इसीमें तीसरे प्राणी का बीजारोपण हो जाता है। सृष्टि स्वपरार्पण में से इसलिए सम्भव बनती है कि मानो विपरीतता में तने हुए दो अहं भिन्नता को खोने की आतुरता में आत्मता को छू लेते हैं। आत्मता के स्पर्श से सृजन अनिवार्य हो ही जानेवाला है।

संघर्ष स्व-परात्मक

इस सबसे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्रियमाण तत्त्व दोनों ओर अहं ही है, आत्म

केवल आधार-भूत है। संघर्ष आत्म की ओर से है नहीं, हो सकता नहीं है। इसीलिए संघर्ष स्व-परात्मक हो जाता है। अर्थात् दो अस्मिताओं में होता दीखता है।

पुंभाव, स्त्रीभाव

इस कामस्फोट में एक ओर से नर-चेतना और दूसरी ओर से नारी-चेतना के रूप में विरोधी अहं-चेतनाएँ साम्मुख्य में आती हैं। 'मैं उसमें होऊँ, 'वह मुझमें हो' इस भाव में परस्पर सायुज्य प्राप्त करके मानो वे फिर इस भाव से भी मुक्ति पा लेती हैं। परस्परता में आबद्ध होकर पुरुष का पुंभाव और स्त्री का स्त्रीभाव ही खो जाता है और मानो दोनों ओर शुद्ध आत्म-यज्ञ में जलता और भस्म होता हुआ अहं-भाव रह जाता है।

अहंचर्या, ब्रह्मचर्या

अर्थात् स्त्री-पुरुष-भेद भी आत्मता तक पहुँचते-पहुँचते खो जाता है। अहन्ता जहाँ तक है, वहीं तक स्त्री-पुरुष भाव की व्याप्ति है, वहीं तक कामेषणा की उपयुक्तता है। अहं की चर्या से भिन्न ब्रह्म की चर्या भी हो सकती है जहाँ काम संगत नहीं रहता । कारण, अहं का किसी अहं से वैपरीत्य नहीं रह जाता है, उसका सम्बन्ध आत्मता से बनने लग जाता है। किन्तु ब्रह्मचर्य की यहाँ बात न होगी।

१५

कामाचार, ब्रह्माचार

४२७. ऊपर आपने बताया कि सम्भोग में भिन्नता को खोकर स्त्री-पुरुष आत्मता को स्पर्श कर लेते हैं। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हर प्रकार के सम्भोग में चाहे उसके पीछे मानसिकता हो या न हो, व्यक्ति आत्मता के निकट पहुँच जाता है?

आत्मता अर्थात् व्याप्त शून्यता

—आत्मता कोई मंजिल नहीं है कि चेष्टा से वहाँ पहुँचा जाय। अपने को अन्य में खो पाना ही मानो उसको छू लेना है। वह व्याप्त शून्यता है, जो हमको धारे हुए हैं। अहं से शून्य बने कि मानो हम उसमें आप ही जा मिलते हैं। हेतुवादी मानसिकता इसमें बाधक या साधक नहीं होती। यह एकदम भिन्न स्तर की सत्यता है।

सम्भोग द्वारा क्षणिक अस्तित्व-शून्यता

सम्भोग में जो समान तत्त्व है, वह यह कि व्यक्ति परस्पर में अपने को, क्षण के लिए ही सही, अस्तित्वहीन कर लेता है। इस न्यूनतम सामान्यता के बाद जो फिर तारतम्य है उससे पूर्व-स्थापना में अन्तर नहीं आता।

बलात्कार

४२८. आवेशवश अथवा प्रतिशोधवश किये गये बलात्कार में भी क्या आप शून्यता तक पहुँचने की स्थिति को देख और समझ पाते हैं?

—सच यह कि काम-चर्या में कुछ-न-कुछ बलात्कार सदा ही होता है। यह दूसरा बात है कि वह दोनों ओर प्रिय होता हो।

प्रश्न के बलात्कार में यह गर्भित है कि निछावर होने की वृत्ति अनुपस्थित है। दोनों विपरीत वृत्तियाँ, अधीन कर लेने और अधीन हो जाने की, दोनों ओर से

वहाँ अपनी चरमावस्था में युक्त नहीं हो पातीं। इसलिए बलात्कार का प्रश्न अलग रह जाता है।

काम की तीव्रता

४२९. क्या आप यह भी नहीं मानते कि व्यक्ति का अहं जितना तीव्र और बलिष्ठ होता है, उसमें काम भी उतना ही उग्र होता है?

—हाँ, यह तो होगा ही। लेकिन उसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखना ठीक होगा कि जितना गर्व अधिक होता है काम में उतनी ही निम्न बनने की स्पृहा सताती है। अंग्रेजी का एक शब्द है—मेसोकिज्म। उसमें मानो यही सार है।

मेसोकिज्म, साडिज्म

४३०. क्या यह कहना ठीक है कि स्त्रीत्व का आधार यह मेसोकिज्म है और पुरुषत्व का साडिज्म? और इसी प्रकार यही दोनों क्रमशः अहिंसा और हिंसा के भी मूल स्रोत हैं?

पुरुष प्रेरक, स्त्री धारक

—सर्वथा यह कहना इसलिए ठीक नहीं होगा कि स्त्री-पुरुष से हमारे सामने स्थूल देहधारी की कल्पना आती है। यह तो विदित ही है कि हरएक में स्त्री-पुरुषतत्त्व दोनों रहते हैं और लिंग-निर्माण अनुपात के आधार पर होता है। अर्थात् नितान्त स्त्री और नितान्त पुरुष व्यक्तित्व पाता ही नहीं। किन्तु गुणात्मक और प्रतीकात्मक रूप से इन दोनों शब्दों को लें तो सचमुच वे काफी सांकेतिक बन जाते हैं। यह यहाँ उल्लेखनीय हो सकता है कि गांधीजी को अहिंसा अपनी पत्नी कस्तूरबा से मिली। पुरुष प्रेरक है, स्त्री धारक है। इन दोनों तत्त्वों के बँटवारे से मानो संसार रचा और थमा हुआ है। और मुझे जान पड़ता है कि यदि मुक्ति वह अवस्था है, जिसकी अनुभूति पायी जा सके, तो वह इन दोनों के सन्तुलित संगम से प्राप्त हो सकती है।

प्रार्थनामय-हिंसा अहिंसा

हिंसा अहं में गर्भित है। अगर वही साधनापूर्वक सर्वथा प्रार्थनामय बन जाय तो मानो उसे अहिंसा की सन्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार जीवन-मुक्त व्यक्ति की कल्पना भी सम्भव बनती है, जो स्वयं होकर भी सब हो, नर होकर भी नारायण हो और जिसके जन्म को अवतरण कहना अधिक सार्थक दीखता हो।

अर्धनारीश्वरत्व

४३१. इन दोनों विपरीत वृत्तियों के सन्तुलन की स्थितियों को क्या अर्धनारीश्वर की कल्पना से समझा जा सकता है?

—बेशक अर्धनारीश्वर की कल्पना इसी अनिवार्यता में से निकली है। मेरे वक्तव्य को वह सचित्र करती है।

४३२. एक काव्य की भूमिका में कहा गया है कि 'इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श ही काम का उन्नत आदर्श है और परिरम्भ पाश्र्व में बँधे हुए प्रेमी एक-दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं जो किरणोज्वल और वायवीय है।' अतीन्द्रिय धरातल और किरणोज्वल वायवीय लोक की कल्पना क्या आपके मानस में भी है? यदि है तो उसका क्या स्वरूप है?

सम्भोग द्वारा परस्परोपलब्धि आंशिक

—पुरुषार्थ चार गिनाये हैं। बीच में काम और अन्त में मोक्ष है। इसीमें गर्भित है कि काम की उन्मुखता मोक्ष की ओर है।

यह सही है कि अपनी सब दैहिक चेष्टाओं में से हम जिसको परिरम्भण में लेते हैं, वह उपलक्ष मात्र होता है, लक्ष पार रहता है। लेकिन इसीमें से यह स्पष्ट होना चाहिए, जो भूमिका-लेखक के निकट शायद स्पष्ट नहीं है, कि उपलक्ष का परिरम्भ लक्ष की उपलब्धि का जो विमोह उत्पन्न कर रहता है सो अतिक्रमण में बाधा ही बनता है। परिरम्भण द्वारा परस्पर की शून्यता को पाया नहीं जा सकता। पाना शून्य को है। देह को पाकर उसमें देह को खो पाना शून्यानुभूति को क्षणानुभूति बना देता है। स्त्री-पुरुष उपलक्ष हैं, लक्ष चेतना में व्याप्त बने तो उपलक्षों में आग्रह असंगत बनता है। अर्थात् ब्रह्म अथवा शून्य की चर्या के लिए परिरम्भण आदि व्यापार बीच में से सहज अनावश्यक हो जाना चाहिए। मैं मानता हूँ कि परस्परोपलब्धि भी काम-भोग द्वारा इतनी आंशिक होती है कि मानो सम्भोग के साथ ही उसकी व्यर्थता की अनुभूति हुए बिना नहीं बचती।

अतीन्द्रियता ऐन्द्रिक नहीं, आत्मिक

यह ठीक है कि अतीन्द्रियता के लिए इन्द्रियों को बीच में प्यासा और अतृप्त नहीं छूट रहना है, उनको कृतार्थ और भरपूर बन जाना है। लेकिन विषयभोग में से इन्द्रियाँ तृप्त-काम नहीं होतीं, निर्विषयक भोग ही उसे संतृप्ति दे सकता है। भूमिका की भाषा से इन्द्रिय और अतीन्द्रिय के बीच के इस सम्बन्ध का परिचय नहीं प्रकट होता है, प्रकट ऐसा होता है कि मानो अतीन्द्रिय प्रगाढ़ दैहिक हो।

सच यह कि अतीन्द्रिय ऐन्द्रिक और दैहिक होने की आवश्यकता में इसलिए नहीं रहता है कि वह आत्मिक होता है।

४३३. तब क्या अतीन्द्रियता दैहिकता को पूरी तरह विसर्जित कर देती है? देह और आत्मा इन दो चरम बिन्दुओं के बीच मानव किस प्रकार और कहाँ अपने को सन्तुलित करे?

इन्द्रिय और इन्द्रियातीत

—नहीं, देह या इन्द्रियों के विसर्जन से अतीन्द्रिय दशा नहीं मिलनेवाली है। इन्द्रिय और इन्द्रियातीत की बात को समझने के लिए आइये स्वयं हम अपने को लें।

आप स्वस्थ हैं तो इसका क्या लक्षण है? लक्षण है कि शरीर को लेकर आप अनायास हैं, सायास नहीं हैं, शरीर की अलग से चेतना नहीं है। जिसका पाँव दुखता हो, उसको हरदम पाँव का पता रहता है। अर्थात् पृथक् चेतना अस्वस्थता के कारण होती है। स्वस्थ हो तो इसका न ध्यान रहेगा न खबर कि पाँव है।

इन्द्रियाँ संवादी हों

ऊपर के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अतीन्द्रिय अवस्था वह है, जहाँ इन्द्रियाँ समीचीन और संवादी होकर काम करती हैं। विसर्जित नहीं होतीं, न बीच में असंगत होती हैं, बल्कि पूर्ण स्वस्थ और उपयुक्त होने के कारण सर्वथा सुसंगत बन जाती हैं। आत्म से अलग तनी और बिगड़ी तनिक नहीं रह जातीं।

निर्गुणता गुणों की संवादिता

यही गुणों के सम्बन्ध में मानिये। निर्गुणता गुणहीनता नहीं है, बल्कि गुणों की सुसंवादिता है। निर्गुणता में गुण और अतीन्द्रियता में इन्द्रियाँ समुपयुक्त भाव से काम करने के कारण परस्पर विग्रह में नहीं आतीं और इसलिए किसीको अपनी भिन्नता का चेत होने की आवश्यकता नहीं होती।

देह नैवेद्य के समान पवित्र

देह को अलग मानने की जरूरत नहीं है। मन्दिर में पूजा मूर्ति की होती है। लेकिन उसके कारण पवित्र पूरा ही मन्दिर बनता है। शरीर मन्दिर के समान है। जिसने यह समझा वह षोडशी प्रेयसी की भाँति अपने शरीर की सँभाल रखकर भी अलिप्त रह सकता है। शरीर के प्रति अवज्ञा या लापरवाही अनासक्ति का

लक्षण नहीं है। बल्कि अनासक्ति की वह घोर आसक्ति है। आत्मपूर्वक शरीर के साथ किया गया व्यवहार एक साथ ममतामय और निर्मम हो सकेगा। निर्मम इस अर्थ में कि अन्तःकरण से भिन्न होकर आनेवाली शरीर की कोई माँग सुनी नहीं जाँयगी। और ममत्वपूर्ण इस अर्थ में कि शरीर की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आवश्यकता और संकेत का ध्यान रखा जायगा। शरीर को अपना मानकर या तो उसको सजाते या सजा देते हैं, दोनों ही में आसक्ति देखी जा सकती है। यदि यह मान सकें कि मैं जैसे परमेश्वर का हूँ, वैसे ही मेरा शरीर परमेश्वर का है, तो शरीर नैवैद्य की भाँति पवित्र हो उठना चाहिए। उसकी स्वच्छता और स्वस्थता हमारे लिए पूजा-प्रार्थना की भाँति अनिवार्य कर्तव्य बन जानी चाहिए।

खबरदार रहें कि शरीर से अलग आत्मा है नहीं, हो तो उसे प्रेत कहना होता है। इसी तरह आत्मा से अलग शरीर शव हो जाता है। इन दोनों को तनिक भी दो और अलग मानने से आगे फिर इतना फटाव हो जाता है कि आध्यात्मिक और भौतिक नाम की मुकाबले में दो तात्त्विक छावनियाँ बन जाती हैं और अपने बीच में गर्व नहीं तो ठंडा युद्ध ठाने ही रहती हैं। यह सब उपद्रव इस तनिक से मिथ्यात्व को अपनाने से हो निकलता है कि आत्मा और शरीर दो हैं।

जगत् में मुक्ति, जगत् से मुक्ति

४३४. काम के माध्यम से अतीन्द्रियता की प्राप्ति अथवा काम के पूर्ण विसर्जन से अध्यात्म-स्थिति को पाना, भोग में से योग साधना अथवा भोग को तिरस्कृत कर किसी योग की साधना करना अथवा जगत् में मुक्ति या जगत् से मुक्ति—इन विरोधी लगनेवाली स्थितियों में आप कितना विरोध और कितना ऐक्य देखते हैं?

नकार की अधिकता

—अधिकांश वह भाषा का फेर है। स्वीकार और नकार दोनों ही भाषाओं के सहारे गति की जा सकती है। सावधानी यह रखनी होगी कि भाषा को सूचक मानें, स्वयं सत्य न मान लें।

आज के दिन मुझे स्वीकारता की भाषा अधिक सार्थक और उपयोगी जान पड़ती है। भारत में भाषा के नकार को इतना जोर से पकड़ा और साधा गया है कि अध्यात्मता के नाम पर निरर्थकता हाथ रह गयी है। उसमें से कृच्छ्र-साधना निकली है। मानो कि शरीर को सुखाने से आत्मा में हरियाली आती हो और शरीर को मारने से आत्मा के अमर बनने की राह खुल जाती हो। वैसी

समझ इतना बिगाड़ कर चुकी है कि स्वीकारता की भाषा में खतरा होते हुए भी मैं उसका समर्थन करता हूँ।

स्वीकृति की भाषा का आशय होगा—काम में से निष्काम, भोग में से योग, जगत् में से मुक्ति, इन्द्रियों में से अतीन्द्रियता।

मुख्य प्रश्न सन्दर्भ का

शायद पहले कहा है कि मुख्य प्रश्न सन्दर्भ का रहता है। व्यक्ति-परक होकर जो भोग है, निर्वैयक्तिक में वही योग हो जाता है। काम, भोग, इन्द्रिय, जगत् ये सब संज्ञाएँ खण्ड-सम्बन्ध की द्योतक हैं, इसलिए बन्धनकारक बनती हैं। लेकिन इस कारण असम्बद्धता प्राप्त करने की चेष्टा और भी भूलभरी होगी। कारण, असम्बद्धता की कहीं स्थिति ही नहीं है। यदि 'मैं' है तो 'तुम' और 'उस' के साथ है। यदि कुछ है तो शेष और अन्य के साथ है। सम्बद्धता से छुटकारा सम्भव नहीं है,—तब यह अवश्य सम्भव है कि अहं का सम्बन्ध शेष से हो तो अखिलपूर्वक हो। बस अखिलपूर्वकता से सब खोटा अच्छा, झूठा सच, और गलत सही हो जाता है। गीता में यह जो कहा कि सब मुझे सौंप दो और फिर सब ठीक होगा, उसका यही आशय लेना चाहिए। निर्वैयक्तिक सन्दर्भ में मानो क्रिया आवेश से मुक्त हो जाती है और कर्म के लिए काम आवश्यक नहीं रहता, वह निष्काम होता जाता है।

सन्दर्भ के इस तनिक फेर से मुझे मालूम होता है कि विवाह और प्रेम में भी सहज समन्वय हो सकता है। आप जानते ही हैं कि आत्मा और शरीर में उतना विरोध आजकल शायद नहीं देखा जाता, जितना विरोध विवाह और प्रेम में माना जाता है!

कामुकता, ब्रह्मचर्य आदि

४३५. कामुकता और व्यभिचार, कामोन्नयन तथा ब्रह्मचर्या इनके भाव और अर्थ बहुधा गलत समझ लिये जाते हैं। मैं आपको आत्मतापरक दृष्टि से इन पर आपकी समीक्षा सुनना चाहता हूँ?

—क्या गलत समझे जाते हैं?

४३६. कामुकता का अर्थ दैहिक विलासचर्या, व्यभिचार का अर्थ एक द्वारा अनेक में गमन, कामोन्नयन का अर्थ काम को ऊँचे उठाकर ईश्वर से काम-सम्बन्ध की स्थापना तथा ब्रह्मचर्या से ब्रह्म में लीन होना, समाधि, और दैहिकता का सर्वथा विसर्जन ही माना जाता है। आपकी स्व-पर में अभेद की दृष्टि से इन विशेष स्थितियों का क्या स्वरूप प्रकट होगा?

व्यभिचार, कामोन्नयन

—व्यभिचार और कामोन्नयन इन शब्दों को मैं विचार में नहीं लेना चाहता। व्यभिचार सामाजिक और कामोन्नयन व्यावसायिक शब्द हैं। उन दोनों से विचार में विशेष सहायता नहीं मिलती। विचार बनी लीक पर चल निकलता है और जीवन-प्रश्न से वह दूर हट जाता है।

कामुकता

शेष बचे कामुकता और ब्रह्मचर्य। वस्तु के प्रति इच्छा कामना कहलाती है, व्यक्ति के प्रति कामुकता। मूल में दोनों एक हैं। अन्तर इतना है कि कामना में वस्तु को हम अपनी ओर खींचते ही अनुभव करते हैं, कामुकता में खिचते भी अनुभव करतेहैं। यह हो नहीं सकता कि चेतना हो और उसको लेकर कोई अपने में बन्द हो रहे। अपने से बाहर आने और फिर और बाहर जाने की अनिवार्यता को ही चेतना कहते हैं। इसलिए चेतन प्राणी क्रियाहीन नहीं है, प्रेरणाहीन नहीं है। प्रेरणा को इच्छा कह सकते हैं, उनके सम्बन्ध में जिनके पास मन है, अन्यथा निसर्ग कह सकते हैं। चेतना वस्तु की ओर जिस वेग से जाती है, व्यक्ति की ओर वह वेग उससे अधिक ही होता है। इसीको कामुकता कह दिया जाता है। जो शब्द दीजिये, वह प्रवृत्ति अनिवार्य है। व्यक्ति व्यक्ति को चाहे बिना रह नहीं सकता। चाह दुर्दम हो आती है, जब दो सम नहीं विषम होते हैं, जैसे कि स्त्री-पुरुष विषम हैं। इस चाहना में मन जाता है, तो शरीर भी जाना चाहता है। शायद कामुकता शब्द शरीर की अपेक्षा में ही व्यवहार में आता है, मानसिक भूमिका पर उसे कुछ और भी मान लिया जाता हो। आपका कामोन्नयन शब्द शायद मानसिक को अपने में समा लेता हो और शारीरिक को अपने से तज देता हो। मन और शरीर को अलग गिनने मात्र से काम को एक ओर सुन्दर और दूसरी ओर बीभत्स समझ लिया जाता हो तो इससे विचार में अन्तर नहीं आना चाहिए। मैं मानता हूँ कि मन जाय और शरीर को रोक रखा जाय, तो इसीमें से कुछ उन्नयन नहीं प्राप्त हो जाता है, बल्कि उलटे विकार पैदा होता है।

कामुकता से कोई प्राणी बचा नहीं हो सकता। मैथुन से सृष्टि है और स्वत्व अपने-आपमें असिद्ध-संज्ञा है, परत्व की अपेक्षा के बिना स्वत्व जी नहीं सकता।

ब्रह्मचर्य

अब ब्रह्म की चर्या, कामना या काम-भावना की वह अनुकृति है, जो नानात्व और

पृथक्त्व में रुकती नहीं हैं, उनका समाहार या पार खोजती है। इस तरह वह एक-एक को नहीं लेती, मानो सबको लेना चाहती है। इसमें काम की ज्वाला की नाना शिखाएँ एक प्रेम की लौ बनकर रह जाती हैं। शायद अनेक की इस एकता में ताप का हरण हो जाता है और प्रकाश का वरण होता है। इसको मैं कामोन्नयन नहीं कहता हूँ। यह भाषा आधुनिक विज्ञान-व्यवसाय की है। लेकिन यह उन्नयन नहीं है, उसका जो मूल में द्वन्द्वज है। काम अहन्ता में से निकलता है, प्रेम आत्मता में से उदय पाता है। काम को अनन्त गुणित करने से भी फल में प्रेम नहीं प्राप्त होगा। कारण, प्रकृति से ही वे भिन्न हैं।

व्यभिचार

ऊपर व्यभिचार शब्द आया है। आपने उसको परिभाषा भी दी है। एक का अनेक में गमन व्यभिचार माना जाता है। लेकिन एक का एक में शमन न कभी सम्भव हुआ है, न होगा। यह मूलतः गलत है। इसलिए यदि एक एक में सीमित है, तो पति-पत्नी सम्बन्ध के द्वारा ही सीमित है। किन्तु स्वयं भारतीय समाज और परिवार में इस पति-पत्नी सम्बन्ध को छोड़कर अन्य असंख्य सम्बन्ध विद्यमान हैं। उनमें यह माना कि यौन सम्बन्ध वर्जित रहता है, लेकिन क्या यह भी माना जा सकता है कि उन सम्बन्धों में परस्पर स्नेह और ममता का प्रवाह निषिद्ध है। अर्थात् व्यभिचार का शब्द स्थूल एवं उपयोगी मात्र है, उस पर अधिक बोझ डालने से मर्यादा की लकीरें इतनी गहरी खरोंच डालती हैं कि स्वयं मर्यादाएँ क्षत-विक्षत हो जाती हैं। इसलिए मूल विचार के बीच में हम व्यभिचार को न लायें, तो ही अच्छा है। नहीं तो सोचिये कृष्ण को कैसे समझ में लीजियेगा?

४३७. कृष्ण का जिक्र आपने किया। सामाजिक दृष्टि से छोड़िये, आत्मिक दृष्टि से ही उनके सोलह हजार आठ रानियों के साथ एक साथ कल्पित सम्भोग को आप किस प्रकार स्वीकार करेंगे?

कृष्ण भोगी नहीं थे

सोलह—हजार-आठ की संख्या पर तो आपका ध्यान नहीं अटका है? मैंने छियानबे हजार की संख्या भी सुनी है। एक समय हजार क्या, एक से आगे दो की भी भोग में सम्भवता नहीं है। भोग की यही सबसे बड़ी सीमा और समीक्षा है। सोलह या छियानबे हजार की भाषा का मतलब यही हो सकता है कि कृष्ण भोगी नहीं थे। नहीं तो रानियों की संख्या इकाई से उठकर दहाई या अधिक-से अधिक सैकड़े से आगे नहीं जा सकती थी। अगर हजारों तक गयी और फिर भी

मानो कल्पना अतृप्त रह गयी तो उसका आशय कृष्ण में भोग की जगह योग का ऐश्वर्य देखने का ही रहा हो सकता है।

वे एक साथ सबके थे

भागवत में है कि नारद इस विस्मय का उत्तर पाने के लिए उन हजारों में से एक-एक रानी के पास गये। कैसे कृष्ण सबको एक साथ उपलब्ध होते और तृप्त रखते हैं यह प्रश्न हो ही सकता है। नारदजी जिसके यहाँ पहुँचते हैं, वहीं कृष्ण को उपस्थित पाते हैं! ऐसे अन्त में मानो उन्होंने उत्तर पा लिया। वह उत्तर यही हो सकता है कि कृष्ण एक-एक के नहीं सबके थे, और उन सबके लिए भी कृष्ण एक व्यक्ति नहीं मानो आप्त पुरुष थे। संख्या और कल्पना की अतिशयता द्वारा मानो हम अपने बीच की रेखाओं को पारकर उस अनन्तता में पहुँच जाना चाहते हैं, जहाँ संयम इसलिए अनावश्यक है कि आनन्द वहाँ व्याप्त है। व्यक्ति वहाँ अकेला नहीं रहता कि दूसरे की जरूरत में हो, वह सब हो जाता है कि कोई जरूरत उसे नहीं रहती!

काम औषधि, रोग नहीं

मैं मानता हूँ कि काम अकेलेपन को खोने की औषधि के रूप में आता है और रोग वह नहीं, बल्कि एक का एकाकीपन है जिसको कभी स्वयं साध्य भी मान लिया जाता है। यह भयंकर भूल खत्म होनी चाहिए।

प्रलय के सूत्रधार शिव

४३८. कृष्ण के चरित्र की कल्पना से यह स्पष्ट होता है कि अपने अहं को ब्रह्म में लीन कर देने से व्यक्ति का काम भी ब्रह्ममय हो जाता है। और काम का दोष फिर उसको नहीं लगता। इसी प्रकार शिव की कल्पना से क्या यह प्रकट नहीं होता कि इसी क्रम से हिंसा भी मानव-चेतना पर कोई दुष्प्रभाव नहीं छोड़ती और मानव हिंसा को ब्रह्मप्रेरित मानता हुआ मजे में प्रलय का सूत्रधार बनकर टिक सकता है और पूजित हो सकता है?

ब्रह्मलीनता कठिन

—बात ठीक है, लेकिन अहं को ब्रह्म में लीन करना नहीं होता। ब्रह्म-लीनता अहं को परस्पर की सेवा और समस्या में प्रवृत्त करने से अपने-आप सधती है। अवश्य इसमें वैयक्तिक सन्दर्भ से उठकर व्यक्ति-कर्म मानो समग्र-कर्म होता जाता

है। सकाम विशेषण फिर उसके व्यवहार के साथ संगत रहता ही नहीं, वह निष्काम हो जाता है।

हत्या, मैथुन सर्वदा सकाम

हिंसा के सम्बन्ध में भी यह माना जा सकता था। लेकिन हत्या और मैथुन दोनों ऐसे कृत्य हैं, जो सकाम प्रेरणा के बिना शायद ही सम्भव हो सकते हैं। 'शायद' मैं जान-बूझकर कह रहा हूँ, क्योंकि जहाँ व्यक्ति सर्वथा नहीं है, वहाँ कृत नहीं रहता, इसलिए सुकृत अथवा दुष्कृत आदि भी नहीं रहता। सृष्टि में हिंसा दीखती है, तो क्या उसका दोष स्रष्टा पर डाला जा सकता है? नहीं; नहीं इसलिए डाला जा सकता कि वहाँ एक से दूसरा है ही नहीं कि हिंसा सम्भव हो; हिंसा के लिए दो चाहिए। इसलिए यदि द्वित्व-भाव इतना समाप्त हो गया हो कि सर्वथा एक आत्मीय भाव ही रह जाय तो सचमुच वहाँ हिंसा कैसे बन सकती है? यह नहीं कि हिंसक कृत्य वहाँ अहिंसा बन जाता हो, बल्कि यह कि कृत्य रहता ही नहीं जिसे हिंसक कहा जा सके।

इन शब्दों की भूलभुलैया के पार मैं यही मानने की सलाह दूँगा कि हत्या और मैथुन आसक्ति में ही बन पाते हैं, इसलिए वे कभी धर्म्य नहीं हैं।

४३९. ऊपर आपने एक जगह मन को जाने देने पर शरीर का रोकने को अनुचित बताया है। पर सांसारिक व्यवहार में लगभग ऐसा ही करना पड़ता है। वहाँ मन कहीं भी जाय पर शरीर को काबू में रखना पड़ता है। इस स्थिति के औचित्य पर आपको क्या कहना है?

मन जाय, शरीर न जाय

—मन जाय तो शरीर को भी जाने देना चाहिए, बात का ऐसा मतलब लगाना गलत होगा। मतलब यह है कि शरीर को जाने से अगर हम रोक लेते हैं, तो इस पर किसी संयम-पालन या कर्तव्य-पालन का गर्व मानने का हक नहीं है। मन और शरीर के बीच इतना अन्तर डाल दिया गया है कि मनोविलास को कला इत्यादि के नाम पर हम क्षम्य ही नहीं, बल्कि भव्य मान लेते हैं, केवल शरीर के सम्बन्ध में मर्यादाओं को लागू समझते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व में विघटन आता है और हठात् दमन के कारण नाना विकार और रोग पैदा होते हैं। अर्थात् उसी रस को मन में पाना और तन से छोड़े रखना कोई गर्व और श्रेय की बात नहीं है, यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ऐसी समझ होने पर हम केवल दैहिक दोष को दण्डनीय नहीं ठहरायेंगे और दोषोपचार को मानसिक स्तर तक पहुँचाये बिना चैन

नहीं पायेंगे। आप ही सोचिये कि जड़ को रहने देकर पत्तों से नाराज होने और होते ही उनको काट डालने का प्रण बाँधने से क्या व्यर्थ हैरानी ही नहीं हाथ आनेवाली है?

इसका आशय यह कि दोष का आवास शरीर में नहीं है, शरीर पर वह फूटता भर है। जन्म वह भीतर अन्तरंग में पाता है।

कृति द्वन्द्व में से

४४०. आधुनिक साहित्यिक मनोविज्ञान शायद कहता और मानता है कि कृतिकार में जब तक व्यक्तित्व की दो फाँकें न हों अर्थात् द्वन्द्व न हो, तब तक वह कोई कृति प्रस्तुत करने की क्षमता नहीं रखता। क्या आप भी मानते हैं कि द्वन्द्व की पीड़ा में से ही कृति उपजती है?

द्वन्द्व की पीड़ा

—द्वन्द्व से कोई प्राणी मुक्त नहीं है। हर एक भीतर विभक्त है, उसमें दो-पन है। जो हैं, इच्छा उसके आगे जाती है। इसलिए किसी को भी, फिर चाहे वह कृतिकार हो, अपने में द्वन्द्व लाने या बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। द्वन्द्व जो विद्यमान है, उसकी पीड़ा अपनाने की ही आवश्यकता है। पीड़ा को अपनाना पीड़ा को भोगने से इस अर्थ में भिन्न हो जाता है कि आत्मीयता द्वारा हम उस पर विभुता पाते हैं, उससे मुक्ति चाहते हैं। केवल भोग में से चाह की यह एकाग्रता नहीं पैदा होती। मानो धुआँ रहता है, ज्वाला बनकर ऊर्ध्वगामी कोई वह्निशिखा नहीं प्रकट होती। पीड़ा जब यह वह्निशिखा का रूप लेती है, तब सृजन सम्भव होता है।

द्वन्द्व भूमि, कृति वृक्ष

यों कहिये कि समस्त पुरुषार्थ द्वन्द्वबोध के निमित्त से है। लेकिन इसीमें है कि जाने अनजाने वह ऐक्य-लाभ के लक्ष से है। द्वन्द्व को भूमि समझिये, उसके भीतर से अंकुरित हुआ वृक्ष आकाश में उठकर फलफूल देता है। आकाश न ठोस है, न द्वन्द्वात्मक है। वह सर्वथा वायव्य और अखंड है। बीज को हम अँधेरे गर्भ में टटोल सकते हैं, लेकिन फल को तो ऊपर प्रकाश में ही फलना पड़ता है। मैं समझता हूँ कि साहित्यिक मनोविज्ञान यदि इस ऐक्य के अव्यक्त लक्ष को महत्त्व नहीं दे पाता तो वह असाहित्यिक हो जायगा। अर्थात् सृजन के काम का न रहेगा, आलोचना के काम में ही मग्न बन सकेगा। इस तरह श्रद्धा सृजन के

लिए मनोमन्थन से अधिक महत्त्व का तत्त्व है, यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

काम का संस्कार

४४१. मन के काम को आत्म की तरफ मोड़ने और उसे एक में शमित न कर देने के लिए सामान्य व्यक्ति क्या करे अर्थात् काम के संस्कार के लिए आप क्या सुझाव प्रस्तुत करते हैं?

कर्तृत्व को बोझ न उठायें

——मैं व्यक्ति का वश अधिक नहीं मानता हूँ। वह अपना मालिक नहीं है। इसलिए बहुत अधिक कर्तव्य या कर्तृत्व या दायित्व या संकल्प के बोझ को सिर न ले तो अच्छा ही है। इससे अधिक उसे प्रार्थना के सम्बल पर भरोसा रखना चाहिए।

मन-वचन-कर्म की ईमानदारी

एक काम वह अवश्य कर सकता है और वह है ईमानदार रहना। ईमानदारी साथ रखे और जैसा है उसे वैसा मानता-देखता-कहता रहे, तो इसीसे दुविधा सुविधा हो जाती है, उसका कष्ट बन्धन की जगह प्रयत्न जगाता है। जैसा करे वैसा कह भी सके, कर्म के साथ वचन का मेल कर दे, तो यह कठिन नहीं होना चाहिए। वचन के साथ विचार भी मेल खाने लग जायँ, तो मानो बेड़ा पार होने लगता है। चाहे इस एकता का प्रयत्न कर्म से विचार की ओर चले यानी बाहर से भीतर की ओर, चाहे विचार से कर्म की ओर यानी भीतर से बाहर की ओर, एक ही बात है। विचार-उच्चार-आचार की एकता साधने की कोशिश में से मुझे लगता है कि अन्त में सब सध आनेवाला है। ईमानदारी से आगे भी प्रतिज्ञा ठानना इस प्रक्रिया में बाधक हो जाता है। उसमें अहन्ता आ जाती है और वह मन-वच-कर्म में विभेद डालने लग जाती है। संकल्प हम आदर्श का ठानते हैं, कर्म-विचार यथार्थ पर छूटा रह जाता है। ऐसे यथार्थ और आदर्श में तान पैदा होती है और होते-होते अगर इस तनाव की पीड़ा के बारे में तनिक असावधान हो जाते हैं, तो कपट और दम्भ पैदा हो जाता है।

शिष्टता के फैशन से छुटकारा

इसके बचाव के लिए पहला सहारा यह है कि हम शिष्ट और सज्जन बनकर प्रकट होने के फैशन से छुटकारा पायें। बस ईमानदार होकर चलने को काफी मान लें।

ऐसे अपने दोषों को हम हथेली पर ले सकेंगे। अन्यथा भीतर गाड़ देकर उन दोषों को अपने से हम अनदेखा बना लेते हैं और फिर हठात् उनसे विमुख और असावधान बन जाते हैं। सन्त अपने को अधम कहता और मानता है, इसीमें से वह दूसरों के लिए सहज उपादेय बनता जाता है। सज्जनता बनाव से अधिक हमारी प्रकृति तभी बन सकती है, जब सज्जनता को हम बाने में नहीं देखेंगे, अन्तरंगता में मानेंगे। तब शिष्टता शिष्टाचार में ही नहीं रहेगी, वह स्नेह-विचार तक व्याप्त होगी। ऐसे मैं मानता हूँ कि सभ्यता आडम्बर से हटकर यथार्थता में पहुँचेगी और उसका प्रकाश वस्त्र से नहीं, मन में से फूटता दीखेगा।

विषम-लिंगी चुनौती का आरम्भ

४४२. आपने काम का आधार अहं को बताया है। बहुधा देखा जाता है कि काम-चर्या में असमर्थ और अहं के प्रति अवचेत बालकों में भी ऐन्द्रिय-आचार मिलता है। इसे आप उनके व्यक्तित्व की किस विकृति का परिणाम मानेंगे? भाव यह है कि स्त्री और पुरुष के बीच जो स्वाभाविक चैलेंज मिलता है, उसका आरम्भ जीवन के किस स्तर से आप मानते हैं?

—अहं से काम जुड़ा ही है। जब विषम-लिंगी से चुनौती अनुभव की जाती है, तो अनुभव करनेवाला यन्त्र भीतर सक्रिय होता ही है। आपने अचेत शब्द कहा, उसका अर्थ अविवेक ही हो सकता है। मैं मानता हूँ कि विवेक का आरम्भ भोक्ता के साथ द्रष्टा के आरम्भ से है। किन्तु द्रष्टा से पहले भोक्ता की हालत में भी अहं को जाग्रत माना ही जा सकता है। विवेक मनुष्य से इतर प्राणियों में सामान्यतया उपस्थित नहीं माना जाता। लेकिन विषम-लिंगी चुनौती को तो वहाँ काम करता देखते ही हैं। मुझे काम का अहं से सीधा सम्बन्ध मालूम होता है। स्व और पर के बीच काम का क्षेत्र है। आवश्यक नहीं है कि उस भाषा में स्व-पर बोध दोनों ओर हो। किन्तु जब बोध होने लगता है, तब से चुनौती मानो ली और दी भी जाती है। इस सचेत बोध-भाव से पहले भी प्रकृति अपना काम करती जाती ही है। लेकिन उसको कामैषणा कहना कठिन है।

काम का इलाज प्रेम

४४३. इस चैलेंज से निवृत्ति पाने का क्या साधन हमारे पास है?

—'पर' से 'स्व' को चुनौती मिलती है। यदि स्व-भाव उसमें डाल सकें, तो चुनौती उसी मात्रा में कम हो जाती है। इसको प्रेम कहते हैं। अपना दुख हम अनुभव करते हैं, दूसरे का भी दुख अनुभव करने लगें तो इसी सहानुभूति को प्रेम कहना

चाहिए। काम में ठीक यही शक्ति नहीं होती। बल्कि काम के वश अपने सुख के लिए दूसरे को दुख देने तक में रस आता है। दूसरे को चाहते हैं, उसके दुख को नहीं चाहते। यही काम और प्रेम में अन्तर है। काम का इलाज प्रेम के सिवा दूसरा क्या हो सकता है, मैं जानता नहीं। 'पर' जब 'स्व' बनता है तो एक-दूसरे के लिए द्वेष और प्रहार की आवश्यकता नहीं रह जाती। उनके बीच की चाह में उतनी धार और नोक नहीं रहती। स्वत्व और परत्व के बीच की विषमता और खींच के अनुपात में ही काम में रस की तीव्रता आती है। मान और प्रणय के बीच जैसे आँख-मिचौली चला ही करती है। यह सब अहं और अन्य की मान-लीला है। बीच की विषमता में से काम की दुर्दमता बढ़ती है। अतः शमन के लिए अहं में अन्य बोध की न्यूनता चाहिए। अर्थात् अन्य में अहं-बोध और इतर में स्वकीय-बोध।

अन्य-इतर अमिट

स्पष्ट है कि अन्य और इतर मिट नहीं सकता। अन्य की शर्त पर ही अहं हो पाता है। इसलिए अन्य से मुँह मोड़ने में अहं की रक्षा या पवित्रता की रक्षा नहीं है। इतर से बचना मानो सहयोग नहीं स्पर्धा को निमन्त्रण देना है। काम जिस ढंग से काम करता है, उसमें यह बचाव आवाहन की युक्ति बना देखा जाता है। मानो उस विरोधाचार की प्रक्रिया द्वारा प्रकृति ने ही यह बतलाना चाहा है कि काम से उस प्रकार रक्षण नहीं, बल्कि उद्दीपन ही प्राप्त होता है। अर्थात् इतर की ओर अहं के निर्भीक भाव से बढ़ने में से ही काम का शमन प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

उग्र और दमित अहं

४४४. अहं के दो स्वरूप देखने को मिलते हैं। एक तो वह बलिष्ठ उग्र अहं, जिसका काफी जिक्र ऊपर आया है। एक कुण्ठित और दलित अहं जो विशेष विचार का विषय नहीं रहा। क्या आप मानते हैं कि यह कुण्ठित दलित अहं भी उतने ही तीव्र काम को प्रेरित करता है, जितना कि उग्र अहं करता है? इन दोनों प्रकार की अहं-चेतनाओं को आत्म की ओर किस प्रकार मोड़ा जाय?

—नहीं, दमित और उग्र दो नहीं होते हैं। फन सीधा खड़ा करके जो साँप उग्र दीखता है, वह पूँछ में मुँह दबाये कुण्डलीकृत पड़ा हो तो बेचारा दीख सकता है। लेकिन साँप एक है, दो नहीं।

दोनों एक तथ्य के दो सिरे

बड़े-बड़े दर्पी और बलिष्ठ अहंशील चरितों की खोज और मीमांसा की जा रही है।

इस प्रयास के नीचे यह विश्वास है कि उनके पराक्रमी और प्रतापी लगनेवाले कारनामों के मूल में कहीं रुग्ण ग्रन्थि थी। नहीं तो वे लोग क्यों सामान्य बनकर नहीं रह सके, क्यों असामान्य उत्ताप उपजाये बिना वे चैन नहीं पा सके? दूसरों पर जोर डालकर अपने को सिद्ध करनेवाली महानता को भीतर की हीनता की भाषा में समझ लेने की वृत्ति मनोविज्ञान के शोधकों में बढ़ती जा रही है। इसलिए उग्र और हीन को एक साथ एक ही तथ्य के दो सिरों के रूप में समझने की मैं आपको सलाह दूंगा।

हीन-भाव ही उद्धत भाव

दर्पी व्यक्ति काम-वेग में हीन और निम्न बनकर ही चैन पाता है। उसी प्रकार हीन व्यक्ति उद्धत उद्दण्ड और दर्पी हो आता है। कामाचार के भेदों में उतरने से मुझे मालूम होता है कि यह सुनिश्चित हो जायगा कि हीन-भाव ही उद्धत भाव है।

●

१६

विराट्गत अहं

जागतिक समस्याओं में अहं का योग

४४५. अहंकार में विषम-लिंगियों के प्रति जो आचरण रहता है, उस पर विस्तृत विचार आपने ऊपर किया। क्या सामान्य जागतिक व्यवहारों और आचरणों में भी आप अहं को ऊपर जितना ही महत्त्व देते हैं? और जागतिक समस्याओं के निदान के लिए भी अहं का आत्मोन्मुख किया जाना ही एकमात्र उपाय मानते हैं?

—जो पिण्ड में है, ब्रह्माण्ड में है। नियम दो नहीं हैं, एक है। सत्य अखण्ड है और जो प्रक्रिया अणु में मिलेगी, ब्रह्माण्ड भी मानो उसी प्रक्रिया से चलता है।

राष्ट्रीय अहं की आत्मोन्मुखता

हाँ, व्यक्ति के अहं के समान राष्ट्र आदि में अहं-भाव बन जाता है। वहाँ भी ऊपर के निदान को संगत और उपयुक्त देखा जा सकता है। अहं को आत्मोन्मुख करने का क्या अर्थ होता है? व्यक्ति की भाषा में शायद पहले कुछ विचार किया भी गया, राष्ट्र की भाषा में क्या अर्थ होता है? पहले कहा कि आत्मता का लाभ अहं के लिए परोन्मुखता में से है। वह द्रोह या स्पर्धा की उन्मुखता नहीं बल्कि स्वकीय और स्वार्पण भाव की परोन्मुखता है। राष्ट्र के लिए भी यही सच मानना चाहिए। हर राष्ट्र निर्यात बढ़ाने और आयात कम करने में अपनी उन्नति मानेगा तो राष्ट्रों में सम्बन्ध प्रतिस्पर्धा का बनेगा और फिर जो उनमें संधि-विग्रह की बन या अनबन होगी, वह मानो कामावेग जैसी होगी। एक-दूसरे पर विजय पाने की इच्छा, बढ़ा-चढ़ा होने की आकांक्षा मानो कामवासना को ही प्रकट करती है। ऐसा क्या कभी इतिहास में सुना गया है कि एक फौज जीती हो और परिणाम में बर्बर कामलिप्सा भी न खुल खेली हो। यही हो नहीं सकता। लूट और बलात्कार युद्ध के अवश्यम्भावी सहयोगी हुआ करते हैं। इससे अन्यथा जतलानेवाला प्रचार कभी इस तथ्य को बदल नहीं सकता।

राजनीति के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक

आप विस्मय में न पड़ें यदि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए ब्रह्मचर्य के प्रश्न को मैं आवश्यकीय कहूँ। ब्रह्म की चर्या निःस्व प्रेम की चर्या ही हो सकती है। उसका मतलब होगा वह अर्थ-विनियोजन और शासन-विनियोजन, जिसमें राष्ट्र दूसरे से लाभ उठाने में नहीं, बल्कि दूसरे के काम आने में अपनी कृतार्थता समझें। नेशनल-सौवरेण्टी का वाद भला बताइये कि क्यों राष्ट्रगत अहंवाद का ही रूप नहीं है ?

आत्म या ब्रह्म-तत्त्व विशेष नहीं

४४६. आत्म अथवा ब्रह्म कोई एक तत्त्व है, जिसे हमें पकड़ना या पाना है या यह हमारे मानस के एक विशेष औन्मुख्य का ही नाम है ?

—हाँ, आत्म अथवा ब्रह्म स्वयं में कोई तत्त्व नहीं है, जिसे पकड़ना या पाना है। अनुभव की ओर से वह औन्मुख्य का ही नाम है। हम नहीं जान सकते ब्रह्म अथवा परमात्मा को। नहीं जान सकते इसीलिए अनिवार्य उसी ओर जीने का पुरुषार्थ हमारे लिए रह जाता है। वह उन्मुखता और दिशा यदि मेरे पास, आपके पास, मानव-जाति के पास, फिर पृथिवी के पास, सौर-मण्डल और नक्षत्र-गंगाओं के पास, नभो-मण्डलों और ब्रह्माण्डों के पास भी वह उन्मुखता यदि नहीं रह जाती है, तो सारी सृष्टि का समस्त अर्थ ही समाप्त हो जाता है। उस उन्मुखता से अतिरिक्त अन्य उसके लिए कोई इंगित नहीं है कि जो है, काल-आकाश जिसके पक्ष हैं और जो अगम अखण्ड है।

४४७. यदि अहं के औन्मुख्य को ही आप आत्म या ब्रह्म की संज्ञा देते हैं, तो प्रश्न होता है उन्मुखता किधर, किसकी ओर ? और तब स्पष्ट ही एक पृथक् आत्म और ब्रह्म की कल्पना उभर आती है। यदि आत्म और ब्रह्म को पृथक् मानें तो फिर शून्य किसे कहेंगे और व्याप्तता उसमें कहाँ से आयेगी ? इस विषय पर तनिक प्रकाश डालिये।

—कल्पना उभरती है ना ? इसमें अगर मैं यह मान लूँ कि व्यक्तित्व भी उभरता है, तो उस कल्पना में कोई अनर्थ या अनिष्ट नहीं है। कारण, सब-कुछ यहाँ जीवन-लाभ के लिए ही है। शब्दों, संज्ञाओं और पदों की सार्थकता इससे आगे क्या है कि वे जीवनोपलब्धि दें।

उन्मुखता अनुभव का सत्यमात्र

इससे अन्यथा उस कल्पना को सच मत मान लीजियेगा। उन्मुखता को ब्रह्म या

परमात्म की तत्त्व संज्ञा मैंने नहीं दे दी है। उन्मुखता अनुभव का सत्य है। अनिवार्यतया अनुमान और श्रद्धा का यह प्रति सत्य हो रहता है कि वह है जिस ओर उन्मुखता है। उसे ब्रह्म कहो कि कुछ कहो। इतना मानने पर आप उन्मुखता की दिशा को जानना चाहते हैं। दिशाएँ चार हैं या उन्हें कोणों में बाँटकर गणना में कितनी भी बढ़ाकर देख लीजिये। चलिये ऊपर और नीचे को भी दिशा मान लीजिये। लेकिन सब दिशाएँ जिससे हैं, उस अखण्ड व्याप्तता को क्या दिशा कहियेगा? जीवन मृत्यु की ओर जा रहा है कि नहीं? आप बता सकते हैं कि मृत्यु की दिशा क्या है? किधर से वह आती है, आप नहीं बता सकते। किसी तरह नहीं बता सकते कि बाहर से आती है कि भीतर से आती है, या दायें-बायें से आती है। कह कुछ भी नहीं सकते, कुछ कहा जाय तो उससे इनकार ही कर सकते हैं। इसलिए मैं कहूँगा कि कल्पना उड़कर जहाँ बैठे बैठने दीजिये, उस बैठक को कोई स्थल या स्थान के रूपक में मत बाँध दीजिये। रूपक असंख्य हो सकते हैं और सब ठीक हो सकते हैं। सब ठीक हैं, इसीमें आता है कि कोई ठीक नहीं है।

सनातन सत्य की संज्ञा नहीं

आत्म और ब्रह्म को पृथक् संज्ञा इस पीड़ा के कारण देनी ही पड़ जाती है कि पृथक्ता हम अनुभव करते हैं। पर उसका त्रास भी हम अनुभव करते हैं, क्या इसीमें से यह सिद्ध नहीं हो जाना चाहिए कि पृथक्ता अन्तिम नहीं है और सत्य भी नहीं है। अन्तिम और सनातन सत्य एक है। उस एक का आकार और रूप नहीं हो सकता। संज्ञा आकार और रूप का ही नाम है। फिर भी संज्ञा देनी ही होती है। कारण रूप और आकार में हम स्वयं निबद्ध हैं, इसलिए पूर्ण और अविकल को भी रूपाकार में आबद्ध करना आत्मलाभ के लिए हमें आवश्यक हो जाता है। भक्ति और प्रार्थना द्वारा हम जैसे पृथक् में अपार्थक्य, भिन्न में अभिन्नत्व का अनुभव पा जाते हैं। बौद्धिक संग्रहण से अपार्थक्य और अभिन्नत्व मिल नहीं पाता है। इसीसे ज्ञान की स्पष्ट और रहस्यमुक्त भाषा को औचित्य देने में मुझे संकोच होता है।

गांधीजी का ब्रह्मचर्य

४४८. गांधीजी के जीवन का उदाहरण सामने रखकर क्या आप बता सकेंगे कि उनके ब्रह्मचर्य और उनकी ब्रह्मोन्मुखता का क्या स्वरूप था? और किस प्रकार वहाँ उन्होंने ब्रह्म को पाया?

—गांधीजी पर मैं अधिकार नहीं रखता हूँ। सम्मति देना भी विवाद उपजाना

होगा। इसलिए उससे भी बचना आवश्यक है। अभी गांधी इतिहास के पुरुष हैं। शुद्ध धर्म के अभी बन नहीं पाये हैं कि जिनसे प्रकाश मिले और स्वार्थता का सांसारिकता का नाता उनसे छूटा रहे। अभी तो देश-काल के प्रति मिले लाभ में से हमने उन्हें देखा और लिया है। जब केवल आत्मलाभ की भाषा ही शेष रह जायगी, तब उस अवगाहन में जाना निश्शंकित हो सकेगा।

एक बात अवश्य कही जा सकती है और वह प्रकट है। जगत को सुख-दुख के विग्रह में से ही यदि उन्होंने किया तो ब्रह्म का लाभ किया। सेवा के शब्द और चरखे के उपकरण पर जो उनका बल रहा, उससे यह भी देखा जा सकता है कि हर दूसरे में, अथवा शेष समस्त इतर में, उन्होंने ब्रह्म को खोजा और देखा। जगत् से कटकर किसी अलग ब्रह्म की शोध उनमें नहीं थी।

स्त्री से दूरी नहीं चाही

ब्रह्मचर्य की अपेक्षा में यह भी गांधीजी में देखा जा सकता है कि स्त्री से दूरी उन्होंने नहीं चाही और नहीं पायी। बल्कि उनको लेकर घर-घर से देवियाँ निकलीं और पतिधर्म से उठकर बलिधर्म अपना रहीं। स्त्री को स्त्रीत्व से आगे व्यक्तित्व देने में गांधीजी से बढ़कर शायद ही कोई इतिहास का चरित्र ठहर सके। यह महिमा मेरी दृष्टि में उनके ब्रह्मचर्य की ही थी। स्त्री उनके पास नितान्त निरापद और सुरक्षित ही अनुभव नहीं करती रही होगी, बल्कि वह अपनी अन्तर्ग्रंथियों से भी वहाँ मुक्त बन आती होगी। नहीं तो उस मोहिनी को समझा नहीं जा सकता है जो कुलीन-से-कुलीन और दर्पी और सम्भ्रमशील महिलाओं को बेसुध बना डालती थी।

स्त्रियाँ उनके यज्ञ में आहुत

गांधी चार पुत्रों के पिता और पत्नी के कामासक्त पति रहे थे। स्त्री के स्त्रीत्व को समझने का उन्हें अवसर नहीं आया, यह नहीं कहा जा सकता। शुकदेव की तरह उन्हें किसी तरह नहीं माना जा सकता। अतः उनका ब्रह्मचर्य अबोधता का नहीं हो सकता था। स्त्री के स्त्री ही होने का पता जिसे न चले ऐसा शायद कोई ब्रह्मचारी हो सकता हो, तो गांधी वैसे ब्रह्मचारी न थे। फिर भी अमोघ वह ब्रह्मचर्य ही हो सकता है जिससे उनके महात्मापन के यज्ञ में अनेकानेक विदुषी मानिनी कोमलांगिनियाँ अपनी सब सम्भावनाओं को तिलांजलि देकर यज्ञाहुत होने बढ़ आयीं। क्या शक्ति थी कि रेशम छोड़कर सुन्दरियों ने टाट पहना, विलास छोड़कर कष्ट अपनाया और भोग से पलटकर सेवा में अपने को स्वाहा किया! निश्चय ही यदि यह ब्रह्मचर्य था तो वह प्रेम से स्निग्ध और सम्मोहनीय रहा होगा।

दुर्द्धर्ष और प्रखर और प्रचण्ड और वर्जनशील वह ब्रह्मचर्य न था। मानो वह कुछ उससे बिलकुल उलटा ही था, जो स्त्री को निमन्त्रण देता था और उस के लिए परम अभ्यर्थनीय और वरणीय होता था। जो हो, मैं मानता हूँ कि वह ब्रह्मचर्य असल था और सकल था।

विराट् ब्रह्माचार

४४९. आपका यह उत्तर अधूरा रह गया है। गांधीजी के जीवन के एक पक्ष पर ही इससे प्रकाश पड़ा। प्रश्न यह है कि उनके उस ब्रह्माचार का क्या स्वरूप था, जिससे आकर्षित होकर एक राष्ट्र क्या सारा संसार ही मानो उद्वेलित और तरंगित हो गया? भारत में तो लाखों लोगों ने उनके इशारे पर अपने प्राणों को होम दिया। और करोड़ों जीवन पूरी तरह मथे और मसले गये। इस ब्रह्माचार पर आप कुछ प्रकाश डालें।

चुम्बकीय शक्ति

—हाँ, मैं इसको उनकी संगठन-क्षमता नहीं, ब्रह्मचर्य-क्षमता का फल मानता हूँ कि देश और संसार उनके पीछे उमड़ पड़ा और अपने को होम देने की लालसा से उद्दीप्त हो उठा। संगठन तो कांग्रेस था और वह संगठन अन्तिम दिनों में उनसे बिछुड़ ही नहीं गया, बल्कि उलटा चल निकला। संगठन की भूमिका पर सफलता-विफलता को जैसे चाहे देखा जाय, उनके चुम्बकीय आकर्षण से इनकार नहीं किया जा सकता।

शत्रु-मित्र को आत्मता द्वारा दिया और लिया

हम सभी अपने को देते और दूसरे को अपने में लेते हैं। इसके साधन हमारे पास हुआ करते हैं शरीर और मन। निश्चय ही इन साधनों से परादान और आत्म-प्रदान आंशिक ही हो पाता है। मन पूरी तरह उँडेला नहीं जाता, न अपने में लिया जा सकता है। शरीर द्वारा प्राप्ति तो इतनी खण्डित और क्षणिक होती है कि तभी ऊब हो आती है। गांधीजी के पक्ष में जीवन का यह देन-लेन का व्यवहार समग्र और आत्मिक भाव से हुआ। आत्मता एक के द्वारा सबको मिलती है, उसी तरह एक के द्वारा सबको प्राप्त होती है। चल-घूमकर उन्होंने विश्व को चुकाना नहीं चाहा। न एक-एक से मित्रता बनाने का कार्यक्रम रखा। बल्कि विदेश और वर्ग और व्यक्ति को शत्रु बनाने में भी उन्हें कठिनाई नहीं हुई। जो हुआ वह यह कि शत्रु-मित्र, स्वदेश-विदेश की भाषा के नीचे उन्होंने अपने को आत्मता द्वारा

दिया और प्रत्येक को उसी आत्मता द्वारा ग्रहण किया। परिणाम यह है कि वैयक्तिक कर्म से वह राष्ट्रीय बन गये और राष्ट्रीय कर्म से सार्वभौम बन गये।

कोरा प्रेम उनके पास न था

आप देखेंगे कि यह किसी कोरे प्रेम का कार्यक्रम न था। ऐसा होता तो गोली से उन्हें न मरना पड़ता। न उम्रभर बार-बार जेलों में जाना पड़ता। असल में सेवा यदि व्यक्ति की थी, तो प्रेम एकमात्र सत्य का था। इसलिए एक-एक कर व्यक्ति को या देश को अपनाने की उन्हें आवश्यकता नहीं हुई। सब उनके बनते चले गये तो इसलिए कि सत्य में सब आप ही एक होकर समाये हुए हैं। लेकिन प्रेम सत्य का था, इसीलिए यह घटना घटी कि अनेक को उनसे अप्रेम मिलता हुआ मालूम हुआ और अनेक की ओर से उन्हें अप्रेम ही नहीं द्वेष तक मिला। मैं इसको बहुत महत्त्वपूर्ण गिनता हूँ कि उनकी मृत्यु हुई नहीं, की गयी। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि मनुष्य की ओर से की जाती है, होती ही केवल ईश्वर की ओर से है। ईश्वर की ओर से जो अमरतत्त्व का प्रतीक होकर आये, उसे मारनेवाला मनुष्य का स्वयं अहंकार हो, यही उचित जान पड़ता है। इससे मानो समस्त जीवन-दर्शन खिल उठता है।

वे अकाल पुरुष थे

बिजली तड़कती है तो काला आसमान ज्योति की रेखाओं से एक साथ दरक आता है। इसी तरह काल ऐसे अकाल पुरुषों से चमककर मानो एकाएक तरेड़ पाकर टूट रहता है। काल फट जाता है और इस पुरुष का आविर्भाव नये युग के प्रादुर्भाव का सूचक बन जाता है। यह मुझे उचित और संगत से आगे अनिवार्य लगता है कि अकाल पुरुष की अकाल मृत्यु हो। ऐसी ही मृत्यु से काल मानो अमरता को अपने बीच अवकाश देने को विवश होता है। स्पष्ट है कि अकाल-मृत्यु तभी हो सकती है, जब व्यक्ति से प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वेष की ऐसी शक्ति का उद्भव हो जो उद्विग्न और विचलित होकर हत्या और हिंसा पर उतारू हो आये। यह प्रक्रिया मानो मूलशक्ति के अभिनन्दन स्वरूप घटित होती है।

अकाल-मृत्यु को महिमान्वित करना चाहता हूँ, ऐसा मतलब आप न लें। ईसा के साथ चोरों ने भी फाँसी पायी थी। मतलब यह कि जिसको शीर्ष और केन्द्र में लेकर तीव्र प्रेम और तीव्र द्वेष जगत् को मथता हुआ ऊपर आ उठता है, वे मानो परमेश्वर की ओर से मानवता के आत्म-मन्थन के निमित्त भेजे हुए अवतारी पुरुष ही होते हैं। उस कृती के उदाहरण से जगत् आत्म-दर्शन और आत्मलाभ का अवसर पाता है। मानो उस उपलक्ष से आदि तत्त्व अपने आदि द्वन्द्व में जूझते हुए दीख

आते हैं। राम-रावण, पाण्डव-कौरव, धर्म-अधर्म का युद्ध चाक्षुष जगत् में प्रत्यक्ष हो आता है।

उन्हें संगत मृत्यु मिली

गांधी के जीवन के साथ वही मृत्यु मेल खाती है जो उन्हें मिली। मानो वह उनके जीवन-पाठ को परिपूर्णता दे देती है। प्रेम को अहिंसा कह सकते हैं; लेकिन सत्य के बिना सब अधूरा है, यह पाठ उस मृत्यु से अमोघ बन जाता है। सम्भव था कि जीवन द्वारा वह कुछ ओझल भी रह जाता और हम उस महात्मा के लोक-पक्ष को ही देखते। मृत्यु से मानो उसके आत्मपक्ष, अलोक-पक्ष की पीठिका भी स्पष्ट हो आती है।

परात्पर ब्रह्म

४५०. तब क्या प्रवहमान जगत् में निहित प्रवहमान जीवन-सत्य ही ब्रह्म है? जीवन-जगत् से बाहर और कुछ भी ब्रह्म नहीं माना जा सकता?

—हाँ, जो कहो वही है। जो कहो, थोड़ा है। जीवन और जगत् से बाहर जो हो, उससे स्वयं जीवन और जगत् बाहर रह जायँगे न? जिससे जीवन बाहर और जगत् बाहर हो ऐसा ब्रह्म क्या? लेकिन जीवन और जगत् को अपने से बाहर मानो परिधि में जो देखने के हम आदी हैं, सो उसमें यह न भूल जायें कि भीतर से और भीतर, और उसके भी और भीतर केन्द्र में जाने का सदा ही अवकाश रहने-वाला है। ब्रह्म परात्पर है। वह स्व है, वह पर है, वह स्व-पर के पार है। अर्थात् जिन शब्दों में भी लो, लेकिन लेने के लिए ही उन शब्दों को मानो। शब्दों में अटको नहीं। क्योंकि शब्द से जो सूचना मिलती है, वह वस्तु की हो जाती है अनुभूति की छूट जाती है। अनुभूति उपलब्धि है। वहाँ शब्द मौन है। प्रवह-मानता भी मानो वहाँ शान्तता हो जाती है।

●

विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

आ